श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदास कृत

गीतावली

सिद्धान्त-तिलक

लेखक और प्रकाशक

श्री श्रीकान्तशरण

समस्त तुलसी साहित्य पर विशद व्याख्या-

(सिद्धान्त-तिलक) कार

श्रीसद्गुरु कुटी, गोलाघाट,

श्रीअयोध्याजी

पुस्तक-भण्डार, पटना ४.

प्रथमावृत्ति १०००] २०१५ [न्योछावर

प्राप्ति स्थान

(१) सिद्धान्त-तिलक कार्यालय

सद्गुरु कुटी, गोलाघाट, श्रीअयोध्याजी

(२) पुस्तक-भंडार, पटना ४ तथा अन्य शाखाएँ

तिलककार द्वारा प्रकाशित

मुद्रक

श्री महेन्द्रप्रसाद गुप्त

श्रीशंकर मुद्रणालय, हाथीगली, वाराणसी

श्रीसीतारामाभ्यां नमः, भगवते श्रीरामानन्दाचार्याय नमः
श्रीमते गोस्वामितुलसीदासाय नमः, नमो गुरुभ्यः

उपोद्घात

ग्रन्थ-परिचय

प्रातः स्मरणीय परमपूज्य श्रीरामभक्तशिरोमणि श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी के द्वारा निष्पन्न सर्वमान्य द्वादश ग्रन्थ हैं। उनमें इस 'गीतावली' का प्रमुख स्थान है। श्रीरामचरित मानस के पश्चात् कलेवर की दृष्टि से सबसे बड़ा यही है। ग्रन्थकार की जीवनी के लेखकों ने इसे ग्रन्थकार का प्रथम लिखित ग्रन्थ माना है। इसमें चरित के क्रम भी कहीं-कहीं श्रीरामचरित मानस से भिन्न हैं, जैसे कि परशुराम-गर्व-हरण-प्रसंग की चर्चा मात्र आई है किन्तु वह श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के अनुसार व्याह से लौटते हुए मार्ग में कही गई है—बा० १०९ तथा उ० ३८ में देखिये। इसमें सभी चरितों के वर्णन पर ध्यान नहीं है प्रत्युत प्रभु के माधुर्य एवं ध्यानात्मक प्रसङ्गों का ही विशेष वर्णन है। इसीसे इसमें इष्टदेव की रूप माधुरी और करुणरस के प्रसंग ही विशेष आये हैं। वन की अन्य लीलाएँ, अन्य युद्ध एवं रावण-वध आदि की भी चर्चा मात्र ही आई है।

उपयोगिता

विचार करने पर श्रीरामचरित मानस विशेषकर नवधाभक्ति-परक, विनय-पत्रिका प्रेमलक्षणा-भक्ति-परक और गीतावली पराभक्ति-परक हैं। इसीसे इस गीतावली में सभी रसों के ध्येय प्रसंग ही सुन्दर रूप में कहे गये हैं—जन्म-बधाई, बाल-लीला, अहल्योद्धार, पुष्प-वाटिका, धनुषयज्ञ तथा व्याह लीला, वन मार्ग की छटा, श्रीभरत-प्रेम एवं मिलाप, जटायु उद्धार, शबरी-प्रेम-प्रसंग, श्रीसीताजी की विरह व्यथा, श्रीविभीषण-शरणागति-प्रसंग, श्रीराम रूप वर्णन, हिंडोला तथा होली आदि के वर्णन सुललित, करुणभावयुक्त एवं हृदयाकर्षक हैं। इसके बालकाण्ड में प्रथम बाल स्वरूप का परम माधुर्य, श्रीजनकपुर के

प्रसङ्गों में किशोर स्वरूप की छटा, अयोध्या काण्ड में वनमार्ग की स्त्रियों के द्वारा तापस वेष की शोभा एवं उत्तरकाण्ड में राजवेष की नख-शिख शोभा के वर्णन बहुत ही मनोरम हुए हैं। ये सब प्रसंग ध्यानात्मिका पराभक्ति के विशेष पोषक हैं।

तिलक निर्माण-हेतु

यद्यपि इस गूढ़ भक्तिरसात्मक एवं साहित्य सर्वस्व ग्रन्थ के तिलक लिखने की योग्यता मुझ में नहीं थी, तथापि प्रथम से ही श्रीसीता-रामजी एवं श्रीगोस्वामीजी की कृपा से मेरी श्रीरामनामाराधन में प्रवृत्ति हुई, इससे कुछ सूझ हुई। फिर श्रीगुरुजी की आज्ञा से प्रथम 'श्रीमन्मानस-नाम-वन्दना' ग्रन्थ लिखा गया, वह उसी समय श्रीवेंकटेश्वर प्रेस बम्बई में छप भी गया। तत्पश्चात् और-और मेरे ग्रन्थ लिखे गये और सभी जनता में समादृत हुए। इनके लिखने में कालक्षेप उत्तम रीति से भक्ति-निष्ठा युक्त हुआ। फिर गोस्वामीजी के अवशिष्ट सभी ग्रन्थों पर 'सिद्धान्त-तिलक' लिखने की प्रवृत्ति हो चली। गीता ७।२१-२२ के अनुसार श्रीरामजी ने इस श्रद्धा का धारण कर पौरुष एवं प्रकाश प्रदान कर मुझसे मेरी अल्पमति के अनुसार कुछ लिखवाया। सभी ग्रन्थ सम्पन्न हो गये और उन्हीं की कृपा से प्राप्त सुसंयोगों से साथ ही छपते भी गये। यह गीतावली अन्तिम ग्रन्थ भी समाप्त हो रहा है।

तिलक में विषय-विन्यास

इस तिलक में प्रथम मूल लिख कर उसके नीचे 'अर्थ' में वाक्यार्थ मात्र रक्खा गया है। प्रसंग सँभाल के लिये बढ़ाई हुई बातें कोष्ठक ( ) में रक्खी गई हैं। फिर उसके नीचे विशेष में भाव, उदाहरण एवं प्रमाण आदि सभी बढ़ाई हुई बातें हैं। मेरे सभी तिलकों में प्रायः ऐसे ही क्रम रक्खे गये हैं। भावों के साथ अधिकतर श्रीगोस्वामीजी के ग्रन्था-न्तरों के उदाहरण दिये गये हैं। उनसे वे भाव विशेष पुष्ट हो गये हैं। कहीं-कहीं उदाहरण में ही भाव स्पष्ट हो गये हैं, इससे पृथक् नहीं लिखे गये। उपयुक्त पाकर कहीं-कहीं महाभारत एवं वाल्मीकीय रामायण

आदि के प्रमाण देकर उनके अर्थ भी दे दिये गये हैं कि सर्व साधारण को समझने में सुविधा हो।

पाठ-विचार

संवत् १७१७ की लिखी हुई श्रीभागवत दासजी की प्रति, सन् १९०६ की छपी हुई श्रीहरिहर प्रसादजी की सटीक प्रति, संवत् १९८० की छपी हुई काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की प्रति, सन् १९०४ की छपी हुई श्रीबैजनाथजी की सटीक प्रति और संवत् १९९१ की छपी हुई गीता प्रेस की सटीक प्रति—इन पाँचों से मिलाकर पाठ संशोधन किया गया है। इनमें प्रथमोक्त दो में पाठ-संशोधन की सावधानता अधिक जान पड़ी है और वे विशेष प्राचीन भी हैं।

पाठों की पद्य संख्याओं में केवल सभा की प्रति से कुछ भेद है; क्योंकि उसमें बालकाण्ड सं० १२-१५ को एक ही पद मान लिया गया है; परन्तु उस पद में चार बार 'तुलसी' ये सम्भोग आये हैं, इससे अन्य प्रतियों में उसमें चार पद माने गये हैं। तथा बालकाण्ड ३७ वें पद में सभा की प्रति में दो माने गये हैं, पर औरों में वह एक ही है। इससे सभा की प्रति की संख्या से शेष में भेद पड़ गया है।

सभा की प्रति के बालकाण्ड में १०८ पद हैं शेष में ११० हैं। मुझे शेष प्रतियों की संख्या ठीक जान पड़ी है। अतः, इसमें ११० ही पद हैं। शेष काण्डों की संख्याओं में कोई वैसा अन्तर नहीं है। कुल काण्डों के पद सभा की प्रति में ३२८ और शेषों में ३३० हैं। इस तिलक में भी ३३० ही हैं।

उपर्युक्त पाँचों में दो तो मूलमात्र ही हैं। श्रीहरिहरप्रसादजी की टीका में जहाँ-तहाँ टिप्पणी मात्र हैं। गीता प्रेस की श्रीमुनिलाल कृत टीका अक्षरार्थमात्र है। श्रीबैजनाथजी की टीका में अक्षरार्थ के अतिरिक्त कुछ भाव भी हैं।

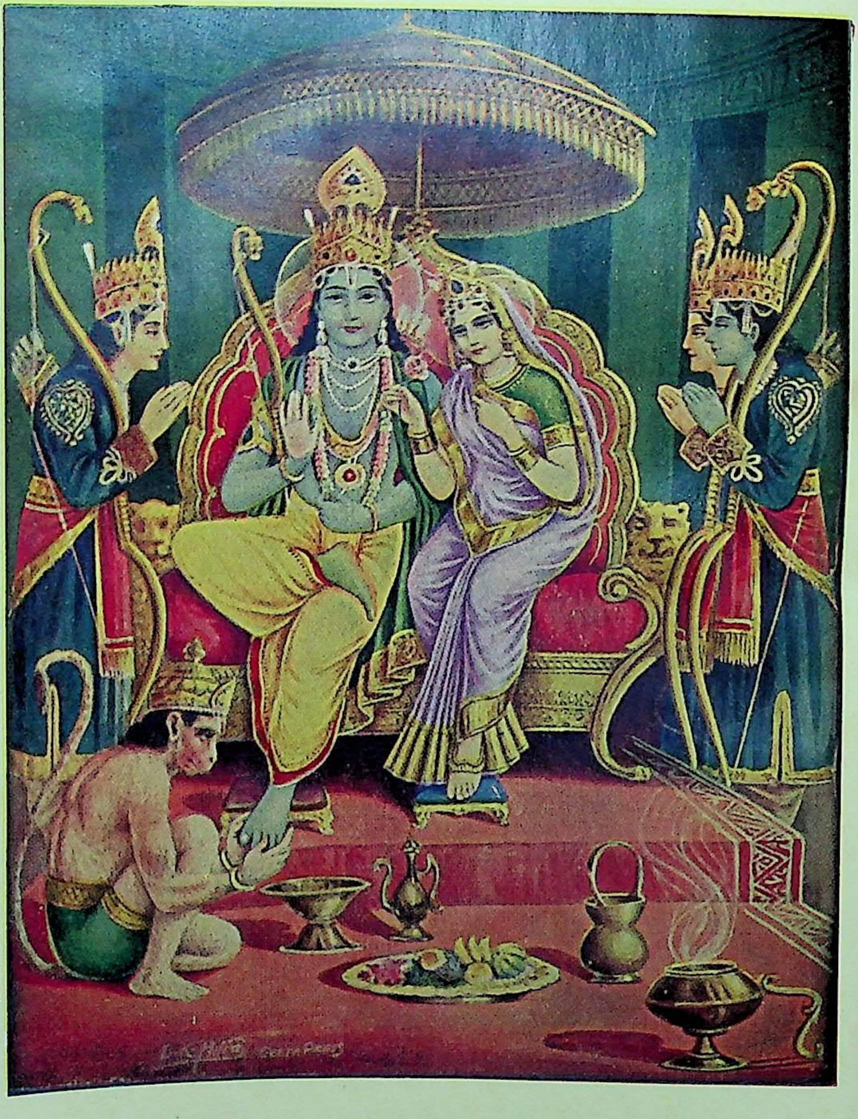
इस तिलक में इनसे कहीं-कहीं अपेक्षित सहायता ली गई है। इसके लिये मैं इन टीकाकारों का आभारी हूँ। विनीत

—तिलककार

पद्य-सूची (वर्णानुक्रमणिका)

संकेत सूची

अ०—अयोध्याकाण्ड तथा अध्याय
अर०—अरण्यकाण्ड
ईश०—ईशावास्योपनिषत्
उ०—उत्तरकाण्ड
क०—कवितावली रामायण
का०-कठ०—कठोपनिषत्
कि०—किष्किंधाकाण्ड
कृ० गी०—कृष्ण गीतावली
गी०—गीतावली रामायण
गीता—श्रीमद्भगवद्गीता
छान्दो०—छान्दोग्योपनिषत्
तैत्त०—तैत्तरीयोपनिषत्
बा०—बालकाण्ड
ब्र० सू०—ब्रह्मसूत्र
बृह०—बृहदारण्यकोपनिषत्
भाग०—श्रीमद्भागवत्
मं०—मंगलाचरण
महा०—महाभारत
मा०, मानस—श्रीरामचरित मानस
मुं०, मुण्डक०—मुण्डकोपनिषत्
मनु०—मनुस्मृति
लं०—लंकाकाण्ड
वाल्मी०—वाल्मीकीय रामायण
वि० पु०—विष्णु पुराण
वै० सं०—वैराग्य संदीपनी
सुं०—सुन्दरकाण्ड
श्वेता०—श्वेताश्वतरोपनिषत्



श्रीरामदरबार

गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीसीतारामाभ्यां नमः

श्रीमते भगवते रामानन्दाय नमः, ॐ नमो गुरुभ्यः

श्रीतुलसीदास कृत

गीतावली

सिद्धांत-तिलक

ललितपद-छन्द—

श्री सतगुरु-पद कमल अमल मन, सिय पिय पद-रज ध्यावौं ।
भरत लखन रिपुदवन पवनसुत, चरन कमल सिरनावौं ॥
बंदउ तुलसीदास चरन जेहि, कृपा विमलमति पावौं ।
तिन्ह कृत गीतावली मरम लहि, तिलक रुचिर सरसावौं ॥

इति मङ्गलाचरण

बालकाण्ड

बधाई - (बाल-क्रीड़ा आदि)

राग आसावरी

[१]

आजु सुदिन सुभघरी सुहाई ।
रूप-सील-गुन-धाम राम नृप-भवन प्रगट भए आई ॥ १ ॥
अति पुनीत मधुमास, लगन ग्रह बार जोग समुदाई ।
हरषवंत चर-अचर, भूमिसुर-तनरुह-पुलक जनाई ॥ २ ॥
बरषहिं बिबुध-निकर कुसुमावलि नभ दुंदुभी बजाई ।
कौसल्यादि मातु मन हरषित, यह सुख बरनि न जाई ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—मधु=चैत। तनरुह (सं० तनूरुह)=रोवाँ, लोम।

अर्थ—आज श्रेष्ठ दिन है और सुहावनी शुभ घड़ी है, इसी में रूप, सद्वृत्ति और सद्गुणों के स्थान श्रीरामजी राजा दशरथ के घर में आकर प्रकट हुए हैं ॥ १ ॥ इस समय अत्यन्त पवित्र चैत का महीना है और लग्न, ग्रह, दिन तथा योग का समुदाय भी अत्यन्त पवित्र है (उत्तम भाव परक है)। स्थावर और जंगम सभी हर्षयुक्त हैं। ब्राह्मणों के शरीरों में पुलक से रोमाञ्च प्रकट हो रहा है (; अर्थात् ये अत्यन्त आनंदित हैं) ॥२॥ देवताओं के समूह आकाश में नगाड़े बजा कर फूलों की पंक्तियाँ बरस रहे हैं। श्रीकौशल्या आदि माताएँ मन में हर्षित हैं, उनका यह सुख वर्णन नहीं किया जाता (अकथनीय है) ॥ ३ ॥

विशेष—'आजु सुदिन…'—सखी दूसरी सखी से कहती है कि आज का यह दिन सुदिन है और यह शुभ घड़ी सुहावनी है; क्योंकि इसी में-

'रूप-सील-गुन-धाम राम…'; यथा—"चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा ॥" (मा० बा० १९७)। रूप से भक्तों के मन को आकर्षित करते हैं, शील से उनका आदर करते हैं, उनके दोषों पर दृष्टि नहीं देते और फिर कृपा, दया, सौहार्द एवं औदार्य आदि सद्गुणों से उन्हें सुख देते हैं; यथा—"जद्यपि बुधि, बय, रूप, सील, गुन समय चारु चारयो भाई। तदपि लोक-लोचन-चकोर-ससि राम भगत-सुखदाई ॥" (पद १६)। 'नृप भवन प्रगट भए आई'—अपनी इच्छा से परधाम से आकर प्रकट हुए हैं, कर्मवश गर्भ से नहीं; यथा—"भए प्रगट कृपाला··बिप्र धेनु सुर संत हित, लीन्ह मनुज अवतार। निज-इच्छा-निर्मित-तनु, माया-गुन-गो-पार ॥" (मा० बा० १९१-१९२)।

'नृप-भवन'; यथा—"ते दसरथ कौसल्या रूपा। कौसलपुरी प्रगट नर भूपा ॥ तिन्ह के गृह अवतरिहौं जाई।" (मा० बा० १८६)-वे ही इस प्रतिज्ञा के अनुसार आकर प्रकट हुए हैं।

'अति पुनीत मधु मास··हरषवंत चर अचर··'; यथा—"जोग लगन ग्रह बार तिथि, सकल भए अनुकूल। चर अरु अचर हरष जुत, राम जनम सुख मूल ॥ नौमी तिथि मधु मास पुनीता। सुकल पच्छ अभिजित हरि

प्रीता ॥" (मा० बा० १९०); चैत वर्ष का पहला मास है और ऋतुराज वसन्त का भी पहला मास है। अतः, इसे पवित्र मान कर राजा दशरथ ने अश्वमेध यज्ञ किया है—वाल्मी० १।१२।१ तथा १।१३।१में लिखा है। मेष के सूर्य हो गये थे, इससे भी पुनीत कहा गया है। 'लगन'–लग्न मेष आदि बारह हैं; उनमें कर्क लग्न था। 'ग्रह' नव हैं—सूर्य, चन्द्रमा, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु। इनमें प्रभु श्रीरामजी के जन्म समय पर मेष का सूर्य, मकर का मंगल, तुला का शनि, कर्क का बृहस्पति और मीन का शुक्र–इन पाँच उच्च ग्रहों का योग हुआ था, यह मंडलेश्वर योग है। तथा—"ततश्च द्वादशे मासे चैत्रे नावमिके तिथौ ॥ ८ ॥ नक्षत्रेऽदितिदैवत्ये स्वोच्चसंस्थेषु पञ्चसु। ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्पताविन्दुना सह ॥ ९ ॥···कौसल्या जनयद्रामं दिव्यलक्षणसंयुतम् ॥ १० ॥" (वाल्मी० १।१८); अर्थात् बारहवें महीने चैत में नौमी तिथि को जब पुनर्वसु नक्षत्र था, पाँच (रवि, मंगल, शनि, बृहस्पति और शुक्र) ग्रह अपने-अपने उच्च स्थानों में प्राप्त थे। बृहस्पति चन्द्रमा के साथ कर्कट लग्न में थे।···कौशल्याजी ने दिव्य लक्षणों से युक्त श्रीरामजी को उत्पन्न किया। 'बार'–संगलवार था; यथा—"नौमी भौमबार मधु मासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा ॥ जेहि दिन राम जनम श्रुति गावहिं।" (मा० बा० ३३); इसमें मंगलवार को रामचरितमानस का जन्म दिवस है, वही दिन श्रीराम जन्म का कहा भी गया है। तथा—"चैत चारु नौमी तिथि सित पख, मध्य गगन गत भानु। नखत जोग ग्रह लगन भले दिन मंगल मोद निधान ॥" (पद २)—इसमें ध्वनि से मंगल दिन कहा गया है। श्रीराम जन्म किसी ने रवि, किसी ने सोम और किसी ने बुधवार में माना है। ग्रन्थकार ने स्पष्ट दिन न लिख कर उक्त ध्वनियों से मंगल बार माना है। 'जोग'–विष्कम्भ आदि सत्ताईस माने जाते हैं, उनमें श्रीराम जन्म पर 'सुकर्मा' योग था।

इन पाँचों की पवित्रता (उच्च रूपता) से युक्ति से पञ्चाङ्ग के सर्वाङ्ग की अनुकूलता लक्षित कर दी है।

'हरषवंत चर अचर···'—चर प्राणियों का हर्षित होना तो स्पष्ट होता है। अचर का हर्षित होना पाँचो तत्त्वों का विकसित होना है; यथा—"मध्य दिवस अति सीत न घामा।···सीतल मंद सुरभि बह बाऊ।···बन कुसुमित

गिरिगन मनियारा। अवहिं सकल सरितामृत धारा॥···गगन बिमल संकुल सुरजूथा।" (मा० बा० १९०)—इनमें क्रमशः अग्नि, वायु, पृथिवी, जल और आकाश के विकसित रूप श्रीराम जन्म-समय पर कहे गये हैं।

'भूमिसुर तनरुह···'—प्रभु श्रीरामजी ब्रह्मण्यदेव हैं; यथा—"प्रभु ब्रह्मन्य देव मैं जाना।" (मा० बा० २०८)। अतः, आपके प्रादुर्भाव पर ब्राह्मणों को विशेष आनन्द है। भगवान् इनकी अधिक महिमा स्थापित करेंगे तथा—"बिप्र धेनु सुर संत-हित, लीन्ह मनुज अवतार।" (मा० बा० १९२) इनमें पहले ब्राह्मण ही हैं।

'बरषहिं बिबुध निकर कुसुमावलि···'; यथा—"चले सकल सुर साजि बिमाना॥···बरषहिं सुमन सुअंजलि साजी। गहगह गगन दुंदुभी बाजी॥" (मा० बा० १९०)। पहले देवता रावणादि से डरते थे। अब प्रभुके बल पर नगाड़े बजा रहे हैं। कौसल्यादि मातु मन हरषित···'; यथा—"कौसल्या कैकई सुमित्रा रहस बिबस रनवास॥ रानिन दिये बसन मनि भूषन राजा सहित भंडार।" (पद २); क्योंकि चौथे पन में एक पुत्र भी दुर्लभ था, यहाँ तो दिव्य चार पुत्र हुए हैं।

सुनि दसरथ सुत जन्म लिये सब गुरुजन बिप्र बोलाई।
बेद-बिहित करि क्रिया परमसुचि, आनँद उर न समाई॥४॥
सदन बेद-धुनि करत मधुर मुनि, बहु बिधि बाज बधाई।
पुरबासिन्ह प्रिय नाथ हेतु निज-निज संपदा लुटाई॥५॥
मनि, तोरन, बहु केतु-पताकनि पुरी रुचिर करि छाई।
मागध सूत द्वार बंदीजन जहँ-तहँ करत बड़ाई॥६॥

अर्थ—राजा दशरथ ने सुना कि हमारे यहाँ पुत्र ने जन्म लिया है, तब उन्होंने समस्त गुरुजन और ब्राह्मणों को बुला कर परम पवित्र क्रियाएँ (नान्दी मुख श्राद्ध एवं जात कर्म आदि) वेद-विधान के अनुसार कीं। उस समय उनके हृदय में आनन्द नहीं समाता था॥ ४॥ राज महल में मुनि गण मधुर वेद-ध्वनि कर रहे हैं। बहुत प्रकार से बधावे बज रहे हैं। पुरवासियों ने अपने परम प्यारे स्वामी के (अभ्युदय के) लिये अपनी-अपनी सम्पत्तियाँ लुटा दीं॥ ५॥ मणियों, वन्दनवारों और बहुत-सी ध्वजाओं एवं पताकाओं से अवधपुरी

छा दी गई है। द्वार पर जहाँ तहाँ मागध, सूत और वन्दीजन (राजा दशरथ की) बड़ाई कर रहे हैं ॥ ६ ॥

विशेष—'सुनि दसरथ''''बेद बिहित ''; यथा—"दसरथ पुत्र जन्म सुनि काना। मानहुँ ब्रह्मानंद समाना ॥'''गुरु बसिष्ठ कहँ गयउ हँकारा। आये द्विजन सहित नृप द्वारा ॥'''नंदीमुख सराद्ध करि-जात करम सब कीन्ह। हाटक धेनु बसन मनि, नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह ॥" (मा० बा० १९२-१९३)। आगे पद २ के ६-७ वें चरण भी देखिये।

'सदन बेद-धुनि'''; मधुर स्वर की वेद ध्वनि के अनुसार ही बधाइयाँ मिल कर बज रही हैं।

'पुरबासिन्ह प्रिय'''—राजा दशरथ के अभी तक कोई पुत्र नहीं था, इससे गादी अनाथ होने की संभावना थी। दिव्य लक्षण युक्त पुत्र प्राप्ति से पुरवासियों का अभीष्ट हुआ। इसीसे इन्होंने अपने प्यारे स्वामी के कल्याणार्थ अपनी-अपनी सम्पदा लुटा दी। लुटाने पर इनके घर फिर भरे ही रहते थे; यथा—"उमँगि चल्यो आनंद लोक तिहुँ, देत सबनि मंदिर रितये। तुलसिदास पुनि भरोइ देखियत, राम कृपा चितवनि चितये ॥" (पद ३)। वास्तव में ये सब श्रीरामजी के नित्य परिकर हैं। लीला विभूति में साथ आये हैं—मा० कि० २५-२६ देखिये; इससे स्वभावतः अपने प्रियनाथ के उत्सव में सर्वस्व लुटाते हैं और फिर श्रीराम कृपा से पाते हैं।

'मनि, तोरन, बहु केतु-पताकनि'''—मङ्गलमय मणियों की मालाएँ संगल साज में जहाँ तहाँ सजाई गई हैं। यथा—"ध्वज पताक तोरन पुर छावा। कहि न जाइ जेहि भाँति बनावा ॥" (मा० बा० १९३); ध्वजाएँ चिह्न युक्त होती हैं और पाँच हाथ लम्बी होती हैं तथा पताकाएँ (झंडियाँ) सात हाथ तक लंबी होती हैं; यथा—"कदलि ताल बर ध्वजा पताका।" (मा० अर० ३७)। तथा—"ध्वज पताक पट चामर चारु। छावा परम बिचित्र बजारू ॥ कनक कलस तोरन मनि जाला। हरद दूब दधि अच्छत माला ॥ मङ्गलमय निज-निज भवन, लोगन्ह रचे बनाइ।" (मा० बा० २९५-२९६)।

'मागध सूत द्वार बंदीजन'''—मागध (ढाढ़ी) मांगलिक कीर्ति और वंश-प्रशंसा का गान करते हैं। सूत पौराणिक होते हैं, पुराणों की रीति

से श्लोकों में कीर्त्ति वर्णन करते हैं और बन्दीजन (भाट) कवित्त आदि छन्दों में यश-प्रताप आदि का वर्णन करते हैं; तथा—"मागध सूत बंदिगन गायक। पावन गुन गावहिं रघुनायक ॥" (मा० बा० १९३)।

सहज सिंगार किए बनिता चलीं मंगल बिपुल बनाई।
गावहिं देहिं असीस मुदित, चिरजिवौ तनय सुखदाई ॥७॥
बीथिन्ह कुंकुम-कीच, अरगजा अगर अबीर उड़ाई।
नाचहिं पुर-नर-नारि प्रेम भरि देह-दसा बिसराई ॥८॥
अमित धेनु गज तुरग बसन मनि जातरूप अधिकाई।
देत भूप अनुरूप जाहि जोइ, सकल सिद्धि गृह आई ॥९॥

अर्थ—स्त्रियाँ स्वाभाविक श्रृङ्गार किये हुई भाँति-भाँति के मंगल-विधान सजा कर (राज-महल के लिये) चली आ रही हैं। गाती हैं और आनंदित मन से आशीर्वाद देती हैं कि यह सुखदायक पुत्र चिरजीवी हो ॥ ७ ॥ गलियों में केसर और अरगजा की कीच मच रही है, अगर की धूप के सुगंधित धूम उड़ रहे हैं और अबीर उड़ाई जा रही है। नगर के स्त्री-पुरुष प्रेम में भर कर नाच रहे हैं, उन्हें देह की दशा भूल गई हैं ॥ ८ ॥ महाराजा दशरथ असंख्य गो, हाथी, घोड़ा, वस्त्र, मणि और सोना आदि में जिसके योग्य जो होता है उसे अधिक परिमाण में देते हैं, इस समय उनके घर में सारी सिद्धियाँ आ गई हैं ॥ ९ ॥

विशेष—'सहज सिंगार किए...'—श्रीराम-जन्म समाचार सुनते ही आनंद में मग्न हो गईं, इससे श्रृंगार करना भूल गईं, जो स्वभाव से ही पहने थीं, उसी श्रृंगार से चल पड़ीं। 'मंगल बिपुल बनाई'; यथा—"दल, फल, फूल, दूब, दधि, रोचन, जुवतिन्ह भरि-भरि थार लिये। गावत चलीं भीर भइ बीथिन्ह..." (पद ३); तथा—"बृंद-बृंद मिलि चलीं लोगाईं। सहज सिंगार किये उठि धाईं ॥ कनक कलस मंगल भरि थारा। गावत पैठहिं भूप दुआरा ॥" (मा० बा० १९३); "नृप सुत चारि चारु चिरजीवहु संकर-गौरि-प्रसाद ॥" (पद २)।

'बीथिन्ह कुंकुम कीच...'; यथा—"मृगमद चंदन कुंकुम कीचा। मची सकल बीथिन्ह बिच-बीचा ॥" (मा० बा० १९३); तथा—"कुंकुम अगर

अरगजा छिरकहिं भरहिं गुलाल अबीर।" (पद २); "गली सकल अरगजा सिंचाई। जहँ-तहँ चौकें चारु पुराई॥" (मा० बा० ३४३)। 'अरगजा'—एक सुगंधित द्रव्य जो केसर, चंदन, कपूर आदि को मिलाकर बनाया जाता है—हिं० श० सा०।

'असित धेनु गज ··'; यथा—"हाटक धेनु बसन मनि, नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह॥" (मा० बा० १९३); "तेहि अवसर जो जेहि बिधि आवा। दीन्ह भूप जो जेहि मन भावा॥ गज रथ तुरँग हेम गो हीरा। दीन्हें नृप नाना बिधि चीरा॥" (मा० बा० १९५); इस पर यह जानने की आकांक्षा हो सकती है कि इतनी संपत्ति कहाँ थी? उसका समाधान 'सकल सिद्धि गृह आई' इस वाक्यखण्ड से किया गया है; तथा—"अष्ट सिद्धि नव निद्धि भूति सब भूपति भवन कमाहिं। समउ समाज राज दसरथ को लोकप सकल सिहाहिं॥" (पद २)।

सुखी भए सुर, संत, भूमिसुर, खल गन मन मलिनाई।
सबइ सुमन बिकसत रबि निकसत, कुमुद बिपिन बिलखाई॥१०॥
जो सुख सिंधु-सकृत सीकर ते सिव बिरंचि प्रभुताई।
सोइ सुख अवध उमँगि रह्यो दस दिसि कौन जतन कहौं गाई॥११॥
जे रघुबीर चरन चिन्तक तिन्ह की गति प्रगट दिखाई।
अबिरल अमल अनूप भगति दृढ़ तुलसिदास तब पाई॥१२॥

अर्थ—इस समय देवता, साधु और ब्राह्मण सुखी हो रहे हैं और दुष्ट गणों के मन में मलिनता आ गई है। जैसे सूर्य का उदय होने पर सभी फूल विकसित होते हैं; किन्तु कुईं का वन दुखी हो सम्पुटित हो जाता है॥१०॥ जिस आनंद-समुद्र की एक बूँद से ही शिवजी और ब्रह्माजी का स्वामित्व है, वही सुख श्रीअयोध्याजी की दसों दिशाओं में उमड़ रहा है, उसका वर्णन मैं गा कर कैसे करूँ?॥ ११ ॥ जो श्रीरघुनाथजी के चरणों का चिन्तन करनेवाले हैं, उनकी गति (अवस्था) यहाँ प्रत्यक्ष दिखाई गई है (कि परम स्वतंत्र ब्रह्म श्रीरामजी मनु की भक्ति वश हो उनके पुत्र होकर उन्हें सुख दे रहे हैं)। (प्रभु के जन्मोत्सव पर जब राजा सबको रुचि अनुरूप दे रहे थे) तब तुलसीदास ने भी (अपनी रुचि के अनुसार) अबिरल (एकरस रहनेवाली), अमल

(विक्षेप आदि मल से रहित) और अनुपम (कर्म-ज्ञान आदि से विलक्षण) दृढ़ भक्ति पाई है ॥ १२ ॥

विशेष—'सुखी भए सुर संत भूमिसुर...'; इन सुर आदि के रक्षणार्थ अवतार है, इससे ये प्रसन्न हैं और दुष्टों पर शासन होगा, इससे वे मलिन पड़ गये हैं; यथा—"सुर नर मुनि करि अभय, दनुज हति, हरिहि धरनि गरुआई। कीरति बिमल बिस्व अघमोचनि रहिहि सकल जग छाई ॥" (पद १६)।

'सबइ सुमन बिकसत...'—सभी पुष्पों के समान सुर, संत और विप्र बहुत हैं, इन्हें सुख है। एक कुमुद के समान खलों का दल कुछ है, वे ही दुखी हैं; यथा—"सकुचे सकल भुआल जिमि बिलोकि रवि कुमुद गन ॥" (मा० बा० २६४); "सभा-सरवर लोक-कोकनद-कोकगन प्रमुदित मन देखि दिनमनि भोर है। अवध अमैले मनमैले महिपाल भये, कछुक उलूक कछु कुमुद चकोर हैं ॥" (पद ७३) । तथा—"प्रगटे जहँ रघुपति ससि चारू । बिस्व सुखद खल कमल तुषारू ॥" (मा० बा० १५)।

'जो सुख सिंधु सकृत...'; यथा—"जो आनंदसिंधु सुखरासी । सीकर ते त्रैलोक सुपासी ॥ सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक विश्रामा ॥" (मा० बा० १९६); "हरि-हरहि हरता, बिधिहि बिधिता, श्रियहि श्रियता जेहि दई। सोइ जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगलमई ॥" (वि० १३५)। अतएव—"बिधि से करनि हार, हरि से पालनिहार, हर-से हरनिहार जपैं जाके नामै।" (सुं० २५)। 'सकृत' = एक।

'सोइ सुख अवध...'; यथा—"जेहि सुख लागि पुरारि, असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवध पुरी नर-नारि, तेहि सुख महँ संतत मगन ॥ सोई सुख लवलेस, जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस, ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति ॥" (मा० उ० ८८)। श्रीअवध में श्रीरामजी की होली-क्रीड़ा पर भी कहा गया है; यथा—"जो सुख जोग, जाग, जप, तप तीरथ ते दूरि। रामकृपा ते सोइ सुख अवधगलिन्ह रह्यो पूरि ॥" (उ० २१)। 'कौन जतन कहौं गाई।'; यथा—"सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई ॥" (मा० उ० ४)।

'जे रघुबीर चरन चिंतक...'; यथा—"जननि सकल चहुँ ओर आल-

बाल मनि-अँगनाई। दसरथ सुकृत-बिबुध-बिरवा बिलसत, बिलोकि जनु बिधि बर बारि बनाई॥ हरि बिरंचि हर हेरि राम प्रेम-परबसताई। सुख-समाज रघुराज के बरनत, बिसुद्ध मन सुरन सुमन झरि लाई॥" (पद २७)। "भगति अवसहि बस करी।" (मा० अ० २५)। तथा— "जितोऽस्म्यात्मवता तेऽहं दुर्जयो योऽकृतात्मभिः॥" (भाग० १०।७२।१०); अर्थात् श्रीकृष्ण भगवान् ने युधिष्ठिर महाराज से कहा है कि मैं अजितेन्द्रियों से दुर्जय होता हुआ भी आप जितेन्द्रिय के वश हूँ।

'अबिरल असल अनूप भगति···'; यथा—"खेलि बसंत कियो प्रभु मज्जन सरजू नीर। बिबिध भाँति जाचक जन पाए भूषन चीर॥ तुलसिदास तेहि अवसर माँगी भगति अनूप। मृदु मुसुकाइ दीन्हि तब कृपादृष्टि रघुभूप॥" (उ० २१)। ऐसे ही यहाँ भी दान बँटता देखकर ग्रन्थकार ने भक्ति माँग ली है।

अलङ्कार—रूपक से पुष्ट वाचक लुप्तोपमा (१० वें चरण में)।

राग जयतश्री

[२]

सहेली सुनु सोहिलो रे!
सोहिलो, सोहिलो, सोहिलो, सोहिलो सब जग आज।
पूत सपूत कौसिला जायो, अचल भयो कुल-राज॥१॥
चैत चारु नौमी तिथि सितपख, मध्य-गगन-गत भानु।
नखत जोग ग्रह लगन भले दिन मंगल-मोद-निधानु॥२॥
ब्योम, पवन, पावक, जल, थल, दिसि दसहु सुमंगलमूल।
सुर दुंदुभी बजावहिं, गावहिं, हरषहिं, बरषहिं फूल॥३॥

अर्थ—अरी सखी! सोहिला (मांगलिक गीत, बच्चा पैदा होने पर गाया जानेवाला गीत) तो सुन। आज सारे जगत् में चारो ओर सोहिला ही सोहिला हो रहा है। श्रीकौसल्या महारानी ने आज एक सुपुत्र बालक पैदा किया है, जिससे उनका कुल और चक्रवर्त्तिराज्य अविचल हुआ है॥१॥ आज सुन्दर चैत महीना के शुक्ल पक्ष की नौमी तिथि है। सूर्य नारायण मध्य आकाश में प्राप्त हो सुशोभित हो रहे हैं। आज नक्षत्र, योग, ग्रह और लग्न

सब अच्छे हैं, आज का दिन मङ्गल और आनन्द का भाण्डार है (एवं मोद का भाण्डार मंगल दिन है) ॥२॥ आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी तथा दसो दिशाएँ सुमङ्गल मूल हो रही हैं। देव गण हर्षित होकर नगाड़े बजाते हैं, गाते हैं और फूल बरसाते हैं ॥३॥

विशेष—'सहेली सुनु सोहिलो रे'–एक सखी से दूसरी सखी कहती है। 'सहेली' पद में ध्वनि है कि यह सहनेवाली है, अनुकूल है, श्रीकौसल्यादि रानियों में सहानुभूति रखनेवाली है; 'असही-दुसही' नहीं है।

'सोहिलो सोहिलो…'—चार बार सोहिलो लिखकर साथ ही सारे जगत् को सोहिला से सुशोभित कहा है। भाव यह कि राजा दशरथ के घर का सोहिला सुनकर उनके चारों ओर घर घर सोहिला गान होने लगा; यथा—"सदन-सदन सोहिलो सोहावनो…" (पद ३)। वर्ष दिन से यज्ञ के द्वारा अग्नि का प्रकट होकर खीर देने और कहने से सब इस दिन की चाह में थे। सफलता देखकर आज सब ओर सोहिला होने लगा है।

पहले एक बार सोहिला सुनने के लिये कहा है, फिर चारो पुत्रों के उपलक्ष में चार बार कहा; क्योंकि इसी पद में आगे लिखा है—"तेहि अवसर सुत तीन प्रगट भए"। कुल पाँच बार सोहिला लिखकर सृष्टि के पाँचों तत्त्वों एवं पञ्चदेवों को हर्षित एवं सुशोभित होना प्रकट किया; यथा—"भयो सोहिलो सोहिलो मो जनु सृष्टि सोहिलो सानी।" (पद ४)।

'पूत सपूत कौसिला जायो…'—श्रीकौसल्याजी बड़ी रानी हैं, उनका पुत्र है। भाइयों में भी यही बड़ा होगा। अतः, राज्याधिकारी होगा। शुभ घड़ी में एवं पाँच उच्च ग्रहों के संयोग पर जन्म लिया है और फिर दिव्यलक्षण युक्त है। अतः, यह रघुकुल की कीर्ति बढ़ायेगा, इससे सपूत (सुपुत्र) है। ऊपर पद १ के 'अति पुनीत··हरषवंत चर अचर···' इस चरण में इन सब बातों के प्रमाण देखिये।

'अचल भयो कुल राज'—राजा दशरथ का चौथा पन आ गया था, कोई सन्तान न रहने से कुल-मर्यादा-रक्षण एवं परंपरागत राजगद्दी की मर्यादा का रक्षण कौन करता? इस निराशता में कुल और राज्य के चल होने की

संभावना थी, किन्तु ऐसे सुन्दर योगों में और दिव्य लक्षण युक्त इस पुत्र के जन्म से यह सब अचल हुए।

'चैत चारु नौमी ...'—इस चरण के कुछ पदों के भाव उपर्युक्त पद १ के दूसरे चरण की व्याख्या में आ गये हैं, वहीं देखिये। 'मध्य गगन गत भानु'—ठीक दुपहरी में अभिजित् मुहूर्त्त रहता है; यथा—"अभिजित हरि प्रीता।" (मा० बा० १६०)।

'व्योम, पवन, पावक ...'—आकाशादि पाँचों तत्त्व उत्पत्ति के क्रम से कहे गये हैं; यथा—"गगन समीर अनल जल धरनी। ..." (मा० सुं० ५८)। पाँचों तत्त्वों की मङ्गलमूलकता उपर्युक्त पद १ के 'अचर हरष जुत' की व्याख्या में लिखी गई है। दूसरे दिशाओं में मंगल शकुन हो रहे हैं, इससे वे भी मंगलमूलक हैं।

'सुर दुंदुभी बजावहिं ...'—ऊपर पद १ 'बरषहिं बिबुध ...' इस चरण में उदाहरण लिखे गये। तथा—"नाचहिं नभ अपसरा मुदित मन, पुनि-पुनि बरषहिं सुमन चये।" (पद ३); इत्यादि।

भूपति-सदन सोहिलो सुनि बाजे गहगहे निसान।
जहँ-तहँ सजहिं कलस ध्वज चामर तोरन केतु बितान ॥४॥
सींचि सुगंध रचैं चौकें गृह-आँगन गली-बजार।
दल फल फूल दूब दधि रोचन, घर-घर मंगल चार ॥५॥
सुनि सानंद उठे दसस्यंदन सकल समाज समेत।
लिये बोलि गुरु सचिव भूमिसुर प्रमुदित चले निकेत ॥६॥

अर्थ—राजा दशरथ के घर में सोहिला होता हुआ सुनकर (सब ओर) घमाघम (गम्भीर ध्वनि से) नगाड़े बजने लगे। जहाँ-तहाँ (सर्वत्र) लोग कलश, ध्वजा, चँवर, वन्दन वार, पताका और बड़ा चँदोवा सजाने लगे ॥४॥ सर्वत्र घरों, आँगनों; गलियों और बाजारों को सुगंधित जल से सींचकर उनमें (विविध-प्रकार की) चौकें रची (पूरी) जा रही हैं। तथा घर-घर में दल (तुलसी दल आदि), फल (सुपारी, नारियल आदि), फूल, दुर्वादल, दही और रोली एवं गोरोचन आदि से मङ्गलाचार हो रहा है ॥५॥ (पुत्र जन्म) सुनकर समस्त समाज के साथ राजा दशरथ आनन्दपूर्वक उठ खड़े हुए।

उन्होंने गुरु वसिष्ठजी, सुमंत्र आदि मंत्रीगण और ब्राह्मणों को बुला लिया, तब (सबके साथ) आनन्दपूर्वक घर को चले ।।६।।

विशेष—'भूपति-सदन सोहिलो'…'—सभी पुत्र जन्म की ताक में थे। अग्निदेव के वचन से दिन गिन रहे थे। जन्म-बधावा राजमहल का सुन सभी आनन्द में भर गये, घर-घर सोहिला होने लगा, ऊपर प्रथम चरण में लिखा गया। सर्वत्र नगाड़े भी बजने लगे। 'दल फल फूल दूब'…'—ऊपर पद १ के 'मनि-तोरन'…' एवं 'सहज सिंगार'…' इन चरणों की व्याख्या में इनके उदाहरण आ गये हैं।

'सुनि सानंद उठे दसस्यंदन'…'—ऊपर पद १ के 'सुनि दसरथ'…' इस चरण में इसके उदाहरण आ गये हैं।

जातकर्म करि, पूजि पितर सुर दिये महिदेवन दान।
तेहि अवसर सुत तीनि प्रगट भए मंगल, मुद, कल्यान ।।७।।
आनँद महँ आनंद अवध, आनंद बधावन होइ।
उपमा कहौं चारि फल की, मोहिं भलो न कहै कवि कोइ ।।८।।
सजि आरती बिचित्र थार कर जूथ-जूथ बर नारि।
गावत चलीं बधावन लै-लै निज-निज कुल अनुहारि ।।९।।

अर्थ—जातकर्म (हिन्दुओं के दस संस्कारों में से तीसरा संस्कार जो बालक के जन्म समय होता है) करके पितृगण और देवताओं की पूजा की तथा ब्राह्मणों को दान दिया। उसी समय मङ्गल, आनन्द और कल्याण स्वरूप तीन पुत्र और प्रकट हुए ॥७॥ श्रीअवध में आनन्द बधावा हो रहा है, आनन्द में आनन्द होता है। यहाँ यदि मैं चारो फलों—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—की उपमा कहूँ तो मुझे कोई कवि अच्छा नहीं कहेगा (क्योंकि यहाँ फलों में सर्व श्रेष्ठ मोक्ष रूप श्रीरामजी पहले प्रकट हुए हैं और तीन फल रूपी तीनों भाई पीछे प्रकट हुए हैं। मोक्ष प्राप्ति के पीछे और फलों की अपेक्षा नहीं रहती, यही इस उपमा में असंगत बात है) ॥८॥ झुंड की झुंड श्रेष्ठ (अहिवाती) स्त्रियाँ विचित्र (स्वर्ण-मणिमय) थालों में आरती सजाकर हाथों में लिये हुई अपने-अपने कुल के अनुसार बधावा ले-लेकर गाती हुई चलीं ॥९॥

विशेष—'जातकर्म करि'…'—जातकर्म संस्कार से पहले नान्दीमुख

श्राद्ध किया, उसमें पितृगण की पूजा हुई और जातकर्म में देवों की पूजा की। साथ ही ब्राह्मणों को दान दिया। जातकर्म के पीछे जब बच्चे का नाल छीना जाता है, तब सूतक लग जाता है, उसके पीछे फिर ब्राह्मण-दान आदि नहीं होते। अभी का दिया जाना ठीक है। उपर्युक्त पद १ के चौथे चरण के विशेष में उदाहरण आ गये हैं। इस नान्दीमुख श्राद्ध एवं जातकर्म के विधान श्रीवैजनाथजी ने अपनी टीका में विस्तार से लिखे हैं। यहाँ मैंने विस्तार भय से नहीं लिखा। आजकल यह माङ्गलिक श्राद्ध एवं जातकर्म संस्कार इधर प्रायः नहीं होते। संस्कार दस हैं—गर्भाधान, सीमन्त, जातकर्म, नामकरण, अन्न प्राशन, चूड़ा कर्म, कर्ण बेध, यज्ञोपवीत, विवाह और मृतक कर्म। इनमें जातकर्म से विवाह तक संस्कारों के आदि में नान्दी मुख श्राद्ध होनी चाहिये।

'तेहि अवसर सुत तीन···'···यहाँ क्रमानुसार मङ्गल रूपी श्रीभरतजी, मुद रूपी श्रीलक्ष्मणजी और कल्याण रूपी श्रीशत्रुघ्नजी हैं। 'तेहि अवसर' इस पद से यहाँ श्रीराम जन्म के थोड़ी ही घड़ियों के पश्चात् भरतादि भाइयों के जन्म हुए हैं। तथा—"दिन दूसरे भूप-भामिनि दोउ भईं सुमंगल-खानी।" (पद ४)—इसमें दशमी को तीनों भाइयों के जन्म कहे गये हैं एवं–"ज्यों आजु कालिहु परहुँ जागन होहिंगे नेवते दिये।" (पद ५)–इस छठी उत्सव के पद में तीन दिनों तक क्रमशः जागरण एवं छठी उत्सव होने से श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के अनुसार श्रीरामजी के एक दिन पीछे श्रीभरतजी और दो दिन पीछे श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी के जन्म हुए हैं।

एक इस गीतावली के ही तीन पदों में तीन प्रकार की जन्म व्यवस्थाएँ हैं। ये कल्पभेद चरित हैं; यथा—"नाना भाँति राम-अवतारा। रामायन सतकोटि अपारा॥ कलपभेद हरिचरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥ करिअ न संसय अस उर आनी। सुनिअ कथा सादर रति मानी॥" (मा० बा० ३२)।

'आनँद महँ आनंद अवध···'—पहले श्रीरामजन्म का आनन्द हुआ, वह सारे संसार में व्याप्त हो गया, सौर मंडल तक आनन्द मग्न हो गया। फिर श्रीभरतजी के जन्म की आनन्द लहर बढ़ी तत्पश्चात् साथ ही लक्ष्मण-

शत्रुघ्न के जन्म का आनन्द उमड़ चला, इस प्रकार अवध में आनन्द ही आनंद हो गया।

'उपमा कहौं चारि फल की …'—इसका समाधान वाक्यार्थ के साथ हो गया है। यह भी भाव है कि श्रीरामजी के भक्त भी मोक्ष दे देते हैं तो उनको मोक्ष रूप कहना कहाँ तक ठीक माना जायगा। विवाह प्रसंग के "जनु पाये महिपाल मनि क्रियन सहित फल चारि।" (मा० बा० ३२५)। वहाँ क्रियायों के साथ फलों की प्राप्ति है। क्रियाओं के साथ फल अक्षय रहते हैं, वैसे ही चारो सुलक्षण पतिव्रता वधुओं के पुण्य-प्रभाव से चारो कुमार अक्षय एवं सुखी रहेंगे, यह राजा के विशेष आनन्द का कारण है और उपमा युक्त है। वहाँ के भाव वहीं के तिलक में देखिये।

अलङ्कार—प्रतीप का चतुर्थ भेद (क्योंकि चारि फल की उपमा को अयोग्य) कहा गया है।

'सजि आरती…गावत चलीं…'—उपर्युक्त पद १ के 'सहज सिंगार किए…'। इसके विशेष में उदाहरण आ गये हैं। 'निज-निज कुल अनुहारि'—ब्राह्मणी सत्त्व गुणी ठाट से, क्षात्राणी रजोगुणी और वैश्य वर्ण की रजोगुणी और तमोगुणी मिश्रित ठाट से तथा सत् शूद्र वर्ण की तमोगुणी ठाट से मंगल थार लेकर गाती हुई आईं।

असही-दुसही मरहु मनहिं मन, बैरिन बढ़उ बिषाद।
नृप सुत चारि चारु चिरजीवहु संकर-गौरि-प्रसाद ॥१०॥
लै लै ढोब प्रजा प्रमुदित चले भाँति-भाँति भरि भार।
करहिं गान करि आन राय की नाचहिं राजदुआर ॥११॥
गज रथ बाजि बाहिनी बाहन सबनि सँवारे साज।
जनु रतिपति रितुपति कोसलपुर बिहरत सहित समाज ॥१२॥

शब्दार्थ—असही-दुसही = जिन्हें यह सुख एवं भलाई असह्य एवं दुस्सह हो, ऐसी दुष्ट भावनावाले। ढोब=भेंट की वस्तु जो मंगल के अवसर पर भार में भर कर भेजते हैं, उपहार। करि आन=गीतों में नाम ले-लेकर। बाहन= वाहयतीति वाहनः = नायक।

अर्थ—(और नवजात शिशुओं के प्रति आशीर्वाद देने लगीं-) इन बालकों

का सुख न सह सकने वाले एवं दुस्सह माननेवाले लोग मन ही मन मर जायँ और इन बच्चों के बैरियों के दुःख की बढ़ती हो; श्रीशङ्करजी और श्रीपार्वतीजी की कृपा से चारो सुन्दर राजकुमार चिरंजीवी हों ।।१०।। प्रजागण प्रसन्न मन से भाँति-भाँति के उपहारों के भार भर ले-लेकर चले और राजद्वार पर आकर गीतों में राजा के नाम ले-लेकर गान करते और नाचते हैं ।। ११ ।। हाथी, रथ, घोड़े और सेना के नायकों ने सबके साजों को सजाया है ? मानों कामदेव और वसन्त ऋतु श्रीअवधपुर में अपने समाज के साथ विहार कर रहे हैं ।।१२।।

विशेष—'असही दुसही···'—आशीर्वाद में पहले बाधकों के प्रति शाप देकर उनका निवारण कर तब शंकर-गौरि की कृपा से रक्षार्थ आशीर्वाद देते हैं। तथा आगे पद ४।११ एवं—"अजर अमर होहु' 'करौ हरिहर छोहु' जरठ जठेरिन्ह आसिरबाद दए हैं।" (पद ११) में भी ऐसा ही अभिशाप एवं आशीर्वाद हैं।

'लै लै ढोव···'—प्रजा में अपनी-अपनी जाति के अनुसार उपहार जैसे अहीर दही, बरई पान, माली फूल, दरजी वस्त्र और मणिहार झालरि आदि माङ्गलिक वस्तुएँ भारों में भर-भर कर आते हैं; तथा नाचते गाते हैं।

'गज रथ बाजि···'—'रथ' पद को 'गज' और 'बाजि' के बीच में लिख कर गज रथ, बाजिरथ एवं रथ के अर्थ प्रकट किये गये हैं। चतुरंगिणी सेना चारो अंग यहाँ पूर्ण हैं। 'वाहन' पद अंत में है। अतः, रथ के नायक, हाथी एवं घोड़े के नायक तथा पैदल सेना के नायक इन सब का वाचक है। सभी के साज सजाये गये। 'जनु रतिपति··'—इस समय मांगलिक समारोह में सेना उत्सव-शोभा में सजाई गई है। अतएव हाथी, घोड़े आदि भी सब परम सुंदर हैं। अतः, वे सब मानों कामदेव के ही रूप हैं। उन सबके साज मानो वसन्त ऋतु की समाज के साज हैं।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा (१२ वें चरण में)।

घंटा घंटि पखाउज आउज झाँझ बेनु उफ तार।
नूपुर धुनि, मंजीर मनोहर, कर कंकन-झनकार ।।१३।।
नृत्य करहिं नट नटी, नारि नर अपने-अपने रंग।
मनहुँ मदन रति बिबिध वेष धरि नटत सुदेस सुधंग ।।१४।।

उघटहिं छंद प्रबंध गीत पद राग तान बंधान।
सुनि किन्नर गंधर्व सराहत, बिथके हैं बिबुध-बिमान ॥१५॥

शब्दार्थ—आउज-तासा। तार=ताल, मँजीरा। उघटहिं=बार-बार पद को कहते हैं। सुगंध=शुद्ध अङ्ग से। सुदेस=उपयुक्त स्थान, सुंदर।

अर्थ—घंटा, घंटी, पखावज, तासा, झाँझ, बाँसुरी, डफ और ताल बज रहे हैं। नूपुरों और पायजेबों की मनोहर ध्वनि तथा हाथों के कंकणों की झनकार हो रही हैं। नट-नटी और नर-नारी अपने-अपने रंग में भर कर नृत्य कर रहे हैं; मानों कामदेव और रति नाना प्रकार के वेष धारण कर उपयुक्त स्थान में शुद्ध अंगों से नृत्य कर रहे हों (; अर्थात् नृत्य करने में उनके किसी अंग में विकृति आने नहीं पाती) ॥ १४ ॥ विविध प्रबन्ध के छन्द, बिबिध प्रबन्ध के गीत, पद्य, राग और तान के नियत स्वर आदि को बार-बार कहते हैं; उसे सुनकर किन्नर और गंधर्व प्रशंसा करते हैं तथा देवताओं के विमान भी स्थगित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

विशेष–'घंटा घंटि पखाउज···'–हाथियों के घंटे और रथों की घंटियाँ बज रही हैं। विविध गायकों के साथ पखावज आदि बाजे बज रहे हैं। नृत्य करने वालों के नूपुर आदि बज रहे हैं। आगे नृत्य करनेवालों को कहते हैं—

'नृत्य करहिं नट नटी···'—अपनी-अपनी उमंग में भरे हुए ये सब नृत्य कर रहे हैं। इसे उत्प्रेक्षा द्वारा दिखाते हैं—

'मनहुँ मदन रति···'—नट और नर मदन रूप और नटी एवं नारी रति रूप हैं। विविध-वेष वाले नट आदि हैं, वैसे उत्प्रेक्षा में कहते हैं। उनके हाथ-मुख आदि टेढ़े नहीं हो पाते। 'सुगंध' के स्थान पर सभा आदि की प्रतियों में 'सुढंग' पाठ है। उसका अर्थ 'अच्छे ढंग से' होगा। यहाँ उक्त विषया-वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

'उघटहिं छंद प्रबंध···'—'प्रबंध' पद दीप देहली रूप से 'छन्द' और 'गीत' इन दोनों के साथ है। छन्दों के नाना प्रबन्ध ही गीतों के रूप में हैं। 'बंधान' पद भी राग और तान दोनों की नियत स्वर आदि की व्यवस्था का बोधक है। किन्नर और गंधर्व स्वर्ग के गवैये हैं, ये भी सराहना कर रहे हैं और देवता इन राग आदि के परखने में विशेष बुद्धिमान होते हैं, वे भी मोहित

हो रहे हैं, इसी से उनके विमान स्थगित हो रहे हैं; यथा—"मध्य ब्योम बिलंबि चलत दिनेस उड्गन चंद।" (उ० २३)।

कुंकुम अगर अरगजा छिरकहिं भरहिं गुलाल अबीर।
नभ प्रसून झरि पुरी कोलाहल भइ मन-भावत भीर ॥१६॥
बड़ी बयस बिधि भयो दाहिनो सुर गुरु आसिरबाद।
दशरथ सुकृत सुधा सागर सब उमँगे हैं तजि मरजाद ॥१७॥
ब्राह्मन-बेद, बंदि-बिरुदावलि, जय धुनि मंगलगान।
निकसत पैठत लोग परस्पर बोलत लगि-लगि कान ॥१८॥

अर्थ – रोली उड़ाते , अगर की धूप करते हैं और अरगजा छिड़कते हैं तथा गुलाल और अबीर (परस्पर) भरते (सारे अंग में परिपूर्ण लगाते) हैं। आकाश से पुष्पवर्षा हो रही है, अयोध्या पुरी में बड़ा कोलाहल हो रहा है और मन-भावती (सुन्दर) भीड़ हो रही है ॥ १६ ॥ बहुत बड़ी अवस्था हो जाने पर राजा दशरथ पर विधाता अनुकूल हुए हैं तथा देवता और गुरु का आशीर्वाद प्राप्त हुआ है, इससे श्रीदशरथजी के पुण्य रूपी अमृत के सभी (सातो) सागर मर्यादा (सीमा, हद) छोड़कर उमड़ चले हैं ॥ १७ ॥ ब्राह्मण वेद-ध्वनि करते हैं, बन्दीगण विरुदावलि कहते हैं, जय-जय ध्वनि हो रही है और मंगलगान हो रहा है। अतः (अधिक कोलाहल में शब्द न सुन सकने के कारण) कार्यकर्त्ता लोग बाहर निकलते एवं भीतर पैठते समय परस्पर कान में लग-लगकर बोलते हैं ॥ १८ ॥

विशेष—'भरहिं गुलाल अबीर'—तीखुर आदि का अत्यन्त वारीक एवं अत्यन्त लाल चूर्ण गुलाल है और ज्वार का आटा उससे कुछ कम लाल अबीर कहाता है। 'मन भावत भीर' – पुत्रोत्सव की भीड़ लोग चाहते थे, वैसी हुई, इससे सबको अत्यन्त हर्ष है।

'बड़ी बयस बिधि ···'—चौथे पन में विधाता अनुकूल हुए हैं; यथा— "चौथे पन पायउँ सुत चारी।" (मा० बा० २०७); तथा—"षष्टिर्वर्षसहस्राणि जातस्य मम कौसिक ॥ कृच्छ्रेणोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसि।" (वाल्मी० १।२०।१०–११); अर्थात् राजा दशरथ ने कहा है कि हे विश्वामित्रजी ! साठ हजार वर्ष मुझे उत्पन्न हुए बीत गये। बड़े कष्टों से श्रीरामजी

का जन्म हुआ है, आप इन्हें न ले जायँ। गुरु वसिष्ठजी ने आशीर्वाद रूप से कहा था, तदनुसार अग्निदेव ने भी कहा; यथा—"जो वसिष्ठ कछु हृदय बिचारा। सकल काज भा सिद्ध तुम्हारा॥" (मा० बा० १८८); यही सु गुरु के आशीर्वाद से श्रीरामजी की प्राप्ति है। तथा सुर अश्वमेध यज्ञ में सभ आये थे, उनके परामर्श से श्रीरामजीने अवतार लिया है और गुरु पद में श्रं वसिष्ठ आदि ऋषि वर्ग एवं श्रृंगी ऋषि आदि भी आ सकते हैं। इन सब के आशीर्वाद से श्रीराम जन्म हुआ है।

'दसरथ सुकृत···'— जिस सुकृत से श्रीराम ऐसे पुत्र हुए हैं, उस सुकृत की उपमा सातो सागरों से दी है। सागर अथाह होते हैं, वैसे ही इनके सुकृतों का थाह नहीं है; यथा—"दसरथ सुकृत राम धरे देही।" (मा० बा० ३०९); तथा—"सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भयेउ न है कोउ होनेउ नाहीं॥ तुम्ह ते अधिक पुन्य बड़ काके। राजन राम सरिस सुत जाके॥" (मा० बा० २९३); श्रीरामजी के एक-एक रोमकूप में करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं उनकी तुलना में एक ब्रह्माण्ड के सातो सागर कैसे आ सकते हैं? हाँ, ये साग जल के हैं, दशरथ सुकृत रूपी सागर अमृत के हैं। इनके पुण्य अमृत रू हैं। इन सुधासागरों के उमड़ने पर सारा ब्रह्माण्ड आनन्द में डूब गया सौ मंडल तक आनन्द मग्न हो गया, जिससे एक महीना का एक दिन हुआ।

'ब्राह्मन बेद···'; यथा -"जय धुनि बंदी बेद धुनि, मंगल गान निसान।" (मा० बा० ३२४)।

अलङ्कार—रूपक ('दसरथ सुकृत ··' इस चरण में)

बारहिं मुकुता रतन राज-महिषी पुर-सुमुखि समान।
बगरे नगर निछावरि मनि गन जनु जुवारि जव धान॥१९॥
कीन्हि बेद बिधि लोकरीति नृप, मंदिर परम हुलास।
कौसल्या कैकयी सुमित्रा रहस-बिबस रनिवास॥२०॥
रानिन दिए बसन मनि भूषन, राजा सहन-भँडार।
मागध सूत भाँट नट जाचक जहँ-तहँ करहि कबार॥२१॥

अर्थ - राजमहिषी (राजा की पटरानी गण) और नगर की स्त्रियाँ एक समान मोती और रत्न आदि की निछावरें कर रही हैं। सारे नगर में वे

निछावर किये हुए मणि गण मानों ज्वार, यव और धान के समान बिखरे पड़े हैं (इतना अधिक निछावरें हुई हैं कि उठानेवाले उठा नहीं सकते) ॥१६॥ महाराजा दशरथ ने अपने राज-मंदिर में परम आनन्दोल्लासपूर्वक सब वैदिक विधियाँ और लौकिक रीतियाँ कीं। श्रीकौशल्याजी, श्रीकैकेयीजी और श्रीसुमित्राजी आदि सारा रनवास हर्ष के विशेष वश हो रहा है ॥२०॥ रानियों ने वस्त्र, मणि और भूषण दिये और राजा ने सहन-भंडार (कोष एवं धनराशि तथा बाहरी खजाना) दिया। (इतना अधिक धन दिया गया कि लेनेवाले) मागध, सूत, भाँट, नट और याचक गण जहाँ-तहाँ व्यापार (लेन-देन) करने लगे ॥२१॥

विशेष—'बारहिं मुकुता रतन···'—राज-महिषी के घर में ही बालक हुए हैं, तथा मोती और रत्न भी इनके यहाँ नगर की स्त्रियों की अपेक्षा बहुत अधिक हैं। तो भी श्रीराम जन्म का आनन्द राज-महिषी गण से नगर-स्त्रियों को अधिक है, तभी तो इनकी अपेक्षा उन्हें दानोल्लास अधिक है। अतः, इनके समान देती हैं।

'बगरे नगर निछावर···'—जैसे सामान्य लोगों के यहाँ पुत्रोत्सव में सस्ते अन्न ज्वार, यव और धन लुटाये जा सकते हैं, वैसे ही वहाँ नगर भर में मोती और रत्न लुटाये गये और पड़े हुए हैं, और अन्न बाली एवं छीमी में गुप्त रहते हैं, परन्तु ज्वार, यव और धान के दाने खुले रहते हैं। अतः, काटने में जहाँ-तहाँ खेत में बिखरे पड़े रहते हैं। वैसे रत्न आदि वस्त्र वेष्टित रक्खे जाते हैं, पर आज निछावर करके खुले पड़े हैं कि लेनेवाले देखें और लें। पर इतने अधिक पड़े हैं कि लेनेवाले ही उतने नहीं हैं। वेद विधि जातकर्म एवं नांदी मुख श्राद्ध एवं पूतना-रक्षण आदि, लोकरीति नार गाड़ना, राई लोन वारना तथा रक्षार्थ अग्नि-स्थापन आदि। इन कर्मों में आनन्द है।

'रानिन दिये '—रानियों के हाथ में ये वस्त्र आदि थे और राजा कोष के स्वामी थे, इससे वैसा दान दिये।। 'कबार'; यथा—"एहि प्रतिपालउँ सब परिवारू। नहिं जानउँ कछु और कबारू॥" (मा० अ० ९९)।

बिप्र बधू सनमानि सुआसिनि, जन पुरजन पहिराइ।
सनमाने अवनीस, असीसत ईस-रमेस मनाइ॥२२॥

अष्टसिद्धि-नवनिद्धि, भूति सब भूपति-भवन कमाहिं।
समउ-समाज राज दसरथ को लोकप सकल सिहाहिं ॥२३॥
को कहि सकै अवध-बासिन को प्रेम-प्रमोद-उछाह।
सारद-सेष-गनेस-गिरीसहिं अगम-निगम अवगाह ॥२४॥
सिव-बिरंचि-मुनि-सिद्ध प्रसंसत, बड़े भूप के भाग।
तुलसिदास प्रभु सोहिलो गावत उमँगि-उमँगि अनुराग ॥२५॥

शब्दार्थ—सुआसिनि = पिता के घर रहनेवाली सौभाग्यवती लड़कियाँ। अष्ट सिद्धि; यथा—"अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा। प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वञ्चाष्टसिद्धयः ॥" नव निद्धि, यथा—"पद्मो स्त्रियां महापद्म शङ्खोमकरकच्छपौ। मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयोनव॥" अर्थात् पद्म, महापद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुंद, नील और खर्व - ये नव निधियाँ हैं।

अर्थ—महाराजा दशरथ ने विप्रवधुओं का सम्मान करके सुवासिनियों, आश्रितों और पुरबासियों को वस्त्र-भूषण आदि पहना कर उनका सम्मान किया, वे सब श्रीशिवजी और विष्णु भगवान् को मना-मनाकर आशीर्वाद दे रहे हैं ॥२२॥ अष्ट सिद्धियाँ, नव निधियाँ और सारी विभूतियाँ राजा दशरथ के घर में (दासियों की भाँति) टहल कर रही हैं। महाराजा दशरथ के इस समय और समाज को देखकर इन्द्र आदि समस्त लोकपाल सिहा (लालच के साथ स्पृहा कर) रहे हैं ॥२३॥ श्रीअवध-वासियों के (इस समय के) प्रेम, प्रकर्ष आनन्द और उत्साह को कौन कह सकता है ? वह सरस्वतीजी, शेषजी, गणेशजी और भगवान् शङ्करजी के लिये भी अगम है (इनकी पहुँच के बाहर है) और वेदों के लिये भी अथाह है ॥२४॥ राजा दशरथ के बड़े भारी भाग्य की प्रशंसा श्रीशिवजी, श्रीब्रह्माजी और मुनिगण एवं सिद्धगण करते हैं। श्रीतुलसीदासजी भी (उक्त समाज को हृदय में लाकर) अनुराग में उमँग-उमँग कर प्रभु का सोहिला गाते हैं ॥२५॥

विशेष—'बिप्र बधू सनमानि ⋯'; यथा – "बिप्र बधू सब भूप बोलाईं। चैल चारु भूषन पहिराईं ॥ बहुरि बोलाइ सुआसिनि लीन्हीं। रुचि बिचारि पहिरावनि दीन्हीं ॥ नेगी नेग जोग सब लेहीं। रुचि अनुरूप भूपमनि देहीं।"

(मा० बा० ३५२); तथा—"पुर नर नारि सकल पहिराए ।" (मा०बा०३५०)।

अष्टसिद्धि'' 'सिहाहिं'; यथा— "भूपति भाग बली सुर बर नाग सराहि सिहाहिं । तिय-बरबेष अली रमा सिधि अनिमादि कमाहिं ॥" (पद ५)।

'को कहि सकै अवधवासिन को ''; उपर्युक्त पद १ के 'सोइ सुख अवध'''-इसके विशेष में उदाहरण आ गये हैं । तथा—"मुदित पुरलोगनि सराहत निरखि सुखमाकंद। जिन्हके सुअलि चख पियत राम-मुखारबिंद-मरंद ॥" (उ० २३)।

'सिव बिरंचि मुनि सिद्ध'''; यथा—"भूमितल भूप के बड़े भाग ।''' सिद्ध सिहात, सराहत मुनि गन कहैं सुर किन्नर नाग ।" "ह्वै बरु बिहँग बिलोकिय बालक बसि पुर उपबन बाग ।" (पद २६)।

'तुलसिदास प्रभु'''—ग्रन्थकार को अनुराग पूर्वक गान एवं स्मरण से अब भी वैसा ही सुख मिलता है; यथा—"सुमिरत श्री रघुबरनि की लीला लरिकाई । तुलसिदास अनुराग अवध आनँद, अनुभवत तब को-सो अजहुँ अघाई ।" (पद २७)। तथा—"भरत, राम, रिपुदवन, लखन के चरित-सरित अन्हवैया । तुलसी तब के-से अजहुँ जानिबे रघुबर-नगर-बसैया ॥" (पद९)

राग बिलावल

[३]

आजु महामंगल कोसलपुर सुनि नृप के सुत चारि भए।
सदन-सदन सोहिलो सोहावनो नभ अरु नगर निसान हए ॥१॥
सजि-सजि जान अमर किन्नर मुनि जानि समय सम गान ठए।
नाचहिं नभ अपसरा मुदित मन पुनि-पुनि बरषहिं सुमन चए ॥२॥
अति सुख बेगि बोलि गुरु भूसुर भूपति भीतर भवन गए।
जातकरम करि कनक-बसन, मनि भूषित सुरभि समूह दए ॥३॥

शब्दार्थ—हए (हने) = बजाये । ठए (ठने, ठाने) = आरंभ कर दिया। चए (चय) = समूह । सुरभि = गाय ।

अर्थ— महाराजा दशरथ के चार पुत्र हुए हैं, यह सुनकर आज श्रीअवध नगर में महान् मङ्गल हो रहा है । घर-घर सुहावने सोहिला का गान हो रहा है । आकाश और नगर में नगाड़े बजाये जा रहे हैं ॥१॥ देवता, किन्नर और

मुनि अपने-अपने विमान सजाकर आये हैं, इन्होंने समय जानकर तदनुसार मंगलगान प्रारंभ कर दिया है। आनंदित मन से आकाश में अप्सराएँ नाच रही हैं, फिर-फिर पुष्प समूह बरसती हैं ॥२॥ राजा दशरथ अत्यन्त आनंद पूर्वक शीघ्र ही गुरु श्रीवसिष्ठजी और ब्राह्मणों को बुलाकर उनको साथ ले घर के भीतर गये तथा जातकर्म-संस्कार करके सोना, वस्त्र और मणि-भूषित गायों के समूह दिये ॥३॥

विशेष—'नभ अरु नगर'—आकाश में देवों के और नगर में मानवों के द्वार-द्वार पर मांगलिक नगाड़े बजाये जा रहे हैं; यथा—"सुर दुंदुभी बजावहिं···भूपति-सदन सोहिलो सुनि बाजे गहगहे निसान ॥" (पद २)।

'अमर किन्नर मुनि···'—विमान सजाकर सभी आए हैं, देवों में गंधर्व और किन्नर समयानुसार सोहिला गा रहे हैं। अप्सराएँ नाच रही हैं, वे ही समय-समय पर गाने के प्रसंगों पर फूल भी बरसा देती हैं। तथा अन्य देव और मुनि गण विमानों पर दर्शक रूप में हैं, वे भी समय-समय पर गाने के प्रसंग पर फूल बरसाते हैं।

'अति सुख बेगि बोलि···जातकरम करि···'; यथा—"सुनि सानंद उठे·····लिए बोलि गुरु·····जातकर्म करि···" (पद २।६-७)-इनके विशेष देखिये।

दल-फल-फूल, दूब-दधि-रोचन, जुवतिन्ह भरि-भरि थार लए।
गावत चलीं भीर भइ बीथिन्ह, बंदिन्ह बाँकुरे बिरद बए ॥४॥
कनक-कलस, चामर-पताक-धुज, जहँ-तहँ बंदनवार नए।
भरहिं अबीर अरगजा छिरकहिं, सकल लोक एक रंग रए ॥५॥
उमँगि चल्यो आनंद लोक तिहुँ, देत सबनि मंदिर रितए।
तुलसिदास पुनि भरेइ देखियत, रामकृपा चितवनि चितए ॥६॥

शब्दार्थ—बाँकुरे बिरद=सुन्दर यश। बए (बरने)=वर्णन किया। रए (रँगे)=रँग गये। रितए=खाली किये।

अर्थ—तुलसी दल, नारियल एवं सुपारी आदि फल, फूल, दूब, दही और रोली आदि मांगलिक वस्तुओं को स्त्रियाँ थालों में भर-भरकर हाथों में लिए हुई और गाती हुई चलीं। गलियों में भीड़ हो गई, बन्दी गणों ने सुंदर

यश का वर्णन किया ॥४॥ जहाँ-तहाँ सोने के कलश, चँवर, पताके ध्वजाएँ और नई-नई बन्दनवारें बाँधी गईं। सब लोग एक ही रंग में रँग कर परस्पर अबीर उड़ाते और अरगजा छिड़कते हैं ॥ ५ ॥ तीनों लोकों में आनंद उमड़ चला, देते हुए सभी अपने-अपने घर खाली किये देते हैं, परन्तु, श्रीतुलसीदास-जी कहते हैं कि श्रीरामजी ने कृपा दृष्टि से देखा तो उनके घर फिर भरे ही देख पड़ते हैं ॥६॥

विशेष —'दल फल फूल···'; यथा—"दल फल फूल दूब दधि रोचन घर-घर मंगल चार।" (पद २) तथा पद १ के ६-७ चरण के विशेष देखिये।

'कनक कलस चामर···' - पद १ के 'मनि तोरन···' इसका विशेष देखिये।

'भरहिं अबीर'···'- पद १ के 'बीथिन्ह कुंकुम कीच···' इसका विशेष देखिये।

'उँमगि चल्यो आनंद···'—पद १ के 'सोइ सुख अवध उमँगि रह्यो···' इसका विशेष देखिये। 'देत सबनि···राम कृपा···'—इन्होंने श्रीरामजी के उत्सवानन्द में सर्वस्व दे दिया, तब श्रीराम-कृपा ने "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११) इसके न्याय से अपनी ओर से भी तदनुसार सर्वस्व पूर्णता कर दी।

राग जैत श्री

[४]

गावैं बिबुध बिमल बर बानी।
भुवन कोटि कल्यान-कंद, जो, जायो पूत कौसिला रानी ॥१॥
मास, पाख, तिथि, बार, नखत, ग्रह, जोग, लगन सुभ ठानी।
जल थल गगन प्रसन्न साधु-मन, दस-दिसि हिय हुलसानी ॥२॥
बरषत सुमन, बधाव नगर नभ, हरष न जात बखानी।
ज्यों 'हुलास रनिवास नरेसहि' त्यों जनपद-रजधानी ॥३॥

शब्दार्थ—सुभ ठानी = शुभ स्थान में। जन पद = देश।

अर्थ—देव गण निर्मल श्रेष्ठ वाणी से गाते हैं कि महारानी श्रीकौशल्याजी ने जो पुत्र उत्पन्न किया है, वह करोड़ों भुवनों में कल्याण रूपी जल वर्षा करने वाला मेघ है ॥ १ ॥ (जन्म समय) महीना, पक्ष, तिथि, दिन, नक्षत्र, ग्रह,

योग और लग्न सभी शुभ-स्थान में प्राप्त हैं। जल, स्थल और आकाश तथा साधुओं के मन प्रसन्न हैं। दसो दिशाओं में (सभी के) हृदय में हुलास भरा हुआ है ॥ २ ॥ फूल की वर्षा हो रही है, आकाश और नगर में बधावा बजता है, वह आनन्द कहा नहीं जाता। जिस प्रकार राजा दशरथ और उनके रनवास में हुलास है, उसी प्रकार उनके सारे देश और राजधानी अयोध्या भर में है ॥ ३ ॥

विशेष—'गावैं बिबुध ···'—देवता विशेष बुद्धिमान् होते हैं, इससे बिबुध कहाते हैं। सत्य ही बोलते हैं, इससे उनकी वाणी निर्मल होती है, वह छल रहित होती है, इससे श्रेष्ठ वाणी कहाती है।

'भुवन कोटि कल्यान कंद···'—अखिल ब्रह्मांड श्री श्रीरामजी के शरीर हैं। अतएव आश्रित हैं; यथा—"भुवन अनेक रोम प्रति जासू।" (मा० उ० २१); "रोम-रोम प्रति लागे, कोटि-कोटि ब्रह्मंड ॥" (मा० बा० २०१)। तथा—"जगत्सर्वं शरीरं ते।" (वाल्मी० ६।११७।२७); अतः, सारे जगत् का कल्याण-विधान श्रीरामजी ही करते हैं; यथा—"भुबन-भूषन···जय भुवन भर्त्ता।" (वि० ५५)।

'मास पाख तिथि···जल थल गगन···'—पद १ के 'अति पुनीत मधु मास ··हरषवंत चर अचर··'—इनके विशेष देखिये। जल, भूमि और आकाश की प्रसन्नता यह कि जल निर्मल है, भूमि कृषी सम्पन्न है और आकाश निर्मल है। इसके उदाहरण पद १ के 'हरषवंत चर-अचर' इसके विशेष में दे दिये गये हैं। 'प्रसन्न साधु मन'; यथा—"सतन्ह मन चाऊ।" (मा० बा० १९०)।

'बरषत सुमन··'; यथा—"सुमन बृष्टि आकास ते होई।" (मा० बा० १९०); 'बधाव नगर नभ'—नगर में द्वार-द्वार पर और नभ में देवों के नगाड़े एवं बधावे बजते हैं; यथा—"नभ अरु नगर निसान हए।" (पद ३)-इसका विशेष देखिये।

'ज्यों हुलास रनिवास नरेसहिं ··'; क्योंकि श्रीरामजी सभी को वैसे प्रिय हैं, जैसे अपने माता-पिता को; यथा—"सेवक सचिव सकल पुर बासी। जे हमार अरि मित्र उदासी ॥ सबहि राम-प्रिय जेहि बिधि मोहीं। प्रभु असीस

जनु तनु धरि सोहीं ।।" (मा० अ० २). तथा—"कोसलपुर बासी नर नारि वृद्ध अरु बाल । प्रानहुँ ते प्रिय लागहिं, सब कहँ राम कृपाल ।।" (मा० बा० २०४) ।

अमर नाग मुनि मनुज सपरिजन बिगत-बिषाद गलानी ।
मिलेहि माँझ रावन रजनीचर लंक संक अकुलानी ।।४।।
देव पितर गुरु बिप्र पूजि नृप दिए दान रुचि जानी ।
मुनि-बनिता पुर नारि, सुआसिनि, सहस-भाँति सनमानी ।।५।।
पाइ अघाइ असीसत निकसत जाचक जन भए दानी ।
'यों प्रसन्न कैकेयी सुमित्रहि होहु महेस-भवानी' ।।६।।

अर्थ—देवता, नाग, मुनि और मनुष्य सभी अपने-अपने परिजनों के साथ दुःख और ग्लानि से रहित हो गये हैं । साथ ही रावण तथा राक्षसों के साथ लङ्कापुरी शङ्का से व्याकुल हो रही है ।।४।। महाराजा दशरथ ने देवों, पितरों, गुरुओं और ब्राह्मणों का पूजन कर उनकी रुचि जानकर तदनुसार दान दिये हैं । मुनिपत्नियों, पुरनारियों और सुवासिनियों का सहस्रों प्रकार से सम्मान किया है ।।५।। याचक लोग महाराजा के यहाँ दान पाकर स्वयं भी दानी हो गये हैं । वे परिपूर्ण दान पाकर आशीर्वाद देते हुए द्वार से निकलते हैं कि "इसी प्रकार श्रीकैकेयीजी और श्रीसुमित्राजी पर भी श्रीशिवजी और श्रीपार्वतीजी प्रसन्न हों" (जिससे उनके भी ऐसे ही सुपुत्र हों) ।। ६ ।।

विशेष—'अमर नाग मुनि···'—देवता इन्द्र आदि, नाग वासुकी आदि, मुनि व्यास आदि और मनुज पृथिवी के राजा आदि । इन्द्रादि को रावण से पराजित होने की ग्लानि थी और मुनि एवं मनुज को रावण से दुःख था । प्रभु के अवतार से ये सब इन दुःखों से रहित हो रहे हैं ।

'मिलेहि माँझ रावन···'-'मिलेहि माँझ' इस वाक्य का अर्थ है 'मेल ही में' एवं 'साथ ही'; यथा—"मिलेहि माँझ बिधि बात बिगारी ।" (मा० अ० ४६) । 'लंक संक अकुलानी'; यथा—"उहाँ निसाचर रहहिं ससंका ।" (मा० सुं० ३५); "दसमुख बोलि उठा अकुलाना ।" (मा० लं० ४) । प्रायः श्रीरामजी की मांगलिक व्यवस्था के साथ ही रावणपक्ष में अमांगलिक बातें

होती थीं; यथा—"जोइ-जोइ सगुन जानकिहि होई। असगुन भयउ रावनहि सोई ॥" (मा० सुं० ३४)। आगे पद १९ के १३-१४ वें चरण भी देखिये।

'देव पितर गुरु बिप्र '—नाँदीमुख श्राद्ध में पितरों की पूजा हुई और जात कर्म-संस्कार के विधान में देवों की पूजा हुई। फिर गुरु वसिष्ठ आदि एवं ब्राह्मणों की षोड़शोपचार से पूजा की और उनकी रुचि बूझ कर वैसा दान दे उन्हें प्रसन्न किया।

'मुनि बनिता पुरनारि…'; यथा—"बिप्रबधू सनमानि सुवासिनि…" (पद २)–इसका विशेष देखिये।

'यों प्रसन्न कैकयी…'; यथा—"असीसत ईस-रमेस मनाइ :" तथा–"नृप सुत चारि चारु चिरजीवहु संकर-गौरि-प्रसाद।" (पद २)।

दिन दूसरे भूप-भामिनि दोउ भईं सुमंगल-खानी।
भयो सोहिलो सोहिलो मो जनु सृष्टि सोहिले सानी ॥७॥
नाचत गावत, मो मन-भावत, सुख सो अवध अधिकानी।
देत-लेत पहिरत-पहिरावत प्रजा प्रमोद-अघानी ॥८॥
गान-निसान कोलाहल-कौतुक देखत दुनी सिहानी।
हरि-बिरंचि-हर-पुर सोभा कुलि कोसलपुरी लोभानी ॥९॥

अर्थ—(श्रीराम जन्म के) दूसरे दिन राजा की (शेष) दोनों रानियाँ (श्रीकैकेयीजी और श्रीसुमित्राजी) भी सुन्दर मङ्गल की खान हो गईं (; अर्थात् इनके भी श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी पुत्र उत्पन्न हुए)। सोहिला पर सोहिला हुआ, ऐसा जान पड़ता है कि मानों सारी सृष्टि ही सोहिला में सनी हुई है ॥ ७ ॥ सब का मन चाहा हुआ है, इससे सब नाचते-गाते हैं, श्रीअवध में यह सुख अधिक ही होता जाता है। सब देते-लेते हैं, पहनते और पहनाते हैं, इस प्रकार सारी प्रजा प्रकर्ष आनंद में अघा गई है ॥८॥ श्रीअयोध्याजी में गाना और नगाड़ा आदि बाजा का कोलाहल हो रहा है, भाँति-भाँति कौतुक होते हैं, यह आनन्दोत्सव देखकर सारी दुनियाँ सिहाती है। यहाँ तक कि विष्णु, ब्रह्मा और शिवजी के लोकों (वैकुण्ठ, ब्रह्मलोक और कैलास) की सारी शोभा भी श्रीअयोध्यापुरी पर लोभा गई है।

विशेष—'दिन दूसरे…'—पद २ के 'तेहि अवसर सुत तीन प्रगट

भये···' इस पर कुछ लिखा जा चुका है। कल्पभेद चरित के अनुसार इसी ग्रंथ में तीन प्रकार के उत्पत्ति क्रम हैं। श्रीहरिहर प्रसाजी ने 'दिन दूसरे' इस पद से यों भी अर्थ लिया है कि श्रीरामजी ने दिन दूसरे और वैसे ही श्रीभरत-जी के दिन दूसरे, ऐसा करके उन्होंने वाल्मीकि रामायण के अनुसार तीन दिन के अर्थ किये हैं फिर उन्होंने गीतावली के तीन प्रकार के उक्त क्रम को यथार्थ मान कर कल्पभेद ही माना है। 'भई सुमंगलखानी' अर्थात् पुत्रवती हुईं, मंगलमय पुत्रों की माता हुईं।

'भयो सोहिलो···'—श्रीरामजन्म का सोहिला हो ही रहा था, उसी में श्रीभरतजी का भी सोहिला होने लगा, साथ ही फिर श्रीलक्ष्मण और शत्रुघ्न के जन्म का भी सोहिला होने लगा। सोहिला का आनंद सारी सृष्टि में छा गया। सर्वत्र लोग मङ्गल-उत्सव करते हैं।

'नाचत गावत, भो मन भावत···'—इस चरण में प्रजा वर्ग का उत्साह कहा गया है। राजपुत्रों के उपलक्ष में देते हैं, लेनेवाले लेते हैं तथा आनन्दोल्लास में स्वयं मांगलीक वस्त्र पहनते हैं और दूसरों को भी पहनाते हैं।

'गान-निसान···'—इसमें सारी दुनियाँ का सिहाना (ललचाते हुए सराहना करना) लिखा गया। आगे 'हरि बिरंचि ··' इस चरण में बैकुंठ आदि पर लोकों का भी लोभाना कहा गया; क्योंकि इस समय अयोध्याजी में त्रिपाद विभूति साकेत की विभूति है।

आनँद अवनि-राज-रानी सब माँगहु कोखि जुड़ानी।
आसिष दै दै सराहहिं सादर उमा रमा ब्रह्मानी ॥१०॥
बिभव-बिलास बाढ़ि दसरथ की देखि न जिनहिं सोहानी।
कीरति कुसल भूति जय रिधि-सिधि तिन्ह पर सबै कोहानी ।११
छठी बारहौं लोक-बेद बिधि करि सुबिधान बिधानी।
राम लखन रिपुदवन भरत धरे नाम ललित गुरु ज्ञानी ॥१२॥

शब्दार्थ—कोहानी = कुपित हो गईं। बिधानी = विधिवेत्ता, विधान करानेवाले।

अर्थ—पृथिवी के राजा दशरथ की सारी रानियाँ आनन्दित हैं; क्योंकि (पति-सुख से) उनकी माँग और (पुत्र-सुख से) कोख जुड़ा (शीतल हो)

गई है। श्रीपार्वतीजी, श्रीलक्ष्मीजी और श्रीब्रह्माणीजी आशीर्वाद देती हुई आदरपूर्वक इनकी सराहना करती हैं ॥ १०। श्री राजा दशरथ के वैभव-विलास और उनकी बढ़ती देख कर जिन्हें वह बढ़ती अच्छी नहीं लगी, उन पर कीर्त्ति, कुशल, वैभव, विजय और ऋद्धि सिद्धि सभी कुपित हो गईं ॥११॥ विधि वेत्ता ज्ञानी गुरु श्रीवसिष्ठजी ने लोक और वेद की विधियों से सुंदर विधान करते हुए छठी तथा बारहों करके इन बालकों के राम, लक्ष्मण, शत्रुघ्न और भरत—ये सुन्दर नाम रक्खे ॥१२॥

विशेष—'आनँद अवनि ··आसिष दै दै···'उमा-रमा आदि भी पृथिवी के राजा की रानी की माँग और कोख सराहती हैं कि श्रीदशरथ ऐसे सुकृती की ये रानियाँ हैं, जिनके पुण्य-प्रभाव से साक्षात् परब्रह्म ने इनका पुत्रत्व स्वीकार किया है और श्रीराम आदि को कोखि में धारण करने से इनकी कोखि धन्य है, आशिष दे-देकर उसे सफल करती हैं; यथा—"तदपि देवि मैं देवि असीसा सकल होन हित निज बागीसा ।।" (मा० अ० १०३)।

'बिभव-बिलास बाढ़ि···'—राजा दशरथ के विभव-विलास एवं उनकी वृद्धि श्रीराम आदि पुत्रों के सम्बन्ध से है, तथा—"अवध राज सुरराज सिहाई दसरथ धन सुनि धनद लजाई ।।" (मा० अ० ३२३); ये राजा चक्रवर्त्ती हैं अतः, सभी राजा इनके अधीन हैं; यह वैभव-विलास है; यथा—"पितु वैभव विलास मैं डीठा । नृप-मनि-मुकुट-मिलित पद पीठा ॥" (मा० अ० ६७) चार पुत्र हुए इनसे वंश की बृद्धि हुई, इन पुत्रों से राजा की कीर्ति बढ़ेगी-पद १३ देखिये। श्रीरामजी के प्रेमनिधि पिता के विभव आदि जिन्हें नहीं सुहाते वे राम-विमुख हैं। अतः, उनकी कीर्ति आदि का उनसे पृथक् होना योग्य ही है; यथा—"राम-विमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई ॥" (मा०सुं० २२)।

'छठी बारहौं ···'—छठी उत्सव का आगे पद ५ में विस्तृत वर्णन है और नाम करण पद ६ में देखना चाहिये। यहाँ तो इनका नाम मात्र कह दिया गया है। नाम-करण के सम्बन्ध में गुरुजी को ज्ञानी कहा गया है; तथा—"नामकरन कर अवसर जानी। भूप बोलि पठए गुरु ज्ञानी ॥" (मा० बा० १९६); क्योंकि चारो कुमारों के नामों में ही उनके रूप-गुण के भाव सन्निहित

हैं, उन्हें विचार कर रखना है। गुरुजी ने भी पहले से विचार रक्खा था; यथा- "धरिय नाम जो मुनि गुनि राखा।" (मा० बा० १९६)। छन्दानुरोध से नाम क्रम पूर्वक नहीं कहे गये हैं।

सुकृत-सुमन तिल-मोद बासि बिधि जतन-जंत्र भरि घानी।
सुख-सनेह सब दियो दसरथहि खरि खलेल थिर-थानी ॥१३॥
अनुदिन उदय, उछाह, उमँग जग घर-घर अवध कहानी।
तुलसी राम-जनम-जस गावत सो समाज उर आनी ॥१४॥

शब्दार्थ—खलेल = तेल की मैल या गाद, जो तेल में नीचे बैठ जाता है। खरि (खली) = तेल निकलने के पीछे बचीं हुई उसकी सीठी। थिर थानी = स्थिर स्थानवाले लोकपाल आदि।

अर्थ—विधाता ने मोद (आनंद) रूपी तिलों को (स्वायंभुवमनु के) पुण्य रूपी फूलों में (जिनमें पुत्र-वासना रूपी सुगंध थी) बास कर उन्हें यत्न रूपी यन्त्र (कोल्हू) में घानी भर (परिपूर्ण मोद को) पेर कर उससे निकला हुआ (शुद्ध प्रेममय) सुख रूपी सनेह (फुलेल) तो सब राजा दशरथ को दिया है, और उसका खलेल एवं खली लोकपालों को दिया है ॥ १३ ॥ इस समय श्रीरामजन्म से दिनोदिन (राजा दशरथ का) उदय एवं उत्साह सारे जगत् में फैल रहा है। सर्वत्र घर-घर में श्रीअवध की कहानी सुन पड़ती है। श्रीतुलसीदासजी भी उस समाज को हृदय में लाकर श्रीराम-जन्म के यश का गान करते हैं ॥ १४ ॥

विशेष—'सुकृत सुमन तिल-मोद...'—तिल को सुगंधित फूल में वास कर फिर कोल्हू में पेर कर फुलेल निकाला जाता है, वही रूपक यहाँ है। यहाँ विधाता गंधी है। श्रीदशरथ-कौशल्या ने मनु-शतरूपा शरीर से पुत्र-वासना के साथ पुण्य किया है कि मेरे परंब्रह्म पुत्र हों। इस पर उन्हें वरदान मिला। श्रीरामजी पुत्र होंगे तो मैं उनसे इस-इस प्रकार के सुख पाऊँगा। इन नाना प्रकार के सुख रूपी तिलों को ध्यान में रख कर उन्होंने आराधना रूपी सुकृत किये हैं। यही उन मोद रूपी तिलों का सुकृत-पुष्पों में वासना है। फिर विधाता रूपी गंधी ने यत्न किया। पृथिवी आदि को साथ ले स्तुति की—"जय जय सुरनायक..." फिर "तुमहिं लागि धरिहौं नर वेसा।" यही पेर कर फुलेल निकालना है, उस

आकाशवाणी में ही कहा गया है कि श्रीदशरथजी के यहाँ अवतार लूँगा। उसी प्रतिज्ञा के अनुसार श्रीरामजी अवतार लेकर राजा दशरथ को अपने जन्मोत्सव एवं क्रीड़ा का परम सात्त्विक सुख दे रहे हैं। यही विधाता का उपाय करके इन्हें देना है।

राजा दशरथ ने अपना ऐश्वर्य और जीवन श्रीरामजी के लालन-पालन के लिये बना रक्खा है। इसी में उन्हें महान् मोद प्राप्त होता है। श्रीरामजी के सुख-अभाव रूपी वनवास पर उन्होंने प्राण ही छोड़ दिया है। अतएव राजा दशरथ का श्रीरामस्नेह मय जीवन ही उन्हें उक्त फुलेल की प्राप्ति है।

विधाता के उसी यत्न-प्रसंग में यह भी कहा गया था—"हरिहौं सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव समुदाई।" इस प्रतिज्ञा के अनुसार श्रीरामजी ने वनवास-लीला कर रावण-आदि का वध कर लोकपालों को अपने-अपने लोकों में बसाया है। वहाँ वे सब श्रीरामकृपा से अपने लोक पा इनके यश गाते हैं। यथा—"दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस। अमर नाग नर सुमुखि सना हैं॥" (उ० १३); यही इनका 'खरि-खलेल' का पाना है। खली और खलेल में थोड़ा फुलेल का अंश रहता है, उसे गरीब लोग लेकर उससे मींज कर शिर के बाल धोते हैं तो बालों में कुछ सुगंधि आ जाती है। वैसे ही लोकपाल गण जो स्वार्थ चाहते थे, वह खली के समान सिद्ध हो गया, उसके साथ कृतज्ञता रूप में वे श्रीराम यश गाते हैं, यही किञ्चित् रामस्नेह रूपी फुलेल का अंश इन्हें प्राप्त है। शेष निस्सार तत्त्व खली के समान विषय सुख ही पर इनकी दृष्टि है। 'थिर-थानी' पद में यह ध्वनि है कि इन्हें स्थिर स्थान मिला है, इसी स्वार्थ सिद्धि पर कृतज्ञता रूप में इनका श्रीराम यश गान है। अतः स्वार्थमय है, परन्तु राजादशरथ के राम-स्नेह में स्वार्थ का लेश भी नहीं है, यही उन्हें खली-खलेल-रहित फुलेल की प्राप्ति है।

अलङ्कार—'समस्तवस्तु-विषयक सांग रूपक' है।

'अनुदिन उदय उछाह…'—प्रत्येक उत्सव तीन-तीन दिनों तक होते हैं, जन्म, छठी, बारहौं एवं नामकरण आदि के उत्सव दिनोदिन उदय के परिचायक हैं। 'तुलसी…गावत…'—इसका प्रयोजन आगे छठे पद के अंत में लक्षित

किया है; यथा—"सुफल मनोरथ बिधि किये सब बिधि सब ही के। अब होइहैं गाये सुने सबके तुलसी के॥" जैसे दिनोदिन चन्द्रमा की कलाएँ बढ़ती हैं, पूर्णमासी को वह पूर्ण कलायुक्त हो अन्धकार दूर कर देता है, वैसे यह बालचरित षोड़शकला पूर्ण चन्द्रमा के समान है—पद २२ देखिये। इसके गान से हृदय का अन्धकार दूर होगा।

राग केदारा

[५]

अवध बधावने घर-घर मंगल-साज-समाज।
सगुन सोहावने मुदित करत सब निज-निज काज॥
निज काज सजत सँवारि पुर-नर-नारि रचना अनगनी।
गृह, अजिर, अटनि, बजार, बीथिन्ह, चारु चौकें बिधि घनी॥
चामर, पताक, बितान, तोरन, कलस, दीपावलि बनी।
सुख-सुकृत-सोभामय पुरी बिधि सुमति-जननी जनु जनी॥१॥

अर्थ—श्रीअयोध्या में घर-घर बधावा हो रहा है, मङ्गल की साज-सामग्री सज रही है। सुहावने शुभ-शकुन हो रहे हैं, इससे प्रसन्न मन से सब अपने-अपने कार्य कर रहे हैं। श्रीअवधपुर के स्त्री-पुरुष अपने-अपने कार्यों को अगणित रचनाओं से सँवार कर सजाते हैं (जिसके हाथ में जो कार्य है, वह उसे अपना मान कर सामान्य रीति की अपेक्षा अगणित विधि की रचना से उसे सँवार कर रचता है, क्योंकि सबके आत्मरूप श्रीरामजी का उत्सव है)। (सभी पुरवासी) अपने-अपने घर, आँगन, अँटारी, बाजार और गलियों में बहुत प्रकार की सुन्दर चौकें पुरते हैं। (सर्वत्र) चँवर, पताके, माँड़व, वन्दनवारें, कलशे और दीपावलियाँ बनी हुई हैं। सुख, पुण्य और शोभामयी श्रीअयोध्यापुरी को मानों ब्रह्माजी की सुन्दर बुद्धि रूपी माता ने उत्पन्न किया है॥१॥

विशेष—'अवध बधावने…'—आज श्रीरामजी की छठी का उत्सव है, इससे श्रीअयोध्याजी की सजावट हो रही है; यथा—"जद्यपि अवध सदैव सुहावनि। रामपुरी मंगलमय पावनि॥ तदपि प्रीति की रीति सुहाई। मंगल रचना रची बनाई॥" (मा० बा० २९५)।

'सुख सुकृत शोभामय…'—पुरी को विधाता की सुमति रूपी माता ने

सुखमय, सुकृतमय और शोभामय उत्पन्न ही किया है। भाव यह कि अन्य सुख के साथ दुःख, पुण्य के साथ पाप और शोभा के साथ अशोभा भी रहती है, पर यहाँ नहीं है, इसीसे ब्रह्माजी की सुमति ने मानों इसे प्राकृत से भिन्न रच कर उत्पन्न किया है।

अलङ्कार—'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा' है।

चैत चतुरदसी चंदिनि अमल-उदित निसिराज।
उड़ुगन अवलि लसीं दस दिसि उमँगत आनँद आज॥
आनंद उमँगत आजु, बिबुध बिमान बिपुल बनाइ कै।
गावत, बजावत, नटत, हरषत, सुमन बरषत आइ कै॥
नर निरखि नभ, सुर पेखि पुर छबि परस्पर सचु पाइ कै।
रघुराज-साज सराहि लोचनलाहु लेत अघाइ कै॥२॥

अर्थ—आज चैत की चाँदनीवाली (शुक्ला) चतुर्दशी है। निर्मल चन्द्रमा उदित (प्रकाशमान) है। तारागणों की पंक्तियाँ सुशोभित हैं, इससे आज दसों दिशाओं में आनन्द उमँग रहा है। आज आनंद उमँग रहा है, देव गण बहुत से विमान बना कर गाते, बजाते, नाचते, हर्षित होते और आकर फूल बरसाते हैं॥ मनुष्य आकाश देख कर और देवगण अवधपुर देख कर परस्पर एक-दूसरे की छबि से आनन्द पाकर रघुराज श्रीदशरथ महाराज के साज की सराहना कर परिपूर्ण तृप्त होकर नेत्रों का लाभ लेते हैं॥२॥

विशेष—'अमल उदित निसिराज'—धूल, धूम, मेघ और तम रहित आकाश होने से निर्मल चन्द्रमा प्रकाशमान है।

नर निरखि…'—इस चरण में 'अन्योन्य' अलङ्कार है।

जागिये रामछठी सजनी री, रजनी रुचिर निहारि।
मंगलमोद मढ़ी मुरति, जहँ नृप बालक चारि॥
मूरति मनोहर चारि बिरचि बिरंचि परमारथ मई।
अनुरूप भूपहि जानि पूजन-जोग बिधि-संकर दई॥
तिन्ह की छठी, मंजुल मठी, जग सरस जिन्ह की सरसई।
किए नींद भामिनि जागरन, अभिरामिनी जामिनि भई॥३॥

शब्दार्थ—मढ़ी = छोटा मठ। मठी = मठ, मंदिर।

अर्थ—(सखी से सखी कहती है) अरी सखि ! आज श्रीरामजी की छठी का जागरण कीजिये। सुन्दर रात देखिये। जहाँ मङ्गल और मोद रूपी छोटे मठ में राजा के चारो बालक रूपी चार मूर्त्तियाँ विराजमान् हैं। चारो परमार्थ-मयी मनोहर मूर्त्तियों को विधाता ने रचा है और उनकी पूजा के लिये राजा दशरथ को उपयुक्त जान कर ब्रह्माजी और शङ्करजी ने इन्हें दी है। महाराज दशरथ के सुन्दर मंदिर में आज उन्हीं की छठी है। जिनकी आनन्दरूपता से जगत् आनन्दित है। वे शयन किये हुए हैं और स्त्रियाँ जागरण कर रही हैं, इससे रात रमणीया हो रही है ॥ ३ ॥

विशेष—'जागिये राम छठी...'; यथा—"नींदउ बदन सोह सुठि लोना। मनहुँ साँझ सरसीरुह सोना ॥ घर-घर करहिं जागरन नारी। देंहि परस्पर मंगल गारी ॥ पुरी बिराजति राजति रजनी। रानी कहहिं बिलोकहु सजनी ॥" (मा० बा० ३५७); अर्थात् वहाँ जैसे श्रीराम आदि के सोने पर जागरण हुआ है, वैसे यहाँ भी है। 'मंगल मोद मढ़ी'—जिस गृह में आज चारो बालक हैं, वह मांग-लिक एवं मोदमय साजों से सुजज्जित है। 'परमारथ मई'; यथा—"याके चरन-सरोज कपट तजि जे भजि हैं मन लाई। ते कुल जुगल सहित तरिहैं भव, यह न कछू अधिकाई ॥" (पद १६)।

'बिधि-संकर दई'—ब्रह्माजी ने सृष्टि द्वारा और शिवजी ने आराधन से प्रसन्न होकर दिया है। 'जग सरस जिन्ह की सरसई'; यथा—"पितु-मातु गुरु स्वामी अपनपौ तिय तनय सेवक सखा। प्रिय लगत जाके प्रेम सों बिनु हेतु हित नहिं तै लखा ॥" (वि० १३५)। "ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।" (मा० बा० २१५)। राजा दशरथ भाँति-भाँति लाड़-दुलार द्वारा पालन करते हैं, यही इनकी इन मूर्त्तियों की पूजा करनी है।

सेवक सजग भये समय सुसाधन सचिव सुजान।
सुनिवर गुरु सिखये लौकिक बैदिक बिबिध बिधान ॥
बैदिक अनेक बिधान लौकिक आचरत सुनि जानि कै।
बलिदान-पूजा मूलिका मनि साधि राखी आनि कै ॥
जे देव देवी सेइयत हित लागि चित सनमानि कै।
ते तंत्र-मंत्र सिखाइ राखत सबन सो पहिचानि कै ॥४॥

अर्थ—समय पर सब सेवक सावधान हो गये और सुजान मन्त्री साध(कार्य-साधन) में लग गये। मुनिश्रेष्ठ गुरु श्रीवसिष्ठजी ने नाना प्रकार लौकिक और वैदिक विधानों का आदेश (शिक्षा) दिया। सब वैदिक विधान को गुरुजी से सुन कर और लौकिक अनेक विधानों को कुलवृद्धों से जान उनका आचरण करते हैं। बलिदान और पूजा के लिये मूलिका मणि आदि सामग्रियाँ ले आकर एकत्र कर रक्खी हैं॥ (इस अवसर पर) जो देव गण और देवियाँ अपने हित के लिये चित्त से सम्मान करके सेये जाते हैं। वे सबसे पहचान करके अपने-अपने तंत्र-मंत्र स्वतः सिखा रखते हैं (कि श्रीरामजी की छठी में हम पूजे जायँगे तो सदा के लिये संसार में पूजे जाने की प्रथा बँध जायगी)॥ ४॥

विशेष—लौकिक-विधान—"जिस जरा नाम की राक्षसी ने जरासिंध को जोड़ा है, श्रीमद्भागवत में उसकी कथा प्रसिद्ध है। दीवार में हल्दी और चौरी से एक मंदिर का चित्र बनाया जाता है। उसके मध्य में उस जरा राक्षसी की मूर्त्ति बनाई जाती है। उसकी पूजा के लिये छः कलश रक्खे जाते हैं। उस पर बीरा, बताशा और द्रव्य रख कर दीपक जला जल, अक्षत, सेंदुर, हल्दी, पुष्प और मिठाई से उसकी पूजा करते हैं। माता बालक को लेकर बैठती है। उसका छठी यह नाम प्रसिद्ध है। तथा पुतरा रखना, दीपक जलाना, काजल देना और झालरि बाँधना आदि लौकिक विधान प्रसिद्ध हैं।

वैदिक-विधान में यहाँ पहले श्रीपार्वतीजी की पूजा होती है फिर स्वामि कार्त्तिक की पूजा की जाती है। षष्टि-विधान में इनकी विधियाँ हैं।" (टीका वैजनाथ) 'बलिदान' अर्थात् देवता के उद्देश्य से नैवेद्य आदि पूजा की सामग्री चढ़ाना।

'मूलिका मनि'—जड़ी और मणि—"नवग्रह के लिये मूलिका और मणि प्रत्येक की भिन्न-भिन्न हैं। रवि को मदार और मोती, चन्द्र को पलाश और विद्रुम, भौम को खैर पन्ना, बुध को चिचिंरा और पुखराज, गुरु को पीपर और हीरा, शुक्र को गूलरि और नीलम, शनि को शमी और लहसुनियाँ, राहु को दूब और पिरोजा तथा केतु को कुश और श्याममणि" (टीका बैजनाथ)

'जे देव देवी...'—श्रीस्वामिकार्त्तिक आदि देव और श्रीपार्वती आदि

देवी इनके ऊपर वैदिक विधान में नाम आये हैं। पहले से सिखा रखते हैं कि प्रेम में कहीं भूल न जायँ। 'तंत्र-मंत्र'-तंत्रसार में प्रसिद्ध हैं।

सकल सुआसिनि, गुरुजन, पुरजन, पाहुने लोग।
बिबुध-बिलासिनि, सुर, मुनि, जाचक जो जेहि जोग॥
जेहि जोग जे तेहि भाँति ते पहिराइ परिपूरन किये।
जय कहत, देत असीस तुलसीदास ज्यों हुलसत हिये॥
ज्यों आजु कालिहु परहुँ जागर होहिंगे, नेवते दिये।
ते धन्य पुन्य-पयोधि जे तेहि समय सुखजीवन जिये॥५॥

अर्थ—समस्त सुवासिनियाँ, गुरु वर्ग, पुरवासी और पाहुन लोग तथा देव-पत्नियाँ, देवता, मुनि और याचक, इनमें जो जिस योग्य थे उनको उसी भाँति से पहिरावनी दे (वस्त्र-पहना) कर परिपूर्ण (तृप्त) किया। वे सब 'जय' 'जय' ऐसा कहते हैं और आशीर्वाद देते हैं तथा तुलसीदास-सरीखे हृदय से उल्लसित होते हैं। 'जिस प्रकार आज जागरण और उत्सव हुआ है, उसी प्रकार कल और परसों भी होगा, ऐसा कहकर सबको नेवता दिया गया। वे लोग धन्य हैं, पुण्य के सागर हैं; जिन्होंने उस समय आनन्दमय जीवन धारण किया है।

विशेष—'सकल सुआसिनि···जेहि जोग जे···'; यथा—"बिप्रबधू सनमानि सुआसिनि, जन पुरजन पहिराइ। सनमाने अवनीस, असीसत ईस रमेस मनाइ॥" (पद २) - इसका विशेष देखिये।

'ज्यों आजु कालिहु···'—पद २ के 'तेहि अवसर सुत तीनि···' इसका विशेष देखिये। 'ते धन्य···'—क्योंकि वैसा सुखमय जीवन बड़े भारी पुण्य का फल है।

भूपति-भाग बली सुर वर नाग सराहि सिहाहिं।
तिय-बर बेष अली संपति, सिधि अनिमादि कमाहिं॥
अनिमादि, सारद, सैलनंदिनि, बाल लालहिं पालहीं।
भरि जनम जे पाये न, ते परितोष उमा-रमा लही॥
निज लोक बिसरे लोकपति, घर की न चरचा चालहीं।
तुलसी तपत तिहुँ ताप जग, जनु प्रभु-छठी-छाया लही॥

शब्दार्थ—वली=अवली, श्रेणी—हिं० श० सा०। श्रीबैजनाथजी ने 'भागावली' ऐसा पाठ माना है और 'भाग अवली' इसका अर्थ किया है। यहाँ यही अर्थ युक्त है, परन्तु मुझे अन्य सभी प्रतियों में—'भागवली'—भागवत-दास, 'भाग बली'—हरिहरप्रसाद, सभा एवं गीता प्रेस,—इस प्रकार पाठ हैं। इनमें भागवतदासजी का सबसे पुराना पाठ है, उसीके 'वली' पाठ को शेष ने 'बली' मान लिया है। 'वली' पद का अर्थ भी अवली का होता है ऊपर लिखा गया है। यदि 'भागावली' का लेख-प्रमाद से 'भाग वली' हो गया हो तो बैजनाथजी का पाठ ठीक ही है। 'भाग बली' पद का अर्थ भी 'श्रेष्ठ भाग्य' का होगा। परितोष=१ तृप्ति, २ प्रसन्नता।

अर्थ—राजा दशरथ की भाग्यावली की श्रेष्ठ देवता और श्रेष्ठ नाग सराहना करके सिहाते (पाने के लिये ललचते) हैं। श्रेष्ठ स्त्री के वेष में सखी की सम्पत्ति और अणिमा आदि सिद्धियाँ उनकी परिचर्या करती हैं। अणिमादि सिद्धियाँ, श्रीशारदा और श्रीपार्वतीजी उन बालकों का लालन-पालन करती हैं। श्रीपार्वतीजी और श्रीलक्ष्मीजी को जो परितोष जन्म भर में नहीं मिला था, वह इस समय प्राप्त हुआ है। (यहाँ के सुख के समक्ष) लोक-पालों को अपने-अपने लोक भूल गये, वे अब घर की चर्चा तक नहीं चलाते। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जगत् तीनों (दैहिक, दैविक और भौतिक) तापों से तप्त होता था उसको मानों प्रभु श्रीरामजी की छठी (रूपिणी कल्प-लता) की छाया प्राप्त हुई है।

विशेष—'भूपति भाग बली...'—राजा दशरथ के दिव्य चार पुत्र हुए हैं, उन प्रत्येक के उत्सव आदि सम्बन्ध के भाँति-भाँति के सुख राजा को मिल रहे हैं, इससे इनके भाग्यों की श्रेणियाँ हैं, जिन्हें श्रेष्ठ देवता और श्रेष्ठ नाग प्रशंसा कर सिहाते हैं। नरलोक में देवों और नागों से श्रेष्ठ भोग आदि भाग्य की वस्तुएँ नहीं हैं। इससे इन सिहानेवालों में नरों का नाम नहीं है। श्रीबैजनाथजी के पाठ में 'सुर नर नाग' ऐसा पाठ है। इससे तो तीनों लोकों की सराहना सिद्ध हो जाती है। सम्भव है कि 'नर' पाठ का 'वर' ही गया हो। तथा—"सिव बिरंचि मुनि सिद्ध प्रसंसत, बड़े भूप के भाग।" (पद २)

'तिय बर बेष अली...'—जैसे सखियाँ परिचर्या कर अनुकूल रहती

हैं, वैसे ही सम्पत्ति एवं उसकी अधिष्ठातृ देवी श्रीलक्ष्मीजी तथा अणिमा अष्ट-सिद्धियाँ राजा के अनुकूल रहती हुई सेवा करती हैं। पूर्वोक्त पद २।२३ के शब्दार्थ में सिद्धियों के प्रमाण हैं।

'अनिमादि सारद...'—श्रीलक्ष्मीजी अनिमादि एवं संपत्ति के मूल रूप में कही गईं। शारदा ब्रह्माजी की एवं पार्वती शिवजी की यहाँ कही गई हैं। इस प्रकार त्रिदेवों की सभी शक्तियाँ आ गईं। यहाँ परंब्रह्म श्रीरामजी को ले-लेकर पुत्र रूप में उनका पालन करती हैं, इसी सुख के लिये तो इन सबने श्रेष्ठ स्त्री रूप में सखी वेष धारण किया है। सुख यथा—"जा सुख की लालसा लटू सिव, सुक-सनकादि उदासी। तुलसी तेहि सुख सिंधु कौसिला मगन, पै प्रेम-पियासी॥" (पद ८); तथा—"पुन्य फल अनुभवति सुतहि बिलोकि दसरथ घरनि। बसति तुलसी-हृदय प्रभु-किलकनि ललित लर-खरनि॥" (पद २७)। वही मातृ-सुख इन सखी रूप में आई हुई रमा आदि को मिल रहा है।

'निज लोक बिसरे...'—इन्द्र आदि लोकपाल बड़े-बड़े ऐश्वर्य सुख वाले हैं, पर यहाँ के सुख के समक्ष वे अपने लोक जाने की तो बात ही क्या? वहाँ की चर्चा तक नहीं चलाते। श्रीअवधपुर में लुभाये हुए रहते हैं।

'तुलसी तपत तिहुँ ताप...'—जैसे धूप में अत्यन्त तप्त होनेवाला भाग्य से सघन वृक्ष एवं लता की छाया में पड़कर सुखी हो जाता है। वैसे ही प्रभु के इस छठी-उत्सव के विविध रहस्यों का अनुशीलन कर सारा जगत् तीनों तापों की ताप से बचकर शीतल हो जाता है; यथा—"तुलसिदास प्रभु सोहिलो..." (पद २) इसका विशेष देखिये।

अलङ्कार—उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा ('जनु प्रभु छठी...' इसमें स्पष्ट है)।

राग जैत श्री

[६]

बाजत अवध गहागहे आनंद-बधाए।
नामकरन रघुबरनि के नृप सुदिन सोधाए॥१॥
पाय रजायसु राय को रिषिराज बोलाए।
सिष्य सचिव सेवक सखा सादर सिर नाए॥२॥

साधु सुमति समरथ सबै सानंद सिखाए।
जल दल फल मनि-मूलिका कुलिकाज लिखाए॥३॥

अर्थ—श्रीअयोध्याजी में घमाघम (गम्भीर ध्वनि से) आनन्द की बधाईयाँ बज रही हैं। महाराजा दशरथजी ने रघुश्रेष्ठ बालकों के नामकरण संस्कार करने के लिये सुन्दर दिन शोधवाया है॥ १ ॥ राजा दशरथ की आज्ञा पाकर ऋषिराज श्रीवसिष्ठजी ने शिष्यों, मंत्रियों, सेवकों और सखाओं को बुलाया। उन्होंने आकर आदरपूर्वक शिर नवाया॥ २ ॥ श्रीवसिष्ठजी ने उन सब साधु, सुमति और समर्थ शिष्य आदि को आनन्दपूर्वक शिक्षा दी और तीर्थों के जल, तुलसी आदि दल, आम, सुपारी एवं नारियल आदि फल, नवग्रहों की मणि-मूलिकाएँ एवं समस्त कार्य लिखा दिये॥ ३ ॥

विशेष—'बाजत अवध···नामकरन···'—ग्रन्थकार की उक्ति है कि आज विशेष उत्साह से घमाधम नगाड़े बज रहे हैं। साथ ही यह भी कहा कि नामकरण का शोधा हुआ सुदिन आज ही है। उसी के उपलक्ष का यह बधावा है। 'रघुबरनि' यह पद चारो बालकों के लिये है; यथा—"नेकु बिलोकि धौं रघुबरनि। चारि फल त्रिपुरारि तोको दिये कर नृप-घरनि॥" (पद २८) तथा—"सुमिरत श्री रघुबरनि की लीला लरिकाई।" (पद ३०)।

'पाय रजायसु···' - श्रीवसिष्ठजी राजा दशरथजी के गुरु, पुरोहित एवं अष्ट धर्म-मंत्रियों में हैं। अतः, यहाँ राजा का आज्ञा देना युक्त है; क्योंकि राज्यासन पर विराजमान महाराजा की आज्ञा से ही तो सब कार्य होते हैं।

'साधु सुमति समरथ सबै···' इन तीनों गुणों से ये सब सारे कार्य सम्पन्न कर सकते हैं, यह समझ कर शिक्षक गुरुजी को सिखाने में आनन्द है। श्रीराम आदि नामकरण का आनन्द तो प्रधान ही है। 'मनि-मूलिका'—ऊपर पद ५ के विशेष 'मूलिका-मनि' के भेद देखिये। 'लिखाए' जिससे किसी वस्तु में भूल न हो।

गनप-गौरि-हर पूजि कै गोबृंद दुहाए।
घर-घर मुद-मंगल महा गुनगान सुहाए॥४॥
तुरत मुदित-जहँ-तहँ चले मन के भाए।
सुरपति-सासन घन मनो मारुत मिलि धाए॥५॥

गृह, आँगन, चौहट, गली बाजार बनाए ।
कलस, चँवर, तोरन, धुजा, सुबितान तनाए ॥६॥

अर्थ—श्रीगणेशजी, श्रीगौरीजी और श्रीशिवजी की पूजा करके गोसमूह का दोहन कराया गया । सबके घर-घर में महान् आनन्द मंगल है और सुन्दर गुणों का गान हो रहा है ॥ ४ ॥ (उपर्युक्त शिष्य-सचिव आदि) तुरत (गुरुजी की आज्ञा पाते ही) आनंदित होकर जहाँ-तहाँ (कर्तव्य पालनार्थ) चले क्योंकि सब के मन का चाहा हो रहा है । मानों इन्द्र की आज्ञा से मेघ गण वायु के साथ मिल कर दौड़ते हों ॥५॥ घर, आँगन, चौक, गली और बाजारों को सजाया गया है । कलशे, चँवर, वन्दनवारें, ध्वजाएँ (सजाई) गईं और अच्छे माँड़व तनाये (सजाये एवं लगाये) गये हैं ॥ ६ ॥

विशेष—'गनप गौरि हर पूजि कै…'—मङ्गल कार्य में इनका पूजन प्रथम होता है । गोवृन्द को दुहा कर शिवजी का स्नान कराना परम माङ्गलिक है, उसी दोहन का तात्पर्य यहाँ जान पड़ता है । किसी-किसी का यह भी मत है कि पंचामृत एवं पञ्चगव्य के लिये गोदोहन कराया गया । पर मुझे यह ठीक नहीं समझ पड़ता, पञ्चामृत आदि में दूध के अतिरिक्त और भी चार-चार वस्तुएँ हैं ।

'घर-घर मुद मंगल…'—पुरवासी गण घर-घर में महामंगल मना रहे हैं, सबके यहाँ भगवान् के मंगलमय गुणों का गान हो रहा है कि जिससे नामकरण आनन्दपूर्वक सम्पन्न हो ।

'तुरत मुदित…सुरपति-सासन…'—पहले गुरुजी ने जो आज्ञा एवं शिक्षा दी थी । उसमें यह आज्ञा सबके लिये थी कि कार्यारम्भ में पहले 'गनप गौरि हर…' इस चरण की विधि मंगल के लिये सम्पन्न करके तब कार्यारम्भ किया जाय । सब शिष्य-सचिव आदि ने वैसा ही किया है । इससे ग्रन्थकार ने उतना करना लिख कर तब आज्ञा के कार्यों में लोगों का उत्साहपूर्वक दौड़ना कहा है । सबके मन का चाहा कार्य हो रहा है, इससे आनन्दपूर्वक उत्साह से जहाँ-तहाँ चले । जैसे इन्द्र की शासनात्मक आज्ञा से पवन की सहायता से मेघ दौड़ते हों । यहाँ सुरपति के समान श्रीवसिष्ठजी हैं । मन का

उत्साह पवन है। उत्प्रेक्षा से शीघ्रता दिखाई गई—'तुरत मुदित…' इसी भाव सुस्पष्ट किया गया है।

अलङ्कार—उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा।

'गृह आगन चौहट गली…'—इन घर आदि को उत्तरार्द्ध चरण में कहे हुए कलश आदि से सजाया और सर्वत्र माँड़व भी तनाये गये। क्योंकि ग्राम-वासी राजा के उत्सव को अपना मानते हैं। अतः, प्राण-प्रिय (आत्म स्वरूप) श्रीरामजी के मङ्गल के लिये सब कोई मंगल-रचना करते हैं।

चित्र चारु चौकैं रचीं, लिखि नाम जनाए।
भरि-भरि सरवर-बापिका अरगजा सनाए॥ ७॥
नर-नारिन्ह पल चारि में सब साज सजाए।
दसरथ-पुर छबि आपनी सुर-नगर लजाए॥ ८॥
बिबुध बिमान बनाइ कै आनंदित आए।
हरषि सुमन बरषन लगे, गये धन जनु पाए॥ ९॥

अर्थ—विचित्र सुन्दर चौकें रची (पूरी) गई और उन पर नाम लिख-लिख जनाये गये (कि यह चौक श्रीकौशल्या-नन्दन की है, यह श्रीकैकेयीनन्दन की है और यह दो दोनों श्रीसुमित्रानन्दनों की हैं)। सरोवरों (तालाबों) और बावलियों में भर-भर कर अरगजा सनाया गया॥ ७॥ स्त्री-पुरुषों ने चार पल (अत्यन्त अल्प समय) में सब साज सजा दिये। इस समय श्रीदशरथजी की पुरी श्रीअयोध्या ने अपनी छबि के समक्ष देव-नगर (स्वर्ग) को लज्जित कर दिया है॥ ८॥ देव गण विमान बना कर आनन्दपूर्वक आये हैं और हर्षित होकर फूल बरसने लगे हैं, मानों उन्हें गया (खोया) हुआ धन मिल गया है॥ ९॥

विशेष—'चित्र चारु चौकें रची'; यथा—"चौकैं चारु सुमित्रा पूरीं, मनिमय बिबिध भाँति अति रूरीं॥" (मा० अ० ७)।

'भरि-भरि सरवर बापिका…'; यथा—"मृगमद चंदन कुंकुम कीचा। मची सकल बीथिन्ह बिच-बीचा॥" (मा० बा० १९३); तथा—"गली सकल अरगजा सिंचाई।" (मा० बा० ३४३)। इन्हीं कामों के लिये अधिक परि-

माण में अरगजा सनाया गया है। पद १ के 'बीथिन्ह कुंकुम कीच…' इसका विशेष भी देखिये।

'नर नारिन्ह पल चारि में…'; क्योंकि सबके हृदय में अत्यन्त उत्साह है।

'दसरथ पुर…'—श्रीदशरथजी के धन पर कुबेर भी लज्जित होते हैं; यथा—"अवधराज सुरराज सिहाई। दसरथ धन सुनि धनद लजाई॥" (मा० अ० ३२३); धन से ही नगर की शोभा बढ़ती है, इससे इनके नगर को देखकर देवों के लोक स्वर्ग आदि लजाते हैं।

'बिबुध बिमान…हरषि सुमन….'—मङ्गल का अवसर जान कर देवगण विमान पर आनन्दपूर्वक आये हैं; और फूल बरस कर मङ्गल मना रहे हैं; यथा – "पढ़हिं बेद मुनि मंगल बानी। गगन सुमन झरिअवसर जानी॥" (मा० बा० ३२३); ऐसे ही सर्वत्र मङ्गल-अवसरों पर देवगण फूल बरसाते हैं।

'गये धन जनु पाये'—रावण के अत्याचार से इनकी पूजा-प्रतिष्ठा चली गई थी। अब प्रभु के प्रादुर्भाव पर इन्हें उसकी पूर्ति की पूर्ण आशा हो गई, इससे इन्हें वैसे हर्ष है, जैसे गये हुए धन के पाने पर होता है।

अलङ्कार—उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा।

> बरे बिप्र चहुँ बेद के, रबिकुल-गुरु ज्ञानी।
> आपु बसिष्ठ अथर्वनी, महिमा जग जानी॥१०॥
> लोक-रीति बिधि बेद की करि कह्यो सुबानी।
> 'सिसु समेत बेगि बोलिये कौसल्या रानी'॥११॥
> सुनत सुआसिनि लै चलीं गावत बड़ भागीं।
> उमा-रमा, सारद-सची, देखि सुनि अनुरागीं॥१२॥

अर्थ—(मांगलिक वेदपाठ के लिये) चारों वेदों के (ज्ञाता एवं अधिकारी) ब्राह्मण वरण किये गये। रघुकुल के गुरु ज्ञानी श्रीवसिष्ठजी स्वयं अथर्वणि (यज्ञ करानेवाला, पुरोहित) हैं, जिनकी महिमा सारा जगत् जानता है॥१०॥ लोकरीति और वेद की विधि करके (श्रीवसिष्ठजी ने) सुन्दर वाणी से कहा—'बच्चे के साथ श्रीकौशल्या रानी को शीघ्र बुलाइये'॥११॥ सुनते ही बड़े भाग्यवाली सुवासिनें गाती हुई लिवा ले चलीं। इन्हें देख और इनके

गान सुनकर श्रीपार्वतीजी, श्रीलक्ष्मीजी, श्रीशारदाजी और श्रीशचीजी अनुराग युक्त हो गईं ॥१२॥

विशेष—'बरे बिप्र चहुँ बेद के'—ब्राह्मणों में गोत्र आदि की भाँति वेद का भी नियम होता है—अमुक सामवेदी, अमुक यजुर्वेदी आदि। अपने-अपने वेदों के मंगल पाठ करने के लिये उन वेदों के ज्ञाता ब्राह्मणों को वरण किया गया; यथा—"निज निज बेद की असीस जोग-छेम-मई मुदित असीस बिप्र बिदुषनि दई है ॥" (पद ८६)। 'रघुकुल गुरु ज्ञानी'—नामकरण के प्रसंग में ज्ञानी अन्यत्र भी कहा गया है—पद ४ के 'छठी बारहौं…' इसका विशेष देखिये।

'आपु बसिष्ठ अथर्वनी…'—श्रीवसिष्ठजी श्रीब्रह्माजी के पुत्र हैं, ब्रह्मर्षि हैं। इस नामकरण-संस्कार के विधानकर्त्ता स्वयं हैं। इनकी महिमा बहुत प्रसिद्ध है।

'लोकरीति बिधि बेद की…'—श्रीकौशल्याजी के आने के पहले की लोक-वेद रीति जो होती है, उन्हें करके श्रीगुरुजी ने सुन्दर वाणी से कहा—श्रीबैजनाथजी ने इस संस्कार के साथ होनेवाली लोक-वेद विधियों को टीका में लिखा है।

निज-निज रुचि बेष बिरचि कै हिलि-मिलि सँग लागी।
तेहि अवसर तिहुँ लोक की सुदसा जनु जागी ॥१३॥
चारु चौक बैठत भईं भूप-भामिनी सोहैं।
गोद मोद-मूरति लिये, सुकृती जन जोहैं ॥१४॥
सुख-सुखमा, कौतुक-कला, देखि-सुनि मुनि मोहैं।
सो समाज कहें बरनि कै, ऐसे कबि कोहैं? ॥१५॥

अर्थ—वे (पार्वती आदि) अपनी-अपनी रुचि के अनुसार वेष बनाकर और हिल-मिल कर साथ लग गईं। उस अवसर पर मानो तीनों लोकों की सुन्दर दशा जग (उदित हो) गई ॥१३॥ सुन्दर चौकों पर बैठी हुई राजा दशरथ की कौशल्यादि रानियाँ गोदों में आनन्दमूर्त्ति बालकों को लिये हुई शोभायमान हो रही हैं, पुण्यात्मा लोग दर्शन कर रहे हैं ॥१४॥ उस समय का सुख, शोभा और कौतुक की कला देख-सुन कर मुनियों का मन भी मोहित

हो जाता है। ऐसा कवि कौन है जो उस समाज का वर्णन कर (विस्तारपूर्वक कह सके ? ॥ १५ ॥

विशेष—'तेहि अवसर तिहुँ लोक की···'—आज बारहवाँ दिन है। सौर घर से आँगन में श्रीरामजी आये हैं, इससे ऊपर नीचे आदि सब ओर आपकी दृष्टि पड़ी है। अतः, अब तीनों लोकों का कल्याण होगा, यही सुदशा का जाग्रत होना है।

'भूप भामिनी सोहैं···'—ऊपर केवल श्रीकौशल्याजी को बुलाया गया है, किन्तु यहाँ बहुवचन प्रयोग से तीनों रानियों को सूचित किया है। आगे भी तीनों रानियों के पुत्रों के नामकरण साथ ही होंगे, यह स्पष्ट कहा गया है। अतः, श्रीकौशल्याजी के प्राधान्य में यहाँ तीनों रानियों को समझना चाहिये। सब अपने-अपने पुत्रों को गोद में लिये हुई हैं।

'कहै बरनि कै'—उपमा द्वारा विशेषतापूर्वक कहना वर्णन करके कहना है।

लगे पढ़न रच्छा रिचा रिषिराज बिराजे।
गगन सुमन-झरि, जय-जये, बहु बाजने बाजे ॥१६॥
भए अमंगल लंक में, संक संकट गाजे।
भुवन-चारिदस के बड़े दुख दारिद भाजे ॥१७॥
बाल बिलोकि अथर्वनी हँसि हरहिं जनायो।
सुभ को सुभ, मोद मोद को 'राम' नाम सुनायो ॥१८॥

अर्थ—ऋषिराज श्रीवसिष्ठजी रक्षापरक वेद की ऋचाएँ पढ़ते हुए सुशोभित हो रहे हैं। आकाश से फूलों की झड़ी हो रही है, 'जय-जय' कार हो रहा है और बहुत से बाजे बज रहे हैं ॥१६॥ लङ्का में (इसी समय) असङ्गल (सूचक अपशकुन) होने लगे। भाँति-भाँति की शङ्काएँ और विपत्तियाँ गर्जने लगीं; (साथ ही) चौदहो भुवनों के बड़े-बड़े दुःख और दरिद्रता आदि भग गये ॥१७॥ अथर्वणि श्रीवसिष्ठजी ने बालक श्रीरामजी को देख हँस कर श्रीशिवजी को (सङ्केत से) जनाया (कि आपके इष्टदेव ये ही हैं) और शुभ का शुभ और आनन्द का आनन्द रूप 'राम' यह नाम सुनाया (शिशु रामजी के कान में तीन बार सुनाया) ॥१८॥

विशेष—'लगे पढ़न रच्छा रिचा···'—वेद की शान्ति पाठ की ऋचाएँ

रक्षा परक हैं; यथा—"ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु···" (तैत्त०२।१।१); तथा—"ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः।" (तैत्ति० १।१।१) आदि।

'गगन सुमन झरि···'—देव गण ही फूल बरसते हुए 'जय-जय' कहते हैं और नगाड़े आदि भी बजाते हैं, इस प्रकार मंगलाचार करते हैं।

'भए असंगल लंक में···'—रावण का वध करने के लिये श्रीरामजी का अवतार ही है। इससे आज आँगन में आते ही आपकी दृष्टि सब ओर गई, इससे चौदहो भुवनों के दुःख-दरिद्रता आदि भग गये, वे सब लङ्का में रहेंगे। इसके सूचक अमंगल परक अपशकुन लंका में होने लगे। भाँति-भाँति की शङ्काएँ और बिपत्तियाँ गर्जने लगीं; अर्थात् उन अपशकुनों से इनकी संभावना स्पष्ट प्रतीत होने लगी।

यह सब नाम-करण संस्कार की महिमा है।

'बाल बिलोकि···'—बालक श्रीरामजी के दिव्य लक्षणों को देखकर हँसते हुए शिवजी से कहा कि ये वही आपके स्वामी हैं जिन्हे आप हृदय में ही ध्यान करते हैं। आज प्रकट हैं। जिस नाम को आप गुप्त जपते हैं। आज यह प्रकट होकर सबको सुलभ होगा।

'सुभ को सुभ मोद मोद को···'—शुभ को भी शुभ की सत्ता देनेवाला एवं मोद को भी मोद-सत्ता देनेवाला राम नाम है; यथा—"राम! रावरो नाम···लाभहू को लाभ, सुखहू को सुख, सरबस···" (वि० २५२); तथा—"नाम राम को कलपतरु, कलि कल्यान-निवास।" (मा० बा० २६)।

पीपल के पत्ते पर नाम लिखकर उसकी पूजा करके फिर जब माता बालक को लेकर पूर्वमुख चौक में बैठती है, तब आचार्य बालक के दहिने कान में वह नाम सुनाते हैं, ऐसी विधि है। उसी प्रकार यहाँ वसिष्ठजी ने 'राम' यह नाम सुनाया।

आलबाल कल कौसिला, दल बरन सोहायो।
कंद सकल आनंद को जनु अंकुरि आयो ॥१९॥
जोहि, जानि, जपि, जोरिकै करपुट सिर राखे।
'जय जय जय करुनानिधे!' सादर सुर भाखे ॥२०॥

'सत्यसंध ! साँचे सदा जे आखर आषे।
प्रनतपाल ! पाए सही, जे फल अभिलाषे' ॥२१॥

शब्दार्थ—आलबाल = थाल्हा । आषे = कहे ।

अर्थ—श्रीकौशल्याजी सुन्दर थाल्हा हैं और 'राम' इस नाम के दोनों अक्षर सुहावने दो दल हैं। समस्त आनन्द का मूल ही मानों अङ्कुरित हुआ है ॥१९॥ (श्रीवसिष्ठजी से सुनकर श्रीशिवजी ने श्रीरामजी को) देख और पहचानकर श्रीरामनाम जपते हुए हाथ जोड़ कर अपने शिर पर रक्खा। 'करुणा निधान श्रीरामजी की जय हो, जय हो, जय हो' ऐसा आदरपूर्वक देवताओं ने कहा ॥२०॥ (देवताओं ने कहा–) 'हे सत्यसंध ! आपने जो अक्षर कहे हैं, उन्हें सदा सत्य करके ही दिखाये हैं। हे प्रणत पाल ! आपसे जिन्होंने जिन फलों की अभिलाषाएँ की हैं, उन्होंने उन फलों को ठीक ही पाये हैं।'

विशेष—'आलबाल कल…'–नाम-करण समय श्रीकौशल्याजी श्रीरामजी को अंक में लिये हुई बैठी हैं। उस पर उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानों समस्त आनन्द को कन्द अंकुरित हो आया है। अंकुर में दो दल निकलते हैं, वे ही 'रा' और 'म' ये नाम के दोनों अक्षर हैं। थाल्हा रूपिणी श्रीकौशल्याजी को सुन्दर कहा है; यथा—"बंदौं कौसल्या दिसि प्राची। कीरति जासु सकल जग माँची ॥ प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू। बिस्व सुखद खल कमल तुषारू ॥" (मा० बा० १५)।

आनन्द के कंद पहले बीज की भाँति अव्यक्त थे। अब कौशल्याजी की गोद में आकर प्रकट हुए हैं। आज उनके नाम के दोनों वर्ण दो दल रूप में देख पड़े हैं।

'जोहि, जानि, जपि…'—जब वसिष्ठजी ने शिवजी को सङ्केत करके शुभ का शुभ और मोद का भी मोद रूप श्रीरामनाम सुनाया, तब उस नाम के अर्थ रूप श्रीरामजी के उस बाल रूप को देखा; क्योंकि नाम जप के साथ उसके अर्थ पर चित्त रखना चाहिये। नाम और रूप के संयोग से श्रीरामजी को पहचाना; यथा—"रूप बिसेष नाम बिनु जाने। करतल गत न परहिं पहिचाने ॥" (मा० बा० २०); तथा—"बंदउँ बालरूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू ॥" (मा० बा० १११); तत्पश्चात् शिवजी ने

नाम और रूप का ज्ञान कर इस नाम का जप किया। फिर हाथ जोड़कर इसी नाम को अपना उपाय सूचित किया। नमस्कार का अर्थ उपाय एवं शरणागति होता है—महा० वन० १८९।५७-५८ में स्पष्ट कहा गया है। उस नमस्कार की मुद्रा को शिर पर रखकर इन्हें ही अपना शिर-भूषण एवं शिरमौर कहा है।

'जय जय जय करुनानिधे'—तीन बार जय-जय कहकर तीनों कालों और तीनों लोकों में जय सूचित किया। तीन बहुवचन है। अतः, बहुत बार जय-जय कहा।

'सत्यसंध साँचे सदा ···'; यथा—"आपु सरिस खोजउँ कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥" (मा० बा० १४९)। आपने अपनी इस प्रतिज्ञा को सत्य किया है। मनु-शतरूपा ने जो अभिलाषा की थी, उसका फल भी उन्हें आप दे रहे हैं; यथा—"चाहि चुचुकारि चूमि लालत लावत उर, तैसे फल पावत जैसे सुबीज बए हैं।" (पद ११)। अवतार लेकर आप उनके पुत्र हुए हैं। उन्हें सुख दे रहे हैं।

भूमिदेव देव देखि कै नरदेव सुखारी।
बोलि सचिव सेवक सखा पटधारि भँडारी॥२२॥
देहु जाहि जोइ चाहिये सनमानि सँभारी।
लगे देन हिय हरषि कै हेरि-हेरि हँकारी॥२३॥
राम-निछावरि लेन को हठि होत भिखारी।
बहुरि देत तेहि देखिये मानहुँ धन-धारी॥२४॥

अर्थ—उस समय ब्राह्मणों और देवताओं को देखकर राजा दशरथ सुखी हुए। उन्होंने अपने मन्त्री, सेवक, मित्र, पटधारी और भंडारी को बुलाकर कहा—॥२२॥ 'जाओ, जिसे जो वस्तु चाहिये, उसे वही वस्तु सम्मानपूर्वक सावधानी से दो'। वे हृदय से हर्षित हो याचकों को ढूँढ़-ढूँढ़कर तथा बुला-बुलाकर देने लगे॥२३॥ वे सब (देव-ब्राह्मण) लोग श्रीरामजी की निछावर लेने के लिये हठ करके भिखारी बन जाते हैं और फिर वे ही दान देते हुए ऐसे देखे जाते हैं, मानों कुवेर ही हों॥२४॥

विशेष—'भूमिदेव देव देखि कै···'—श्रीरामजी का नामकरण हुआ है। अतः, श्रीरामजीकी निछावर लेने के लिये ब्राह्मण गण और देवगण आये हैं।

ये सब मंगल रूप भी हैं। अतः, इन्हें देखकर राजा दशरथ को बड़ा सुख हुआ। राजा उदार दाता हैं, इससे भी बड़े-बड़े अधिकारियों को देख इन्हें सुख एवं दान में उत्साह हुआ, यथा—"भूसुर भीर देखि सब रानी। सादर उठीं भाग्य बड़ जानी॥"से"आदर दान प्रेम परिपोषे। देत असीस चले मन तोषे॥" (मा० बा० ३५१) तक। भूमिदेव और देव को देखकर नरदेव को सुखी होनायुक्त है, देवत्व का सजातित्व है।

"पट धारी" वस्त्रशाला के अधिकारी। 'भँडारी'—अन्नागार एवं द्रव्या-गार के अधिकारी। 'सनमानि सँभारी'—सम्मानपूर्वक दो और सँभाल रक्खो, कोई छूटने न पावे।

'लगे देन हिय हरषि कै⋯'—हर्षित होकर देने में सम्मान का भाव है; यथा—"देहु भूप मन हरषित⋯" (मा० बा० २०७)। और 'हेरि-हेरि⋯' इसमें 'सँभारी' इस पद का सँभाल है।

'राम निछावरि लेन को⋯'; यथा—"राम प्रसाद माल जूठनि लगि त्यों न ललकि ललचानी।" (वि० १७०)। 'बहुरि देत तेहि देखिये⋯'; यथा—जाचक जन भये दानी।" (पद ४)।

भरत लखन रिपुदवन हूँ धरे नाम बिचारी।
फलदायक फल चारि के दसरथ-सुत चारी॥२५॥
भये भूप बालकनि के नाम-निरूपम नीके।
गये सोच संकट मिटे तब ते पुर-ती के॥२६॥
सुफल मनोरथ बिधि किये सब बिधि सबही के।
अब है है गाये सुने सब के तुलसी के॥२७॥

अर्थ—(श्रीवसिष्ठजी ने) विचार करके (श्रीरामजी के समान ही) श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी के भी नाम रक्खे। महाराजा श्रीदशरथजी के चारो पुत्र चारों फलों (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) के भी फल देने वाले हैं॥ २५॥ इस प्रकार राजा दशरथ के पुत्रों के अनुपम एवं सुन्दर नाम रक्खे गये। उस समय से पुर-नारियों के शोच चले गये और दुःख मिट गये॥२६॥ श्रीब्रह्माजी ने सभी के सब प्रकार के मनोरथ पूर्ण कर दिये। अब भी इन चरितों का गान और श्रवण करने से सबके तथा तुलसीदास के भी सभी मनोरथ सिद्ध होंगे॥२७॥

विशेष—'फलदायक फल चारि'''; यथा —"नाम प्रेम चारि फलहू को फरु है।" (वि० २५५); तथा—"नामको भरोसो बल चारिहू को फल।" (वि० २५४)। फल का फल उस फल का उपभोग करना है। श्रीरामजी, श्रीभरतजी, श्रीलछमणजी और श्रीशत्रुघ्नजी क्रमशः मोक्ष, काम, धर्म और अर्थ उपभोग के आदर्श हैं, यों तो फल के फल उन फलों के सार तत्व हैं, ऐसा भी भाव होता है। जैसे कि ऊपर कहा गया है "शुभ को शुभ, मोद मोद को 'राम' नाम सुनायो।"

'भये भूप बालकनि के''' गये सोच'''—बारह दिन तक बालक सूतिका गृह में रहता है। तब तक स्त्रियों को विघ्न-बाधाओं का भय रहता है। नाम करण के साथ ही बारहौं हो गया। बालक सूतिका गृह से निर्विघ्न बाहर आ गये। अब शौच-संकट जाता रहा। स्त्रियाँ अधिक भीरु होती हैं, इससे उन्हीं का भय छूटना कहा गया है। अथवा, शुभ का शुभ और मोद का मोद राम नाम सुन कर सबके शोच-संकट निवृत्त हो गये।

'नाम निरुपम'—इन चारो नामों के समान और नाम नहीं हैं। श्रीराम नाम के लिये ही कहा गया है—'अगुन अनूपम गुन निधान सो' (मा० बा० १८)।

'सुफल मनोरथ''' अब हैं'''—जिन चरितों से जो लाभ हुए हैं, इस समय उनके गान और श्रवण से भी वैसे ही लाभ होते हैं; यथा—"भरत, राम, रिपुदवन, लखन के चरित-सरित अन्हवया। तुलसी तब के से अजहुँ जानिबे रघुबर नगर-बसैया।" (पद ६); तथा—"अजहुँ जासु उर सपनेहु काहू। बसहु लखन सिय राम बटाऊ॥ राम-धाम पथ पाइहि सोई। जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई॥" (मा० अ० १२३); "तुलसिदासहु के होने।" (पद १०७)—इसका विशेष देखिये। 'बिधि किये'—चरित में देखने का संयोग ब्रह्मा ने लगा दिया।

लाड़-प्यार

राग बिलावल

[७]

सुभग-सेज सोभित कौसल्या रुचिर राम-सिसु गोद लिये।

बार-बार बिधु बदन बिलोकति लोचन चारु चकोर किये ॥१॥
कबहुँ पौढ़ि पय पान करावति, कबहूँ राखति लाइ हिये।
बालकेलि गावति हलरावति, पुलकित प्रेम पियूष पिये ॥२॥
बिधि महेस मुनि सुर सिहात सब, देखत अंबुद ओट दिये।
तुलसिदास ऐसो सुख रघुपति पै काहू तौ पायो न बिये ॥३॥

अर्थ—महारानी श्रीकौशल्याजी सुन्दर बालक श्रीरामजी को गोद में लिये हुई सुन्दर शय्या पर सुशोभित हैं और अपने नेत्रों को सुन्दर चकोर बना कर बार-बार (शिशु के) मुख चन्द्र को देखती हैं ॥ १ ॥ कभी शय्या पर पौढ़ कर दूध पान कराती हैं, कभी हृदय से लगा लेती हैं, कभी श्रीरामजी की बाल क्रीड़ा गाती हुई उन्हें हाथों पर झुलाती हैं और प्रेमामृत का पान कर पुलकित हो जाती हैं ॥ २ ॥ श्रीब्रह्माजी, श्रीशिवजी, मुनि और देवगण बादलों की ओट होकर देखत हुए सब सिहाते (ललचाते) हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरघुनाथजी से ऐसा सुख (श्रीकौशल्याजी के अतिरिक्त) किसी दूसरे ने तो नहीं ही पाया है।

विशेष—'सुभग सेज सोभित ···'—अब श्रीकौशल्याजी शिशु को लेकर आंगन में आई हैं। मणिमय आंगन में दूध फेन के समान सुन्दर शय्या पर विराजमान् हैं। चकोरवत् नेत्रों से शिशु को बार बार देखती हैं। बाल क्रीड़ा गाती है, जैसे अगले दो पदो में वर्णित है।

'बिधि महेस मुनि सुर···'—मुनि नारदादि और देव इन्द्रादि। इन सबको अब आंगन में आने पर देखने का सुयोग प्राप्त हुआ है। मेघ की ओट से देखने का उनका भाव यह कि सामने होने पर माता हम लोगों की ओर देखेंगी तो यह सुख उनका न रहेगा।

राग सोरठ

[८]

ह्वै हौ लाल कबहि बड़े बलि मैया।
राम लखन भावते भरत रिपुदवन चारु चार्‍यो भैया ॥१॥
बाल-बिभूषन-बसन मनोहर अंगनि बिरचि बनैहौं।
सोभा निरखि निछावरि करि उर लाइ वारने जैहौं ॥२॥

छगन-मगन अँगना खेलिहौ मिलि ठुमुक-ठुमुक कब धैहौं।
कलबल बचन तोतरे मंजुल कहि "माँ" मोहिं बुलैहौ ॥३॥
पुरजन सचिव राउ रानी सब सेवक सखा सहेली।
लैहैं लोचन-लाहु सुफल लखि ललित मनोरथ-बेली ॥४॥
जा सुख की लालसा लटू सिव, सुक-सनकादि उदासी।
तुलसी तेहि सुखसिंधु कौसिला मगन, पै प्रेम-पियासी ॥५॥

अर्थ—(श्रीकौसल्याजी कहती हैं—) हे लाल ! मैया तुम्हारी बलिहारी जाती है। तुम कब बड़े होगे ? प्यारे राम-लक्ष्मण और भरत-शत्रुघ्न, तु चारो भाई (कब बड़े होगे ?) ! ॥ १ ॥ (कब ऐसा होगा—) मैं तुम मनोहर अङ्गो में बालोचित भूषण और वस्त्र रच-रच कर उन्हें सजाऊँगी। उस शोभा को देख कर निछावर कर तुम्हें हृदय से लगा कर स्वयं भी नि हो जाऊँगी ॥२॥ सब मिलकर तुम कब आँगन में छगन-मगन (एक खेल वि खेलोगे और कब ठुमुक-ठुमुक कर दौड़ोगे ? तथा कल-बल [अस्पष्ट (स्वर वाले तोतले सुंदर वचन से मुझे 'माँ' कहकर कब बुलाओगे ? ॥३॥ पुरज मंत्री, राजा, रानी और सेवक, सखा और सखियाँ, ये सब अपनी मनोरथ रूपी बेल को सफल देखकर (कब) अपने-अपने नेत्रों के लाभ लें ॥४॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जिस सुख की अभिलाषा में श्रीशिव श्रीशुकदेवजी तथा श्रीसनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमारजी आदि उ से उदासीन रहकर लट्टू (आसक्त एवं प्राप्ति के लिये उत्कंठित) रहते हैं उसी सुख के समुद्र में श्रीकौशल्याजी निमग्न रहती हुई भी (अधिक) प्रे लिये प्यासी रहती हैं ॥५॥

विशेष—'ह्वै हौ लाल···'—माता विविध अभिलाषाएँ करती हैं— लाला शीघ्र बड़ा हो, यह लालसा विशेष रहती है। माता का चारो पुत्रों सम भाव है।

'बाल बिभूषन बसन···'—नूपुर, करधनी, कठुला, पहुँची, कड़ा बिजायठ आदि बाल अवस्था के भूषण और झँगुली-टोपी आदि वस्त्र हैं।

'अंगनि बिरचि' इस प्रकार वाक्यखंड से अंगों का रचकर सजाना अर्थ होता है; नेत्रों में अंजन लगाना, कपोल पर कपोल पत्र लगाना,

पर डिठौना लगाना और शिर पर चोटी बना उसमें सोने की किरण की लटकनी लगाना आदि।

'छगन-मगन'—यह दुलार का सम्बोधन भी है; यथा—"बछरू छबीलो छौना, छगन-मगन मेरे कहति मल्हाइ-मल्हाई।" (पद १९); तथा—"छगन-मगन आँगन खेलत चारु चारयो भाई।" (पद ३०); इस पद के आधार पर श्रीहरिहर प्रसाद ने यहाँ इसे एक खेल का नाम माना है; परन्तु ऊपर के पद १९ के प्रमाण में स्पष्ट सम्बोधन भी है।

'कहि माँ'—माता एवं माय न कहकर 'माँ' पद मात्र कलबल वचन है; क्योंकि पूरा पद नहीं कहा जा सका है। तवर्ग के ऊपर के वर्ग तवर्ग के रूप में कहना तुतलाना है, जैसे कूकुर को तूतुर, चलौ को तलौ और टूट को तूत आदि तथा रोटी को तोती आदि।

'सचिव'—राजा दशरथ के मन्त्री आठ हैं; यथा—"धृष्टिर्जयन्तो विजयः सुराष्ट्रो राष्ट्रवर्धनः। अकोपो धर्मपालश्च सुमंत्रश्चाष्टमोऽर्थवित्॥" (वाल्मी० १।७।३); अर्थात् धृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप, धर्मपाल और सुमंत्र। इनमें सुमंत्रजी प्रधान थे।

'जा सुख की लालसा लटू···'—लट्टू जैसे एक ही स्थल पर घूमता हुआ अटल रहता है, वैसे ही एक ही आसक्ति में अचल हो जाना, उसमें लट्टू होना कहा जाता है। शिव आदि इस माधुर्य के सुख के लिये लट्टू रहते हैं; यथा—"जेहि सुख लागि पुरारि, असुभ वेष कृत सिव सुखद। अवध पुरी नर नारि, तेहि सुख महँ संतत मगन॥ सोई सुख लवलेस, जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस, ब्रह्मसुखहि सज्जन सुमति॥" (मा० उ० ८८); यह वर्णन यहाँ के-से सुख के प्रसंग का ही है।

[९]

पगनि कब चलिहौ चारौ भैया ?
प्रेम पुलकि, उर लाइ सुवन सब, कहति सुमित्रा मैया ॥१॥
सुंदर तन सिसु-बसन-बिभूषन नख-सिख निरखि निकैया।
दलि तृन, प्रान निछावरि करि-करि लैहैं मातु बलैया ॥२॥

किलकनि,नटनि,चलनि, चितवनि, भजि मिलनि मनोहरतैया।
मनि खंभनि प्रतिबिंब-झलक, छबि छलकिहै भरि अँगनैया॥
बाल-बिनोद, मोद मंजुल बिधु, लीला ललित जोन्हैया।
भूपति पुन्य-पयोधि उमँग, घर-घर आनंद बधैया॥
ह्वै हैं सकल सुकृत - सुख - भाजन, लोचन-लाहु लुटैया।
अनायास पाइहैं जनम फल तोतरे बचन सुनैया॥
भरत, राम, रिपुदवन, लखन के चरित-सरित अन्हवैया।
तुलसी तब के-से अजहुँ जानिबे रघुबर-नगर-बसैया॥

अर्थ -- श्रीसुमित्रा माता प्रेम से पुलकित हो सब बालकों को हृदय लगा-लगाकर कहती हैं कि "तुम चारो भैया कब अपने पैरों से चलोगे ?"॥ तुम्हारे सुन्दर शरीरों पर बालोचित वस्त्राभूषण और नख-शिख की सुन्दरता कर माताएँ (नजर बचाने के लिये) तिनका तोड़कर और प्राण निछावर कर के बलैया लेंगी ॥२॥ तुम्हारे किलकने, नाचने, चलने, चितवने तथा कर मिलने की मनोहरता से और मणियों के खंभों में तुम्हारे प्रतिबिम्बों झलक पड़ने से आँगन भर में छवि छलकने लगेगी ॥३॥ तुम्हारी बालक्रीड़ा आनन्द रूपी सुन्दर चन्द्रमा की ललित-लीला रूपिणी चन्द्रिका से पुण्य-स महाराज दशरथ उमँड़ेगे और घर-घर में आनन्द बधाई होने लगेगी ॥४॥ लोग नेत्रों के लाभ लूटनेवाले पुण्य और सुख के पात्र होंगे तथा तुम्हारे तो वचनों के सुननेवाले अनायास ही जन्म के फल पा जायँगे ॥५॥ श्रीतुलसीदास कहते हैं कि श्रीरामजी, श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी के च रूपी नदी में स्नान करनेवालों को अब भी उस समय के श्रीरघुनाथजी नगर-निवासियों के समान ही जानना चाहिये ॥६॥

विशेष—'पगनि कब...'—ऊपर श्रीकौशल्याजी के मनोराज कहे गये इस पद में श्रीसुमित्राजी की अभिलाषाएँ कही जाती हैं। अपने पैरों से चलने लगोगे, इस मनोरथ पर माता प्रेम से पुलकित हो गई, इसमें उ 'मन' की दशा कही गई है। 'उर लाइ' इसमें 'कर्म' की और 'कहति' इ उनकी 'वचन' की दशा है। जो कहती हैं, वह आगे लिखते हैं—

'दलि तृन...'—अपनी नजर न लग जाय, इस लिये तृण तोड़ने

टोटका करना कहती हैं; यथा—"चतुर नारि चितवहिं तृन तोरी।" (पद १०४)। प्राणों के निछावर करने में प्राणों की नियाम्यभूता सभी इन्द्रियों का निछावर करना है। बलैया लेने का भाव यह कि इन शिशुओं पर आनेवाली बलाएँ (बाधाएँ) मैं अपने ऊपर लेती हूँ, इनके बाल बाँके न हों।

'किलकनि···भरि अँगनैया'—यह सब क्रीड़ाएँ आँगन में ही होने की हैं।

'मनि खंभनि प्रतिबिंब-झलक छबि···'; यथा—"लसत कर-प्रतिबिंब मनि-आँगन घुटुरुवनि चरनि। जनु जलज-संपुट सुछबि भरि-भरि धरति उर धरनि॥" (पद २७); "झुकनि, झाँकनि, छाँह सों किलकनि, नटनि, हठि लरनि। तोतरी बोलनि, बिलोकनि मोहनी मनहरनि॥" (पद २८)। "गहि मनि-खंभ डिंभ डगि डोलत। कलबल बचन तोतरे बोलत॥ किलकत, झुकि झाँकत प्रतिबिंबनि। देत परम सुख पितु अरु अंबनि॥" (पद ३१)। आँगन भर में बालक ही बालक देख पड़ेंगे।

'बाल बिनोद मोद···'—यहाँ चारों बालकों को बालक्रीड़ा में जो आनंद होता है, वही सुन्दर चन्द्रमा है। चन्द्रमा से चाँदनी फैलती है, वैसे ही बालक बालक्रीड़ा के आनन्द से उल्लसित होकर बाललीला करते हैं। चन्द्रमा की चन्द्रिकाओं से समुद्र उमड़ता है, कोलाहल करता हुआ किनारे से दूर तक फैल जाता है, इसे ज्वार कहते हैं। वैसे ही यहाँ पुण्य-समुद्र राजा दशरथ समुद्र हैं। चन्द्रमा का समुद्र पिता है, वैसे ही बालक्रीड़ा के आनन्दवाले पुत्रों के राजा दशरथ भी पिता हैं, वह समुद्र जल से भरा है, ये पुण्य से भरे हैं। समुद्र कोलाहल करता हुआ बढ़ता है। वैसे ही राजा दशरथ बाललीलाओं से आनंदित हो बधाई बजवाते हैं और फिर पुरजनों के घर-घर बधावे बजते हैं। यही कोलाहल के साथ ज्वार बढ़ने के समान है। तथा—"राकाससि रघुपति पुर सिंधु देखि हरषान। बढ़्यो कोलाहल करत जनु, नारि तरंग समान॥" (मा० उ० ३)। ज्वार के कोलाहल में शब्द होता है, वैसे ही बधाइयों में शब्द हैं।

अलङ्कार—गम्योत्प्रेक्षा।

'ह्वै हैं सकल सुकृत-सुख-भाजन···'—जो इन लीलाओं को देखकर नेत्रों

का परम लाभ मान आनंदित होते हैं, उनके पूर्व के सुकृत का उदय है। आ
वे सुकृत और सुख के पात्र हैं। जैसे ऊपर राजा दशरथ सुकृत के सागर
गये, वैसे ये और दर्शक भी हैं।

'अनायास पाइहैं जनम फल…'—इन तोतले वचनों का महत्त्व; यथ
"बाल बोल बिनु अरथ के सुनि देत पदारथ चारि। जनु इन्ह बचननि ते
सुरतरु तापस त्रिपुरारि ॥ नाम कामधुक रामलला।" (पद २२)। इन व
से मोहित हो हृदय आपके चरणों में रंग जाता है, इसी में अनायास ही ज
फल मिल जाता है; यथा—"राम चरन बारिज जब दखौं। तब निज ज
सुफल करि लेखौं ॥" (मा० उ० १०९); "धन्य बिहँग मृग कानन चा
सफल जनम भए तुम्हहिं निहारी ॥" (मा० अ० १३६); "आजु सु
जग जनम हमारा। देखि तात बिधु बदन तुम्हारा ॥" (मा० बा० ३५
इत्यादि। 'अनायास'—योग, जप एवं वेद-वेदान्त के मनन-निदिध्
आदि बिना।

'भरत राम रिपुदवन लखन के…'; यथा—"अजहुँ जासु उर स
काऊ। बसहु लखन सिय राम बटाऊ। रामधाम पथ पाइहि सोई। जो
पाव कबहुँ मुनि कोई ॥" (मा० अ० १२३)। 'अन्हवैया'; यथा—"
सुनत हरषहिं पुलकाहीं। तेइ सुकृती मन मुदित नहाहीं ॥" (मा० अ० ४

'तब के-से…'—चरित दर्शकों को उस समय जो सुख प्राप्त होता
चरित श्रवण-मनन से इस समय भी वही सुख प्राप्त होता है; यथा—"सु
श्रीरघुबरन की लीला लरिकाई। तुलसिदास अनुराग अवध आनंद अनु
तब को-सो अजहुँ अघाई ॥" (पद २७); तथा—"तुलसी तिन्ह सम
जिन्ह के प्रभु ते प्रभु चरित पियारे ॥" (पद ४४); "कामधेनु महि,
कामतरु, कोउ बिधि बाम न लाए। ते तब, अब तुलसी तेउ जिन्ह हित स
राम-गुन गाए ॥" (लं० २२)।

राग केदारा

[१०]

चुपरि उबटि अन्हवाइ कै नयन आँजे,
रचि रुचि तिलक गोरोचन को कियो है।

भूपर अनूप मसि बिंदु, बारे-बारे बार
बिलसत सीस पर, हेरि हरै हियो है ॥१॥
मोद-भरी गोद लिये लालति सुमित्रा देखि,
देव कहैं, सब को सुकृत उपवियो है।
मातु, पितु, प्रिय परिजन, पुरजन धन्य,
पुन्यपुंज पेखि-पेखि प्रेमरस पियो है ॥२॥
लोहित ललित लघु चरन-कमल चारु
चाल चाहि सो छबि सुकबि जिय जियो है।
बाल केलि बातबस झलकि झलमलत
सोभा की दीयटि मानो रूप दीप दियो है ॥३॥
राम-सिसु सानुज चरित चारु गाइ-सुनि,
सुजननि सादर जनम-लाहु लियो है।
तुलसी बिहाइ दसरथ दसचारि पुर
ऐसे सुख जोग बिधि बिरच्यो न बियो है ॥४॥

शब्दार्थ—गोरोचन=पीले रंग का एक प्रकार का सुगंधित द्रव्य, जो गौ के पित्त से निकलता है। उपवियो है (उपवना सं० उत्प्रयाण)=उदय हुआ है। दियो है (दी=दीप्त)=चमकता हुआ। बियो=दूसरा।

अर्थ—(माताओं ने बालकों को) फुलेल चुपड़कर उबटन लगा स्नान कराया और नेत्र आँज कर अनुरागपूर्वक रच कर गोरोचन का तिलक किया है। भौहों के ऊपर (ललाट में) अनुपम श्याम विन्दु (डिठौना) लगा दिया, उनके शीशों पर छोटे छोटे कोमल एवं चिकने बाल (केश) सुशोभित हैं; देखने पर वे हृदय को हरण (मोहित) कर लेते हैं ॥१॥ श्रीसुमित्राजी आनन्द में भरी हुई बालकों को गोद में लिये हुई दुलार कर रही हैं; यह देखकर देवगण कहते हैं—'इस समय सभी के पुण्यों का उदय हुआ है'। (इन बालकों के) माता, पिता, प्यारे परिजन और पुरवासी लोग धन्य हैं और पुण्य के पुञ्ज हैं, जो इन्हें (श्रीराम आदि को) देख-देख कर प्रेमरस पान कर रहे हैं ॥ २ ॥ इनके सुन्दर लाल-लाल छोटे-छोटे चरण कमल और उनकी सुन्दर चलावने की छवि देख कर सुकवि का हृदय (उल्लसित हो) उठा है (इसी पर आगे

उत्प्रेक्षा करते हैं—) मानो शोभा रूपी दीयट पर रूप रूपी दीपक चमकता है और वह बालक्रीड़ा रूपी वायु के झकोरों से झलक कर झिलमिला रहा है ॥ ३ ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि छोटे भाइयों के साथ बालक श्रीरामजी के सुन्दर चरितों को आदरपूर्वक गाकर और सुनकर सज्जनों ने जन्म का लाभ लिया है। चौदहो भुवनों में राजा दशरथ को छोड़कर ब्रह्माजी ने ऐसे सुख के योग्य दूसरे को नहीं बनाया है ॥ ४ ॥

विशेष—'रचि रुचि···' यहाँ आधुनिक प्रतियों में 'चिर रुचि' भी पाठ है। चिर का अर्थ बहुत काल तक और रुचि का अर्थ किरण एवं प्रकाश भी होता है अर्थात् बहुत काल तक प्रकाशित रहने वाला। 'रचि रुचि'-फबता हुआ रचकर अर्थात् चारो भाइयों के ललाटों पर फबता हुआ तिलक रच कर किया गया यह भी भाव है।

'भ्रू पर अनूप मसिबिंदु'; यथा—"लोयन नील सरोज से, भ्रूपर मसि बिंदु बिराज। जनु बिधु-मुख, छबि-अमिअ को रच्छक राखे रसराज। सोभा सागर राम लला।" (पद २२)। 'बारे-बारे बार···'; यथा—"गभुआरी अलकावली लसै। लटकन ललित ललाट जनु उडुगन बिधु मिलन को चले तम बिदारि करि बाट ॥ सहज सोहावनो राम लला।" (पद २२); "चिक्कन कच कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि मातु सँवारे ॥" (मा० बा० १९८)।

'मातु, पितु, प्रिय परिजन···'; यथा—"मुदित पुरलोगनि सराहत निरखि सुखमा कंद। जिन्हके सुअलि-चख पियत राम-मुखारविंद मरंद ॥" (उ० २३)।

'लोहित ललित लघु चरन कमल···'; यथा—"लघु लघु लोहित ललित हैं, पद, पानि, अधर एक रंग। को कवि जो छबि कहि सकै नख-सिख सुंदर सब अंग ॥" (पद २२); "छोटी-छोटी गोड़ियाँ, अँगुरियाँ छबीली छोटी, नख-जोति, मोती मानो कमल दलनि पर।" (पद ३३)।

'चारु चाल'—इसी की छवि पर कवि मुग्ध हो उत्प्रेक्षा करते हैं। अभी लगभग चार महीने की अवस्था है, इससे यहाँ छोटे-छोटे चरणकमलों का चलाना ही अर्थ हो सकता है, बार-बार चलाते हैं। जानु-पाणि चलना आगे कहा जायगा।

'बालकेलि बात बस...'—श्री सुमित्राजी अपने कर-कमलों पर लेकर दुलरा रही हैं, वही शोभा दीयट हुई। श्रीरामजी का रूप दीपक है, रूप की आभा चमकती है, जैसे दीपक चमकता है। बालकेलि वश जो चरण-कमल चला रहे हैं, इसमें बालकेलि वायु हुआ और चरण चलाना वायु के वश दीपक का झिलमिलाना है।

अलङ्कार—उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा।

'राम सिसु सानुज चरित...'; यथा—"रघुबर बालकेलि संतन की सुभग सुभद सुरगैया। तुलसी दुहि पीवत सुख जीवत पय सप्रेम घनी धैया॥" (पद १७); तथा—"बाल चरित अति सरल सुहाए। सारद सेष संभु श्रुति गाए॥ जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिं राता। ते जन बंचित किए बिधाता॥" (मा० बा० २०३) इस प्रकार के महत्त्वशाली चरित के गान-श्रवण में सज्जन जन्म लाभ मानते हैं।

'बिहाइ दसरथ दसचारि पुर...'—यद्यपि अन्य अवतारों में कृष्णावतार के पिता समता में कहे जा सकते हैं। परन्तु वहाँ भी कई अंशों में कमी है। अतः, कोई उपमा योग्य नहीं है। अन्यत्र भी कहा है; यथा—"भयउ न अहइ न अब होनिहारा। भूप भरत जस पिता तुम्हारा॥" (मा० अ० १७२)।

[११]

राम-सिसु गोद महामोद भरे दसरथ,
कौसिलाहुँ ललकि लखन लाल लए हैं।
भरत सुमित्रा लये, कैकई सत्रुसमन,
तन प्रेम-पुलक, मगनमन भए हैं॥१॥
मेढ़ी लटकन मनि-कनक-रचित, बाल-
भूषन बनाइ आछे अंग-अंग ठए हैं।
चाहि चुचुकारि चूँमि लालत लावत उर,
तैसे फल पावत जैसे सु बीज बए हैं॥२॥
घन ओट बिबुध बिलोकि बरषत फूल
अनुकूल बचन कहत नेह नए हैं।

ऐसे पितु, मातु, पूत, प्रिय परिजन विधि,
जानियत आयु भरि एई निरमए हैं ॥३॥
'अजर-अमर होहु' 'करौ हरिहर छोहु'
जरठ जठेरिन्ह आसिरबाद दए हैं।
तुलसी सराहै भाग तिन्हके जिन्हके हिये,
डिंभ-राम-रूप-अनुराग-रंग रए हैं ॥४॥

शब्दार्थ—मेढ़ी (सं० वेणी) = तीन लड़ियों में गूँथी हुई चोटी; आगे के केशों को दोनों ओर गूँथ कर बीच की चोटी के साथ बाँध देते हैं, उसे मेढ़ी कहते हैं। लटकन = कलँगी या शिरपेंच में लगे हुए रत्नों का गुच्छा। ठए (ठने) = सजाये। डिंभ=बालक। रए (रँगे)=रँगे हुए। चाहि=देख कर।

अर्थ—बालक श्रीरामजी को गोद में लिये हुए राजा दशरथ बड़े आनन्द में भरे हुए हैं। श्रीकौशल्याजी ने भी ललककर श्रीलखनलालजी को ले लिया है। श्री सुमित्राजी ने श्रीभरतलालजी को और कैकेयीजीने श्रीशत्रुघ्नलालजी को ले लिया है। इन सब के शरीर प्रेम में पुलकित और मन प्रेमानन्द में निमग्न हो गये हैं ॥ १ ॥ मेढ़ी में लटकने और मणि तथा सोने के बनाये हुए बालोपयोगी भूषण अंग-अंग में अच्छे बनाकर सजाये हुए हैं। बालकों को देखकर चुचुकारते हैं, चूमते हैं, दुलारते हैं और हृदय से लगा लेते हैं। इन लोगों ने जैसे-जैसे (सुकर्म रूप) बीज बोये हैं, वैसे-वैसे फल पा रहे हैं ॥ २ ॥ देवगण मेघों की ओट से देखकर फूलों की वर्षा करते हैं और नवीन स्नेह से युक्त होकर अनुकूल वचन कहते हैं—'ऐसे पिता, माता, पुत्र और प्यारे परिजन विधाता ने अपने जीवन भर में इन्हीं को बनाये हैं, ऐसा जान पड़ता है' ॥३॥ 'अजर-अमर होओ' 'भगवान् विष्णु और शिवजी सदा कृपादृष्टि रक्खें'—ऐसे आशीर्वाद बूढ़े और बूढ़ियों ने दिये हैं। श्रीतुलसीदासजी उनके भाग्य की सराहना करते हैं, जिनके हृदय बालक रूप श्रीरामजी के अनुराग रूपी रंग में रँगे हुए हैं ॥ ४ ॥

विशेष—'राम सिसु गोद महा मोद भरे दसरथ…'—ज्येष्ठ पुत्र पिता को और छोटा माता को स्वभावतः अधिक प्रिय होता है; यथा—"प्रायेण हि नरश्रेष्ठ ज्येष्ठाः पितृषु वल्लभाः। मातृणां च कनीयांसः…"(वाल्मी० १।६१।१९); श्रीरामजी ज्येष्ठ पुत्र हैं और भाइयों में गुण वैभव में भी श्रेष्ठ हैं; यथा—

"चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा॥" (मा० बा० १९७); इससे इनको गोद में लेने में राजा दशरथ को महान् आनन्द है।

'मेढ़ी लटकन'—कलावत्तू से बाँध कर उसमें रत्नों के गुच्छे लटकते हुए शोभा देते हैं।

'मनि कनक रचित बालभूषन···'—अङ्गद, पहुँची, कठुला, बजरबट्टा, बघनहा और करधनी आदि बाल-अवस्था के भूषण हैं।

'घन ओट बिबुध···'—देव गण प्रत्यक्ष नहीं होते, क्योंकि उससे ऐश्वर्य प्रगट हो जायगा तो ब्रह्माजी का वचन झूठा होगा जो रावण-मरण मनुष्य के हाथ लिखा है।

'नेह नये हैं'—इन माता-पिता के माधुर्य-सुख को देख कर माधुर्य रूप में ही अत्यन्त प्रेम है, इससे इनका यह प्रेम नवीन है, पहले ऐश्वर्यपरक प्रेम था। नवीन स्नेह के अनुकूल इन्हीं माता-पिता के स्नेह की प्रशंसा भी करते हैं कि ब्रह्माजी के इस जन्म की सृष्टि में ये अनुपम हैं।

'अजर अमर होहु···'—अजर-अमर होना मात्र कहे जाने में यह दोष रहता कि कभी-कभी जगत् का जीवन दुःखमय होने से भार रूप भी हो जाता है, इससे हरि-हर की कृपा दृष्टि भी कही, जिससे सुखमय जीवन रहे। यह बूढ़ों की हार्दिक प्रीति है।

'सराहैं भाग तिन्ह के···'—उपर्युक्त पद १० के 'राम सिसु सानुज चरित···' इसका विशेष देखिये। तथा—"तुलसी सराहैं सिद्ध सुकृत कौसल्या जूके, भूरि भाग-भाजन सुआल॥" (पद ४०); इनकी सराहना इससे है कि इन्होंने पूर्व जन्म से ही बालरूप में अनुराग माँगा था, अब भी उसी अनुराग में रँगे हुए हैं।

राग आसावरी

[१२]

आजु अनरसे हैं भोर के, पय पियत न नीके।
रहत न बैठे, ठाढ़े, पालने झूलतहू, रोवत राम मेरो-सो सोच सबहीके॥१॥

देव, पितर, ग्रह पूजिये तुला तौलिये घी के।
तदपि कबहुँ कबहुँक सखी ऐसेही अरत जब परत दृष्टि दुष्ट ती के ॥२॥
बेगि बोलि कुलगुरु छुऔं माथे हाथ अमी के।
सुनत आइ रिषि कुस हरे नरसिंह मंत्र पढ़ि, जो सुमिरत भय भी के ॥३॥
जासु नाम सर्वस सदासिव-पार्वती के।
ताहि झरावति कौसिला, यह रीति प्रीति की हिय हुलसति तुलसी के ॥४॥

शब्दार्थ—अनरसे=अनमने। अरत-मचलते हैं। भी=डर।

अर्थ—(श्रीकौशल्याजी के वचन हैं-) आज प्रातःकाल से ही श्रीरामजी अनमने हो रहे हैं, भली-भाँति दूध नहीं पी रहे हैं। (गोद में लेकर) बैठने एवं खड़ा होने तथा पालने झूलते हुए भी (सुख से) नहीं रहते रोते हैं, इससे मेरा-सा शोच सबको ही हो रहा है ॥ १ ॥ मैं (श्रीरामजी के कल्याण के लिये) देवता, पितर और ग्रहों की पूजा करती-कराती रहती हूँ और घी का तुलादान भी तौलाया करती हूँ; तथापि, हे सखी ! कभी-कभी जब किसी दुष्ट स्त्री की दृष्टि पड़ जाती है, तब ऐसे ही मचलते हैं ॥२॥ शीघ्र कुलगुरु श्रीवसिष्ठजी को बुला लाओ, वे आकर अपने अमृतमय हाथों से इन्हें छू दें। सुनते ही ऋषि वसिष्ठजी आ गये, उन्होंने कुश हाथ में लेकर श्रीनृसिंह मंत्र पढ़ कर बाधा हरण किया, जिस मंत्र का स्मरण करने पर भय को भी भय होता है ॥३॥ जिसका नाम श्रीसदाशिवजी और श्रीपार्वतीजी का सर्वस्व है, उन श्रीरामजी को श्रीकौशल्याजी झाड़ रही हैं, यह प्रीति की रीति है। तुलसीदास के हृदय में उल्लसित होती है ॥४॥

विशेष—'आजु अनरसे भोर के…'—इस अत्यन्त माधुर्य की लीला से गुरुजी को बड़ाई देंगे। 'मेरो-सो सोच….'; यथा—"कोसल पुरवासी नर नारि बृद्ध अरु बाल। प्रानहु ते प्रिय लागत, सब कहँ राम कृपाल ॥" (मा० बा० २०४); "सेवक सचिव सकल पुरबासी। जे हमरे अरि मित्र उदासी ॥ सबहि राम प्रिय जेहि बिधि मोहीं। प्रभु असीस जनु तनु धरि सोहीं ॥" (मा० अ० २)।

'देव पितर ग्रह पूजिये'—श्रीराम-कल्याण के लिये इन देव आदि की पूजा करती हैं; यथा—"देव पितर पूजे बिधि नीकी। पूजी सकल बासना जी-

की ॥ सबहि बंदि माँगहिं बरदाना । भाइन्ह सहित राम कल्याना ॥" (मा० बा ३५०) ।

'तुला तौलिये घी के'—तेराजू में एक ओर श्रीरामजी को और दूसरी ओर घृत रखकर तौल कर दान किया जाता है जिससे श्रीरामजी को सुख हो और रोग न हो ।

'परत दृष्टि दुष्ट ती के'—दुष्ट स्त्री की दूषित दृष्टि से नजर लगती है । तथा—"रोवनि धोवनि अनखानि अनरसनि डिठि-मुठि निठुर नसाइहौं ॥" (पद २१) ।

'नरसिंह मंत्र पढ़ि'—तन्त्र शास्त्र में लिखा है; यथा – ॐ नमो नृसिंहाय हिरण्यकशिपुवक्षःस्थलविदारणाय त्रिभुवनव्यापकाय भूतप्रेतपिशाचशाकिनी डाकिनीकीलनोन्मूलनाय स्तम्भोद्भवसमस्तदोषान् हन हन शर शर चल चल कम्प-कम्प मथ मथ हुंफट् हुंफच् ठंठः महारुद्रजापित स्वाहा ॥" (टीका बैजनाथ से उद्धृत) ।

'जासु नाम सर्वस सदासिव पार्वती के'—श्रीशिवजी और श्रीपार्वती जी भयंकर भूत-प्रेत एवं डाकिनी-शाकिनी के नायक हैं, उन्होंने भी श्रीराम नाम जप कर यह अधिकार पाये हैं, इससे नाम-जप को अपना सर्वस्व मानते हैं; यथा—"नामप्रसाद संभु अविनासी । साज अमंगल मंगलरासी ॥" (मा० बा० २५); तथा—"सिव सर्वस सुख धाम नाम तव बेंचि नरक प्रद उदर भरौं ।" (वि० १४१); "गोप्यं गोप्यतमं भद्रे सर्वस्वं जीवनं मम । राम नाम परंब्रह्म कारणानां च कारणम् ॥" (कूर्मपुराण-शिववाक्य) ।

'ताहि झरावति...यह रीति प्रीति...'; यथा—"जद्यपि अवध सदैव सुहावनि । रामपुरी मंगलमय पावनि ॥ तदपि प्रीति कै रीति सुहाई । मंगल रचना रची बनाई ॥" (मा० बा० २९५) ।

[१२]

साथे हाथ रिषि जब दियो राम किलकन लागे ।
महिमा समुझि,लीला बिलोकि गुरु सजल नयन,तनु पुलक, रोम-रोम जागे॥१
लिये गोद धाये गोद ते मोद मुनि मन अनुरागे ।
निरखि मातु हरषी हिये आली ओट कहति मृदु बचन प्रेम के-से पागे ॥२॥

तुम्ह सुरतरु रघुबंस के, देत अभिमत माँगे ।
मेरे बिसेषि गति रावरी तुलसी प्रसाद जाके सकल अमंगल भागे ॥३॥

अर्थ—ऋषि श्रीवसिष्ठजी ने जब श्रीरामजी के शिर पर हाथ रक्खा, तब श्रीरामजी (आनंदित हो) किलकने लगे। भगवान् श्रीरामजी की महिमा समझ कर और यह अत्यन्त माधुर्य की लीला देखकर गुरु वसिष्ठजी के नेत्र प्रेमाश्रुपूर्ण हो गये और शरीर पुलक पूर्ण हो गया। रोमाञ्च हो आया ॥१॥ श्रीरामजी माता की गोद से (गुरुजी की ओर) दौड़े, तब गुरुजी ने गोद में ले लिया, मुनि के अनुरागयुक्त मन में आनन्द हुआ। यह देखकर माता कौशल्या हृदय में हर्षित हुईं, वे सखी की ओट से प्रेम के पगे हुए से कोमल वचन (गुरुजी से) कहने लगीं ॥२॥ आप इस रघुवंश के कल्पवृक्ष हैं, माँगने पर अभीष्ट सभी पदार्थ दे देते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं (श्रीकौशल्याजी कहती हैं—) मेरे (हृदय में) तो विशेष कर आपका ही भरोसा है, जिन आपकी कृपा से मेरे सर्व अमङ्गल दूर हो गये ॥ ३ ॥

विशेष—'माथे हाथ रिषि जब दियो···'—ऊपर पद में गुरुजी को इसी लिये बुलाया गया था कि वे अमृतमय हाथ से छुएँ, आशीर्वाद दें तो बाधा दूर हो जायगी, यहाँ वैसा ही हुआ।

'माथे हाथ दिवायो' यह आगे पद १७ में आशीर्वाद देने के भाव से कहा गया है।

'महिमा समुझि'—श्रीगुरुजी महिमा जानते हैं, यथा—"सुनहुँ राम तुम्ह कहँ मुनि कहहीं। राम चराचर नायक अहहीं॥" (मा०अ० ७६) "गुरु बसिष्ठ समुझाइ कह्यो तब हिय हरषाने जाने सेष सयन॥" (पद ४९)। ऐश्वर्य पक्ष में विराट् रूप का ऐश्वर्य आपकी महिमा है; यथा—"अजानता महिमानं तवेदं···" (गीता ११।४१); यह विराट्-वर्णन में ही कहा गया है। तथा—"आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम अस गावा॥ से "असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु नहिं बरनी॥" (मा० बा० ११७) तक।

'लीला बिलोकि···'—कहाँ वह महिमा और कहाँ यह टोना झड़वाने की लीला? मुनि ने अपने पर अत्यन्त कृपादृष्टि माना कि मुझे बड़ाई देने के लिये

ही आपने यह लीला की है। इससे गुरु में पूर्ण अनुराग की दशाएँ आ गईं। प्रेम से प्रभु प्राप्त होते ही हैं, मुनि का अत्यन्त अनुराग देख श्रीरामजी उनके गोद में भी प्राप्त हो गये। श्रीरामजी का शरीर आनन्दमय है। अतः, स्पर्श होने पर मुनि के मन में आनन्द भर गया; यथा—"सब सिसु एहि मिस प्रेम बस, परसि मनोहर गात। तनु पुलकहिं अति हरष हिय, देखि-देखि दोउ भ्रात ॥" (मा० बा० २२४)।

'निरखि मातु हरषीं···'—अपने बालक पर मुनि की बड़ी कृपा एवं प्रेम-दृष्टि देख कर माता को बड़ा सुख हुआ।

'तुम्ह सुरतरु···मेरे बिसेषि गति···'—इस प्रसंग में पहले मुनि का अभिमत देना और असंगल हरण करना कहा है, यह तो अपने वंश के प्रति है। अपने प्रति कहती हैं कि मेरे तो विशेष कर आपका ही भरोसा है; अर्थात् हम सब तो आप पर ही निर्भर हैं; यथा—"भानुबंस भये भूप घनेरे। अधिक एक ते एक बड़ेरे ॥ जनम हेतु सब कहँ पितु माता। करम सुभासुभ देइ बिधाता ॥ दलि दुख सजइ सकल कल्याना। असि असीस राउरि जग जाना ॥ सोइ गोसाइँ बिधि गति जेहि छेंकी।" (मा०अ०२५४) यह श्रीभरतजी ने कहा है।

[१४]

अमिअ-बिलोकनि करि कृपा मुनिवर जब जोए।
तब ते राम अरु भरत,लखन,रिपुदवन,सुमुख,सखि! सकलसुवन सुख सोए
लाय सुमित्रा लिए हिए फनि मनि ज्यों गोए।
तुलसी नेवछावरि करति मातु अति प्रेम मगन मन सजल सुलोचन कोए

अर्थ—हे सखि! जब से मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी ने कृपा करके अमृतमय दृष्टिसे देखा है, तब से श्रीरामजी, श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी, सभी लड़के प्रसन्न वदन हो सुख से सोये हैं ॥१॥ जैसे साँप अपनी मणि को हृदय में छिपा लेता है, वैसे ही श्रीसुमित्राजी ने बालकों को हृदय में लगा लिया है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि माता श्रीकौशल्याजी अत्यन्त प्रेम में मन से निमग्न होकर और सुन्दर नेत्रों के गोलकों में आनन्दाश्रु भर कर निछावर कर रही हैं ॥२॥

विशेष—'अमित्र बिलोकनि करि कृपा ···'—दुष्ट स्त्री की कुदृष्टि से वाधा आई थी, मुनिश्रेष्ठ की कृपा भरी अमृतमय दृष्टि से ही उसका शमन हुआ।

'सकल सुवन'—श्रीरामजी के साथ ही चारों भाइयों ने नजर लगने की लीला की थी।

'लाय सुमित्रा लिए हिए···'—बाधा से निर्मुक्त पुत्रों को पुनः प्राप्त-सा मानकर हृदय में लगा लिया है; यथा—"गै मनि मनहुँ फनिक फिरि पाई।" (मा० अ० ४३)। और इसी भाव पर आगे माता कौशल्या का अत्यन्त प्रेम-मग्न होकर निछावर करना भी कहा गया है।

[१५]

मातु सकल, कुलगुरु बधू, प्रिय सखी सुहाई।
सादर सब मंगल किये महिमनि महेस पर सबनि सुधेनु दुहाई ॥१॥
बोलि भूप भूसुर लिये अति बिनय बड़ाई।
पूजिपायँ,सनमानि,दान दिये,लहि असीस,सुनि बरषै सुमन सुर साँई ॥२॥
घर-घर पुर बाजन लगीं आनन्द बधाई।
सुख सनेह तेहि समय को तुलसी जानै जाको चोरयो है चित चहुँ भाई ॥३॥

अर्थ—श्रीकौशल्या आदि सब माताओं, कुलगुरु श्रीवसिष्ठजी की पत्नी और सुन्दर प्यारी सखियों ने आदरपूर्वक समस्त मङ्गलविधान किये। तथा पृथिवी में श्रेष्ठ एवं मणि-विग्रह महादेव (क्षीरेश्वर) पर सभी ने सुलक्षण गौओं का दोहन कराया ॥१॥ राजा दशरथ ने ब्राह्मणों को बुला लिया, उनकी बड़ाई करते हुए अत्यन्त विनती की और उनके चरण पूज कर सम्मानपूर्वक उन्हें दान दिये तथा उनसे आशीर्वाद प्राप्त किया, यह सुनकर इन्द्रादि देवता फूल बरसते हैं ॥२॥ श्रीअवधपुर में घर-घर आनन्द बधाइयाँ बजने लगीं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उस समय के सुख और स्नेह को वही जान सकता है, जिसका चित्त चारो भाइयों ने चुरा लिया हो ॥३॥

विशेष—'मातु सकल···सादर सब···'—बालकों पर दृष्टि दोष की वाधा आई थी, वह निवृत हुई, इस प्रसन्नता पर भाँति-भाँति के मंगल-विधान किये गये, विशेष कर वात्सल्य निष्ठ माता आदि एवं उनकी सखियों ने ये सब

विधान किये। क्षीरेश्वर महादेव पर दूध दुहाने की विधि भी है। यह तो महल के भीतर की बातें हैं।

'बोलि भूप ...'—बाहर राजा ने पृथिवी के मङ्गलकारक देव रूप ब्राह्मणों की पूजा की और उनसे आशीर्वाद प्राप्त किया। यह सुनकर राजा दशरथजी के सखा इन्द्र ने फूल वर्षा कर मंगल-विधान कर अपना वात्सल्य दिखाया। जैसे माताओं के सब मंगल करने में उनकी सखियाँ थीं, वैसे राजा के साथ उनके सखा इन्द्र हैं।

'घर-घर पुर ...'—यह पुरवासियों का बर्ताव है, राजा-रानी के समान इनका भी श्रीराम आदि पर स्नेह है, इससे इन्हें भी इस समय वैसा ही सुख है।

'सुख सनेह तेहि समय को ...'—भाव यह कि अब भी जिसका चित्त चारो भाइयों में लग जाय, उसे उनके मंगल पर वैसा ही सुख और स्नेह का अनुभव होगा।

राग धनाश्री

[१६]

या सिसु के गुन-नाम-बड़ाई।
को कहि सकै, सुनहु नरपति, श्रीपति समान प्रभुताई ॥१॥
जद्यपि बुधि, बय, रूप, सील, गुन समय चारु चारयो भाई।
तदपि लोक - लोचन - चकोर - ससि राम भगत-सुखदाई ॥२॥
सुर, नर, मुनि करि अभय दनुज हति हरिहि धरनि गरुआई।
कीरति बिमल बिस्व अघमोचनि रहिहि सकल जग छाई ॥३॥
याके चरन-सरोज कपट तजि जो भजिहै मन लाई।
सो कुल जुगल सहित तरिहै भव, यह न कछू अधिकाई ॥४॥
सुनि गुरु बचन पुलकि तन दंपति, हरष न हृदय समाई।
तुलसिदास अवलोकि मातुमुख प्रभु मन में मुसुकाई ॥५॥

अर्थ—हे राजन्! सुनिये, इस (कौशल्यानन्दन श्यामवर्ण) बालक के गुण और नाम की बड़ाई कौन कह सकता है? इसका स्वामित्व तो साक्षात् लक्ष्मीपति विष्णु के समान है ॥१॥ यद्यपि बुद्धि अवस्था, रूप, शील और गुण में

चारो भाई समान ही सुन्दर हैं तथापि भक्त-सुख-दायक श्रीरामजी तो सब लोकों के नेत्र रूपी चकोरों के लिये चन्द्रमा के समान हैं ॥२॥ ये देवों, मनु और मुनियों को निर्भय कर और दैत्यों का संहार कर पृथिवी का भार हर करेंगे; इससे संसार के पापों का हरण करनेवाली निर्मल कीर्ति सारे जगत् छा जायगी ॥३॥ जो इसके चरण कमल का कपट छोड़कर और मन लगा भजन करेगा, वह अपने दोनों कुलों (मातृपक्षीय और पितृपक्षीय कुलों) साथ संसार से तर जायगा, यह इसके विषय में बड़ी बात नहीं है (; अ यह तो इसका सामान्य माहात्म्य है) ॥४॥ गुरु श्रीवसिष्ठजी के वचन सु दम्पत्ति (राजा-रानी) के शरीर में पुलकावली हो आई और उनके हृद आनन्द नहीं समाता । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उस समय माता के की ओर देखते हुए प्रभु मन में मुसुकाते हैं ॥५॥

विशेष—श्रीमद्भागवत १०।८।१५–१९ में श्रीकृष्ण के नामकरण म श्रीगर्गाचार्य ने भी ऐसा ही कहा है । वहाँ के कुछ वचन भी यहाँ से मिलते यथा—"बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते । गुणकर्मानुरूपाणि त वेद नो जनाः ॥१५॥ एष वः श्रेय आधास्यद ··· य एतस्मिन् महाभागाः कुर्वन्ति मानवाः । नारयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः ॥१८॥ तस्मा त्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैः। श्रिया कीर्त्यानुभावेन गोपायस्व समाहितः॥१

'या सिसु के गुन···' – 'गुन' यथा—"राम अमित गुन सागर, कि पावै कोइ ।" (मा० उ० ९२) । 'नाम'; यथा—"जद्यपि प्रभु के अनेका । श्रुति कह अधिक एक ते एका ॥ राम सकल नामन्ह ते अधिक (मा० अर० ४१) । तथा "महामंत्र जोइ जपत महेसू । कासी मुकुति उपदेसू ॥" "सहस नाम सम सुनि सिव बानी । जपति सदा पिय भवानी ।" (मा० बा० १८) । 'बड़ाई' पद को यदि पृथक् स्वतंत्र माना तो भी नाम-रूप के द्वारा ही बड़प्पन कहा जायगा; यथा—"दूसरो न साहिब सम रामै । बेदऊ पुरान कवि-कोबिद बिरद रत, जाको जस सुनत, गुनग्रामै ॥ माया जीव जगजाल सुभाव करम काल सब को सासकु, स सब जामै । बिधि से करनिहार, हरि से पालनिहार, हर से हरनिहार जपैं नामैं ॥ सोई नर बेष जानि···" (सुं० २५) ।

'श्रीपति समान प्रभुताई'—ऊपर उद्धृत 'नारायणसमो गुणैः। श्रिया कीर्त्यानुभावेन' ठीक इसके समान है। यहाँ माधुर्य की दृष्टि से कहा गया है, मनुष्य के लिये जगत्पालक विष्णु की उपमा युक्त ही है। ऐश्वर्य दृष्टि में तो श्रीरामजी के अंश से कोटि विष्णु होते हैं; यथा—"संभु बिरंचि बिस्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना।" (मा० बा० १४३); "बिस्नु कोटि सम पालनकर्त्ता।" (मा० उ० ९१)।

'जद्यपि बुधि···तदपि लोक···'; यथा—"चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा॥ हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥" (मा० बा० १९७); अर्थात् अनुग्रह से भक्तों को सुख देने से आप लोकप्रिय हैं। समय (समै) = बराबर ही।

'सुर नर मुनि करि अभय···'; यथा—"जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर नर मुनि सब के भय बीते॥" (मा० अर० २०)। "जय हरन धरनी भार।···जय रावनारि कृपाल।" (मा० लं० १११)। सुर नर मुनि को अभय करने के लिये दैत्यों का वध कर भूमि भार उतारने की कीर्ति ही निर्मल एवं विश्व अघ-हारिणी है; यथा—"जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ-गाइ भव-निधि नर तरिहहिं॥" (मा० लं० ६४); "सकुल सदल प्रभु रावन मारयो। पावन जस त्रिभुवन विस्तारयो॥" (मा० लं० ११४); यह रावनारि चरित्र पावन राम-पद रति-प्रद सदा। कामादि हर बिज्ञान कर सुर सिद्ध मुनि गावहिं मुदा॥" (मा० लं० ११६); "सुनु खगपति यह कथा पावनी। त्रिविध ताप भव भय दावनी॥' (मा० उ० १४); इत्यादि।

इन प्रसंगों में करुणा, दया और शौर्य आदि गुणों की कीर्ति है, वही पावन है।

'याके चरन सरोज कपट तजि···'; यथा—"कबहिं देखाइहौ हरि चरन।···सकृत उर आनत जिनहिं जन होत तारन तरन॥" (वि० २१८)। प्रह्लाद के प्रति भगवान् ने कहा है; यथा—"त्रिः सप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सहतेऽनघ।" (भाग० ७।१०।१८); अर्थात् हे अनघ! तुम्हारा पिता तो अपनी इक्कीस पीढ़ियों के साथ पवित्र हो गया (क्योंकि उसके पुत्र तुम ऐसे भक्त हुए)।

'सुनि गुरु बचन''''प्रभु मन में मुसुकाई'—अपनी संतान की लोकोत्तर कीर्ति सुनकर अत्यन्त हर्ष हुआ। प्रभु मन में मुसुकाते हैं कि इन्हीं कार्यों में वन यात्रा करनी होगी, तब दुःख मानेगी। अभी तो यह कीर्ति प्रिय लग रही है।

राग बिलाबल

[१७]

अवध आजु आगमी एक आयो।
करतल निरखि कहत सब गुनगन, बहुतनि परिचौ पायो ॥१॥
बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुहायो।
सँग सिसु-सिष्य, सुनत कौसल्या भीतर भवन बुलायो ॥२॥
पाय पखारि, पूजि, दियो आसन, असन बसन पहिरायो।
मेले चरन चारु चार्यो सुत, माथे हाथ दिवायो ॥३॥
नख-सिख बाल बिलोकि बिप्र तनु पुलक, नयन जल छायो।
लै-लै गोद कमल कर निरखत, उर प्रमोद अनमायो ॥४॥
जन्म प्रसंग कह्यो कौसिक मिस सीय स्वयंबर गायो।
राम, भरत, रिपुदवन लखन को जय सुख सुजस सुनायो ॥५॥
तुलसिदास रनिवास रहस बस, भयो सबको मन भायो।
सनमान्यो महिदेव असीसत सानँद सदन सिधायो ॥६॥

शब्दार्थ—आगमी = ज्योतिषी, दैवज्ञ, भविष्य का विचारने वाला, यहाँ सामुद्रिक से तात्पर्य है; क्योंकि आगे वैसा ही गुण कहा गया है—'करतल देखि ''''। अनमायो=न अमाया (अतः, उमड़ पड़ा)।

अर्थ—श्रीअयोध्या में आज एक आगमी आया है, वह हथेली देख कर सारे गुण गण कह देता है, बहुत लोग उसके कथन का परिचय (सत्यता) पा चुके हैं ॥ १ ॥ वह ब्राह्मण बूढ़ा और बड़ा प्रामाणिक (माननीय) है, उसका बड़ा सुहावन 'शंकर' यह नाम है, उसके संग में एक बच्चा शिष्य भी है—यह सुनकर श्रीकौशल्याजी ने उसे महल के भीतर बुलवाया ॥ २ ॥ उसके चरण धो, उसकी पूजा की और उसे आसन दे भोजन करा फिर वस्त्र पहनाया, तब अपने चारो पुत्रों को लाकर उसके पवित्र चरणों पर चारो सुन्दर

पुत्रों को डाल कर प्रणाम कराया और इनके शिरों पर उससे हाथ रखवा आशीर्वाद दिलाया ॥ ३ ॥ बालक के नख से शिखा तक की छबि देख कर उस ब्राह्मण के शरीर में पुलकावली हो आई और नेत्रों में प्रेम के आँसू आ गये। वह ब्राह्मण इन बालकों को गोद में ले-लेकर इनके कमलवत् हाथों को देखता है, उसके हृदय में प्रकर्ष आनंद नहीं अमाता (अतः, उक्त रोमांच एवं प्रेमाश्रु के द्वारा निकल पड़ता है) ॥ ४ ॥ उसने पहले इनके जन्म की बात कही और फिर (भविष्य की बात कही इसमें) श्रीविश्वामित्र के साथ जाने के व्याज से श्रीसीताजी के स्वयंवर (की व्यवस्था) का गान किया (; अर्थात् श्रीरामजी का एवं तीनों भाइयों का साथ ब्याह होना कहा) । फिर श्रीरामजी, श्रीभरतजी, श्रीशत्रुघ्नजी और श्रीलक्ष्मणजी के भावी जय, सुख और सुयश का वर्णन किया ॥ ५ ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि सब का मन चाहा हुआ, इससे रनवास आनन्द वश है । उन ब्राह्मण देव (शंकर) का सम्मान किया, वे आशीर्वाद देते हुए आनन्दपूर्वक अपने घर गये ॥ ६ ॥

विशेष—एक समय श्रीशिवजी ज्योतिषी (सामुद्रिक) बन कर और साथ अपने शिष्य श्रीकाकभुशुंडीजी को शिशु-शिष्य बना अपने इष्ट श्रीरामजी के बालरूप के दर्शन करने आये हैं—इस पद में उनकी व्यवस्था कही गई है।

'अवध आज···'—श्रीब्रह्माजी ने मनुष्य के हाथ रावण-वध लिखा है। अतः, श्रीरामजी का ऐश्वर्य न प्रकट हो, यह विचार कर श्रीशिवजी अपने इष्ट के साक्षात् दर्शन करने बराबर जाते थे, पर गुप्त रूप से जाया करते थे; यथा—"औरउ एक कहउँ निज चोरी। सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी ॥ कागभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुज रूप जानै नहिं कोऊ॥ परमानंद प्रेमसुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले ॥" (मा० बा० १९५)। उसी प्रकार आज भी शिवजी उसी शिष्य काकभुशुंडी के साथ आये हैं। शिशु रूप श्रीरामजी के दर्शनार्थ महल में जाना है, इससे स्वयं बूढ़े बन और शिष्य को शिशु बना कर आये हैं। नाम 'शङ्कर' ही रक्खा है, प्रायः ब्राह्मण इस नाम के होते हैं।

'करतल देखि··परिचो पायो।'—उसने हाथ देख कर जो भावी बात कही है, वह ठीक समयपर वैसी ही घटित हुई। अतः, उसके वचन की सत्यता बहुतों ने पाई है।

'प्रमानिक'; क्योंकि उसके वचन सत्य ही होते हैं, इससे वह प्रामाणि
ब्राह्मण है।

'नख-सिख बाल...'—शिवजी जिनका ध्यान किया करते थे, वे ही आ
प्रत्यक्ष हैं, इससे अत्यन्त आनन्द और अनुराग से उनकी यह दशा हुई है।

'लै-लै गोद...'—प्रायः बूढ़ों की दृष्टि कम पड़ जाती है, इस ब्याज
गोद में ले-लेकर समीप से देखते हैं। सच्चिदानन्द विग्रह श्रीराम के गोद
आने पर स्पर्श द्वारा उनका आनन्द शिवजी के हृदय में भर गया और व
उमड़ चला तथा पुलक एवं प्रेमाश्रु के द्वारा दृष्टिगोचर हुआ; यथा—"सब सि
येहि मिस प्रेम बस, परसि मनोहर गात। तनु पुलकहिं अति हरष हिय,"
(मा० बा० २२४)।

'जन्म प्रसंग कह्यो...'—जन्म-प्रसंग भूतकाल की बात है कि श्रीव
एवं शृंगी ऋषि के द्वारा यज्ञ होने पर इस-इस भाँति इनके जन्म हुए हैं।

'कौसिक मिस...'—यह भविष्य की बात है कि विश्वामित्र की यज्ञ
करेंगे, भारी-भारी राक्षसों को मारेंगे। फिर सीता स्वयंवर में धनुष तोड़ेंगे
परशुराम-पराजय से विश्व विजय का यश पाकर अपने साथ तीनों भाइयों
भी ब्याहेंगे।

'राम भरत...'—श्रीरामजी का जय कुछ उपर्युक्त है और बाली
रावणादि से विजय पाना कहे। साथमें मेघनाद आदि वधमें लक्ष्मण-विजय
गंधर्व-विजय में भरत-विजय तथा रामाश्वमेध-प्रसंग में शत्रुघ्न-विजय का
चारों के भाँति-भाँति के सुख कहे और आश्रित-रक्षण एवं विविध दान के
होनेवाले सबके सुयश भी सुनाये।

'रनिवास रहस बस...'—क्षत्रिय जाति वीर-माताओं को ऐसे
सन्तानों की कामनाएँ रहती हैं, वे पूरी हुईं, इससे रनिवास आनन्दित हु

राग केदारा

[१८]

पौढ़िये लालन, पालने हौं झुलावौं।
कर, पद, मुख, चख कमल लसत लखि लोचन-भ्रमर भुलावौं॥

बाल-बिनोद-मोद-मंजुल-मनि किलकनि-खानि खुलावौं।
तेइ अनुराग ताग गुहिबे कहँ मति-मृगनयनि बुलावौं ॥२॥
तुलसी भनित भली भामिनि उर सो पहिराइ फुलावौं।
चारु चरित रघुबर तेरे तेहि मिलि गाइ चरन चित लावौं ॥३॥

अर्थ—(श्रीकौशल्याजी की अभिलाषमय उक्ति में अपनी उक्ति मिला कर श्रीगोस्वामीजी कहते हैं) हे लाल! तुम पालने में पौढ़ जाओ और मैं झुलाऊँ (झुलाती हुई) तुम्हारे हाथ, चरण, मुख और नेत्र रूपी सुशोभित कमलों को देख कर मैं अपने नेत्र रूपी भ्रमरों को भुला दूँ ॥ १ ॥ तुम्हारी बाल क्रीड़ा के आनंद रूपी सुन्दर मणि को प्रकट करने के लिये मैं किलकनि (एक प्रकार की हँसी विशेष) रूपी खानि खोलाऊँ। उस मणि को अनुराग रूपी तागे में पोहने के लिये बुद्धि रूपी मृगनयनी (बड़े-बड़े नेत्रवाली-सुन्दर स्त्री-पटहारिन) बुलाऊँ ॥ २ ॥ श्रीतुलसीदाजी कहते हैं कि इस हार को अपनी कविता रूपी स्त्री के हृदय पर पहना कर उसे प्रफुल्लित करूँ। उस कविता रूपी स्त्री के साथ मिलकर, हे श्रीरघुश्रेष्ठ श्रीरामजी! तुम्हारे सुन्दर चरित गाकर तुम्हारे चरणों में चित्त लगाऊँ ॥ ३ ॥

विशेष—'कर, पद, मुख, चख कमल लसत···'—भ्रमर कमल का स्नेही होता है, वह कमल के सुगंध, पराग, रस और कोमलता से अपने नाक, मुख, जिह्वा और त्वचा का सुख पाता है, इससे उसमें मुग्ध हो जाता है। वैसे ही पहले नेत्र अनुरागवर्द्धक लाल कमल के समान कर को देखते ही मुग्ध होंगे; यथा—"नव कंज लोचन कंज मुख कर कंज पद कंजारुनं।" (वि० ४५)। फिर इन अङ्गों के गुणों पर बुद्धि से विचार करने पर ज्ञान नेत्र से भी मुग्ध हो जायँगे। कर कमल में दान की कीर्त्ति रूपी सुगंध गुण है, पद कमल के पराग से अहल्या तर गई, यह पद-पराग में गुण है। मुख कमल में मीठे और मृदु वचन बोलने का गुण है और नेत्र कमल में करुणा रस रूपी रस है, जिससे अवतार ले-लेकर भक्तों को कल्याण करते हैं। इन गुणों पर मुग्धता होगी। तब नेत्र सब भूल कर वहीं लग जायँगे; यही उनमें भूलना है। यहाँ वाह्येन्द्रिय वृत्ति के साथ अहंकार की तन्मयता है।

'बाल-बिनोद-मोद···'—विविध-बाल-क्रीड़ा में आनन्द पाने पर बालक

किलकते हैं, यही किलकनि रूपी खान से बाल-बिनोद के मोद रूपी मणियों का प्रकट होना है। खान खोदनेवाले मणि को प्रकट करते हैं, वैसे ही मैं झुला-झुला कर विनोद-मोद में प्रवृत्त कर किलकनि करा उन मोदों को प्रकट करूँगी, यह भाव है।

'तेइ अनुराग ताग…'-बुद्धि ज्ञानरूपी नेत्रों से इस मणि के गुण विचार अनुराग रूपी तागे में पोहती है। तब सुन्दर हार सम्पन्न होता है। पद पूरा बनना एक हार है। इस दूसरे चरण में बुद्धि की तन्मयता कही गई है।

'तुलसी भनित भली भामिनि उर…'—बाल-बिनोद-मोद रूपी मणियों का हार बना तो उसे धारण कर कविताकामिनी प्रफुल्लित होगी। उस कविता को गा-गाकर उससे मिलकर आपके चरण में चित्त लगाऊँ। इस तीसरे चरण में चित्त की तन्मयता कही गई है।

अहंकार की प्रधानता में कर्म, बुद्धि-प्रधानता में ज्ञान और चित्त की प्रधानता में उपासना होती है। इस पद में तीनों के फल की प्राप्ति कही गई है। "काण्डत्रय ही भगवान् की प्राप्ति के उपाय हैं" -(भाग० ११।२०।६) "शरणागति में इन तीनों काण्डों की व्यवस्था सुचारु रूप में कही गई है"-(भाग० ११।२।४२-४३)। इस दृष्टि से इस पद में श्रीराम-प्राप्ति के सम्यक् भाव आ गये हैं, तभी तो ग्रन्थकार ने स्वयं यहाँ कविता की प्रशंसा कर दी है।

अलङ्कार—सांग रूपक।

[१९]

सोइए लाल लाड़िले रघुराई।
मगन मोद लिये गोद सुमित्रा बार-बार बलिजाई ॥ १ ॥
हँसे हँसत, अनरसे अनरसत प्रतिबिंबनि ज्यों झाँई।
तुम सबके जीवन के जीवन, सकल सुमंगलदाई ॥ २ ॥
मूल मूल, सुरबीथि-बेलि, तम-तोम सुदल अधिकाई।
नखत-सुमन, नभ-बिटप बौंड़ि मानों छपा छिटकि छबि छाई ॥३॥
हौ जँभात अलसात तात ! तेरी बानि जानि मैं पाई।
गाइ-गाइ हलराइ बोलिहौं सुख नींदरी सुहाई ॥ ४ ॥

बाछरू छबीले छौना छगन-मगन मेरे कहति मल्हाइ-मल्हाई ।
सानुज हिय हुलसति तुलसी के प्रभु कि ललित लरिकाई ॥५॥

शब्दार्थ— छपा = रात । बाछरु = वत्स, बछड़ा । मल्हाइ = रगिआइ ।

अर्थ—श्रीसुमित्राजी आनन्द में मग्न होकर श्रीरामजी को गोद में लिये हुई बार-बार बलिहारी जाती हैं और कहती हैं—हे लाल ! हे लाड़िले और हे रघुराज ! सोइये ॥१॥ जैसे प्रतिबिम्ब में बिम्ब की परछाईं पड़ती है, वैसे ही मेरे हँसने पर तुम हँसते हो और मेरे उदास होने पर तुम उदास हो जाते हो । तुम तो सभी के जीवन के जीवन हो और समस्त सुन्दर मङ्गलों के देने वाले हो ॥ २ ॥ (आगे रात की अपूर्व छटा को बेलि के रूप में कहती हैं—) मूल नक्षत्र उसका मूल है, सुरवीथी लता है और अंधकार समूह ही दलों की अधिकता है । नक्षत्र गण उसके फूलों के समूह हैं—ऐसी रात रूपिणी लता मानों आकाश रूपी वृक्ष पर बौंड़ (बढ़-फैल) कर अपनी छवि छिटका (बिखरा) कर छा (शोभित हो) रही है ॥ ३ ॥ हे तात ! अब तुम जँभाते और अलसाते हो, मैं तुम्हारी बानि जान गई हूँ (कि अब तुम सोओगे), अतः, मैं गा-गाकर) और तुम्हें हलरा कर सुहावनी सुखमयी निद्रा को बुलाती हूँ ॥४॥ आगे हलराती हुई गा-गाकर रगिआय-रगिआय कर कहती हैं—ऐ मेरे बछड़े ! ऐ छबीले ! ऐ मेरे छौना (बच्चे ! और ऐ मेरे छगन-मगन ! ! ! ! । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि छोटे भाइयों के साथ प्रभु श्रीरामजी का ललित लड़कपन मेरे हृदय में उल्लसित हो रहा है ॥ ५ ॥

विशेष—'सोइये लाल' 'मगन मोद' '—बच्चे को सुखपूर्वक सोने में आनन्द होता है । अतः, सोने की चेष्टा देख कर माता बार-बार बलिहारी जाती हुई सोने को कहती हैं ।

'हँसे हँसत' '—इस चरण के पूर्वार्द्ध में प्रभु की भक्त-परवशता कहती हैं कि तुम मेरे हँसने पर हँसते एवं उदास होने पर उदास होते हो, मानो माधुर्य में भी अपनी ऐश्वर्य भाव वाली प्रतिज्ञा का चरितार्थ कर रहे हो; यथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।" (गीता ४।११); अर्थात्—"ये मत्समाश्रयणापेक्षा 'यथा' येन प्रकारेण स्वापेक्षानुरूपं 'मां' संकल्प्य'प्रपद्यन्ते' समाश्रयन्ते तान्प्रति 'तथैव' तन्मनीषितप्रकारेण 'भजामि' मां

दर्शयामि'—रामानुज भाष्य; अर्थात् मेरी शरण की अपेक्षा रखने वाले जो पुरुष अपनी अपेक्षा के अनुसार जिस प्रकार मेरे रूप की कल्पना कर मेरी शरण होते हैं; उनको मैं वैसे ही उनके मनोवांछित प्रकार से ही दर्शन देता हूँ।

'तुम सब के जीवन के जीवन···'; यथा—"राम प्रान प्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सब ही के॥" (मा० अ० ७३); अर्थात् श्रीरामजी सभी जीवों के जीवनाधार हैं; यथा—"मत्स्थानि सर्वभूतानि" (गीता९।४); तथा—"यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति।" (श० प० ब्रा० १४ ६।६।५।३०); अर्थात् आत्मा जिसका शरीर है जो आत्मा का उसमें व्याप्त रह कर नियमन करता है।

'सकल सुमंगल दाई'; यथा—"मंगल भवन अमंगलहारी। द्रवौ सो दसरथ अजिर बिहारी॥" (मा० बा० १११); इस प्रकार इस चरण के उत्तरार्द्ध में प्रभुता कही गई है।

मूल मूल सुरबीथि बेलि···'—श्रीबैजनाथजी ने इस रूपक पर मुहूर्त चिन्तामणि का आधार लेकर लिखा है कि मूल नक्षत्र को सुरबीथी रूपी लता का मूल इससे लिखा है कि श्रावण में पूर्व से धनराशि के संग में सन्ध्या समय मूल का उदय होता है और पूर्व से ही रात का विस्तार भी है। श्रावण में पूर्व से ही सुरबीथी भी सन्ध्या समय पच्छिम की ओर सीधी रहती है। वहाँ शिशुमार चक्र के वाम कोण के समीप मूल नक्षत्र लम्बी सिंह की पूँछ के समान ग्यारह नक्षत्रों के साथ उदित होता है। मूल नक्षत्र एक तो सुरबीथी के मूल स्थान में है, दूसरे यह लम्बा आकार में भी है और तीसरे इसका मूल नाम भी है, इससे इसे सुरबीथी रूपी लता का मूल (जड़) कहना बहुत संगत है। यहाँ रूपक अलङ्कार है।

इस रूपक के अनुरोध से इस समय श्रीरामजी चार महीने के हैं; क्योंकि चैत से श्रावण तक चार महीने होते हैं। सुहावनी रात का वर्णन कर आगे शयन कराना लिखते हैं—

'हौं जँभात अलसात तात !···'—बच्चे जब जभाँई लेते एवं आलस्य प्रकट करते हैं, तब उनकी सोने की चेष्टा जानी जाती है। तब माताएँ गा गाकर हलराती हुई उन्हें शयन कराती हैं, वैसा ही श्रीसुमित्राजी कर रही हैं।

'बछरू छबीले'''—रगिआय-रगिआय बछरू आदि कह-कह कर गाती हुई शयन करा रही हैं आगे का पद इसी विषय का है।

'सानुज''' इसी प्रकार चारो भाइयों के ललित लड़कपन हैं।

[२०]

ललन लोने लेरुआ, बलि मैया।
सुख सोइये नींद-बेरिया भई, चारु-चरित चार्यो भैया॥ १॥
कहति मल्हाइ; लाइ उर छिन-छिन, छगन छबीले छोटे छैया।
मोद-कंद कुल-कुमुद-चंद मेरे रामचंद्र रघुरैया॥ २॥
रघुबर बालकेलि संतन की सुभग सुभद सुरगैया।
तुलसी दुहि पीवत सुख जीवत पय सप्रेम घनी घैया॥ ३॥

शब्दार्थ—लेरुआ=बछवा। घैया=थन से निकलती हुई दूध की धार।

अर्थ—हे सुन्दर लालन! हे सुन्दर वत्स! माता बलिहारी जाती है। अब नींद का समय हो गया है। अतः, सुन्दर चरितवाले चारो भाई सुखपूर्वक सो जाइये ॥१॥ क्षण-क्षण पर हृदय में लगा-लगा कर माता रगिआय के कहती हैं—हे छगन! हे छबीले! हे छोटे बच्चे! हे मेरे आनन्द कंद! हे मेरे रघुकुल रूपी कुईं को प्रफुल्लित करने वाले चन्द्रमा रूप रामचन्द्र! हे मेरे रघुरैया!॥ २॥ श्रीरघुनाथजी की बाल-क्रीड़ा साधुओं के लिये अत्यन्त सुन्दर और शुभप्रद कामधेनु ही है। यह तुलसीदास उसकी घनी दुग्धधारों को प्रेमपूर्वक दुह कर पीता है और उसी के आधार पर सुखपूर्वक अपना जीवन रखता है॥ ३॥

विशेष—'ललन लोने'''—इसमें 'लोने' पद दीपदेहली है।

'तुलसी दुहि पीवत'''—इसमें 'सप्रेम' पद 'दुहि' के साथ है। भाव यह कि जैसे बछड़ा गाय के दूध पर सुख से जीता है, वैसे ही मैं इस बाल-क्रीड़ा की व्यष्टि क्रीड़ा रूपी दुग्ध-धारों के आधार पर ही सुखपूर्वक जीता हूँ। यह क्रीड़ा मुझे अत्यन्त प्रिय है; तथा—"बाल चरितमय चंद्रमा यह सोरह कला निधान। चित चकोर तुलसी कियो करै प्रेम अमिअ रस पान॥ तुलसी को जीवन रामलला।" (पद २२)। यह ग्रन्थकार का भाव है। आगे सुख-निद्रा के गुण कहते हैं—

[२१]

सुख नींद कहत आलि आइहौं ।
राम, लखन, रिपुदवन, भरत सिसु करि सब सुमुख सोआइहौं ॥१॥
रोवनि-धोवनि, अनखानि, अनरसनि, डिठि-मुठि-निठुर नसाइहौं ।
हँसनि, खेलनि, किलकनि, आनंदनि भूपति-भवन बसाइहौं ॥२॥
गोद बिनोद-मोदमय मूरति हरषि हरषि हलराइहौं ।
तनु तिल-तिल करि वारि राम पर लैहौं रोग बलाइ हौं ॥३॥
रानी राउ सहित सुत परिजन निरखि नयन फल पाइहौं ।
चारु चरित रघुबंस तिलक के तहँ तुलसिहि मिलि गाइहौं ॥४॥

शब्दार्थ—रोवनि-धोवनि = रोना-धोना ऐसा मुहावरा है, केवल रोना ही अर्थ है । डिठि-मुठि = नजर-टोना ।

अर्थ—(श्रीसुमित्राजी श्रीराम आदि बालकों से सुखमय-निद्रा का आगमन कह इन्हें प्रसन्न करती हैं—) आनन्दमयी निद्रा कहती है कि हे सखी! मैं आ गई हूँ अब मैं श्रीराम, श्रीलक्ष्मण, श्रीशत्रुघ्न और श्रीभरत शिशुओं को प्रसन्न करके सुलाती हूँ ॥१॥ रोने-धोने, रुष्ट-होने, अनमने होने और नजर-टोना आदि को निष्ठुर होकर नष्ट कर दूँगी तथा हँसने, खेलने, किलकने और आनन्दित होने की क्रियाओं को राजा दशरथ के घर में बसाऊँगी ॥२॥ क्रीड़ा और आनन्दमयी मूर्त्ति श्रीरामजी को गोद में लेकर मैं हर्षित हो-हो कर हलराऊँगी और अपने शरीर को तिल-तिल करके श्रीरामलला पर निछावर कर उनके रोगों एवं बाधाओं को अपने ऊपर लूँगी ॥३॥ पुत्रों और कुटुम्बियों के साथ रानी और राजा को देख कर नेत्रों का फल पाऊँगी और रघुकुल श्रेष्ठ श्रीरामजी के सुन्दर चरितों को वहाँ तुलसीदास के साथ मिल कर गाऊँगी ॥४॥

विशेष—'सुख नींद'' करि सब सुमुख''—सुखमयी निद्रा में बालक प्रसन्नमुख होकर सोते ही हैं ।

'रोवनि-धोवनि हँसनिखेलनि'''—सोने पर रोना आदि नहीं होते, प्रत्युत सुखनींद में यह सब बच्चों को भूल जाते हैं । फिर सोकर उठने पर हँसते-खेलते आदि हैं । 'निष्ठुर' इस पद को 'डिठि-मुठि' के साथ भी लेकर अर्थ होता है कि इन निष्ठुरों का नाश करूँगी ।

'गोद बिनोद ··· तनु तिल-तिल ···'—निद्रा देवी कहती हैं कि मूर्त्तिमान होकर गोद में ले हलरा कर सुलाऊँगी और उस सुखमय निद्रा के द्वारा रोग-बला आदि को अपने ऊपर लूँगी, इसमें मैं अपने तन को तिल-तिल करके निछावर कर दूँगी।

'चारु चरित ··· तुलसिहि मिलि ···'—निद्रा देवी के मुख से कहला कर श्रीतुलसीदासजी इस निद्रा-चरित से अपना नियत सम्बन्ध प्रकट करते हैं। यहाँ भाविक-अलङ्कार है। भाव यह कि निद्रा राजा-रानी एवं उनके परिजनों के साथ इस चरित का गान करने की अभिलाषा प्रकट करती हुई कहती है कि इसका पद्य रचयिता तुलसीदास होंगे। अथवा, 'तुलसिहि' इस कवि-सम्भोग को पृथक् करके अर्थ करने पर यही होता है कि वहाँ राजा-रानी आदि के साथ मैं भी गाऊँगी।

राग आसावरी

[२२]

कनक-रतनमय पालनो रच्यो मनहुँ मार सुतहार।
बिबिध खेलौना, किंकिनी, लागे मंजुल मुकुताहार॥
रघुकुल-मंडन रामलला॥१॥
जननि उबटि, अन्हवाइकै, मनि-भूषन सजि, लिये गोद।
पौढ़ाए पटु पालने, सिसु निरखि मगन मन मोद॥
दसरथ नंदन रामलला॥२॥
मदन मोर के चंद्र की झलकनि निदरति तन जोति।
नीलकमल मनि जलद की उपमा कहे लघुमति होति॥
मातु सुकृत फल रामलला॥३॥
लघु-लघु लोहित ललित हैं पद पानि अधर एक रंग।
को कबि जो छबि कहि सकै नख सिख सुंदर सब अंग॥
परिजन रंजन रामलला॥४॥

शब्दार्थ—सुतहार = सूत्र रखकर काम करनेवाला, बढ़ई, खाट बोननेवाला।

अर्थ—सोना और मणि आदि रत्नों का बना हुआ पालना है, वह मानो कामदेव रूपी बढ़ई का रचा हुआ है (ऐसा मनोहर है)। उसमें भाँति-भाँति

के खेलौने, किंकिणियाँ और सुन्दर मोतियों के हार लगे हुए हैं। उसमें रघुकु को सुशोभित करनेवाले श्रीरामलला विराजमान हैं ॥१॥ माता श्रीकौशल्या ने श्रीरामललाजी को उबटन लगा कर स्नान कराया और मणिमय आभूष से सुसज्जित कर उन्हें गोद में लिया। फिर बच्चे को सुन्दर पालने में पौ दिया, देखकर उनका मन आनन्द में निमग्न हो गया है। श्रीरामलला श्रीदशरथजी को आनन्द देनेवाले हैं ॥२॥ श्रीरामलला के शरीर की ज्यो कामदेव रूप मोर के चन्द्रिका की आभा का निरादर करती है। यदि इन्हें नी कमल, नील-मणि और नील मेघ की उपमा कहें तो बुद्धि तुच्छ होती क्योंकि श्रीरामलला तो माताओं के पुण्य के फल-स्वरूप हैं ॥३॥ छोटे लाल-लाल ललित चरण, हाथ और ओष्ठ सब एक ही रंग के हैं। कौन ऐ कवि है जो इस छवि को कह सकता है ? नख से शिखा तक सभी अंग सु हैं। ऐसे श्रीरामलला सभी परिवार के लोगों को आनंद देनेवाले हैं ॥४॥

विशेष—इस पद में दो विषय एक साथ हैं—१ पालने पर बाल स्व श्रीरामलला के झूलने की छटा का वर्णन, २—बालचरित के सोलह पदों चन्द्रमा की सोलह कलाओं का रूपक।

'कनक रतनमय पालनो…'—सोना और हीरा, पद्मराग, वैदूर्य, मो पिरोजा एवं मरकतमणि आदि रत्नों से रचित पालना है। सोना प्रधान विविध रंग के रत्न उसमें जड़े हुए हैं। कामदेव ने ही मानों बढ़ई बनकर रचा है, इससे वह परम मनोहर है। उसमें भाँति-भाँति के खेलौने, किंकिणि और सुन्दर मुक्ताओं के हार भी लगे हैं। चन्द्ररथ में मृगा वाहन है और चरित में यह पहला चरण है।

'रघुकुल मंडन रामलला'—श्रीरामजी ने अपने चरित से रघुकुल सुशोभित किया है, इससे आप इस कुल के भूषण हैं। पूर्वोक्त पद १६ में इ दिव्य लक्षणों को देखकर श्रीगुरुजी ने जो महत्त्व कहा है, उसका आधार ले इस गीत में सुमित्राजी ने क्रमशः वर्णन किया है।

अलङ्कार—उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा।

'जननि उबटि…पौढ़ाए पटु पालने…'—माताओं ने अपने आन के लिये पालना का शृंगार कर बालक श्रीरामजी को उस पर पौढ़ाया है, इस

उनके मन में आनन्द की विशेष निमग्नता है; तथा—"झूलत राम पालने सोहैं। भूरि भाग जननी जन जोहैं॥" (पद १४)। 'मनि-भूषन सजि'—कठुला, विजायठ, हस्त कड़ा, पहुँची और पगकड़ा आदि भूषण तथा अँगुली-टोपी आदि वस्त्र, बाल अवस्था के शृंगार की वस्तुएँ हैं पालने पर विराजमान शिशु रामजी को देखकर श्रीदशरथजी अत्यन्त सुखी हो रहे हैं, इससे श्रीरामजी यहाँ पर 'दसरथ-नन्दन' कहे गये हैं।

'मदन मोर के चंद्र की झलकनि....'—यदि कामदेव ही मोर बना हो, तो उसके चन्द्रिका की आभा क्षण-क्षण में नवीन झलक प्रकट करती हुई अत्यन्त सुन्दर होती है, उस आभा की छटा भी शिशु श्रीरामजी की तनु ज्योति के समक्ष लघु होता है, उस शरीर की कोमलता और सौगंध नील कमल की कोमलता और सौगंध गुण का निरादर करता है। उसकी चिक्कनता और झलक नील मणि की चिक्कनता और झलक का निरादर करता है और गम्भीरता एवं श्यामता अपने गुणों से नील मेघ का निरादर करता है। उपमानों के तिरिस्कृत होने पर कवि का भाव ही रह जाता है।

अलङ्कार—पञ्चम प्रतीप; यथा—"कोटिकाम उपमा लघु सोऊ।" (काव्य प्रभाकर) तथा—"नील सरोरुह नील मनि, नील नीरधर स्याम। लाजहिं तनु सोभा निरखि, कोटि-कोटि सत काम॥" (मा० बा० १४६)।

'मातु सुकृत फल रामलला'—इस समय माताएँ इन्हें देख-देखकर अपने महान् पुण्यों के फल का अनुभव करती हैं; यथा—"पुन्य फल अनुभवति सुतहि बिलोकि दसरथ घरनि।" (पद २७); तथा—"बदउँ कौसल्या दिसि प्राची। कीरति जासु सकल जग माची॥ प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू। बिस्व-सुखद खल कमल तुषारू॥ दसरथ राउ सहित सब रानी। सुकृत सुमंगल मूरति मानी॥" (मा० बा० १५)। इन प्रमाणों से ऐसा कहा जाना अत्यन्त शोभन है।

'लघु-लघु लोहित ... को कवि ...'—चरण का तल भाग, हस्त की हथेली और ओष्ठों का भीतरी भाग लाल कमल के समान है, सब एक समान लाल कमल के समान सुन्दर हैं; यथा—"नव कंज लोचन, कंज मुख, कर कंज, पद कंजारुनं।" (वि० ४५); इसमें भी नवीन लाल कमल के समान ही वे अंग

कहे गये हैं। नख से शिखा तक सभी अंग एक समान सुन्दर हैं। अतः, कोई कवि इनका यथार्थ वर्णन नहीं कर सकता; यथा—"नख सिख सुंदर बंधु दोउ, सोभा सकल सुदेस ॥" (मा० बा० २१६)। "सारद सेस संभु निसि बासर चिंतत रूप न हृदय समाई। तुलसिदास सठ क्यों करि बरनै यह छबि, निगम नेति कह गाई ॥" (पद १०६)।

'परिजन-रंजन रामलला'—नख शिख सुन्दरता का विशेष कर आस्वादन परिजन करते हैं, इससे ऐसा कहा गया है; तथा—"पुरजन सचिव राउ रानी सब सेवक सखा सहेली। लैहैं लोचन-लाहु सुफल लखि ललित मनोरथ बेली ॥" (पद ८)।

पग नूपुर कटि किंकिनी, कर-कंजनि पहुँची मंजु।
हिय हरिनख अद्भुत बन्यो मानो मनसिज मनिगन-गंजु ॥
पुरजन-सुरमनि रामलला ॥ ५ ॥
लोयन नील सरोज से, भ्रू पर मसि-बिंदु बिराज।
जनु बिधु-मुख, छबि-अमिअ को रच्छक राखे रसराज ॥
सोभा सागर रामलला ॥ ६ ॥
गभुआरी अलकावली लसै, लटकन ललित ललाट।
जनु उड़ुगन बिधु मिलन को चले तम बिदारि करि बाट ॥
सहज सोहावनो रामलला ॥ ७ ॥
देखि खेलौना किलकहीं, पद पानि बिलोचन लोल।
बिचित्र बिहँग अलि जलज ज्यों सुखमा-सर करत कलोल ॥
भगत-कलपतरु रामलला ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—गंज = गंजन करने वाला। मान मर्दन करने वाला। सुरमनि = चिंतामणि। गभुआरी [सं० गर्भ, प्रा० गब्भ + प्र० आर] = गर्भ अर्थात् पेट की।

अर्थ—उनके श्रीचरणों में नूपुर, कटि प्रदेश में किंकिणी, हस्तकमलों में सुन्दर पहुँची और हृदय स्थल पर अद्भुत बघनहा शोभायमान हो रहा है, (ये भूषण ऐसे शोभित हो रहे हैं) मानों कामदेव के मणिसमूहों का मानमर्दन करने वाले हैं। पुरवासियों के लिये श्रीरामलला चिन्तामणि के समान हैं ॥५॥ उनके नेत्र नील कमल के समान हैं, भौंहों के ऊपर काजल का बिन्दु (डिठौना)

सुशोभित है। मानो मुख रूपी चन्द्रमा ने अपनी छवि रूपी अमृत की रखवाली करने के लिये शृङ्गाररस को रक्षक नियुक्त कर रक्खा है। श्रीरामललाजी ऐसे शोभा के समुद्र हैं ॥६॥ गर्भ से आये हुए केशों की अलकावली शोभा दे रही है और सोने के तारों में गुही हुई मोतियों के गुच्छों वाली लटकनें लटकती हुई ललाट-प्रदेश पर ऐसी सुशोभित हो रही हैं; मानों तारागण अन्धकार को विदीर्ण कर मार्ग बना चन्द्रमा से मिलने चले हैं। इस प्रकार श्रीरामललाजी स्वाभाविक शोभायमान हैं ॥ ७ ॥ वे खेलौना देख-देख कर किलकते हैं, उनके चरण, हाथ और नेत्र चंचल हो रहे हैं। मानों परमा शोभारूपी सरोवर में चित्र विचित्र पक्षी, भ्रमर और कमल कलोल कर रहे हैं। ऐसे श्रीरामललाजी भक्तों के लिये कल्पवृक्ष के समान हैं । ८ ॥

विशेष—'हिय हरि नख···'; यथा-"कंठा कंठ बघनहा नीके" (पद २८)। 'पग नूपुर, कटि किंकिनी'; यथा—"रुचिर नूपुर किंकिनी मन हरति रुनुझुनु करनि।" (पद २७)। 'मानो मनसिज मनिगन ···'—अनेक भूषण मणिमय हैं, वे सब अत्यन्त सुन्दर हैं, ऐसे जान पड़ते हैं मानों कामदेव के मणि समूहों को अपनी सुन्दरता से पराजित कर दिये हैं। 'पुरजन सुरमनि'—चिन्तामणि देवों को मनोवाञ्छित देकर भी ज्यों का त्यों रहता है, वैसे ही ये पुरजनों की रुचि के अनुसार लीला कर उन्हें कृतार्थ करते हुए ज्यों के त्यों रहते हैं; यथा—"भरत राम रिपुदवन लखन के चरित सरित अन्हवैया। तुलसी तब के-से अजहुँ जानिबे रघुवर नगर बसैया ॥" (पद ६)—इसका विशेष भी देखिये। तथा—"जेहि बिधि सुखी होहिं पुरलोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा ॥" (मा० बा० २०४)।

अलङ्कार—उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा।

'लोयन नील सरोज से···'—यहाँ कज्जल लगे हुए नेत्र नील कमल के समान कहे गये हैं; यथा—"नील नलिन दोउ नयन सुहाए।" (पद २३) तथा—"अंजनरंजित नैन, चित चोरै चितवनि···" (पद ३३)।

'भ्रूपर मसिबिंदु बिराज'; यथा-"भ्रू पर अनूप मसि बिंदु···"(पद १०)। 'मुनि मन हरत मंजु मसिबुंदा। ललित बदन, बलि, बालमुकुंदा।" (पद ३१)।

'जनु बिधु मुख···'—शृंगार रस श्याम वर्ण है। वैसे ही श्याम डिठौने

भी परम सुन्दर हैं। चन्द्रमा में अमृत है, वैसे मुख में छबि है। श्रृङ्गार को रक्षक बना रक्खा है कि दृष्टिरूपी चोर श्रृङ्गार रस पर ही मोहित हो उसी में उरझ जायँ, वैसे ही मुख छवि के दर्शकों की दृष्टियाँ डिठौने पर मोहित होकर रह जायँ, मुख छबि पर आघात न करने पावें। यहाँ डिठौने की का वर्णन उत्प्रेक्षा का विषय है।

'सोभा सागर रामलला'—श्रृंगार रस की शोभा तो डिठौने रूपी र में ही परिपूर्ण है। रक्ष्य रूपिणी मुख छबि तो अवर्ण्य ही है, सागरवत् अ है। यहाँ श्रृंगार रस को अन्य रसों का राजा स्पष्ट कहा गया है।

अलंकार—उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा।

'गभुआरी अलकावली···'; यथा—"भाल बिसाल ललित लटकन बालदसा के चिकुर सोहाए। मनु दोउ गुरु सनि कुज आगे करि ससिहि मि तम के गन आए।।" (पद २६) "मेढी लटकन मनि कनकरचित, बाल बनाइ, आछे अंग-अंग ठए हैं।।" (पद ११); "लटकन लसत ललाट लटूरी (पद ३१)।

'जनु उड़ु गन बिधु मिलन···'—लटकन के गुच्छे उड़ुगुन, मुख और तम अलकावली के समान हैं। दोनों ओर की अलकों को समेटने लकीर-सी बन गई है, वही मार्ग के समान है। उड़ुगण अपने स्वामी चन्द्र के पास आए हैं, यह उचित ही है। सोने के तारों में बिबिध रंग की मु गुच्छे हैं, वे ही विविध रंग के नक्षत्र समूह हैं।

'सहज सोहावनी रामलला'—श्रीरामलला अपनी इस छटा से स्वभा सबको सुहावने लगते हैं।

अलङ्कार—उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा।

'देखि खेलौना किलकहीं··'—पालने में तोते, कबूतर और मोर पक्षियों के चित्र खेलौने के रूप में बने हैं, उन्हें देखकर आनन्दित हो किलक तब चरण, हाथ और नेत्र चञ्चल हो चलायमान होते हैं, उसी पर उ करते हैं। यहाँ चरण विचित्र पक्षी हैं; क्योंकि लाल तलवों में २४ + २४ है और फिर चरणों के ऊपरी भागों के दोनों बगल मेहावर की चिड़ियाँ हुई हैं। कजरारे नेत्र भ्रमरों के समान और लाल हथेलियाँ लाल कमलों समान हैं, इनका चंचल हो चलायमान होना कलोल करना है। सम्पूर्ण

की सुखमा सरोवर रूपिणी है। 'ज्यों' इस पद का अर्थ भी 'मानो' यह होता है; यथा—"उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपिताद्दशः ॥" (कुवलयानंद) अतः 'ज्यों' और इव पर्य्यायी हैं (सं० यः + इव) यह इसका मूल रूप है।

'भगत कल्पतरु रामलला'—इस ध्यान से भक्तों की कामनाएँ पूर्ण होती हैं, आनन्दपूर्ण कलोल करते हुए प्रभु आश्रितों को भी आनन्दित करते रहते हैं उनकी कामना पूरी करते हैं; यथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।" (गीता ४।११)—इस प्रतिज्ञा से सिद्ध है कि भक्त अपनी जिस अपेक्षा के अनुसार भगवान् की शरण होते हैं; भगवान् ऊसके साथ तदनुसार वर्त्तते हैं।

अलङ्कार—चारो चरणों में उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा हैं।

बाल बोल बिनु अरथ के सुनि देत पदारथ चारि ।
जनु इन बचनन्हि ते भये सुरतरु तापस तिपुरारि ॥
नाम कामधुक रामलला ॥ ६ ॥
सखी सुमित्रा बारहीं मनिभूषन बसन बिभाग ।
मधुर झुलाइ मल्हावहीं गावैं उमँगि-उमँगि अनुराग ॥
हैं जग-मंगल रामलला ॥ १० ॥
मोती जायो सीप में अरु अदिति जन्यो जग भानु ।
रघुपति जायो कौसिला गुन मंगलरूप निधानु ॥
भुअन-बिभूषन रामलला ॥ ११ ॥
राम प्रगट जब ते भए गए सकल अमंगलमूल ।
मीत मुदित हित उदित हैं नित बैरिन के चित सूल ॥
भव-भय-भंजन रामलला ॥ १२ ॥

अर्थ—बालक श्रीरामलला के वचन विना अर्थ के हैं (; अर्थात् टूटेफूटे शब्द हैं, उनके कुछ अर्थ समझ में नहीं आते) परन्तु सुनने पर वे वचन सुनने वालोंको चारो फल (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) देते हैं। मानों इन वचनों से (हार मान कर) कल्पवृक्ष और शिवजी तपस्वी हुए हैं। (ऐसा क्यों न हो) श्रीरामलला का नाम ही कल्पवृक्ष है (फिर रूप के विषय में क्या कहना है ?) ॥ ६ ॥ सखियाँ तथा श्रीसुमित्राजी मणियों भूषणों और वस्त्रों के विभाग कर, (पृथक्-पृथक् कर) के निछावर कर रही हैं; धीरे-धीरे झुला-झुलाकर अनुराग

से उमँग-उमँग कर मल्हा कर (रंगिआ कर) गा रही हैं कि श्रीरामलला सं संसार का मङ्गल करनेवाले हैं ॥ १० ॥ जिस प्रकार सीप से मोती पैदा होत है और संसार में अदिति ने सूर्य को पैदा किया है, उसी प्रकार श्रीकौशल्याजं ने माङ्गलिक गुण और माङ्गलिक रूप के निधान रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजी के उत्पन्न किया है। श्रीरामलला चौदहो भुवनों को सुशोभित करनेवाले ॥ १२ ॥ श्रीरामजी जबसे प्रकट हुए हैं; तभी से समस्त अमङ्गलों के कारण न हो गये हैं। क्योंकि मित्र वर्ग आनन्दित हैं, हितैषियों का अभ्युदय हो रहा और वैरियों के चित्तों में नित्य नई पीड़ाएँ होती हैं। श्रीरामलला जन्म-मर के भय का नाश करनेवाले हैं ॥ १२ ॥

विशेष—'बाल बोल बिनु अरथ के…'—वचन स्वयं तो विना अर्थ हैं, परन्तु सुनने वालों को समस्त अर्थ एवं चारो फल भी देते हैं, यह इन अद्भुत महत्त्व है, इस महत्त्व को देख कर कल्पवृक्ष और शिवजी भी तपश्च करने लगे हैं। कल्पवृक्ष वृक्षरूप में शीत-उष्ण सहता हुआ तपस्या में रत और श्रीशिवजी भी परम वैराग्यनिष्ठ रह कर तपस्या ही कर रहे हैं। इन दो की लालसा है कि "तप ते अगम न कछु संसारा।" (मा० बा० १६२); इ प्रमाण से यदि हम लोग तप करके इन वचनों का-सा कुछ भी दातृत्व-मह पा जाय तो कृतार्थ हो जायँ। यों तो कल्पवृक्ष अर्थ, धर्म और काम तक देता है और शिवजी रामनाम के द्वारा मोक्ष भी देते हैं।

'नाम कामधुक रामलला'; यथा—"रामनाम कामतरु देत फ चारि रे। कहत पुरान बेद पंडित पुरारि रे।" (वि० ६७)। "तुलसी सुमि राम सुलभ फल चारि। बेद पुरान पुकारत, कहत पुरारि॥" (बरवै रा ५६)। भाव यह कि जिनके नाम में वह सामर्थ्य है, उनके रूप के सुखोच्चारि वचन में यदि ऐसा सामर्थ्य है तो आश्चर्य ही क्या?

कोई-कोई इस चरण का यों भी अर्थ करते हैं कि मानों इन बचनों से कल्पवृक्ष, तपस्वी गण और त्रिपुर नाशक शिवजी हुए हैं, इसी से ये सब देख में विना अर्थ के समान अकिंचन-से लगते हैं, पर सब कुछ दे सकते हैं। ऐ होना ठीक ही है, कारण के गुण कार्य में रहते ही हैं।

अलङ्कार—उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा।

'सखी सुमित्रा वारहीं···'—श्रीसुमित्राजी के समान ही उनकी सखियों का भी वात्सल्य स्नेह है, इससे पालने पर विराजमान श्रीरामलला की विघ्नबाधाओं के निवारणार्थ मणि भूषण आदि निछावर करती हैं।

'हैं जगमंगल रामलला' -श्रीरामललाजी के नाम, रूप, लीला और धाम सभी मंगलमय हैं; यथा—"मंगल भवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥" (मा० बा० ६)—नाम। "मंगल भवन अमंगलहारी। द्रवहु सो दसरथ अजिरबिहारी॥" (मा० बा० १११)-रूप। "राम कथा जग मंगल करनी।" (मा० बा० ६)-लीला। तथा-"सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धि-प्रद मंगल खानी॥" (मा० बा० ३४)-धाम।

'मोती जायो सीप में···'—जैसे सीप ने मोती को उत्पन्न किया है। मोती मंगलगुण युक्त है; क्योंकि मांगलिक चौक पूरने में लगता है और मांगलिक-भूषणों में रहता है, वैसे मंगलगुण-निधान श्रीरामलला को श्रीकौशल्या जी ने उत्पन्न किया है; तथा—"रामरत्नमहं वंदे चित्रकूटपतिं हरिम्। कौसल्या-शुक्तिसम्भूतं जानकीकंठभूषणम्॥" (श्रीरामस्तवराज ६६—सनत्कुमार संहिता)। जैसे श्रीअदितिजी ने सूर्य को उत्पन्न किया है, सूर्य प्रतापवान् हैं। वैसे ही श्रीकौशल्याजी ने परम प्रतापी श्रीरामलला को उत्पन्न किया है; यथा—"जब ते राम प्रताप खगेसा। उदित भयो अति प्रबल दिनेसा॥" से "यह प्रताप-रवि जाके, उर जब करइ प्रकास। पछिले बाढ़हिं प्रथम जे, कहे ते पावहिं नास॥" (मा० उ० ३१) तक।

"भुवन बिभूषन रामलला'—सपरिवार श्रीरामजीने आदर्श स्थापित कर चौदहो भुवनों को सुशोभित कर दिया है; यथा—"दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिबस बिनाये नाक चना है। सुबस बसे गावत जिनके जस अमर-नाग-नर-सुमुखि सना हैं॥" (उ० १३)।

अलङ्कार - 'तुल्ययोगिता का तृतीय भेद' है; क्योंकि यहाँ एक कौशल्याजी में ही सीप और अदिति के गुण वर्णन किये गये हैं।

"राम प्रगट जब ते भए···'-श्रीरामलला की जब से गर्भ में आने की व्यवस्था हुई है, तब से ही समस्त लोक सुख-सम्पत्ति से छा गयेथे; यथा-"जा दिन ते हरि गर्भहि आए। सकल लोक सुख-सम्पति छाए॥" (मा० बा० १८९)

फिर जन्म लेने पर कहा गया है; यथा—"भुवन कोटि कल्यान कंद जो, जायो पूत कौसिल्या रानी ॥" (पद ४); तथा—"भए असंगल लंक में, संक-संकट गाजे । भुवन चारिदस के बड़े दुख दारिद भाजे ॥" (पद ६)। अन्त के चरण में कुल पद पर चन्द्रमा का रूपक है स्पष्ट कहा गया है। तदनुसार जैसे चन्द्रमा के उदय पर तम का नाश होता है, चकोर और कुमुद आनंदित होते हैं और कमल को पीड़ा होती है, वैसे ही श्रीरामलला के उदय पर असंगल के कारणों का नाश, हितैषियों का अभ्युदय और शत्रुओं को पीड़ा होना कहा गया है।

'भव-भय-भंजन रामलला'—असंगल के कारणों का नाश होने पर जब विवेक आदि हितकारी गुणों का उदय होता है और मोह आदि शत्रुओं का नाश होता है, तब भव-भय भी निवृत्ति होता ही है, इस लिये यहाँ ठीक ही कहा गया है; तथा—"राजीव बिलोचन भव-भय-मोचन पाहि-पाहि सरनहिं आई ।" (मा० बा० २१०); "पाथोद गात सरोज मुख राजीव आयत लोचनम् । नित नौमि राम कृपाल बाहु बिसाल भव भय मोचनम् ॥" (मा० अर० ३१); अर्थात् श्रीराम-लला के सभी अंग भव-भय-मोचन हैं।

अलङ्कार—'बिकस्वर'।

अनुज सखा सिसु संग लै खेलन जैहैं चौगान ।
लंका खरभर परैगी, सुर पुर बाजिहैं निसान ॥
रिपु-गन-गंजन रामलला ॥१३॥
राम अहेरे चलहिं गे जब गज रथ बाजि सँवारि ।
दसकंधर उर धकधकी अब जनि धावै धनुधारि ॥
अरि-करि-केहरि रामलला ॥१४॥
गीत सुमित्रा सखिन के सुनि-सुनि सुर-मुनि अनुकूल ।
दै असीस जय-जय कहैं हरषैं बरषैं फूल ॥
सुर-सुख-दायक रामलला ॥१५॥
बाल चरितमय चंद्रमा यह सोरह-कला-निधान ।
चित चकोर तुलसी कियो करै प्रेम अमिअ रस पान ॥
तुलसी को जीवन रामलला ॥१६॥

अर्थ—जिस समय श्रीरामललाजी अपने भाइयों और बालसखाओं को साथ लेकर गेंद खेलने जायँगे, उस समय लङ्कापुरी में हलचल मच जायगी और देवलोक में नगाड़े बजेंगे। क्योंकि श्रीरामलला शत्रुसमूह का नाश करने वाले हैं (श्रीरामजी की लाघवता देख देवों को इनके वीर्य की प्रतीति होगी) ॥१३॥ श्रीरामललाजी जिस समय हाथी रथ और घोड़ों को सजाकर मृगया के लिये चलेंगे, उस समय रावण का हृदय धकधकने (भय एवं उद्वेग के कारण हृदय शीघ्र-शीघ्र चलने) लगेगा कि अब कहीं धनुष धारण कर मेरी ओर न दौड़ पड़ें (ऐसा आतंक क्यों न हो,) श्रीरामलला शत्रुरूपी हाथी के लिये सिंह के समान हैं ॥ १४ ॥ सखियों के साथ श्रीसुमित्राजी के गाने सुन-सुन कर अपने अनुकूल पाकर देवता और मुनि आशीर्वाद दे-दे कर जय-जय कहते हैं तथा हर्षित होकर फूलों की वर्षा करते हैं, क्योंकि श्रीरामलला देवताओं को सुख देनेवाले हैं ॥ १५ ॥ बालचरितमय यह पद्य सोलह कलाओंसे युक्त चन्द्रमा के समान (षोड़श पादात्मक) है। अपने चित्त को चकोर करके यह तुलसीदास इससे प्रेमामृत रस का पान करता है; क्योंकि श्रीरामलला तो इस तुलसीदास के जीवन (आधार) हैं ॥ १६ ॥

विशेष—'अनुज सखा सिसु...'—चौगान खेल की एक रीति आगे पद ४५ में लिखी गई है। चौगान गेंद खेलनेवाले दण्डे को कहा जाता है, उसी नाम से वह खेल भी प्रसिद्ध है।

'लंका खर भर परैगी...'—इस चरण में तथा आगे के चरण में भी श्रीसुमित्रा आदि ने भविष्य की बातें भी कही हैं। रामायणी कथा सनातन है, बीज रूप में बेदों में है, इससे ऋषियों ने विचार कर अवतार से प्रथम भी कहा है; यथा—"राम जाइ बन करि सुरकाजू। अचल अवधपुर करिहहिं राजू ॥ अमर नाग नर राम बाहु बल। सुख बसिहहिं अपने-अपने थल ॥ यह सब जागबलिक कहि राखा। देवि न होइ मुधा मुनि भाखा ॥" (मा० अ० २८४); इससे श्रीसुमित्राजी ने भी सुन रक्खा है। तथा शुद्ध हृदय के भक्तों के हृदय में भविष्य की बातों का अनुभव भी होता है और वह यथार्थ होता है। जैसे श्रीवाल्मीकिजी ने उत्तरकाण्ड में अन्त की कथा का कुछ अंश भविष्य का भी कहा है। चौगान में खेलने की कलाओं से युद्ध कला निपुणता समझ कर

शत्रु पक्ष में खलबली और मित्र पक्ष में आनन्द के नगाड़े बजे हैं। इससे श्रीरामलला का वीर्य जानकर इन्हें 'रिपु-गन गंजन' कहा गया है।

'राम अहेरे चलहि गे...'—मृगया क्षत्रियों का धर्म है, इससे दुष्ट जानवरों को मारकर वे अन्य दीन-हीन जीवों को सुखी रखते हैं। श्रीरामजी ने मृगया का अपना अभिप्राय स्वयं कहा है; यथा-"हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं॥" (मा० अर० १८); तथा—"बन-बेहड़ गिरि-कंदर-खोहा। सब हमार प्रभु पग-पग जोहा॥ जहँ-तहँ तुम्हहिं अहेर खेलाउब। सर निरझर भल ठाउँ देखाउब॥" (मा० अ० १३५); इन प्रमाणों से सिद्ध है कि 'बन-बेहड़ गिरि कंदर खोहा' में रहनेवाले दुष्ट व्याघ्र आदि की ही मृगया करते थे। वाल्मी० २।४९।१५-१६ में भी श्रीरामजी ने मृगया को राजर्षियों का धर्म कहा है (आगे पद ३९ में मृगया-प्रसंग लिखे गये हैं, वहाँ भी देखिये)। अतः, इस मर्यादा को आप उक्त रीति से पालते हैं।

'दसकंधर उर धकधकी...'—मृगया से बाणों की गति एवं अमोघता देखकर रावण के हृदय में उद्वेग होना कहा गया है। राजा अनरण्य ने शाप रूप में रावण से कहा ही है; यथा—"उत्पत्स्यते कुले ह्यस्मिन्निक्ष्वाकूणां महात्मनाम्। रामो दाशरथिर्नाम यस्ते प्राणान्हरिष्यति॥" (वाल्मी० ७।१९।३०) अर्थात् महात्मा इक्ष्वाकुओं के इसी कुल में दशरथ पुत्र राम उत्पन्न होंगे, जो तुम्हारे प्राणों का हरण करेंगे। इस शाप की अमोघता-सिद्धि-सूचनार्थ देवों ने पुष्पवृष्टि कर नगाड़े बजाये हैं। रावण को इसका स्मरण रहता ही है। अतः श्रीरामजी का वीर्य देखकर उसका घबराना युक्त है।

'अरिकरि केहरि रामलला'—सिंह जैसे उत्साह एवं पराक्रम से हाथी को मारता है, वैसे ही श्रीरामजी रावण आदि शत्रुओं का नाश करेंगे। श्रीरामलला का ऐसा पराक्रम ही रावण की धकधकी का कारण है।

'गीत सुमित्रा सखिन के....'—देव और मुनि रावण आदि का नाश होना चाहते ही हैं, इससे अनुकूल गान पर हृदय से आशीर्वाद देते हैं, वचन से 'जय-जय' कह कर विजयी होना मानते हैं। मन से हर्षित होते हैं और कर्म से फूल वर्षा करते हैं। इस प्रकार मन, वचन और कर्म से प्रसन्न हैं।

'सुरसुखदायक रामलला'—देवों की प्रार्थना पर अवतार हुआ है और

इन्हें सुख देने का आश्वासन दिया गया था, तदनुसार बातें गीत में हैं। अतः, श्रीरामलला सुर-सुख-दायक हैं।

'बालचरितमय चंद्रमा…'—चन्द्रमा में सोलह कलाएँ होती हैं, वैसे ही इस पद्य में सोलह चरण हैं। चन्द्रमा का प्रेमी चकोर होता हैं, वैसे यहाँ श्रीतुलसीदासजी का चित्त है। चकोर चन्द्रमा का अमृत पान करता है, वैसे ही यहाँ तुलसी का चित्त प्रेमामृत रस का पान करता है। चन्द्रमा में ओषधियों का जीवन है, वैसे ही इस पद में तुलसीदासजी का जीवन कहा गया है।

चन्द्रमा की सोलह कलाएँ यथा—"अमृतां मानदां तुष्टिं पुष्टिं प्रीतिं रतिं तथा। लज्जां श्रियं स्वधां रात्रिं ज्योत्स्नां हंसवतीं ततः॥ छायां च पूर्णी वामाममां चन्द्रकला इमाः।" (शारदा तिलक)—इनमें अमृत कला चन्द्रमा में स्वाभाविक है, शेष पन्द्रह कलाएँ कृष्णपक्ष में क्रमशः क्षीण होती हैं और शुक्लपक्ष में क्रमशः प्राप्त होती हैं, पूर्णिमा में पूर्ण होती हैं। इसी प्रकार इस पद में 'रघुकुल मंडन' आदि सोलह विशेषण बालचरितमय चन्द्रमा के कहे गये हैं। इनका क्रमशः मिलान किया जाता हैं—

चन्द्रमा में 'अमृत' कला के समान 'श्रीरामलला रघुकुल मंडन' हैं। वंश विना रघुकुल मृतक के समान हो रहा था। श्रीरामलला ने पुत्र रूप में अवतरित हो इस कुल को जिला लिया, यथा—"पूत सपूत कौसिला जायो अचल भयो कुल राज।" पद २)।

चन्द्रमा में 'मानदा' कला है, उसके समान इस चरित चन्द्र में 'दसरथ नंदन रामलला' हैं। जगत् के पिता ने श्रीदशरथजी को अपना पिता बनाकर इन्हें अत्यन्त सम्मान दिया है; यथा—"जिन्हहिं बिरचि बड़ भयेउ बिधाता। महिमा अवधि राम पितु माता॥" (मा० बा० १५); तथा—"बिधि हरि हर सुरपति दिसिनाथा। बरनहिं सब दसरथ गुन गाथा॥" (मा० अ० १७२)। यह अत्यन्त अधिक मान-दातृत्व है।

चन्द्रमा में 'तुष्टि' कला है, उसके समान इस चरित चन्द्र में 'मातु सुकृत फल रामलला' हैं; क्योंकि जैसे सुकृत के फल प्राप्त होने पर संतोष होता है, वैसे ही श्रीरामलला को पुत्र पाकर माताएँ सन्तुष्ट हुईं; यथा—'आनंद अवनि,

राजरानी सब माँगहु कोखि जुड़ानी। आसिस दै दै सराहहिं सादर उमा-रमा-ब्रह्मानी॥" (पद ४)।

चन्द्रमा में 'पुष्टि' कला है, उसके समान इस चरित चन्द्र में 'परिजन रंजन रामलला' हैं; क्योंकि श्रीरामलला ने परिजनों का पोषण कर उन्हें आनन्दित किया है; यथा—"कछुक काल बीते सब भाई। बड़े भए परिजन सुखदाई॥" (मा०बा० २०२); तथा—"परिजन सहित राय-रानिन्ह कियो मज्जन प्रेम प्रयाग। तुलसी फल ताको चारयो मनि मरकत पंकजराग (पद२९)।

चन्द्रमा में 'प्रीति' कला है, उसके समान चरित चन्द्र में 'पुरजन सुरमति रामलला' हैं; क्योंकि श्रीरामलला प्रीति से ही पुरजनों पर अधिक ममता रखते हैं, इसीसे चिन्तामणि के समान उनके सारे मनोरथ पूरे करते हैं; यथा—"प्रनवउँ पुर नर नारि बहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी॥" (मा० बा० १५); तथा—"जेहि बिधि सुखी होहिं पुरलोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा॥" (मा० बा० २०४)।

चन्द्रमा में 'रति' कला है, उसके समान चरित चन्द्र में 'सोभा सागर रामलला' हैं; क्योंकि बाल स्वरूप श्रीरामलला की शोभा में भी रमणोद्दीपन कारिणी कला है; यथा—"अवलोकि हौं सोच बिमोचन को ठगि सी रही, जे न ठगे धिग से॥" (क० बा० १)।

चन्द्रमा में 'लज्जा' कला है, वैसे ही चरित चन्द्र में 'सहज सोहावनो रामलला' हैं। स्वाभाविक सोहावने श्रीरामलला में लज्जादायिनी कला है; यथा—"भुजनि भुजग सरोज नयनन्हि, बदन बिधु जीत्यो लरनि। रहे कुहरनि सलिल नभ उपमा अपर दुरीं डरनि॥" (पद २७); अर्थात् श्रीरामलला के सभी अंग अपनी स्वाभाविक शोभा से उपमानों को लज्जित करनेवाले हैं; तथा—"लाजहिं तनु सोभा निरखि, कोटि-कोटि सत काम।" (मा० बा० १४६)।

चन्द्रमा में 'श्री' कला है, वैसे ही चरित चन्द्र में 'भगत कलपतरु रामलला' हैं, क्योंकि श्रीरामलला अपने कल्पवृक्ष स्वभाव से भक्तों के मनोरथ पूर्ण कर उन्हें श्री सम्पन्न कर देते हैं; यथा—"देव देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ॥ जाइ निकट पहिचानि तरु, छाँह समन सब सोच।

माँगत अभिमत पाव जग, राव रंक भल पोच ॥" (मा० अ० २६७)। तथा—"राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी॥" (मा० अ० २१८)।

चन्द्रमा में 'स्वधा' कला है, वैसे ही चरित्र चन्द्र में 'नाम कामधुक रामलला' हैं। स्वधा पितृगणतृप्तिजनिका कला है। अपनी संतान के नाम की बड़ाई पर पितृगण तृप्त होते हैं; यथा—"राम रूप गुन सील सुभाऊ। प्रमुदित होइ देखि सुनि राऊ॥"...“सकल सुकृत मूरति नर नाहू। राम सुजस सुनि अधिक उछाहू॥" (मा० अ० १); वैसे ही यहाँ श्रीरामजी के नाम की कल्पवृक्षरूपता पर उनके पितृगण को तृप्ति है।

चन्द्रमा में 'रात्रि' कला है, जैसे ही चरित चन्द्र में 'हैं जग मंगल रामलला' हैं। रात्रि लोक विश्रामदायिनी होती है; वैसे ही श्रीरामलला हैं; यथा—"सो सुख धाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥" (मा० बा० १९६); इसी में जगत् का मंगल होता है।

चन्द्रमा में 'ज्योत्स्ना' कला है, वैसे ही चरित चन्द्र में 'भुवन बिभूषन रामलला' हैं; यथा—"सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥" "सहज प्रकास रूप भगवाना।...पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि।" (मा० बा० ११५-११६); अर्थात् इनमें चन्द्र-किरणवत् प्रकाशकत्व है, प्रकाश से भूषणवत् शोभा होती है।

चन्द्रमा में 'हंसवति' कला है, वैसे ही चरितचंद्र में 'भव-भय-भंजन रामलला' हैं। हंस का सूर्य अर्थ है, सूर्य तम नाशक हैं। वैसे ही श्रीरामलला अज्ञान-तम नाशक हैं; यथा—"जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिय बिमोह प्रसंगा॥ राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥" (मा० बा० ११५); अज्ञान निवृत्ति से भव-भय नाश होता ही है। श्रीराम-जी हंसवंश अवतंस हैं भी; यथा—"राम कस न तुम्ह कहहु अस, हंसबंस अवतंस॥" (मा० अ० ९)।

चन्द्रमा में 'छाया' कला है, वैसे ही चरित चन्द्र में 'रिपु-गन-गंजन रामलला' हैं। छाया आश्रित के ताप का हरण करती है, वैसे ही श्रीरामलला आश्रितों के शत्रुओं का नाश कर आश्रितों के ताप का हरण करते हैं; यथा—

"सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप ताप माया। निसिवासर तेहि कर सरोज की चाहत तुलसीदास छाया ॥" (वि० १३८)।

चन्द्रमा में 'पूर्णी' कला है, वैसे ही चरितचन्द्र में 'अरि करि केहरि रामलला' हैं। श्रीरामजी ने रावण आदि शत्रुओं का नाश कर जगत् को सुख से पूर्ण कर दिया है; यथा—"दससुख-बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर नाग नर सुमुखि सनाहैं ॥" (उ० १३)। तथा—"जब रघुनाथ समर रिपु बीते। सुर नर मुनि सबके भय बीते ॥" (मा० अर० २०)।

चन्द्रमा में 'वामा' कला है। वैसे ही चरितचन्द्र में 'सुर सुख दायक रामलला' हैं। वामा का अर्थ स्त्री होता है। स्त्री से शारीरिक सुख होता है वैसे ही श्रीरामलला भी सुखदायक हैं। अथवा, वामा का अर्थ 'सुंदरी' होता है वह सुख दायक है, वैसे ही ये भी सुर-सुखदायक हैं।

चन्द्रमा में 'अमा' कला है, वैसे ही चरितचन्द्र में 'तुलसी के जीवन रामलला' हैं। चन्द्रमा की अमा कला परिमाण रहित है, वह ओषधियों की जीवन दात्री है, वैसे ही ये भी तुलसी के जीवनाधार हैं फिर तुलसी की जीवन वृत्ति से निष्पन्न कविताओं के द्वारा जगत् के जीवन भी हैं; यथा—"रघुबर बालकेलि संतन की सुभग सुभद सुरगैया। तुलसी दुहि पीवत सुख जीवन पय सप्रेम घनी घैया ॥" (पद २०); तथा पूर्वोक्त पद १८ भी देखिये।

श्रीवैजनाथजी की टीका में इस पद पर तीन रूपक है—उनमें दो की चर्चा ऊपर विशेष के प्रारंभ में की गई है और तदनुसार व्याख्या भी हुई है इनके अतिरिक्त तीसरा चन्द्रहार का भी रूपक उन्होंने बहुत इधर-उधर के पदों के साथ बाँधा है, वह वहीं पर देखिये।

अलङ्कार—इस सोलहवें चरण में रूपक है और सम्पूर्ण पद में 'साङ्ग रूपक' है।

राग कान्हरा

[२३]

पालने रघुपतिहि झुलावै।
लै लै नाम सप्रेम सरस स्वर कौसल्या कल कीरति गावै ॥१॥

केकि कंठदुति, स्याम बरन बपु, बाल-बिभूषन बिरचि बनाए।
अलकैं कुटिल, ललित लटकन भ्रू, नील नलिन दोउ नयन सुहाए ।।२।।
सिसु-सुभाय सोहत जब कर गहि बदन निकट पद पल्लव लाए ।
मनहुँ सुभग जुग भुजग जलज भरि लेत सुधा ससि सों सचुपाए ।।३।।
उपर अनूप बिलोकि खेलौना किलकत पुनि-पुनि पानि पसारत ।
मनहुँ उभय अंभोज अरुन सों बिधु-भय बिनय करत अति आरत ।।४।।
तुलसिदास बहु-बास-बिबस अलि गुंजत, सुछबि न जाति बखानी ।
मनहुँ सकल श्रुति रिचा मधुप ह्वै बिसद सुजस बरनत बरबानी ।।५।।

शब्दार्थ—सचु = आनन्द । श्रुतिरिचा (श्रुतिऋचा)=१ वेद मंत्र जो पद्य में हो, २—वेद मंत्र, कांडिका, ३ स्तोत्र ।

अर्थ—श्रीकौशल्याजी श्रीरघुनाथजी को पालने में झुला रही हैं और सरस स्वर से प्रेमपूर्वक उनके (लाड़-प्यार के) नाम ले-लेकर उनकी सुन्दर कीर्ति का गान करती हैं ॥ १ ॥ मयूर के कण्ठ की कान्ति के समान द्युतिमान् श्यामवर्ण श्रीरामजी का शरीर है, उस में रच-रचकर बालोचित भूषण बनाये गये हैं । अलकें टेढ़ी (घुघुराली) हैं, भौहों पर सुन्दर लटकन लटके हुए हैं और दोनों नेत्र नील कमल के समान शोभायमान् हैं ॥ २ ॥ जब बाल-स्वभाव से अपने कर कमलों से पल्लव के समान लाल एवं कोमल चरणों को पकड़ कर मुख कमल के समीप लाते हैं, तब ऐसा जान पड़ता है, मानो सुन्दर दो सर्प आनन्द में भर कर चन्द्रमा से कमलों में भर कर अमृत ले रहे हैं ॥ ३ ॥ ऊपर (पालने में) अनुपम खेलौना देख कर किलकते हुए बार-बार (उन्हें पकड़ने के उद्देश्य से) हाथ फैलाते हैं; मानों दो कमल चन्द्रमा से डर कर अत्यन्त आर्त हो सूर्य से प्रार्थना करते हैं (कि आप अस्त न हों) ॥ ४ ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि बहुत सुगंध के विशेष वश होकर भौंरे गुंजार कर रहे हैं. उस छवि का वर्णन नहीं किया जा सकता; ऐसा जान पड़ता है कि मानों वेद की सारी ऋचाएँ भ्रमर होकर, श्रेष्ठ वाणी से आप (भगवान्) के उज्ज्वल सुयश का वर्णन करती हैं ॥ ५ ॥

विशेष—'लै लै नाम सप्रेम···'—माता वात्सल्य प्रेम से लाड़-प्यार के नाम मधुर स्वर से मल्हा-मल्हा कर कहती हैं; यथा—"बछरू छबीले छौना छगन-

मगन मेरे, कहत मल्हाइ-मल्हाई ।" तथा—"ललन लोने लेरुआ बलि मैया। कहति मल्हाइ, लाइ उर छिन-छिन, छगन छबीले छोटे छैया ॥" (पद१९-२०)।

'कौसल्या कल कीरति गावै'; यथा—"जननी कहै बार-बार भोर भये प्यारे ।···बोलत खग निकर मुखर मधुर करि प्रतीत सुनहुँ श्रवन, प्रान जीवन धन, मेरे तुम बारे । मनहुँ बेद बंदी मुनि बृंद सूत मागधादि बिरुद बदत 'जय जय जयति कैटभारे' ॥३॥ बिकसित कमलावली, चले प्रपुंज चंचरीक गुंजत कल कोमल धुनि त्यागि कंज न्यारे । जनु बिराग पाइ सकल सोक-कूप गृह-बिहाइ भृत्य प्रेम मत्त फिरत गुनत गुन तिहारे ॥" (पद ३८)।

'केकि कंठ दुति'—मयूर के कण्ठ की आभा क्षण-क्षण पर नवीन देख जाती है, उसी प्रकार भगवान् की छबि भक्तों को क्षण-क्षण पर नवीन-सी दिखती है, इससे उनकी श्रद्धा उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है; यथा—"संकर सो मूरति उर राखी ।" (मा० बा० ७६), इसमें ध्वनित है कि पहले वाली ध्येय मूर्त्ति से इसमें विलक्षणता पाकर इसे ही हृदय में बसाया है ।

'बाल बिभूषन ···'—नूपुर, कड़ा, किंकिणी, पहुँची, बघनहा और कठुला आदि बाल-अवस्था के भूषण हैं, इन्हें माताओं ने यथायोग्य रीति से अंगों में रच-रच कर सजाया है ।

'अलकैं कुटिल'—छूटे हुए शिर के केश अलक कहाते हैं; यथा—"अलकाश्चूर्णकुन्तलाः ।" (अमर कोष); वे लटक कर टेढ़े होने पर अधिक सुहावने हो जाते हैं, उन्हें घुघुराले केश कहा जाता है; यथा—"चिक्कन कच कुंचित गभुआरे । बहु प्रकार रचि मातु सँवारे ॥" (मा० बा० १९८)।

'ललित लटकन भ्रू'; यथा—"गभुआरी अलकावली लसै, लटकन ललित ललाट ।" (पद २२)—इसका तिलक देखिये ।

'नील नलिन दोउ नयन सुहाए ।'; यथा—"लोयन नील सरोज से···" (पद २२)—इसका विशेष देखिये । इसमें 'रूपक अलङ्कार' है ।

'सिसु-सुभाय ···'—पदपल्लव को हाथ से पकड़कर मुख के पास लाना बच्चों का स्वभाव है; यथा—"चार्वङ्गुलिभ्यां पाणिभ्यामुन्नीय चरणाम्बुजम् । मुखे निधाय विप्रेन्द्रो धयन्तं वीक्ष्य विस्मितः ॥" (भाग० १२।९।२५); अर्थात् वह सुन्दर बालक (भगवान् बालमुकुन्द) सुन्दर अंगुलियुक्त दोनों हाथों से

कमल के समान कोमल चरण के अँगूठे को मुख में डाले हुए पी रहा है; यह देखकर वह ब्राह्मण विस्मित हुआ। इस पर आगे उत्प्रेक्षा करते हैं—

'मनहुँ सुभग जुग भुजग...'—यहाँ दोनों हाथों की बाहुएँ सर्प के समान, चरण कमल के समान, मुख चन्द्रमा के समान और मुख-छबि अमृत के समान हैं।

'उपर अनूप बिलोकि खेलौना...'—पालने में ऊपर पद्मराग मणि के विविध खेलौने लटकते हुए चमक रहे हैं, उन्हें अनुपम देखकर आनंदित हो किलकते हैं, उसे ग्रहण करने के लिये बार-बार कर पसारते हैं। उसपर ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं।

'मनहु उभय अंभोज अरुन सों...'—यहाँ खेलौने सूर्य के समान हैं; क्योंकि उदयकालीन अरुणसंज्ञक सूर्य के समान लाल हैं। दोनों हाथ कमल के समान हैं; (बाहुएँ कमलनाल और हथेली कमल पुष्प के समान हैं)। बार-बार पसारना आर्त भाव प्रकट करना है। मुख चन्द्रमा के समान है और किलकना बिनती करना है। मुख की ओर हाथ कर फिर खेलौनों की ओर करते हैं, यही मुख रूपी चन्द्र से डर कर सूर्य की ओर जा-जा कर प्रार्थना करने का भाव प्रकट करना है; क्योंकि चन्द्रमा के समक्ष रात में कमल सम्पुटित होता है। यदि सूर्य सामने रहें तो कमल खिला ही रहे।

'बहु बास बिबस...'—श्रीरामललाजी के श्रीअङ्गों में सौगंध (सुगंधता) गुण है। मुख, नेत्र, कर और चरण लाल कमल के समान तथा सर्वाङ्ग नील कमल के समान हैं। सर्वांग के सौगंध गुण पर मुग्ध होकर सुगंधित कमल जान कर भ्रमर गण गुंजार कर रहे हैं, उस सुन्दर छबि पर उत्प्रेक्षा करते हैं—

'मनहुँ सकल श्रुति रिचा...'—भ्रमर का गुंजार गीत-गान करने के समान है; वेद ऋचाएँ गा कर कही जाती हैं। वेद अपौरुषेय है, ईश्वर की वाणी है, अतएव 'वर वानी' है। ईश्वर के सभी सुयश श्रेष्ठ हैं, श्रीराम रूप के सुयश तो अत्यन्त उज्ज्वल हैं, इससे 'बिसद सुजस' कहा गया है।

अलङ्कार—उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा (चरण ३, ४, ५, में)।

राग बिलावल

[२४]

झूलत राम पालने सोहैं। भूरि-भाग जननी जन जोहैं ॥१॥

तन मृदु मंजुल मेचकताई। झलकति बाल-बिभूषन झाँई ॥२॥
अधर-पानि-पद लोहित लोने। सर-सिंगार-भव सारस सोने ॥३॥
किलकत निरखि बिलोल खेलौना। मनहुँ बिनोद लरत छबि छौना ॥४॥
रंजित-अंजन कंज बिलोचन। भ्राजत भाल तिलक गोरोचन ॥५॥
लसै मसि बिंदु बदन-बिधु नीको। चितवत चित चकोर तुलसी को ॥६॥

शब्दार्थ—सारस=कमल; यथा—"पङ्केरुहं तामरसं सारसं सरसीरुहम्।" (अमरकोष); सोने (सं० शोण)=लाल, अरुण। लोहित=लाल।

अर्थ—श्रीरामजी पालने में झूलते हुए शोभा पा रहे हैं, बड़ी भाग्यशालिनी माताएँ उन्हें देख रही हैं ॥१॥ श्रीरामजी के अत्यन्त कोमल शरीर की सुन्दर श्यामता सुशोभित है, उस पर बालोचित आभूषणों की परछाईं झलक रही है ॥ २ ॥ ओष्ठ, हाथ और चरण सुन्दर लाल हैं, मानों शृंगाररस रूपी सरोवर से उत्पन्न लाल कमल शोभायमान हो रहे हों ॥ ३ ॥ चञ्चल खेलौनों को देखकर स्वयं भी चञ्चल होकर किलकते हैं, मानों क्रीड़ा करते हुए छवि के छोटे-छोटे बालक लड़ते हों ॥४॥ कमल के समान नेत्रों में आँजन आँजा हुआ है और ललाट पर गोरोचन का तिलक सुशोभित हो रहा है ॥ ५ ॥ सुन्दर मुख चन्द्र पर डिठौना सुशोभित है, उस मुखचन्द्र को तुलसीदास का चित्त रूपी चकोर देख रहा है ॥ ६ ॥

विशेष—'भूरि भाग जननी ···'—माताएँ इन्हें देखने में अपने को परम भाग्यशालिनी मानती हैं; यथा—"अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी ॥" (मा० बा० २१०); "ते पद पखारत भाग्य-भाजन जनक जय-जय सब कहैं।" (मा० बा० ३२३)।

'अधर पानि पद लोहित···'—ओष्ठ का भीतरी भाग, तलवे और हथेलियाँ लाल कमल के समान हैं। शृंगाररस श्यामवर्ण का होता है, इससे श्याम शरीर ही सरोवर रूप कहा गया है। शरीर में ही ओष्ठ आदि हैं, जैसे सरोवर में कमल हों, इस उत्प्रेक्षा में 'जनु, मनु' आदि वाचक पद नहीं हैं, इससे गम्योत्प्रेक्षालंकार है।

'किलकत निरखि बिलोल···'—पालने में विविध खेलौने हैं, झूलने के समय वे चलायमान होने से चंचल रहते हैं, उन्हें देख आनन्द से स्वयं चंचल

हो किलकते हैं और हाथ पर हाथ एवं पाँव पर पाँव पटकते हैं, उसकी शोभा ऐसी जान पड़ती है मानों छबि के छोटे बालक क्रीड़ा करते हुए परस्पर लड़ रहे हों।

अलङ्कार—उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा।

'लसै मसिबिंदु ··'—मुखचन्द्र में डिठौना है, जैसे चन्द्रमा में मेचकता रहती है। अतः ठीक चन्द्र मान कर चित्त रूपी चकोर मुग्ध हो रहा है।

अलङ्कार—रूपक।

राग कल्याण

[२५]

राजत सिसुरूप राम सकल गुन निकाय धाम,
कौतुकी कृपालु ब्रह्म जानु-पानि-चारी।
नीलकंज, जलदपुंज - मरकतमनि - सदृस - स्याम,
कामकोटि सोभा अँग-अँग उपर वारी ॥१॥
हाटक-मनि-रत्न-खचित रचित इंद्र-मंदिराभ,
इंदिरानिवास सदन बिधि रच्यो सँवारी।
बिहरत नृप-अजिर अनुज सहित बालकेलि-कुसल,
नील-जलज-लोचन हरि मोचन भय भारी ॥२॥
अरुन चरन अंकुस-ध्वज-कंज-कुलिस-चिह्न रुचिर,
भ्राजत अति नूपुर बर मधुर मुखरकारी।
किंकिनी बिचित्र जाल, कंबु कंठ ललित माल,
उर बिसाल केहरि-नख, कंकन कर धारी ॥३॥

अर्थ—समस्त गुणसमूह के स्थान, कौतुकी, कृपालु। घुटनों और हाथों के बल पर चलनेवाले बालस्वरूप परब्रह्म श्रीरामजी सुशोभित हो रहे हैं। वे नील कमल, मेघसमूह तथा मरकतमणि के समान श्यामवर्ण हैं, उनके एक-एक अंग के ऊपर करोड़ों कामदेवों की शोभा न्योछावर है ॥ १ ॥ जो सोना, मणि और रत्न से जड़ा हुआ है तथा जिसे विधाता ने श्रीलक्ष्मीजी के निवास-भवन के सदृश सँवार कर बनाया है, उस इन्द्र के मन्दिर के समान प्रकाशित राजा के आँगन में नील कमल के समान नेत्रोंवाले, संसार के भारी भय को छुड़ानेवाले,

बालक्रीड़ा में कुशल हरि श्रीरामजी भाइयों के साथ विहार कर रहे हैं॥ २॥ उन श्रीरामजी के लाल चरणों में अंकुश, ध्वजा, कमल और वज्र के सुन्दर चिह्न एवं श्रेष्ठ मीठी ध्वनि करनेवाले नूपुर अत्यन्त शोभायमान हैं। वे कटिप्रदेश में अत्यन्त विचित्र किंकिणी जाल, शंख के समान त्रिरेखायुक्त सुडौल गर्दन में सुन्दर मालाएँ, विशाल वक्षःस्थल पर बघनहा तथा हाथ में कंकण धारण किये हुए हैं॥ ३॥

विशेष—'सकल गुन निकायधाम'; यथा—"राम काम सतकोट सुभग तन।" से "राम अमित गुन सागर, थाह कि पावइ कोइ।" (मा० उ० ९२) तक। तथा—"नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान्धृतिमान्वशी।" से "स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः।" (वाल्मी० १।१।८-१७) तक।

'कौतुकी कृपालु ब्रह्म...'—परब्रह्म हैं, फिर भी भक्तों पर कृपा करके 'जानु-पानि चारी' का कौतुक कर रहे ह कि वे इस क्रीड़ा का गान करके भवसागर पार हों; यथा—"सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं॥" (मा० बा० १२१)। "रघुबर बाल केलि संतन की सुभग सुभद सुरगैया। तुलसी दुहि पीवत सुख जीवत पय सप्रेम घनी घैया॥" (पद २०)।

'नील कंज जलदपुंज...'—नील कमल के समान कोमल और सुगंधयुक्त श्याम, मेघसमूह के समान गाम्भीर्य गुणयुक्त श्याम और मरकतमणि के समान चिक्कन एवं प्रकाशमान श्याम हैं, ऐसे शरीर के प्रति अंग के लावण्य पर कोटि काम निछावर हैं। यहाँ एक ही उपमेय के कई गुण कई उपमानों के द्वारा कहे गये हैं, इससे 'एक धर्मासाप्लोपमा अलङ्कार' तथा 'उल्लेख अलङ्कार का दूसरा' भेद भी है।

ऊपर ब्रह्म श्रीरामजी के चार विशेषण कहे गये थे, इससे यहाँ चार ही उपमाएँ भी दी गई हैं। 'कामकोटि सोभा...'—इसमें 'चतुर्थ प्रतीप अलंकार' है।

'हाटक मनि रत्न-खचित...'; यथा—"भूपति भवन सुभाय सुहावा। सुरपति सदन न परतर आवा॥ मनिमय रचित चारु चौवारे। जनु रतिपति निज हाथ सँवारे॥ सुचि सुविचित्र सुभोगमय; सुमन सुगंध सुवास।" (मा०

अ० ६०)। 'मनि-रत्न' का मणिश्रेष्ठ भी अर्थ है। यहाँ कान्ति में इन्द्र-सदन के समान और सपत्ति-पूर्णता में लक्ष्मी के सदन के समान सदन कहा गया है। अतः, 'वाचकलुप्तोपमा' है।

'हरि मोचन भय भारी।'—भारी भय संसार के जन्म-मरण का है, वह श्रीरामजी छुड़ा देते हैं; यथा—"श्रीरामचंद्र कृपालु भजु मन हरण भव-भय दारुनम्।" (वि० ४५) इसी से 'हरि' कहा गया है आश्रित के क्लेश हरण करने से भगवान् हरि कहाते हैं। 'नील जलज लोचन' के साथ 'हरि...' कहा गया है। भाव यह कि करुणा दृष्टि से देख कर कृपा कर आश्रित के भय का हरण करते हैं। यहाँ 'रूपकालंकार' है।

'अरुन चरन अंकुस-ध्वज...'—यद्यपि चरण में २४ चिह्न हैं; तथापि उनमें ये चार प्रधान हैं; यथा—"अंकुस-कुलिस-कमल-धुज सुंदर भँवर तरंग-बिलासा॥" (उ० १५); "चारु-चरन-तल-चिह्न चारि फल चारि देत परचारि जानि जन।" (उ० १६)। 'जाल'=समूह। 'कंबु कंठ'; यथा—"रेखात्रयान्विता ग्रीवा कंबुग्रीवेति कथ्यते।" ऐसे कण्ठ में मालाएँ शोभित हैं। इसमें 'रूपकालंकार' है।

चारु चिबुक नासिका कपोल, भाल तिलक, भृकुटि,
श्रवन अधर सुंदर द्विज छवि अनूप न्यारी।
मनहुँ अरुन कंज-कोस मंजुल जुग-पाँति प्रसव,
कुंदकली जुगल-जुगल परम सुभ्र वारी॥४॥
चिक्कन चिकुरावली मनो षडंघ्रि-मंडली,
बनी बिसेषि, गुंजत जनु बालक किलकारी।
एक टक प्रतिबिंब निरखि पुलकत हरि हरषि-हरषि,
लै उछंग जननी रसभंग जिय बिचारी॥५॥
जाकहँ सनकादि संभु नारदादि सुक मुनींद्र,
करत बिबिध जोग काम क्रोध लोभ जारी।
दसरथ गृह सोइ उदार भंजन संसार भार,
लीला अवतार तुलसिदास त्रासहारी॥६॥

अर्थ—श्रीरामलला की ठोढ़ी, नासिका, कपोल, ललाट पर तिलक, भौंहें

और श्रवण सुन्दर हैं तथा ओष्ठों के बीच में सुन्दर दाँतों की छवि उपमा रहित निराली है; मानो लाल कमल के कोश (फूल के बीच) में सुन्दर दो पंक्ति उत्पन्न हैं, उनमें अत्यन्त शुभ्रवर्ण कुन्दकलियों की दो-दो पंक्तियाँ हैं ॥ ४ ॥ उनकी चिकनी केशों की पंक्ति मानों भ्रमरों की मण्डली अत्यन्त सुशोभित है और बाल अवस्था की किलकारी उन भ्रमरों की गुञ्जार है । हरि श्रीरामलला एकटक अपना प्रतिबिंब देखने लगते हैं और हर्ष-हर्ष कर पुलकित होते हैं, यह देख माता हृदय में रसभंग (की आशंका) विचार कर गोद में उठा लेती हैं ॥ ५ ॥ जिसके (प्राप्त करने के) लिये सनकादि, शिव एवं नारदादि तथा मुनीश्वर शुकदेवजी आदि काम, क्रोध और लोभ जलाकर भाँति-भाँति के योग करते हैं । उन्हीं परम उदार, संसार भार हारी तथा तुलसीदास के भय के हरण करनेवाले प्रभु श्रीरामजी ने श्रीदशरथ महाराज के घरमें लीला करने के लिये अवतार धारण किया है ॥ ६ ॥

विशेष—'मनहुँ अरुन कंज कोस…',—यहाँ लाल कमल का कोश मुख है, उसके भीतर की दाँतों की दाढ़ें (दंत-स्थान) दो-दो पंक्तियाँ हैं, उनमें नीचे और ऊपर की दो-दो छोटे-छोटे दाँतों की पंक्तियाँ दो-दो कुन्द की कलियाँ हैं।

'चिक्कन चिकुरावली…'—यहाँ चिकने केशों की पँक्तियाँ मानों भ्रमर पंक्तियाँ हैं। बालक स्वभाव की किलकारी मानों उन भ्रमरों की विशेष गुंजार है।

'एकटक प्रतिबिंब निरखि…'—यद्यपि हरि हर्ष से ही पुलकते हैं तथापि माताएँ हृदय में रसभंग की आशंका विचार कर गोद में ले लेती हैं कि कहीं डर न जायँ । अथवा, माताएँ डर कर पुलकना विचार कर तुरत गोद में ले लेती हैं कि वह प्रतिबिंब इनकी दृष्टि में न रह जाय ।

'जाकहँ सनकादि…'—यहाँ ऐश्वर्य का परिचय देकर इस माधुर्य लीला का महात्त्व प्रकट करते हैं । 'सोइ उदार'—दशरथ गृह में प्रकट होकर अपने वात्सल्य का सुख उन्हें दे रहे हैं। राजा दशरथ के परिवार पुरजन एवं मंत्री आदि को परम आनन्द दे रहे हैं, यह उदारता है । संसार-भार हरण करने में एवं इस चरित के मनन से तुलसीदास-त्रास हरण में प्रभु की उदारता ही हेतु है ।

अलङ्कार—उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा (४,५ चरण में) ।

राग कान्हरा

[२६]

आँगन फिरत घुटुरुवनि धाए।
नील जलद तनु स्याम राम-सिसु जननि निरखि मुख निकट बुलाए ॥१॥
बंधुक सुमन अरुन पद पंकज अंकुस प्रमुख चिह्न बनि आए।
नूपुर जनु मुनिवर-कलहंसनि रचे नीड दै बाँह बसाए ॥२॥
कटि मेखल, बर हार ग्रीव दर, रुचिर बाहु-भूषन पहिराए।
उर श्रीवत्स मनोहर हरिनख हेम मध्य मनिगन बहु लाए ॥३॥
सुभग चिबुक द्विज अधर नासिका श्रवन कपोल मोहिं अति भाए।
भ्रू सुंदर, करुना रस पूरन लोचन मनहुँ जुगल जलजाए ॥४॥
भाल बिसाल ललित लटकनवर बाल दसा के चिकुर सोहाए।
मानो दोउ गुरु सनि कुज आगे करि ससिहि मिलन तमके गन आए॥५॥
उपमा एक अभूत भई तब जब जननी पट पीत ओढाए।
नील जलद पर उडुगन निरखत तजि सुभाव मनो तड़ित छपाए ॥६॥
अंग-अंग पर मार निकर मिलि छबि समूह लै लै जनु छाए।
तुलसिदास रघुनाथ रूप गुन तौ कहौं जौ बिधि होहिं बनाए ॥७॥

अर्थ—(शिशु श्रीरामजी) आँगन में घुटनों के बल दौड़-फिर रहे हैं। नील मेघ के समान श्याम शरीर शिशु श्रीरामलला का मुख देखकर माता ने अपने समीप बुलाया ॥१॥ दुपहरिया के फूल के समान श्रीरामजी के चरण कमलों में अंकुश आदि चिह्न सुशोभित हैं। उन चरणों में जो नूपुरों की ध्वनि होती है, वह मानों मुनिश्रेष्ठ रूपी कलहंसों की ध्वनि है, जिन्हें प्रभु ने अपने बाँहबल का भरोसा देकर नूपुर रूपी घोसलों को रचकर उनमें बसाया है ॥२॥ श्रीरामलला के कटि प्रदेश में मेखला शङ्ख-सरीखे सुडौल गर्दन में सुन्दर हार और सुन्दर बाहुओं में भूषण पहनाये गये हैं। वक्षः-स्थल में मनोहर श्रीवत्स चिह्न तथा सुवर्ण के मध्य में बघनहा है, उसमें बहुत से मणिगण जड़े हुए हैं ॥३॥ श्रीरामलला की सुन्दर ठोढ़ी, दाँत, ओष्ठ, नासिका, कान और कपोल मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। मनोहर भौंहें हैं और करुणारसपूर्ण नेत्र मानों दो कमल फूल हैं ॥४॥ विशाल (ऊँचे और चौड़े) ललाट पर, सुन्दर श्रेष्ठ लटकन लटक

हुआ है और बालअवस्था के शोभायमान केश समूह हैं। ये ऐसे जान पड़ते हैं मानो दोनों गुरु (बृहस्पति और शुक्र) शनि और मङ्गल को आगे कर अन्धकार के गण चन्द्रमा से मिलने आये हैं ॥५॥ (उस पर भी) जब माता ने पीताम्बर ओढ़ा दिया, तब एक अद्भुत उपमा हो गई, मानों नील मेघ पर तारागण को देदीप्यमान देखकर अपना चञ्चल स्वभाव छोड़कर बिजली ने उन्हें छिपा लिया हो ॥६॥ श्रीरामलला के अंग-अंग पर मानो कामदेव समूह मिलकर अपने छबिपुञ्ज को ले-लेकर छाये हुए हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरघुनाथजी के रूप और गुण यदि ब्रह्माजी के बनाये हुए हों तो कहे जा सकें (परन्तु ये तो स्वयं प्रकट हुए हैं, इच्छामय रूप एवं अप्रमेय दिव्य गुण वाले हैं)।

विशेष—'घुटुरुवनि'—जानु-पाणि की चाल बकैयाँ; बच्चों का घुटनों के बल चलना। 'नील जलद तनु स्याम राम सिसु'—यहाँ 'वाचकलुप्तोपमालङ्कार' है।

'बंधुक सुमन अरुन…'—अङ्कुश आदि चिह्न; दाहिने चरण में—ऊर्ध्व रेख, स्वस्तिक, अष्टकोण, श्री, हल, मूसल, सर्प, बाण, पट, अष्टदल कमल, रथ, बज्र, जव, कल्पवृक्ष, अंकुश, ध्वजा, मुकुट, चक्र, सिंहासन, मृत्युदंड, चँवर, छत्र, पुरुषचिह्न और जयमाला।

बायें चरण में—सरयू, गोपद, पृथिवी, कलश, पताका, जम्बूफल, अर्द्धचन्द्र, शङ्ख, षटकोण, त्रिकोन, गदा, जीव, विन्दु, शक्ति, अमृतकुंड, त्रिबली, मछली, पूर्णचन्द्रमा, वीणा, बंसी, धनुष, तर्कश, हंस और चन्द्रिका।

प्रमाण; यथा—"रेखोर्ध्वावर्तते मध्ये दक्षिणस्यांघ्रिपङ्कजे। पार्श्वयोः स्वस्तिकं ज्ञेयमष्टकोणस्तथैव च ॥१॥ श्रियं हलं च मुशलं सर्पोबाणाम्बरे तथा। पद्ममष्ट दलं चैव स्यन्दनं बज्रमुच्यते ॥२॥ यवोङ्गुष्ठे तथाप्येतारेखोर्द्धावामतः स्थिता। रेखोर्द्धादक्षिणे चैव स्वस्तिकाधोऽजपादपः ॥३॥ अङ्कुशं ध्वजं चैव मुकुटं चक्रमेव च। सिंहासनं मृत्युदण्डं चामरं छत्रमुद्यतम् ॥४॥ नृचिह्नं जयमालेमे चतुर्विंशति लक्षणाः। क्रमेणैव प्रवर्तन्ते श्रीरामस्यांघ्रिदक्षिणे ॥५॥ ऊर्ध्वरेखा यथा सव्ये पसव्ये सरयूस्तथा। गोष्पदं पादमूले च तदधः सागरांबरा ॥६॥ कुम्भं चैव पताकां च जम्बूफलमथोद्यतम्। अर्द्धचन्द्रोदरश्चैव षट्कोणं च त्रिकोणकम् ॥७॥

गोपदाधस्तथा शक्तिः सुधाकुण्डमथोद्यतम् । त्रिबली कामपत्रं च पूर्णः सिंधुसुतस्तथा ॥९॥ वीणा वंसी धनुस्तूणो मरालचन्द्रिकेति च । चतुर्विंशति रामस्य चरणे वामके स्थिता ॥१०॥ तानि सर्वाणि रामस्य पादे तिष्ठंति वामके । यानि चिह्नानि जानक्या दक्षिणे चरणे स्थिता ॥११॥ यानि चिह्नानि रामस्य चरणे दक्षिणे स्थिता । तानि सर्वाणि जानक्याः पादे तिष्ठंति वामके ॥१२॥" (महारामायण)—महारामायण में इसके साथ इन रेखाओं के रंग आदि की भी व्याख्या है । श्रीहरिहर प्रसाद की टीका में वे श्लोक भी उद्धृत हैं ।

श्रीगोस्वामीजी ने यहाँ अंकुश की प्रमुखता में सबको सूचित कर दिया है ।

'नूपर जनु…'—यहाँ नुपुर खोता हैं, नूपुर की खोल के भीतर बाजने वाले दाने मुनिश्रेष्ठ रूपी कलहंस हैं । ध्वनि उनका कीर्तिगान है । 'दै बाँह'—शास्त्रों के द्वारा इन मुनिश्रेष्ठों को आपने भरोसा दे रक्खा है कि मेरे चरण-शरण आने पर मैं सब भयों से रक्षा करता हूँ । यथा—"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥" (वाल्मी० ६।१८।३३); अर्थात् श्रीरामजी ने तीर्थपति समुद्र के तट पर असंख्य वानर भक्तों के मध्य में प्रतिज्ञापूर्वक कहा है कि जो मेरी शरण में आकर एक बार ही 'मैं आपका हूँ' इस प्रकार (आत्म समर्पण) की याचना करता है, उसे सभी प्राणियों से एवं उस प्रकार के सभी प्राणियों के लिये मैं अभय देता हूँ, यह मेरा व्रत है । इस प्रतिज्ञा पर निर्भर होकर भक्त मुनिश्रेष्ठ इन चरणों में आकर बसे हुए हैं । 'रचे'—आश्रित रक्षणार्थ नीड रचा है; अर्थात् आश्रितों की सब ओर से रक्षा करते हैं ।

अलंकार—'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' तथा 'बंधुक सुमन…' इसमें 'वाचक लुप्तोपमा' भी है ।

'उर श्रीवत्स'; यथा—"पीतं प्रदक्षिणावर्तं विचित्रं रोमराजिकम् । विष्णोर्वक्षसि यद्दीप्तं श्रीवत्सं तत्प्रकीर्तितम् ॥" (टीका-हरिहर प्रसाद); अर्थात् भगवान् के वक्षःस्थल पर पीत वर्ण के विचित्र रोमों की पंक्ति दाहिनावर्त प्रकाशित है, उसे श्रीवत्स कहते हैं ।

'करुनारसपूरन लोचन मनहुँ…'—जल से उत्पन्न कमल दल पर जल की बूँदें पड़ते ही गिर पड़ती हैं, वैसे ही आपके नेत्र करुणारस से पूर्ण हैं,

उससे करुणा के आँसू गिरते हैं; यथा—"सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आये जल राजिव नयना ॥" (मा० सुं० ३१); "वारिज लोचन मोचत वारी ।" (मा० अ० ३१६)।

'भाल बिसाल···मानो दोउ गुरु···'—विशाल ललाट पर लटकन लटकती है, वह सोने के तार में गुही विविध रंग की मणियों की सुशोभित है। उस पर उत्प्रेक्षा करते हैं कि ललाट पर बाल-अवस्था के केश छिटके हुए हैं, उन्हीं के साथ लटकन भी सुशोभित है। लटकन में पोखराज, हीरा, नीलम और माणिक गुहे हुए हैं, वे ऐसे जान पड़ते हैं कि ये क्रमशः बृहस्पति, शुक्र, शनि और मंगल हैं, केश बिखरे हुए तम के गण हैं। मुख रूपी चन्द्रमा से मिलने आए हैं। तम का चन्द्रमा से वैर रहता है। चन्द्रमा के उदय पर तम का नाश होता है, इस लिये तम के गण चन्द्रमा के पूज्य वर्ग बृहस्पति आदि को आगे कर इनकी ओर से मिलाप करने आये हैं। बृहस्पति चन्द्रमा के गुरु हैं, दैत्यगुरु शुक्र चन्द्रमा के उपकारी एवं पूज्य हैं; क्योंकि जब गुरुपत्नी से चन्द्रमा ने कुचाल की थी, उस समय दैत्य एवं उनके गुरु शुक्र ने झगड़े में चन्द्रमा की सहायता की थी—भाग० ९।१४ में कथा है। शनि ग्रहपति सूर्य के पुत्र हैं, सूर्य चन्द्रमा के सहायक एवं मित्र हैं, और पूज्य हैं तथा मंगल मित्र हैं। इन सबके संकोच से चन्द्रमा हम सबसे मेल कर लें यह उद्देश्य तम के गणों का है।

'उपमा एक अभूत भई····नील जलद पर···'—माता ने शिशु श्रीराम के श्याम शरीर में नाना आभूषण पहनाये हैं, वे श्याम मेघ पर तारागण के समान जगमगा रहे हैं। उनके ऊपर माता ने पीताम्बर ओढ़ा दिया, तब ऐसी अभूत उपमा बन गई कि मानों पितांवर रूपी बिजली ने अपना चंचल-स्वभाव त्याग कर उन मेघ और नारायण को छिपा लिया हो, ऐसी घटना होती नहीं कवि की कल्पना मात्र है, इस लिये इसे अभूत एवं अद्भुत उपमा कहा है। इस उपमा में अद्भुत बात यह है कि मेघ होने से तारागण छिप जाते हैं, पर यहाँ मेघ के ऊपर तारागण जगमगा रहे हैं, यह देख कर बिजली ने भी वैसी ही धृष्टता की है कि इसने मेघ और तारागण को भी छिपा रक्खा है और स्थिरता धारण कर ली है।

'अंग-अंग पर मार निकर…'—प्रत्येक अंग पर समूह काम से कहीं अधिक छबि है; यथा—"अंग-अंग पर बारियहि, कोटि-कोटि सत काम ॥" (मा० बा० २२०)। इसी पर उत्प्रेक्षा करते हैं कि एक-एक अंग पर मानों अनेक काम छबि समूह ले लेकर आ बसे हैं। इससे प्राकृत सृष्टि में इनकी सुन्दरता के लिये उपमा नहीं है।

'तुलसिदास रघुनाथ रूप गुन…'—इस अंतिम चरण में ग्रन्थकार ने ऊपर के सन्देह का निराकरण कर दिया कि ब्रह्मा के बनाये हुए नहीं हैं; यथा—"एक कहहिं ये सहज सुहाए। आपु प्रगट भये बिधि न बनाए ॥ जहँ लगि बेद कही बिधि करनी। श्रवन नयन मन गोचर बरनी ॥ देखहु खोजि भुवन दस चारी। कहँ अस पुरुष कहाँ असि नारी ॥" (मा० अ० ११६)। श्रीरामजी का दिव्य विग्रह उनकी इच्छामय है; यथा—"इच्छामय नर वेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे ॥" (मा० बा० १५१)। तथा—"निज इच्छा निर्मित तनु, माया गुन गो पार।" (मा० बा० १९२)। देही-देह विभाग नहीं है। तथा—"समस्त कल्याण गुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशावृतभूतवर्गः। इच्छा-ग्रहीताभिमतोरुदेहस्संसाधिताशेषजगद्धितो यः ॥" (वि० पु० ६।५।८४)।

यह पद सूर सागर के पद से मिलता है। सूर के पद का अन्तिम चरण इस प्रकार है—

"सूरदास सो क्यों करि बरनै जो छबि निगम नेति करि गाए।"

शेष ज्यों का त्यों है।

इस पर कहा जाता है कि श्रीगोस्वामीजी ने सूरदासजी के इन पदों को लिख लिया था। पीछे इन्हें प्रिय जान इनके किसी शिष्य ने उचित परिवर्तन के साथ इनके पदों में मिला दिया है। अथवा, श्रीगोस्वामीजी के ही पद को श्रीसूरजी ने ले रक्खा हो, पीछे उन्हें प्रिय जान उनके शिष्यों ने उचित परिवर्त्तन कर उनके पदों में मिला दिया हो।

इसी प्रकार आगे के पद २७ और ३१ भी मिलते हैं, उनका भी यही समाधान है।

अलङ्कार—उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा (२,४,५,६, और ७ वें चरणों में)।

राग केदारा

[२७]

रघुबर बालछबि कहौं बरनि ।
सकल सुख की सींव, कोटि मनोज सोभा हरनि ॥१॥
बसी मानहुँ चरनकमलनि अरुनता तजि तरनि ।
रुचिर नूपुर किंकिनी मनहरति रुनझुनु करनि ॥२॥
मंजु मेचक मृदुल तनु अनुहरति भूषन भरनि ।
जनु सुभग सिंगार सिसु तरु फर्‌यो है अद्भुत फरनि ॥३॥
भुजनि भुजग सरोज नयननि, बदन बिधु जित्यो लरनि ।
रहे कुहरनि सलिल नभ उपमा अपर दुरि डरनि ॥४॥
लसत कर-प्रतिबिंब मनि आँगन घुटुरुवनि चरनि ।
जनु जलज-संपुट सुछबि भरि-भरि धरति उर धरनि ॥५॥
पुन्यफल अनुभवति सुतहि बिलोकि दसरथ घरनि ।
बसति तुलसी-हृदय प्रभु-किलकनि ललित लरखरनि ॥६॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी की बाल-छबि का वर्णन करके कहता हूँ । वह छ समस्त सुखों की पराकाष्ठा है और करोड़ों कामदेवों की शोभा का हरण करनेवा है ॥ १ ॥ मानो सूर्य का परित्याग कर अरुणता इन चरण कमलों में आ बसी है । उनके सुंदर नूपुर और किंकिणी का रुनझुन शब्द करना मन हर लेता है ॥ २ ॥ मनोहर कोमल श्याम शरीर पर अनुरूप भूषणों की परि सजावट ऐसी जान पड़ती है मानों सुन्दर शृङ्गाररस का छोटा वृक्ष अद्‌ फलों से फला हुआ है ॥ ३ ॥ भुजाओं ने सापों को, नेत्रों ने कमल को औ मुख ने चन्द्रमा को उपमा रूपी युद्ध में जीत लिया है; इसी से वे क्रमश बिल, जल और आकाश में जा कर रहने लगे हैं । और उपमायें डर के म छिप रहीं (कि हमारी भी वैसी दुर्दशा न हो) ॥ ४ ॥ मणिमय आँगन घुटनों के बल चलने में छोटे-छोटे हाथों का प्रतिबिंब ऐसा सोहता है, मान पृथिवी उस छबिको कमल के सम्पुट में भर-भर कर अपने हृदय में रख जाती है ॥५॥ पुत्र को देखकर राजा दशरथ की गृहलक्ष्मी श्रीकौशल्याजी अप पुण्यफल का अनुभव करती हैं, उस समय का प्रभु का किलकना औ

मनोहर लड़खड़ाना श्रीकौशल्याजी के एवं श्रीतुलसीदास के हृदय में निवास करता है ॥ ६ ॥

विशेष--'सकल सुख की सींव'; यथा—"जा सुख की लालसा लटू सिव, सुक-सनकादि उदासी। तुलसी तेहि सुखसिंधु कौसिला मगन प्रेम पियासी ॥" (पद ८);"बालचरित अति सरल सुहाए। सारद सेष संभु श्रुति गाए ॥ जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिं राता। ते जन बंचित किये बिधाता ॥" (मा० बा० २०३)। "जो सुख सिंधु सकृत सीकर ते सिव-बिरंचि प्रभुताई। सोइ सुख अवध उमँगि रह्यो दस दिसि कौन जतन कहौं गाई ॥" (पद १)।

'कोटि मनोज सोभा हरनि'; यथा—"काम कोटि सोभा अँग अँग उपर वारी ॥" (पद २५); करोड़ों कामदेवों की शोभा इनकी शोभा के समक्ष फीकी पड़ती है, यही कामदेवों की शोभा का हरण करना है।

यहाँ 'चतुर्थ प्रतीप अलङ्कार' है।

'बसी मानहुँ...'—अरुणता ने इन चरण कमलों को सूर्य से कहीं अधिक महत्त्वशाली मानकर इनमें आकर निवास किया है; तात्पर्य यह कि इनकी अरुणता के समक्ष सूर्य के अरुणोदयकाल की अरुणता फीकी पड़ जाती है।

यहाँ 'तृतीय-प्रतीप से पुष्ट उत्प्रेक्षा' है।

'जनु सुभग सिंगार सिसु तरु...'- शृंगाररस परम सुन्दर एवं श्याम वर्ण का है-पद २२ के 'जनु बिधु मुख छबि अमिअ को...' इसका प्रसंग देखिये। श्रीरामजी परम सुन्दर एवं श्यामवर्ण हैं और शिशु हैं, इसलिये शृंगार के शिशुतरु की उपमा दी गई है। शिशु तरु फलता नहीं, यह फला है, वह भी रंग-विरंग के मणिमय भूषण रूप फल फला है, यही इसमें आश्चर्यरूपता है रंग-विरंग की मणियों से जड़े भूषण हैं, वे ही अद्भुत फल हैं। 'अनुहरति-भूषन-भरनि'—श्यामशरीर में 'जिस रंग के भूषण फबते हैं; वैसे ही सर्वाङ्ग में परिपूर्ण हैं।

यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

'भुजनि भुजग...'—भुजाओं ने अपने उपमान रूप साँपों को लरनि (साहश्य—लड़ लगने) में जीत लिया है, इसी से साँपों ने लज्जित होकर बिलों में निवास किया है, लजाया हुआ व्यक्ति सबके समक्ष मुहँ नहीं दिखाता,

इससे छिप जाता है। नेत्रों ने अपने उपमान कमल को जीत लिया, इससे वह लजा कर जलमें रहने लगा। प्रायः लजाये हुए व्यक्तियों को कहा जाता है– 'चिल्लू भर पानी में डूब मरो, कौन मुँह दिखाओगे।' वही दशा कमल की हुई। मुख ने चन्द्रमा को जीत लिया, वह बेचारा लजा कर परम शून्य स्थान आकाश में चला गया। प्रायः लजाये हुए व्यक्ति ऐसी जगह चले जाते हैं, जहाँ कोई न हो; क्योंकि किसी के पास कैसे मुहँ दिखायें ?।

जब तीनों लोकों की इन बड़ी-बड़ी उपमाओं की यह दशा हुई, तब और सभी उपमाएँ डर के मारे भग कर छिप रहीं कि हमारी भी वैसी ही दुर्दशा न हो। इससे कवि की दृष्टि में सभी उपमाओं का अभाव हो गया, उसके हृदय का भाव ही रह गया। चन्द्रमा आकाश का, कमल जल का और सर्प भूमि बिल का रहनेवाला है। तीनों क्रमशः स्वर्ग, पाताल एवं भू लोक के उपलक्षक हैं।

अलंकार—तृतीय प्रतीप।

'लसत कर प्रतिबिंब''जनु जलज'''—मणिमय अँगनाई में घुटनों के बल चलने में जो छोटी-छोटी हथेलियों का प्रतिबिंब पड़ता है और फिर हाथ उठा कर आगे चलने में वह प्रतिबिंब मिटता जाता है, उसी शोभा पर उत्प्रेक्षा करते हैं। हाथों के प्रतिबिंब कमल के सम्पुट के समान हैं और चलने में परछाईं का मिटना पृथिवी का उर में रखना है। 'सुछबि' रत्न आदि के समान हैं। रत्न सम्पुट में रक्खे जाते ही हैं।

अलंकार— उक्तविषयावतूत्प्रेक्षा।

'पुन्य फल अनुभवति···'; यथा—"मातु सुकृतफल रामलला।" (पद २०)-इसका विशेष देखिये। तथा—"सुकृत-सुमन तिल-मोद बासि विधि जतन-जंत्र भरि घानी। सुख सनेह सब दियो दसरथहि खरि खलेल थिर थानी॥" (पद ४); एवं—"परिजन सहित राय रानिन्ह कियो मज्जन प्रेम प्रयाग। तुलसी फल ताके चारयो मनि मरकत पंकज राग।" (पद २६)।

'बसति तुलसी हृदय'''—यहाँ यदि कवि का वाचक 'तुलसी' पद को पृथक् करके अर्थ करें तो कौशल्याजी के हृदय में प्रभु की किलकनि आदि के बसने का अर्थ होगा; अन्यथा तुलसीदासजी के हृदय में बसना समझा जायगा।

'प्रभु' पद ऐश्वर्य परक है, इतने बड़े ऐश्वर्यवाले भी सुकृती भक्तों के वश होकर ऐसी परम माधुर्य की लीला कर रहे हैं, यह आपकी भक्त-वत्सलता है।

यह पद भी सूरसागर के पद से मिलता है, कुछ शब्दों के ही परिवर्त्तन हैं, भाव एक हैं। समाधान ऊपर पद में देखिये।

[२८]

नेकु बिलोकि धौं रघुबरनि।
चारि फल त्रिपुरारि तोको दिये कर नृप-घरनि ॥१॥
बालभूषन बसन, तनु सुंदर रुचिर रजभरनि।
परस्पर खेलनि, अजिर उठि चलनि, गिरि-गिरि परनि ॥२॥
झुकनि, झाँकनि, छाँह सों किलकनि, नटनि, हठि लरनि।
तोतरी बोलनि, बिलोकनि मोहनी मनहरनि ॥३॥
सखि-बचन सुनि कौसिला लखि सुढर पासे ढरनि।
लेति भरि-भरि अंक सैंतति पैंत जनु दुहुँ करनि ॥४॥
चरित निरखत बिबुध तुलसी ओट दै जलधरनि।
चहत सुर सुरपति भयो सुरपति भयो चहै तरनि ॥५॥

शब्दार्थ—सैंतति = संचय एवं रक्षा करती हैं, समेटती हैं। पैंत = दाँव पर रक्खा हुआ द्रव्य। पासा=चौसर का खेल, मुहा०—पासा पड़ना = भाग्य अनुकूलता।

अर्थ—[श्रीकौशल्याजी की दृष्टि अन्य ओर देख कर कोई सखी कहती है—] अरी राजरानीजी ! आप थोड़ा इन रघुकुल रत्न चारो बालकों को देखें तो ! मानों आपको श्रीशिवजी ने चारो फल (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) हाथ में दे दिये हैं (आप इनकी प्राप्ति के सुख का अनुभव करें) ॥ १ ॥ आप इनके बाल अवस्था के भूषण और वस्त्र, सुन्दर शरीर में सुन्दर धूलिपूर्णता (धूलि धूसरता), इन चारों बालकों की आपस की खेलकूद, आँगन में उठ कर चलना एवं फिर गिर-गिरि पड़ना, झुकना, झाँकना, परछाईं देखकर उससे आनन्दित हो किलकना, नाचना, हठपूर्वक लड़ना, तोतली वाणी बोलना और मन हरण करनेवाली इनकी मोहनी चितवन तो देखें ॥ २-३ ॥ सखी के इन वचनों को सुनकर श्रीकौशल्याजी अपना परम सौभाग्य देख कर अपने पुत्रों को

इस प्रकार दोनों हाथों से अपनी ओर आकर्षित कर उठा-उठा अंक में लगा लेती हैं, जिस प्रकार चौसर खेलनेवाला उत्तम रीति से जीते हुए अपने पांसे पर रक्खे हुए द्रव्य को दोनों हाथों से समेटता है ॥ ४ ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इस (मनोहर) चरित को देव गण मेघों की ओट में खड़े होकर देख रहे हैं। (इस चरित को विशेष रूप में देखने के लिये) देव गण तो (सहस्राक्ष) इन्द्र होना चाहते हैं और स्वयं इन्द्र (विश्व भर की आँखों से देखने के लिये एवं अनन्त किरण रूपी नेत्रों से देखने के लिये) सूर्य होना चाहते हैं ॥ ५ ॥

विशेष—'चारि फल'; यथा—"उपमा कहे चारिफल की मोहिं भलो न कहै कवि कोइ।" (पद २); तथा—"भरत लखन रिपुदवनहूँ धरे नाम बिचारी। फलदायक फल चारि के दसरथ सुत चारी॥" (पद ६)-इत्यादि प्रसंग भी देखिये। त्रिपुरारि का देना कहा विधाता का नहीं; क्योंकि विधाता का बिधान तो कार्मानुसार हुआ करता है और इन फलों के योग्य कर्म किसी का हो नहीं सकता। अतः अवढर दानी शिवजी के देने का कथन है। कहा भी है; यथा—"जाचिए गिरिजापति कासी। जासु भवन अनिमादिक दासी। औढरदानि द्रवत पुनि थोरे। सकत न देखि दीन कर जोरे॥" (वि० ६) 'नृप घरनि'-आप राजरानी हैं। अतः, बड़े-बड़े फलों का ग्रहण करने में प्रवीण हैं। इस समय न चूकें। शिवजी ने उदारता से इन फलों को आपके ही हाथ में रख दिया है; अर्थात् शिशु आपके ही हाथ में हैं।

अलंकार—गम्योत्प्रेक्षा।

'तनु सुंदर रुचिर रजभरनि'; यथा—"धूसर धूरि भरे तनु आए। भूपति बिहँसि गोद बैठाए।" (मा० बा० २०२); तथा—"बाल बिभूषन बसन धर, धूरि धूसरित अंग। बालकेलि रघुबर करत, बालबंधु सब संग।" (रामाज्ञा ४।३।१)। 'अजिर उठि चलनि...'; यथा—"गिरि घुटुरुवनि टेकि उठि..." (पद २२)।

'झुकनि झाँकनि...तोतरी बोलनि...'; यथा—"कलबल बचन तोतरे बोलत॥ किलकत, झुकि झाँकत प्रतिबिंबनि। देत परम सुख पितु अरु अंबनि॥" (पद २१)। 'नटनि'; यथा—"किलकि - किलकि नाचत

चुटकी सुनि" (पद ३२)। 'बिलोकनि मोहनी मनहरनि'; यथा—"अंजन-रंजित नयन, चित चोरै चितवनि···" (पद ३२); तथा—"सादर बारहिंबार सुभाय चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं।" (क० अ० २१);" बाल सुभाय बिलोल बिलोचन, चोरति चितहि चारु चितवनियाँ।" (पद ३४)।

'लखि सुढर पासे ढरनि'—श्रीकौशल्याजी के पक्ष में इसका 'परम सौभाग्य की अनुकूलता देख कर' यह अर्थ है और उपमान पक्ष में वाक्यार्थ ही है।

अलङ्कार—उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा। तथा 'ललित' ('सुढर पासे···' में)।

'चहत सुर सुरपति भयो···'—इन्द्र सहस्राक्ष हैं, इससे दो आँखवाले देवों से बहुत अधिक देख सकते हैं। इन्द्र सूर्य होना चाहते हैं कि अनन्त किरणों से देखूँ, अथवा सूर्य सभी लोगों की आँखों के देवता हैं। अतः, उन्हें सब की आँखों से देखने का सामर्थ्य प्राप्त रहता है, इन्द्र उस वैभव को चाहते हैं कि मैं भी सूर्य के समान सारे विश्व की आँखों से देखा करूँ और उतने गुणा आनन्द पाऊँ।

अलंकार—सार; क्योंकि शोभा देखनेवालों में उत्तरोत्तर उत्कर्ष कहा गया है।

राग जैतश्री

[२६]

भूमितल भूप के बड़े भाग।
राम लखन रिपुदमन भरत सिसु निरखत अति अनुराग ॥१॥
बाल-बिभूषन लसत पाइ मृदु मंजुल अंग-बिभाग।
दसरथ-सुकृत मनोहर बिरवनि, रूप-करह जनु लाग ॥२॥
राज मराल बिराजत बिहरत जे हर-हृदय-तड़ाग।
ते नृप-अजिर जानु कर धावत धरन चटक चल काग ॥३॥
सिद्ध सिहात, सराहत मुनिगन, कहैं सुर किंनर नाग।
'ह्वै बरु बिहँग बिलोकिय बालक बसि पुर उपवन बाग' ॥४॥
परिजन सहित राय रानिन्ह कियो मज्जन प्रेम-प्रयाग।
तुलसी फल चारयो ताके मनि मरकत पंकज राग ॥५॥

शब्दार्थ—बिरवा = पौधा। करह=नया कल्ला, फूल की कली। पंकजरा
पद्मराग, माणिक। चटक [चटका स्त्री०]=गौरैया पक्षी। चल = चंचल।

अर्थ—इस पृथिवी तल में राजा दशरथ के बड़े भाग्य हैं जो वे अ
बालक श्रीराम-लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न को अत्यन्त अनुराग पूर्वक देखते
॥ १ ॥ इन बालकों के सुन्दर कोमल अंगों के विभागों को पाकर उनके व
अवस्था के भूषण (सजाये हुए) ऐसे शोभा देते हैं मानो महाराज दशरथ
पुण्य रूपी मनोहर पौधों में रूप रूपी करह (कलियाँ) लग आये हों। ॥ २
जो (भगवान् श्रीरामरूप) राजहंस श्रीशिवजी के हृदय रूप सरोवर में वि
करता है, वही (इस समय) राजा दशरथ के आँगन में गौरैया और च
कौए के पकड़ने के लिये जानु-पाणि (घुटनों के बल) चलता हुआ दौड़
है ॥ ३ ॥ (यह देख कर) सिद्ध लोग सिहाते हैं (ललचाते हुए प्रशंसा क
हैं कि ऐसा भाग्य मेरा न हुआ), मुनि गण सराहना करते हैं और दे
किम्पुरुष एवं नाग लोग कहते हैं—'चाहे हम पक्षी भी होकर इन बालकों
ग्रामों, आरामों और बागों में रह कर देखा करें' ॥ ४ ॥ परिवार के स
राजा दशरथ और उनकी रानियों ने प्रेम रूपी प्रयाग में स्नान किया है
श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उसीके फल रूप में उन्हें ये चारो कुमार मरक
मणि और पद्मराग मणि के समान प्राप्त हैं ॥ ५ ॥

विशेष—'भूमितल ··भाग।'; यथा—"त्रिभुवन तीनिकाल जग माहीं
भूरिभाग दसरथ सम नाहीं॥" (मा० अ० १); "कहहु तात केहि भाँ
कोउ, करिहि बड़ाई तासु। राम लखन तुम्ह सत्रुहन, सरिस सुवन सुचि जा
सब प्रकार भूपति बड़भागी।" (मा० अ० १७३)। सामान्य रीति से
श्रीरामजी को देखने में अहोभाग्य है। राजा तो अत्यन्त वात्सल्यस्नेह पू
देखते हैं। अतः, ये अत्यन्त भाग्यशाली हैं।

'बाल बिभूषन लसत··'—बालकों के अंग यों ही कोमल होते हैं,
तो अत्यन्त कोमल हैं। उनके पृथक्-पृथक् अंगों के भिन्न-भिन्न भूषण अंगों
साहचर्य से इनकी कान्ति पा विशेष शोभित होते हैं।

'दसरथ सुकृत मनोहर बिरवन···'—यहाँ चारो बालकों के अंग-विभा
श्रीदशरथजी के पुण्य के छोठे वृक्ष (पौधे) हैं; क्योंकि उनके सुकृत से उन

प्राप्त हुए हैं; यथा—"दसरथ सुकृत राम धरे देही।" (मा० बा० ३०६); तथा—"तुम्ह ते अधिक पुन्य बड़ काके। राजन! राम सरिस सुत जाके॥" (मा० बा० २६३); "भली कही भूपति त्रिभुवन में को सुकृती-सिरताज ?। तुलसि राम-जनमहि ते जनियत सकल सुकृत को साज॥" (पद ४९); और बाल-विभूषण उन पौधों में लगे हुए करह के समान सुशोभित हैं। उन विभूषणों के साहचर्य से रूप-लावण्य पौधों में लगे हुए करह के समान सुशोभित हो रहा है। पौधों की टहनियों में पृथक्-पृथक् करह लगते हैं, वैसे बालकों के अंगों में भिन्न-भिन्न अंगों के भूषण हैं। ऐसे बालकों को देख रहे हैं। अतः राजा बड़े भाग्यशाली हैं।

'राज मराल बिराजत…'—बालरूप श्रीरामजी शिवजी के हृदय सरोवर के राजहंस हैं; यथा—"कह मुनि सुनु रघुबीर कृपाला। संकर मानस राज-मराला।" (मा० अर० ७); "राम करौं केहि भाँति प्रसंसा। मुनि-महेस-मन-मानस-हंसा॥" (मा० बा० ३४०)। "हर-हृदि-मानस-बाल मरालं। नौमि राम…" (मा० अर० १०);

'धावत धरन चटक…'; यथा—"किलकत मोहिं धरन जब धावहिं। चलौं भागि तब पूप देखावहिं॥" (मा० उ० ७६); "जानु पानि धाए मोहिं धरना। स्यामल गात अरुन कर चरना॥ तब मैं भागि चलेउँ उरगारी।" (मा० उ० ७८)। जो शिवजी के हृदय में उनके अगाध ध्यान से साक्षात्कार होते हैं, वे ही राजा के आँगन में विचर रहे हैं (अतः) राजा बड़े भाग्यशाली हैं।

'सिद्ध सिहात…'—सिद्ध और मुनि भूलोक के, सुर और किन्नर स्वर्ग के और नाग पाताल के निवासी हैं।

'ह्वै बरु बिहँग…'—पक्षी तिर्यग्योनि के हैं। ऐसी नीच योनि भी ये लोग चाहते हैं, प्रयोजन यही है कि इन बालकों को देखा करें; यथा—"खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं। यहि नाते नरकहु सचु पैहौं।…" (वि० २३१)। 'पुर उपवन बाग' इनमें ये बालक खेलेंगे, तब इनके दर्शन होंगे।

'प्रेम-प्रयाग'—प्रयाग-स्नान से चारो फल प्राप्त होते हैं; यथा—"तीरथ-

राज देखि प्रभु जाई ॥''''चारि पदारथ भरा भँडारू ॥'' (मा० अ० १०४)। वैसे ही यहाँ चारो बालक रूप चार रत्न राजा और उनकी रानियों तथा परिजनों को प्राप्त हैं; क्योंकि इन्होंने प्रेम-प्रयाग में स्नान किया है। उसी से इन्हें ये चारो रत्न प्राप्त हैं। चारो बालकों में दो जोड़ियाँ श्याम-गौर की हैं, वैसे ही मरकतमणि श्याम और पद्मराग (माणिक) रत्न लाल होता है। भगवान् प्रेम से प्रकट होते ही हैं; यथा—''हरि ब्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होंहिं मैं जाना ॥'' (मा० बा० १८४); तथा—''नित नइ होइ रामपद-प्रीती ॥ नेम-प्रेम संकर कर देखा। अबिचल हृदय भगति कै रेखा ॥ प्रगटे राम कृतज्ञ कृपाला।'' (मा० बा० ७५)।

अलङ्कार—'रूपक से पुष्ट उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा' (द्वितीय चरण में) और 'रूपक' (पंचम चरण में)।

राग आसावरी

[३०]

छगन-मगन अँगना खेलत चारु चार्यो भाई।
सानुज भरत लाल लखन राम लोने-लोने,
लरिका लखि मुदित मातु समुदाई ॥ १ ॥
बाल बसन भूषन धरे, नख-सिख छबि छाई।
नील-पीत मनसिज-सरसिज मंजुल
मालनि मानो इन्ह देहनि ते दुति पाई ॥ २ ॥
ठुमुकु-ठुमुकु पग धरनि, नटनि, लरखरनि सुहाई।
भजनि, मिलनि, रूठनि, टूठनि, किलकनि,
अवलोकनि, बोलनि बरनि न जाई ॥ ३ ॥
जननि सकल चहुँ ओर आलबाल मनि-अँगनाई।
दसरथ-सुकृत बिबुध-बिरवा बिलसत,
बिलोकि जनु बिधि बरबारि बनाई ॥ ४ ॥
हरि बिरंचि हर हेरि राम प्रेम-परबसताई।
सुख-समाज रघुराज के बरनत,
बिसुद्ध मन सुरनि सुमन झरि लाई ॥ ५ ॥

सुमिरत श्री रघुबरन की लीला लरिकाई।
तुलसिदास अनुराग अवध आनंद,
अनुभवत तब को-सो अजहुँ अघाई ॥ ६ ॥

अर्थ—सुन्दर चारो भाई आँगन में 'छगन-मगन' (खेल विशेष) खेल रहे हैं। छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी के साथ श्रीभरतलालजी, श्रीलक्ष्मणजी तथा श्रीरामजी–इन सुन्दर-सुन्दर बालकों को देखकर कौशल्या आदि माताओं का समुदाय आनन्दित है ॥ १ ॥ (चारो बालक) बाल अवस्था के वस्त्राभूषण धारण किये हुए हैं, उनसे उनमें नख से शिखा तक शोभा छाई हुई है। कामदेव की नील-पीत कमलों की सुन्दर मालाओं ने मानों इन बालकों के शरीरों से ही शोभा पाई है ॥ २ ॥ इनका ठुमुक-ठुमुक कर चरण रखना, नाचना और लड़खड़ाना शोभायमान है। इनके भागने, मिलने, रूठने, प्रसन्न होने, किलकने, देखने तथा बोलने (की शोभा) का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ ३ ॥ राज भवन की मणिमय अँगनाई है वह थाल्हा है, उसमें श्री-दशरथजी के पुण्य-कल्पतरु (रूप चारो बालक) विलास कर रहे हैं (बढ़ रहे हैं), यह देखकर मानो विधाता ने चारो ओर विराजमान समस्त माताओं की श्रेष्ठ वारी (रक्षार्थ रुँधान) बनाई है । ४ ॥ श्रीविष्णुजी, श्रीब्रह्माजी और श्रीशिवजी भगवान् श्रीरामजी की प्रेम-परवशता देखकर (उसके द्वारा सम्पन्न) रघुकुलशिरोमणि राजा दशरथ के सुख-सामग्रियों का विशुद्ध मन से वर्णन करते हैं और देवताओं ने बिशुद्ध मनसे फूलों की झड़ी लगा दी है ॥ ५ ॥ रघुकुल श्रेष्ठ श्रीराम आदि चारो बालकों की बाललीलाओं का स्मरण करता हुआ यह तुलसीदास अनुरागरूपी अयोध्याजी में इस समय भी उस समय का-सा आनन्द अघाकर अनुभव करता है ॥ ६ ॥

विशेष—'मुदित मातु समुदाई'—माताओं में वात्सल्य अधिक है और इस क्रीड़ा में परम समीपी भी ये ही हैं। अतएव इन्हें अत्यन्त आनन्द है, ये इस आनन्द पर कृतकृत्य हैं; यथा—"मातु सुकृत फल रामलला।" (पद २२); एवं-"पुन्यफल अनुभवति सुतहि बिलोकि दसरथ घरनि।····" (पद २७),—इनके विशेष देखिये।

'नील पीत मनसिज-सरसिज मंजुल मालनि···'—नील मालाओं ने

श्रीरामजी और श्रीभरतजी की देहों से और पीत मालाओं ने श्रीलक्ष्मणजी एवं श्रीशत्रुघ्नजी की देहों से मानों द्युति पाई है अतः, उपमाएँ उपमेयों से अत्यन्त हीन हैं। इससे यहाँ 'तृतीय प्रतीप अलंकार' है।

'ठुमुकु-ठुमुकु···बरनि न जाई'—क्योंकि इन क्रीड़ाओं का स्मरण करते ही अत्यन्त आनन्द के कारण वाणी गदगद हो जाती है, इससे तथा इन क्रीड़ाओं में अत्यन्त विशेषता होने से इनका वर्णन नहीं किया जाता।

'जननि सकल चहुँ ओर···दसरथ सुकृत···'—यहाँ चारो बालक राजा दशरथ के सुकृत-सुरतरु हैं। उपर्युक्त पद २९ के 'दसरथ-सुकृत मनोहर बिरवनि···' इसका विशेष देखिये। बिरवा छोटे वृक्ष को कहते हैं, वैसे बालक भी छोटे हैं। छोटे वृक्ष थाल्हे में बढ़ते हैं, वैसे ये मणिमय अँगनाई में बढ़ रहे हैं। विलास कर रहे हैं। यह देखकर मानो विधाता ने चारो ओर उपस्थित सात सौ माताओं की वारी बना दी है। विधाता बुद्धि के देवता हैं, उनकी प्रेरणा से माताएँ यहाँ एकत्र हैं। वारी छोटे वृक्ष के रक्षार्थ रहती है, वैसे ही माताएँ क्षण-क्षण पर बालकों की बलैया लेती हैं, इन पर किसी की दृष्टि न लगे, अन्य बाधा न हो, इस पर सतत सतर्क रहती हैं। छोटे वृक्ष पर बाधा आने पर वारी ही अपने ऊपर लेती है, वैसे ही माताएँ इनकी बलैया अपने ऊपर ले लेती हैं, इत्यादि।

यहाँ 'रूपक से पुष्ट उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

'हरि बिरंचि हर···'—ये लोग भी भक्तों का हित करते हैं, उन्हें वरदान देते हैं, परन्तु श्रीरामजी की प्रेम-परवशता पर मुग्ध हैं—वि० २१४, २१६-२१७ तथा १६२ देखिये। 'बिसुद्ध मन' यह दीपदेहली न्याय से त्रिदेव और देव दोनों के साथ है। त्रिदेवों का मन श्रीरामजी के प्रति विशुद्ध है, स्पर्धा रूप मालिन्य नहीं है। देवों का मन राजा दशरथ के प्रति विशुद्ध है, इससे इनके विभव पर प्रसन्न हो फूल बरसा रहे हैं। राजा दशरथ इन्द्र के सखा हैं। 'समानं ख्यातीति सखा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार कुछ अंशों में समानता है, पर राजा के प्रति स्पर्धा नहीं है।

'सुमिरत श्रीरघुबरनि की···तुलसिदास अनुराग अवध···'—श्रीरामजी की बाल-लीला अनुराग बढ़ानेवाली है; यथा—"बालचरित अति सरल

सुहाए। सारद सेष संभु श्रुति गाए॥ जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिं राता। ते जन बंचित किये बिधाता॥" (मा० बा० २०३); और फिर आश्रित को कृतार्थ करनेवाली है; यथा—"रघुबर बालकेलि संतन की सुभग सुभद सुरगैया। तुलसी दुहि पीवत सुख जीवत पय सप्रेम घनी घैया॥" (पद २०); तथा—"बालचरित मय चंद्रमा यह सोरहकला-निधान। चित चकोर तुलसी कियो करै प्रेम अमिअ रस पान॥ तुलसी को जीवन रामलला।" (पद २२)—इन दोनों पदों के विशेष देखिये। 'तब को-सो अजहुँ'; यथा—"अजहुँ जासु उर सपनेहु काऊ। बसहु लखन सिय राम बटाऊ॥ रामधाम-पथ पाइहि सोई। जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई॥" (मा० अ० १२३)।

अनुराग अवध'—जैसे श्रीअयोध्या से समस्त पाप युद्ध नहीं कर सकते, वैसे ही चित्त से होनेवाले अनुराग के प्रति भी पाप भस्म हो जाते हैं। तब शुद्ध चित्त रूपी अयोध्या में सर्वत्र श्रीराम ही दीखते हैं; यथा—"सरग नरक अपवरग समाना। जहँ-तहँ देख धरे धनु बाना॥ करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहि के उर डेरा॥" (मा० अ० १३०)। यहाँ 'रूपकालङ्कार' है।

राग बिलावल

[३१]

आँगन खेलत आनंद कंद। रघुकुल-कुमुद-सुखद चारुचंद॥
सानुज भरत लखन सँग सोहैं। सिसु-भूषन भूषित मन मोहैं।
तन दुति मोरचंद जिमि झलकै। मनहुँ उमँगि अँग-अँग छबि छलकै॥२॥
कटि किंकिनि पाय पैंजनि बाजैं। पंकज पानि पहुँचिया राजैं।
कठुला कंठ बघनहा नीके। नयन-सरोज मयन-सरसी के॥३॥
लटकन लसत ललाट लटूरीं। दमकति द्वै-द्वै दतुरियाँ रूरीं।
मुनि-मन हरत मंजु मसि-बुंदा। ललित बदन, बलि बालमुकुंदा॥४॥
कुल ही चित्र बिचित्र झँगूलीं। निरखत मातु मुदित मन फूलीं।
गहि मनिखंभ डिंभ डगि डोलत। कलबल बचन तोतरे बोलत॥५॥
किलकत, झुकि झाँकत प्रतिबिंबनि। देत परम सुख पितु अरु अंबनि।
सुमिरत सुखमा हिय हुलसी है। गावत प्रेम पुलकि तुलसी है॥६॥

शब्दार्थ—सरसी=तलैया, छोटा सरोवर। डिंभ डगि = बालक की चाल से।

अर्थ—रघुकुल रूपी कुई को सुख देतेवाले मनोहर चन्द्रमा रूप आनन्द-कन्द भगवान् श्रीरामजी आँगन में खेल रहे हैं।। १ ॥ उनके साथ में अपने छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी के साथ श्रीभरतजी और श्रीलक्ष्मणजी सुशोभित हैं। चारो भाई बाल-अवस्था के भूषणों से भूषित हैं, अपनी शोभा से मन को मोहित करते हैं। (श्रीरामजी के) शरीर की कान्ति मयूर की चन्द्रिका के समान झलक रही है और अंग-अंग की छवि मानों उमँग उमँग कर छलक रही है ॥२॥ कमर में किंकिणी और चरणों में पैंजनी बज रही हैं। कर कमलों में पहुँचियाँ शोभा दे रही हैं। कण्ठ में कठुला तथा व्याघ्रनख अच्छे लगते हैं और नेत्र कमल तो मानो काम-सरोवर से उत्पन्न हुए हैं ॥३॥ ललाट पर छोटी-छोटी अलकें और उनके साथ (सुवर्णमय) लटकने सुशोभित हैं तथा मुख में दो-दो छोटे-छोटे सुन्दर दाँत दमक रहे हैं।। सुन्दर डिठौना तो मुनियों के मन का भी हरण करता है। बालमुकुन्द श्रीरामजी के ललित मुखारविन्द पर बलिहारी है ॥४॥ शिर पर रंग-विरंग के चित्रों से चित्रित कुल ही (टोपी विशेष) और शरीर में विचित्र झँगुली (सुशोभित हैं, उन्हें देख कर माताएँ आनन्दित मन से फूली फिरती हैं। (चारो बालक) मणि खम्भ पकड़ कर बालक की चाल से चलते हैं और अस्पष्ट (स्वरवाले) तोतले वचन बोलते हैं ॥ ५ ॥ किलकते हुए और झुक कर अपने प्रतिबिम्बों को झाँकते हुए पिता और माताओं को परम आनन्द प्रदान करते हैं। इन क्रीड़ाओं का स्मरण करने से इनकी परमा शोभा हृदय में उल्लसित होती है और प्रेम से पुलकित होकर यह तुलसीदास उसका गान करता है ॥ ६ ॥

विशेष—पूर्वोक्त पद २६-२७ की भाँति यह पद भी सूरदासजी के पद से बहुत मिलता है 'आनँदकंद' के स्थान पर उसमें 'नंद के नंद' है और 'निरखत मातु मुदित मन फूली' के स्थान पर 'निरखि यशोदा रोहिनी फूली' है। अंत का चरण यों है—'व्रज जन देखत हिय हुलसाने। सूर स्याम महिमा को जाने ॥''

इसका समाधान भी पूर्व पद २६ में लिखे अनुसार ही गया है।

'आँगन खेलत···रघुकुल कुमुद···'—चन्द्रमा नक्षत्रों के साथ उदित होकर अपनी किरणों द्वारा अमृत वर्षा कर कुमुद परिवार को सुख देता है।

वैसे ही भाइयों के साथ श्रीरामजी आँगन रूपी आकाश में उदित हैं। अपनी क्रीड़ाओं के द्वारा आनंद वर्षा कर सब रघुकुल परिवार को सुख दे रहे हैं। कंद (कं=जल, द=देनेवाले)=जल वर्षा कर देनेवाले मेघ। मेघ बूँद-बूँद से जल वर्षाते हैं। श्रीरामजी क्रीड़ा के विविध अभिनयों से सुख वर्षा करते हैं। तथा—"मोद कंद कुल कुमुद चंद मेरे रामचंद्र रघुरैया।" (पद २०)। 'चारु चंद्र'-चन्द्रमा कई दोष रूप मल से युक्त है, पर आप पवित्र चंद्र हैं।

यहाँ 'रूपकालङ्कार' है।

'तन दुति मोरचंद...'; यथा—"मदन मोर के चंद्र की झलकनि निदरति तन जोति। नील कमल मनि जलद की उपमा कहे लघु मति होति॥" (पद २२) इसका विशेष देखिये। यहाँ 'पूर्णोपमालङ्कार' है।

'बघनहा नीके';—व्याघ्र का नख रत्न से जड़ाऊ कर बालक को पहनाया जाता है कि वह निर्भीक एवं पराक्रमी हो। तथा—"हिय हरिनख अदभुत बन्यो..." (पद २२)। 'मयन सरसी के' -कामदेव के सरोवर के अथवा कामदेव ही सरोवर बना हो, उसके। यहाँ 'रूपकालङ्कार' है।

'लटकन लसत...'; यथा—"गभुआरी अलकावली लसै, लटकन ललित ललाट। जनु उड़ुगन बिधु मिलन को चले तम बिदारि करि बाट॥" (पद२२)। मुनि मनहरत मंजु मसिबुंदा।'; यथा—"लोयन नीलसरोज से भ्रू पर मसिबिंदु बिराज। जनु बिधु मुख छबि अमिअ को रच्छक राखे रसराज॥" (पद २२)। 'किलकत झुकि झाँकत प्रतिबिंबनि'; यथा—"इकटक प्रतिबिंब निरखि पुलकत हरि हरषि-हरषि,..." (पद २५). "झुकनि झाँकनि छाँह सों किलकनि'..." (पद २८); इत्यादि। 'झँगुली'—अँगरखी।

'सुमिरत सुखमा...गावत प्रेम...'; यथा—'सुमिरत श्रीरघुबरन की लीला लरिकाई। तुलसिदास अनुराग अवध आनंद अनुभवत तब को-सो अजहुँ अघाई॥" (पद ३०)-इसका विशेष देखिये।

राग कान्हरा

[३२]

ललित सुतहि लालति सचुपाए।
कौसल्या कल कनक अजिर महँ सिखवति चलन अँगुरियाँ लाए॥१॥

कटि किंकिनी, पैंजनी पायनि बाजति रुनुझुनु मधुर रेंगाए।
पहुँची करनि, कंठ कठुला बन्यो केहरिनख-मनि-जरित जराए ॥२॥
पीत पुनीत बिचित्र झँगुलिया सोहति स्याम सरीर सोहए।
दँतियाँ द्वै-द्वै मनोहर मुख छबि अरुन अधर चित लेत चोराए ॥३॥
चिबुक कपोल नासिका सुंदर, भाल तिलक मसि-बिंदु बनाए।
राजत नयन मंजु अंजन जुत खंजन कंज मीन मद नाए ॥४॥
लटकन चारु भृकुटिया टेढ़ी, मेढ़ी सुभग सुदेस सुभाए।
किलकि-किलकि नाचत चुटकी सुनि, डरपति जननि पानि छुटकाए ॥५॥
गिरि घुटुरुवनि टेकि उठि अनुजनि तोतरि बोलत पूप देखाए।
बालकेलि अवलोकि मातु सब मुदित मगन आनँद अनमाए ॥६॥
देखत नभ घन-ओट चरित मुनि जोग समाधि बिरति बिसराए।
तुलसिदास जे रसिक न येहि रस ते नर जड़ जीवत जग जाए ॥७॥

अर्थ—श्रीकौसल्याजी आनन्दित होकर अपने सुन्दर पुत्र का लालन (दुलार) करती हैं। सुवर्णमय सुन्दर आँगन में वे अपनी अँगुली से उनकी अँगुली पकड़े हुए उन्हें चलना सिखाती हैं ॥ १ ॥ धीरे-धीरे रेंगाने (चलानें) पर उनकी कटि में किंकिणी और चरणों में पैजनी 'रुनुझुन-रुनुझुनु' बजती है। हाथों में पहुँची और कंठ में कठुला एवं मणियों से जटित बघनहा पहनाए हुए हैं, वह शोभायमान है ॥ २ ॥ उनके शोभायमान श्याम शरीर पर पीले रंग की पवित्र और विचित्र झँगुलिया (अँगरखी) सुशोभित है। दो-दो छोटे-छोटे दाँतों से युक्त मुख की छवि मनोहर है और लाल-लाल ओष्ठ तो चित्त को चुराये लेता है ॥ ३ ॥ उनकी ठोढ़ी, कपोल और नासिका सुन्दर हैं तथा ललाट पर तिलक एवं काजल की बेंदी (डिठोना) बनाये गये हैं। उनके अञ्जन-रंजित सुंदर नेत्र ऐसे शोभायमान हैं कि खंजन, कमल और मीन के सौन्दर्यमद को भी चूर्ण कर दिया है ॥ ४ ॥ उनके ललाट पर सुन्दर लटकनें लटक रही हैं, बाँकी भौंहें हैं और शिर पर सुन्दर तीन लड़ियों की गूँथी हुई चोटी यथास्थान पर स्वाभाविक ही शोभा दे रही है। माता की चुटकी सुन-सुन कर वे किलक-किलक कर नाचने लगते हैं। नाचने में जब हाथ छुड़ा लेते हैं, तब (गिर न पड़ें, इस) भय से माता डरती हैं ॥५॥ गिरने पर घुटने के बल उठ कर माता

के पूवा दिखाने पर तोतली बोली से छोटे भाइयों को बुलाते हैं। इन बाल क्रीड़ाओं को देखकर सब माताएँ आनन्दित हैं, वे अपार आनन्द में निमग्न हो गई हैं ॥ ६ ॥ मुनि लोग भी योग, समाधि एवं वैराग्य भूल कर आकाश में मेघों की ओट हो इन चरितों को देख रहे हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जो इस रस के रसिक नहीं हैं, वे मनुष्य मूर्ख हैं। व्यर्थ ही संसार में जीते हैं। ७ ॥

विशेष—'ललित सुतहि…'—माता के आनंदित होने और लाड़ करने में पुत्र का लालित्य कारण है, इससे यहाँ 'ललित' विशेषण दिया गया है।

'सिखवति चलन'; क्योंकि इसकी पहले से ही लालसा थी; यथा—"ठुमुकु-ठुमुकु कब धैहौ।" (पद ८); तथा "पगनि कब चलिहौ चारौ भैया। प्रेम-पुलकि, उर लाइ सुवन सब, कहति सुमित्रा मैया॥" (पद ९)।

'मधुर रेंगाए' धीमी चाल को रेंगना कहते हैं, मधुर विशेषण से वह और भी धीमी चाल सिद्ध होती है। 'बाजत रुनुझुन'; यथा—"ललित आँगन खेलैं, ठुमुकु-ठुमुकु चलैं, झुंझुनु झुंझुनु पाँय पैंजनी मृदु मुखर॥" (पद ३२)।

'पहुँची करनि'; यथा—"मंजु कर कंजनि पहुँचियाँ रुचिरतर।" (पद ३३)।

'मनि जरित जराए'— इसमें 'जराए' यह पद 'जड़ाये' इस शुद्ध रूप से यहाँ रुढ़ि-लक्षणा से 'पहनाये' अर्थ का बोधक है।

'पीत पुनीत बिचित्र झँगुलिया…'; यथा—"पियरी झीनी झँगुली साँवरे सरीर खुली, बालक दामिनि ओढ़ी मानो बारे बारिधर।" (पद ३२)। झँगुली में विचित्रता यह है कि वह पीले रेशम की बनी है, उसमें विविध रंग के कामदार चित्र बने हुए हैं।

'दँतिया द्वै-द्वै मनोहर मुख छबि'; यथा—"किलकि-किलकि हँसैं, द्वै-द्वै दँतुरिया लसैं, तुलसी के मन बसैं तोतरे बचन वर" (पद ३२); अर्थात् जब आनंद से किलकते हैं, तब दतुरियों की चमक से मुख की छबि विशेष मनोहर हो जाती हैं।

'राजत नयन मंजु…'- नेत्र इन खंजन आदि के सौन्दर्य मद को नाये (नवाए अर्थात् नीचा दिखाये हैं, इनके मद को चूर्ण कर दिये हैं।

'तृतीय प्रतीप अलंकार' है।

'आनँद अनमाये'—अनमाये का अर्थ 'अनमाय' पद के अनुसार नाप-तौल रहित, अपार, यह है ।

'देखत नभ घन ओट···'—नभ में मेघ की ओट से देखते हैं, प्रत्यक्ष देखने में रानी आदि को संकोच होगा। इस दर्शनानन्द के समक्ष योग आदि का आनन्द फीका लगता है, इससे उन्हें भूल कर इसी में निमग्न हैं; यथा— "ब्रह्मानंद हृदय दरस सुख लोयननि, अनुभये उभय सरस राम जाने हैं।" (पद ५९); "सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा ॥···इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥" (मा० बा० २१५)।

'जे रसिक न येहि रस···'; यथा—"बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥ राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभा बड़ आदर तासू॥ सोह न राम-प्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥" (मा० अ० २७६)। 'जे ज्ञानमान बिमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी। ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥" (मा० उ० १२); "कछु ह्वै न आइ गयो जनम जाय। अति दुर्लभ तनु पाइ कपट तजि, भजे न राम मन बचन काय॥" (वि० ८३)। "बाल चरित अति सरल सुहाए। सारद सेष संभु श्रुति गाए॥ जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिं राता। ते जन बंचित किए बिधाता॥" (मा० बा० २०३)।

राग ललित

[३३]

छोटी-छोटी गोड़ियाँ, अँगुरियाँ छबीली छोटी,
नख-जोति मोती मानो कमल-दलनि पर।
ललित आँगन खेलैं, ठुमुकु-ठुमुकु चलैं,
झुँझुनु-झुँझुनु पाँय पैंजनी मृदु मुखर ॥१॥
किंकिनी कलित कटि, हटक रतन जटित,
मंजु कर-कंजनि पहुँचियाँ रुचिरतर।
पियरी झीनी झँगुली साँवरे सरीर खुली,
बालक दामिनि ओढ़ी मानो बारे बारिधर ॥२॥

उर बघनहा, कंठ कठुला, झँड़ूले केस,
मेढ़ी लटकन मसि बिंदु मुनि-मन हर।
अंजन-रंजित नैन, चित चोरै चितवनि,
मुख-सोभा पर वारौं अमित असम-सर ॥३॥
चुटकी बजावती नचावती कौसल्या माता,
बालकेलि गावति मल्हावति प्रेम सुभर।
किलकि किलकि हँसे, द्वै-द्वै दँतुरियाँ लसैं,
तुलसी के मन बसैं तोतरे बचन बर ॥४॥

शब्दार्थ—खुली = खुलती है, सुहावनी लगती है। असम सर=कामदेव।

अर्थ—छोटे-छोटे चरण हैं, उनमें छोटी-छोटी छबीली अँगुलियाँ हैं, उन अँगुलियों के नखों की द्युति ऐसी जान पड़ती है मानो कमल के दलों पर मोती शोभायमान हैं। सुन्दर अँगनाई में खेल रहे हैं, ठुमुक ठुमुक चल रहे हैं, इससे चरणों की पैंजनियों का कोमल शब्द 'झुनझुन-झुमझुन' हो रहा है ॥१॥ कटि में सोना और मणि जटित सुन्दर किंकिणी है तथा सुन्दर कर-कमलों में अत्यन्त सुदन्र पहुँचियाँ हैं। साँवरे शरीर पर अत्यन्त झीनी पीले रंग की झँगुली ऐसी सुहावनी लगती है मानो बालक मेघ ने बालविद्युत् ओढ़ ली है ॥२॥ वक्षःस्थल पर व्याघ्रनख और कण्ठ में कठुला है। शिर पर झँड़ूले केश (गर्भ के बाल) हैं; उसमें मेढ़ी (तीन लड़ की चोटी गुथी हुई) है और लटकने हैं तथा डिठौने हैं, ये सब मुनियों के भी मन का हरण करनेवाले हैं। नेत्र अञ्जन-रञ्जित हैं, उनकी चितवन चित्त को चुरा लेती है, उनके मुख की शोभा पर तो असंख्य कामदेवों को निछावर करता हूँ ॥३॥ श्रीकौशल्या माता चुटकी बजा-बजा कर नचाती हैं और बालक्रीड़ा का गान करती हुई दुलराने की चेष्टाएँ करती हुई प्रेम में सुष्ठु रूप में भर जाती हैं। (नाचते हुए श्रीरामजी) किलक किलक कर हँसते हैं, उस समय उनकी (ऊपर-नीचे की) दो-दो दँतुलियाँ सुहावनी लगती हैं और श्रेष्ठ तोतले वचन बोलते हैं, ये सब (केलि-कलाप) तुलसीदास के मन में निवास किये हुए हैं ॥४॥

विशेष—'छोटी-छोटी गोड़ियाँ…'; यथा—"लघु-लघु लोहित ललित

हैं पद, पानि, अधर एकरंग।" (पद २२); "अधर-पानि-पद लोहित लोने। सर-सिंगार-भव सारस सोने॥" (पद २४)।

'दुख-जोति मोती मानो…'; यथा—"अरुन चरन पंकज नख जोती। कमलदलन बैठे जनु मोती॥" (मा० बा० १९८ जैसे लाल कमलदल पर मोती रख दी जाय तो श्वेत मोती की भी द्युति लाल ही फैलती है, वैसे ही नख यद्यपि स्वच्छ वर्ण के हैं यथा—"नव राजीव अरुन मृदु चरना। पदज रुचिर नख ससि दुति हरना॥" (मा० उ० ७५); तथापि चरणों की अँगुलियों की ललाई लेकर वे लाल ही ज्योति फैलाते हैं. यहाँ 'तद्गुण अलङ्कार से पुष्ट उत्प्रेक्षा' है।

'ललित आँगन खेलैं'; यथा—"बरनि न जाइ रुचिर अँगनाई। जहँ खेलैं नित चारिउ भाई॥ बाल-बिनोद करत रघुराई। बिचरत अजिर जननि सुखदाई॥" (मा० उ० ७५); 'ठुमुकु-ठुमुकु चलैं'; यथा—"कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुकु-ठुमुकु प्रभु चलहिं पराई॥" (मा० बा० २०२)। 'झुंझुन-झुंझुन…'; यथा—"रुनझुनु करति पायँ पैंजनियाँ।" (पद ३४)।

'पियरी झीनी झँगुली…'; यथा—"पीत झीनि झँगुली तनु सोही।" (मा० उ० ७६)। श्याम पर पीत सुहावन लगता ही है।

'बालक दामिनि ओढ़ी…'—श्रीरामजी बालक हैं और झँगुली भी तदनुसार ही छोटी बालोचित है, इससे मेघ और दामिनि दोनों बालक ही कहे गये हैं। यहाँ उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है।

'मसिबिंदु मुनि मन हर'; यथा—"मुनि मन हरत मंजु मसिबुंदा।" (पद ३१)। 'झँडूले केस, मेढ़ी लटकन'; यथा—"लटकन लारु भृकुटिया टेढ़ी, मेढ़ी सुभग सुदेस सुभाए॥" (पद ३२); 'चित चोरै चितवनि'; यथा—"बाल सुभाय बिलोल बिलोचन, चोरन चितहि चारु चितवनियाँ।" (पद ३४); 'मुख सोभा पर…'; यथा—"आनन अमित मदन छबि छाई।" (मा० बा० १९८); "मुख छबि कहि न जाइ मोहिं पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥" (मा० बा० २३२); "अंग-अंग पर वारिअहि, कोटि-कोटि सत काम॥" (मा० बा० २२०)। "प्रात भयो तात, बालि, मातु, बिधु बदन

पर मदन वारौं कोटि उठौ प्रानप्यारे ! ॥" (पद ३७,); "ललित कमल बदन ऊपर मदन कोटि वारे।" (पद ३९)। यहाँ 'चतुर्थ प्रतीपालङ्कार' है।

'चुटकी बजावति नचावति...'; यथा—"किलकि-किलकि नाचत चुटकी सुनि..." (पद ३२); माता के संकेत पर नाचते हैं, इससे वह अत्यन्त प्रेम से भर जाती है।

'किलकि-किलकि हँसैं...'—हास, दाँतों की कान्ति और तोतले वचन, सब मन में बसते हैं; यथा—"किलकनि चितवनि भावति मोहीं।" (मा० उ० ७६); "हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥" (मा० बा० १९७); तथा—"अति प्रिय मधुर तोतरे बोला।" (मा० बा० १९८); "कृपा सों हेरत हँसि तुलसी की ओर हैं।" (पद ७१)। "तोतरी बोलनि बिलोकनि मोहनी मनहरनि।" (पद २८); "मनमोहनी तोतरी बोलनि, मुनि मन हरनि हँसनि किलकनियाँ।" (पद ३४)

[३४]

सादर सुमुखि बिलोकि राम-सिसुरूप अनूप, भूप लिये कनियाँ।
सुंदर स्याम-सरोज-बरन तनु, सब, अँग सुभग सकल सुखदनियाँ॥१॥
अरुन चरन नख जोति जगमगति, रुनुझुनु करति पाँय पैंजनियाँ।
कनक-रतन-मनि-जटित रटति कटि किंकिनि, कलित पीतपट-तनियाँ॥२॥
पहुँची करनि, पदिक हरिनख उर, कठुला कंठ, मंजु गजमनियाँ।
रुचिर चिबुक, रद, अधर मनोहर, ललित नासिका लसति नथुनियाँ॥३॥
बिकट भृकुटि, सुखमा निधि आनन, कल कपोल, काननि नगफनियाँ।
भाल तिलक मसिबिंदु बिराजत, सोहति सीस लाल चौतनियाँ॥४॥
मन मोहनी तोतरी बोलनि, मुनि-मन-हरनि हँसनि किलकनियाँ।
बाल सुभाय बिलोल बिलोचन, चोरति चितहि चारु चितवनियाँ॥५॥
सुनि कुलबधू झरोखनि झाँकति रामचंद्र छबि चंद्रबदनियाँ।
तुलसिदास प्रभु देखि मगन भई प्रेम बिबस कछु सुधि न अपनियाँ॥६॥

शब्दार्थ—कनियाँ = गोद में लेने का एक भेद, कटि के बगल भाग में बालक को बैठा कर हाथ से उसे रोक रखने एवं चलने को कनियाँ लेकर खड़ा

होना एवं चलने को कनियाँ लेकर खड़ा होना एवं चलना कहा जाता है। तनियाँ=१ लँगोटी, २ कछुनी, जाँघिया, ३ चोली।

अर्थ—(कोई सखी कहती है—) हे सुमुखि ! राजा दशरथ श्रीरामलालजी को कनियाँ लिये हुए विराजमान हैं। आप आदरपूर्वक श्रीरामजी का अनुपम शिशु रूप तो देखें। उनका शरीर सुन्दर श्याम कमल के-से वर्ण (रंग-आभा) वाला है। उनके सभी सुन्दर अंग सब प्रकार के सुख देनेवाले हैं ॥ १ ॥ उनके लाल-लाल चरणों की नखज्योति जगमगा रही है, चरणों की पैंजनियाँ 'रुनुझुन-रुनुझुनु' शब्द कर रही हैं। कमर में सुवर्ण, रत्नों और मणि से जड़ी हुई किंकिणी शब्द कर रही है तथा वे सुन्दर पीताम्बर की कछुनी पहने हुए हैं ॥२॥ उनके हाथों में पहुँची, छाती पर पदिक तथा व्याघ्रनख, कण्ठ में कठुला एवं सुन्दर गजमुक्ताओं की विविध मालाएँ सुशोभित हैं। उनकी सुन्दर ठोढ़ी, दाँत और ओष्ठ मनोहर हैं एवं उनकी सुन्दर नासिका में नथुनी शोभायमान है ॥ ३ ॥ उनकी भौंहे बाँकी हैं, उनका मुख परमाशोभा का निधान है, उनके सुन्दर कपोल हैं और कानों में नागफनी (कान का भूषण विशेष) है। उनके ललाट पर तिलक और डिठौने विराजमान हैं तथा शिर पर लाल रंग की चौतनी टोपी शोभायमान हैं ॥ ४ ॥ उनकी तोतली बोली सबके मन को मोहित करने-वाली है तथा उनकी हँसी एवं किलकारी तो मुनियों के मन का भी हरण करने-वाली है और उनके बाल-स्वभाव के चञ्चल नेत्रों की सुन्दर चितवन चित्त को चुरा लेती है ॥ ५ ॥ सखी के इन वचनों को सुनकर चन्द्रमुखी कुलवधुएँ श्रीरामचन्द्रजी की छवि को झरोखों में लग कर झाँकती हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि प्रभु श्रीरामजी को देख कर वे सब उनकी छबि में निमग्न होगईं और इस प्रकार प्रेम में विवश हो गईं कि उन्हें अपनी सुधि नहीं रह गई ॥६॥

विशेष 'सादर सुमुखि...'—रूप अनूप है, इसी से आदर पूर्वक देखने योग्य है।

'सुंदर स्याम सरोज बरन...'—श्यामवर्ण स्वतः नेत्र-प्रिय होता है, सुन्दर भी है, इससे तो अत्यन्त आकर्षक है। 'सब अँग सुभग...'; यथा—"रघुबर-रूप बिलोकु नेकु, मन। सकल-लोक-लोचन-सुखदायक, नख-सिख सुभग स्यामसुंदर तन ॥" (उ० १६); "श्रीरामचंद्र कृपालु भजु मन हरन भव-भय

दारुनं। नव कंज लोचन कंज मुख कर कंज पद कंजारुनं।" (वि० ४५); "पाथोद गात, सरोज मुख राजीव-आयत लोचनं। नित नौमि राम कृपालु बाहु बिसाल भव-भय मोचनम् ॥" (मा० अर० ३१)।

'अरुन चरन नख जोति···'—नख ज्योति दृष्टि को आकर्षित करती है और पैंजनी अपने मधुर ध्वनि से मन को भी वश कर लेती है। 'मंजु गजमनियाँ'—गजमुक्ताओं की दुलरी, तिलरी आदि कई प्रकार की मालाएँ हृदय पटल पर सुशोभित हैं।

'सोहति सीस लाल चौतनियाँ'— अभी लाल रंग की चौतनी टोपी हैं, ऐसी ही टोपी आगे जनक-नगर-प्रदर्शन में भी कही गई है; यथा—"रुचिर चौतनी सुभग सिर," (मा० बा० २१९); और धनुष-यज्ञ-प्रसंग में पीत रंग की है; यथा—"पीत चौतनी सिरन्हि सुहाई। कुसुमकलीं बिच-बीच बनाई॥" (मा० बा० २४२); तथा पुष्प-बाटिका-प्रसंग में हरे रंग की टोपी है; यथा—"मोरपंख सिर सोहत नीके। गुच्छे बिच-बिच कुसुमकली के॥" (मा० बा० २३२) इसी गहरे हरे रंग की मोरपंखी टोपी को इसी प्रसंग पर इस गीतावली में भी 'टिपारे' नाम से लिखा गया है; यथा "सीसनि टिपारे, उपवीत पीतपट कटि, दोना बाम करनि सलोने भे सवाई हैं॥" (पद ७१), इन प्रसंगों में टोपी के आकार के मुकुट समझना चाहिये।

'मन मोहनी तोतरी बोलनि'—इसके उदाहरण ऊपर पद में कुछ आ गये हैं।

'चारु चितवनियाँ'—शुद्ध सीधी भोली-भाली चितवन में भी चित चुरा लेते हैं।

'सुनि कुलवधू··'—कुलवधू हैं। अतः, चक्रवर्त्तीजी के समक्ष कैसे जायँ? और श्रीरामलालजी उनकी कनियाँ में हैं; इससे ये झरोखों से ही झाँकती हैं। श्रीरामचन्द्र की छवि देखने में चन्द्रबदनी कहना उपयुक्त है।

'प्रभु देखि मगन भई प्रेम बिबस···'—'प्रभु' विशेषण दिया गया है; क्योंकि अपने माधुर्य रूप के द्वारा आकर्षित करने में प्रभुता भी लगा दी गई है; अन्यथा शिशुरूप में ऐसा वशीकरण उपयुक्त नहीं है। अन्यत्र भी कहा गया है; यथा—"अवधेस के द्वारे सकारे गई, सुत गोद कै भूपति लै निकसे।

अवलोकि हौं सोच विमोचन को ठगि-सी रही, जे न ठगे धिक से ।।" क० बा० १) "दासतुलसी नेह-बिबस बिसरी देह, जान नहिं आपु तेहि काल धौं को ही ।।" (अयो० १८ ; तथा —"सखिहि सुसिख दई, प्रेम-मगन भई, सुरति बिसरि गई आपनी ओही । तुलसी रही है ठाढ़ी पाहन गढ़ी-सी ठाढ़ी काढ़ी; कौन जाने कहाँ ते आई, कौन की, को ही ।।" (अयो० १९); "अकनि बचन चातुरी, तुरीय पेखि प्रेम-मगन पग न परत इत उत सब चकित तेहि समौं हैं। तुलसिदास यह सुधि नहिं कौन की, कहाँ ते आई, कौन काज, काके ढिग, कौन ठाँउ को हैं ।।" (उ० ४)

राग बिलावल

[३५]

सोहत सहज सोहाये नैन ।
खंजन मीन कमल सकुचत तब जब उपमा चाहत कवि दैन ।।१।।
सुंदर सब अंगनि सिसु-भूषन राजत जनु सोभा आये लैन ।
बड़ो लाभ, लालची लोभ बस रहि गए लखि सुखमा बहु मैन ।।२।।
भोर भूप लिये गोद मोद भरे, निरखत बदन, सुनत कल बैन ।
बालक-रूप अनूप राम-छबि निवसति तुलसिदास-उर-ऐन ।।३।।

अर्थ—(श्रीरामजी के अंजन आदि बिना) स्वाभाविक ही सुन्दर नेत्र शोभायमान हैं । जब कवि खंजन, मीन और कमल की उपमा देना चाहते हैं, तब वे (उपमाएँ) सकुच जाते हैं ॥ १ ॥ श्रीरामजी के सभी अंग सुन्दर हैं, उनमें बाल-अवस्था के भूषण शोभायमान हैं । (वे ऐसे जान पड़ते हैं) मानो बहुत से कामदेव (इन अंगों से) शोभा लेने आये हैं, परन्तु यहाँ इनकी सुखमा (परमा शोभा) देखकर और बहुत बड़ा लाभ मानकर वे सब लालची हो गये और फिर लोभ वश रह गये (वे ही ये भूषण रूप में शोभा दे रहे हैं) ॥ २ ॥ प्रातःकाल राजा दशरथ ने श्रीरामजी को गोद में ले लिया है, वे आनन्द में भरे हुए इनके मुखारविन्द देख रहे हैं और इनके मनोहर वचन सुन रहे हैं । बालक रूप श्रीरामजी की वह अनुपम छबि तुलसीदास के हृदय रूपी स्थान में निवास करती है ॥ ३ ॥

विशेष—'सोहत सहज सोहाये नैन ।'— बिना भूषण ही भूषितवत्

सुशोभित होने को रूप वैभव कहा जाता है। यहाँ अंजन आदि नेत्र के श्रृंगार बिना नेत्र सोहते हैं। अतः इनके नेत्रों के रूप वैभव का वर्णन हुआ है। बिना श्रृंगार वाले नेत्र से उनकी खंजन आदि उपमाएँ सकुचती हैं। अतः, यहाँ 'तृतीय प्रतीप अलङ्कार' है।

'सुंदर सब अंगनि ''बड़ो लाभ'''—कामदेव ने अपनी शोभा से तीनों लोकों को अधीन कर रक्खा है। उसने इनके सुंदर अंगों के सौन्दर्य का यश सुना तो यहाँ से कुछ शोभा माँग कर ले जाने के लिये आया। परंतु यहाँ आने पर इनकी अपार सुखमा देखकर मुग्ध हो वह बहुत वेषों से भूषण रूप हो अंगों में रह गया। यहाँ अङ्गों से अधिक शोभा पाता हुआ अधिक लालची बन कर लोभवश अंगों में ही रह गया, जा नहीं सका। इन अंगों के समक्ष उसने सौन्दर्य मद छोड़ दिया और अधीन हो, पड़ा रह गया। अतः, यहाँ 'पंचम प्रतीप अलङ्कार' है।

'भोर भूप लिये गोद ''बालकरूप अनूप'''; यथा—"अवधेस के द्वारे सकारे गई, सुत गोद कै भूपति लै निकसे। अवलोकि हौं सोच-विमोचन को ठगि सी रही, जे न ठगे धिक से॥'' मन मों न बस्यो अस बालक जौ तुलसी जग में फल कौन जिये?॥...अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन मंदिर में बिहरैं॥" (क० बा० १-४) इन कवितावली के मंगलाचरण वाले चार छन्दों में इसी छवि का वर्णन है और फिर इन्हें अपने हृदय में निवास कराना कहा गया है। छबि अनूप है, इसीसे तो इसे हृदय में बसा रक्खा है।

यहाँ तक शिशु (बाल) अवस्था का वर्णन हुआ, आगे पौगण्ड अवस्था की क्रीड़ाओं के वर्णन होंगे।

पौगण्ड-अवस्था के चरित

राग बिभास

[३६]

भोर भयो जागहु, रघुनंदन!। गत व्यलीक भगतनि उर चंदन॥१॥
ससिकर हीन, छीन दुति तारे। तमचुर मुखर, सुनहुँ मेरे प्यारे!॥२॥
बिकसित कंज, कुमुद बिलखाने। लै पराग रस मधुप उड़ाने॥३॥
अनुज सखा सब बोलनि आए। बंदिन्ह अति पुनीत गुन गाए॥४॥

मन भावतो कलेऊ कीजै। तुलसिदास कहँ जूँठनि दीजै ॥५॥

अर्थ—(माता कहती हैं—) हे रघुनन्दन ! अब प्रातःकाल हो गया। अतः अब जाग कर उठ बैठो। तुम तो निष्कपट हृदय वाले भक्तों के हृदय के (शीतल करने वाले) चन्दन हो ॥ १ ॥ देखो, चन्द्रमा अब किरणहीन हो रहे हैं और तारागणों की द्युति क्षीण हो रही है। ऐ मेरे प्यारे ! सुनो तो! अब कुक्कुट बोल रहे हैं ॥ २ ॥ कमल अब खिल रहे हैं, कुमुदगण उदास होकर सम्पुटित हो रहे हैं, और (कमलों से) पराग (धूलि) और रस लेकर भ्रमर गण उड़ रहे हैं ॥ ३ ॥ (पुनः देखो तो !) तुम्हारे भरत आदि छोटे भाई और विजय आदि सखा तुम्हें बुलाने आये हैं तथा बन्दीगण तुम्हारे अत्यन्त पवित्र गुणों का गान कर रहे हैं ॥ ४ ॥ अब तुम मन भाया कलेऊ करो और तुलसीदास को अपनी जूठन दो ॥ ५ ॥

विशेष—'भोर भयो…'—रघुनंदन सम्बोधन का भाव यह कि तुम्हारे जागने पर तुम्हारी विविध क्रीड़ाओं को देख कर रघुवंशी आनंदित होंगे। अतः, जागो।

'गत व्यलीक…'—जो भक्त इष्ट पर विश्वास नहीं रखता, पर अपने को दास कहता है, उसकी प्रीति कपट पूर्ण है। तथा जो स्वार्थ पूर्ति की कांक्षा रखता है, उसकी भक्ति भी स्वार्थ की भक्ति है, प्रभु की नहीं। अतः, स्वार्थ ही छल है; यथा—"सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥" (मा० अ० ३००); तथा—"जे लोलुप भये दास आस के ते सबही के चेरे। प्रभु विस्वास आस जीती जिन्ह ते सेवक हरि केरे॥" (वि० १६८); "मोर दास कहाइ नर आसा। करै तो कहहु कहा बिस्वासा॥" (मा० उ० ४५)। ऐसे कपट-प्रीति वालों पर प्रभु वैसा ममत्व नहीं रखते; यथा—"नहिं कोउ प्रिय मोहिं दास सम, कपट-प्रीति बहि जाउ॥" (सुं० ४५)। इससे यहाँ निष्कपट प्रीति वाले भक्तों के हृदय को तीनों तापों से शीतल रखने वाले चन्दन रूप प्रभु कहे गये हैं। व्यलीक का अर्थ कपट होता है।

शङ्का क्या अर्थार्थी भक्तों का हृदय सन्तप्त ही रहता है ?

समाधान—स्वार्थ-सिद्धि पर उस भक्त का प्रभु विश्वास दृढ़ हो जाता है

तब प्रीति बढ़ने से वह स्वतः निष्काम प्रीति करने लगता है, तब वह हृदय में शान्ति रूपी शीतलता भी प्राप्त करता है।

'ससि कर हीन...'—ये सब प्रातःकाल सूचक हैं। अतः प्रात;काल होने की प्रतीति करके जागेंगे। इस चरण में अरुणोदय काल का वर्णन है। तमचुर (सं० ताम्रचूड़) = मुरगा, कुकुट।

'बिकसित कंज...'-इस चरण में उससे अधिक सवेरा होना कहा गया है कि कमल खिल गये और उनसे भ्रमर भी उड़ रहे हैं तथा कुईं सम्पुटित हो गईं।

'अनुज सखा सब...'—ये सब जग कर आ गये हैं। अतः अब तुम्हें भी तो जग कर उठना चाहिये। अनुज—श्रीभरत, श्रीलक्ष्मण और श्रीशत्रुघ्न। सखा; यथा—"विजयो मधुमत्तश्च काश्यपो मङ्गलः कुलः सुराजिः कालियो भद्रो दन्तवक्त्रः सुमागधः॥" (वाल्मी० ७.४३.२); अर्थात् विजय, मधुमत्त, काश्यप, मङ्गल, कुल, सुराजि, कालिय, भद्र, दन्तवक्त्र और सुमागध—ये दस श्रीरामजी को हँसानेवाले सखा हैं। प्राय: ये प्रातःकाल आकर प्रभु को हँसाने के लिये अनुरूप कथाएँ कहते एवं वैसे अभिनय करते हैं।

'मन भावतो कलेऊ कीजै' यथा—"जो मन भाव मधुर कछु खाहू।" (मा० अ० ५२); 'तुलसिदास कहँ जूठन दीजै।'—माता के मुख से अपनी दासत्व निष्ठा (प्रसाद-सेवन) कहलाने में 'भाविक अलंकार' है। भक्त काकभुशुण्डीजी ने कहा है; यथा—"जूठनि परै अजिर महँ, सो उठाइ करि खाउँ।" (मा० उ० ७५)।

[३७]

प्रात भयो, तात ! बलि मातु बिधु बदन पर
मदन वारौं कोटि, उठौ प्रान प्यारे !।
सूत -मागध-बंदि बदत बिरुदावली;
द्वार सिसु अनुज प्रियतम तिहारे ॥१॥
कोक गतसोक अवलोकि ससि छीन छबि,
अरुनमय गगन राजत रुचिर तारे।
मनहुँ रबि बालमृगराज तम-निकर-करि
दलित अति ललित मनिगन बिथारे ॥२॥

सुनहु तमचुर मुखर, कीर कलहंस पिक
केकि रव कलित, बोलत बिहँग बारे।
मनहुँ मुनिबृंद रघुबंसमनि ! रावरे
गुनत गुन आश्रमनि सपरिवारे ॥३॥
सरनि बिकसित कंज-पुंज मकरंद बर,
मंजुतर मधुर मधुकर गुँजारे।
मनहुँ प्रभु जनम सुनि चयन अमरावती
इंदिरानंद - मंदिर सँवारे ॥४॥
प्रेम संमिलित बर-बचन-रचना अकनि
राम राजीव - लोचन उघारे।
दास तुलसी मुदित, जननि करै आरती,
सहज सुंदर अजिर पाँउ धारे ॥५॥

अर्थ—हे तात ! प्रात:काल हो गया, मैं माता बलिहारी जाती हूँ। हे प्राणप्यारे ! अब उठो, मैं तुम्हारे चन्द्रवदन पर करोड़ों कामदेवों को निछावर करती हूँ। द्वार पर पौराणिक, कथक और भाँट लोग तुम्हारी विरुदावली गा रहे हैं और तुम्हारे अत्यन्त प्यारे छोटे भाई और बालक खड़े हैं (देखो तो) ॥ १ ॥ चन्द्रमा की छबि क्षीण होती देख कर चकवा-चकवी शोक-रहित हो रहे हैं और लालरंगमय आकाश में सुन्दर तारे ऐसे प्रकाशित हो रहे हैं मानो सूर्य रूपी बाल मृगराज ने अन्धकार समूह रूपी हाथियों को विदारित कर उनके अत्यन्त मनोहर मणिगण बखेर (छितराय) दिये हों ॥ २ ॥ (लाल !) सुनो तो ! कुक्कुट बोल रहे हैं और तोते, कलहंस, कोयल और मयूर आदि पक्षी एवं इन पक्षियों के बच्चे कैसे मनोहर शब्द बोल रहे हैं मानो, हे रघुवंशमणि ! मुनिवृन्द अपने परिवार के साथ अपने-अपने आश्रमों में आपके गुणों का वर्णन कर रहे हों ॥ ३ ॥ सरोवर में कमल-समूह प्रफुल्लित हो रहे हैं और उनके श्रेष्ठ मकरंद के लिये अत्यन्त मनोहर भ्रमर मधुर गुञ्जार कर रहे हैं मानों प्रभु (आप) के जन्म-समाचार सुनकर इन्द्रपुरी में आनन्दोत्सव हो रहा है और लक्ष्मीजी ने अपने आनन्द-भवन को सजाया है ॥ ४ ॥ यह प्रेम-मिश्रित श्रेष्ठ वचन रचना सुनकर श्रीरामलालजी ने अपने लाल कमल के समान नेत्र खोले।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि आनन्दित होकर माता आरती करने लगीं, तब स्वाभाविक सुन्दर श्रीरामजी आँगन में पधारे ॥ ५ ॥

विशेष—'बिधु बदन पर मदन कोटि वारौं'—माता लाल के मुखचन्द्र अवलोकन के लिये लालायित हैं, उसमें माता को करोड़ों कामदेवों के सौन्दर्य से कहीं अधिक सुख प्राप्त होता है, इसलिये कोटि काम निछावर करना कहती हैं। यहाँ 'चतुर्थ प्रतीपालंकार' है।

'सूत-मागध-बंदि···'—ज्येष्ठ पुत्र होने से श्रीराम लालजी राज्य पद के अधिकारी हैं। अतः राजाओं की भाँति इनके जगाने की विधि अभी से होती है।

'मनहुँ रबि बालमृगराज···'—यहाँ सूर्य बालसिंह हैं; क्योंकि अभी उदय हो रहे हैं। तमसमूह हाथी समूह हैं और तारागण ललित मणिगण (गजमुक्ता) हैं। यहाँ 'रूपक से पुष्ट उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

'सुनहुँ तमचुर मुखर···मनहुँ मुनिबृंद··'—यहाँ मुनिवृंद पक्षिगण हैं, उनके परिवार पक्षिगण के बच्चे हैं और मुनियों के आश्रम पक्षियों के खोंता (घोसला) के समान हैं। पक्षियों में कई भेद हैं, वैसे ही मुनिवृंद में कई भेद के मुनि हैं। वहाँ पक्षिगण मनोहर शब्द करते हैं, वैसे यहाँ मुनिगण आपके गुणों का गान करते हैं; यथा—"भृत्य प्रेममत्त फिरत गुनत गुन तिहारे।" (पद ३८)। यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

'सरनि बिकसित···मनहुँ प्रभु जनम सुनि···'—इसमें 'सरनि विकसित कंज-पुंज' इसकी उत्प्रेक्षा में 'इंदिरानंद-मंदिर सँवारे' यह कहा गया है। श्रीलक्ष्मीजी कमला हैं, वे आनन्दित हो कमल धारण भी करती हैं। अतः, प्रफुल्लित कमल ऐसे सुन्दर लगते हैं, मानों लक्ष्मीजी ने प्रभु जन्म के उत्साह में इन्हें अपने आनन्द का मन्दिर मानकर सजाया है। तथा उन कमलों के श्रेष्ठ मकरंद के लिये अत्यन्त मनोहर भ्रमरों का गुंजार ऐसा जान पड़ता है मानो प्रभु-जन्म-महोत्सव के उपलक्ष का इन्द्रलोक में अप्सराओं एवं किन्नरों के गान वाद्य आदि हो रहे हैं। यहाँ 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

इन्द्र आदि देवता रावण के वन्दीगृह में पड़े हैं, प्रभु जन्म से इनका उद्धार होगा, इससे ये 'चयन' मना रहे हैं और रावण ने विष्णु भगवान् का

भी अपमान किया है, इससे रावण को प्रतिफल देने वाले प्रभु के जन्म पर लक्ष्मीजी का आनन्दित होना भी युक्त है। प्रमाण—"कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥" (मा० सुं० १९); "साहिब महेस सदा संकित रमेस मोहिं" (क० सुं० २१)। रावण वध से प्रभु इन सब के दुःख दूर करेंगे, इससे ये आनंदित हैं।

'प्रेम संमिलित···दास तुलसी···'—श्रीरामजी को केवल प्रेम प्यारा है। अतः प्रेम से ही सर्वत्र प्रकट होते हैं। यहाँ भी प्रेमयुक्त श्रेष्ठ वचन रचना पर प्रसन्न होकर अपने नेत्र खोल माता को आनंदित कर दिया। राजीव लाल कमल को कहते हैं, श्रीरामजी के नेत्र स्वभावतः लाल कमल के समान रहते हैं, इस समय तो सोकर उठे हैं, इससे कुछ विशेष लालिमा है। माता आनन्दित हो, उत्थापन की मंगल आरती करती हैं। आरती होने पर श्रीरामजी आँगन में पधारे। इस प्रकार नित्य बाल अवस्था में उत्थापन की विधि होती है।

आगे के पद में किसी और दिन के जगाने की विधि का वर्णन करते हैं—

[३८]

जागिये कृपा-निधान जानराय रामचंद्र !
जननी कहै बार-बार भोर भयो प्यारे।
राजिव लोचन बिसाल, प्रीति-बापिका मराल,
ललित कमल बदन ऊपर मदन कोटि वारे॥१॥
अरुन उदित, बिगत सर्वरी, ससांक किरनहीन,
दीन दीप जोति, मलिन-दुति समूह तारे।
मनहुँ ज्ञानघन प्रकास, बीते सब भव-बिलास,
आस-त्रास-तिमिर तोष-तरनि-तेज जारे॥२॥
बोलत खग निकर मुखर मधुर करि प्रतीत सुनहु,
श्रवन, प्रान जीवन धन मेरे तुम्ह बारे।
मनहुँ बेद-बंदी-मुनिबृंद-सूत-मागधादि,
बिरुद बदत 'जय जय जय जयति कैटभारे'॥३॥
बिकसित कमलावली, चले प्रपुंज चंचरीक,
गुंजत कल कोमल धुनि त्यागि कंज न्यारे।

जनु बिराग पाइ सकल सोक - कूप - गृह बिहाइ,
भृत्य प्रेम - मत्त फिरत गुनत गुन तिहारे ॥४॥
सुनत बचन प्रिय रसाल जागे अतिसय दयाल,
भागे जंजाल बिपुल, दुख - कदंब दारे।
तुलसिदास अति अनंद, देखि कै मुखारबिंद,
छूटे भ्रम - फंद परम मंद द्वंद भारे ॥५॥

शब्दार्थ—जानराय = सुजान-शिरोमणि; यथा—"जान सिरोमनि कोसल-राऊ।" (मा० बा० २७)। सर्वरी (सं० शर्वरी)=रात। ससांक (शशाङ्क)= चन्द्रमा। कदंब=समूह। दारे=विदारित किये, नष्ट कर दिये।

अर्थ—माता बार-बार कहती हैं कि हे कृपानिधान! हे जनराय! हे रामचन्द्र! जागिये; प्यारे! अब प्रातःकाल हो गया। आप लाल कमल के समान विशाल नेत्रवाले और प्रीति रूपी बावली के हंस हैं। आपके मनोहर मुख कमल पर करोड़ों कामदेव निछावर हैं ॥ १ ॥ देखो, अरुणोदय हो गया, इससे रात बीत गई। अतः, चन्द्रमा अब किरणहीन हो रहे हैं, दीपकों की ज्योति मन्द पड़ रही है और समूह ताराओं की द्युति भी अब मलिन पड़ रही है; मानो ज्ञानघन का प्रकाश होने पर समस्त भवविलास निवृत हो गये हों तथा आशा और भय रूपी अंधकार को सन्तोष रूपी सूर्य के तेज ने जला दिया हो ॥२॥ हे मेरे प्राण-जीवन धन! हे मेरे बच्चे! तुम विश्वास मान कर कानों से सुनो तो! ये पक्षि-समूह मधुर शब्द बोल रहे हैं; मानो वेद रूपी वन्दीजन और मुनिवृन्द रूपी सूत-मागधादि 'हे कैटभारे! आप की जय हो, 'जय हो, जय हो, जय हो' इस प्रकार कह कर आपकी विरुद कह रहे हों ॥ ३ ॥ देखो, कमलों की पंक्तियाँ प्रफुल्लित हो उठी हैं और (संध्याकाल से ही उन कमलों के सम्पुटित होते समय के उनमें मुँदे हुए) भ्रमरों के झुण्ड, उन कमलों का त्याग कर उनसे पृथक् हो, मनोहर कोमल ध्वनि में गुञ्जार कर रहे हैं; मानो विराग पाकर आपके सेवक (भक्त) शोक-कूप रूपी घर को छोड़ कर आपके प्रेम में मतवाले हो आपके गुणों का वर्णन करते हों ॥ ४ ॥ माता के इन प्यारे और रसमय वचन सुन कर अत्यन्त दयालु श्रीरामलालजी जग पड़े। इससे बहुत प्रकार के जञ्जाल दूर हो गये और आपने दुःख-समूह का नाश कर दिया। श्रीतुलसीदासजी

कहते हैं कि आप के मुखारविन्द को देखकर (समस्त भक्तों को) अत्यन्त आनन्द हुआ। (उनके) भ्रम रूपी फन्दे छूट गये और राग द्वेष आदि भारी द्वन्द्व अत्यन्त मन्द हो गये ।। ५ ॥

विशेष—यह पद श्रीगोस्वामीजी ने मारवाड़ देश के भीथरा स्थान में बनाया है, ऐसा जान पड़ता है। वहाँ के श्रीठाकुरजी का नाम 'जानराय' है, यह बहुत प्रसिद्ध है; तथा—"धरयो जानराय नाम जानि लई ही की बात" (भक्तमाल टीका क० १२४); वह गद्दी श्रीकूवाजी की है। श्रीगोस्वामीजी श्रीकूवाजी के गुरु भाई थे। श्रीनरहरिदासजी के प्रथम शिष्य श्रीकूवाजी हैं और द्वितीय श्रीगोस्वामीजी हैं; यथा—"द्वितिये नरहरिदास के, भये जो तुलसीदास। रामायण शुचि ग्रन्थ रचि, जग में कियो प्रकास ॥" यह दोहा श्रीकूवाजी की जीवनी में है, वह जीवनी श्रीकूवाजी के समकालीन उनके गुरु भाई श्रीरघुयाथदासजी की लिखी हुई है। यह जीवनी भीथरा गद्दी में अब भी उपस्थित है।

श्रीरामचरित मानस के सिद्धान्त-तिलक की भूमिका में इस पर विशेष विचार किया गया है।

इस प्रमाण से 'जानराय' यह नाम वहाँ के श्रीठाकुरजी का है और इस नाम के अर्थ में उक्त 'सुजान-शिरोमणि' का भाव भी है।

'जागिये कृपा-निधान ··'—इस प्रथम चरण के पूर्वार्द्ध में ऐश्वर्य परक तीन विशेषण हैं—'कृपा-निधान', 'जानराय' और 'रामचन्द्र'। फिर उन्हें ही 'प्यारे' इससे माधुर्य प्रारम्भ कर क्रमशः—'राजिवलोचन विशाल'। 'प्रीति-बापिका-मराल' और 'ललित कमल बदन उपर मदन कोटि वारौं' इस प्रकार कहा है। भाव यह कि आप 'कृपा-निधान' हैं इसका कार्य 'राजिवलोचन बिसाल' से होता है; यथा—"देखी राम सकल कपि सैना। चितइ कृपा करि राजिव नैना ॥ राम कृपा बल पाइ कपिंदा। भए पच्छजुत मनहुँ गिरिंदा ॥" (मा० सुं० ३४); तथा—"सुनि सीता-दुख प्रभु सुख अयना। भरि आये जल राजिव नयना ॥ बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बूझिय बिपति कि ताही ।।" (मा० सुं० ३१)।

'जानराय' हैं। अतः' 'प्रीति-वापिका-मराल' होते हैं; क्योंकि आप;

भक्त के मन की प्रीति को जानकर ही उसकी प्रीति रूपी बावली के हंस हुए हैं यथा—"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥" (मा० अ० २५३)। 'रामचन्द्र' हैं, इससे 'ललित कमल बदन···' ऐसे आह्लादमय मुखकमलवाले हैं। 'चदि-आह्लादने' इस धातु से निष्पन्न चन्द्र पद उनके आह्लादकत्व का बोधक है। आपने अपने भक्तों को रमाने के लिये ही अपने मुख कमल में ऐसा अह्लादकत्व धारण कर रक्खा है। (अतः 'रामचंद्र' इस पद से 'राम' पद में प्रकट हुए गुणों के द्वारा चन्द्रपद से श्रीरामजी का निरवधिक आनन्द जनकत्व सिद्ध होता है। इसीसे ऐसे प्रसंगों पर इस नाम का प्रयोग हुआ है: यथा—"सब बिधि सब पुर लोग सुखारी। रामचंद्र मुखचंद्र निहारी॥" (मा० अ० १); "रामचंद्र गुन बरनइ लागा। सुनतहि सीता कर दुख भागा॥" (मा० सुं० १२); तथा "बिधु महि पूर मयूखन्हि, रवि तप जेतनेहि काज। माँगे बारिद देंहि जल, रामचंद्र के राज॥" (मा० उ० २३); इत्यादि।

माता कौशल्याजी को अलौकिक-विवेक का वरदान प्राप्त है, इससे उनके द्वारा ऐसे ऐश्वर्य और माधुर्य-सम्मिश्रण के वचनों का कहा जाना योग्य ही है यथा—"मातु बिबेक अलौकिक तोरे। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे॥" (मा० बा० १५०)।

'अरुन उदित मनहुँ ज्ञानघन···'—यहाँ 'ज्ञान घन प्रकास' ही 'अरुन-उदित' होने के समान है; यथा—"ज्ञान भानु गत।" (मा० उ० १२०); "तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति भारत।" (गीता ५।१६); "जासु ज्ञान रवि भव निस नासा।" (मा० अ० २७६)। सूर्य के तेज से अन्धकार जल जाता है, तब रात निवृत्ति होती है। अतः ज्ञान घन के अनुभव से सन्तोष का उदय हुआ, उससे आश-त्रास रूपी अन्धकार दूर हुए। जैसे सूर्योदय पर चन्द्रमा, दीपक एवं तारा गणों की किरणें, ज्योति एव द्युति निवृत्त हो जाते हैं; वैसे ही ज्ञान घन के उदय पर मन रूपी चन्द्रमा संकल्प रूपी किरणों से हीन होता है, बुद्धि अपने प्राकृत ज्ञान की अभिमान रूपी ज्योति से रहित हो जाती है और वैराग्य-विवेक आदि गुण रूपी तारागणों की भी अभिमान रूपी द्युति नहीं रह जाती। इन सब की व्यवस्था आत्मा के प्रकाश से

ही सिद्ध होती है। इन मन आदि की इस प्रकाश-हीनता पर सब भव-विलास निवृत्त हो जाते हैं; यथा—"जौं निज मन परिहरै विकारा। तौ कत द्वैत जनित संसृति दुख संसय सोक अपारा॥" (वि० १२४), तथा—"मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासंगि मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥" (वि० पु० ६।७।२७); अर्थात् निर्विषय मन से मुक्ति होती है और इसकी विषयासक्ति से जन्म-मरण का बन्धन होता है। यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा-अलङ्कार' है।

'बोलत खग-निकर मनहुँ बेद बंदी···'—यहाँ पक्षि-समूह के मधुर शब्दों पर उत्प्रेक्षा करते हैं कि जैसे राजाओं के जगाने के लिये बन्दीगण एवं सूत-मागध आदि विरुद कहते हैं। वैसे ही आपकी विरुद वर्णन करनेवाले वेद बन्दीजन के समान हैं और मुनिगण सूत-मागध आदि के समान हैं। कैटभ आदि दैत्यों का संहार कर आपके धर्म-संस्थापन आदि की विरुद का वर्णन करते हुए ये सब आपके सर्वकाल में जय होने का ही वर्णन करते हैं। वेदों का वन्दी वेष में आकर स्तुति करना मा० उ० १२ में लिखा है। जैसे सूत-मागध आदि श्लोक एवं छन्दों में विरुद कहते हैं, वैसे पराशर व्यास आदि पुराणों के द्वारा और मुनि विविध संहिताओं के द्वारा आपकी विरुद का ही वर्णन करते हैं। यथा—"वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ। आदौ चान्ते तथा मध्ये हरिः सर्वत्रगीयते॥" (महा० स्वर्गा० ६।९३); अर्थात् वेद, रामायण और महाभारत आदि में सर्वत्र हरि (श्रीरामजी) का यश गान किया गया है। यहाँ 'रूपक से पुष्ट उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा-अलंकार' है।

'बिकसित कमलावली···जनु बिराग पाइ···'—सम्पुटित कमलावली के समान शोक कूप गृह है। जैसे कमल में बन्द भ्रमर को सब ओर कमल ही दीखता है, गृह में आसक्त गृही को गृह ही दृष्टि में रहता है। भगवान् नहीं देख पड़ते; यथा—"काम क्रोध मद लोभ रत, गृहासक्त दुख रूप। ते किमि जानहिं रघुपतिहि, मूढ़ परे तम कूप॥" (मा० उ० ७३); कूप से निकलना कठिन है, वैसे ही गृह से भी निकलना कठिन है। 'जनु बिराग पाइ'; यथा—"प्रथमहि बिप्र चरन अति प्रीती। निज-निज कर्म निरत श्रुति रीती॥ तेहि कर फल मन बिषय-बिरागा।" (मा० अर० १५); यह कर्मयोग द्वारा वैराग्य

पाने की रीति है। किन्तु यहाँ प्रेममत्त भृत्य के वैराग्य पाने का प्रसंग है। अतः, भक्ति से ही हरि कृपा से वैराग्य प्राप्त होना कहा गया है। जैसे सूर्योदय पर कमल खिलता है और फिर कमल में बँधे भ्रमर भी कमल से पृथक् हो पाते हैं, वैसे ही सामान्य रीति से भक्ति करते हुए अविद्या का नाश होता है और विवेक रूप सूर्य का उदय होता है; यथा—"भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा॥" (मा० उ० ११८)। तब भृत्य हरि प्रेम में मत्त हो गृह-कूप से निकल कर स्वतंत्र हरिगुण गाते हुए विचरते (काल-क्षेप) करते हैं। विशेष भक्ति करते हैं; यथा—"स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽ-घौघहरं हरिम्। भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥" (भाग० ११।३।३१); अर्थात् प्रथम की वैधी भक्ति से प्रेम-लक्षणा आदि विशेष भक्तियाँ होती हैं। यहाँ भी उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा-अलंकार' है।

'सुनत बचन प्रिय रसाल जागे…'—श्रीकौसल्याजी के जगाने का प्रसंग कहकर ग्रन्थकार साथ ही प्रभु के जाग्रत से आश्रितों का लाभ कहते हैं कि अति-शय दयालु प्रभु के जागने पर एवं आश्रित पर दृष्टि करने पर इसके नाना प्रकार के जंजाल दूर हो जाते हैं और इसके दुःख समूहों का नाश हो जाता है। दासों को प्रभु के मुख कमल के दर्शन पर आनन्द प्राप्त होने लगता है और भ्रम रूपी फन्दे टूट जाते हैं तथा उसके राग-द्वेष आदि द्वन्द्व भाव अत्यंत मंद पड़कर फिर निवृत्त हो जाते हैं; यथा—"तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै। जेहि सुभाय बिषयनि लग्यो, तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छल करिहै॥ सुत की प्रीति, प्रतीति मीत की, नृप ज्यों डर डरिहै। अपनो सो स्वारथ स्वामि सों, चहुँ बिधि चातक ज्यों एक टेक ते नहिं टरिहै॥ हरषिहै न अति आदरे, निदरे न जरि मरिहै। हानि-लाभ दुख-सुख सबै सम चित हित अनहित, कलि कुचालि परिहरिहै॥ प्रभु गुन सुनि मन हरषिहै, नीर नयन ढरिहै। तुलसिदास भयो राम को, बिस्वास प्रेम लखि आनँद-उमँगि उर भरिहै॥" (वि० २६८)।

[३६]

बोलत अवनिप-कुमार ठाढ़े नृप-भवन-द्वार,
रूप - सील - गुन उदार जागहु मेरे प्यारे।

बिलखित कुमुदिनि, चकोर, चक्रवाक हरष भोर,
करत सोर तमचुर खग, गुंजत अलि न्यारे ॥१॥
रुचिर मधुर भोजन करि, भूषन सजि सकल अंग,
संग अनुज बालक सब बिबिध बिधि सँवारे।
करतल गहि ललित चाप भंजन रिपु-निकर-दाप
कटितट पट पीत, तून सायक अनियारे ॥२॥
उपवन मृगया-बिहार-कारन गवनें कृपाल,
जननी मुख निरखि पुन्य पुंज निज बिचारे।
तुलसिदास संग लीजै, जानि दीन अभय कीजै,
दीजै मति बिमल गावै चरित बर तिहारे ॥३॥

अर्थ—(माता कहती हैं--) महाराजा (दशरथ जी) के राजभवन के द्वार पर खड़े हुए और राजाओं के कुमार तुम्हें बुला रहे हैं। अतः' "हे रूप, शील और गुण में श्रेष्ठ मेरे प्यारे श्रीरामलालजी ! जागो। देखो, प्रातःकाल हो जाने से कुईं और चकोर दुखित हो रहे हैं और चकवा-चकवी हर्षित हो रहे हैं, कुक्कुट तथा और पक्षी तो शोर मचा रहे हैं एवं भ्रमरगण कमलों से पृथक् निकल कर गुञ्जार कर रहे हैं'' (अब नितान्त प्रातःकाल हो गया यह समझ कर श्रीरामजी जागे) ॥ १ ॥ विविध प्रकार शृङ्गार किये हुए छोटे भाइयों और सब बाल-सखाओं के साथ अत्यन्त स्वादिष्ट और मधुर भोजन कर तथा अपने सब अंगों में भूषण सज कर एवं हाथ में सत्रु-समूह के अहंकार का भंजन करनेवाला मनोहर धनुष ग्रहण कर तथा कटि भाग में पीताम्बर और पैने बाणों से पूर्ण तर्कश धारण कर कृपालु श्रीरामजी मृगया-विहार के लिये उपवन चले। उस समय उनका मुख देखकर (उनकी प्रसन्नता से) माता ने अपने बड़े पुण्यों का फल समझा। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि हे प्रभो ! इस दास को भी साथ कर लीजिये, इसे दीन जानकर अभय कर दीजिये और ऐसी निर्मल बुद्धि दीजिये, जिससे यह आपके श्रेष्ठ चरित गाया करे ॥ २-३ ॥

विशेष—'बोलत अवनिप कुमार···'—वे भी राजकुमार हैं, जगकर आ गये हैं। तुम्हारे जागने की प्रत्याशा कर रहे हैं। अतः तुम्हें भी अब शीघ्र जग जाना चाहिये। 'रूप सील गुन उदार ··'—वे सब तुम्हारे रूप, शील और

गुण की उदारता आबद्ध हैं इसी से प्रत्याशा करते हुए खड़े हैं। माता का अपना भी भाव है कि जगा कर तुम्हारे रूप, शील और गुण से आनन्द प्राप्त करूँ।

'बिलखित कुमुदिनि चकोर…'—अब प्रातःकाल होने के प्रसिद्ध चिह्नों का वर्णन करती हैं। इनसे स्पष्ट हो जायगा कि अब नितान्त प्रातःकाल हो गया। अतः उठना ही चाहिये। (ऐसा विचार कर श्रीरामलालजी जग कर उठ गये, यह अध्याहार से लगा लेना चाहिये)।

'रुचिर मधुर भोजन करि…'—ये अनुज-सखा श्रीरामजी के नित्य परिकर हैं; यथा—"हम सब सेवक अति बड़ भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी। निज इच्छा प्रभु अवतरइ, सुर-महि-गो-द्विज लागि। सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥" (मा० कि० २५-२६)। अतः, ये सभी कृत्यों में श्रीरामजी के पास नियत समय पर पहले से ही सम्पन्न होकर प्रस्तुत रहते हैं। इससे आ गये हैं। श्रीरामजी का स्वभाव है कि अपने अनुज और सखाओं के साथ ही भोजन आदि करते हैं; यथा—"अनुज सखा सँग भोजन करहीं।" (मा० बा० २०४)। इससे यहाँ द्वार पर पहले ही से अनुज सखा सज-धज कर आ गये हैं और श्रीरामलालजी ने जग कर उन सब के साथ ही भोजन (कलेऊ) किया है।

'करतल गहि ललित चाप…'धनुष देखने में ललित है, तथापि शत्रु-समूह का गर्व तोड़नेवाला है। वैसे बाण भी पैने हैं। 'कटितट पट पीत'—पीताम्बर पहने हुए हैं और उसीसे तर्कश भी कटिभाग में कसे हुए हैं, साथ ही लिखने से यह सिद्ध है।

'उपवन मृगया बिहार…'—श्रीरामजी श्रीसरयूजी के तट के उपवनों में प्रायः मृगया के लिये जाया करते थे; यथा—'कदाहं पुनरागम्य सरय्वाः पुष्पिते वने। मृगयां पर्यटिष्यामि मात्रा-पित्रा च संगतः॥ नात्यर्थमभिकाङ्क्षामि मृगयां सरयू वने। रतिर्ह्येषातुला लोके राजर्षिगणसंमता॥ राजर्षीणां हि लोकेऽस्मिन् त्यर्थं मृगया वने। काले कृतां तां मनुजैर्धन्विमामभिकांक्षिताम्॥' (वाल्मी० २।४९।१४-१६); अर्थात् (श्रीरामजी ने श्रीसुमन्त्रजी से वनयात्रा समय कहा है—) कब मैं पुनः लौटकर माता पिता से मिलकर श्रीसरयू तीर के पुष्पित वन में अहेर खेलूँगा ?। मैं श्री सरयूवन में अहेर खेलने की बहुत कांक्षा नहीं करता,

किन्तु यह मृगया प्रेमलोक में राजर्षियों द्वारा प्रशंसित है। अतएव सर्वथा निषिद्ध भी नहीं है। वन में अहेर खेलना राजर्षियों के मन बहलाव के लिये था, समय-समय पर मनु पुत्रों ने अहेर खेला है, यह खेल धनुर्धारियों को प्रिय है; क्योंकि इसमें लक्ष्यवेध का अवसर मिलता है। पूर्वोक्त पद २२ के 'राम अहेरे चलहि गे···' इसका विशेष भी देखिये। 'गवने कृपाल' इस पद से श्रीगोस्वामीजी ने इस प्रसंग में भी उन जंगली जीवों पर कृपा करना ही कहा है; यथा—"बंधु सखा संग लेहि बोलाई। बन मृगया नित खेलहिं जाई॥ पावन मृग मारहिं जिय जानी। दिन प्रति नृपहिं देखावहिं आनी॥ जे मृग राम बरन के मारे। ते तनु तजि सुरलोक सिधारे॥" (मा० बा० २०४)।

'जननी मुख निरखि···' - वात्सल्य रस में माता-पिता आदि पुत्र की प्रसन्नता ही चाहा करते हैं, इससे वे बार-बार मुखाकृति देखा करते हैं; यथा- "वंदि बिप्र सुर गुरु पितु माता। पाइ असीस मुदित सब भ्राता॥ जननिन्हि सादर बदन निहारे। भूपति संग द्वार पगु धारे॥" (मा० बा० ३५७); तथा—"राम सुमंत्रहि आवत देखा। आदर कीन्ह पिता सम लेखा॥ निरखि बदन कहि भूप रजाई। रघुकुल-दीपहि चलेउ लेवाई॥" (मा० अ० ३८)। पुत्र की प्रसन्नता देख माताओं ने इसे अपने पुण्य के प्रभाव से माना; क्योंकि सन्तानों की अभिवृद्धि माता-पिता के पुण्य-प्रभाव से होती है। यथा—"पुन्य फल अनुभवति सुतहि बिलोकि दसरथ घरनि।" (पद २७)–इसका विशेष देखिये। तथा—"जनक सुकृत मूरति बैदेही। दसरथ सुकृत राम धरे देही॥" (मा० बा० ३०९)।

'तुलसिदास संग लीजै···'—इस चरित के ध्यान में श्रीगोस्वामीजी तन्मय होकर देहाध्यास भूल गये, इससे आपने यहाँ प्रत्यक्ष की भाँति कहा है। 'संग लीजै' ऐसा कहने का भाव यह कि मेरी चित्त वृत्ति सदा इन चरित्रों के साथ नहीं रह पाती। अत:, बाधक कलिकाल आदि से मैं भयभीत हो दीनता पूर्वक आप की शरण हो इनसे अभयता माँग रहा हूँ। फिर वैसी निर्मल बुद्धि भी दीजिये, जिससे आपके निर्मल श्रेष्ठ चरितों का रहस्य समझ समझ कर इन्हें गाया करूँ। इसमें बड़ा आनन्द मिलता है; यथा—"मम गुन

ग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ, परानंद संदोह॥" (मा० उ० ४६)।

राग नट

[४०]

खेलन चलिये आनँदकंद।
सखा प्रिय नृप-द्वार ठाढ़े बिपुल बालक-बृंद ॥ १ ॥
तृषित तुम्हरे दरस कारन चतुर चातक दास।
बपुष-बारिद बरषि छबि-जल हरहु लोचन-प्यास ॥ २ ॥
बंधु-बचन बिनीत सुनि उठे मनहुँ केहरि-बाल।
ललित लघु सर-चाप कर, उर-नयन-बाहु बिसाल ॥ ३ ॥
चलत पद प्रतिबिंब राजत अजिर सुखमा-पुंज।
प्रेमबस प्रति चरन महि मानो देति आसन कंज ॥ ४ ॥
निरखि परम बिचित्र सोभा चकित चितवहिं मात।
हरष-बिबस न जात कहि, 'निज भवन बिहरहु, तात' ॥ ५ ॥
देखि तुलसीदास प्रभु-छबि रहे सब पल रोकि।
थकित निकर चकोर मानहुँ सरद इंदु बिलोकि ॥ ६ ॥

अर्थ—हे आनन्द कन्द (श्रीरामलालजी)! अब खेलने के लिये चलिये। आपके प्यारे सखा और बहुत से बालकों के समूह राजद्वार पर खड़े हैं (आपकी प्रत्याशा कर रहे हैं) ॥ १ ॥ आपके दर्शनों के लिये आपके अनन्य भक्त रूप चतुर चातक अत्यन्त प्यासे हैं। आप अपने शरीर रूप मेघ से छवि रूप जल बरसा कर सबके नेत्रों की प्यास का हरण कीजिये ॥ २ ॥ श्रीभरत आदि भाइयों की विनीत बातें सुनकर श्रीरामजी उठे, मानो बाल केसरी उठा हो। उनके हाथों में मनोहर छोटे-छोटे धनुष और बाण हैं तथा उनके हृदय, नेत्र और बाहु विशाल हैं ॥ ३ ॥ (मणिमय) परम शोभा मय आँगन में चलते समय श्री चरणों के प्रतिबिम्ब ऐसे शोभायमान हैं मानो प्रेमवश होकर पृथिवी पद-पद पर कमल का आसन देती है ॥ ४ ॥ यह परम विचित्र शोभा देख कर माताएँ चकित होकर श्रीरामजी को देख रही हैं। वे हर्ष के विशेष वश हैं, इससे उनसे यह नहीं कहा जाता कि 'हे तात! अपने घर में ही क्रीड़ा विहार

करो' (बाहर न जाओ) ॥ ५ ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि प्रभु की छबि देख कर पलक रोक कर सब थकटक रह गये हैं मानो शरद ऋतु के चन्द्रमा को देख कर चकोरों का समूह स्थगित हो रहा हो ॥ ६ ॥

विशेष 'खेलन चलिय आनँदकंद ।'—जैसे मेघ चल-चल कर जल वर्षा करते हैं, वैसे ही आपके चल-फिर कर खेलने से आनंद की वर्षा होती है। यहाँ 'कंद' का अर्थ मेघ अधिक संगत है। श्रीरामजी आनंदकंद हैं; यथा· "जो आनंदसिंधु सुख रासी। सीकर ते त्रयलोक सुपासी ।। सो सुख धाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा ॥" (मा० बा० १९६)। श्रीरामजी का शरीर सच्चिदानन्द मय हैं, इससे बच्चों को खेलने में जब स्पर्श होता है, तब अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता है; यथा—"सब सिसु येहि मिस प्रेम बस, परसि मनोहर गात। तनु पुलकहिं अति हरष हिय, देखि-देखि दोउ भ्रात ॥" (मा० बा० २२४); इससे यहाँ 'आनँद कंद' पद सार्थक है।

'तृषित तुम्हरे···बपुष-बारिद···'—'चतुर चातक दास'; यथा - "बरषि परुष पाहन पायद, पंख करौ टुक टूक। तुलसी परी न चाहिये, चतुर चातकहि चूक ॥२८२॥···अंड फोरि कियो चेटुवा तुष परयो नीर निहारि। गहि चंगुल चातक चतुर, डारयो बाहिर वारि ॥ ३०३ ॥" (दोहावली); अर्थात् चतुर चातक की भाँति अनन्य भक्त वह है, जो स्वामी की ओर से आये हुए भाँति-भाँति के दुःखों को सहता हुआ भी उनकी भक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि ही करे, और स्वामी के अतिरिक्त और किसी से भी किसी प्रकार का सम्बन्ध एवं आशा न करे। ऐसे भक्तों की दर्शन-प्यास चातक की प्यास के समान है; तथा— "लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाखे ॥ निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप बिंदु जल होहिं सुखारी ॥ तिन्ह के हृदय सदन सुखदायक। बसहु बंधु सिय सह रघुनायक ॥" (मा० अ० १२७)। ऐसे भक्त सखाओं को दर्शन दीजिये।

अलंकार–रूपक।

'उर नयन बाहु बिसाल'– हृदय (वक्षःस्थल) चौड़ा, नेत्र बड़े-बड़े और बाहु लम्बे-लम्बे हैं। विशाल शब्द के चौड़े बड़े और लम्बे तीनों अर्थ होते हैं।

'उठे मनहुँ केहरिबाल'; यथा—" ठाढ़ भये उठि सहज सोहाए। ठवनि

जुवा मृगराज लजाए ॥" (मा० बा० २५२)। 'अजिर सुखमापुंज'; यथा- "नृप मंदिर सुंदर सब भाँती। खचित कनक मनि नाना जाती॥ बरनि न जाइ रुचिर अँगनाई। जहँ खेलैं नित चारिउ भाई॥" (मा० बा० ७५)।

'प्रेमबस'–इस पृथिवी का ही भार उतारने आए हैं, इससे इसे प्रेम है। चरण तल का प्रतिबिम्ब कमल के समान देख पड़ता है।

'निरखि परम बिचित्र सोभा...'—वहाँ की पृथिवी नाना प्रकार के रंगों की मणियों से जटित है और फिर उस पर चरण के विविध रंगवाले २४-२४ चिह्नों के प्रतिबिंब पड़ते हैं, तब परम-विचित्र शोभा हो जाती है। माताएँ, यह देख चकित हैं और उनके हृदय में अपार हर्ष है, इससे बोल नहीं सकती थीं; यथा—"एवमुक्ता तु सा देवी सीता शशिनिभानना। प्रहर्षेणावरुद्धा सा व्याहर्तुं न शशाक ह ॥...प्रहर्ष वशमापन्ना निर्वाक्यास्मि क्षणान्तरम् ॥" (वाल्मी० ६।११३।१४-१७); अर्थात् श्रीहनुमान्‌जी की बातें सुन कर चन्द्रमुखी श्रीसीता-बहुत प्रसन्न हुईं। उनका गला बन्द होगया, वे बोल न सकीं।.... अपने पति की विजय सुन कर मैं बहुत प्रसन्न हुईं, इससे थोड़ी देर के लिये मेरी बोली बन्द हो गई। 'देखि तुलसीदास...थकित निकर चकोर...'; यथा— "मुनि समूह महँ बैठे, सनमुख सब की ओर। सरद इंदु तन चितवत मानहु निकर चकोर॥" (मा० अर० १२) "एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचंद्र मुख चकोरा॥" (मा० अ० ११४) "सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥" (मा० बा० २१५);

अलंकार—उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा (३, ४, ६ चरणों में)।

सम्बन्ध—यहाँ तक बाल-अवस्था के साथ पौगण्ड अवस्था के चरित हुए आगे पौगण्ड और किशोर अवस्था की सन्धि के चरित प्रारम्भ हो रहे हैं—

[४१]

बिहरत अवध-बीथिन्ह राम।
संग अनुज अनेक सिसु, नव-नील-नीरद-स्याम ॥१॥
तरुन अरुन-सरोज-पद बनी कनकमय पदत्रान।
पीतपट कटि तून बर, कर ललित लघु धनु-बान ॥२॥

लोचननि को लेत फल छबि निरखि पुर-नर-नारि।
बसत तुलसीदास उर अवधेस के सुत चारि ॥३॥

अर्थ—नवीन नील मेघ के समान श्याम शरीर वाले श्रीरामजी साथ में श्रीभरत आदि छोटे भाइयों और अनेक बालकों को लिये हुए श्रीअयोध्या जी की गलियों में विहार कर (घूम-फिर एवं क्रीड़ा कर) रहे हैं ॥१॥ उनके नवीन लाल कमल के समान चरणों में स्वर्णमय (सोनहरी) जूतियाँ सुशोभित हैं। कटि भाग में पीताम्बर और श्रेष्ठ तर्कश एवं हाथों में मनोहर छोटे-छोटे धनुष और बाण हैं ॥२॥ श्रीअवधपुर के स्त्री-पुरुष इनकी छबि देख कर अपने-अपने नेत्रों के फल ले रहे हैं। श्रीतुलसीदास के हृदय में श्रीअयोध्या-नरेश के चारों पुत्र निवास करते हैं ॥३॥

विशेष—'लोचननि को लेत फल'; यथा—"निज प्रभु बदन निहारि-निहारी। लोचन सफल करउँ उरगारी ॥" (मा० उ० ७४); "तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै अवलोकति लोचनलाहु अली।······कहिहै जग पोच, न सोच कछू, फल लोचन आपन तो लहिहैं ॥" (क०अ० २२-२३); तथा—"लेहु री लोचननि को लाहु । कुँवर सुंदर साँवरो, सखि सुमुखि ! सादर चाहु ॥" (पद ९७); "एहि बिधि सबहि नयन फल देता। गये कुँवर सब राज निकेता ॥" (मा० बा० २२४); 'बसत तुलसी···'–पद ३५ का अंतिम चरण देखिये।

अलङ्कार—'नव नील नीरद स्याम' इसमें 'उपमेय-वाचक लुप्तोपमा' है और 'तरुन-अरुन-सरोज पद' इसमें रूपक है।

[४२]

जैसे राम ललित तैसे लोने लखन लाल।
तैसेई भरत सील-सुखमा-सनेह-निधि, तैसेई सुभग संग सत्रुसाल ॥१॥
धरे धनु सर कर, कसे कटि तरकसी, पीरे पट ओढ़े चलैं चारु चाल।
अँग-अँग भूषन जराय के जगमगत, हरत जनकेजीको तिमिर जाल ॥२॥
खेलत चौहटा घाट बीथी बाटिकनि प्रभु सिव सुप्रेम-मानस-मराल।
सोभा-दान दै-दै सनमानत जाचक जन करत लोक-लोचन निहाल ॥३॥
रावन-दुरित-दुख दलैं सुर कहैं आजु 'अवध सकल सुख को सुकाल'।
तुलसी सराहैं सिद्ध सुकृत कौसल्या जू के, भूरि-भाग-भाजन भुआल ॥४॥

अर्थ—जैसे मनोहर श्रीरामलालजी हैं, वैसे ही सुन्दर श्रीलखनलालजी भी हैं और वैसे ही शील, परम शोभा एवं स्नेह के भाण्डार श्रीभरतजी हैं तथा वैसे ही सुन्दर साथ में श्रीशत्रुघ्नजी भी हैं ॥१॥ चारो भाई हाथों में धनुष-बाण धारण किये, कटि भाग में छोटे-छोटे तर्कश कसे और पीताम्बर ओढ़े हुए मनोहर चाल चलते हैं। इनके अंग-अंग में जड़ाऊ भूषन जगमगा रहे हैं, वे भक्तों के हृदय के अन्धकार समूह का हरण करते हैं ॥२॥ जो प्रभु श्रीरामजी भगवान् शंकर के सुन्दर प्रेम रूपी मानस सरोवर के हंस हैं, वे ही प्रभु श्रीरामजी श्रीअयोध्याजी के चौराहों, घाटों, गलियों और बाटिकाओं में खेल रहे हैं। वे शोभा रूप दान दे-देकर अपने रूपानुरक्त याचकों का सम्मान करते हैं और (सर्वसाधारण) लोगों के नेत्रों को भी कृतार्थ करते हैं ॥३॥ देवगण कहते हैं कि आज श्रीअवध में तो सब प्रकार के सुखों के द्वारा सुकाल है किन्तु अब पापी रावण से होने वाले दुःख का दलन होना चाहिये (जिससे तीनों लोकों में सुकाल हो)। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि सिद्ध लोग श्रीकौशल्याजी के पुण्य की सराहना करते हैं और कहते हैं कि राजा दशरथ महा-भाग्य-शाली हैं (क्योंकि इन्होंने ही अपने पुण्यों से प्रभु को प्रकट किया है, जिनसे तीनों लोकों में सुकाल होगा) ॥४॥

विशेष—'जैसे राम ललित·····तैसेई भरत···'; यथा—"चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा।" (मा० बा० १९७); "जद्यपि बुधि, बय, रूप, सील, गुन समय चारु चार्यो भाई। तदपि लोक-लोचन चकोर ससि राम भगत सुखदाई ॥" (पद १६); "सखि जस राम-लखन कर जोटा। तैसेइ भूप-संग दुई ढोटा ॥ स्याम गौर सब अंग सुहाए।··· भरत राम ही की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नर नारी ॥ लखन सत्रु-सूदन एकरूपा। नख-सिख ते सब अंग अनूपा ॥" (मा० बा० ३१०)।

'धरे धनुसर···अंग-अंग भूषन···'—इन वस्त्राभूषणों के साथ ध्यान करने से इनके तन एवं भूषणों के प्रकाश से भक्तों के हृदय का अन्धकार समूह नष्ट हो जाता है। अन्धकार; यथा—"जीव हृदय तम मोह बिसेषी।" (मा० उ० ११६); "मोह न अंध कीन्ह केहि केही।" (मा० उ० ६६); मोह अविवेक को कहते हैं, वही देहाभिमान है; यथा—"सेवहिं लखन सीय

रघुबीरहि। जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहि ॥'' (मा० अ० १४१)। इस देहाभिमान से ही देहोपयोगी वर्ग पर ममता होती है तो उसे भी अंधकार ही कहा जाता है; यथा—"सुत बित दार भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी।" (वि० १४०); "ममता तरुन तमी अँधियारी। राग-द्वेष उलूक सुखकारी ॥" (मा० सुं० ४६)। इसे अंधकार का समूह कहा गया है; क्योंकि ममता भाँति-भाँति की होती है और फिर उसके विकार रूप राग द्वेष आदि बहुत प्रकार के हैं। ये सब इन विविध भूषणों के साथ ध्यान से दूर हो जाते हैं; यथा—"ममता तरुन तमी······तब लगि बसत जीव उर माँही। जब लगि प्रभु-प्रताप रवि नाहीं ॥" (मा० सुं० ४६)।

'खेलत चौहटा···'—जो इतने दुर्लभ हैं कि शिवजी के सुन्दर प्रेम से उनके ध्यान में ही आते हैं। वे ही इतने सुलभ हो रहे हैं कि चौहटा आदि में खेल रहे हैं।

'सोभा दान दै-दै···'—इस शोभा के योग्य किसी के पास साधन रूप शुल्क नहीं है। अतः, लोग इसके याचक बनते हैं, तब कृपा करके प्रभु दर्शन-दान देते हैं। जैसे कि मनु-शतरूपा को उनके तप के फल रूप स्वर्ग का भोग करा दिया है, पीछे आप अपनी कृपा से प्रकट हो उन्हें दर्शन दिये हैं। तत्पश्चात् सर्वसाधारण लोगों के नेत्रों को भी कृतार्थ होने का संयोग हो गया है, इसीसे साथ ही 'करत लोक लोचन निहाल' यह भी कहा गया है; तथा—"करहु सुफल सब के नयन, सुंदर बदन देखाइ ॥ मुनि पद कमल बंदि दोउ भ्राता। चले लोक लोचन-सुखदाता ॥" (मा० बा०२१८)।

'सिव सुप्रेम···'—इसमें 'रूपकालङ्कार' है।

'रावन-दुरित-दुख दलैं··'—यहाँ 'दुरित' पद विशेषण है। अतः, इसका अर्थ 'पाप' नहीं है, प्रत्युत 'पापी' है। अतः, पापी रावण से होने वाला दुःख ऐसा अर्थ किया गया है; यथा-'प्रबल दनुज-दल दलि पल आध में, जीवत दुरित दसानन गहिबो।" (सुं० १४)।

'सराहैं सिद्ध सुकृत··'; यथा—"मातु सुकृत फल रामलला।" (पद २२)—इसका विशेष देखिये। तथा—'तुम्ह गुरु बिप्र धेनु सुर सेवी। तसि पुनीत कौसल्या देवी ॥ सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भयेउ न है

कोउ होनेउ नाहीं ॥ तुम्ह ते अधिक पुन्य बड़ काके। राजन ! राम सरिस सुत जाके ॥" (मा० बा० २९३); "दसरथ सुकृत राम धरे देही।" (मा० बा० ३०९)।

राग ललित

[४३]

ललित-ललित लघु-लघु धनु-सर कर,
तैसी तरकसी कटि कसे, पट पियरे।
ललित पनही पाँय पैंजनी-किंकिनि-धुनि,
सुनि सुख लहै मन, रहै नित नियरे ॥ १ ॥
पहुँची अंगद चारु, हृदय पदिक हारु,
कुंडल-तिलक-छबि गड़ी कवि जियरे।
सिरसि टिपारो लाल, नीरज-नयन बिसाल,
सुंदर बदन ठाढ़े सुर तरु-सियरे ॥ २ ॥
सुभग सकल अंग, अनुज बालक संग,
देखि नर-नारि रहैं ज्यों कुरंग दियरे।
खेलत अवध-खोरि, गोली भौंरा चकडोरि,
मूरति मधुर बसै तुलसी के हियरे ॥ ३ ॥

शब्दार्थ--टिपारो = ऊँची दीवार की टोपी के आकार का मुकुट--पद ३४ के 'सोहति सीस लाल चौतनियाँ।' इसका विशेष देखिये। दियरे = बड़ा सा लुक जो शिकारी हिरनों को आकर्षित करने के लिये जलाते हैं, 'दीपक' पद का ही एक भेद।

अर्थ—श्रीरामलालजी हाथों में सुंदर सुंदर छोटे-छोटे धनुष-बाण लिये, कटि भाग में तर्कश कसे और पीताम्बर पहने तथा चरणों में सुन्दर जूतियाँ पहने हैं। उनकी पैंजनी और किंकिणी की मधुर ध्वनि सुनकर मन सुख पाता है और सदा उनके समीप ही रहता है; अर्थात् वह छटा मन में सदा बसी रहती है ॥ १ ॥ भुजाओं में सुन्दर पहुँची और विजायठ धारण किये तथा वक्षः-स्थल पर पदिकहार पहने हैं; उनके कुण्डल और तिलक की छबि तो कवि के हृदय में चुभी जाती है। शिर में लाल रंग का टिपारा सुशोभित है, कमलवत्

बड़े-बड़े नेत्र हैं और मुख बड़ा सुन्दर है, वे कल्पवृक्ष की शीतल छाया में खड़े हुए हैं ॥ २ ॥ अपने छोटे भाइयों और अन्य बालकों को साथ में लिये हुए सर्वाङ्ग सुंदर श्रीरामलालजी को देखकर स्त्री-पुरुष इस भाँति यकटक देखते रह जाते हैं जैसे मृग गण बड़े दीपक को। इस प्रकार श्रीरामलालजी श्रीअवध की गलियों में गोली, भँवरा और चकई खेलते हैं उनकी वह मधुर मूर्त्ति तुलसीदास के हृदय में निवास करती है ॥ ३ ॥

विशेष—'तैसी तरकसी…'—पीताम्बर से ही तर्कश भी बाँधे हैं।

'हृदय पदिकहार'—'पदिक' मात्र का अर्थ धुकधुकी होता है, पृथक् करने से 'हार' का अर्थ माला होगा। पदिकहार सात पदिक की माला को कहते हैं।

'सियरे'—'सिअरा' [संज्ञा पुल्लिङ्ग] = छाया, छाँह—हिं० श० सा०।

'नीरज नयन बिसाल'—इसमें 'रूपक' अलंकार है।

'ज्यों कुरंग दियरे'—मृग राग में मोहित होता है, पर व्याधा लोग दीपक जलाकर गान करते हैं। तब मृग मोहित होकर वहाँ आता है। तथा—"रामलखन सिय सुंदरताई। सब चितवहिं चित मन मति लाई ॥ थके नारि नर प्रेम पियासे। मनहुँ मृगी मृग देखि दिया से ॥" (मा० अ० ११५); "रूप-दीपिका निहारि मृग-मृगी नर-नारि, बिथके बिलोचन निमेषैं बिसराइ कै।" (पद ८२)। यहाँ 'उदाहरण अलंकार' है।

'चकडोर'—चकई नामक खिलौने में लपेटा हुआ सूत्र, यहाँ डोर के साथ चकई खेल का ही तात्पर्य है।

[४४]

छोटिऐ धनुहिआँ अनहिआँ पगनि छोटी,
छोटिऐ कछौटी कटि, छोटिऐ तरकसी।
लसत झँगूली झीनी, दामिनि की छबि छीनी,
सुंदर बदन, सिर पगिआ जरकसी ॥१॥
बय-अनुहरत बिभूषन बिचित्र अँग,
जोहे जिय आवति सनेह की सरक-सी।

मूरति की सूरत कही न परै तुलसी पै,
जानै सोई जाके उर कसकै करक-सी ॥२॥

शब्दार्थ—सरक = शराब की खुमारी। करक = रुक-रुक कर होनेवाली पीड़ा, कसक, चिनक। सूरति=स्मृति, स्मरण, सुधि।

अर्थ—हाथ में छोटी ही धनुही, चरणों में छोटी-छोटी जूतियाँ और कटि भाग में छोटी ही कछौटी तथा छोटी ही तर्कशी धारण किये हुए हैं। (श्याम शरीर पर पीत रंग की) झीनी झँगुली सुशोभित है, उसने मानों बिजली की छबि को छीन लिया है। सुन्दर मुखारविन्द है और शिर पर जरी के काम की पगिया सुशोभित है ॥ १ ॥ अङ्गों में अवस्था के अनुसार विचित्र (भाँति-भाँति के) आभूषण हैं, उन्हें देखने पर हृदय में स्नेह की खुमारी-सी आती है। श्रीराम लालजी की मूर्त्ति की स्मृति (की दशा) इस तुलसीदास से नहीं कही जाती वही जान सकता है, जिसके हृदय में (उसका क्षणिक व्यवधान भी) कड़क के समान कसकता है ॥ २ ॥

विशेष—'लसत झँगूली झीनी'; यथा—"पियरी झीनी झँगुली साँवरे सरीर खुली, बालक दामिनि ओढी मानो बारे बारिधर ॥" (पद ३२)। परन्तु यहाँ 'दामिनि की छबि छीनी' ऐसा कहने में 'प्रतीप अलंकार' है।

राग टोड़ी

[४५]

राम-लखन एक ओर भरत रिपुदवन लाल एक ओर भये।
सरजु तीर सम सुखद भूमि थल गनि-गनि गोइयाँ बाँटि लये ॥१॥
कंदुक केलि कुसल हय चढ़ि-चढ़ि मन कसि-कसि ठोंकि-ठोंकि खये।
कर-कमलनि बिचित्र चौगानैं, खेलन लगे खेल रिझये। २॥
ब्योम बिमाननि बिबुध बिलोकत खेलत पेखक छाँह छये।
सहित समाज सराहि दसरथहि बरसत निजतरु-कुसुम-चये ॥३॥
एक लै बढ़त, एक फेरत सब प्रेम प्रमोद बिनोद भये।
एक कहत भई हाल राम जू की एक कहत भइया भरत जये ॥४॥
प्रभु बकसत गज, बाजि, बसन, मनि, जय-धुनि गगन निसान हये।
पाइ सखा - सेवक - जाचक भरि जीव न दूसरे द्वार गये ॥५॥

नभ-पुर परति निछावरि जहँ - तहँ सुर-सिद्धनि बरदान दये।
भूरि-भाग अनुराग उमगि जे गावत-सुनत चरित नित ये ॥६॥
हारे हरष होय हित भरतहि जिते सकुचि सिर नयन नये।
तुलसी सुमिरि सुभाव-सील सुकृती तेइ जे एहि रंग-रये ॥७॥

शब्दार्थ—गोइयाँ = खेल के साथी। खये=बाहुमूल, ताल। चय = समूह। हाल = जीत। हये (हने)=बजाये। रये (रँगे)=रँग गये, रँगे हुये हैं।

अर्थ—श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी एक ओर और श्रीभरतजी और श्रीशत्रुघ्नलालजी दूसरी ओर हुए। उन्होंने श्रीसरयूजी के तट पर सुखदायक समतल भूमि में (खेल-स्थल निश्चित कर) गिन-गिन कर खेल के साथियों को बाँट लिया ॥ १ ॥ गेंद क्रीड़ा में निपुण घोड़ों पर चढ-चढ़ कर अपने-अपने मन को दृढ़ कर एवं ताल ठोंक ठोंक कर हस्त-कमलों में विचित्र चौगाने (गेंद खेलने के दण्डे) ले-लेकर रिझाने वाले खेल खेलने लगे ॥ २ ॥ आकाश में अपने-अपने विमानों पर आरूढ़ हो होकर देवगण देख रहे हैं (यहाँ तक आकाश में भीड़ है कि) देखने वालों की छाया में ढके हुये खेलने वाले खेल रहे हैं। (वे देव गण) समाज के साथ राजा दशरथ की प्रशंसा कर अपने वृक्ष (कल्पवृक्ष) के फूल समूह बरसाते हैं ।। ३ ॥ एक दल वाले बालक गेंद को लेकर आगे (निश्चित सीमा पार करने के लिये) बढ़ाते हैं तो दूसरे दल वाले (प्रतिपक्षी) बालक उसे लौटाते हैं (कि वह गेंद सीमा पार न हो पाये; अन्यथा मेरी हार होगी), इस प्रकार सब बालक प्रेम-प्रमोद और क्रीड़ा में निमग्न हो गये हैं। (प्रथम) एक (कोई) कहते हैं कि श्रीरामजी की जीत हुई। (पीछे दूसरी बार की खेल में) कोई कहते हैं कि भइया श्रीभरतजी जीते हैं ॥ ४ ॥ (उस पर) प्रभु श्रीरामजी हाथी, घोड़े, वस्त्र और मणि गण प्रदान करते हैं; जय ध्वनि हो रही है और आकाश में नगाड़े बज रहे हैं। प्रभु से यह बख्शीस (पारितोषिक) पाकर सखा, सेवक और याचक गण फिर जन्म भर दूसरे द्वार पर नहीं गये (; अर्थात् सबको जन्म भर के लिये परिपूर्ण तृप्ति हो गई) ॥ ५ ॥ आकाश से (देवों और सिद्धों की ओर से) और श्रीअवध पुर (के लोगों की ओर से) जहाँ-तहाँ न्योछावर की वर्षा हो रही है, देवों और सिद्धों ने वरदान दिये। जो इन चरितों को नित्य अनुराग में उमँग-उमँग

कर गाते और सुनते हैं, वे बहुत बड़े भाग्यशाली हैं ॥ ६ ॥ श्रीभरतजी को हारने पर हृदय में हर्ष होता है और जीतने पर वे सकुच जाते हैं, इससे उनके शिर और नेत्र नीचे हो जाते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामजी के शील-स्वभाव का स्मरण कर जो इस चरित के अनुराग रूपी रँग में रँगे हुए हैं, वे ही पुण्यात्मा (एवं धन्य) हैं ॥ ७ ॥

विशेष—प्रथम ही श्रीसुमित्राजी ने अपनी गीत में कहा था—"अनुज-सखा-सिसु संग लै खेलन जैहैं चौगान। लंका खरभर परैगी···" (पद २२); उस मनोरथ की पूर्त्ति इस पद में है। इसमें चौगान खेल का वर्णन है।

'सरजु तीर सम सुखद···'—श्रीसरयू तट की भूमि प्रायः बालुकामयी होने से समतल होने के अतिरिक्त अत्यन्त कोमल होने से खेलने वालों को सुखद भी है। इसमें गिरने पड़ने पर बालकों को चोट नहीं आ सकती।

'मन कसि कसि'—इसके स्थान पर कुछ प्राचीन प्रतियों में 'मन कस कसि' भी पाठ है और उसका अर्थ 'मन के अनुसार सधाये हुए घोड़ों को (इच्छानुसार स्वयं) कस कर' यह किया जाता है, परन्तु पाठ में पहले ही 'चढ़ि-चढ़ि' पद आ गया है, चढ़ने के पीछे कसने का प्रयोग वैसा उपयुक्त नहीं होता। अत, उसमें 'चढ़ि-चढ़ि' पद को 'मन कस मसि' के पीछे लगाकर अर्थ करना पड़ता है। उपर्युक्त पाठ और अर्थ मुझे विशेष उपयुक्त समझ पड़ा है। खेल के पहले मन की दृढ़ता करनी आवश्यक है। मन दृढ़ करने के पीछे ताल ठोंक अपनी वीरता प्रकट करनी भी ठीक है।

'विचित्र चौगानें···'—इस खेल में दोनों ओर गोइयाँ खड़े होते हैं। बीच में एक सीमा निश्चित करते हैं। भूमि पर गेंद को रखकर घोड़े पर से दंडा मार-मारकर गेंद को फिराते हैं; जिस ओर से गेंद सीमा पार कर जाता है, उसी की हाल (जीत) होती है। चौगान इस खेल के दंडे (थापी) का नाम है, परन्तु खेल को भी चौगान ही कहा जाता है।

'खेल रिझये'—दर्शकों एवं खेलने वालों को प्रसन्न करने वाला खेल।

'सहित समाज···'—राजा दशरथ ने महान् पुण्य सञ्चय किया था, उसी से उनका ऐसा समाज है, उनके पुत्रों एवं पुत्रों के परिकरों का यह समाज

अनुपम है, ऐसी सराहना देवता एवं सिद्ध आदि करते हैं। साथ फूल बरसा कर इनका मंगल मनाते हैं।

'एक कहत भई हाल राम जू की···'—'हाल' के स्थान पर आधुनिक प्रतियों में 'हारि' पाठ है, यह अशुद्ध एवं असंगत है। खेल में एक ही ओर की जीत में शोभा नहीं होती। पहले श्रीरामजी की जीत हुई, तब पीछे के खेल में श्रीभरतजी की जीत हुई। उस पर श्रीरामजी बख्शीस (पारितोषिक एवं दान) देने लगे, बस, खेल समाप्त हो गया। अन्त की जीत ही रह जाती है। अतः, श्रीभरतजी की ही जीत रह गई, इसमें श्रीरामजी को बड़ी प्रसन्नता हुई, वे दान देने लगे।

आगे अन्तिम पद में 'हारे हरष ··' ऐसा कहा गया है, उससे भी उपर्युक्त अर्थ एवं पाठ सिद्ध होता है कि पहले भरतजी की हार हुई और फिर अन्त में जीत हुई। इस विजय प्रसंग का प्रभु-स्वभाव श्रीभरतजी के हृदय में बिंध गया है। आगे कहा है; यथा—"मैं प्रभु कृपा रीति जिय जोही। हारेहु खेल जितावहिं मोहीं॥" (मा० अ० २५९)। 'जय धुनि···'—प्रभु के इस स्वभाव पर भी यह जय ध्वनि एवं निशान की ध्वनि है। खेल-सुन्दरता पर तो है ही।

'पाइ सखा सेवक जाचक···'—सखा और सेवक पारितोषिक पाते हैं और याचक दान। बख्शीस पद में दोनों भाव हैं। प्रभु के दान में यह विशेषता है कि ग्रहण करने वाले जन्म भर को तृप्त हो जाते हैं; इसीसे फिर उन्हें दूसरे द्वार माँगना नहीं पड़ता; यथा—"जग जाँचिये कोऊ न; जाचिये जौ जिय जाँचिये जानकी-जानहि रे। जेहि जाँचत जाँचकता जरि जाइ जो जारति जोर जहानहि रे॥···" (क० उ० २८); तथा—"एकै दानि सिरोमनि साँचो। जोइ जाँच्यो सोइ जाचकताबस, फिरि बहु नाच न नाचो॥" (वि० १६३)।

'सुर सिद्धनि'—सुर इंद्र आदि, सिद्ध कपिल एवं लोमश आदि। इन्होंने वरदान दिये। ऊपर लिखा जा चुका है कि श्रीसुमित्राजी की गीत में इस खेल पर लंका में खरभर पड़ेगी और देवलोक में नगाड़े बजेंगे। उसका अभिप्राय यहाँ प्रकट होता है कि इस खेल पर प्रसन्न हो इन लोगों ने वैसा ही वरदान दिये

हैं कि तुम सब शत्रुओं से जय प्राप्त करोगे। यह सुनकर लंका में खलबली हुई और देवलोक में नगाड़े बजे।

'भूरि भाग अनुराग...'; यथा—"सुमिरत श्रीरघुबरनि की लीला लरिकाई। तुलसिदास अनुराग अवध आनंद अनुभवत तब को-सो अजहुँ अघाई॥" (पद ३०)—इसका विशेष देखिये। तथा—"तुलसी तिन्ह सम तेउ जिन्ह के प्रभु ते प्रभु-चरित पियारे॥" (पद ४६)।

'हारे हरष होत हिय भरतहि...'—स्वामी से हारना अनुकूल है, इससे प्रसन्न होते हैं और जीतने पर संकोच होना भी ठीक ही है कि स्वामी ने कृपा कर मुझे जिताया है, पर लोग तो मेरी जीत कहते हैं, यह मेरे लिये हास्यास्पद है। अतः सकुच जाते हैं।

'सुमिरि सुभाव सील...'—प्रभु के स्वभाव की शील (सद्वृत्ति) पर मुग्ध होकर ग्रन्थकार कहते हैं कि आश्रित-वत्सल प्रभु के इस स्वभाव पर अनुराग में रँगना ही पुण्य का परिपाक है; यथा—"सुनि सीतापति सील-सुभाउ। मोद न मन, तन पुलक नयन जल, सो नर खेह-खर खाउ॥... समुझि-समुझि गुन-ग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ। तुलसिदास अनायास रामपद पाइहै प्रेम पसाउ॥" (वि० १००); "तुलसी राम सनेह सील लखि जो न भगति उर आई। तौ तोहिं जनमि जाय जननी जड़ तनु तरुनता गँवाई॥" (वि० १६४)।

अलंकार—रूपक ('कर कमलनि' में)।

[४६]

खेल खेलि सुखेलनिहारे।
उतरि उतरि, चुचुकारि तुरंगनि, सादर जाइ जोहारे॥ १॥
बंधु-सखा-सेवक सराहि, सनमानि सनेह सँभारे।
दिये बसन-गज-बाजि साजि सुभ-साज सुभाँति सँवारे॥ २॥
मुदित नयन-फल पाइ, गाइ गुन सुर सानंद सिधारे।
सहित समाज राजमंदिर कहँ राम राउ पगुधारे॥ ३॥
भूप भवन घर-घर घमंड कल्यान कोलाहल भारे।
निरखि हरषि आरती-निछावरि करत सरीर बिसारे॥ ४॥

नित नये मंगल-मोद अवध, सब विधि सब लोग सुखारे।
तुलसी तिन्ह सम तेउ जिन्ह के प्रभु ते प्रभु-चरित पियारे ॥ ५ ॥

अर्थ—सुन्दर खेल खेलने वालों ने खेल-खेल (समाप्त) कर अपने-अपने घोड़ों से उतर-उतर कर और उन घोड़ों को चुचकार कर स्वामी श्रीरामजी के पास जाकर उन्हें आदरपूर्वक जोहार (प्रणाम) किया ॥१॥ भाइयों, सखाओं और सेवकों की सराहना की और उनका सम्मान कर उनके प्रति स्नेह भाव का सँभाल किया; उन्हें वस्त्र दिये और शुभ साज से भली-भाँति सजाये हुए हाथी तथा घोड़े दिये ॥ २ ॥ तब नेत्रों के फल पा आनन्दित हो, भगवान् श्रीरामजी के गुण गान करते हुए देवगण आनन्दपूर्वक अपने लोकों को चले गये और राजा श्रीरामजी अपने समाज के साथ राज मन्दिर को गये ॥ ३ ॥ महाराजा दशरथ के घर एवं (नगर में) घर-घर मङ्गलमय भारी कोलाहल घुमड़ा (छाया) हुआ है। (खेल कर आये हुए श्रीराम आदि पुत्रों को) देखकर (माताएँ) हर्षित हो देह सुधि भूल कर आरती तथा निछावर कर रही हैं ॥ ४ ॥ इस प्रकार श्रीअवध में नित्य नये मङ्गल (उत्सव) और आनन्द हो रहे हैं; सब प्रकार से सब लोग सुखी हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उन अवध वासियों के समान ही वे भी हैं, जिनको प्रभु श्रीरामजी की अपेक्षा इन प्रभु के चरित अधिक प्यारे लगते हैं ॥ ५ ॥

विशेष—'मुदित नयन फल पाइ···'—प्रभु दर्शन ही नेत्रों का फल है—पद ४१ के 'लोचननि को लेत फल' इसका विशेष देखिये।

'राम राउ पगुधारे'—श्रीरामजी अभी कुमार हैं, राजा हुए नहीं हैं, तथापि यहाँ का उपर्युक्त बर्ताव—बंधु, सखा और सेवक आदि से राजोचित सम्मान पाना एवं उनको दान-मान से सम्मानित करना—राजा के अनुरूप किया है, इससे ग्रन्थकार ने यहीं से 'राम राउ' कह दिया है।

'नित नये मंगल मोद···'—यहाँ बाल-पौगण्ड चरित का उपसंहार हो रहा है, इससे ग्रन्थकार ने ऐसे-ऐसे नित्य नये-नये क्रीड़ात्मक मङ्गल-मोद का होना कहकर इससे अभी तक के सभी दिनों की ऐसी ही व्यवस्था कह दी है।

'तुलसी तिन्ह सम तेउ··'—उपर्युक्त पद ४५ के 'भूरिभाग अनुराग···' इसका विशेष देखिये।

बालकाण्ड का पूर्वार्द्ध समाप्त हुआ।

किशोर-अवस्था के चरित

श्रीविश्वामित्रजी का आगमन

राग सारंग

[४७]

चहत महामुनि जाग-जयो।
नीच निसाचर देत दुसह दुख, कृस तनु ताप-तयो ॥ १ ॥
सापे पाप, नये निदरत खल, तब यह मंत्र ठयो।
बिप्र-साधु-सुर-धेनु-धरनि-हित हरि अवतार लयो ॥ २ ॥
सुमिरत श्री सारंगपानि छन में सब सोच गयो।
चले मुदित कौसिक कौसलपुर, सगुननि साथ दयो ॥ ३ ॥
करत मनोरथ जात, पुलकि-प्रगटत आनंद नयो।
तुलसी प्रभु-अनुराग उमँगि मग मंगलमूल भयो ॥ ४ ॥

अर्थ--महामुनि श्रीविश्वामित्रजी यज्ञ और विजय दोनों चाहते हैं। (यज्ञ करने से) नीच राक्षस उन्हें दुस्सह दुःख देते हैं, इस सन्ताप से तप्त होने के कारण उनका शरीर दुर्बल हो गया है ॥१॥ उन नीचों को यदि वे शाप देते हैं तो पाप लगता है और यदि उनसे वे नम्र होते हैं तो वे दुष्ट उनका निरादर करते हैं; इस पर उन्होंने यह विचार निश्चित किया कि 'ब्राह्मण, साधु, देवता, गऊ और पृथिवी के हित करने के लिये श्रीहरि ने इस समय अवतार लिया है' ॥ २ ॥ सारंगपाणि श्रीरामजी का स्मरण करते ही क्षण भर में उनका सारा शोक निवृत्त हो गया। श्रीविश्वामित्रजी ने आनंदित होकर श्रीअवधपुर को प्रस्थान किया, शुभ शकुनों ने उनका साथ दिया; अर्थात् मार्ग भर में नाना प्रकार के शुभ शकुन होते ही चले गये ॥ ३ ॥ मार्ग में वे (भाँति-भाँति के अनुकूल) मनोरथ करते जाते हैं। (उन मनोरथों के साथ बार-बार) पुलकित हो-होकर नये-नये अपने आनन्द प्रकट करते जाते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि प्रभु श्रीरामजी के अनुराग की उमंग में उनका वह मार्ग मङ्गलमूलक ही हुआ ॥ ४ ॥

विशेष--'चहत महामुनि ...'--श्रीविश्वामित्रजी पहले क्षत्रिय थे, इनका नाम 'विश्वरथ' था। बड़ी भारी तपस्या करके इन्होंने इसी शरीर में ब्रह्मर्षि

पद प्राप्त किया है, इससे इन्हें यहाँ 'महामुनि' कहा गया है; तथा--"विस्वामित्र महामुनि ज्ञानी। बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी ।" (मा० बा० २०५)। वे यज्ञ पूर्ण करना और नीच राक्षसों पर विजय प्राप्त करना, दोनों चाहते थे। यदि केवल यज्ञ-रक्षा ही चाहते होते तो श्रीअवध में ही आकर यज्ञ पूरी कर लेते, यहीं पर श्रीरामजी से रक्षा करवा लेते। किन्तु यहाँ पर राजा दशरथ के आतंक से वे राक्षस न आते। अतः, उनसे विजय तो श्रीरामजी को वहाँ ले जाने पर ही होगा। कोई-कोई 'जाग जयो' इसका अर्थ 'यज्ञ का पूर्ण करना' करते हैं और कोई 'यज्ञ का यजन करना' भी अर्थ करते हैं, 'जयो' इसका अर्थ वे 'यजन' करने का लेते हैं।

'नीच निसाचर देत····'—किसी के शुभ कर्म में वाधा करनी नीचता है, इससे वाधक रक्षसों को नीच कहा गया है। यहाँ तो बाधकों में मुख्य मारीच है, वह अन्यत्र भी नीच कहा गया है; यथा—"सुकृत न सुकृती परिहरै, कपट न कपटी नीच। मरत सिखावन देइ चले, गीधराज मारीच ॥" (दोहावली ३४१); "कौतुक हीं मारीच नीच मिस। प्रगट्यो बिसिख-प्रतापु ॥" (लं० १)। 'देत दुसह दुख'; यथा—"जहँ जप जज्ञ जोग मुनि करहीं। अति मारीच सुबाहुहि डरहीं ॥ देखत जज्ञ निसाचर धावहिं। करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं ॥" (मा० बा० २०५); तथा—"अहं नियममातिष्ठे सिद्ध्यर्थं पुरुषर्षभ। तस्य विघ्नकरौ द्वौ तु राक्षसौ कामरूपिणौ ॥ ४ ॥ व्रते तु बहुशश्चीर्णे समाप्त्यां राक्षसाविमौ। मारीचश्च सुबाहुश्च वीर्यवन्तौ सुशिक्षितौ ॥ ५ ॥ तौ मांसरुधिरौघेण वेदिं तामभ्यवर्षताम्। अवधूते तथाभूते तस्मिन्नियमनिश्चये ॥ ६ ॥ कृतश्रमो निरुत्साहस्तस्माद्देशादपाक्रमे।" (वाल्मी० १।१९); अर्थात् (श्रीविश्वामित्रजी ने राजा दशरथ से कहा है कि) मैं योगसिद्धि के लिये योग-दीक्षा लिया करता हूँ; पर कामरूपी दो राक्षस उसमें विघ्न किया करते हैं। व्रत के बहुत दिन हो जाने पर समाप्ति के समय ये दोनों मारीच और सुबाहु मांस-रुधिर की वृष्टि कर देते हैं, उससे मेरे व्रत-संकल्प आदि नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। मेरा श्रम व्यर्थ हो जाता है। अतः, मैं उत्साहहीन होकर उस देश से निकल पड़ा हूँ। एवं—"कौसिक गरत तुषार ज्यों तकि तेज तिया को।" (वि० १५२)।

'सापे पाप, नये निदरत खल···'—इस पर कहा जाता है कि श्री-

विश्वामित्रजी ने ही त्रिशङ्कु की यज्ञ के लिये श्रीवशिष्ठजी के पुत्रों को भस्म कर दिया, बलिदान में न जाने से अपने ही पुत्रों को शाप दे भस्म किया और हरिश्चन्द्र धर्मात्मा की परीक्षा में सब कर्म उनके कर डाला। उनमें पाप से नहीं डरे, यहाँ राक्षसों को शाप देने में पाप से क्यों डरते हैं? इसका उत्तर यह है कि यह यज्ञ ही ऐसा है कि इसमें क्रोध नहीं करना चाहिये और क्रोध विना शाप लगता नहीं; यथा—"न च मे क्रोधमुत्स्रष्टुं बुद्धिर्भवति पार्थिव ॥७॥ तथा भूता हि सा चर्या न शापस्तत्र मुच्यते।" (वाल्मी० १।१९); अर्थात् उन पर क्रोध करने की भी इच्छा नहीं होती; क्योंकि उस यज्ञ का समय क्रोध करने और शाप देने का नहीं है।

नम्रता दिखाने से दुष्ट और निरादर करते हैं; यथा—'नीच निरादर ही सुखद, आदर सुखद बिसाल। कदली बदली बिटप गति, पेखहु पनस रसाल॥" (दोहावली २५४); "नीच गुड़ी ज्यों जानिबो, सुनि लखि तुलसीदास। ढीलि दिये गिरि परत महि। खैंचत चढ़त अकास॥" (दोहावली ४०१)।

'बिप्र साधु सुर'; यथा—"बिप्र धेनु सुर संत हित, लीन्ह मनुज अवतार।" (मा० बा० १९२); "गाधि तनय मन चिंता ब्यापी। हरि बिनु मरिहि न निसिचर पापी। तब मुनिवर मन कीन्ह बिचारा। प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा" (मा० बा० २०५)। यहाँ प्रभु को 'हरि' कहा है; क्योंकि उनके द्वारा अपने क्लेशों का हरण कराना है। हरि श्रीरामजी हैं; यथा—"रामाख्यमीशं हरिम्।" (मा० बा० मंगला०)।

'सुमिरत श्री सारंग पानि···'=सारंग धनुष भगवान् विष्णु का है, उससे वे सदा दैत्यों का नाश किया करते हैं। वही धनुष श्रीरामजी का है; क्योंकि दोनों तत्त्वतः अभिन्न हैं। विष्णु भगवान् श्रीरामजी का ही तृतीय विग्रह हैं। उनके पराक्रम का स्मरण कर मुनि का शोक क्षण भर में दूर हो गया।

'चले मुदित कौसिक···'; यथा—"चले मुदित कौसिक अवध, सगुन सुमंगल साथ।" (रामाज्ञा ४।५।२)।

'करत मनोरथ जात···'—मनोरथों की सिद्धि के अनुमान पर पुलकित हो जाते हैं, उससे उनके हृदय के नये-नये आनन्द प्रकट होते जाते हैं।

'तुलसी प्रभु अनुराग उमगि···'—प्रभु के अनुराग में उमँगते हुए

जाने से मार्ग मङ्गलमय ही रहा। मार्ग के कष्ट समझ ही नहीं पड़े; यथा—"बहु बिधि करत मनोरथ, जात लागि नहिं बार।" (मा० बा० २०६); "सीय को सनेह सील, तथा कथा लंक की कहत चले चाय सों, सिरानो पंथ छन में।" (क० सुं० ३१) मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केहीं॥" (मा० अ० २७४)। प्रभु की ओर वृत्ति होते ही नाना शुभशकुन हो रहे हैं। अतः आगे भी ऐसे-ऐसे मंगल होंगे, इन उमंगों पर बार-बार आनंद की पुलकावली होती है। आगे पद में मनोरथों का कुछ वर्णन करते हैं—

[४८]

आजु सकल सुकृत फल पाइहौं।
सुख की सींव, अवधि आनँद की, अवध बिलोकि हौं जाइहौं॥१॥
सुतनि सहित दसरथहि देखिहौं प्रेम पुलकि उर लाइहौं।
रामचंद्र-मुखचंद्र-सुधा-छवि नयन-चकोरनि प्याइहौं॥२॥
सादर समाचार नृप बूझिहैं, हौं सब कथा सुनाइहौं।
तुलसी ह्वै कृतकृत्य आश्रमहिं राम-लखन लै आइहौं॥३॥

अर्थ—आज मैं अपने समस्त पुण्यों का फल पाऊँगा, जो सुख की सीमा और आनन्द की अवधि श्रीअवध धाम को मैं जाकर देखूँगा॥ १॥ वहाँ मैं पुत्रों के साथ राजा दशरथ को देखूँगा और प्रेम से पुलकित होकर उन्हें अपने हृदय से लगाऊँगा। श्रीरामचन्द्रजी के मुख रूप चन्द्रमा की छवि रूप सुधा अपने नेत्र रूपी चकोरों को पिलाऊँगा॥ २॥ राजा दशरथ आदरपूर्वक मुझ से मेरा समाचार पूछेंगे और मैं अपनी सारी कथा उनको सुनाऊँगा। श्रीतुलसीदास-जी कहते हैं (कि श्रीविश्वामित्र कहते हैं—) मैं कृतार्थ होकर श्रीराम-लक्ष्मण-जी लेकर अपने आश्रम को आऊँगा॥ ३॥

विशेष—'आज सकल सुकृत फल…'—श्रीविश्वामित्रजी जब श्रीअवध के समीप पहुँच गये, तब उनके ये मनोरथ होने लगे कि मैं आज ही श्रीअवध पहुँच कर अपने पूर्वकृत समस्त पुण्यों के फल पाऊँगा। आगे कहे हुए श्री-अवध दर्शन, श्रीदशरथजी एवं उनके पुत्र श्रीरामजी के दर्शन तथा श्रीरामजी की प्राप्ति, ये सब समस्त पुण्यों के फल हैं; यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसन पावा॥" (मा० अ० २०६); "बिनु प्रयास

सब साधन को फल प्रभु पायो···" (अ० २)। "सिय-सौमित्रि-राम-छबि देखहिं। साधन सकल सफल करि लेखहिं॥" (मा० अ० १२३); "आजु सुफल तप तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू॥ सुफल सकल-सुभ-साधन-साजू। राम तुम्हहिं अवलोकत आजू॥" (मा० अ० १०६)।

'सुख की सींव अवधि आनंद की अवध'; यथा—"देखत अवध को आनंद। हरषि बरषत सुमन दिन-दिन देवतनि को बृंद॥ नगर रचना सिखन को विधि तकत बहुत बिधि बंद। निपट लागत अगम ज्यों जलचरहि गमन सुछंद॥ मुदित पुर लोगनि सराहत निरखि सुखमाकंद। जिन्हके सुअलि चख पियत राम-मुखारबिंदमरंद॥ मध्य ब्योम बिलंबि चलत दिनेस उड़गन चंद। रामपुरी बिलोकि तुलसी मिटत सब दुख द्वंद॥" (उ० २३); अर्थात् श्रीअवध धाम त्रिपाद विभूति की विभूति है। परधाम श्रीरामजी का शरीर ही है, इससे तद्वत आनन्दमय है; यथा—"जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक्य सुपासी॥ सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोकदायक बिश्रामा॥" (मा० बा० १९६); तथा—"लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी॥" (मा० अ० १०६); एवं—"सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धि प्रद मंगल खानी॥" (मा० बा० ३४)।

'रामचंद्र मुखचंद्र सुधा····'; यथा—"पुनि चरननि मेले सुतचारी। राम देखि मुनि देह बिसारी॥ भए मगन देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा॥" (मा० बा० २०६); इस प्रकार वह मनोरथ आगे सुफल हुआ है। यहाँ 'रूपकालंकार' है।

'सादर समाचार नृप बूझिहैं···'; यथा—"तब मन हरषि बचन कह राऊ। मुनि अस कृपा न कीन्हिहु काऊ॥ केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावौं बारा॥ असुर समूह सतावहिं मोहीं। मैं जाचन आएउँ नृप तोहीं॥ अनुज समेत देहु रघुनाथा। निसिचर बध मैं होब सनाथा॥" (मा० बा० २०६)।

'ह्वै कृतकृत्य···'—श्रीराम-लचमण की प्राप्ति से मुनि कृतार्थ हैं। उपाय और उपेय श्रीरामजी को अब मुनि अपने ब्राह्मणत्व का सर्वस्व विद्या और साधन रूपी आयुध समर्पित कर शरण हो जायँगे। तब श्रीरामजी इनका यज्ञ

आदि सिद्ध कर लोक-परलोक के संरक्षक हो जायँगे, इससे मुनि अपने को कृतार्थ मान रहे हैं।

यहाँ तक मुनि के मनोरथ कहे गये। आगे मुनि के मिलने पर राजा दशरथ के बर्त्ताव कहते हैं--

राग नट

[४६]

देखि मुनि रावरे पद आज।
भयो प्रथम गनती में अब ते हौं जहँ लौं साधु-समाज ॥१॥
चरन बंदि, कर जोरि निहोरत, "कहिय कृपा करि काज।
मेरे कछु न अदेय राम बिनु, देह-गेह सब राज" ॥२॥
भली कही भूपति त्रिभुवन में को सुकृती सिरताज।
तुलसी राम-जनमहि तें जनियत सकल सुकृत को साज ॥३॥

अर्थ--(श्रीदशरथजी कहते हैं--) हे मुनि! आज आपके चरण देखकर अब से मैं जहाँ तक साधु-समाज है, वहाँ तक गिनती में प्रथम हो गया; अर्थात् सब से आगे हो गया ॥१॥ फिर मुनि के चरणों की वन्दना कर हाथ जोड़ कर राजा निहोरा करने लगे—"मुनिश्रेष्ठ! कृपा करके अपना कार्य कहिये, एक श्रीरामलाल के अतिरिक्त और शरीर, घर एवं समस्त राज्य (विभूति) में कुछ भी मेरे यहाँ आपके लिये न देने योग्य नहीं है ॥ २॥ (श्रीविश्वामित्रजी ने कहा--) "राजन्! आपने अच्छी (ठीक) बात कही है। तीनों लोकों में (आपके अतिरिक्त) पुण्यवानों में शिरमौर और कौन है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं--(श्रीविश्वामित्रजी कहते हैं कि) आपके समस्त पुण्यों का साज तो श्रीरामजन्म ही से जाना जाता है; अर्थात् आप सर्वश्रेष्ठ पुण्यात्मा हैं, तभी तो सब को छोड़ कर एक आप ही के यहाँ परब्रह्म श्रीरामजी ने जन्म लिया है" ॥३॥

विशेष--'देखि मुनि··भयो प्रथम···'—साधु-समाज में प्रथम गिना जाना बड़ा भारी सौभाग्य है; तथा--"साधु-समाज न जाकर लेखा। राम भगत महँ जासु न रेखा॥ जाय जियत जग सो महि भारू। जननी-जौवन बिटप-कुठारू॥" (मा० अ० १८६)। तथा—"मो सम आजु धन्य नहिं

दूजा ।" (मा० बा० २०६)—यह इसी प्रसंग पर राजा दशरथ ने कहा है। महर्षिजी ने भी इसी प्रसंग पर राजा दशरथ का कथन इस प्रकार लिखा है; यथा—"पात्रभूतोऽसि मे ब्रह्मन्दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मानद । अद्य में सफलं जन्म जीवितं च सुजीवितम् ।।५३।। यस्माद्विप्रेन्द्रमद्राक्षं सुप्रभाता निशा मम । पूर्वं राजर्षिशब्देन तपसा द्योतितप्रभः ।। ५४ ।। ब्रह्मर्षित्वमनुप्राप्तः पूज्योऽसि बहुधा मया । तदद्भुतमभूद्विप्र पवित्रं परमं मम ।। ५५ ।। शुभक्षेत्रगतश्चाहं तव संदर्शनात्प्रभो ।" (वाल्मी० १।१८); अर्थात् हे ब्रह्मन्! आप भाग्य से ही मेरे यहाँ आये हैं, आप मेरी सब सेवाओं के योग्य हैं और अपने आगमन से मुझे प्रतिष्ठा देने वाले हैं। आज मेरा जन्म सफल हुआ और जीवन धन्य हुआ। आज मैंने उस ब्राह्मण श्रेष्ठ को देखा है। जिसने पहले के राजर्षि पद और फिर तपस्या के द्वारा तेज फैलाया है, ब्रह्मर्षि पद पाया है। अतः, आज की मेरी (गत) रात सुन्दर प्रातःकाल वाली है। आप मेरे द्वारा बहुत भाँति से पूज्य हैं। आपका यह पवित्र आगमन मेरे लिये अद्भुत है। आपके दर्शन से आज मेरा घर तीर्थ हो गया।

'कहिय कृपा करि काज...'—कार्य करने की आज्ञा देने में मैं आपकी महती कृपा समझूँगा। तथा—"तब मन हरषि बचन कह राऊ। मुनि अस कृपा न कीन्हेहु काऊ ॥ केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावउँ बारा ॥" (मा० बा० २०६)।

'मेरे कछु न अदेय राम बिनु···'—इस एक ही चरण में वाल्मी० १।२०।१-२८ के भावों का सारांश कह दिया गया है। तथा—"चौथे पन पायों सुत चारी।" से "राम देत नहिं बनै गोसाईं ॥" (मा० बा० २०७) तक। देने की वस्तुओं को 'देय' और प्राणों से भी परमप्रिय पुत्र को एवं आत्म रूप श्रीरामजी को 'अदेय' कहा है। क्योंकि दान धर्म विशेष है और श्रीरामजी धर्म एवं साधनों के फल हैं; यथा—"बिनु प्रयास सब साधन को फल प्रभु पायो, सो तो नहिं सँभारे। हरि तजि धर्म सील भयो चाहत..." (अ० २)।

'भली कही भूपति···तुलसी राम जनमहि···'; यथा—"सुकृती तुम्ह समान जग माँही। भयेउ न है कोउ होनेउ नाहीं ॥ तुम्ह ते अधिक पुण्य बड़

काके। राजन रामसरिस सुत जाके ॥" (मा० बा० २१३)। "सराहैं सिद्ध सुकृत...." (पद ४२)—इसका विशेष भी देखिये। एवं—"त्रिभुवन तीनि-काल जग माहीं। भूरि भाग दसरथ सम नाहीं ॥ मंगलमूल राम सुत जासू। जो कछु कहिय थोर सब तासू ॥" (मा० अ० १)।

[५०]

राजन ! राम-लखन जौं दीजै।
जस रावरो, लाभ ढोटनिहूँ, मुनि सनाथ सब कीजै ॥१॥
डरपत हौ साँचे सनेह बस सुत-प्रभाव बिनु जाने।
बूझिये बामदेव अरु कुलगुरु तुम पुनि परम सयाने ॥२॥
रिपु रन दलि मख राखि कुसल अति अलप दिननि घर ऐहैं।
तुलसिदास रघुबंस-तिलक की कविकुल करिति गैहैं ॥३॥

अर्थ—हे राजन् ! यदि आप श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी को दे देते हैं तो आपका यश फैलेगा और इन लड़कों को भी लाभ होगा। अतः आप (पुत्र-प्रदान कर) सब मुनियों को सनाथ करें ॥ १ ॥ आपका पुत्र श्रीरामजी में सच्चा स्नेह है, इससे उन्हें बालक ही जान कर डर रहे हैं। परन्तु यह डर पुत्र-प्रभाव न जानने से है। आप अपने कुलगुरु श्रीवसिष्ठजी और श्रीवामदेव-जी से पूछिये, फिर आप भी तो परम प्रवीण हैं (अतः, सब प्रकार से समझ लीजिये) ॥२॥ ये बालक युद्ध में शत्रु राक्षसों का नाश कर और यज्ञ की रक्षा कर थोड़े ही दिनों में अत्यन्त कुशलपूर्वक घर आ जायँगे। श्रीतुलसीदास जी कहते हैं—(श्रीविश्वामित्रजी कहते हैं कि) इन रघुकुल श्रेष्ठ श्रीराम-लक्ष्मण की कीर्ति का कवि लोग गान करेंगे ॥ ३ ॥

विशेष—'राजन ! राम...जस रावरो...'; यथा—"देहि भूप मन हरषित, तजहु मोह अज्ञान। धर्म सुजस प्रभु तुम कहँ, इन्ह कहँ अति कल्यान ॥" (मा० बा० २०७); तथा—"यदि ते धर्मलाभं तु यशश्च परं भुवि ॥ १५ ॥ स्थिरमिच्छसि राजेन्द्र रामं मे दातुमर्हसि।" (वाल्मी० १ १९।१५-१६); अर्थात् राजन् ! धर्म का लाभ (याचक की मनोरथपूर्ति तथा अपनी प्रतिज्ञा के पालन से होने वाला धर्म) और परम यश यदि आप पृथिवी में स्थिर रखना चाहते हैं तो मुझे श्रीरामजी को दें। 'लाभ ढोटनिहूँ'—

यथा – "श्रेयश्चास्मै प्रदास्यामि बहुरूपं न संशयः ॥" (वाल्मी० १।१६।१०); अर्थात् इन श्रीरामजी का मैं बहुत प्रकार से कल्याण भी करूँगा, त्रिकालज्ञ महर्षि के इस वचन में गर्भित है कि इसी यात्रा में मेरे द्वारा इनके विवाह आदि कल्याण कार्य भी होंगे। जैसा पूर्व शङ्कर-आगमी ने कह रक्खा है; यथा— "कौसिक मिस सीय स्वयंवर गायो।" (पद १७); 'मुनि सनाथ सब कीजै'— मेरे साथ के बहुत मुनि हैं, वे सब यज्ञ करते हैं। वे उन दोनों राक्षसों के द्वारा अनाथ की भाँति सताये जाते हैं। उन राक्षसों के मारे जाने से वे सब सनाथ हो निर्द्वन्द्व रहकर यज्ञादि सभी नियम कर सकेंगे।

'डरपत हौं साँचे···'—राजा दशरथ का श्रीरामजी में सच्चा वात्सल्य स्नेह है, इससे उन्हें श्रीरामजी शिशु ही देख पड़ते हैं। अतः, वे इन्हें राक्षसों से इनका अकल्याण होना समझ कर डर रहे हैं। राजा श्रीराम-वियोग में जी नहीं सकते; यथा—"ऊन षोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः। न युद्धयोग्यतामस्य पश्यामि सह राक्षसैः ॥ २ ॥···बालो ह्यकृतविद्यश्च न च वेत्ति बलाबलम्। न चास्त्रबलसंयुक्तो न च युद्धविशारदः ॥ ७ ॥ न चासौ राक्षसां योग्यः कूट-युद्धा हि राक्षसाः। विप्रयुक्तो हि रामेण मुहूर्त्तमपि नोत्सहे ॥ ८ ॥" (वाल्मी०-१।२०); अर्थात् अभी तो मेरे रामजी सोलह वर्ष से भी कम हैं, उनमें राक्षसों से लड़ने की योग्यता नहीं है।···श्रीरामजी अभी बालक हैं, अस्त्रविद्या का इन्हें अभ्यास नहीं है, शत्रु के बलाबल को ये नहीं जानते, न इनमें अस्त्रबल है और न ये युद्धविद्या में ही निपुण हैं। अतः, ये राक्षसों से युद्ध करने योग्य नहीं हैं, राक्षस छल से युद्ध किया करते हैं, और मैं इन श्रीरामजी के बिना क्षण भर भी जीना नहीं चाहता।

अपने स्नेहपात्र के बिना न जीने में ही स्नेह की सत्यता है। यह डर सुत-प्रभाव न जानने से है, इसका उपाय आगे कहते हैं—

'बूझिये बामदेव अरु कुलगुरु···'—"श्रीविश्वामित्रजी जिस प्रकार श्रीरामजी का प्रभाव जानते हैं, श्रीवशिष्ठजी भी वैसे ही जानते हैं, इसीसे उनसे पूछने को कह रहे हैं; यथा—"अहं वेद्मि महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ॥१४॥ वसिष्ठोऽपि महातेजा ये चेमे तपसिस्थिताः।···यद्यभ्यनुज्ञां काकुत्स्थ ददते तव मंत्रिणः ॥ १६ ॥ वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे ततो रामं विसर्जय।" (वाल्मी० १।१९);

अर्थात् श्रीविश्वामित्रजी ने कहा है कि सत्य पराक्रम श्रीरामजी को मैं जानता हूँ। महातेजस्वी श्रीवसिष्ठजी एवं ये तपस्वी ऋषि भी जानते हैं।...अतः वसिष्ठ आदि मंत्रीगण से सम्मत लेके श्रीरामजी को दीजिये। आप भी तो परम प्रवीण हैं, इनकी यज्ञ द्वारा उत्पत्ति तथा इनके दिव्य लक्षणों से एवं इनके तेज द्वारा इन्हें पहचानें; यथा—"सुचि सुजान नृप कहहिं हमहिं अस सूझइ। तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ॥" (जानकी मंगल ६६); श्रीराम-श्रीलक्ष्मणजी के तेज प्रताप एवं रूप ही को देखकर तो श्रीसुग्रीवजी ने इन्हें बल-रूप-निधान जाना है; यथा—"तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवाँ। आवत देख अतुल बल सींवाँ॥ अति सभीत कह सुनु हनुमाना। पुरुष जुगल बल-रूप-निधाना॥" (मा० कि० १)।

'रिपु रन दलि...'; यथा—"अहं ते प्रतिजानामि हतौ तौ विद्धि राक्षसौ।...दशरात्रं हि यज्ञस्य रामं राजीवलोचनम्। नात्येति कालो यज्ञस्य यथा यं मम राघव॥ १८॥" (वाल्मी० १।१९); अर्थात् विश्वामित्रजी ने कहा, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि वे दोनों राक्षस श्रीरामजी के द्वारा अवश्य मारे जायँगे।... बस, दस रात के लिये आप मुझे रामजी को दें, इससे अधिक समय न लगेगा।

'तुलसिदास रघुबंस तिलक की...'—रघुवंशी आश्रित-वत्सल होते हैं। हम आश्रितों की रक्षा कर ये रघुवंश श्रेष्ठ होकर प्रसिद्ध होंगे, इसकी कीर्ति वाल्मीकि व्यास आदि कवि समाज गायेंगे; यथा—"राक्षसा ये विकर्त्तारस्तेषामपि विनाशने। श्रेयश्चास्मै प्रदास्यामि बहु रूपं न संशयः॥ त्रयाणामपि लोकानां येन ख्यातिं गमिष्यति।" (वाल्मी० १।१९।१०-११); अर्थात् ये उन विघ्न करने वाले राक्षसों का नाश भी करेंगे (यज्ञ-रक्षा तो करेंगे ही। मैं (अस्त्र दान एवं विवाह आदि के रूप में) इनका अनेक प्रकार से कल्याण करूँगा। उससे इनकी तीनों लोकों में ख्याति होगी (उसे कवि गायेंगे)।

[५१]

रहे ठगि से नृपति सुनि मुनिवर के बयन।
कहि न सकत कछु, राम-प्रेम बस पुलक गात, भरे नीर नयन॥१॥
गुरु बसिष्ठ समुझाय कह्यो तब हिय हरषाने जाने सेष-सयन।
सौंपे सुत गहि पानि, पाँय परि, भूसुर उर चले उमँगि चयन॥२॥

तुलसी प्रभु जोहत पोहत चित सोहत मोहत कोटि मयन।
मधु-माधव मूरति दोउ सँग मानो दिनमनि गवन कियो उत्तर अयन ॥३॥

अर्थ—मुनिश्रेष्ठ श्रीविश्वामित्रजी के वचन सुनकर राजा दशरथ ठगे-से रह गये। वे कुछ कह नहीं सके, श्रीरामजी के प्रेमवश होने से उनका शरीर पुलकित हो गया और आँखों में आँसू भर आये ॥१॥ तब गुरु वसिष्ठजी ने उन्हें समझा कर कहा, इससे उन्होंने श्रीरामजी को शेषशय्या पर शयन करने वाले भगवान् नारायण (का मूल रूप) जाना और हृदय में हर्षित हुए। फिर राजा ने पुत्रों के हाथ पकड़ कर मुनि को सौंपा और चरणों पर पड़कर प्रणाम किया, ब्राह्मण श्रीविश्वामित्रजी हृदय के आनंद से उमँग कर चल दिये ॥२॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (मार्ग में स्थित श्रीरामजी) करोड़ों कामदेवों के समान शोभायमान एवं मोहित करने वाले हैं, वे प्रभु देखते (दृष्टि पड़ते) ही दर्शक के चित्त को अपने में बाँध लेते हैं। ऐसा जान पड़ता है मानो मूर्तिमान चैत-वैशाख (इन दोनों) को साथ लेकर सूर्य नारायण ने उत्तरायण को गमन किया हो ॥ ३ ॥

विशेष—'रहे ठगि-से नृपति…'—पीछे माताओं ने भी कहा है; यथा—"रिषि नृप सीस ठगौरी-सी डारी।" (पद १००)।

'कहि न सकत कछु'; यथा—"जबहि मुनीस महीसहि काज सुनायो। भयउ सनेह सत्य बस उतर न आयो ॥" (जानकी मंगल २६)। 'राम प्रेम बस पुलक गात…'—वियोग की सम्भावना पर प्रेम उमड़ आया, उससे शरीर पुलकित हो गया, फिर नेत्रों में प्रेमाश्रु भर आये। पुत्र-स्नेह और सत्य-रक्षण इन दोनों के वश हो कुछ बोल न सके। यदि पुत्र देते हैं तो स्नेह नष्ट होता है और नहीं देते तो भ्रष्ट-प्रतिज्ञ होने पर धर्म नाश होता है, इस दुविधा में कुछ बोल न सके।

'गुरु बसिष्ठ समझाय कह्यो…'; यथा—"तब बसिष्ठ बहु बिधि समझावा। नृप संदेह नास कहँ पावा ॥" (मा० बा० २०७); इन बहुत विधियों में एक विधि महर्षि वाल्मीकि की है, उसमें श्रीविश्वामित्रजी का प्रभाव और कुछ श्रीरामजी का प्रभाव भी कहा गया है—वाल्मी० १।२१ देखिये; तदनुसार श्रीगोस्वामीजी ने भी कहा है; यथा—"आयउ न उतरु बसिष्ठ लखि बहु भाँति

नृप समझायऊ। कहि गाधिसुत तर तेज कछु रघुपति-प्रभाउ जनायऊ॥" (जानकी मंगल १५); किन्तु इस ग्रन्थ का समझाना बहु बिधि में एक और ही विधि है। इसमें वसिष्ठ ने केवल श्रीराम परत्व कहा है कि श्रीरामजी ही नर संज्ञक परमात्मा हैं, इन्होंने ही जल उत्पन्न करके जब उसमें चतुर्भुज रूप से शेष शय्या पर शयन किया है, तब इनका नाम नारायण पड़ा है। नारायण रूप से जब आप ने सृष्टि विस्तार की इच्छा की, तब आपकी नाभी से कमल उत्पन्न हुआ, उस कमल से ब्रह्माजी हुए। ब्रह्माजी से संसार हुआ। अतः जब संसार पर अधर्म बढ़ता है, तब ब्रह्माजी इन्हीं के समक्ष दुःख रोते हैं और ये उस पर अवतार लेकर भूभार का हरण करते हैं। अतः, राक्षसों का बध करने के लिये तो इनका अवतार ही है। ध्यान से ऐसा जान कर श्रीविश्वामित्रजी आये हैं, इससे श्रीरामजी को इस कार्य में कुछ अमङ्गल का भय नहीं है।

यहाँ 'सेष सयन' कह कर ही समझाया गया है; क्योंकि सृष्टि का व्यापार श्रीरामजी के इसी रूप से होता है और चराचर का स्वामित्व भी आप अपने इसी रूप से करते हैं, इसी बात को राजा ने आगे स्पष्ट कहा है; यथा—"सुनहु राम तुम्ह कहँ मुनि कहहीं। राम चराचर नायक अहहीं॥" (मा० अ० ७६)।

श्रीमन्नारायण रूप श्रीरामजी का ही दूसरा रूप है, इसका निर्णय इस प्रकार है—महर्षि वाल्मीकिजी ने श्रीनारदजी से पूछा है—"महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवं बिधं नरम्।" इस पर श्रीनारदजी ने कहा है—"तैर्युक्तः श्रूयतां नरः॥ इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।" (वाल्मी० १।१।५-८); अर्थात् महर्षिजी ने नर का परिचय पूछा, तब श्रीनारदजी ने कहा कि वह नर इस समय इक्ष्वाकुवंश में प्रकट है, उसका 'राम' यह नाम है। नर का अर्थ; यथा—"नर इति नरति सर्वान् स्ववशे प्रापयति गुणद्वारेति नरः॥" तथा—"नरतीति नरः प्रोक्तः परमात्मा सनातनः।" इन प्रसिद्ध निरुक्तियोंके अनुसार नर का अर्थ सनातन परमात्मा है; तथा—"आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥" (मनु० १।१०); अर्थात् जल को नार कहते हैं; क्योंकि वह नर से पैदा हुआ है। वही नार (जल) इस ब्रह्म का पहले स्थान हुआ है, इसीसे इसे नारायण कहा जाता है।

इन वचनों से स्पष्ट हुआ कि नर पद वाच्य सनातन परमात्मा श्रीरामजी ने

जल को पैदा किया और फिर जब उन्होंने उसमें अपना स्थान किया (निवास किया) है, तब उनका नाम नारायण हुआ है (अतः) नारायण रूप श्रीराम-जी का दूसरा रूप है, श्रीराम रूप नारायण भगवान् का मूल रूप है। महर्षिजी ने इस बात को स्पष्ट भी कहा है; यथा—"संक्षिप्य हि पुरा लोकान्मायया स्वयमेव हि। महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः ॥४॥ ततस्त्वमसि दुर्धर्षात्तस्माद्भावात्सनातनात्। रक्षां विधास्यन्भूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान् ॥६॥" (वाल्मी० ७।१०४); अर्थात् श्रीब्रह्माजी के भेजे हुए काल ने तपस्वी रूप से आकर श्रीरामजी से श्रीब्रह्माजी का कहा हुआ संदेश कहा है कि सृष्टि के पहले आप समस्त लोकों को संक्षिप्त (परमाणुओं के) रूप में अपनी माया से धारण कर महा समुद्र में सो रहे थे, उसी समय आपने मुझे उत्पन्न किया है। ...फिर उस सनातन दुर्धर्ष भाव को छोड़ कर प्राणियों की रक्षा करने के लिये आप विष्णु रूप में प्रकट हुए।

उपर्युक्त प्रसंग से सिद्ध है कि सनातन परमात्मा श्रीरामजी ने पहले नारायण रूप धारण कर जल में शयन किया है और फिर सृष्टि होने पर वे ही विष्णु रूप भी हुए हैं। इस प्रकार श्रीरामजीका दूसरा रूप नारायण और तीसरा रूप विष्णु है।

श्रीरामजीकी इसी परम कारणता को श्रीगोस्वामीजी ने श्रीराचरितमानस के प्रारम्भ में ही लिखा है; यथा—"वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशंहरिम्।" यहाँ पर राक्षस-वध करने के स्वभाव वाले श्रीरामजी के शेष-शयन रूप तक ऐश्वर्य प्रकट करने का प्रयोजन जान कर श्रीवसिष्ठजी ने इतना ही कहा है।

'प्रभु जोहत पोहत चित...'; यथा—"अंबुजायत नयन, बदन छबि बहु मयन, चारु चितवनि चतु लेति चितपोही ॥" (अ० १८); तथा—"चन्द्रकान्ताननं राममतीवप्रियदर्शनम् ॥ २८ ॥ रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम्।" (वाल्मी० २।३।२८-२९); अर्थात् चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख-वाले अत्यन्त प्रियदर्शन श्रीरामजी को जो अपनी सुन्दरता से पुरुषों की आँखों तथा उदारता आदि गुणों से उनके चित्त का हरण करने वाले हैं।

'मोहत कोटि मयन' इसमें 'चतुर्थ प्रतीप 'अलंकार' है।

'मधु माधव मूरति दोउ सँग...' तथा—"कियो गमन जनु दिन नाथ

उत्तर संग मधु-माधव लिये ॥" (जानकी मंगल २०)। यहाँ सूर्य के समान महा तेजस्वी श्रीविश्वामित्रजी हैं और चैत-वैशाख के समान दोनों भाई श्रीराम-लक्ष्मण हैं। (श्रीविश्वामित्रजी ने श्रीअवध से वक्सर की ओर प्रस्थान किया है, यही सूर्य की उत्तरायण यात्रा के समान है। सूर्य नारायण चैत्र-वैशाख के योग से अधिक तेजस्वी होते हैं और फिर क्रमशः उनका तेज बढ़ता ही जाता है। वैसे ही श्रीराम-लक्ष्मण को साथ लेने से मुनि का तेज-प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। ऐसी ही उत्प्रेक्षा अन्यत्र भी आई है; यथा—"मातृवर्गचरणस्पृशौ मुनेस्तौ प्रपद्य पदवीं महौजसः। रेजतुर्गतिवशात्प्रवर्तिनौ भास्करस्य मधुमाधवाविव ॥" (रघुवंश ११।७)।

राग सारंग

[५२]

रिषि सँग हरषि चले दोउ भाई।
पितु पद बंदि सीस लियो आयसु, सुनि सिख आसिष पाई ॥१॥
नील पीत पाथोज बरन बपु, बय किसोर बनि आई।
सर धनु पानि, पीत पट कटितट, कसे निषंग बनाई ॥२॥
कलित कंठ मनिमाल, कलेवर चंदन खौरि सुहाई।
सुंदर बदन, सरोरुह-लोचन मुख छबि बरनि न जाई ॥३॥
पल्लव, पंख, सुमन सिर सोहत, क्यों कहौं बेष लोनाई।
मनो मूरति धरि उभय भाग भइ त्रिभुवन सुंदरताई ॥४॥
पैठत सरिनि, सिलनि चढ़ि चितवत खग-मृग-बन-रुचिराई।
सादर सभय सप्रेम पुलकि मुनि पुनि-पुनि लेत बोलाई ॥५॥
एक तीर तकि हती ताड़का, बिद्या बिप्र पढ़ाई।
राख्यो जज्ञ जीति रजनीचर, भइ जग-बिदित बड़ाई ॥६॥
चरन कमल रज परसि अहल्या निज पति लोक पठाई।
तुलसिदास प्रभु के बूझे मुनि सुरसरि कथा सुनाई ॥७॥

अर्थ—ऋषि विश्वामित्रजी के साथ दोनों भाई श्रीराम-लक्ष्मणजी हर्षित होकर चले। पिता श्रीदशरथजी के चरणों की वंदना कर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की तथा उनकी शिक्षा सुनकर (यात्रा के उपलक्ष में प्रणाम कर) उनसे

आशीर्वाद प्राप्त किया ॥ १ ॥ दोनों भाई नील-पीत वर्ण के कमलों के समान (सुन्दर) शरीरवाले हैं और किशोर अवस्था भी भली भाँति आ गई है। वे हाथों में धनुष-बाण तथा कटि भाग में पीताम्बर धारण किये हैं और भलीभाँति तर्कश कसे हुए हैं ॥ २ ॥ उनके कण्ठ में मनोहर मणिमाल सुशोभित है और शरीर में चन्दन की खौर शोभायमान है। उनके शरीर सुन्दर हैं, कमल के समान नेत्र हैं और मुख की छवि का तो वर्णन ही नहीं किया जाता ॥ ३ ॥ नवीन पल्लव और मोरपक्ष के साथ फूल (के ताज) शिर पर शोभायमान हैं। अतः, उनके वेष की सुन्दरता किस प्रकार कहूँ ? मानों तीनों लोकों की सुन्दरता मूर्तिमान होकर दो भागों में बँट गई है ॥ ४ ॥ (मार्ग में जाते हुए) दोनों भाई (कमल आदि के फूल लेने के व्याज से) सरोवरों में पैठ जाते हैं और कभी पत्थर की चट्टानों पर चढ़ कर पक्षियों, मृगों और बनों की सुन्दरता देखने लगते हैं। तब मुनि विश्वामित्र भय युक्त तथा प्रेमपूर्वक पुलकित होकर बार-बार आदरपूर्वक बुला लेते हैं ॥ ५ ॥ श्रीरामजी ने (मार्ग में) ताड़का को देखकर एक ही बाण से मार डाला, तब ब्राह्मण श्रीविश्वामित्रजी ने विद्या पढ़ाई (अपनी सारी विद्या दी)। तत्पश्चात् (दोनों भाइयों ने) राक्षसों को जीतकर मुनि यज्ञ की रक्षा की, इससे सारे जगत् में बड़ाई (कीर्ति) प्रसिद्ध हुई ॥ ६ ॥ श्रीरामजी ने अपने चरण-रज से स्पर्श करके अहल्या को अपने पतिलोक पहुँचा दिया। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि प्रभु श्रीरामजी के पूछने पर मुनि श्री-विश्वामित्रजी ने श्रीगङ्गाजी की कथा सुनाई ॥ ७ ॥

विशेष—'रिषि सँग हरषि चले...'—हर्षित होकर चलने में मन का उत्साह स्पष्ट है, यह यात्रा में कार्य-सिद्धिसूचक शुभ शकुन है; यथा—"ऊषा प्रशस्यते गर्गः शकुनं च बृहस्पतिः। अङ्गिरा मन उत्साहो विप्र वाक्यं जनार्दनः।" अर्थात् ज्योतिष में श्रीअङ्गिराजी का मत है कि जिस समय मन में उत्साह (हर्ष(हो, उसी समय यात्रा करने से कार्य सिद्ध होता है, जहाँ विशेष हर्ष होता है वहाँ विशेष कार्य-सिद्धि होती है ;यथा—"होइहि काज मोहिं हरष बिसेषी ।। अस कहि नाइ सबन्हि कहँ माथा। चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा ।।" (मा० सुं० १); इस यात्रा से लौटने पर कहा गया है—"राम कृपा भा काज बिसेषी ।।" (मा० सुं० २८)। तथा—"हरषि चले मुनि भय हरन।" (मा०

बा० २०८); "हरषि चले मुनिवर के साथा" (मा० बा० २०९); "हरषि चले मुनिबृन्द सहाया ।" (मा० बा० २११); एवं—"हरषि राम तब कीन्ह पयाना । सगुन भये सुंदर सुभ नाना ॥" (मा० बा० ३४); इन सब प्रसङ्गों की हर्षपूर्वक यात्राओं में अभीष्ट-सिद्धियाँ हुई हैं ।

'सीस लियो आयसु'—पिता ने आज्ञा दी कि मुनि की आज्ञा मनना, उसे आपने शिरोधार्य किया है । आगे ताड़का-वध के समय मुनि ने स्त्री-वध की आज्ञा दी और उसके लिये उन्होंने शास्त्राज्ञा भी कही, तब आपने पितु-आज्ञा-पालन को ही प्रधानता दी है और तदनुसार मुनि आज्ञा मानी है; यथा—"पितुर्वचननिर्देशात्पितुर्वचनगौरवात् । वचनं कौशिकस्येति कर्त्तव्यमविशङ्कया ॥ २ ॥ अनुशिष्टोऽस्म्ययोध्यायां गुरुमध्ये महात्मना । पित्रा दशरथेनाहं नावज्ञेयं हि तद्वचः ॥३॥ सोऽहं पितुर्वचः श्रुत्वा शासनाद्ब्रह्मवादिनः । करिष्यामि न संदेहस्ताटकावधमुत्तमम् ॥४॥" (वाल्मी० १।२६)। 'मुनि सिख'; यथा—"अति आदर दोउ तनय बोलाए । हृदय लाइ बहु भाँति सिखाए ॥" (मा० बा० २०७); बहुत प्रकार से शिक्षा दी कि मुनि को ही गुरु पिता आदि मानना और उनके साथ इस भाँति रहना तथा उनकी सेवा करना । गुरु-सेवा का महत्त्व भी समझाया; यथा—"जे गुरु चरन रेनु सिर धरहीं । ते जनु सकल बिभव बस करहीं ॥" (मा० अ० २); इत्यादि । 'आसिष पाई'; यथा—"सौंपे भूप रिषिहि सुत, बहु बिधि देइ असीस ।" (मा० बा० २०८)।

'नील पीत पाथोज बरन बपु'; यथा—"नील पीत पाथोज बरन मन हरन सुभाय सुहाए ।" (पद ६५); यहाँ 'धर्मलुप्तोपमालंकार' है ।' 'बय किसोर बनि आई'; यथा—"बय किसोर सुखमा सदन, स्याम गौर सुख धाम । अंग-अंग पर वारिअहि, कोटि-कोटि सत काम ॥" (मा० बा० २२०); तथा—"बय किसोर बरजोर बाहुबल · · ·" (पद ८०)।

'कलेवर चंदन खौरि सुहाई ।'; यथा—"तनु अनुहरत सुचंदन खोरी । स्यामल गौर मनोहर जोरी ॥" (मा० बा० २१८); 'सरोरुह लोचन'—इसमें 'रूपक अलंकार' है ।

'मुख छबि बरनि न जाई'; यथा—"मुख छबि कहि नजात मोहिं पाहीं । जो बिलोकि बहु काम लजाहीं ॥" (मा० बा० २३२)।

'पल्लव, पंख सुमन सिर सोहत···'—ये तीनों वस्तुएँ शिर में इस प्रकार सोहती हैं कि फूलों का ताज बना कर उसी में पल्लव और मयूरपक्ष भी लगा दिये गये हैं।

'मनो मूरति धरि···'–यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है। 'उभय भाग'—दोनों भाइयों में। 'पैठत सरनि, सिलनि चढ़ि···'—यहाँ बाल-अवस्था की चंचलता का अभिनय कर रहे हैं। इसका भी यहाँ प्रयोजन है, श्रीविश्वामित्रजी ने पहले स्वकीय ज्ञान से ध्यान द्वारा प्रभु को जाना है और उसे कहा भी है; यथा—"प्रभु ब्रह्मन्य देव मैं जाना। मोहि निति पिता तजे भगवाना॥" (मा० बा० २०८); तथा—"अहं वेद्मि महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम्।" (वाल्मी० १।१६।१४); इस ज्ञान को प्रभु अपनी माधुर्यलीला से बालवत् चपलता दिखा ढँक देते हैं। मर्याद-रक्षा के लिये एक बान से ताटका-वध कर अपना ऐश्वर्य स्वयं दिखायेंगे; तब कहा जायगा—"तब रिषि निज नाथहि जिय चीन्हीं।" (मा० बा० २०८)। ऐसे ही श्रीकौशल्याजी को यद्यपि पूर्व ही से वरदान द्वारा अलौकिक विवेक प्राप्त था, फिर भी उनके "उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना" इस प्रसंग के उपजे हुए ज्ञान को आपने ढँक दिया है। मुसुकान द्वारा उन पर माया डाल कर बाललीला का माधुर्य सुख दिया है। फिर श्रीरंगजी की पूजा के समय उन्हें अपना विराट रूप दिखा कर दृढ़ ज्ञान दे दिया है। यह मर्यादा है—"ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।" (गीता १०।१०); अर्थात् भक्तों को मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं; तथा—"सोइ जानइ जेहि देहु ज़नाई।" (मा० अ० १२६); इत्यादि। अतः, या तो भगवान् स्वयं जनाते हैं और या तो अपना ज्ञान मंत्र-परंपरा से आचार्यों द्वारा देकर अपने को जनाते हैं।

'सादर सभय सप्रेम···'—मुनि माधुर्य में पग गये। अतः, कहीं इनका कुछ अमंगल न हो जाय। मैं राजा से माँग कर लाया हूँ; यह समझ कर 'सभय' होने लगे। फिर माधुर्य के प्रेम से वात्सल्य वश आदरपूर्वक बार-बार बुला लेते हैं।

'एक तीर तकि हती ताडका'; यथा—"चले जात मुनि दीन्हि देखाई। सुनि ताडका क्रोध करि धाई॥ एकहि बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि

निजपद दीन्हा ॥'' (मा० बा० २०८); अर्थात् मार्ग में जाते समय मुनि ने उस ताटकावन का इतिहास कहा। तब उसे ललकारने के लिये श्रीरामजी ने धनुष का टंकार किया। वह सुनकर दौड़ी, श्रीरामजी स्त्री जान कर कुछ ढीले पड़े थे। परन्तु ताटका का बेग बढ़ता देख कर मुनि ने हुंकार करके उसे डाँटा, यह सुनते ही वह क्रोध करके दौड़ी। यह भाव वाल्मी० १।२४-२६ के अनुसार है। पीछे मुनि का भय शीघ्र मिटाने और राक्षसों के प्रति अपना असाधारण पराक्रम प्रकट करने के लिये एक ही बाण से उसे मार डाला।

'बिद्या बिप्र पढ़ाई'; यथा—''तब रिषि निज नाथहि जिय चीन्हीं। बिद्यानिधि कहँ बिद्या दीन्हीं ॥'' (मा० बा० २०८)—यह इसी प्रसंग पर कहा गया है। अतः, 'पढ़ाई' पद का अर्थ पढ़ाने के रूप में विद्या निधि को जान कर अपनी सारी विद्या का निधि में समर्पित करना है; यथा—''बिद्या दई जानि बिद्यानिधि बिद्यहु लही बड़ाई।'' (पद ५५); अर्थात् श्रीरामजी ही सम्पूर्ण विद्याओं के निधि हैं, इन्हीं से सब को विद्याएँ प्राप्त होती हैं। जैसे कोई समुद्र का जल लेकर अंजलि द्वारा उसे ही समर्पित करे, वैसे ही श्रीविश्वामित्रजी ने अपने में विद्यमान विद्याओं को उनकी निधि में समर्पित किया है तथा—''बिद्या बिस्वामित्र सब, सुथल समर्पित कीन्ह।'' (रामाज्ञा प्रश्न ४।६।३)। आगे आयुध-समर्पण के रूप में साधन भी सौंपेंगे। ब्राह्मण में विद्या और साधन दोई धन हैं। प्रभु को इनका समर्पण कर उन्हें ही उपायोपेय निश्चित कर मुनि ने शुद्ध शरणागति की है। इसी पर प्रभु ने इनका कुल भार ले लिया है।

'राख्यो जज्ञ···भइ जग बिदित बड़ाई।'; यथा—''राम लखन दोउ बंधु बर, रूप सील बल धाम। मख राखेउ सब साखि जग, जिते असुर संग्राम ॥'' (मा० बा० २१६)।

'चरन काल रज परसि···'—इस प्रसंग का विस्तार आगे पद ५७-५९ में है।

'प्रभु के पूछे मुनि···'—वाल्मी० १।३२-३४ में लिखा है कि मुनि के साथ श्रीरामजी सोन नदी के तट पर रात भर रहे थे, वहाँ श्रीरामजी के पूछने पर मुनि ने पहले अपने कुल का पूरा वृत्तान्त कहा है। तब पीछे श्रीगङ्गाजी

की कथा कपी है; तथा—"बूझत प्रभु सुरसरि प्रसंग कहि निज कुल कथा सुनाई।" (पद ५५)

सुरसरि-कथा

इक्ष्वाकु वंश में एक बड़े प्रतापी राजा सगर हुए। उनके दो रानियाँ थीं—केशिनी और सुमति। केशिनी के पुत्र असमंजस हुए और पौत्र अंशुमान। सुमति के साठ हजार पुत्र हुए। असमंजस पुरजनों के खेलते हुए बालकों को मार कर श्रीसरयूजी में फेंक देते थे। प्रजा को पीड़ा देने के कारण राजा सगर ने उस पुत्र असमंजस को घर से निकाल दिया। [भाग० ९।८।१८-१९ में लिखा है कि पिता के द्वारा निकाले जाने पर असमंजस ने प्रजाओं के बालकों को योगबल से जिला दिया है; यह देख कर प्रजा को आश्चर्य हुआ और राजा सगर को पश्चात्ताप हुआ। इससे यह जाना गया कि उन्होंने घर छोड़ कर वन जाने के लिये ही वैसे कार्य किये थे।]

राजा सगर ने अश्वमेध यज्ञ करने के उपलक्ष में घोड़ा छोड़ा। इन्द्र ने उस घोड़े को चुरा कर कपिल मुनि के आश्रम में बाँध दिया! तब राजा सगर ने अपने साठ हजार पुत्रों को घोड़ा खोजने के लिये भेजा। उन लोगों ने खोजते-खोजते पाताल में कपिल मुनि के समीप उस घोड़े को बँधा हुआ देखा। मुनि ध्यान में निमग्न थे। इन लोगों ने उन्हें 'चोर-चोर' ऐसा कहकर हल्ला किया। उस कोलाहल से मुनि की आँखें खुल गईं। अपमान के कारण मुनि क्रुद्ध हुए, उससे वे सब सगर के पुत्र भस्म हो गये। पीछे राजा सगर ने अपने पौत्र अंशुमान को भेजा। इन्होंने उस स्थल पर आकर श्रीगरुड़जी से समाचार जाना। श्रीगरुड़जी ने यह भी कहा कि श्रीगङ्गाजी के द्वारा इन सब का उद्धार होगा। अतः, पीछे इसका उपाय करना। घोड़ा लेकर अंशुमान आये और उन्होंने राजा सगर से सारा समाचार कहा। सगर ने यज्ञ पूरा किया।

राजा सगर के पीछे अंशुमान राजा हुए, उन्होंने अपने पुत्र दिलीप को राज्य देकर श्रीगङ्गाजी को लाने के लिये ३२०० वर्ष तक तपस्या की और स्वर्गवासी हुए। राजा दिलीप को अपने पितरों को तारने की चिन्ता बनी ही रही, पर कृतकार्य नहीं हो सके। फिर उनके पुत्र भगीरथजी ने बिना पुत्र हुए ही मंत्रियों को राज्य सौंप कर तपस्या करनी प्रारंभ की। १००० वर्ष बीतने

पर श्रीब्रह्माजी आये और इनसे वर माँगने को कहा। इन्होंने श्रीगङ्गाजी को माँगा और पुत्र भी। श्रीब्रह्माजी ने वर देकर कहा कि श्रीगङ्गाजी का धारण करने के लिये श्रीशिवजी को प्रसन्न करो। एक वर्ष की कठिन तपस्या से श्रीशिवजी प्रसन्न हुए और वे श्रीगङ्गाजी के आने पर उनका वेग अपने शिर पर धारण करने लगे। श्रीगङ्गाजी ने गर्व से ऐसी इच्छा की कि मैं अपने वेग से श्रीशिवजी को ले-दे के पाताल चली जाऊँ। इस पर श्रीशिवजी क्रुद्ध हुए और श्रीगङ्गाजी को उन्होंने अपनी जटाओं में ही छिपा लिया, इससे ये निकल न सकीं। बहुत वर्षों तक उसमें ही रह गईं। तब फिर श्रीभगीरथजी की परम तपस्या से प्रसन्न होकर श्रीशिवजी ने उन्हें छोड़ा।

[महा० भीष्म० ६। ३०-३१ में लिखा है—"तां धारयामास तदा दुर्धर्षां पर्वतैरपि ॥ शतं वर्ष सहस्राणां शिरसैव पिनाकधृक।" अर्थात् जिन गङ्गाजी के आघात को पर्वतगण भी नहीं सह सकते थे, उनको पिनाकधारी श्रीशिवजी ने एक लाख वर्ष तक शिर पर ही रख छोड़ा था।]

श्रीशिवजी ने श्रीगङ्गाजी की धारा छोड़ी, तब आगे-आगे रथ पर भगीरथ महाराज चले और उनके पीछे-पीछे श्रीगङ्गाजी चलीं। जब वे सगरपुत्रों की राख ढेरी पर पहुँचीं, तब इनके द्वारा उन सबका उद्धार हुआ—यह कथा वाल्मी० १।३५-४४ के अनुसार है।

श्रीगङ्गाजी की कथा महा० वन० १०६-१०९ में भी ऐसी ही है, वहाँ पर यह भी लिखा है कि श्रीअगस्त्यजी के समुद्र शोषण करने पर उसे फिर श्रीगङ्गाजी ने ही जल से भर कर पूर्ण किया है।

पृथिवी पर यह नदी गङ्गोत्तरी से निकली है। अलकनन्दा आदि से मिलती हुई हरिद्वार के पास पथरीले मैदान में उतरी है। फिर प्रयाग, काशी एवं कलकत्ता होती हुई गङ्गा सागर में समुद्र से मिली है।

राग नट

[५३]

दोउ राजसुवन राजत मुनि के संग।
नख-सिख लोने, लोने बदन, लोने लोयन, दामिनि बारिद-बरबरन अंग॥१॥

सिरसि सिखा सुहाइ, उपवीत पीत पट, धनु-सर-कर, कसे कटि निखंग।
मानो मख-रुज निसिचर हरिवे को सुत पावक के साथ पठये पतंग॥२॥
करत छाँह घन, बरषैं सुमन सुर, छबि बरनत अतुलित अनंग।
तुलसी प्रभु बिलोकि मग लोग, खग-मृग प्रेम मगन रँगे रूप-रंग॥३॥

अर्थ—मुनि श्रीविश्वामित्रजी के साथ दोनों राजकुमार श्रीराम-लक्ष्मणजी शोभायमान हैं। दोनों नख से शिखा तक सुन्दर हैं। सुन्दर मुख और सुन्दर नेत्रवाले दोनों के शरीर श्रेष्ठ तथा बिजली के समान गौर-श्यामवर्ण हैं॥ १॥ दोनों के शिरों पर सुहावनी शिखाएँ (चोटियाँ) हैं, कंधों पर यज्ञोपवीत और अंगों में पीताम्बर सुशोभित हैं। हाथों में धनुष-बाण लिये और कटिभागों में तर्कश कसे हुए हैं। मानों यज्ञ के रोग रूपी राक्षसों का नाश करने के लिये सूर्यनारायण ने अग्निदेव के साथ अपने पुत्र (दोनों अश्विनीकुमारों) को भेजा हो॥२॥ मेघ छाया करते हैं, देवगण पुष्प वर्षा करते हैं और असंख्य कामदेवों के समान उनकी छबि का वर्णन करते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि प्रभु को देख कर मार्ग के लोग, पक्षिगण और मृग इनके रूप रूपी रंग में रँगे हुए प्रेम में निमग्न हैं॥ ३॥

विशेष—'मानो मख रुज ···'—इसमें महाराज दशरथ सूर्य, श्रीविश्वामित्र अग्नि, निशाचर यज्ञ के रोग और अश्विनीकुमारों के समान दोनों राज कुमार हैं। अतः, यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है। तथा—"इम कुमारौ भद्रं ते देवतुल्यपराक्रमौ ···अश्विनाविव रूपेण समुस्थितयौवनौ॥' (वाल्मी० १।४८ २-३); अर्थात् (इसी मार्ग प्रसंग में) राजा सुमति ने विश्वामित्रजी से कहा है कि दोनों कुमार देव तुल्य पराक्रमी हैं···और अश्विनीकुमारों के समान रूप वाले हैं तथा दोनों की जवानी आ रही है। 'छबि अतुलित अनंग'—इसमें 'चतुर्थ प्रतीपक्षालङ्कार' है।

'मग लोग खग मृग···'—सब अनुराग से रामरूप में रँगे हैं, मनुष्य, पक्षी और बनचर पशु सब एक समान ही प्रेम में निमग्न हैं।

राग कल्याण

[५४]

मुनि के संग बिराजत बीर।
काकपच्छ धर, कर कोदंड-सर, सुभग पीत पट कटि तूनीर॥ १॥

बदन इंदु, अंभोरुह लोचन, स्याम गौर सोभा-सदन सरीर।
पुलकत रिषि अवलोकि अमित छबि, उर न समाति प्रेम की भीर॥२॥
खेलत चलत, करत मग कौतुक, बिलँमत सरित-सरोवर-तीर।
तोरत लता, सुमन, सरसीरुह, पियत सुधा सम सीतल नीर॥३॥
बैठत बिमल सिलनि बिटपनि तर, पुनि-पुनि बरनत छाँह, समीर।
देखत नटत केकि कल गावत मधुप मराल कोकिला कीर॥४॥
नयननि को फल लेत निरखि मृग, खग, सुरभी, ब्रजबधू, अहीर।
तुलसी प्रभुहि देत सब आसन निज-निज मन मृदु कमल कुटीर॥५॥

अर्थ—श्रीविश्वामित्र मुनि के साथ दोनों वीर (एवं भाई) श्रीराम-लक्ष्मण विराजमान हैं। वे शिर पर जुलुफैं धारण किए हुए, हाथों में धनुष बाण लिये सुन्दर पीताम्बर पहने और उसीसे कटि भाग में तर्कश कसे हुए हैं॥१॥ उनके चन्द्रमा के समान मुख, कमल के समान नेत्र और शोभा के धाम श्याम-गौर शरीर हैं। ऋषि श्रीविश्वामित्रजी उनकी अपरिमित छबि देख कर पुलकित होते हैं। उनके हृदय में प्रेम की विविध उमंगें नहीं समातीं॥२॥ वे मार्ग में खेलते हुए चलते हैं और कौतुक भी करते हैं, नदियों और सरोवरों के तटों पर ठहर-ठहर जाते हैं, वहाँ पर वे लताओं, पुष्पों और कमलों को तोड़ते हैं तथा अमृत के समान शीतल जल पीते हैं॥ ३॥ वृक्षों के नीचे निर्मल शिलाओं पर बैठ जाते हैं और बार-बार उनकी छाया और वायु की प्रशंसा करते हैं। (उनके मनोहर रूप को) देख कर मयूर नाचने और भ्रमर, हंस, कोयलें तथा तोते सुन्दर रीतिसे गान करने लगते हैं॥ ४॥ उनको देख कर मृग, पक्षी, गौ, अहीरों की स्त्रियाँ और अहीर अपने-अपने नेत्रों के फल लेते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वे सब अपने-अपने मन रूपी कोमल कमल की कुटी में प्रभु को आसन देते (ठहराते) हैं॥५॥

विशेष—'काक पच्छ धर…'—इस चरण में शिर के केश, आयुध और वस्त्रादि शृङ्गार का वर्णन किया गया है। काकपक्ष से प्रारंभ किया है; क्योंकि मुनि का वात्सल्य भाव है, इस भाव में सन्तानों के शिर सूँघना और उनके मुख का अवलोकन प्रधान रहता है। इसी से आगे 'बदन इंदु,…' इस चरण में भी चन्द्रवत् आह्लादकारक मुख का ही प्रथम वर्णन किया गया है।

'पुलकत रिषि···'—अमित छबि देखकर मुनि के हृदय में प्रेम की भाँति-भाँति की उमंगें उठती हैं, भाँति-भाँति से प्यार करने की भावनाओं पर वैसी पुलकावलियाँ होती हैं। 'भीर' पद का यहाँ समूह (भीड़) अर्थ लेकर उससे 'भाँति-भाँति की उमंगें' यह भाव लिया गया है। 'खेलत चलत···' से 'देखत नटत···' तक का भाव वही है, जो ऊपर पद ५२ के 'पैठत सरनि, सिलनि चढ़ि···' इसके विशेष में लिखा गया है।

'नयननि को फल लेत····'—प्रभु के दर्शन ही नेत्रों के फल हैं—पद ४१ के 'लोचननि को लेत फल···' तथा पद ४८ के 'आजु सकल सुकृत फल···' इनके विशेष देखिये। खग-मृग वन विभागों के मार्ग के और सुरभी, व्रजबधू एवं अहीर ग्रामों के मार्गों के दर्शक हैं। प्रभु ऋषि के साथ हैं, इससे इन्हें कुटी में आसन देना उचित समझ कर वैसी ही भावना करते हैं। साधु भाषा में आसन देना एवं आसन-लगाना ठहराने एवं ठहरने के अर्थों में प्रयुक्त होता है। मन स्वतः हृदय के अष्टदल कमल में रहता है, इससे वह कमल से भी कोमल है, इसीसे प्रभु के मृदु शरीर के अनुसार वैसा ही आसन देते हैं, हृदय में बसाते हैं कि अब कभी ये विस्मृत न हों।

अलङ्कार—'रूपक' ('बदन इंदु अंभोरुह लोचन' तथा 'मन मृदु···' में) 'पूर्णोपमा' ('सुधा सम सीतल नीर' में) और 'भाविक' ('तुलसी-प्रभुहि' ऐसा मानने पर)।

राग कान्हरा

[५५]

सोहत मग मुनि सँग दोउ भाई।
तरुन तमाल चारु चंपक-छबि कबि-सुभाय कहि जाई ॥१॥
भूषन बसन अनुहरत अंगनि, उमँगति सुंदरताई।
बदन मनोज सरोज लोचननि रही है लोभाइ लोनाई ॥२॥
अंसनि धनु, सर कर कमलनि, कटि कसे हैं निखंग बनाई।
सकल भुवन सोभा सरबस लघु लागत निरखि निकाई ॥३॥
महि मृदु पथ, घन छाँह, सुमन सुर बरषि, पवन सुखदाई।
जल-थल-रुह फल, फूल, सलिल सब करत प्रेम पहुनाई ॥४॥

सकुच सभीत बिनीत साथ गुरु बोलनि-चलनि सुहाई।
खग-मृग बिचित्र बिलोकत बिच-बिच लसत ललित लरिकाई ॥५॥
बिद्या दई जानि बिद्या निधि, बिद्यहु लही बड़ाई।
ख्याल दली ताड़का, देखि रिषि देत असीस अघाई ॥६॥
बूझत प्रभु सुरसरि-प्रसंग कहि निज कुल कथा सुनाई।
गाधि-सुवन-सनेह-सुख-संपति उर-आश्रम न समाई ॥७॥
बनबासी, बटु, जती, जोगिजन, साधु-सिद्ध-समुदाई।
पूजत पेखि प्रीति पुलकत तनु, नयन लाभ लुटि पाई ॥८॥
मख राख्यो खलदल दलि भुजबल, बाजत बिबुध बधाई।
नित पथ-चरित-सहित तुलसी-चित बसत लखन-रघुराई ॥९॥

अर्थ—मार्ग में मुनि श्रीविश्वामित्रजी के साथ दोनों भाई श्रीराम-लक्ष्मण शोभायमान हैं। उनके शरीरों की उपमा में नवीन तमाल वृक्ष और सुन्दर चंपा के फूलों की छबि भी कवि-स्वभाव से ही कही जाती है (अन्यथा अनुपयुक्त ही है) ॥१॥ दोनों भाइयों के अंगों के अनुसार ही उनके भूषण और वस्त्र हैं। अतः, उन अंगों की सुन्दरता उमड़ी पड़ती है। उनके मुख मंडल पर कामदेव की और नेत्रों पर कमल की सुंदरता मानों लुभा कर रह गई है ॥२॥ वे कन्धों पर धनुष और करकमलों में बाण धारण किये हुए हैं और कमर में बना कर (सुघराई से) तर्कश कसे हुए हैं। इनकी सुन्दरता देख कर समस्त भुवनों का शोभा-सर्वस्व तुच्छ लगता है ॥ ३ ॥ पृथिवी कोमल मार्ग देती है, मेघ छाया करते जाते हैं, देवगण फूल बरसाते और वायु सुखदायक (शीतल, मंद और सुगंध युक्त) चल रही है। जल और स्थल से उत्पन्न होने वाले फल और फूल तथा जल सभी प्रेमपूर्वक (दोनों भाइयों की) पहुनाई कर रहे हैं ॥ ४ ॥ श्रीगुरुजी के साथ दोनों भाइयों का संकोच, भय और विनीत भाव के साथ बोलना और चालना शोभायमान है। बीच-बीच में जब विचित्र पक्षियों और मृगों को देखने लगते हैं, तब उनका मनोहर लड़कपन बड़ा सुहावना लगता है ॥ ५ ॥ मुनि ने जब देखा कि इन्होंने ताड़का को खेल (क्रीड़ा के रूप) में ही मार डाला, यह देख कर ऋषि श्रीविश्वामित्रजी अघाकर (जी खोल कर) आशीर्वाद देने लगे। तब श्रीरामजी को उन्होंने

विद्याओं का निधि (आधार, घर) जान कर विद्या दी, इससे विद्या ने बड़ाई पाई ॥ ६ ॥ प्रभु श्रीरामजी के पूछने पर श्रीगङ्गाजी के अवतरण-प्रसंग में मुनि ने अपने कुल की भी कथा कह सुनाई। उस समय गाधिराजा के पुत्र श्रीविश्वामित्रजी के स्नेह और आनंद की सम्पत्ति उनके हृदय रूप आश्रम में नहीं समाती थी (प्रत्युत् रोमाञ्च एवं पुलक के द्वारा बाहर निकलती-सी प्रतीत होती थी।) ॥ ७ ॥ वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी और सन्यासी एवं योगी लोगों, साधुओं तथा सिद्धों के समुदाय प्रभु को देख कर इनकी पूजा करते हैं, प्रीति करके शरीर से पुलकित होते हैं, मानों इन्होंने नेत्रों के लाभ की लूट पाई है ॥ ८ ॥ दोनों भाइयों ने (सिद्धाश्रम पहुँचने पर) मुनि के यज्ञ की रक्षा की, उसी में अपने भुजबल से दुष्टों के दल का दमन किया, इस पर देवताओं के यहाँ आनन्द बधाई बजने लगी। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इस मार्ग के चरित के साथ मेरे चित्त में नित्य श्रीरघुनाथजी और श्रीलक्ष्मणजी निवास करते हैं (इसमें मैं अपने को कृतार्थ मानता हूँ।) ॥ ९ ॥

विशेष—'तरुन तमाल चारु चंपक छवि···'; यथा—"तरुन तमाल चारु चंपक बरन तनु, कौने बड़भागी के सुकृत परिपाके हैं ॥" (पद ६४); 'कवि सुभाय कहि जाई'—जो उपमा नहीं भी घटित होती, उसे किसी प्रकार घटित करने का स्वभाव कवियों का होता है। यह प्रसिद्ध है—"जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि"। यहाँ तरुण तमाल वृक्ष के समान श्याम श्रीरामजी और पीतवर्ण चंपक पुष्प के समान गौर श्रीलक्ष्मणजी हैं।

'भूषन-बसन अनुहरत अंगनि···'—अङ्गों के अनुरूप भूषण वस्त्र हैं, श्याम रूप श्रीरामजी के वस्त्र पीत वर्ण के और भूषण पीत वर्ण की मणि आदि के हैं। श्रीलक्ष्मणजी के वस्त्र नील वर्ण तथा भूषण, नीलमणि आदि रत्नों के हैं। तथा—"तनु अनुहरत सुचंदन खोरी।" (मा० बा० २१८)।

'सकल भुवन सोभा···'—इनकी सुन्दरता पर ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है; यथा—"बिरचत इन्हहिं बिरंचि भुवन सब सुंदरता खोजत रितये री।" (पद ७८); "सुखमा सुरभि सिंगार छीर दुहि मयन अमिअ मय कियो है दही, री। मथि माखन सिय-राम सँवारे, सकल भुवन छवि मनहुँ मही, री॥" (पद १०६)।

'बिद्या दई···ख्याल दली ताड़का···'—श्रीरामचरितमानस के चरित प्रसंग में ताड़का-बध के पीछे विद्या देना है। वैसा ही यहाँ भी अर्थ किया है। यहाँ गाने का प्रसंग है, गाने में प्रायः चरित क्रम पर दृष्टि कम रहती है। ताड़का-वध से ही तो मुनि ने प्रभु को हृदय से यथार्थ जाना है, तब इन्हें विद्यानिधि जानकर विद्या दी है—पद ५२ के 'एक तीर तकि···बिद्या बिप्र पढ़ाई।'—इनके विशेष देखिये।

'बूझत प्रभु···'—सुरसरि-प्रसंग की कथा उपर्युक्त पद ५२ में लिखी गई। श्रीविश्वामित्रजी के निज कुल की कथा आगे लिखी जाती है—

श्रीविश्वामित्र के कुल की कथा

श्रीब्रह्माजी के पुत्र कुश नामक राजा थे। उन्होंने अपने अनुकूल वैदर्भी नाम की स्त्री से चार बली पुत्र उत्पन्न किये—कुशाम्ब, कुशनाभ, असूर्तरजस और वसु। ये चारो पिता के समान, बड़े उत्साही, तेजस्वी और क्षात्र धर्मनिष्ठ थे। महातेजस्वी कुशाम्ब ने कौशाम्बी नगरी बसाई। धर्मात्मा कुशनाभ ने महादेव (कन्नौज) नामक नगर बसाया। बुद्धिमान असूर्तरजस् ने धर्मारण्य नगर और वसु ने गिरिव्रज नगर बसाये।

राजा कुशनाभ ने पुत्रेष्टि यज्ञ करके अपने समान धार्मिक पुत्र प्राप्त किया उसका गाधि नाम हुआ। यही गाधि राजा श्रीविश्वामित्रजी के पिता थे। कुश-वंशी होने के कारण ही श्रीविश्वामित्रजी कौशिक कहे जाते हैं। श्रीविश्वामित्रजी की बड़ी बहिन श्रीसत्यवतीजी थीं। वे ऋचीक मुनि को ब्याही गईं। वे पति सेवा कर इस शरीर से ही स्वर्ग गईं और उनके नाम से कौशिकी नाम की महानदी बही। वह स्वर्ग से हिमालय में गई। श्रीविश्वामित्रजी ने कहा है कि तभी से मैं हिमवान की तराई में सुखपूर्वक रहता हूँ, क्योंकि मेरी प्यारी बहिन कौशिकी नदी रूप से यहाँ वर्तमान है। मैं अपनी बहिन को छोड़कर इस सिद्धाश्रम में आया और तुम्हारे (श्रीरामजी के) पराक्रम से मुझे सिद्धि मिली। हे श्रीरामजी! यही मेरी और मेरे वंश की कथा है। यह कथा वाल्मी० १। ३२-३४ के अनुसार सूक्ष्म रूप में लिखी गई है।

'गाधि-सुवन सनेह सुख···'—श्रीविश्वामित्रजी इस समय अपने पिता की धार्मिकता से अपनी उन्नति मान कर पिता के स्नेह से सुखी हैं और उसे

परम सम्पत्ति मान कर बार-बार हृदय से उल्लसित होते हैं। कथा कहने में उसकी स्मृति आ गई है। तथा श्रीरामजी पर भी इस कथा के पूछने और सुनने पर स्नेह है और उस सुख-सम्पत्ति पर भी मुग्ध हैं।

'बनवासी, बटु, जती''पूजत पेखि''—इन लोगों ने श्रीरामजी के ऐश्वर्य को जान लिया है, इसी से वैसी पूजा एवं प्रीति कर रहे हैं, क्योंकि ये सब तपस्वी हैं; श्रीविश्वामित्रजी ने राजा दशरथ से कहा ही है—"अहं वेद्मि महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम्। वसिष्ठोऽपि महातेजा ये चेमे तपसि स्थिताः।" (वाल्मी० १।१९।१४-१५); तथा दण्डक वन के ऋषियों ने भी ज्ञान से जान कर श्रीरामजी की शरणागति की है—वाल्मी० ३।१।२०-२१ तथा ३।६।१६-२० में लिखा है।

'नित पथ चरित सहित''—इस ध्यान का बड़ा महत्त्व है; यथा—"अजहुँ जासु उर सपनेहु काऊ। बसहु लखन-सिय-राम बटाऊ॥ रामधाम-पथ पाइहि सोई। जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई॥" (मा० अ० १२१)।

अलङ्कार—'तृतीय प्रतीप' (चरण १ और ३ में), 'रूपक' (पद २-३ में)।

[५६]

मंजुल मंगलमय नृप-ढोटा।
मुनि, मुनितिय, मुनि-सिसु बिलोकि कहैं मधुर-मनोहर जोटा ॥१॥
नाम-रूप-अनुरूप वेष बय, राम-लखन लाल लोने।
इन्हते लही है मानो घन-दामिनि द्युति मनसिज, मरकत, सोने ॥२॥
चरन सरोज, पीतपट कटि तट, तून-तीर-धनुधारी।
केहरि कंध, काम-करि-करवर बिपुल बाहु, बल भारी ॥३॥
दूषन-रहित समय सम भूषन पाइ सुअंगनि सोहैं।
नव-राजीव-नयन, पूरन बिधु बदन मदन मन मोहैं ॥४॥
सिरनि सिखंड, सुमन-दल-मंडन बाल-सुभाय बनाये।
केलि-अंक तनु-रेनु-पंक जनु प्रगटत चरित चुराये ॥५॥
मख-राखिबे लागि दसरथ सो माँगि आश्रमहिं आने।
प्रेम पूजि पाहुने प्रान-प्रिय गाधि-सुवन सनमाने ॥६॥

साधन - फल साधक सिद्धनि के, लोचन - फल सबही के।
सकल सुकृत-फल मात-पिता के, जीवन धन तुलसी के ॥७॥

अर्थ—दोनों राजकुमार श्रीराम-लक्ष्मणजी मनोहर मङ्गलमय हैं। मुनि, मुनि-पत्नियाँ और मुनियों के बालक इन्हें देख कर कहते हैं कि यह जोड़ी बड़ी मधुर (दृष्टि प्रिय) और मनोहर है ॥ १ ॥ श्रीरामलालजी और श्रीलक्ष्मण-लालजी दोनों ही अपने-अपने नामों के अनुरूप रूपवाले तथा अवस्था के अनु-रूप बेष वाले एवं लावण्ययुक्त (अत्यन्त सुन्दर) हैं; मानो इन्हीं से मेघ, दामिनि, कामदेव, मरकत मणि और सोने ने द्युति पाई है ॥ २ ॥ इनके चरण कमल के समान हैं, कटि प्रदेश में पीताम्बर पहने और तर्कश कसे हुए हैं तथा हाथों में बाण और धनुष धारण किये हुए हैं। इनके कंधे सिंह के समान और कामदेव के हाथी की श्रेष्ठ सूँड़ के समान श्रेष्ठ सुडौल भुजाएँ बड़ी एवं भारी बलशालिनी हैं ॥ ३ ॥ समयानुसार धारण किये हुए इनके भूषण दोष-रहित हैं, वे इनके सुन्दर अङ्गों को पाकर शोभायमान हो रहे हैं। नवीन लाल कमल के समान नेत्र और पूर्ण चन्द्रमा के समान मुख कामदेव के मन को भी मोहित करने वाले हैं ॥ ४ ॥ इन्होंने अपने बाल-स्वभाव से ही शिरों पर मोरपंखी टोपी तथा पुष्पों के भूषण बनाये हुए हैं तथा इनके शरीरों में लगे हुए क्रीड़ा के चिह्न रूप रज एवं कीचड़ मानो उन चरित्रों को प्रकट करते हैं जो श्रीविश्वा-मित्रजी से चुरा कर किये गये हैं ॥ ५ ॥ गाधिपुत्र श्रीविश्वामित्रजी ने यज्ञ-रक्षा के लिये श्रीदशरथजी से माँग कर अपने आश्रम में लाये हुए प्राणों से प्यारे पाहुन रूप श्रीराम-लक्ष्मणजी को अपने शुद्ध प्रेम से पूज कर इनका सम्मान किया ॥ ६ ॥ ये दोनों साधकों और सिद्धों के साधनों के फल हैं तथा सभी के नेत्रों के फल हैं; अपने माता और पिता के सारे पुण्यों के फल और इस तुलसीदास के तो जीवन-धन ही हैं ॥ ७ ॥

विशेष—'मंजुल मंगलमय…'—मंजुल मङ्गलमय कहने का भाव यह कि इनके नाम ही मङ्गलमय और अमङ्गल नाशक हैं; यथा—"मंगल भवन अमंगल हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी ॥" (मा० बा० ६); तथा—जिन्ह कर नाम लेत जग माहीं। सकल अमंगलमूल नसाहीं ॥ करतल होहिं पदारथ चारी। तेइ सियराम कहेउ कामारी ॥" (मा० बा० ३१४), तो रूप

के लिये तो कहना ही क्या ? तथा—"मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवहु सो दसरथ अजिर बिहारी॥" (मा० बा० १११)।

'मुनि, मुनितिय, मुनि सिसु···'···इनके शुभ लक्षणों से जान कर तत्त्व-दर्शी मुनि कहते हैं, तदनुसार उनकी स्त्रियाँ और बच्चे भी कहते हैं कि ये 'मंजुल मंगलमय' हैं; यथा—"राज लखन सब अंग तुम्हारे। देखि सोच अति हृदय हमारे॥ मारग चलहु पयादेहि पायें। ज्योतिष झूठ हमारेहि भायें॥" (मा० अ० १११); ऊपर पद के 'बनबासी बटु जती···' इसका विशेष भी देखिये।

'नाम रूप अनुरूप बेष बय···'—नाम के अर्थ से उत्पन्न लक्षणों से युक्त रूप ही नाम के अनुरूप है; यथा—"जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी॥ सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥···लच्छन धाम राम-प्रिय, सकल जगत आधार। गुरु बसिष्ठ तेहि राखा, लछिमन नाम उदार॥" (मा० बा० १९६-१९७); तथा किशोर अवस्था के अनुसार ही बेष है।

'इन्ह ते लही है मानौ···'—यहाँ मेघ, काम और मरकत मणि की उत्प्रेक्षा श्याम विग्रह वाले श्रीरामजी के लिये है और दामिनि तथा सोने की उत्प्रेक्षा गौर वर्ण श्रीलक्ष्मणजी के प्रति है, किन्तु उपमेयों के समक्ष उपमानों को हीन कहा गया है। अतः 'प्रतीप अलंकार का तीसरा भेद' है और 'मानो' आदि पद उत्प्रेक्षा के हैं। अतः 'प्रतीप से पुष्ट उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है।

पद ३ और ४ में 'रूपक' अलङ्कार हैं।

'सिरनि सिखंड···'—'सिखंड' पदका अर्थ 'मयूर पक्ष' होता है, उसी का पर्याय 'मोरपंख' भी है। इससे मोरपंखी टोपी का अर्थ संगत है; यथा—"मोरपंख सिर सोहत नीके। गुच्छे बिच-बिच कुसुमकली के॥" (मा० बा० २३२); अर्थात् मोरपंखी हरे रंग की टोपी शिर पर सोहती है, उसमें रेशम और सोनहले एवं रुपहले तारों की पुष्प-कलियाँ बनी हुई हैं; तथा—"पीत चौतनी सिरनि सुहाई। कुसुम कली बिच-बीच बनाई॥" (मा० बा० २४२)। मयूरपक्ष धारण श्रीरामजी के विषय में कहीं नहीं पाता जाता। कहा जाता है कि काशी में मोरपंखी टोपी प्रसिद्ध है। यदि मोरपंख का किसी प्रकार काकपक्ष अर्थ किया जाय तो भी ठीक नहीं; क्योंकि वहीं पर आगे 'कच

घूघरवारे' कहा गया है। टोपी, ताज आदि के बिना शिर नंगा पाया जाता है। अतः, मानस के उस प्रसंग के अनुरोध से यहाँ 'मोरपंखी टोपी' ही अर्थ संगत है। पुष्पवाटिका प्रसंग में ही उक्त 'मोरपंख सिर सोहत···' के स्थान पर "सीसनि टिपारे, उपबीत पीतपट कटि दोना बाम करनि सलोने भे सवाई हैं।" (पद ७१); यह स्पष्ट कहा गया है। 'टिपारा' का अर्थ 'तीन भागों की, मुकुट के आकार की एक टोपी' ऐसा हिन्दी शब्द सागर में लिखा है। अतः, उक्तार्थ ही ठीक है।

'केलि अंक···'—इन चिह्नों से मुनि समझ जायँगे कि हमारी दृष्टि बचा कर कहीं धूल एवं कीचड़ में भी खेले हैं। वात्सल्य-निष्ठ मुनि इससे मन में मोद ही मानेंगे।

'मख राखिबे लागि···'—यज्ञ-रक्षा का तो ब्याज मात्र था; यथा—"एहू मिस देखउँ पद जाई। करि बिनती आनउँ दोउ भाई॥" (मा० बा० २०५)। मुनि ने अपने शुद्ध प्रेम से अपने आश्रम पर लाकर श्रीराम-लचमण की पूजा कर इनका सम्मान किया है। महर्षि इनका ऐश्वर्य जानते हैं, इससे इनकी पूजा एवं सम्मान के योग्य भौतिक पदार्थ एवं द्रव्य नहीं मानते। अतः, प्रेम ही से पूजा की है। श्रीरामजी को यही प्रिय भी है; यथा—"रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननिहारा॥" (मा० अ० १३६); तथा—"उमा जोग जप दान तप, नाना मख व्रत नेम। राम कृपा नहिं करहिं तसि, जसि निष्केवल प्रेम॥" (मा० लं० ११६); श्रीशबरीजी ने केवल प्रेम ही से श्रीरामजी की पूजा की है, इसे श्रीरामजी ने अपनी सम्यक् पूजा मान ली है: "शबर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः।" (वाल्मी० १।१।५८)।

'साधन फल साधक सिद्धनि के'; यथा—"आजु सकल सुकृत फल पाइहौं।" (पद ४८)-इसका विशेष देखिये। 'लोचन फल सबही के'; यथा—"लोचननि को लेत फल···" (पद ४१) इसका विशेष देखिये।

'सकल सुकृत फल मात-पिता के'; यथा—"मातु सुकृत फल राम लला।" (पद २२) तथा—"पुन्यफल अनुभवति सुतहि बिलोकि दसरथ घरनि।" (पद २७)—इनके विशेष देखिये। एवं—"दसरथ सुकृत राम धरे देही।" (मा० बा० ३०९)।

'जीवन धन तुलसी के'; यथा—"तुलसी के जीवन रामलला।" (पद २२); तथा—"रघुबर बालकेलि संतन की सुभग सुभद सुरगैया। तुलसी दुहि पीवत सुख जीवत पय सप्रेम घनी घैया॥" (पद २०), इन दोनों के विशेष देखिये।

अलङ्कार—'उल्लेख'; क्योंकि एक राम-लक्ष्मणजी को बहुत विधि से कहा गया है।

अहल्योद्धार

राग सूहो

[५७]

राम - पद - पदुम - पराग परी।
रिषि - तिय तुरत त्यागि पाहन - तनु छबिमय देह धरी ॥१॥
प्रबल पाप पतिसाप दुसह दव दारुन जरनि जरी।
कृपा सुधा सींची बिबुध बेलि ज्यों फिरि सुख फरनि फरी ॥२॥
निगम - अगम मूरति महेसमति जुबति बराय बरी।
सोइ मूरति भइ जानि नयनपथ एकटक ते न टरी ॥३॥
बरनति हृदय सरूप, सील, गुन प्रेम - प्रमोद - भरी।
तुलसिदास ऐसे केहि आरत की आरति प्रभु न हरी ॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी के चरण कमल की धूलि (अहल्या पर) पड़ी, तुरत उस ऋषि पत्नी ने पत्थर का शरीर छोड़ कर छबिमय शरीर धारण कर लिया ॥ १ ॥ अपने प्रबल पाप के कारण पति गौतमजी के शाप रूप दुस्सह दावाग्नि की कठिन ताप से जलती हुई कल्पलता की भाँति कृपा रूपी अमृत से सींची जाकर वह फिर सुख रूप फलों से फल गई ॥ २ ॥ वेदों के लिये भी अगम जिस श्रीरामजी की मूर्त्ति को श्रीशिवजी की बुद्धि रूपिणी स्त्री ने (अन्य भगवन्मूर्त्तियों में से) चुन कर वरण किया है; उसी मूर्त्ति को अपने नेत्रों के मार्ग में (समक्ष) आई हुई जान कर वह एकटक देखने लगी और उस स्थिति से विचलित नहीं हुई ॥ ३ ॥ वह प्रेम और आनंद में भरी हुई अपने हृदय में (श्रीरामजी के) स्वरूप, सद्वृत्ति और गुणों का वर्णन करती है। श्रीतुलसी-

दासजी कहते हैं कि इसी प्रकार प्रभु श्रीरामजी ने किस दुःखी के दुःख का हरण नहीं किया ? ॥ ४ ॥

विशेष—'राम-पद-पदुम''' रिषि-तिय तुरत'''; यथा—"आश्रम एक दीख मग माहीं। खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं ॥ पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी। सकल कथा मुनि कही बिसेखी ॥ गौतम नारी श्राप बस, उपल देह धरि धीर। चरन कमल रज चाहती, कृपा करहु रघुबीर ॥ परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तप पुंज सही।" (मा० बा' २०९-२१०)।, छबि-मय देह धरी'; यथा—'भई है प्रगट अति दिव्य देह धरि जनु त्रिभुवन छबि छवनी ॥" (पद ५८)।

अहल्या की कथा

श्रीब्रह्माजी ने इन्द्र से कहा है—देवराज ! मैंने पहले अपनी बुद्धि से एक वर्ण, एक भाषा और एक रूप की प्रजा उत्पन्न की। उनमें भेद होने के लिये विचार कर मैंने (ब्रह्माजी ने) एक स्त्री बनाई। उसमें कोई हल्य (विकृत-रूपता) नहीं थी, इससे उसका नाम अहल्या रक्खा। उसमें प्रजामात्र के सौन्दर्य का अंश था। फिर उसके योग्य वर की चिन्ता हुई। तुम देवराज होने से उस स्त्री-रत्न को अपने योग्य एवं अपनी ही स्त्री समझते थे। मैंने उसे गौतम मुनि के यहाँ थाती रूप में छोड़ दिया। वर्ष दिन के पीछे भी उसे ज्यों की त्यों पाकर गौतमकी स्थिरता तथा तपस्या की सिद्धि देखकरमैं ने वह कन्या गौतम को ही दे दी। वह मुनि की पत्नी हुई और देवता निराश हुए। तुम (इन्द्र) कामवश होकर क्रुद्ध हुए और मुनि के आश्रम पर गये। वहाँ तुमने उसे अग्नि शिखा के समान देखा। तुमने काम एवं क्रोध वश होकर अहल्या पर अत्याचार एवं बलात्कार किया। परमर्षि गौतम ने तुमको आश्रम में देख लिया। तेजस्वी मुनि ने क्रोध करके तुमको शाप दिया। देवराज ! उसी से यहाँ शत्रु के हाथ से कैद हुए। (वाल्मी० १।४८ में लिखा है कि इन्द्र को वृषणहीन होने का शाप दिया है,) मुनि ने अहल्या को भी डाँटा और कहा कि पापिनि ! तू इस आश्रम के पास ही नष्ट होजा। जिस रूप के कारण तू ने पाप किया है, वह आज से सभी स्त्रियों में बँट जायगा। तभी से सारी प्रजा रूपवती होने लगी। (वाल्मी०

१।४८ में यों भी लिखा है—इसी आश्रम में वायु खाती तपती हुई सबसे अदृश्य पड़ी हुई सहस्र वर्ष रह)।

फिर अहल्या ने गौतम को प्रसन्न किया और कहा कि इन्द्र ने आपके रूप से मुझे ठगा है, मैंने स्वेच्छा से ऐसा नहीं किया। अतः, क्षमा हो। तब मुनि ने अनुग्रह किया कि श्रीरामजी के दर्शन से तू पवित्र होगी और फिर मुझे प्राप्त होगी—यह कथा वाल्मी० ७।३० के अनुसार है।

अन्यत्र एवं अन्य कल्प की ऐसी भी कथा है कि मुनि ने इन्द्र के शरीर में सहस्र भग होने का शाप दिया है और इन्द्र की प्रार्थना पर अनुग्रह किया है कि श्रीराम ब्याह में उनके दर्शन से ये भग नेत्र रूप हो जायँगे; यथा—"पश्य चन्द्रे कृतं लक्ष्म समुद्रो लवणोदकः। तथा भगसहस्रेण महेन्द्रः परिचिह्नितः॥ तेषामेव प्रभावेन सहस्रनयनो ह्यसौ। शतक्रतुः समभवत्पश्य माधव यादृशम्॥" (महा० अनुशा० ३४।२७-२८); अर्थात् (ब्राह्मण के कोप से) देखिये ! चन्द्रमा कलङ्क से और सागर खारे पानी से युक्त है तथा महेन्द्र सहस्रभगचिह्नसम्पन्न होकर फिर उन ब्राह्मण के ही प्रभाव से वे सहस्र नेत्र वाले हो गये हैं। तथा—"रामहिं चितव सुरेस सुजाना। गौतम साप परम हित माना॥" (मा० बा० ३१६)।

इसी प्रकार अहल्या को भी कल्पभेद से श्रीरामचरितमानस एवं पद्म-पुराण तथा स्कन्द पुराण ब्राह्म० ध० माहात्म्य में शिला रूपिणी अहल्या का तारना लिखा गया है। रामचरितमानस का प्रसंग ऊपर आ गया है। तथा—"यस्य पादतलस्पर्शाच्छिला वासवयोगजा। अहल्या गौतमवधूः पुनर्जाता सुरूपिणी॥" (पद्म पु० रामाश्वमेध अ० ३६-१३); अर्थात् जिन श्रीरामजी के पद-तल-स्पर्श से इन्द्र संग से दूषित शिला रूपिणी अहल्या फिर से सुरूपिणी होकर गौतम वधू हुई।

'प्रबल पाप पति साप…'—ब्रह्मा की पुत्री एवं गौतम की वधू होती हुई भी इसने दुराचरण किया, इससे इसका वह पाप प्रबल कहा गया है। "अहल्या ने मुनिवेष धारी इन्द्र को जान लिया था कि यह इन्द्र है, फिर भी उस दुष्टा ने देवराज जान कर उसकी बात मान ली है। फिर इन्द्र से इसने कहा है कि मैं कृतार्थ हुई, अब शीघ्र जाइये। गौतम मुनि से अपनी और मेरी

रक्षा करना ।" (वाल्मी० १।४८।१६-२१) इस प्रकार जान कर पतिवंचकता एवं पाप करने से प्रबल पाप इसने किया था। इसी पर तो गौतमजी ने वैसा कठोर शाप दिया था। 'दारुन जरनि जरी'—बहुत काल तक उसी चिन्ता की अग्नि में जलती रही; तथा—"वातभक्षा निराहारा तप्यन्ती भस्मशायिनी। अदृश्या सर्वभूतानामाश्रमेऽस्मिन्वसिष्यसि ॥" (वाल्मी० १।४८।३०); अर्थात् (गौतम मुनि ने शाप में यह कहा था कि तुमको यहाँ हजार वर्ष रहना पड़ेगा) वायु मात्र आहार रहेगा, राख पर सोओ, किसी प्राणी के सामने न होओ, इस प्रकार तपा कर (स्वयं तप किया कर)।

'कृपा सुधा सींची…'—जैसे अमृत से सींची हुई कल्पलता फलती है, वैसे ही इसने कृपा से सींची जाने से फिर से सुख रूप फल पाया। एक बार वह अपने सुख से वंचित हो गई थी, श्रीरामकृपा से फिर इसने अपनी पूर्व स्थिति पाई। यहाँ 'उदाहरण अलङ्कार' है।

'निगम अगम मूरति…'—श्रीरामजी की यह मूर्ति वेदों को वर्णन करने में अगम है; यथा—"नेति-नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा ॥" (मा० बा० १४३); "कहिं नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं। सोइ राम ब्यापक ब्रह्म…" (मा० बा० ५०); "सारद सेस महेस बिधि, आगम निगम पुरान। नेति-नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान ॥" (मा० बा० १२); 'निगम आगम, साहेब सुगम, राम साँचिली चाह। अंबु असन अवलोकियत सुलभ सबै जग माह ॥" (दोहावली ८०); तथा—"तं केन विजानीयात्स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते…" (बृहदा० ४।५।१५); अर्थात् इसको किससे जाने ? वह ऐसा नहीं, ऐसा नहीं, आत्मा है, अगृह्य है क्योंकि ग्रहण नहीं किया जाता। ऐसे दुर्लभ इस मूर्ति को शिवजी की बुद्धिरूपी युवती ने भगवान् के भी विष्णु, नृसिंह और वामन आदि रूपों में से बराय (छाँट) कर चुना है, वरण किया है; अर्थात् ईश्वर रूप शिवजी की भी बुद्धि ने जिसे परम दुर्लभमान कर अपना सर्वस्व माना है। इन्हीं का वे सदा ध्यान किया करते हैं; यथा—"मन थिर करि तब संभु सुजाना। लगे करन रघुनायक ध्याना ॥" (मा० बा० ८१); "जो सरूप बस सिव मन माहीं।" (मा० बा० १४५)।

'सोइ मूरति भइ जानि नयन पथ···'—यह आश्चर्य रूप है कृपा कि जो शिवजी के ध्यान में दुर्लभ है, वेद के वर्णन में अगम है, वे ही मुझ महा-पापिनी के नेत्रों के आगे आ खड़े हैं, यह मेरा आश्चर्य भाग्य है, वह ऐसा समझ एकटक देख रही है।

'बरनति हृदय सरूप सील गुन···'—'सरूप'; यथा—"देखत रघु-नायक जन सुखदायक सनमुख होइ कर जोरि रही।" से "देखेउँ भरि लोचन हरि भव मोचन इहै लाभ संकर जाना॥" (मा० बा० २१०) तक। 'सील'; यथा—"सिला साप संताप बिगत भइ परसत पावन पाउ। दई सुगति सो न हेरि हरषि हिय चरन छुए को पछिताउ॥" (वि० १००)। "जेहि पद सुर-सरिता परम पुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी। सोई पद पंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपाल हरी।" (मा० बा० २१०); अर्थात् कहाँ ऐसे पवित्र चरण और कहाँ मैं परम पापिनी ? उस पर भी ऐसी कृपा है, शील है, इसी से मेरे शिर पर रख मुझे आदर दिया है, घृणा नहीं की। 'गुन'; यथा—"अस प्रभु दीनबंधु हरि, कारन-रहित दयाल। तुलसिदास सठ तेहि भजु, छाँड़ि कपट जंजाल॥" (मा० बा० २११) यह दोहा अहल्या चरित के उद्धार पर कहा गया है कि प्रभु ऐसे निर्हेतु दयालु हैं। अहल्या शिला होकर पड़ी थी, उसने कुछ दंड-प्रणाम आदि भी नहीं किया। प्रभु ने स्वतः दया कर मुनि से पूछ इसका उद्धार किया है, वह इस गुण का हृदय में वर्णन कर रही है। इसमें उसे बड़ा प्रेम एवं आनन्द है।

'ऐसे केहि आरत की···'—श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि जिस किसी ने भी इस प्रकार आर्त्त होकर प्रभु का चिन्तन किया है, उसका दुःख इसी प्रकार अवश्य आपने दूर किया है, यदि कहीं ऐसा न किया हो तो कोई कह दे। भाव यह कि 'नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदितं···' ऐसी प्रतिज्ञा करने वाले कवि स्वतः सभी शास्त्रों का मर्म जानते हैं। अतः, यह ध्रुव है कि प्रभु ने सभी आर्त्तों के दुःख दूर किये हैं।

[५८]

परत पद-पंकज रिषि-रवनी।
भई है प्रगट अति दिव्य देह धरि मानो त्रिभवन-छबि-छवनी॥१॥

देखि बड़ो आचरज, पुलकि तनु कहति मुदित मुनि-भवनी।
जो चलिहैं रघुनाथ पयादेहि, सिला न रहिहि अवनी ॥२॥
परसि जो पाय पुनीत सुरसरी सोहै तीनि पथ गवनी।
तुलसिदास तेहि चरन-रेनु की महिमा कहै मति कवनी ॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी के चरण-कमल पड़ते ही गौतम ऋषि की स्त्री अहल्या अत्यन्त दिव्य शरीर धारण कर प्रकट हो गई है; मानों तीनों लोकों की छवि की पुत्री ही हो ॥१॥ (पाषाण से स्त्री हो जाने का) यह बड़ा भारी आश्चर्य चरित्र देखकर किसी और मुनि की स्त्री ने प्रसन्न होकर कहा है कि यदि श्रीरघुनाथजी पैदल ही चलेंगे तो फिर पृथिवी में कहीं एक भी शिला न रह जायगी। (फिर लोगों के सिल-बट्टे आदि किससे बनेंगे?) ॥ २ ॥ जिस चरण का स्पर्श पाकर पवित्र हुई श्रीगंगाजी त्रिपथ (स्वर्ग, मर्त्य और पाताल) गामिनी होकर शोभायमान हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उस चरण के धूलि की महिमा मैं किस बुद्धि से कहूँ? ॥ ३ ॥

विशेष—'भई है प्रगट अति दिव्य देह धरि'—पहले भी यह दिव्य देह की थी; फिर भी इन्द्र के आने पर काम वश हो दूषित हो गई थी। अब इसने 'अति-दिव्य देह' पाई है, इसमें लोभ-मोह आदि का लेश भी नहीं है; यथा—"तस्यातिथ्येन दुर्वृत्ते लोभ-मोहविवर्जिता। मत्सकाशं मुदा युक्ता स्वं वपुर्धारयिष्यसि ॥" (वाल्मी० १।४८।३२); अर्थात् गौतम मुनि ने कहा था कि उन श्रीरामजी का आतिथ्य करने से तू लोभ-मोह रहित हो अपना शरीर पायेगी और आनन्दित हो मेरे पास आयेगी।

'मानो त्रिभुवन छबि छवनी'—इसमें 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

'देखि बड़ो अचरज ··· जो चलिहैं ···'—उसका विनोदात्मक भाव यह कि अब इन्हें किसी सवारी पर चलाया जाय; अन्यथा पृथिवी भर के पाषाणों से हाथ धोना पड़ेगा। तथा—"विंध्य के बासी उदासी तपोव्रत धारी महा बिनु नारि दुखारे। गौतम तिय तरी, तुलसी, सो कथा सुनि भे मुनिवृंद सुखारे। ह्वै हैं सिला सब चंद्रमुखी परसे पद-मंजुल-कंज तिहारे। कीन्हीं भली रघुनायक जी करुनाकरि कानन को पगु धारे ॥" (क० अ० २८); ऐसे ही केवट के प्रसंग में वाग्विनोद द्वारा इस प्रसंग पर ग्रन्थकार ने अपनी बड़ी

आस्था दिखलाई है। 'मुदिय' क्योंकि इसके सजातीय मुनिपत्नी का ही कल्याण हुआ है।

'परसि जो पाय पुनीत…'—श्रीब्रह्माजी ने अपने कमण्डलु-जल से इस चरण का स्पर्श करा धोकर रख लिया था, वही गङ्गा जल हुआ। तीनों लोकों को पवित्र करने के लिये उसी की तीन धाराएँ तीनों लोकों में बहने लगीं; यथा—"जिनको पुनीत बारि धारे सिर पै पुरारि त्रिपथगामिनि-जस बेद कहै गाइ कै।" (क० अ० ६); "ईस-सीस बससि, त्रिपथ लससि, नभ पाताल धरनि।" (वि० २०); "धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र। स्वर्धून्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः॥" (भाग० ८।२१।४); अर्थात् वह ब्रह्माजी के कमण्डलु का जल, जिससे ब्रह्माजी ने श्रीवामनजी के चरणों को स्नान कराया था, हरिचरण के स्पर्श से परम पवित्र होकर स्वर्ग की नदी आकाशगंगा हो गया। यह गंगाजल अब तक श्रीहरि की पवित्र कीर्ति के समान आकाश से भूमि पर गिर कर त्रिभुवन को पवित्र कर रहा है।

'तेहि चरन रेनु की महिमा….'—जिस चरण का स्पर्श पा उसकी धूल से गंगाजी तीनों लोकों को पवित्र कर रही हैं। उस धूल की महिमा मैं अपनी इस तुच्छ प्राकृत बुद्धि से कैसे कह सकता हूँ? फिर और बुद्धि मुझे मिले कहाँ?

अलङ्कार—'रूपक' ('पद पंकज' में)।

[५६]

भूरि-भाग-भाजन भई।
रूपरासि अवलोकि बंधु दोउ प्रेम-सुरंग रई॥ १॥
कहा कहै, केहि भाँति सराहै, नहिं करतूति नई।
बिनु कारन करुनाकर रघुबर केहि-केहि गति न दई॥ २॥
करि बहु बिनय, राखि उर मूरति मंगल-मोद-मई।
तुलसी ह्वै बिसोक पतिलोकहि प्रभु गुन गनत गई॥ ३॥

अर्थ—अहल्या अब परम सौभाग्य-शालिनी हो गई है। वह रूप की राशि दोनों भाइयों को देख कर प्रेम रूप सुन्दर रंग में रँग गई है। कहिये, कवि क्या कहे और किस प्रकार सराहना करे, प्रभु की यह करतूत नयी नहीं है

(प्रत्युत् सनातन से चली आती है)। बिना कारण ही करुणा करने वाले श्रीरघुनाथजी ने किसे-किसे सद्गति नहीं दी हैं ? (; अर्थात् सब को सद्गति दी है) ॥ २ ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वह अहल्या इसी प्रकार बहुत-सी विनती कर और श्रीरामजी की मंगल और आनन्दमयी मूर्ति हृदय में रख कर शोक-रहित हो प्रभु श्रीरामजी के गुणों का वर्णन करती हुई अपने पति के लोक को गई ॥ ३ ॥

विशेष—'भूरि-भाग-भाजन भई ।'; यथा—"अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही ॥" (मा० बा० २१०); प्रभु के दर्शन से शाप से निवृत्त हुई, श्रीरघुनाथजी की कृपा से भक्ति प्राप्त की; यथा—"रघुपति कृपा भगति पाई ।" (मा० बा० २१०); इन कारणों से उसके भाग्य की अपारता कही गई है ।

'प्रेम सुरंग रई'; यथा—"अतिप्रेम अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवै बचन कही ।" (मा० बा० २१०) ।

'नहिं करतूत नई । बिनु कारन करुनाकर···'; यथा—"सो धौं को जो नाम लाज ते नहिं राख्यो रघुबीर । कारुनीक बिनु कारन ही हरि हरहु सकल भव भीर ॥" (वि० १४४); तथा—"तब तुम मोहू से सठनि को हठि गति देते । कैसेहु नाम लियो कोउ पावर सुनि सादर आगे ह्वै लेते ॥" (वि० २४१)—इन पूरे-पूरे पदों को देखिये ।

'करि बहु बिनय राखि उर···'; यथा—"अति निर्मल बानी अस्तुति ठानी···" से "बिनती प्रभु मोरी मैं मति भोरी नाथ न माँगौं बर आना। पदकमलपरागा रस अनुरागा मम मन मधुप करइ पाना ॥" (मा० बा० २१०) तक । 'ह्वै बिसोक' क्योंकि अब इसे लोभ-मोह-रहित दिव्य शरीर मिल गया है यह ऊपर सप्रमाण लिखा गया और फिर इसने कृपासाध्य श्रीरामभक्ति भी पा ली है । अतः, अब इसे शोकमय संसार में पुनर्जन्म नहीं होगा । 'पति लोकहि···गई ।'—श्रीगौतमजी तपस्या के प्रभाव से जान कर उस समय वहाँ आ गये और अहल्या को साथ ले अपने लोक गये; यथा—"गौतमोऽपि महातेजा अहल्यासहितः सुखी । रामं सम्पूज्य विधिवत्तपस्तेपे महातपाः ॥" (वाल्मी० १।४९।२१); अर्थात् महातेजस्वी गौतमजी भी अहल्या को पाकर

सुखी हुए, श्रीरामजी की पूजा कर वे विधि पूर्वक तपस्या करने लगे; तथा—"तुलसी जिनकी धूरि परसि अहल्या तरी, गौतम सिधारे गृह गौनो सो लिवाइ कै।" (क० अ० ६); "राम के प्रसाद गुरु गौतम खसम भए। रावरेहु सतानंद पूत भये माय के॥" (पद ६५)।

'प्रभु-गुन-गनत'—इस प्रसंग का निर्हेतु-कृपालुता गुण जो ऊपर पद ५५ में लिखा गया है, उसकी प्रधानता में और शील आदि गुणों का वर्णन करती हुई गईं।

सम्बन्ध—अहल्या का उद्धार हुआ, पर लोकदृष्टि में प्रभु ने ब्राह्मणी को चरण से स्पर्श किया है, इससे कुछ उदास हुए। तब मुनि ने श्रीगंगाजी की पाप-नाशिनी-महिमा कह स्नान करा प्रसन्न किया। श्रीगंगा तट से श्रीजनक नगर के लिये चले, तब मार्ग की बात आगे के पद में कहते हैं—

राग कान्हरा

[६०]

कौसिक के मख के रखवारे।
नाम राम अरु लखन ललित अति दसरथ-राज-दुलारे ॥१॥
मेचक पीत कमल कोमल कल काकपच्छ-धर वारे।
सोभा सकल सकेलि मदन-बिधि सुकर सरोज सँवारे ॥२॥
सहस समूह सुबाहु सरिस खल समर सूर भट भारे।
केलि-तून-धनु-बान-पानि रन निदरि निसाचर मारे ॥३॥
रिषि-तिय तारि स्वयंबर पेखन जनक-नगर पगुधारे।
मग नर-नारि निहारत सादर, कहि बड़ भाग हमारे ॥४॥
तुलसी सुनत एक-एकनि सों चलत बिलोकनि हारे।
मूकनि बचन-लाहु, मानों अंधनि लहे हैं बिलोचन-तारे ॥५॥

अर्थ—(मार्ग में जाते हुए लोग कहते हैं—) ये दोनों श्रीविश्वामित्रजी के यज्ञ की रक्षा करने वाले हैं। श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी इनके नाम हैं, ये अत्यन्त मनोहर हैं और राजा दशरथ के प्यारे पुत्र हैं ॥ १ ॥ ये सुंदर काकपक्ष धारण करने वाले दोनों कोमल एवं सुन्दर श्याम और पीत कमल के समान हैं;

मानों कामदेव रूपी विधाता ने सारी शोभा को (सारे संसार से) एकत्रित कर इन्हें अपने ही कर-कमलों से रचा हो ॥ २ ॥ इन्होंने रण में सुबाहु के समान सहस्रों के समूह दुष्ट, युद्ध के शूर वीर और भारी भारी राक्षस योद्धाओं को हाथों में खेल के तर्कश, धनुष और बाणों से ही निरादर करके मार डाले हैं ॥ ३ ॥ गौतम ऋषि की स्त्री अहल्या का उद्धार कर स्वयंवर देखने के लिये श्रीजनक नगर जा रहे हैं। मार्ग में स्त्री पुरुष आदर पूर्वक देखते हैं और कहते हैं कि आज हमारे बड़े भाग्यों का उदय हुआ है ॥ ४ ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि एक-एक से यह समाचार सुनकर और दर्शक गण भी (देखने के लिये) चलते हैं, (वे प्रभु को देखकर ऐसे प्रसन्न होते हैं) मानो गूँगों को वाणी का लाभ हो गया हो तथा अन्धे नेत्रों के तारे (पुतलियाँ) पा गये हों ॥ ५ ॥

विशेष—'मेचक पीत ···सोभा सकल ··'—इसमें 'कल' पद दीपदेहली है। कामदेव स्वयं ब्रह्मा हो गया हो और वह भी स्वयं हस्तकमल से सँवारा हो (ब्रह्माजी संकल्प से सृष्टि करते हैं) और फिर सारे संसार की शोभा एकत्रित कर केवल इन्हीं दो में लगा दी हो, ऐसा जान पड़ता है। यहाँ 'जनु, मानो' आदि वाचक पद के बिना उत्प्रेक्षा है। अतः 'गम्योत्प्रेक्षालंकार' है।

'सहस समूह ·· केलि-तून····'—यहाँ सुबाहु-सरीखे भारी-भारी सहस्रों योद्धाओं का बध 'केलि-तून-धनु बान पानि' के द्वारा अपूर्ण हेतु से पूर्ण कार्य का होना कहा गया है। अतः, 'विभावना अलंकार का दूसरा भेद' है। 'निदरि' मारीच को बिना फर के बाण से मार कर सागर पार १०० योजन पर फेंक दिया और सुबाहु को भी बात की बात में अग्निबाण से जला दिया तथा सारी सेना को श्रीलछमणजी ने क्षण भर में मार डाला है; यथा—"बिनु फर बान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा। पावक सर सुबाहु पुनि जारा। अनुज निसाचर कटक सँघारा ॥" (मा० बा० २०९)) । विरध बालकों के द्वारा एवं उनके खेल के शस्त्रों के द्वारा इस प्रकार मारा जाना, निरादर से मारा जाना है।

'मूकनि बचन लाहु, मानो अंधनि····'; यथा—"अंधहिं लोचन लाभ सुहावा ॥ मूक बदन जनु सारद छाई।" (मा० बा० ३४९)। यहाँ 'उल्लेख' से पुष्ट 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

विश्वामित्र-जनक-संवाद

राग टोड़ी

[६१]

आये मुनि कौसिक जनक हरषाने हैं।
बोलि गुरु भूसुर, समाज सो मिलन चले,
जानि बड़े भाग अनुराग अकुलाने हैं ॥१॥
नाइ सीस पगनि, असीस पाइ प्रमुदित,
पाँवड़े अरघ देत आदर सों आने हैं।
असन, बसन, बास कै सुपास सब बिधि,
पूजि प्रिय पाहुने, सुभाय सनमाने हैं ॥२॥
बिनय बड़ाई रिषि राजऊ परस्पर,
करत पुलकि प्रेम आनँद अघाने हैं।
देखे राम-लखन निमेषैं बिथकित भईं,
प्रानहुँ ते प्यारे लागे बिनु पहिचाने हैं ॥३॥
ब्रह्मानंद हृदय, दरस-सुख लोयननि,
अनुभये उभय, सरस राम जाने हैं।
तुलसी बिदेह की सनेह की दसा सुमिरि,
मेरे मनमाने राउ निपट सयाने हैं ॥४॥

अर्थ—श्रीविश्वामित्र मुनि आये हैं; यह सुनकर श्रीजनकजी आनंदित हुए। वे अपने गुरु (पुरोहित) श्रीसतानन्दजी तथा ब्राह्मणवर्ग को बुलाकर समाज के साथ (मुनि से) मिलने के लिये चले। राजा जनक अपने बड़े भाग्यों का उदय जानकर (मुनि के प्रति) अनुराग से विह्वल हो गये हैं ॥१॥ (पहुँचकर) राजा जनक ने मुनि के चरणों में प्रणाम किया और मुनि से आशीर्वाद पाकर वे बड़े आनन्दित हुए। उन्होंने अर्घ्य-पाँवड़े देते हुए आदरपूर्वक मुनि को अपने घर लाकर उनके लिये भोजन, वस्त्र और निवास-स्थल के सब प्रकार के सुभीते करके प्यारे पाहुन की पूजा कर सुष्ठु भाव से उनका सम्मान किया ॥२॥ ऋषि श्रीविश्वामित्रजी और राजा जनक परस्पर (एक-दूसरे की) विनती तथा बड़ाई करते हुए प्रेम में पुलकित हो-होकर आनंद से परिपूर्ण हो गये। श्रीराम लक्ष्मण

जी को देखकर (राजा जनक की) पलकें विशेष स्थगित हो गईं। विना पहचान के ही (राजा को) ये प्राण से भी अधिक प्रिय लग रहे हैं ॥३॥ इस समय (राजा जनक का) ब्रह्मानन्द तो (उनके) हृदय में रहा और (श्रीराम-लक्ष्मण के) दर्शनों का सुख (उन्हें) नेत्रों के द्वारा मिल रहा है। (निर्गुण ब्रह्म और सगुण श्रीराम इन) दोनों के सुखों का उन्होंने अनुभव किया, (दोनों में) श्रीरामजी के दर्शन के सुख को ही सरस (अधिक) जाना है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि विदेह राजा जनक की उस समय की दशा का स्मरण कर मेरे मन ने तो यह मान लिया है कि राजा नितान्त प्रवीण हैं ॥४॥

विशेष—'आये मुनि…'—श्रीजनकजी गृही रहते हुए भी चित्त से विरक्त हैं, इससे वे विदेह रहते एवं विदेह कहाते हैं; यथा—"गुरु हर-पद-नेह गेह बसि भो बिदेह…" (पद ८८); इसीसे इन्हें विरक्त वैष्णव श्रीविश्वामित्र के आने पर हर्ष विशेष है; यथा—"गृही बिरति रत हरष जस, बिष्नु भगत कहँ देखि ॥" (मा० कि० १३)।

'बोलि गुरु भूसुर, समाज सों मिलन चले'; यथा—"बिस्वामित्र महामुनि आए। समाचार मिथिलापति पाए॥ संग सचिव सुचि भूरि भट, भूसुर वर गुरु ज्ञाति। चले मिलन मुनिनायकहिं, मुदित राउ येहि भाँति॥" (मा० बा० २१३-२१४)। राजा जनक के गुरु तो श्रीयाज्ञवल्क्यजी हैं, परन्तु पुरोहित सतानन्दजी भी गुरु ही कहाते हैं, यहाँ उन्हीं का तात्पर्य है। यहाँ 'गुरु भूसुर' इन दो के नाम आए हैं, शेष 'सचिव' 'भट' और 'ज्ञाति' आदि 'समाज' पद में आ जाते हैं। समाज पद का दूसरा अर्थ सामग्री भी होता है, इस अर्थ से मिलने की सामग्री भी आ जाती है; यथा—"मिलन साज सजि मिलन सिधाए।" (मा० अ० १९२)।

'जानि बड़े भाग…'; यथा—"बड़े भाग पाइब सतसंगा। बिनहि प्रयास होहि भवभंगा॥" (मा० उ० ३२); राजा जनक ज्ञानी होते हुए हरिभक्त भी हैं, इससे संत से मिलने में अनुराग में विह्वल हैं; यथा—"संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥" (मा० अर० १५); यह भक्त लक्षण कहा गया है।

'नाइ सीस पगनि…'—श्रीजनकजी ने चरणों में प्रणाम (दण्डवत् प्रणाम)

किया, मुनि ने प्रसन्नता से आशीर्वाद दिया, इससे राजा बड़े आनंदित हुए; यथा—"कीन्ह प्रनाम चरन धरि माथा। दीन्ह असीस मुदित मुनिनाथा॥ बिप्र बृंद सब सादर बंदे। जानि भाग्य बड़ राउ अनंदे॥" (मा० बा० २१४); अर्थात् मुनि के चरणों में दंडवत्-प्रणाम करके इनके साथ के ब्राह्मणों को प्रणाम कर उनसे भी आशीर्वाद पा राजा परम आनंदित हुए।

'पाँवड़े अरघ देत...'; यथा—"परत पाँवड़े अरघ अनूपा। सुतन्ह समेत गवन कियो भूपा॥" (मा० बा० ३२७); इस प्रकार मुनि के प्रति भी किया गया।

'असन, बसन, बास कै सुपास...'; यथा—"चलेउ लिवाइ नगर अवनीसू॥ सुंदर सदन सुखद सब काला। तहाँ बास लै दीन्ह भुआला॥ करि पूजा सब बिधि सेवकाई।" (मा० बा० २१६)। 'सुभाय सनमाने हैं' इसका यह भी भाव है कि अभी श्रीराम-लक्ष्मण से प्रिय पाहुन का सम्बन्ध नहीं हुआ, तब भी स्वाभाविक इनका वैसा सम्मान मुनि के साथ हुआ।

इस ग्रन्थ गीतावली में यहाँ रामचरितमानस के कल्प की कथा से कुछ भेद है। वहाँ बाग में ही सत्संग वार्ता हो गई थी, तब राजा जनक ने महल में लाकर निवास कराया है और यहाँ महल में लाकर तब सत्संग एवं परिचय आदि की बातें हो रही हैं।

'विनय बड़ाई रिषि-राजऊ परस्पर...'—प्रधानतया राजा जनक विनय करते हैं और मुनि राजा की बड़ाई करते हैं। परन्तु अपनी बड़ाई पर अपनी ओर की नम्रता भी कही जाती है तथा विनय करने वाले के प्रति उसकी भी बड़ाई की जाती है, इससे दोनों बातें परस्पर में हो रही हैं। इसमें दोनों प्रेम से पुलक एवं आनन्द का अनुभव कर रहे हैं; यथा—"मुनि रघुबीर परस्पर नवहीं। बचन अगोचर सुख अनुभवहीं॥" (मा० बा० १०७)

अलङ्कार—'अन्योन्य' है।

'देखे राम लखन निमेषैं...'; यथा-"भए सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता॥ मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेह-बिदेह बिसेखी॥ प्रेम मगन मन जानि नृप..." (मा० बा० २१४-२१५)। 'प्रानहुँ ते प्यारे...'; यथा—"सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद

चकोरा ॥'''इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा । बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा ॥" (मा० बा० २१५) ।

'ब्रह्मानन्द हृदय'''सरस राम जाने हैं ।'; यथा—"इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा । बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा ॥" (मा० बा० २१५); अर्थात् राजा का मन इन्हें देखते ही इनमें अत्यन्त अनुरक्त हो गया । उपाय करते रहने पर भी उसने ब्रह्म (निर्गुण) विषयक सुख का त्याग कर दिया और इनमें 'अनुराग पूर्वक लग गया है' इससे तो सगुण श्रीराम रूप के दर्शन का आनन्द उस ब्रह्मानन्द से कहीं अधिक है; तथा—"अवलोकि रामहिं अनुभवत मनु ब्रह्मसुख सौगुन दिये ।" (जानकी मंगल ४५) ।

'तुलसी बिदेह की सनेह की दसा'''; यथा—"सुख के निधान पाए, हिय के पिधान लाए, ठग के-से लाडू खाए, प्रेम मधु छाके हैं । स्वारथ रहित परमारथी कहावत हे भे सनेह बिबस बिदेहता बिबाके हैं ॥" (पद ६४); तथा —"भये बिदेह-बिदेह नेह बस देह दसा बिसराए । पुलकगात, न समात हरष हिय, सलिल सुलोचन छाए ॥" (पद ६५) । इस दशा का स्मरण कर ग्रन्थकार कहते हैं कि राजा जनक बड़े ही चतुर हैं उनके ज्ञान की शोभा इसी में है; यथा-"सोह न राम-प्रेम बिनु ज्ञानू । करनधार बिनु जिमि जल जानू ॥" (मा० अ० २७६); "यह बिचारि पंडित मोहिं भजहीं । पाएहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं ॥" (मा० अर० ४२); तथा –"श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये । तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथास्थूलतुषावघातिनाम् ॥" (भाग० १०।१४।४); अर्थात् हे विभो ! जो लोग कल्याणकारिणी आपकी भक्ति को छोड़ कर केवल ज्ञान के लिये क्लेश सहते हैं, उनके हाथ वह क्लेश ही लगता है और कुछ नहीं; जैसे मोटी (पइया) धान की भूसी कूटने वालों को भूसी और थकावट के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता । आगे पद ८८ में भी विदेह की प्रवीणता देखिये ।

राग मलार

[६२]

कोसलराय के कुँअरौटा ।

राजत रुचिर जनकपुर पैठत स्याम गौर नीके जोटा ॥ १ ॥

चौतनी सिरनि, कनक कली काननि, कटि पट पीत सोहाये ।
उर मनिमाल, बिसाल बिलोचन, सीय-स्वयंबर आये ॥ २ ॥
बरनि न जात, मनहिं मन भावत, सुभग अबहिं बय थोरी ।
भई हैं मगन बिधु बदन बिलोकत बनिता चतुर चकोरी ॥ ३ ॥
'कहँ सिव चाप' लरिकवनि बूझत बिहँसि चितै तिरछौं हैं ।
तुलसी गलिन भीर, दरसन लगि लोग अटनि आरोहैं ॥ ४ ॥

अर्थ—श्रीजनकपुर प्रवेश करते हुए श्रीअयोध्या नरेश के (दोनों) कुमारों की सुन्दर श्याम-गौर जोड़ी बहुत अच्छी शोभित होती है ॥ १ ॥ इनके शिरों पर चौतनी टोपी, कानों में सोने के कलिकाकार कुण्डल, कटि में पीताम्बर और हृदय पर मणि-मालाएँ शोभायमान हैं। इनके नेत्र विशाल (बड़े-बड़े) हैं, इस प्रकार ये यहाँ पर श्रीसीताजी के स्वयंवर में आये हैं ॥ २ ॥ इस जोड़ी (की मनोहरता) का वर्णन नहीं किया जा सकता, यह मन ही मन प्रिय लगती है, अभी इनकी सुन्दर अवस्था थोड़ी ही है। इनके मुखचन्द्र को देख कर चतुर चकोरी रूपिणी (नगर की) स्त्रियाँ निमग्न हो रही हैं ॥ ३ ॥ श्रीरामजी तिरछी चितवन से देखते हुए हँस कर लड़कों से पूछते हैं 'श्रीशिवजी का धनुष कहाँ है ?' श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि गलियों में (प्रभु के दर्शनार्थ) बड़ी भीड़ हो गई है, इससे लोग प्रभु श्रीरामजी का दर्शन करने के लिये अटारियों पर भी चढ़ गये हैं ॥ ४ ॥

विशेष—'राजत रुचिर जनकपुर पैठत···'—ऊपर लिखा गया है कि गीतावली में नगर-प्रदर्शन-प्रसंग श्रीरामचरितमानस का-सा स्वतंत्र नहीं है, यहाँ तो राजा जनकजी साथ में हैं और राजकुमार मुनि के साथ में चल रहे हैं। इसी मार्ग की बातें इस पद में तथा अगले पद में भी कही गई हैं। श्रीजनकपुर प्रवेश करते समय आप दोनों ऐसे सोहते हैं।

'चौतनी सिरनि···'; यथा—"रुचिर चौतनी सुभग सिर, मेचक कुंचित केस। नख-सिख-सुंदर बंधु दोउ, सोभा सकल सुदेस ॥" (मा० बा० २१९)—यह दोहा इसी प्रसंग का है।

'बरनि न जात···'; यथा—"मन भावहिं मुख बरनि न जाहीं। उपमा कहँ त्रिभुवन कोउ नाहीं ॥" (मा० बा० २१०)। 'सुभग अबहिं बय थोरी';

यथा–"बय किसोर सुखमा सदन, स्याम गौर सुखधाम। अंग-अंग पर बारिअहि, कोटि-कोटि सतकाम॥" (मा० बा० २२०); "नील-पीत पाथोज-बरन बपु, बय किसोर बनि आई।" (पद ५२); तथा–"बय किसोर बरजोर बाहु बल···" (पद ८०)।

'भई हैं मगन···'; यथा—"जुवती भवन झरोखन्हि लागीं। निरखहिं राम रूप अनुरागीं॥" (मा० बा० २१९)—इसके आगे रामचरितमानस में इन सखियों के संवाद हैं, पर यहाँ नहीं हैं, क्योंकि यहाँ तो राजा जनक और मुनि के साथ राजकुमार शीघ्रता में जा रहे हैं। अतः बोलने में इन स्त्रियों को संकोच भी है। 'चतुर'; क्योंकि चकोरी वत् सब ओर से चित्त हटाकर इन्हीं में अनुरागपूर्वक लग गई हैं।

'कहँ सिव चाप'—बिहँस कर पूछने में भाव यह है कि धनुष यज्ञ ही सुनकर हर्ष-पूर्वक आये हैं, इससे वीर होने से उसे देखने का उत्साह है, हँसते-हँसते तोड़ डालेंगे। उत्साह आदि देखकर ही तो आगे लोगों ने कहा है; यथा—"तेज प्रताप बढ़त कुँअरन को जदपि संकोचो बानि हैं॥ बय किसोर बरजोर बहु बल मेरु मेलिगुन तानिहैं। अवसि राम राजीव-बिलोचन संभु सरासन भानिहैं॥" (पद ८२)।

[६३]

ये अवधेस के सुत दोऊ।
चढ़ि मंदिरनि बिलोकत सादर जनक नगर सब कोऊ॥ १॥
स्याम-गौर सुंदर किसोर तनु, तून-बान-धनुधारी।
कटि पत पीत, कंठ मुकुता मनि भुज बिसाल बल भारी॥ २॥
मुख मयंक, सरसीरुह-लोचन, तिलक भाल, टेढ़ी भौंहैं।
कल कुंडल, चौतनी चारु अति, चलत-मत्त गज-गौंहैं॥ ३॥
बिस्वामित्र हेतु पठए नृप, इन्हहिं ताडका मारी।
मख राख्यो रिपु जीति जान जग मग मुनि बधू उधारी॥ ४॥
प्रिय पाहुने जानि नर-नारिन्ह नयनन्हि अयन दये।
तुलसिदास प्रभु देखि लोग सब जनक समान भये॥ ५॥

शब्दार्थ—गौं=ढब, चाल। जनक समान=विदेह। अयन=घर।

अर्थ—श्रीजनकनगर के सब लोग अपने-अपने घरों की अँटारियों पर चढ़ कर आदरपूर्वक देखते हैं और कहते हैं कि ये दोनों श्रीअवधनरेश चक्रवर्त्ति श्रीदशरथ महाराज के पुत्र हैं ॥१॥ इनकी किशोर अवस्था है और सुन्दर श्याम-गौर शरीर है तथा ये तर्कश, बाण और धनुष धारण करने वाले हैं। इनकी कटि में पीताम्बर और कण्ठ में मोतियों और मणियों की मालाएँ हैं तथा भारी बल से पूर्ण इनकी विशाल भुजाएँ हैं ॥२॥ इनके मुख चन्द्रमा के समान और नेत्र कमल के समान हैं, इनके ललाट पर तिलकें शोभित हैं और भौंहे टेढ़ी हैं। इनके कानों में सुन्दर कुंडल और शिरों पर अत्यन्त सुन्दर चौतनी टोपियाँ हैं। ये मतवाले हाथी की-सी चाल से चल रहे हैं ॥३॥ राजा दशरथ ने इन्हें श्रीविश्वामित्रजी के लिए भेजा है, इन्होंने ही ताड़का का बध किया है और शत्रुओं को जीत कर यज्ञ की रक्षा की है तथा मार्ग में गौतम मुनि की स्त्री अहल्या का उद्धार किया है, इन बातों को सारा संसार जानता है ॥४॥ प्यारा पाहुन जानकर इन्हें नगर के नर-नारियों ने अपने-अपने नेत्रों में स्थान दिये। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि प्रभु श्रीरामजी को देख कर सभी लोग श्रीजनकजी के समान (विदेह) हो गये ॥ ५ ॥

विशेष—'चढ़ि मंदिरनि···सब कोऊ।' यों तो स्त्रियाँ ही अँटारियों पर चढ़ कर देखती हैं; किन्तु आज मार्ग में दर्शकों की भारी भीड़ हो गई है, इससे सभी कोई अँटारियों पर चढ़ कर देखते हैं। यहाँ 'सब कोऊ' तथा आगे 'नर-नारिन्ह' और अन्त, में 'लोग सब' कहा गया है। अतः इस पद के सभी प्रसंगों में नगर के सभी स्त्री-पुरुषों के वचन हैं।

'भुज बिसाल बल भारी।'—भुजाएँ आजानु लम्बी हैं, यहाँ विशाल पद का अर्थ है; यथा—"आजानु भुज सर चाप धर संग्रामजित खरदूषनम् ॥" (वि० ४५); तथा—"भुज बिसाल भूषन जुत भूरी।" (मा० बा० १९८)। बल की स्थिति भुजाओं में कही जाती हैं; यथा—"निज भुज बल मैं बैर बढ़ावा।" (मा० लं० ७६)। प्रभु के तेज-प्रताप और रूप देख कर इनके भुजाओं में बल का होना भी कहते हैं; तथा—"बय किसोर बरजोर बाहु बल··" (पद ८०)।

'बिस्वामित्र हेतु पठये नृप'; यह मुनि ने स्वयं कहा है; यथा—"मम हित

लागि नरेस पठाए।" (मा० बा० २१५)। 'मख राख्यो···'; यथा—"राम लखन दोऊ बंधु बर, रूप सील बल धाम। मख राखेउ सब साखि जग, जिते असुर संग्राम॥" (मा० बा० २१६); "मुनि तिय तरी लगत पग धूरी। कीरति रही भुवन भरि पूरी॥" (मा० बा० ३५६)।

'मुख मयंक सरसीरुह लोचन'—इसमें 'रूपकालङ्कार' है।

'प्रिय पाहुने जानि······प्रभु देखि लोग सब···'; यथा—"लेहु नयन भरि रूप निहारी। प्रिय पाहुने भूप सुत चारी॥ को जाने केहि सुकृत सयानी। नयन अतिथि कीन्हें बिधि आनी।" (मा० बा० ३३४); अर्थात् इनके दर्शन परम दुर्लभ मानकर लोगों ने दृष्टि में इन्हें बसा लिए, बराबर सदा स्मरण करते रहेंगे, मानों प्रत्यक्ष देख रहे हों। तथा—"राम लखन जब दृष्टि परे री। अवलोकत सब लोग जनकपुर मानो बिधि बिबिध बिदेह करे री॥" (पद ७६) इसका विशेष भी देखिए। पहले ब्रह्म का अनुसंधान कर ब्रह्मानन्द के भोक्ता एक विदेह श्रीजनकजी ही थे। अब सगुण ब्रह्म श्रीरामजी के दर्शन पाकर परमानन्द के भोक्ता सभी लोग विदेह के समान ही हो गये; यथा—"जाहिं जहाँ जहँ बंधु दोउ, तहँ-तहँ परमानंद॥" (मा० बा० २२३); तथा—"सुनु सखि भूपति भलोइ कियो री। जेहि प्रसाद अवधेस कुँवर दोउ नगर लोग अवलोकि जियो री॥" (पद ७९)।

राग टोड़ी

[६४]

बूझत जनक 'नाथ! ढोटा दोउ काके हैं?
तरुन - तमाल - चारु - चंपक - बरन - तनु,
कौने बड़े भागी के सुकृति परिपाके हैं॥१॥
सुख के निधान पाये, हिय के पिधान लाये,
ठग के-से लाडू खाये, प्रेम मधु छाके हैं।
स्वारथ - रहित परमारथी कहावत हे,
भे सनेह बिबस बिदेहता बिबाके हैं॥२॥
सील-सुधा के अगार, सुखमा के पारावार,
पावत न परपार पैरि-पैरि थाके हैं।

लोचन ललकि लागे, मन अति अनुरागे,
एकरसरूप चित सकल सभा के हैं ॥३॥
जिय-जिय जोरत सगाई राम-लखन सों,
आपने आपने भाय जैसे भाय जाके हैं।
प्रीति को, प्रतीति को, सुमिरिबे को, सेइबे को,
सरन को समरथ तुलसिहु ताके हैं ॥४॥

अर्थ—श्रीजनकजी महाराज श्रीविश्वामित्रजी मुनि से पूछने लगे—'हे नाथ ! नवीन तमाल वृक्ष और सुन्दर चंपक पुष्प वर्ण श्याम-गौर शरीर वाले दोनों बालक किसके (पुत्र) हैं ? अहा ! ये किस बड़े भाग्यवान् के पुण्य के फल स्वरूप हैं ?' ॥ १ ॥ श्रीजनकजी ने सुख के निधान (दोनों भाइयों को) पाकर अपने हृदय में लाकर पट लगा दिये और ठग के (बिष-मिश्रित) लड्डू खाये हुए के समान प्रेमरूपी मदिरा में छक गये (नशा में मस्त हो गये)। श्रीजनक महाराज स्वार्थ-वासना-रहित परमार्थ-निरत कहाते थे, पर आज वे इन राजकुमारों के स्नेहवश हो गये हैं, अपनी विदेहता सर्वथा भूल गये हैं ॥२॥ श्रीराम-लक्ष्मणजी शील (सद्वृत्ति) रूपी अमृत के घर और परम शोभा के समुद्र हैं। राजा जनक उसमें तैर-तैर कर हार गये, परन्तु उसका दूसरी ओर का किनारा नहीं पा रहे हैं (; अर्थात् देखने से तृप्ति नहीं हो रही है)। राजा के नेत्र इनमें ललक कर लग गये हैं, और वे मन से अत्यन्त अनुरक्त हो गये हैं। श्रीजनकजी के समान ही उनकी समस्त सभा के चित्त श्रीराम-लक्ष्मण के रूप में एकरस लग गये (अनुरक्त) हैं ॥ ३ ॥ (वे सभी) अपने-अपने भाव के अनुसार जैसे जिसके भाव हैं; उसी-उसी प्रकार अपने-अपने हृदय में श्रीराम-लक्ष्मण से सम्बन्ध जोड़ते हैं । प्रीति करने, प्रतीति करने, स्मरण करने, सेवा करने और शरण-ग्रहण करने के योग्य समर्थ प्रभु श्रीराम-लक्ष्मण का आश्रय इस तुलसीदास ने भी ताका है ॥ ४ ॥

विशेष—'बूझत जनक नाथ...'—अचानक हृदय परिवर्तित हो गया। चिर अभ्यसित ब्रह्मानन्द भी इनके समक्ष हवा हो गया। इससे श्रीजनक जी आश्चर्य चित्त से मुनि से पूछते हैं—नाथ !, 'नाथृ–याचने' इस धातु से नाथ शब्द सिद्ध होता है। अतः हाथ जोड़ कर याचना करते हुए जिज्ञासा

रूप में अपने समझने के लिये पूछ रहे हैं, जिससे यह न समझा जाय कि ये भी ज्ञानी हैं, कहीं वाद की दृष्टि से पूर्व पक्ष करते हों।

'तरुन तमाल चारु....'—नवीन तमाल वृक्ष के समान श्याम विग्रह श्रीरामजी और सुन्दर चम्पक पुष्प के समान गौर विग्रह श्रीलक्ष्मणजी हैं इनके दिव्य शरीर ही इन्हें अप्राकृत होने का परिचय दे रहे हैं। यदि ये किसी को पुत्र रूप से प्राप्त हुए हैं तो वह अवश्य बहुत बड़ा पुण्यवान् एवं बड़ा भाग्यवान है, उसका परिचय मैं चाहता हूँ; यथा—"केहि सुकृती के कुँअर कहिय मुनिनायक। गौर-स्याम छबि धाम धरे धनु-सायक॥" (जानकी मंगल २७)। श्रीजनकजी का हृदय स्वाभाविक विरक्त है, वैराग्य का रूप है जब वह बलात् इनमें जाकर अनुराग पूर्वक लग गया है, तब ये प्राकृत नहीं हैं. इसीसे पुष्ट करने के लिये पूछ रहे हैं; यथा—"मुनिगन गुरु धुर धीर जनक-से। ज्ञान अनल मन कसे कनक-से॥ जे बिरंचि निरलेप उपाये। पदुम पत्र जिमि जग जल जाये॥" (मा० अ० ३१६); इसी प्रसंग पर राजा ने स्वयं कहा भी है; यथा—"सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा। ताते प्रभु पूछउँ सति भाऊ। कहहु नाथ! जनि करहु दुराऊ॥ इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥" (मा० बा० २१५); तथा—"बिषय बिमुख मन मोर सेइ परमारथ। इन्हहिं देखि भयो मगन जानि बड़ स्वारथ॥" (जानकी मंगल २८)।

'सुख के निधानपाये'—श्रीजनकजी ने इन्हें सुख के निधान निश्चित किया कि इन्हीं के आनन्द से संसार को आनन्द प्राप्त होता है; यथा-"एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानंदस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति॥" (बृह० ४।३।३२), अर्थात् यह इसका परम आनन्द है। इस आनन्द की मात्रा से ही अन्य प्राणी जीते हैं। तथा—"एष ह्येवाऽऽनन्दयति॥" (तैत्ति० २।७) अर्थात् यही (ब्रह्म) आनन्द देता है। आगे श्रीजनकजी ने इसी प्रसंग में स्वयं भी स्पष्ट कहा है; यथा—"सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता। आनंदहू के आनंद दाता॥" (मा० बा० २१६); तथा-"जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी॥ सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥" (मा० बा० १९६)।

'हिय के पिधान लाये—पिधान का अर्थ 'आवरण' 'ढकना' तथा 'किवाड़ा' होता है। यहाँ 'किवाड़ा' एवं 'पट' लिया गया है। कोई दुर्लभ धन मिलता है तो लोग उसे गुप्त स्थान में ढँक कर रखते हैं। यहाँ गुप्त-स्थान हृदय है, उसी में आनन्द निधान को रख लिया है ढकना यह है कि देहाध्यास भूल गये हैं। उनकी उस दशा को उपमा द्वारा समझाते हैं—

'ठग के-से लाड़ू खाये'—ठग लोग यदि किसी का सर्वस्व हरण करना चाहते हैं तो उसे विष मिला हुआ लड्डू खिला देते हैं, उससे वह अचेत हो जाता है (तब वे उसे लूटते हैं), उसी प्रकार यहाँ श्रीरामजी ने अपनी रूप माधुरी रूपी लड्डु खिला राजा का सर्वस्व रूप ब्रह्मानन्द हरण कर लिया है, राजा चकित हो अचेत-से हो गये हैं। साथ ही वे अपने सगुण रूप की माधुरी से परमानन्द प्रदान करते हैं, उस आनन्द मय दशा को दूसरे रूपक 'प्रेम मधु छाके हैं' इस से समझाते हैं कि जैसे कोई मदिरा पीने वाला उसकी नशा में चूर रह कर सब कुछ भूल जाता है, वैसे ही राजा सगुण रूप की माधुरी पान कर परम आनन्द रूपी नशे में चूर हैं, इन्हें भी सब कुछ भूल गये, यह विदेहता इनकी पूर्व की अपेक्षा विशेष विदेहता है; यथा—"मूरति मधुर मनोहर देखी। भये बिदेह-बिदेह बिसेखी॥" (मा० बा० २१४)। तथा—"देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्। दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥ ३६॥ देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत् स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः। तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः॥ ३७॥" (भाग० ११।१३); अर्थात नश्वर देह चाहे रहे चाहे जाय, सिद्ध पुरुष उसे नहीं देखता, क्योंकि वह अपने स्वरूप को प्राप्त कर चुका है, भाग्य से वह प्राप्त रहे और चाहे न प्राप्त रहे। जैसे मदिरा का मदान्ध अपने पहने-ओढ़े वस्त्रों पर चित्त नहीं रखता (वैसे सिद्ध पुरुष शरीर की सुधि नहीं रखता,)। प्रारब्ध वश देह भी तब तक स्वारंभक कर्म की प्रतीक्षा करती हुई रहती है; अर्थात् छूटती नहीं। परन्तु समाधि योग में आरूढ़ और परमार्थ वस्तु का ज्ञाता पुरुष प्रपञ्च के साथ भी उसे नहीं देखता, जैसे जागा हुआ व्यक्ति फिर निद्रा का अनुभव नहीं करता।

इस चरण के इस पूर्वार्द्ध में 'उपमा' और 'रूपक' अलङ्कार हैं, ऊपर स्पष्ट कहे गये हैं।

'स्वारथ रहित परमारथी···'—अभी तक श्रीजनकजी स्वार्थ-रहित शुद्ध परमार्थी कहाते थे। परन्तु श्रीरामजी के रूप में मुग्ध होकर इनके स्नेह में विशेष वश हो गये, इससे पूर्व की विदेहता से भी रहित हो गये। तात्पर्य यह कि विशेष वस्तु के प्राप्त होने पर सामान्य वस्तु से चित्त हट जाता है। वैसे सगुण के विशेष आनन्द से वह ब्रह्मानन्द हट गया, इससे इनके स्नेह के वश हो गये और पूर्व की विदेहता को दबा कर विशेष विदेहता आ गई है, यह ऊपर सप्रमाण लिखा गया है; तथा—"सीय बिलोकि धीरता भागी। रहे कहावत परम बिरागी॥ लीन्ह राय उर लाइ जानकी। मिटी महा मरजाद ज्ञान की॥" (मा० बा० ३३७)—इस प्रसंग का भी समाधान आगे के दूसरे प्रसंग में किया गया है; यथा—"लीन्ह राय उर लाइ जानकी।" से "सोह मगन मति नहिं बिदेह की। महिमा सिय-रघुबर सनेह की॥" (मा० अ० २८५); तथा—"जासु ज्ञान रबि भव निसि नासा।" से "सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जल जानू॥" (मा० अ० २७६)—इन प्रसंगों का सिद्धान्त-तिलक देखिये। अतः, यहाँ ग्रन्थकार ने श्रीजनकजी को परम परमार्थी एवं विशेष विदेह जनाया है; तथा—"सखा परम परमारथ येहू। मन-क्रम-बचन राम-पद नेहू॥ राम ब्रह्म परमारथ रूपा॥" (मा०अ०९२)

'सील सुधा के···'—शील के वर हैं; यथा—"गुरु नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी॥ सील सराहि सभा सब सोची। कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची॥" (मा० अ० ३१२); तथा—"इन्ह कै प्रीति परस्पर पावनि। कहि न जाइ मन भाव सुहावनि॥ सुनहु नाथ कह मुदित बिदेहू। ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू॥" (मा० बा० २१६)। 'सुखमा के पारावार'; यथा—"बय किसोर सुखमा सदन, स्याम गौर सुखधाम। अंग अंग पर बारिअहि, कोटि-कोटि सत काम॥" (मा० बा० २२०)। समुद्र में अमृत होने से गौरव है, वैसे सुखमा में शील होने से उसका गौरव है। शील बिना रूप मात्र से दर्शक की प्रीति नहीं रह सकती। शील और सुखमा का वर्णन नहीं कर पाते और देखने से तृप्ति नहीं होती। अनुराग वश होकर निमग्न हो गये, यही थक कर डूब जाना है। जैसे कोई समुद्र का पार न पाकर उसमें डूब जाय, वैसे ही सुखमा समुद्र में सभा के साथ राजा डूब गये हैं।

यहाँ 'रूपकालंकार' है।

'लोचन ललकि लागे....'—उपर्युक्त डूबने की दशा कहते हैं कि पहले नेत्र ललक कर लग गये, तब मन भी अनुरक्त हो गया, उसी प्रकार सभा भर के चित्त एक रस सुखमा में निमग्न होने से एकरस लगे हैं। पहले नेत्र जाता है तब मन भी लगता है; यथा—"बालक बृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मन लोभा॥" (मा० बा० २१८); तथा—"मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मन लोभा॥ एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचंद्र मुखचंद्र चकोरा॥" (मा० बा० ११४)।

'जिय-जिय जोरत सगाई...'—केवल जान-पहचान से काम नहीं चलता। अतः, नाता भी चाहिये। प्रीति होने से बिना नाता लगाये रहा भी नहीं जाता। कहा भी है—"तोहि मोहिं नाते अनेक मानिये जो भावै।" (वि० ७९)।

'प्रीति को, प्रतीति को...'—प्रीति करने योग्य हैं; यथा—"जानत प्रीति-रीति रघुराई।..." (वि० १६४)—यह पूरा पद देखिये। प्रतीति करने योग्य हैं; यथा—"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥" (वाल्मी० ६।१८।३३); अर्थात् जो एक बार ही मेरी शरण में आकर कह देता है कि 'मैं आपका हूँ' इस भाव की याचना करता है, ऐसे सभी प्राणियों के लिये एवं सभी प्राणियों उसे उभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है। इस प्रतिज्ञा से आप विश्वास करने के योग्य हैं। तथा वि० १६५, १६६ आदि से आपका स्वभाव-सौष्ठव भी प्रतीति कराता है। स्मरण करने योग्य हैं; यथा—"जासु नाम सुमिरत एक बारा। उतरहिं नर भवसिंधु अपारा॥" (मा० अ० १००); "राम-राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहिं न पापपुंज समुहाहीं॥" "उलटा नाम जपत जग जाना। बाल्मीकि भये ब्रह्म समाना॥" (मा० अ० १९३); तथा—"भाय कुभाय अनख अलसहू। नाम जपत मंगल दिसि दसहू॥" (मा० बा० २७); इत्यादि। सेवन करने योग्य हैं; यथा—"सेइये सुसाहिब राम सो।..." (वि० १५७)—यह पूरा पद देखिये। शरण ग्रहण करने योग्य हैं; यथा—"सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा॥" (मा० सुं० ३८); तथा—"कोटि बिप्र

बध लागहिं जाहू। आए सरन तजौं नहिं ताहू ॥" (मा० सुं० ४३); "साहिब सरनपाल सबल न दूसरो।" (वि० १८०); "जे भुज बेद पुरान सेष सुक सादर सहित सनेह सराहैं। कल्पलताहु कि कल्पलता वर, कामदुहाहु कि कामदुहा हैं॥ सरनागत आरत प्रनतनि को दै-दै अभय पद ओर निबाहैं। करि आईं, करिहैं, करती हैं तुलसिदास दासनि पर छाहैं॥" (उ० १३); इत्यादि।

[६५]

ए कौन, कहाँ ते आए ?
नील - पीत - पाथोज - बरन, मन - हरन, सुभाय सुहाए ॥१॥
मुनिसुत किधौं भूप बालक, किधौं ब्रह्म-जीव जग जाए।
रूप-जलधि के रतन, सुछबि-तिय-लोचन ललित ललाए ॥२॥
किधौं रबि-सुवन मदन-रितुपति, किधौं हरि-हर बेष बनाए।
किधौं आपने सुकृत-सुरतरु के सुफल रावरेहि पाए ॥३॥
भए बिदेह बिदेह नेह - बस, देह - दसा बिसराए।
पुलकगात न समात हरष हिय, सलिल सुलोचन छाए ॥४॥
जनक-बचन मृदु मंजु मधु भरे भगति कौसिकहि भाए।
तुलसी अति आनंद उमँगि उर राम-लखन गुन गाए ॥५॥

अर्थ—(श्रीजनकजी पूछते हैं—) 'नीले-पीले कमल के समान श्याम गौर वर्ण वाले, मन-हरण करने वाले स्वाभाविक शोभायमान ये दोनों कौन हैं और कहाँ से आये हैं ? ॥ १ ॥ कोई मुनि पुत्र हैं या किसी राजा के बालक हैं, अथवा ब्रह्म और जीव ही जगत् में उत्पन्न हुए हैं। ये रूप समुद्र के रत्न हैं अथवा ये दोनों लला (प्यारे-दुलारे लड़के) सुछबि रूपिणी स्त्री के मनोहर नेत्र हैं ? ॥ २ ॥ अथवा ये दोनों सूर्यपुत्र अश्विनीकुमार हैं, या कामदेव और ऋतुराज बसन्त हैं, अथवा श्रीविष्णु और महादेव ही (मनुष्य) वेष बना कर आ गये हैं। अथवा आप ही अपने पुण्य रूप कल्पवृक्ष के सुन्दर फल पाये हैं ?' ॥ ३ ॥ ऐसा कह कर राजा जनकजी स्नेहवश हो विदेह हो गये, उन्होंने अपनी देह की दशा भुला दी। उनका शरीर पुलकित हो गया है, उनके हृदय में आनन्द नहीं समाता और सुन्दर नेत्रों में प्रेमाश्रु छा गया है ॥ ४ ॥ श्रीजनकजी के कोमल, मनोहर सुमधुर और भक्तिरस से भरे हुए वचन श्रीविश्वा-

मित्रजी को बहुत अच्छे लगे। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि तब श्रीविश्वामित्रजी ने हृदय में अत्यन्त आनंद से उमँग कर श्रीराम-लक्ष्मणजी के गुणों का गान किया ॥ ५ ॥

विशेष—'ए कौन ··नील-पीत ····'—जिन्होंने अपनी स्वाभाविक शोभा से ही मेरे मन का हरण कर लिया है, ये हैं कौन और कहाँ से आये हैं ?। श्रीजनकजी को अपने मन पर पूर्ण विश्वास है, वह प्राकृत में मुग्ध नहीं हो सकता—ऊपर पद ६४ के 'तरुन-तमाल चारु चंपक बरन ···' इसका विशेष देखिये। इससे आश्चर्य में चकित होकर कहते हैं—ये कौन···।

'मुनिसुत किधौं···'—मुनि के साथ हैं और अभी सम्भवत; धनुष-बाण हाथ में नहीं है, इससे मुनिपुत्र का अनुमान है। मुनियों में तपस्या का तेज रहता ही है। राजकुमार के समान वेष, तेज-प्रताप एवं अंगों में राज-लक्षण देख कर राजपुत्र का अनुमान है। विश्वामित्रजी पहले के क्षत्रिय एवं राजा थे, सम्भवतः इनके उस समय के किसी सम्बन्धी के राजकुमार होंगे, ऐसा अनुमान है। मुनिपुत्र होंगे तो इस समय के कोई सम्बन्धी होंगे। यथा—"कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनिकुल तिलक कि नृप कुल पालक ॥" (मा०बा०२१५)।

'किधौं ब्रह्म-जीव जग जाए।'; यथा—"सुनहु नाथ कह मुदित बिदेहू। ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू ॥" (मा० बा० २१६); ब्रह्म श्रीरामजी हैं और नित्य जीव (विशेष अंश) श्रीलक्ष्मणजी हैं। ब्रह्म वाचक 'रा' और जीव वाचक 'म' के प्रसंग में भी—"राम लखन सम प्रिय तुलसी के ॥···ब्रह्म-जीव इव सहज सँघाती ॥" (मा० बा० १९); ऐसा कहा गया है। इन दोनों की परस्पर पवित्र (निस्स्वार्थ) प्रीति भी दोनों को ब्रह्म और जीव ही सिद्ध करती है; यथा—"इन्ह कै प्रीति परस्पर पावनि। कहि न जाइ मन भाव सुहावनि ॥" (मा० बा० २१६)। 'रूप जलधि के रतन'—मानो समष्टि रूप रूपी समुद्र मथे जाने पर ये उसके रत्न रूप में प्रकट हुए हैं। यथा—"जौं छबि सुधा पयोनिधि होई। परम रूप मय कच्छप सोई ॥ सोभा रजु मंदर सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू ॥ यहि बिधि उपजै लच्छि···" (मा० बा० २४६-२४७) 'सुछबि तिय लोचन···'—सुछवि मूर्तिमान स्त्री बनेगी तो अत्यन्त सुन्दर ही होगी, उसके मनोहर नेत्रों की सुन्दरता का तो कहना ही क्या ?

'किधौं रबि-सुवन'—सूर्य के पुत्र अश्विनी कुमार दो हैं और परम सुन्दर भी हैं; यथा—"मानो मख रुज····" (पद ५३)—इसका विशेष देखिये। 'मदन रितुपति'—कामदेव श्यामवर्ण और वसंत पीतवर्ण के हैं, वैसे वर्ण के दोनों भाई हैं। अत्यन्त लावण्य की समता में ये कहे गये हैं। 'किधौं हरि-हर बेष बनाये'—ये महातेजस्वी एवं दिव्य शरीर के हैं, इससे श्यामवर्ण के श्रीविष्णु भगवान् और गौर वर्ण के श्रीमहादेवजी का नर वेष बना कर आने का अनुमान है।

'किधौं आपने सुकृत सुरतरु के····'—मुनि आप बड़े भारी सुकृती हैं, उस समस्त पुण्य ने एक साथ ही कल्पवृक्ष होकर आपको सुन्दर फल दिया है, ऐसा जान पड़ता है; यथा—"आजु सकल सुकृत फल पाइहौं।···तुलसी ह्वै कृतकृत्य आश्रमहिं राम-लखन लै आइहौं॥" (पद ४८)-यह मुनि का ही अनुमान है।

यहाँ तक एक उपमेय श्रीराम-लक्ष्मण के प्रति आठ उपमानों की कल्पनाएं की गई हैं। अतः 'उल्लेखालङ्कार' है।

'भये बिदेह बिदेह नेह बस···'—अभी तक सहज वैराग्य के द्वारा जगत् एवं स्वदेह से अनासक्त होने से 'विदेह' कहाते थे। अब श्रीरामजी के स्नेहवश ब्रह्मानन्द से भी विदेह (अनासक्त) होकर श्रीराम-स्नेहवश विशेष विदेह हुए—पद ६१ के 'ब्रह्मानंद हृदय···सरस राम जाने हैं।' एवं पद ६४ के १-२ चरणों के विशेष देखिये। तथा—"मूरति मधुर मनोहर देखी। भए बिदेह बिदेह बिसेखी॥" (मा० बा० २१४)। 'पुलक गात' इसमें शरीर, 'न समात हरष हिय' इसमें मन और 'जनक बचन' इसमें वचन की दशा कही गई है।

'अति आनंद उमँगि उर···'—श्रोता मुनि की भी वैसी दशा हुई। 'अति आनंद उमँगि उर—इसमें हृदय की दशा स्पष्ट है, अत्यन्त आनन्द की उमँग के साथ पुलक शरीर भी अवश्य ही है यह आगे पद के मूल में ही कहा गया है और 'गुन गाये' इसमें वचन की वृत्ति कही गई है। आगे पद में मुनि का श्रीराम-लक्ष्मण के गुणों का गान करना है।

[६६]

कौसिक कृपालहू को पुलकित तनु भो।
उमँगत अनुराग, सभा के सराहे भाग,
देखि दसा जनक की कहिबे को मनु भो ॥१॥
'प्रीति के न पातकी, दियेहूँ साप पाप बड़ो,
मख-मिस मेरो तब अवध-गवनु भो।
प्रानहू ते प्यारे सुत माँगे दिये दसरथ,
सत्यसंघ सोच सहे, सूनो सो भवनु भो ॥ २ ॥
काकसिखा सिर, कर केलि-तून-धनु-सर,
बालक बिनोद जातुधाननि सों रनु भो'।
बूझत बिदेह अनुराग–आचरज-बस,
रिषिराज जाग भयो, महाराज अनु भो ॥ ३ ॥
भूमिदेव, नरदेव, सचिव परस्पर कहत,
हमको सुरतरु सिव धनु भो।
सुनत राजा की रीति, उपजी प्रतीति-प्रीति,
भाग तुलसी के भले साहिब को जनु भो ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—अनु (अव्यय) = हाँ, ठीक—हिन्दी शब्दसागर।

अर्थ—(श्रीजनकजी के उपर्युक्त वचन सुनकर) कृपालु श्रीविश्वामित्रजी का भी शरीर पुलकित हो गया। उनके हृदय में अनुराग उमँगने लगा, उन्होंने (पहले) सभा के भाग्य की प्रशंसा की, (फिर) श्रीजनकजी की दशा देखकर उनका मन कहने में प्रवृत्त हुआ ॥ १ ॥ (मुनि कहने लगे कि मेरे यज्ञ में निशाचर बाधा करते थे, अतः, जब मैंने विचारा कि) 'ये निशाचर पापी हैं। अतः, ये प्रीति के (पात्र) नहीं हैं और इन्हें शाप देने में भी बड़ा भारी पाप है। तब यज्ञ-रक्षा के व्याज से मेरा श्रीअवधपुर जाना हुआ। मेरे माँगने पर राजा दशरथ ने अपने प्राणों से भी प्यारे पुत्रों (इन श्रीराम-लक्ष्मणजी) को दिया; क्योंकि वे सत्यसन्ध हैं, इससे उन्होंने ऐसे पुत्रों के वियोग का शोच सहन किया (परन्तु प्रतिज्ञा नहीं छोड़ी), (इनके आने पर) उनका घर सूना-सा हो गया ॥ २ ॥ उस समय इनके शिर पर काकपक्ष मात्र था। (शिरत्राण

की कोई वस्तु नहीं थी) और इनके हाथों में खेलने वाले ही तर्कश, धनुष और बाण थे (अर्थात् अक्षय तूण, सारंग आदि दिव्य धनुष और दिव्य बाण न थे, जो युद्ध के योग्य होते) तथा बाल-क्रीड़ा की भाँति (क्रोधपूर्वक नहीं) राक्षसों (एवं राक्षस-नायकों) से युद्ध हुआ।' यह सुनकर श्रीविदेह महाराज अनुराग वश हो फिर आश्चर्य वश होकर पूछने लगे—'ऋषिराज ! फिर आपका वह यज्ञ क्या पूर्ण हो गया ?' (श्रीविश्वामित्रजी ने कहा—) 'हाँ महाराज हो गया' ॥ ३ ॥ (यह सुन कर) ब्राह्मण गण, राजा जनक और उनके मन्त्रीगण आपस में कहने लगे—'हम लोगों को तो श्रीशिवजी का धनुष कल्पवृक्ष हो गया। (क्योंकि उसी के भंग-प्रण पर तो इनका यहाँ आगमन हुआ और इनके दर्शन से हमलोग कृतार्थ हुए)।' श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि राजा जनक की रीति सुनकर मेरे मनमें प्रतीति और फिर प्रीति उत्पन्न हुई, इससे ऐसे श्रेष्ठ स्वामी का मैं भक्त हो गया। अतः, मैं बड़ा भाग्यवान् हूँ ॥ ४ ॥

विशेष—'कौसिक कृपालहू···'—राजा जनक एवं उनकी सभा के प्रति कृपा कर रहे हैं। उन्हें श्रीरामजी के गुण सुना कर उनके उठते हुए श्रीराम-प्रेम को बढ़ायेंगे। इससे उन्हें 'कृपालु' कहा गया है।

'उमँगत अनुराग···'—मुनि स्वयं भी ज्ञानी हैं और श्रीरामजी के अनुरागी भी हैं, वैसे ही श्रीजनकजी एवं उनके समाज को देखकर आनन्दित हुए। सजातीय के उत्कर्ष पर आनन्द होता ही है। 'सराहे भाग'; यथा—"सोइ गुनज्ञ सोइ बड़भागी। जो रघुबीर-चरन अनुरागी ॥" (मा० कि० २२)।

'प्रीति के न पातकी···'—पापी के संसर्ग से उसके पाप में भागी होना होता है। अतः, उससे प्रीति नहीं करनी चाहिये; यथा—"ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः। महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥" (मनु० ११।५४); अर्थात् ब्रह्महत्या, मदिरापान, चोरी और गुरु-पत्नि संग भारी-भारी पाप हैं, इन चारों का संसर्ग करना भी वैसा ही महापाप है। तथा पापी खल होते हैं; वे प्रीति करने वाले की नम्रता पर उसका निरादर करते हैं; यथा—"नये निदरत खल" (पद ४६) देखिये।

'दियेहू साप पाप बड़ो'—इसका भाव "सापे पाप···" (पद ४६)—इसके विशेष में देखिये।

'मख-मिस मेरो....'; यथा—"एहू मिस देखउँ पद जाई। करि बिनती आनउँ दोउ भाई॥" (मा० बा० २०५)। प्रभु यज्ञ आदि साधनों के फल हैं, उन्हें प्राप्त कर उनसे यज्ञ-रक्षा कराना एवं यज्ञ-रक्षण में उन्हें नियुक्त करना अनुचित है, इसलिये इसे व्याजमात्र कह रहे हैं। यज्ञ के रक्षण का बहाना कर यथार्थ में मैं प्रभु-दर्शनार्थ ही गया था। तथा—"सुनहु राम मेरे प्रान पियारे। बारौं मैं सत्य बचन श्रुति-सम्मत जाते हौं बिछुरत चरन तिहारे॥ बिनु प्रयास सब साधन को फल प्रभु पायो सो तो नहिं सँभारे। हरि तजि धरम सील भयो चाहत, नृपति नारिबस सर्वस हारे॥ रुचिर कांचमनि देखि मूढ़ ज्यों करतल ते चिंतामनि डारे। मुनि-लोचन-चकोर, ससि राघव, सिव जीवन धन सोउ न बिचारे॥" (अ० २)।

शङ्का—तब प्रभु को लाकर भी इन्होंने उनसे यज्ञ-रक्षा क्यों करवाई?

समाधान—ऋषि ने पहले ही ध्यान करके जान लिया था-"प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा।" (मा० बा० २०५) अतः, धर्म संस्थापन एवं दुष्ट विनाशन तो उनका कार्य ही है, यही उनसे कराया है। तथा—"बिप्र साधु सुर काज महामुनि मन धरि। रामहिं चले लिवाइ धनुषमख मिस करि॥" (जानकी मंगल ४३)।

'प्रानहू ते प्यारे सुत...'; यथा-"सब सुत प्रिय मोहिं प्रान कि नाईं।.... मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ।" (मा० बा० २०७)।

'जातुधाननि सों रनु भो'—यातुधान (जातुधान) तथा यातु एवं जातु का भी राक्षस अर्थ होता है। अतः, जातुधान पद का राक्षस-नायक भी अर्थ होता है; यथा—"जातूनि रक्षांसि दधातिपुष्णातीति जातुधानः-राक्षस-नायकः" (हरिहर प्रसाद कृत-टीका)। अतः, मारीच सुबाहु आदि राक्षसनायकों एवं उनके अनुयायी राक्षसों से युद्ध हुआ। यह भावार्थ है; तथा—"सहस समूह सुबाहु सरिस खल समर सूर भट भारे। केलि-तून-धनु-बान-पानि रन निदरि निसाचर मारे॥" (पद ६०)।

अलङ्कार—विभावना का द्वितीय भेद।

'बूझत बिदेह अनुराग...'—पहले तो राजा जनक वात्सल्य स्नेह से अनुराग वश होकर विदेह हो गये कि ऐसे सुकुमार बालक राक्षस-नायकों से

लड़ने आये, फिर सकुशल इन्हें देख रहे हैं, इस पर आश्चर्य भी हो रहा है कि क्या इन्होंने जीत लिया और यज्ञ पूरा किया ? इसकी जिज्ञासा की। तब मुनि ने कहा—'अनु भो' अर्थात् हाँ हुआ, एवं ठीक से सम्पन्न हुआ।

'भूमि देव नरदेव सचिव....'—इन लोगों ने श्रीराम-लचमणजी के उक्त कर्मों से एवं इनके दिव्य शरीर के दर्शन से इन्हें ब्रह्म रूप निश्चित किया। पहले भी तो राजा ने ऐसा अनुमान किया ही था; यथा—"ब्रह्मानंद हृदय... सरस राम जाने हैं।" (पद ६१); एवं पद ६४–६५ में लिखा गया। इसीसे इनके आगमन का हेतु धनुष-यज्ञ को जानकर कहते हैं कि शिव-धनुष ही हम लोगों के लिये कल्पवृक्ष हो गया, इसी ने हम सब के परम-मनोरथ पूर्ण कर हमें कृतार्थ किये।

'सुनत राजा की रीति...'—इतने बड़े ब्रह्मज्ञानी भी ज्ञान के चरमफल रूप स्थिर ब्रह्मानंद का त्यागकर श्रीरामजी में प्रेमभक्ति की है, यह सुनकर ही तो मुझे श्रीरामजी के परत्व में प्रतीति हुई और फिर उनमें प्रीति दृढ़ हुई, इससे मैं राम-भक्त होकर बड़ा भागवान् हो गया। तथा–"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ॥ प्रीति बिना नहिं भगति दृढाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई ॥" (मा० उ० ८८)।

[६७]

चारयो भले बेटा, देव ! दसरथ राय के।
जैसे राम-लखन, भरत-रिपुहन तैसे,सील-सोभा-सागर,प्रभाकर प्रभाय के
ताड़का सँघारि मख राखे नीके पाले व्रत कोटि-कोटि भट किये एक-एक धायके
एक बान बेग ही उड़ाने जातुधान जात सूखि गये गात हैं,पतउआ भये वायके
सिला छोर छुवत अहल्या भई दिव्य देह, गुन पेखे पारस के पंकरुह पायके
राम के प्रसाद गुरु गौतम खसम भये, रावरेहु सतानंद पूत भये मायके
प्रेम-परिहास-पोखे बचन परस्पर कहत-सुनत सुख सब ही सुभाय के
तुलसी सराहैं भाग कौसिक जनक जूके बिधिके,सुढर होत सुढर सुदायके।४।

अर्थ—हे देव (नर देव एवं दिव्य ज्ञान युक्त श्रीजनकजी) ! राजा दशरथ के चारो ही लड़के ऐसे ही अच्छे (सुन्दर) हैं। जैसे ये श्रीराम-लचमणजी हैं, वैसे ही श्रीभरतजी और श्रीशत्रुघ्नजी भी हैं। चारो ही सद्वृत्ति और शोभा के

समुद्र तथा सूर्यवत् प्रभाववाले हैं ॥ १ ॥ इन्होंने ताटका संहार कर फिर मेरे यज्ञ की भली भाँति रक्षा की है और मेरे व्रत का भली भाँति संरक्षण किया है, इस संरक्षण कार्य में इन्होंने करोड़ों-करोड़ों योद्धाओं को अपने एक-एक वार का लक्ष्य किया है (उन्हें मार गिराया है)। इनके एक ही बाण के वेग से राक्षस-नायक उड़े चले जाते थे; उनके शरीर मार्ग में ही सूख गये, यहाँ तक कि वे हवा में उड़नेवाले पत्ते (के समान) हो गये ॥ २ ॥ शिला का एक किनारा छू जाते ही वह दिव्य शरीरवाली अहल्या हो गई, इसमें इनके चरण-कमलों के गुण पारस (स्पर्शमणि) के-से देखे गये। इस प्रकार श्रीरामजी की कृपा से आपके गुरु श्रीगौतमजी स्त्री के पति हुए और आपके वर्तमान गुरु (पुरोहित) श्रीसतान्दजी माता के पुत्र हुए (भाव यह कि इससे पहले श्रीगौतमजी रड़ुआ और श्रीसतानन्दजी टुअर थे) ॥ ३ ॥ इस भाँति प्रेम और परिहास से पोषित सुन्दर भाव के वचन आपस में कहते-सुनते सभी को सुख हुआ। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीविश्वामित्रजी श्रीजनकजी के भाग्य की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि ब्रह्माजी के अनुकूल होने पर सुन्दर दाँव के पासे अनुकूल पड़ने लगते हैं ॥ ४ ॥

विशेष—'चारयो भले बेटा, देव···'; यथा—"सखि जस राम-लखन कर जोटा। तैसेइ भूप संग दुइ ढोटा ॥ स्याम-गौर सब अंग सुहाए। ते सब कहहिं देखि जे आए ॥···भरत राम ही की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नर नारी ॥ लखन-सत्रुसूदन एकरूपा। नख-सिख ते सब अंग अनूपा ॥" (मा० बा० ३१०)।

'सील-सोभा-सागर···'; यथा—"चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा ॥" (मा० बा० १९७); "जिन्हके जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे ॥" "राजन ! राम अतुल बल जैसे। तेज-निधान लखन पुनि तैसे ॥ कंपहिं भूप बिलोकत जाके। जिमि गज हरि-किसोर के ताके ॥" (मा०बा० २९१,२९२) तथा—"पुत्रा दशरथस्येमे रूपयौवनशालिनः। लोकपालसमाः सर्वे देवतुल्यपराक्रमाः ॥" (वाल्मी० १।७२।७)। शील और शोभा से शृंगार रस पूर्णता एवं सूर्यवत् प्रभाव में वीर रस पूर्णता है। अतः आप (श्रीजनकजी) को अपनी चारों लड़कियों के लिये एक ही घर में

सम्बन्ध हो जायगा और घर न ढूँढ़ना पड़ेगा। यह भाव भी गर्भित है; क्योंकि आगे बरात आने पर श्रीराम-विवाह के साथ ही श्रीवसिष्ठजी और श्रीविश्वामित्रजी ने राजा जनकजी से कहा है—"राजन्! श्रीसीता और श्रीउर्मिला का श्रीराम और श्रीलक्ष्मण के साथ सम्बन्ध धर्मानुकूल है और ये रूप में भी समान हैं। हमें एक बात और कहानी है, आप सुनें, आपके छोटे भाई धर्मात्मा श्रीकुशध्वजजी हैं। इनके भी अनुपम सुन्दरी दो कन्याएँ हैं। उनको हम पत्नी बनाने के लिये (श्रीभरत-श्रीशत्रुघ्न के लिये) माँगते हैं। ये सुन्दर और युवा पुत्र राजा दशरथ के हैं और लोकपालों के समान तेजस्वी तथा देवताओं के समान पराक्रमी हैं॥" (वाल्मी० १।७२।३-७)।

'ताडका संघारि·····'—ताटका का एक ही बाण में संहार करना तथा करोड़-करोड़ योद्धाओं को एक-एक बाण में मारना अलौकिक सामर्थ्य सूचक है; यथा—"एक हि बान प्रान हरि लीन्हा।······तब रिषि निज नाथहि जिय चीन्ही।" (मा० बा० २०८); तथा—

'एक बान बेग ही उड़ाने······'—इसमें बिना फर के बाण से मारीच के उड़ाने की बात कही गई है; यथा—"बिनु फरबान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा॥" (मा० बा० २०९) तथा—"पश्य लक्ष्मण दुर्वृत्तान्राक्षसान्पिशिताशनान्। मानवास्त्रसमाधूतानविलेन यथा घनान्॥ १५॥ करिष्यामि न संदेहो नोत्सहे हन्तुमीदृशान्। इत्युक्त्वा वचनं रामश्चापे संधाय वेगवान्॥ १६॥ मानवं परमोदारमस्त्रं परमभास्वरम्। चिक्षेप परमक्रुद्धो मारीचोरसि राघवः॥ १७॥ स तेन परमास्त्रेण मानवेन समाहतः। सम्पूर्णं योजनशतं क्षिप्तः सागर संप्लवे॥१८॥ विचेतनं विघूर्णन्तं शीतेषुबलपीड़ितम्। निरस्तं दृश्य मारीचं रामो लक्ष्मणमब्रवीत्॥ १९॥ पश्य लक्ष्मण शीतेषु मानवं मनुसंहितम्। मोहयित्वा नयत्येनं न च प्राणैर्वियुज्यते॥ २०॥" (वाल्मी० १।३०), अर्थात् पहले श्रीरामजी ने श्रीलक्ष्मणजी से कहा कि मैं इन्हें मानवास्त्र से ऐसे उड़ा दूँगा, जैसे वायु मेघों को उड़ाता है। फिर उन्होंने उस तेजस्वी बाण का प्रयोग किया, मारीच की छाती पर मारा। उससे वह समुद्र के बीच से सौ योजन पर चला गया। उस शीतेषु नामक अस्त्र से मारीच बेहोश हो गया और घूमने लगा। फिर श्रीरामजी ने लक्ष्मणजी से कहा,

लक्ष्मण ! देखो, यह मनु निर्मित शीतेषु नामक मानवास्त्र इसको बेहोश करके ले जा रहा है, पर यह मरेगा नहीं, महर्षिजी के इन्हीं भावों को इस चरण में ग्रन्थकार ने प्रकट किया है।

'सिला छोर छुवत······'—जैसे पारस लोहा को एक ओर स्पर्श कर उसे सोना बना लेता है, वैसे ही इनके चरण-कमल का स्पर्श उस शिला के एक छोर पर ही हुआ, वह दिव्य देह से प्रकट हो गई; इससे श्रीरामजी का बड़ा प्रभाव कहा; यथा—"सखि इन्ह कहँ कोउ-कोउ अस कहहीं। बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं॥ परसि जासु पद पंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघ भूरी॥" (मा० बा० २२२)।

'राम के प्रसाद गुरु······'—श्रीजनकजी के पूर्वज निमि महाराज ने श्रीवसिष्ठजी से विवाद एवं शाप द्वारा विरोध पड़ने पर श्रीगौतम मुनि को ह अपना गुरु (पुरोहित) बनाया है। उनका गुरुत्व ही उनके पुत्र सतानन्दजी के द्वारा अब भी प्रवर्तमान था; इससे यहाँ गौतमजी को भी गुरु कहा गया है। 'खसम भये' जब से उन्होंने अहल्या को शाप देकर त्यागा था, तब से वे बिना स्त्री के ही थे। इससे किसी और स्त्री के पति नहीं हुए थे। आज अपनी शुद्धी स्त्री को पाकर फिर से पति कहाये। पद ५९ 'पतिलोकहिं··गई' इसका विशेष देखिये। आज से उनका रँड़ुआपन छूटा। तथा बिना माता का पुत्र टुअर कहाता है, अब सतानन्दजी का टुअरपना छूटा—यह व्यंग्य-विनोद है। इसी की प्रशंसा आगे–'प्रेम परिहास पोखे·······' इस चरण में की गई है।

'सराहै भाग·····'—भाग्य से ही आपके लोकोत्तर कन्या अयोनिजा हुई, उसके लिये आपने प्रण किया और फिर इन राजकुमारों का अद्भुत समागम हुआ, यह सब ब्रह्माजी की अनुकूलताएँ हैं। सभी बातें अनुकूल ही होती जाती हैं, तब आगे भी अनुकूल ही होंगी, यह भाव भी गर्भित है।

[६८]

ये दोऊ दसरथ के बारे।
नाम राम घनस्याम, लखन लघु, नख-सिख अंग उज्यारे॥१॥
निज हित लागि माँगि आने मैं धरमसेतु-रखवारे।
धीर, वीर, बिरुदैत, बाँकुरे, महाबाहु, बल भारे॥२॥

एक तीर तकि हती ताड़का, किये सुर-साधु सुखारे।
जज्ञ राखि, जग साखि, तोषि रिषि, निदरि निसाचर मारे ॥३॥
मुनि-तिय तारि स्वयंबर पेखन आये सुनि बचन तिहारे।
एउ देखिहैं पिनाक नेकु जेहि नृपति लाज-ज्वर जारे ॥४॥
सुनि, सानंद सराहि सपरिजन बारहिं-बार निहारे।
पूजि सप्रेम प्रसंसि कौसिकहि भूपति सदन सिधारे ॥५॥
सोचत सत्य-सनेह-बिबस, निसि, नृपहि गनत गये तारे।
पठये बोलि भोर, गुरु के सँग रंगभूमि पगुधारे ॥६॥

अर्थ—'ये दोनों श्रीदशरथजी महाराज के पुत्र हैं; इनमें जो मेघ की भाँति श्यामवर्ण हैं; उनका नाम 'राम' है और उनसे छोटे नख से शिखा तक सर्वाङ्ग उज्ज्वल (गौर) वर्ण वाले लक्ष्मणजी हैं ॥१॥ अपने हित के लिये मैं इन्हें (श्रीदशरथजी से) माँगकर लाया हूँ। ये धर्म-मर्याद के रक्षक हैं! धैर्यवान्, वीर्यवान्, यशस्वी, रणबाँकुरे, महाबाहु और भारी बलवान् हैं ॥ २॥ इन्होंने एक ही तीर का लक्ष्य बना ताटका को मार डाला है; उससे देवों और साधुओं को सुखी किया है। इन्होंने मेरे यज्ञ की रक्षा की है, उसमें राक्षसों को निरादर करके मारा है और ऋषियों को सन्तुष्ट किया है, इसका सारा जगत साक्षी है ॥ ३ ॥ गौतम मुनि की स्त्री का उद्धार कर और आपके वचन (धनुर्भंग-प्रतिज्ञा) सुनकर यहाँ स्वयंवर देखने आये हैं। अतः, जिस पिनाक धनुष ने राजाओं को लज्जा रूप ज्वर से सन्तप्त कर रक्खा है, उसे थोड़ा ये भी देखेंगे ॥ ४ ॥ श्रीविश्वामित्र मुनि के इन वचनों को सुनकर राजा जनकजी ने अपने परिजनों के साथ (दोनों भाइयों की आनन्दपूर्वक) प्रशंसा की और बार-बार उनकी ओर देखा तथा श्रीविश्वामित्रजी की प्रेमपूर्वक पूजा एवं प्रशंसा कर अपने घर को गये ॥ ५ ॥ अपनी सत्य प्रतिज्ञा और इन राजकुमारों के स्नेह के वश होने से राजा जनक शोच में पड़ गये, उन्हें सारी रात तारे गिनते बीत गई (अर्थात् उन्होंने चिन्ता और बेचैनी से रात काटी)। प्रातःकाल होते ही उन्होंने बुलावा भेजा, तब श्रीराम लक्ष्मणजी गुरु श्रीविश्वामित्रजी के साथ रंगभूमि पधारे ॥ ६ ॥

विशेष—'निज हित लागि······'—इन्हें धर्म-मर्याद-रक्षक जानकर मैं

अपने यज्ञ-रक्षण के व्याज से माँगकर लाया हूँ—"मख-मिस मेरो तब अवध-गवनु भो।" इसका विशेष भी देखिये। 'धीर-बीर .....' इस चरण में वीरता कही है; क्योंकि यहाँ इसकी आवश्यकता है।

'एक तीर तकि .....जज्ञ राखि .....'; यथा—"बिस्वामित्र हेतु .. मख राख्यो रिपु जीति जानि जग ...." (पद ६२)—इसका विशेष देखिये। 'निदरि निसाचर मारे'—पद ६० के 'सहस समूह .....केलितून ...' इसका विशेष भी देखिये। 'तोषि रिषि'; यथा—"जे पूजी कौसिकमख रिषयनि, जनक गनप संकर गिरिजा हैं॥" (उ० १३); तथा—"ख्याल दली ताड़का, देखि रिषि देत असीस अघाई॥" (पद ५५)।

'मुनि तिय तारि .....'—पहले वीरता कही, उससे इनमें धनुर्भंग का सामर्थ्य लक्षित किया; किन्तु उसमें यह शङ्का हो सकती थी कि 'यह धनुष तो विष्णु भगवान् के प्रभाव से जड़ हो गया है' (—वाल्मी० १।७५)। उसका समाधान अहल्योद्धार कह कर किया कि जैसे गौतममुनि के शाप से जड़ हुई अहल्या का जड़त्व इनके चरण स्पर्श से नष्ट हो गया, वैसे ही इनके कर-स्पर्श से विष्णु-प्रभाव से जृंभित धनुष का भी जड़त्व खंडित होगा।

'स्वयंवर पेखन......'—पहले धनुर्भंग-सामर्थ्य लक्षित कर तब यह स्पष्ट कहा कि ये भी आपकी प्रतिज्ञा सुनकर स्वयंवर ही देखने आये हैं। अतः, अवश्य धनुष तोड़कर आपकी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे। 'जेहि नृपति लाज ज्वर जारे।'—राजा जनक की प्रतिज्ञा एक वर्ष से थी, इससे बहुत राजा आ-आकर लज्जित हो हो गये तथा स्वयंवर में भी कहा गया है; यथा—"सुनि आमरषि उठे अवनीपति.....टरइ न चाप.....नमित सीस सोचहिं सलज्ज सब श्रीहत भये सरीर।" (पद ८६)।

'सुनि, सानंद सराहि ..'—क्योंकि इनसे प्रणपूर्त्ति की पूर्ण आशा हुई।

'पूजि सप्रेम प्रसंसि .....'—'सप्रेम' पद दीप देहली है। कृतज्ञता के रूप में श्रीविश्वामित्रजी की पूजा एवं प्रशंसा प्रेमपूर्वक की है।

'सोचत सत्य सनेह बिबस .....'—जिस सत्य प्रधान धर्म ने श्रीसीता ऐसी कन्या दी है, प्रण त्याग कर उस सत्य धर्म का निरादर कैसे करूँ? यथा—"सुकृत जाइ जौ प्रन परिहरऊँ। कुँवरि कुँवारि रहउ का करऊँ॥"

(मा० बा० २५१); तथा—"तुम्ह सम सुवन सुकृत जेहि दीन्हे। उचित न तासु निरादर कीन्हें ॥" (मा० अ० ४२)। पुनः इन प्राण-प्रिय परम सुकुमार बालकों के समक्ष प्रणपूर्त्ति रूपी शुल्क कैसे रक्खा जाय ? लोग क्या कहेंगे; यथा—"जनक मन की रीति जानि बिरहित प्रीति ऐसीऔ मूरति देखे रह्यो पहिलो बिचारु। तुलसी नृपहि ऐसो कहि न बुझावै कोऊ, पन औ कुँवर दोऊ प्रेम की तुला धौं तारु ॥" (पद ८२)। 'निसि नृपहि गनत……'—'तारे गिनना' यह मुहावरा है, इसका अर्थ—'चिन्ता या आसरे में बेचैनी से रात काटना'—हिं० श० सा०। इसमें 'लोकोक्ति अलङ्कार' है।

'पठये बोलि भोर…'—राजा ने सबसे पहले प्रातःकाल ही निमंत्रण भेजा है यह इनका अधिक आदर है; यथा—"सतानंद पद बंदि प्रभु, बैठे गुरु पहिं जाइ। चलहु तात मुनि कहेउ तब, पठवा जनक बोलाइ ॥…पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला। देखन चले धनुष-मख-साला ॥ रंगभूमि आए दोउ भाई ॥" (मा० बा० २३९)। रंगभूमि में सब के आने पर अवसर पाकर श्रीरामजी वहाँ पहुँचे, यह इनका सँभाल है। बड़ों का आगमन सब के आ जाने पर ही होना चाहिये।

नगर लोग सुधि पाइ मुदित सबही सब काज बिसारे।
मनहुँ मघा-जल उमँगि उदधि रुख चले नदी नद नारे ॥७॥
ए किसोर, धनु घोर, बहुत बिलखात बिलोकनि हारे।
टर्‌यो न चाप तिन्ह ते जिन्ह सुभटनि कौतुक कुधर उखारे ॥८॥
ए जाने बिनु जनक जानियत करि पन भूप हँकारे।
न तरु सुधा-सागर परिहरि कत कूप खनावत खारे ॥९॥
सुखमा सील सनेह सानि मानो रूप बिरंचि सँवारे।
रोम-रोम पर सोम काम सत कोटि वारि फेरि डारे ॥१०॥
कोउ कहै तेज-प्रताप पुंज चितए नहि जात, भिया रे।
छुअत सरासन-सलभ जरै गो ये दिनकर बंस दिया रे ॥११॥
एक कहै कछु होउ सुफल भए जीवन जनम हमारे।
अवलोके भरि नयन आजु तुलसी के प्रान-पिआरे ॥१२॥

अर्थ—(श्रीराम-लक्ष्मणजी के स्वयंवर में पधारने की) सुधि पाकर नगर

के लोग प्रसन्न होकर सभी ने अपने-अपने सारे काम भुला दिये (और इनके दर्शनार्थ इस प्रकार चले) मानों मघा नक्षत्र के जल से उमँग कर नदियाँ, नद और नाले समुद्र की ओर चले हों ॥ ७ ॥ सभी देखने वाले यह विचार कर बहुत दुखी होते हैं कि ये तो अभी किशोर अवस्था के (परम सुकुमार बालक) हैं और धनुष घोर (कठोर एवं सुदृढ़) है। यह धनुष तो उनसे भी चलायमान नहीं हुआ, जिन योद्धाओं ने खेल ही में पहाड़ों (कैलास एवं सुमेरु आदि) को उखाड़ लिया था (फिर इनसे उसके उठाने एवं तोड़ने का प्रण कैसे पूरा होगा ?) ॥ ८ ॥ जान पड़ता है कि राजा जनक ने इनको न जानने के कारण ही इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके राजाओं को बुलवाया है; नहीं तो भला, अमृत-समुद्र को छोड़ कर वे खारे कुएँ क्यों खनवाते ? ॥ ९ ॥ परम शोभा, सद्वृत्ति और स्नेह को सान कर ही मानों श्रीब्रह्माजी ने इनके रूपों को सँवारा है। इनके रोम-रोम पर अरबों-खरबों चन्द्रमा और कामदेव न्योछावर करके फेंक दिये हैं ॥ १० ॥ कोई कहते हैं—'अरे भैया रे ! ये तेज और प्रताप के पुंज हैं, इसी से इनकी ओर देखा नहीं जाता। ये सूर्यवंश के (भी) दीपक हैं। अतः, इनके छूते ही धनुष रूपी पतंग (फतिंगा एवं पाँखी) भस्म हो जायगा ॥ ११ ॥ एक (कोई) कहने लगे, कुछ भी हो, हमारे जीवन और जन्म तो सुफल हो गये, जो आज हमने नेत्र भर कर तुलसीदास के प्राण-प्यारे (इन दोनों भाइयों) के दर्शन किये ॥ १२ ॥

विशेष—'नगर लोग सुधि पाइ···'; यथा—"रंगभूमि आए दोउ भाई। असि सुधि सब पुरबासिन्ह पाई ॥ चले सकल गृह काज बिसारी। बाल जुवान जरठ नर-नारी ॥" (मा० बा० २३९)।

'मनहुँ मघा जल···'—मघा वर्षा के नक्षत्रों में प्रधान है; यथा—"मानहुँ मघा मेघ झरि लाई।" (मा० लं० ७१); इसके जल से भर कर नदी आदि उमड़ कर बड़े वेग से चलते हैं, वैसे ही ये आनंद रूपी जल से उमड़ कर छबि समुद्र श्रीरामजी की ओर चले हैं। यहाँ सुधि पाकर मुदित होना मघा के जल की प्राप्ति से उमड़ना है, नदी नद नारे पुरबासी हैं और श्रीराम-लक्ष्मण समुद्र हैं, इस प्रकार 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षालंकार' है।

'ए किसोर, धनु घोर···'; यथा—"कहाँ कठिन सिव धनुष कहाँ मृदु

मूरति ? ।" (जानकी मंगल ४६); यहाँ 'किसोर' शब्द में ही मृदुता, सुन्दरता आदि के भाव हैं; तथा—"कहँ निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुंदर सुत परम किसोरा ॥" (मा० बा० २०७); आगे धनुष की घोरता पुष्ट करते हुए कहते हैं—

'टरयो न चाप···'; यथा—"सकइ उठाइ सरासुर मेरू। सोउ हिय हारि गयेउ करि फेरू ॥ जेहि कौतुक सिव सैल उठावा। सोउ तेहि सभा पराभव पावा ॥" (मा० बा० २९१); "भूमि के हरैया उखरैया भूमिधरनि के, बिधि बिरचे प्रभाउ जाको जग जई है।" (पद ८५); "बान जातुधानपति भूप दीप सातहू के लोकप बिलोकत पिनाक भूमि लई है ॥" (पद ८६)।

'ए जाने बिनु जनक···'; तथा—"प्रथम सुनत जो राउ राम-गुन-रूपहि। बोलि ब्याहि सिय देत दोष नहिं भूपहिं ॥" (जानकी मंगल ४२); "जौं सखि इन्हहिं देखि नरनाहू। पन परिहरि हठि करइ बिबाहू॥" (मा० बा० २२१)।

'नतरु सुधा सागर परिहरि···'—श्रीरामजी सुधासागर हैं; यथा—"सुधा समुद्र समीप बिहाई। मृगजल निरखि मरहु कत धाई ॥" (मा० बा० २४५)। प्रतिज्ञा का ढिंढोरा फिराना खारे कूपों का खनाना है, धनुष तोड़ने के लिये आये हुए अन्य राजा लोग खारे जल के कूएँ हैं, क्योंकि वे सब अविचारी हैं; यथा—"ब्योम रसातल भूमि भरे नृप कूर कुसाहिब सेंतिहुँ खारे ॥" (क० उ० १२)। सुधा के रहते खारा जल कोई नहीं चाहता, वैसे ही श्रीरामजी के रहते अन्य राजाओं को कोई नहीं चाहते। यहाँ वर्ण्य वस्तु (बात) के स्थान पर उसका प्रतिबिंब कहा गया है। अतः, 'ललित अलंकार' है।

'सुखमा सील सनेह सानि मानों···' यथा—"सील-सुधा के अगार, सुखमा के पारावार,······" (पद ६४)। सनेह; यथा—"देखे राम-लखन निमेषैं बिथकित भईं, प्रानहू ते प्यारे लागे बिनु पहिचाने हैं ॥" (पद ६१)।

'रोम-रोम पर सोम-काम···'; यथा—"रोम-रोम छबि निंदति सोम मनोजनि। देखिय मूरति···" (जानकी मंगल ५९)॥ "अंग-अंग पर वारिअहि, कोटि-कोटि सत काम ॥" (मा० बा० २२०)। "गौर-स्याम सतकोटि काम-मद-मोचन।" (जानकी मंगल ३१)।

'कोउ कहै, तेज-प्रताप पुंज...'; यथा—"भूपति किसोर दुहूँ ओर... उदय-सैल सोहैं सुंदर कुँवर, जोहैं, मानो भानु भोर भूरि किरनि छिपाइ कै ॥" (पद ८३); "देखियत भूप भोर के-से उडुगन, गरत गरीब गलानि हैं। तेज-प्रताप बढ़त कुँवरन को जदपि सँकोची बानि हैं ॥" (पद ८०), "जिन्ह के जस-प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे ॥...राजन राम अतुल बल जैसे। तेज निधान लखन पुनि तैसे ॥" (मा० बा० २९१-२९२)।

'छुअत सरासन सलभ...'—सूर्यवंशी प्रायः सभी तेजस्वी एवं प्रतापी होते आये हैं, ये तो उस वंश के दीपक (प्रकाशक=श्रेष्ठ) हैं, फिर इनके तो छूते ही बिना श्रम ही धनुष टूट जायगा; तथा—"छुवत टूट रघुपतिहु न दोषू ॥" (मा० बा० २७१); एवं—"छुवतहिं टूट पिनाक पुराना।" (मा० बा० २८२)। दीपक पर पड़ते ही पतंग जल मरता है, वैसे ही श्रीरामजी के छूते ही धनुष टूटेगा। तेज-प्रताप कह कर टूटना कहा; यथा—"सुचि सुजान नृप कहहिं हमहिं अस सूझइ। तेज-प्रताप रूप जहँ-तहँ बल बूझइ ॥ चितइ न सकहु राम तन, गाल बजावहु।" (जानकी मंगल ३७)।

'सुफल भए जीवन...अवलोके...'; यथा—"नारि परस्पर कहहिं देखि दुहुँ भाइन्ह। लहेउ जनम फल आजु जनमि जग आइन्ह ॥ जग जनमि लोचन-लाहु पाये..." (जानकी मंगल ३४-३५), तथा—"हित-अनहित, रत-बिरत बिलोकि बाल, प्रेम-मोद-मगन जनमफल पाइ कै।" (पद ८४)। 'तुलसी के प्रान पियारे।' उस समय श्रीगोस्वामीजी नहीं थे किन्तु उन प्रभु-परिकरों के मुखों से भविष्य की बात कहला कर अपना सम्बन्ध पुष्ट किया है, इससे यहाँ 'भाविक अलङ्कार' है।

[६६]

जनक बिलोकि बार-बार रघुबर को।
मुनि पद सीस नाय, आयसु असीस पाय,
एई बातें कहत गवन कियो घर को ॥ १ ॥
नींद न परति राति, प्रेम-पन एक भाँति,
सोचत, सकोचत बिरंचि-हरि-हर को।

तुम ते सुगम सब, देव ! देखिबे को अब
जस हंस किये जोगवत जुग पर को ॥ २ ॥
ल्याये संग कौसिक, सुनाये कहि गुन गन,
आए देखि दिन-करकुल-दिनकर को।
तुलसी तऊ सनेह को सुभाउ बाउ मानो,
चल-दल को-सो पात करै चित चर को ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—चल-दल=पीपल का वृक्ष। चर = चल, चलायमान, चंचल।

अर्थ—श्रीजनकजी महाराज ने बार-बार श्रीरघुनाथजी को देख कर औ मुनि विश्वामित्रजी के चरणों में शिर नवा कर तथा उनसे आशीर्वाद औ आज्ञा पाकर, इन्हीं बातों को कहते हुए घर को प्रस्थान किया ॥ १ ॥ श्रीराम का प्रेम और धनुर्भंग की प्रतिज्ञा—ये दोनों ही एक समान हैं, इन दोनों निबाहने के लिये राजा जनक सोच कर रहे हैं, इस चिन्ता में उन्हें रात नींद नहीं पड़ती। अतः (अपने प्रयोजन-सिद्धि के लिये वे) श्रीब्रह्माजी श्री विष्णुजी और श्रीमहादेवजी को संकोच में डालते हैं। (हृदय में कहते हैं- हे देव ! आप लोगों से सब कुछ सुगम हो सकता है, (यह सुनते आये किन्तु) अब (आपका कर्त्तव्य) देखना है (कि वह सत्य होता है या नहीं) इस प्रकार राजा जनक अपने यश को हंस रूप किये हुए उसके दोनों पं (दो पक्ष रूप प्रेम और प्रण) को (समान रूप से) जोगवते (सुरक्षि रखते) हैं ॥ २ ॥ श्रीविश्वामित्रजी इन दोनों भाइयों को साथ लाये हैं औ फिर इनके गुण समूह भी कह सुनाये हैं तथा राजा स्वयं भी सूर्य कुल के सू (महाप्रतापी) श्रीरामजी को देख भी आये हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते कि तब भी राजा का चित्त स्नेहयुक्त स्वभाव रूपी वायु के वश होने से पीपल के पत्ते के समान चञ्चल हो रहा है ॥ ३ ॥

विशेष—'जनक बिलोकि बार-बार ... एई बातें ...'—श्रीराम-लक्ष्मण को बार-बार देखते हैं। इनके दिव्य विग्रह के दर्शन में क्षण-क्षण में नवी छटा देख तृप्ति नहीं मानते; यथा—"चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृपिति मानहिं मनु सतरूपा ॥" (मा० बा० १४७); इन्हीं के सम्बन्ध की बा करते हुए मुनि से आज्ञा और आशीर्वाद ले घर को गये; यथा—"मुनि त

चरन देखि कह राऊ। कहि न सकौं निज पुन्य प्रभाऊ ॥ सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता। आनँदहू के आनँददाता ॥ इन्ह कै प्रीति परस्पर पावनि। कहि न जाइ मन भाव सुहावनि ॥ सुनहु नाथ कह मुदित बिदेहू। ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू ॥ पुनि-पुनि प्रभुहि चितव नर-नाहू। पुलक गात उर अधिक उछाहू ॥ मुनिहि प्रसंसि नाइ पद सीसू।" (मा० बा० २१६)। मार्ग में भी इन्हीं की बातें करते गये।

'नींद न परति राति प्रेम पन एक भाँति'; यथा—"सोचत सत्य सनेह बिबस निसि नृपहि गनत गए तारे।" (पद ६८)—इसका विशेष देखिये।

'जस हंस किये जोगवत जुग पर को।'—यश श्वेत वर्ण का होता है, वैसे हंस का भी वर्ण होता है, हंस विवेकी है, वैसे ही यश भी विवेकियों के द्वारा होता है। हंस के दोनों पर समान रूप में रचय हैं; अन्यथा उसकी उड़ने की गति नहीं रहती। वैसे ही राजा न सत्य-प्रतिज्ञा छोड़ सकते हैं और न इन कुमारों का स्नेह ही छोड़ सकते हैं। एक का भी त्याग होने से यश रूपी हंस की गति नहीं रह जाती। यश संसार में फैलने की वस्तु है, जैसे हंस सर्वत्र उड़ कर जाता है। यश का अपंग होना भारी हानि है; यथा—"नृप न सोह बिनु बात नाक बिनु भूषन।" (जानकी मंगल ४१); तथा—"हरि तजि धरम-सील भयो चाहत नृपति नारिबस सर्बस हारे ॥" (अ० २)। दोनों का निर्वाह कैसे हो? इसी को शोच रहे हैं, और इसके लिये त्रिदेवों को संकोच दे रहे हैं।

'जस हंस···'; इसमें 'ललित अलङ्कार' है? क्योंकि इसमें वर्ण्य विषय का प्रतिबिंब कहा गया है।

'ल्यांये संग कौसिक'—श्रीविश्वामित्रजी परम समर्थ महर्षि हैं, ये जिस पक्ष का समर्थन करते हैं, उसे सम्पन्न कर सकते हैं। अपने पक्ष-पोषण में इन्होने नयी सृष्टि भी कर दिखाई है और त्रिकालज्ञ हैं। अतः, विना बल जाने बालकों को यहाँ कैसे लावेंगे?; यथा—"देवि सोच परिहरिय, हरष हिय आनिय। चाप चढ़ाउब राम बचन फुर मानिय ॥ तीनि काल को ज्ञान कौसिकहिं करतल। सो कि स्वयंवर आनहिं बालक बिनु बल? ॥ मुनि महिमा सुनि रानिहिं धीरज आएउ।" (जानकी मंगल ४७-४८)।

"मुनिवर तुम्हारे बचन मेरु महि डोलहिं ।" (जानकी मंगल ५७); "रहै रघुनाथ की निकाई नीकी नीके नाथ हाथ सों तिहारे करतूति जाकी नई है ।" (पद ८६)। आगे पद ७० के 'कौसिक कथा' 'सीयराम-संजोग'" इसका विशेष भी देखिये। इन प्रमाणों से कौशिक के प्रभाव समझ कर राजा को निश्चिन्त हो जाना चाहिये।

'सुनाये कहि गुन-गन'—उपर्युक्त पद ६६-६७ में श्रीविश्वामित्रजी ने श्रीराम-लक्ष्मण के गुण-गण का वर्णन किया है, इससे श्रीरामजी में स्वयं भी अलौकिक सामर्थ्य है। अतः वे प्रण पूरा कर सकते हैं, यह समझ धैर्य रखना चाहिये। 'आए देखि दिनकर कुल दिनकर को।' महातेजस्वी देख कर राजा ने स्वयं भी इनमें अलौकिक प्रभाव माना और कहा है कि ये साक्षात् ब्रह्म ही हैं—पद ६१, ६४-६५ देखिये। तब तो श्रीरामजी से प्रण-पूर्ति में सन्देह नहीं रहना चाहिये; परन्तु—

'तुलसी तऊ सनेह को सुभाउ'''—राजा जनक का श्रीरामजी में वात्सल्य स्नेह अभी से है; यथा—"सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाइ बखानी॥" (मा० बा० २४१); इससे इन्होंने पहले इन्हें ब्रह्म निश्चित किया था, फिर मुनि से भी पुष्ट करा लिया था। तब भी वात्सल्य स्नेह में वह प्रभाव इनके चित्त में नहीं रह गया, श्रीरामजी के माधुर्य में भूल गये हैं। मुनि का प्रभाव एवं श्रीरामजी के उक्त गुण-गण-इन सबको स्नेह ने दबा दिया है। इससे इनका चित्त पीपल के पत्ते के समान चंचल हो रहा है; श्रीरामजी के द्वारा प्रण-पूर्ति में सन्देह ही है। इस प्रकार स्नेह स्वभाव के और उदाहरण देखिये—

(क) राजा दशरथ ने पहले जाना था—"जाकर नाम सुनत सुभ होई। मोरे गृह आवा प्रभु सोई॥" (मा० बा० १९२); मुनि वसिष्ठजी से सुन रक्खा है—"राम चराचर नायक अहहीं।" (मा० अ० ७६); फिर भी श्री विश्वामित्रजी के माँगने पर कितना घबराये थे, यह पूर्व लिखा ही गया— ५१ देखिये।

(ख) श्रीसुग्रीवजी सख्य रस के भक्त थे। इन्होंने सप्तताल भेदन तथा वाली-बध से श्रीराम परत्व का निश्चय कर लिया था। फिर भी सम्मुख रहने

हुए स्नेहवश हो गये। विभीषणजी के आने पर श्रीरामजी पर यह राक्षस अनिष्ट न कर डाले, इस शङ्का से इन्होंने श्रीरामजी से ही बहुत वाद किया है। अंत में श्रीरामजी को स्पष्ट रूप में अपना एवं श्रीलक्ष्मण जी का महत्व कहकर प्रबोध करना पड़ा है।

(ग) श्रीविभीषणजी ने श्रीरामजी का प्रभाव भजन करके तथा श्रीहनुमान् जी से सत्संग करके जाना था। रावण को समझाते हुए कहा था—"तात ! राम नहिं नर भूपाला। भुवनेस्वर कालहु कर काला॥" से "जासु नाम त्रयताप नसावन। सोइ प्रभु प्रगट समुझु जिय रावन॥" (मा० सुं० ३८) तक। परन्तु जब शरण होने पर सम्मुख बैठ कर दर्शन किया, तब स्नेहवश हो गये, फिर ऐश्वर्य भूल गये। श्रीरामजी ने समुद्र पार होने का उपाय पूछा, तब इन्होंने वात्सल्य-निष्ठ कुलगुरु सागर पर डाल दिया—"कहिहि उपाय बिचारि।" (मा० सुं० ५०); भाव यह कि उसका आप पर स्नेह है और वह रावण की करालता भी पड़ोसी होने से जानता है। अतः, आपके बल-पौरुष को समझ लेगा, तब जाने देगा। स्नेह से विभीषणजी के हृदय में डर हो गया कि ये बड़े भोले स्वभाव एवं सुकुमार हैं; कहीं कराल रावण इनका अमंगल न कर दे। सागर समझ कर जाने देगा, वही हुआ। सागर ने 'बल-पौरुष भारी' देख कर ही जाने दिया है।

अलङ्कार—विशेषोक्ति; क्योंकि समाधान के कारणों के रहते हुए स्नेह वश समाधान नहीं है।

राग केदारा

[७०]

रंगभूमि भोरही जाइ कै।
राम-लखन लखि लोग लूटि हैं लोचन-लाभ अघाइ कै॥ १॥
भूप-भवन, घर-घर, पुर-बाहर, इहै चरचा रही छाइ कै।
मगन मनोरथ-मोद नारि-नर, प्रेम-बिबस उठैं गाइ कै॥ २॥
सोचत बिधि-गति समुझि, परस्पर कहत बचन बिलखाइ कै।
कुँवर किसोर, कठोर सरासन, असमंजस भयो आइ कै॥ ३॥

सुकृत सँभारि, मनाइ पितर सुर, सीस ईसपद नाइ कै।
रघुबर-कर धनु-भंग चहत सब अपनो-सो हित-चित लाइ कै ॥ ४ ॥
लेत फिरत कनसुई 'सगुन-सुभ' बूझत गनक बोलाइ कै।
सुनि अनुकूल, मुदित मन मानहुँ धरत धीरजहि धाइ कै ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—कनसुई लेना=यह शकुन विचार ने की एक रीति है—गोबर की गौरि बना कर और उसे चलनी में रख कर स्त्रियाँ पृथिवी पर फेंकती हैं। यदि वह सीधी गिरती है तो शुभ-शकुन मानती हैं और यदि वह उल्टी अथवा आड़ी गिरती है तो अप शकुन मानती हैं।

अर्थ—(पुरवासी गण मनोराज्य करते हैं—) 'कल प्रातःकाल ही रंग-भूमि में जाकर सब लोग श्रीराम-लक्ष्मणजी को देख परिपूर्ण तृप्त होकर नेत्रों के लाभ लूटेंगे' ॥ १ ॥ राजा जनकजी के राजमहल में, नगर में घर-घर तथा नगर से बाहर भी यही चर्चा फैली हुई है। अपने-अपने मनोरथों के आनन्द में निमग्न स्त्री-पुरुष प्रेम के विशेष वश हो यही गा उठते हैं ॥ २ ॥ फिर विधाता की (विषम) गति समझ कर लोग शोच करते हैं और परस्पर रो-रोकर ऐसे वचन कहते हैं—'बड़ा असामञ्जस्य आ बना है, कुँवर तो किशोर अवस्था के (परम सुकुमार एवं कोमल) हैं और पिनाक धनुष बड़ा कठोर है (अतः इनसे इसका टूटना तो असंभव है!), ॥ ३ ॥ तब सब लोग अपने-अपने पुण्यों का स्मरण कर (उसका अर्पण कर) पितरों और देवताओं को मना कर तथा श्रीशिवजी के चरणों में शिर नवा कर, अपना-सा ही हित चित्त में रख कर श्रीरघुनाथजी के हाथों से धनभंग चाहते हैं ॥ ४ ॥ (स्त्रियाँ तो) कनसुई द्वारा शुभ शकुन लेती फिरती हैं और (पुरुषगण) ज्योतिषियों को बुला कर उनके द्वारा शुभ-शकुन का भविष्य पूछते हैं। अनुकूल फल सुन कर आनन्दित मन से मानो दौड़ कर धैर्य को ग्रहण करते हैं (उपर्युक्त असामञ्जस्य पर मानो धैर्य भगा जाता था, इन शुभ शकुनों से उसे दौड़ कर पकड़ते हैं,) ॥ ५ ॥

विशेष—'रंगभूमि···लूटिहैं लोचन लाभ···'—पहले नगर-प्रदर्शन में चलते हुए श्रीराम-लक्ष्मण को लोगों ने देखा है, कल तो रंगभूमि में मञ्च पर बैठे हुए स्थिर होकर विशेष शोभा देखने में आयेगी, इससे अघा कर लोचन

लाभ मिलेगा। आगे पद ७६-७७ में लोगों का अवा कर नेत्र-लाभ लेना देखने योग्य है।

'मगन मनोरथ मोद···'—मनोरथों से होने वाले आनन्दों में लोग निमग्न हैं, और प्रेम के विशेष वश होने से गा उठाते हैं।

'सोचत बिधि-गति समुझि···'; यथा—"बिधि करतब उलटे सब अहहीं।" (मा० अ० ११८); "बिधि बाम की करनी कठिन···" (मा० अ० २००), "सीय मातु कह बिधि बुधि बाँकी। जो पयफेन फोर पवि टाँकी॥" (मा० अ० २८०); इत्यादि। भाव यह कि श्रीरामजी केही योग्य श्रीसीताजी हैं। अतः, इनका श्रीसीताजी से ब्याह हो, यह तो सीधा बर्त्ताव ब्रह्मा का है, पर प्रायः वह टेढ़ा ही चला करता है, यह समझकर लोग शोच करते हैं।

'कुँवर किसोर कठोर सरासन···'—यही ब्रह्मा की टेढ़ाई यहाँ भी आ गई है जो उसने ऐसा संयोग बना रक्खा है। ब्रह्माजी सब की बुद्धि के देवता हैं। कर्मानुसार निश्चय प्रदान कर सबसे बर्त्ताव कराते हैं। यहाँ भी श्रीजनक जी की बुद्धि में वैसी ही प्रेरणा कर ब्रह्माजी ने प्रतिज्ञा करा दी है कि जो इस घोर धनुष का भंग करेगा, उसे ही श्रीजानकी मिलेंगी। यह कैसा विषम बर्त्ताव है!; यथा—"कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदु गात किसोरा॥ बिधि केहि भाँति धरउँ उर धीरा। सिरस सुमन-कन बेधिअ हीरा॥" (मा० बा० २५७); तथा—"ए किसोर, धनु घोर बहुत···" (पद ६८)—इसका विशेष भी देखिये। एवं—"कोउ कह संकर चाप कठोरा। ये स्यामल मृदु गात किसोरा॥ सब असमंजस अहइ सयानी।" (मा० बा० २२२)।

'सुकृत सँभारि··रघुबर-कर-धनु-भंग चहत···'; यथा—"चलत राम सब पुर-नर-नारी। पुलक पूरि तन भये सुखारी॥ बंदि पितर सब सुकृत सँभारे। जौ कछु पुन्य प्रभाव हमारे॥ तौ सिव धनु मृनाल की नाँई। तोरहु राम गनेस गोसाँई॥" (मा० बा० २५४); तथा—"चाप समीप राम जब आये। नर-नारिन्ह सुर सुकृत मनाये॥" (मा०बा० २५६)। 'अपनो-सो हित···'—जैसे अपने हित के लिये लोग मनाते हैं, वैसे श्रीरामजी के लिये भी मनाते हैं, यही इनकी प्रीति की परिपूर्णता है; यथा—"अपनो सो स्वारथ स्वामी सों, चहुँ बिधि चातक ज्यों एक टेक ते नहिं टरिहै।" (वि० २६८)।

'सुनि अनुकूल...'—स्त्रियाँ आपस में कनसुई का फल कहती-सुनती हैं और पुरुष ज्योतिषियों से सुनते हैं। अथवा, दोनों ही दोनों प्रकार के शुभ-शकुनों को सुनते हैं।

अलङ्कार— उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा (५ वें चरण में)।

कौसिक-कथा एक एकनि सों कहत प्रभाउ जनाइ कै।
सीय-राम-संजोग जानियत, रच्यो बिरंचि बनाइ कै॥ ६॥
एक सराहि सुबाहु-मथन बर बाहु, उछाह बढ़ाइ कै।
सानुज राज-समाज बिराजिहैं राम पिनाक चढ़ाइ कै॥ ७॥
बड़ी सभा, बड़ो लाहु, बड़ो जस, बड़ी बड़ाई पाइ कै।
को सोहिहै, और को लायक रघुनायकहि बिहाइ कै?॥ ८॥
गवनिहैं गँवहि गँवाइ गरब गृह नृप कुल बलहि लजाइ कै।
भली-भाँति साहेब तुलसी के चलिहैं ब्याहि बजाइ कै॥ ९॥

अर्थ—श्रीविश्वामित्र की कथा और उससे उनका प्रभाव जना कर एक-एक से कहते हैं, और यह भी कहते हैं कि इससे जाना जाता है कि श्रीसीताजी और श्रीरामजी का (ब्याह) संयोग श्रीब्रह्माजी ने भली-भाँति बना (सजा) कर रचा है॥ ६॥ एक (कोई) सुबाहु का वध करने वाले श्रीरामजी की श्रेष्ठ बाहुओं की प्रशंसा करते हुए और सब का उत्साह बढ़ाते हुए कहते हैं कि ये पिनाक धनुष को चढ़ा कर अपने छोटे भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ यहाँ राजाओं के समाज में विराजमान होंगे॥ ७॥ क्योंकि यहाँ की इस बड़ी भारी सभा में श्रीरघुनाथजी को छोड़ कर और ऐसा कौन सुयोग्य है जो (अयोनिजा श्रीसीताजी की प्राप्ति रूप) बड़ा लाभ, (त्रिभुवन-जय रूप) बड़ा यश और (कमनीय कीर्ति रूप) बड़ी बड़ाई पाकर सुशोभित होगा! ॥ ८॥ और राजाओं के समूह (धनु-भंग न कर सकने से) गर्व गँवा कर और अपने-अपने बल को लज्जित कर चुपके से (एवं बहाने करके) घर चले जाँयगे और तुलसीदास के स्वामी श्रीरामजी बाजे-गाजे के साथ भली-भाँति ब्याह कराके यहाँ से चलेंगे॥ ९॥

विशेष—'कौसिक कथा...'—श्रीजनकजी से विश्वामित्रजी का जब समागम हुआ है, उसी समय श्रीशतानन्दजी ने श्रीराम-लक्ष्मण के समक्ष

श्रीविश्वामित्रजी के प्रभाव की कथा कही है, बहुत लोगों ने सुना था, वही कहते हैं—

श्रीविश्वामित्र के प्रभावार्जन की कथा

श्रीशतानन्दजी ने श्रीरामजी से कहा है कि इन श्रीविश्वामित्रजी के बड़े अद्भुत कर्म हैं, इन्होंने तपस्या से ही ब्रह्मर्षि पद पाया है, ये बड़े तेजस्वी हैं। हे श्रीरामजी ! संसार में आप सबसे अधिक धन्य हैं, क्योंकि घोर तपस्या करने वाले कौशिकजी आपके रक्षक हैं। महात्मा कौशिक के तपोबल प्राप्ति की कथा मैं कहता हूँ, आप सुनें। ये पहले धर्मात्मा, विद्वान् एवं प्रजा-हितैषी राजा थे। ब्रह्माजी के पुत्र कुश, कुश के कुशनाभ, कुशनाभ के गाधि और गाधि के पुत्र विश्वामित्रजी हैं। राजा होकर कई सहस्र वर्षों तक आपने पृथिवी का पालन किया है। किसी समय इन्होंने सेना एकत्र की और अक्षोहिणी सेना लेकर ये पृथिवी परिभ्रमण करने निकले। बहुत नगरों एवं वनों, पर्वतों तथा आश्रमों को देखते हुए श्रीवसिष्ठजी के आश्रम पर पहुँचे। वहाँ सब प्रकार की सम्पन्नता थी। वह ब्रह्मलोक के समान जान पड़ता था। श्रेष्ठ विजयी राजा विश्वामित्रजी वहाँ गये। इन्होंने श्रीवसिष्ठजी को सविनय प्रणाम किया और श्रीवसिष्ठजी ने इन (राजा विश्वामित्रजी) का स्वागत कर आसन दिया। परस्पर कुशल प्रश्न हुए। फिर बहुत समय तक बहुत सी बातें कीं।

अन्त: में भगवान् वसिष्ठजी ने हँसते हुए श्रीविश्वामित्रजी से कहा कि मैं सेना के साथ आप का उचित अतिथि सत्कार करना चाहता हूँ, ग्रहण कीजिये। श्रीविश्वामित्रजी ने कहा कि यद्यपि आप हमारे पूज्य हैं, तथापि आपने फल, मूल, पाद्य, आचमनीय (जल) प्रिय वचन एवं अपने दर्शन देकर मेरा आतिथ्य किया (और अपेक्षा नहीं है) अब मैं आपको प्रणाम करके जाता हूँ। मित्रता-दृष्टि रक्खें। श्रीवसिष्ठजी ने फिर भी आतिथ्य-ग्रहण करने का अनुरोध करते हुए निमंत्रित किया। तब राजा विश्वामित्र ने निमंत्रण मान लिया।

तब श्रीवसिष्ठजी ने अपनी शबला नामक गौ को बुलाया और उससे कहा कि मैंने इस राजर्षि का विशेष भोजनादि से आतिथ्य करने का निश्चय किया है। तुम सेना के साथ इन राजर्षि के इच्छित भोगों की पूर्त्ति कर इनकी सेवा करो। हे कामधेनु ! तुम दिव्य वस्तुओं की वृष्टि करो। रस, अन्न, पान, लेह्य, चोष्य

आदि विविध पदार्थ उत्पन्न करो। उसने वैसा ही किया, सेना के लोगों की विविधि रुचियों की दिव्य भोगों से तृप्ति की। विश्वामित्रजी भी अपनी रानियों एवं ब्राह्मण पुरोहितों के साथ इस आतिथ्य से बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने वसिष्ठजी से कहा पूज्य होते हुए भी आपने ससमाज मेरा बड़ा सत्कार किया। अब कुछ मेरी बात सुनें। ये लाख गायें मैं देता हूँ, यह शबला गऊ मुझे दीजिये; क्योंकि यह गऊ रत्न है और राजा रत्नहारी होता है। इससे यह मुझे दीजिये (न्यायतः तो यह मेरी ही है)। श्रीवसिष्ठजी ने कहा, राजन्! सौ हजार एवं सौ करोड़ गायों के बदले एवं चाँदी की राशि के बदले भी मैं यह गऊ नहीं दूँगा। राज योगियों की कीर्ति के समान यह मेरे साथ है। इसीसे हव्य, कव्य एवं मेरी जीवन यात्रा के सभी कार्य होते हैं। यह तो मेरा सर्वस्व है। अतएव नहीं ही दूँगा। विश्वामित्रजी ने फिर भी बहुत आग्रह से कहा एवं बहुत-बहुत देने का भी प्रलोभन दिया। पर वसिष्ठजी ने कहा किसी प्रकार मैं न दूँगा। नहीं ही दूँगा।

राजा विश्वामित्र बलपूर्वक गौ ले जाने लगे, तब गौ ने दुखित हो वसिष्ठ जी से पूछा, क्या आपने मेरा त्याग किया है? मेरा दोष क्या है? मुनि ने कहा, नहीं, यह बलात् छीन कर ले जा रहा है, यह बलवान् है, राजा है, मैं क्या करूँ? उसने कहा, यह राजा आपके तेज के समक्ष कुछ नहीं है। ब्रह्मन्! आप मुझे ही आज्ञा दें, मैं इसकी सेना एवं इसका अहंकार नष्ट कर देती हूँ। मुनि ने आज्ञा दे दी। उसने तत्काल सेना की सृष्टि की। उसके शब्द करते ही म्लेच्छ जाति के वीर पैदा हुए। उनसे विश्वामित्र की सेना नष्ठ होने लगी। तब उन्होंने अस्त्रों से उस सेना का नाश कर दिया। फिर उस गऊ के गुह्य अंग से यवन और गोबर से शक पैदा हुए। इनसे उसने राजा की शेष सेना शीघ्र ही नष्ट कर दी। तब विश्वामित्रजी के सौ पुत्रों ने बड़े क्रोध से वसिष्ठजी पर आक्रमण किया, पर वे वसिष्ठजी के एक ही हुँकार से जल मरे। अपने पक्ष के नितान्त पराभव से विश्वामित्रजी बड़े लज्जित एवं चिन्तित हुए। इन्हें हृदय से वैराग्य हुआ, इन्होंने अवशिष्ट एक पुत्र को राज्य सौंप कर वन का आश्रय लिया। वहाँ इन्होंने श्रीशिवजी की प्रसन्नता के लिये तप करना प्रारम्भ किया। शिवजी प्रकट हुए, तब इन्होंने वरदान माँगा कि

साङ्गोपाङ्ग उपनिषत् एवं रहस्य के साथ धनुर्वेद दीजिये। तथा देवों, ऋषियों, गन्धर्वों, यक्षों एवं राक्षसों के कुल अस्त्र मुझे ज्ञात हो जायँ। 'ऐसा ही हो' यह कह शिवजी चले गये। इससे विश्वामित्रजी का अहङ्कार और भी बढ़ गया। इन्होंने मान लिया कि अब वसिष्ठ को मैंने मार लिया।

विश्वामित्रजी वसिष्ठजी के आश्रम पर जा अस्त्र छोड़ने लगे। वह तपोवन जलने लगा, यह देख सैकड़ों मुनि डर से भाग गये और भी सब भागने लगे। आश्रम शून्य सा हो गया। श्रीवसिष्ठजी के ब्रह्मदण्ड से वह आग्नेयास्त्र शान्त हो गया। तब विश्वामित्र ने सैकड़ों दिव्यास्त्र छोड़े। आश्चर्य है कि वसिष्ठजी के उसी एक ब्रह्मदण्ड से सब नष्ट हो गये। तब विश्वामित्रजी ने ब्रह्मास्त्र चलाया। इस पर अग्नि आदि देवता, देवर्षि एवं गन्धर्व आदि घबरा गये। तीनों लोक काँप उठा। उसे भी वसिष्ठजी ने उसी ब्रह्मदण्ड से शान्त कर दिया। परन्तु उस समय वसिष्ठजी का स्वरूप बड़ा भयानक हो गया। उनके रोमकूपों से अग्नि किरणों की ज्वालाएँ निकलने लगीं, उनके हाथ का ब्रह्मदण्ड भी प्रज्वलित हुआ। तब मुनियों ने स्तुति की कि आप अजेय हैं, विश्वामित्र को आपने परास्त किया, अब आप अपना तेज शान्त करें, मुनि ने शान्ति धारण की।

राजा विश्वामित्र लम्बी साँस लेने लगे और बोले—"धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम्। एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे ॥ २३ ॥" अर्थात् क्षत्रिय बल को धिक्कार है, ब्रह्मतेज बल ही प्रधान बल है, क्योंकि एक ही ब्रह्मदण्ड ने मेरा समस्त अस्त्रों का नाश कर दिया। अब तो मैं तपस्या करके ब्राह्मण बनूँगा और ब्रह्मतेज ही प्राप्त करूँगा। राजा पश्चात्ताप करते हुए अपनी रानी के साथ वसिष्ठजी से बैर बाँध कर दक्षिण दिशा में बड़ी कठिन तपस्या करने लगे। वहाँ इनके धर्मात्मा हविष्यन्द, मधुस्यन्द आदि महारथी और महावीर पुत्र भी हुए। एक सहस्र वर्ष बीतने पर ब्रह्माजी वर देने आये। उन्होंने इन्हें राजर्षियों के लोकों का अधिकारी कह राजर्षि ही कहा। इन्हें ग्लानि हुई, फिर इन्द्रिय वश में कर ये तपस्या करने लगे। उसी समय इक्ष्वाकुल में राजा त्रिशङ्कु हुए। उन्होंने यज्ञ द्वारा सदेह स्वर्ग की प्राप्ति के लिये वसिष्ठजी से कहा। मुनि ने अस्वीकार किया। तब उस राजा ने वसिष्ठजी के पुत्रों से कहा, इन्होंने गुरु अवज्ञा पर उस राजा को चाण्डाल होने का शाप दे दिया।

त्रिशङ्कु चाण्डाल हो गये। वैसा ही काला उनका वेष-भूषा हो गया। लज्जित हो ग्लानिपूर्वक त्रिशङ्कु श्रीविश्वामित्रजी के यहाँ गये। उन्हें इन पर दया आ गई। अतः, इनसे आने का हेतु पूछा। इन्होंने सारी कथा कह सुनाई। फिर कहा कि मैं अब आपकी शरण आया हूँ। कृपा कीजिये।

श्रीविश्वामित्रजी ने कहा, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। अतः, निर्भय हो जाइये। मैं यज्ञ कर तुम्हें सशरीर स्वर्ग भेजूँगा, क्योंकि मैं शरण्य हूँ। ऐसा कह कर इन्होंने अपने पुत्रों से यज्ञ सामग्री जुटाने एवं ऋषियों को बुलाने के लिये कहा। सब ऋषि आने लगे। केवल महोदय ऋषि एवं वसिष्ठ पुत्रों ने निमंत्रण न मान कर कहा है कि जिस यज्ञ में यजमान चाण्डाल है और पुरोहित क्षत्रिय है। उसमें देव-ऋषि कैसे हवि ग्रहण करेंगे? इत्यादि, सुन कर विश्वामित्रजी ने क्रुद्ध होकर उन्हें घोर शाप दिया—"वे दुरात्मा भस्म हो जायँगे और सात सौ जन्मों तक मुर्दा खाने वाले होंगे। वे मुष्टिक जाति के एवं कुत्ते खाने वाले होंगे और महोदय निषाद हो जायगा, दुर्दशा भोगेगा।" ऐसा कह चुप हुए।

पीछे शाप के डर से आये हुए शेष ऋषि वृन्द इनके साथ यज्ञ कराने लगे। पर बहुत समय पर भी आवाहन करने पर देवता नहीं आये। इस पर इन्हें क्रोध आया और इन्होंने अपने तपोबल से त्रिशङ्कु को स्वर्ग भेजा। तब इन्द्र आदि देवों ने गुरु शाप ग्रस्त त्रिशंकु को वहाँ से गिरा दिया। त्रिशंकु ने विश्वामित्र से 'त्राहि त्राहि' कह कर रक्षा चाहीं। इन्होंने उसे वहीं ठहरा दिया और क्रुद्ध होकर ब्रह्माजी के समान इन्होंने दूसरा स्वर्ग बनाना प्रारंभ किया। नक्षत्रों एवं सप्तर्षियों की सृष्टि की। देवताओं की भी सृष्टि करने लगे और उस स्वर्ग में त्रिशंकु को ही इन्द्र बनाने का विचार किया। इस पर देवों और ऋषियों ने प्रार्थना पूर्वक रोका, इन्होंने कहा, मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। उसे सत्य ही करूँगा। त्रिशंकु इसी शरीर से सदा के लिये स्वर्ग वासी हों और मेरे बनाये हुए नक्षत्र भी रहें। मेरी रचनाएँ इस सृष्टि तक रहें, आप लोग इसकी अनुमति दें। देवताओं ने मान लिया। वैश्वानर नामक नक्षत्र मंडल के बाहर ये नक्षत्र रहें और उनसे प्रकाशित होकर त्रिशंकु रहें। त्रिशंकु शिर नीचा करके रहें और ये देवता समझे जायँ; इत्यादि। देवों ने मुनि की स्तुति की, मुनि शान्त हुए और सब स्वस्थान गये।

तब श्रीविश्वामित्रजी वहाँ विघ्न विचार कर पश्चिम दिशा के पुस्कर क्षेत्र में तपस्या करने गये। वहाँ बड़ी कठिन तपस्या करने लगे। उसी समय अयोध्या के राजा अम्बरीष ने यज्ञारम्भ किया। उनका यज्ञीय पशु इन्द्र चुरा ले गया। उसके बदले में वे मनुष्य को पशु बनाने के लिये ढूँढ़ने लगे। उन्होंने ऋचीक मुनि के मँझले पुत्र शुनः शेप को प्राप्त किया। उसे ले जा रहे थे। शुनः शेप ने मामा विश्वामित्र को तपस्या करते देख कर इनकी शरण हो अपनी रक्षा चाही। मुनि ने उसे अभय देकर उसके बदले में अपने किसी एक पुत्र को जाने की आज्ञा दी। उस पर मधुच्छन्दादि उनके पुत्रों ने उपहास पूर्वक पिता की अवज्ञा की। इस पर क्रुद्ध होकर अपने पुत्रों को शाप दिया कि तुम सब भी वसिष्ठ पुत्रों के समान कुत्ते खाने वाले तथा उसी जाति के हो जाओ। वैसा ही हुआ। पीछे शुनः शेप को मुनि ने दो वेद मन्त्र दिये, उनसे उसकी रक्षा हुई। धर्मात्मा विश्वामित्र ने पुनः पुष्कर क्षेत्र में ही सहस्र वर्षों तक तपस्या की। इस पर श्रीब्रह्माजी ने आकर 'ऋषि' पद दिया।

श्रीविश्वामित्रजी फिर से घोर तपस्या करने लगे। बहुत समय बीतने पर मेनका नाम की एक अप्सरा पुष्कर क्षेत्र में स्नानार्थ आई। मुनि उसके रूप पर मोहित हो गये। वह इनके साथ १० वर्ष रह गई। तब मुनि लज्जित एवं चिन्तित हुए। क्रोध के साथ फिर इन्होंने विचार किया कि यह देवताओं के काम हैं, उन्होंने मेरी तपस्या नष्ट की है। काँपती हुई और हाथ जोड़े हुई मेनका को मुनि ने मीठे वचन से ही विदा कर दिया। मुनि वहाँ से उत्तर पर्वत पर गये और काम के विकारों के जीतने का दृढ़ संकल्प किया। कौशिकी नदी के तट पर आकर इन्होंने बड़ी कठोर तपस्या की। एक सहस्र वर्ष बीत गये। तब देवताओं के कहने से ब्रह्माजी ने आकर इन्हें 'महर्षि' पद दिया।

इन्होंने समझा कि अभी मैं पूर्ण जितेन्द्रिय नहीं हुआ, इसीसे मुझे ब्रह्मर्षि पद नहीं मिला। श्रीविश्वामित्रजी अब निरवलम्ब रह कर ऊर्ध्व बाहु एवं वायु-आहार से तप करने लगे। गर्मी में पंचाग्नि सेवन, वर्षा में खुले स्थल में रहना एवं जाड़े की रातों में जल में रह कर ये तपस्या करने लगे। एक सहस्र वर्षों तक ऐसी कठोर तपस्या की। इस पर डर कर देवों एवं इन्द्र ने रम्भा अप्सरा को अनुकूल कर उसके द्वारा इन्हें कामवश करना चाहा। उसने बड़ी

तैयारी से लुभाना चाहा, पर मुनि ने इन्द्र के कर्म जान कर क्रोध पूर्वक रम्भा को शाप दिया कि 'दस सहस्र वर्षों तक शिला होकर रह। कोई तेजस्वी ब्राह्मण तेरा उद्धार करेगा।' क्रोध को न रोक सकने से ही मुनि ने उसे शाप दिया, पर क्रोध के कारण तपस्या के नष्ट होने का इन्हें पश्चात्ताप हुआ। रम्भा तो पत्थर-शिला हो गई और उसके साथी इन्द्र और कामदेव भग गये। तब मुनि ने यह निश्चित किया कि अब मैं न क्रोध करूँगा और न बोलूँगा ही। सौ वर्ष तक साँस ही न लूँगा, इन्द्रियों को वश में कर अपने को सुखा दूँगा। जब तक ब्राह्मण पद न पा जाऊँगा। मुनि ने पहले सहस्र वर्षों की गैसे ही व्रत की दीक्षा ली। यह अद्भुत प्रतिज्ञा की।

ऐसा व्रत धारण कर मुनि ने उत्तर दिशा का भी त्याग किया, पूर्व दिशा में जाकर वे कठोर तपस्या करने लगे। एक सहस्र वर्ष हो जाने पर मुनि काष्ठ के समान हो गये। अनेक विघ्नों पर भी क्रोध नहीं आया। व्रत पूर्त्ति पर मुनि अन्न खाने का प्रारम्भ किया चाहते थे, उसी समय इन्द्र ने ब्राह्मण होकर बना हुआ अन्न माँगा। मुनि ने दे दिया, स्वयं बिना भोजन ही रह गये। बोले नहीं; क्योंकि मौन व्रत धारण किये हुए थे। फिर साँस रोक कर वे तपस्या करने लगे। एक सहस्र वर्ष मुनि ने साँस रोक कर तपस्या की। इससे मुनि के शिर से धुआँ निकलने लगा। उससे तीनों लोक सन्तप्त हो घबरा गया। देव, ऋषि आदि के तेज इनके समक्ष फीके पड़ गये। वे सब व्याकुल हो ब्रह्माजी के पास गये और बोले, अब मुनि नितान्त शुद्ध हो गये, तब भी तपस्या कर ही रहे हैं। यदि शीघ्र इनका मनोरथ पूरा न होगा तो चराचर सहित त्रिलोक भस्म हो जायगा। समुद्र, पर्वत आदि की दशा चिन्तनीय हो रही है। इन महर्षि के तेज से सूर्य का तेज धीमा पड़ गया है। अतः, हम सबके नष्ट होने के पहले मुनि को प्रसन्न कीजिये। अन्यथा त्रिलोक भस्म हो जायगा। वे जो चाहते हैं, शीघ्र दीजिये। ब्रह्माजी उन सबको साथ ले मुनि विश्वामित्रजी के पास गये और बोले। हे ब्रह्मर्षि! आपका स्वागत है अब आपने ब्राह्मण का पद पाया है। हम और देवगण मिल कर आपको दीर्घायु होने का भी वर देते हैं। तब मुनि ने प्रसन्न होकर कहा, ओंकार एवं वषट्कार (इनके द्वारा होने वाली क्रिया) तथा वेदों का ज्ञान भी मुझे

दीजिये। धनुर्वेदज्ञ एवं ब्रह्मवेदज्ञों में मैं श्रेष्ठ होऊँ। ब्रह्मपुत्र वसिष्ठ भी मुझे ब्रह्मर्षि कहें। तब देवों ने वसिष्ठजी को अनुकूल करके उन्हें स्वीकार कराया। वसिष्ठजी ने भी आकर इन्हें ब्रह्मर्षि कहा और इनसे मैत्री भाव माना। श्रीविश्वामित्रजी ने वसिष्ठजी की पूजा की। तब तपस्या करते हुए मुनि भ्रमण करने लगे। हे श्रीरामजी! इस प्रकार इतनी कठिनता से इन्होंने ब्रह्मर्षि पद पाया है। ये तपस्या के स्वरूप हैं, मुनिश्रेष्ठ हैं, उत्तम धर्मनिष्ठ एवं वीर हैं। ऐसा कह शतानन्दजी ने कथा समाप्त की—यह कथा वाल्मी० १। ५१—६५ के अनुसार है।

'सीय-राम संजोग....'—नई सृष्टि करने वाले एवं परम तपोधन ऐसे प्रभावशाली मुनि इनके रक्षक हैं और वे ही लेकर यहाँ आये हैं, तब इनकी कृपा से धनुर्भंग तो कुछ कठिन नहीं है। अतः, श्रीसीताजी और श्रीरामजी का व्याह-संयोग हो गया ही समझिये, ब्रह्मा ने संयोग बना रक्खा है, इसी से मुनि इन्हें मिल गये हैं। पद ६९ के 'ल्याये सँग कौसिक' भी देखिये।

'एक सराहि सुबाहु मथन...'—सुबाहु को श्रीरामजी ने और उसकी सेना को साथ में श्रीलक्ष्मणजी ने मारा है; यथा—"पावक सर सुबाहु पुनि मारा। अनुज निसाचर कटक सँघारा॥" (मा० बा० २०९); तथा—"सहस समूह सुबाहु सरिस खल...केलि-तून..." (पद ६७); देखिये। उन्हीं बलवती भुजाओं से श्रीरामजी धनुष चढ़ा देंगे और इस पर यदि कोई दुष्ट राजा आक्रमण करेंगे तो श्रीलक्ष्मणजी सबको मार डालेंगे, जैसे सुबाहु के पक्षवाले सैनिकों को मारा है।

पहले के लोगों ने मुनि प्रभाव की शरण ली थी, किन्तु ये श्रीरामजी में ही अलौकिक सामर्थ्य कह कर उससे कार्य सिद्धि कह रहे हैं।

'बड़ी सभा, बड़ो लाहु...'—'बड़ी सभा'; यथा—"जनक सभा अगनित भूपाला। रहे तुम्हहु बल अतुल बिसाला॥" (मा० लं० ३४); तथा—"सीय के स्वयंबर समाज जहाँ राजनि को, राजनि को राजा महाराजा जानै नाम को?। पवन,पुरंदर, कृसानु, भानु, धनद से, गुन के निधान रूपधाम सोभा काम को? बान बलवान जातुधानप सरीखे सूर जिन्हके गुमान सदा सालिम संग्राम को।

तहाँ दसरत्थ के समर्थ नाथ तुलसी के चपरि चढ़ायो चाप चंद्रमा-ललाम को ॥" (क० बा० ६); 'बड़ो लाहु'; यथा—"कुँअरि मनोहरि विजय बड़ि कीरति अति कमनीय। पावनिहार बिरंचि जनु, रच्यो न धनु दमनीय ॥ कहहु काहि यह लाभ न भावा।" (मा० बा० २५१); "सप्तदीप नवखंड भूमि के भूपति बृंद जुरे। बड़ो लाभ कन्या कीरति को जहँ-तहँ महिप मुरे ॥" (पद ८६)। 'बड़ो जस'; यथा—"बिस्व बिजय जस जानकि पाई।" (मा० बा० ३५६), 'बड़ी बड़ाई'; यथा—"रावन बान महाभट भारे। देखि सरासन गँवहि सिधारे॥ सोइ पुरारि कोदंड कठोरा। राज समाज आजु जोइ तोरा ॥ त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहिं बिचारि बरइ हठि तेही ॥" (मा० बा० २४९)।

'को सोहिहै···'—रघुवंशी एक से एक योग्य होते आये हैं; यथा—"रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहइ न कोई ॥" "बिद्यमान रघुकुलमनि जानी ॥" (मा० बा० २५२); भाव यह कि रघुवंश-शिरोमणि श्रीरामजी ही योग्य हैं, और कोई नहीं।

'गवनिहैं गवहिं···'; यथा—"रावन बान महाभट भारे। देखि सरासन गँवहि सिधारे ॥" (मा० बा० २४९); "अपभय कुटिल महीप डेराने। जहँ-तहँ कायर गँवहिं पराने ॥" (मा० बा० २८४); "जनक-बचन सुने बिरवा लजाइ के-से बीर रहे सकल सकुचि सिरनाइ कै।" (पद ८४); "श्रीहत भये भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीप छबि छूटे ॥" (मा० बा० २६२); "बल प्रताप बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहि संग सिधाई ॥" (मा० बा० २६५); "देखियत भूप भोर के-से उडुगन गरत गरीब गलानि हैं ॥" (पद ८०)।

'भली भाँति साहेब तुलसी के···'; यथा—"आये भवन ब्याहि सब भाई।" (मा० बा० ३५६); वीरता से प्रतिज्ञा पूर्ति कर और जगद्विजयी परशुराम को भी जीत कर विराजेंगे। श्रीचक्रवर्तीजी धूम-धाम के साथ बारात सजकर आवेंगे और छोटे भाइयों के साथ चारो भाई धूमधाम से ब्याहे जायँगे। विविध भाँति की पहुनाई होगी। दिव्य दुलहिनों के साथ चारो भाई श्रीअवध जायँगे यह 'चलिहैं ब्याहि बजाइ कै' इसका भाव है।

'साहेब तुलसी के'—इसमें 'भाविक अलंकार' है।

पुष्प-वाटिका-प्रसंग

राग टोड़ी

[७१]

भोर फूल बीनबे को गए फुलवाई हैं।
सीसनि टेपारे, उपवीत, पीतपट कटि,
दोना बाम करनि सलोने भे सवाई हैं ॥१॥
रूप के अगार, भूप के कुमार, सुकुमार,
गुरु के प्रान अधार संग सेवकाई हैं।
नीच ज्यों टहल करैं, राखे रुख अनुसरैं,
कौसिक-से कोही बस किये दुहुँ भाई हैं ॥२॥
सखिन सहित तेहि अवसर बिधि के सँजोग
गिरिजा जू पूजिबे को जानकी जू आई हैं।
निरखि लखन-राम जाने रितुपति-काम,
मोहि मानो मदन मोहनी मूड़ नाई है ॥३॥
राघोजू-श्रीजानकी-लोचन मिलिबे को मोद
कहिबे को जोग न, मैं बातैं-सी बनाई है।
स्वामी, सीय, सखिन्ह, लखन तुलसी को तैसो
तैसो मन भयो जाकी जैसीऐ सगाई है ॥४॥

अर्थ—प्रातःकाल होते ही (श्रीराम-लछमणजी) फूल चुनने के लिये फुलवाड़ी में गये हैं। वे शिरों पर ऊँची दीवार की टोपियों के मुकुट, (कंधों पर) पीत-यज्ञोपवीत और कटिभागों में पीताम्बर धारण किये हुए हैं। बायें हाथों में फूलों के भरे हुए दोने लिये हुए हैं, इनसे सुन्दरता सवाई हो गई है ॥ १ ॥ दोनों भाई रूप के स्थान हैं, राजा के कुमार हैं और सुकुमार हैं, फिर भी श्रीगुरुजी के साथ सेवा में रत हैं, इससे गुरुजी के प्राणों के अधार हैं। नीचों की भाँति श्रीगुरुजी की सेवा करते हैं, उनका रुख रखते हुए सभी बर्ताव करते हैं, इसी से इन्होंने श्रीविश्वामित्र सरीखे क्रोधी मुनीश्वर को भी अपने वश में कर रक्खा है ॥२॥ विधाता के द्वारा किये हुए संयोग से उसी समय श्रीपार्वतीजी का

पूजन करने के लिये सखियों के साथ श्रीजानकीजी भी आ गईं। यहाँ श्रीराम-लक्ष्मणजी को देख कर उन्होंने उन्हें ऋतुराज वसन्त और कामदेव ही समझा; वे इस प्रकार मोहित हो गईं मानो कामदेव ने उनके शिर पर मोहनी डाल दी है ॥ ३ ॥ रघुनन्दन श्रीरामजी और श्रीजानकीजी के दृष्टि-मिलाप का आनन्द कहने के योग्य नहीं है। मैंने तो बनाई हुई-सी बातें कही हैं। स्वामी श्रीरामजी, श्रीसीताजी, सखियाँ, श्रीलक्ष्मणजी और तुलसीदास, इनमें जिसका जैसा सम्बन्ध है, उसका वैसा-वैसा ही मन हुआ ॥ ४ ॥

विशेष—'भोर फूल बीनबे को...'—इससे पहले दिन फुलवाड़ी देखने गये थे; यथा—"तेहि अवसर आए दोउ भाई। गए रहे देखन फुलवाई॥" (मा० बा० २१४); वहाँ से जान लिया था कि यहाँ का द्वार प्रातःकाल ही खुलता है, इससे भोर ही गये; यथा—"समय जानि गुरु आयसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई॥" (मा० बा० २२६)। तथा इससे पूर्वदिन नगर-दर्शन प्रसंग में अष्ट सखियों के संबाद के अन्त में 'हिय हरषहिं बरषहिं सुमन...' इसके संकेतानुसार भी प्रातःकाल ही समय जानकर फुलवाड़ी में गये हैं—यह रहस्य का भाव है।

'सीसनि टेपारे'; यथा—"मोरपंख सिर सोहत नीके। गुच्छे बिच-बिच कुसुमकली के॥" (मा० बा० २३२); यह इसी प्रसंग पर कहा गया है। तथा पद ५६ के 'सिरनि सिखंड सुमन दल मंडन...' इसका विशेष देखिये।

'दोना बाम करनि...'; यथा—"सुमन समेत बाम कर दोना। साँवर कुँअर सखी सुठि लोना॥" (मा० बा० २३२)। श्रीमिथिलेशजी की श्रेष्ठ फुलवाड़ी के सुन्दर फूलों से सुसज्जित दोनों को हाथ में लेने से सवाई शोभा हो गई है।

'रूप के अगार... नीच ज्यों टहल करैं...'—यद्यपि आप रूप के भंडार हैं, फिर भूप के कुमार हैं, उस पर भी अत्यन्त सुकुमार हैं, इन सब का गर्व त्याग कर गुरु की सेवा में हैं, इससे गुरुजी के भी प्राणाधार हो रहे हैं। फिर भी गुरु के रुख रखते हुए नीचों की भाँति सेवा करते हैं, इससे क्रोधी मुनि भी वश हो गये हैं। मुनि का क्रोधी स्वभाव ऊपर पद में उनकी कथा में लिखा गया कि वसिष्ठजी के सौ पुत्रों को एवं अपने भी पुत्रों को क्रुद्ध हो-होकर इन्होंने घोर शाप दिये हैं, ऐसे और भी क्रोध के प्रसंग हैं। श्रीविश्वामित्रजी ने पहले

बड़े-बड़े कठिन नियमों के द्वारा भगवान् की आराधना की है, उसके प्रति आप भी वैसा वर्त रहे हैं; यथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।" (गीता ४।११); अर्थात् जो मुझको जैसे भजते हैं, उनको मैं वैसे ही भजता हूँ। तथा—"कौतुक देखि चले गुरु पाहीं। जानि बिलंब त्रास मन माहीं ॥ जासु त्रास डर कहँ डर होई। भजन-प्रभाउ देखावत सोई ॥" (मा० बा० २२४); "जिन्ह के चरन सरोरुह लागी। करत बिबिध जप जोग बिरागी ॥ ते दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुरु पद कमल पलोटत प्रीते ॥" (मा० बा० २२५)। प्रथम चरण में 'पीत' पद दीप देहली है।

'सखिन सहित तेहि अवसर...'; यथा—"तेहि अवसर सीता तहँ आई। गिरिजा पूजन जननि पठाई ॥ संग सखी सब सुभग सयानी। गावत गीत मनोहर बानी ॥" (मा० बा० २२७)।

'निरखि लखन-राम जाने...'—यहाँ यथासंख्यालङ्कार की रीति से श्रीलक्ष्मणजी को वसन्त के समान और श्रीरामजी को कामदेव के समान जानने का अर्थ है। किन्तु 'काम' पद के साथ ही आगे 'मोहि मानो...' यह कहा गया है। भाव यह कामदेव के समान श्रीरामजी को ही देखकर मोहित हुई हैं; यथा—"चितवति चकित चहूँदिसि सीता।...लता ओट तब सखिन लखाये। स्यामल गौर किसोर सुहाये ॥...थके नयन रघुपति-छबि देखे। पलकनिहूँ परिहरीं निमेखे ॥ अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी ॥ लोचन मग रामहिं उर आनी ॥" (मा० बा० २३१); अर्थात् पहले आपाततः गौर-श्याम दोनों को देखा है, इससे वसन्त रूप श्रीलक्ष्मणजी भी शोभा सम्पन्न ही देखे गये हैं। परन्तु श्रीरामरूप पर ही नेत्र स्थगित हुए और उन्हीं पर मोहित हुई हैं। 'मानो मदन...'—इसमें काम रूप श्रीरामजी ने मानो मोहनी डाल कर मोहित कर लिया है; यह भाव है; यथा—"जिन्ह निज रूप मोहनी डारी। कीन्हें स्वबस नगर नर नारी ॥" (मा० बा० २२८)। अतः, प्रथम बार शोभा-संग्राम में श्रीरामजी का विजय है। अगले पद में "गवनी भवन तुलसीस हियो हरिकै।" इस पद से अन्त में श्रीजानकीजी का विजय कहा गया है। अन्त की जीत ही जीत है। इस श्रृंगार-रस प्रसंग में नायका-प्राधान्य उचित ही है।

यहाँ 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है ।

'राघो जू श्रीजानकी-लोचन···'—पहले मा० बा० २२६ के पश्चात् दो० २३१ तक श्रीरामजीका श्रीजानकीजी को देखकर आनन्दित हो मुग्ध होना कहा गया है, उस समय श्रीजानकीजी चकित हो इधर-उधर देख रही थीं। फिर 'चितवत चकित चहुँ दिसि सीता।" से "जब सिय सखिन प्रेमबस जानी ।।" (मा० बा० २३१) तक श्रीजानकीजी का देखकर आनन्दित हो मुग्ध होना कहा गया है, उस समय श्रीरामजी लता की ओट में थे। फिर जब श्रीजानकीजी ने आँख मूँद लिया, तब दोनों भाई प्रकट हुए और सखियों ने उनकी शोभा का वर्णन किया है। अतएव दोनों ओर से बराबर की चार आखों के होने की अकोमल घटना नहीं हुई। कैसा अनुपम मर्यादित शृंगार का रहस्य है ?

साहित्य की दृष्टि से ब्याह-सम्बन्ध के पहले पूर्वराग का प्रसंग आवश्यक है। जैसे महा० वन० में नल-दमयन्ती के विवाह में पहले हंस द्वारा पूर्वराग का प्रसंग आया है। वैसे ही यहाँ यह पुष्प-वाटिका का दृष्टि-मिलाप है। इस दर्शन का आनन्द दोनों ओर का अकथ्य है; यथा—"रामहिं चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुख नहिं कथनीया ।। उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कौनि प्रकार कहइ कवि कोऊ ।।" (मा० बा० २४१)। यथार्थ न कह सकने पर भी कुछ का कुछ यत्किंचित् कथन को बात बनाकर कहना कहा जाता है। भाव यह कि इन दोनों की आनन्द-व्यवस्था तो ये ही जानते हैं। मैंने इनकी वहिरंग दशाओं से ही कुछ कहा है।

'स्वामी, सीय···'—स्वामी श्रीरामजी का मन; यथा—"प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख सनेह सोभा गुन खानी ॥ परम प्रेममय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीती लिखि लीन्हीं ॥" (मा० बा० २३४); अर्थात् प्रभु (परम समर्थ) श्रीरामजी की अपने शुद्ध मन के अचानक लग जाने और शुभद अंगों के पकड़ने से अपनी ही शक्ति जानकर इन्हें ग्रहण करने में पक्की निष्ठा हो गई कि मैं धनुष तोड़कर इन्हें ब्याह लूँगा; इससे अनुकूल नायक की भाँति श्रीजानकीजी को चित्त में बसा लिया। श्रीसीताजी का मन; यथा—"सुमिरि सीय

नारद बचन, उपजी प्रीति पुनीत।" (मा० बा० २२९); इसी बढ़ी हुई प्रीति से श्रीरामजी को देखा और उन्हें हृदय में रख लिया—"चली राखि उर स्यामल मूरति।" (मा० बा० २३४); फिर देवी की पूजा कर इसी भाव की पुष्टि का वरदान पाकर आनंदित होकर चलीं—"मुदित असीस सुनि······गवनी भवन तुलसीस हियो हरि कै।" (पद ७२)। अतएव श्रीसीताजी ने स्वकीया विश्रब्ध नवोढ़ा नायिका रूप में अपना मन लगाया। सखियों के मन—"प्रेम बिबस सीता पहँ आई।" "अवसि देखियहि देखन जोगू।" एवं "फिरि आउब एहि बिरिया काली।" (मा० बा० २२७—२३३)—इन प्रसंगों के अनुसार शृंगार रस के आलंबन होने से 'नायिका' के रूप में लगे हैं और प्रभु का उनके प्रति 'दक्षिण नायक' की भाँति मन है। श्रीलक्ष्मणजी का मन उनके सख्य भाव की दृष्टि से सखियों के प्रति हास्य रस की रीति से लगा है। श्रीतुलसीदासजी का मन इस प्रसंग के अनुसार दास भाव के अन्तर्गत यहाँ शृंगार भाव की वासना है (आचार्य की प्रवृत्ति सभी रसों के अनुसार होती है), इससे गुप्त रूप में अपने भाव का लक्ष्य कराया है; अन्यथा इस प्रसंग में अपना सम्बन्ध न रखते।

[७२]

पूजि पारबती भले भाय पाय परि कै।
सजल सुलोचन, सिथिल तन पुलकित,
आवै न बचन मन रह्यो प्रेम भरि कै॥ १॥
अंतरजामिनि भव-भामिनि स्वामिनि सों हौं,
कही चाहौं बात, मातु, अंत तौ हौं लरिकै।
मूरति कृपाल मंजु माल दै बोलत भई,
पूजो मन कामना भावतो बर बरि कै॥ २॥
राम कामतरु पाइ, बेलि ज्यों बौंड़ी बनाइ,
माँग कोषि तोषि पोषि फैलि फूलि फरि कै।
रहौगी, कहौगी तब साँची कही अंबा, सिय,
गहे पायँ 'हैं' उठाय माथे हाथ धरि कै॥ ३॥

मुदित असीस सुनि, सीस नाइ पुनि-पुनि,
बिदा भई देवी सों जननि डर डरि कै।
हरषीं सहेली, भयो भावतो, गावती गीत,
गवनी भवन तुलसी प्रभु को हियो हरि कै॥४॥

अर्थ—श्रीसीताजी ने अच्छे भाव से (षोडशोपचार रीति से) श्रीपार्वतीजी का पूजन कर उन्हें प्रणाम किया। (उस समय) उनके नेत्र प्रेमाश्रु से भर गये, शरीर पुलकावली से शिथिल हो गया था। कण्ठ गद्गद हो जाने से वचन नहीं कह आता था और उनका मन प्रेम से परिपूर्ण हो रहा था॥ १॥ (उन्होंने कहा—) हे शिवजी की प्रिया श्रीपार्वतीजी ! आप सारे जगत् की स्वामिनी और अन्तर्यामिनि हैं, फिर भी मैं कुछ बात कहना चाहती हूँ (उसे आप क्षमा करें) क्योंकि, हे माता ! आखिर मैं बालिका ही तो हूँ। (इससे बिना कहे रहा नहीं गया)। तब देवीजी की कृपालु मूर्त्ति ने सुन्दर माला (प्रसाद) देकर कहा— 'हे सीते ! मन चाहा दूलह वरण करके तुम्हारी मन की कामना पूरी होगी ॥ २ ॥ श्रीराम रूप कल्पवृक्ष को पाकर उनके आश्रित लता की भाँति भली-भाँति बढ़ोगी तथा माँग-(पति-) सुख से सन्तुष्ट होगी, कोख से सन्तान प्राप्त कर उनका पोषण करोगी। इस प्रकार फैल, फूल और फल कर रहोगी, तब कहोगी कि अम्बा पार्वती ने सत्य कहा था।" (इस पर) श्रीसीता जी ने चरण-ग्रहण (प्रणाम) किया, तब श्रीपार्वतीजी ने कहा, 'हैं' अर्थात् यह क्या करती हो ? (भाव यह कि तुम तो हमारी परम कारण रूपा हो, हमारे चरण क्यों छूती हो ? अच्छा, यदि आप नर-नाट्य ही का निर्वाह करती हो तो मैं भी वैसा ही बर्ताव करती हूँ, यह विचार कर) देवी ने श्रीसीताजी के शिर पर हाथ रख कर (आश्वासन पूर्वक) इन्हें उठाया ॥ ३ ॥ श्रीपार्वती जी की आशिष सुनकर श्रीसीताजी आनन्दित हुईं, इससे (कृतज्ञता के रूप में) इन्होंने बार-बार शिर नवा-नवा कर प्रणाम किया। (बिलम्ब होने के कारण माता के डर से डर कर देवीजी से विदा हुईं। 'मन चाहा हुआ' इससे सखियाँ हर्षित हुईं, गीत गाती हुई (अपनी स्वामिनी श्रीसीताजी के साथ) तुलसीदास के स्वामी श्रीरामजी का हृदय-हरण कर घर को चली गईं ॥ ४ ॥

विशेष—'पूजि पारवती भले भाय...'—पहले से ही अच्छे भाव से दे

की पूजा कर रही थीं; यथा—"पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा। निज अनुरूप सुभग बर माँगा॥" (मा० बा० २२७)—इतने में ही एक सखी ने श्रीरामजी का आगमन कहा। अतः, वहाँ चली गई थीं। फिर आकर अत्यन्त प्रेमपूर्वक चरण-वन्दना कर स्तुति करने लगीं।

'सजल सुलोचन···'—इस चरण में क्रमशः तन, वचन और मन की प्रेमपूर्ण दशा कही गई है।

'अंतरजामिनि···लरिकै'—जो आप स्वयं हृदय के भाव जानती हैं और जगत् के उत्पादक शिवजी की स्त्री हैं। अतः, जगन्माता हैं तो मुझपर वात्सल्य है ही, फिर स्वामिनि हैं। अतः, मुझ आश्रित का रक्षण-पोषण भी अपने अधिकारानुसार स्वतः करेंगी ही। फिर भी जो मैं अपने प्रयोजन की बात कहना चाहती हूँ, यह मेरा लड़कपन ही है; बालकों की बात को प्रायः लोग अनुचित नहीं मानते। वैसे ही आप भी क्षमा करें।

'मूरति कृपाल मंजुमाल दै···'; यथा—"बिनय प्रेम बस भई भवानी। खसी माल मूरति मुसुकानी॥ सादर सिय प्रसाद सिर धरेऊ। बोली गौरि हरष हिय भरेऊ॥ सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मन कामना तुम्हारी॥" (मा० बा० २३५)। अर्चा मूर्त्ति से पुष्प गिराना देवता का प्रसाद देना माना जाता है, देवी ने माला खसका (गिरा) दिया, उसे ही प्रसाद मानकर श्री-जानकीजीने शिरोधार्य किया। देवी का हृदय हर्ष से भर गया, इससे अर्चारूप की मर्यादा छोड़कर अब बोलने भी लगीं।

'राम कामतरु पाइ···रहौगी···'—देवी ने 'भावतो बर बरिकै' कहा, क्योंकि श्रीजानकीजी ने मनोरथ स्पष्ट नहीं कहा था; यथा—"देवि पूजि पद कमल तुम्हारे। सुर नर मुनि सब होहिं सुखारे॥ मोर मनोरथ जानहु नीके। बसहु सदा उर पुर सब ही के॥" (मा० बा० २३५) अर्थात् सुर काम, नर अर्थ और मुनि मोक्ष चाहते एवं आपसे पाते हैं। अवशिष्ट धर्म फल ही मुझे मिले, यदि मेरा मन-चाहा वर मिले, तभी अब मेरा धर्म रहता है। देवी ने इसी की सिद्धि दी, परन्तु इतना ही कहने में श्रीजानकीजी तो समझ लेतीं, पर सखियाँ कैसे जानतीं कि इन्होंने कैसी कामना की थी। तथा 'अंतरजामिनी' पद का चरितार्थ कर इनके भावते वर को स्पष्ट करती हैं—'राम कामतरु···'। भाव यह कि

मैंने जान लिया है, वही सिद्धि दे रही हूँ। यहाँ रामजी कल्पवृक्ष, सीताजी लता, माँग सुख प्राप्त होना इनका उनके आश्रित हो फूलना एवं फैलना, तथा सन्तान-पोषण सुख पाना फलना है और 'ज्यों' वाचक है। इस प्रकार यहाँ 'रूपक' से पुष्ट 'पूर्णोपमा अलंकार' है।

'हैं' यह अव्यय है, इसके अर्थ—(१) एक आश्चर्य-सूचक शब्द, (२) एक निषेध या असम्मति-सूचक शब्द, ये होते हैं—(हि० श० सा०) यहाँ दूसरा अर्थ ग्रहण किया गया है।

'जननि डर डरिकै''''; यथा—''भएउ बिलंब मातु-भय मानी॥'' (मा० बा० २३३)।

'हरषीं सहेली''''; यथा—''येहि भाँति गौरि असीस सुनि सिय सहित हिय हरषीं अली। तुलसी भवानिहि पूजि पुनि-पुनि मुदित मन मंदिर चली॥'' (मा० बा० २३५)।

'गवनी भवन तुलसी-प्रभु को हियो हरि को।'—इसका आधुनिक पाठ 'तुलसीस हियो हरि कै' है। अर्थ में भेद नहीं है। परन्तु ऊपर के चरणों के अनुसार इस नये पाठ में मात्राएँ कम होती हैं। 'तुलसी-प्रभु' इसमें 'भाविक अलङ्कार' है। यहाँ प्रकरण से प्रभु के हृदय-हरण में सखियाँ प्रधान-सी जान पड़ती हैं; परन्तु सखियों ने अपनी स्वामिनि श्रीसीताजी के द्वारा ही उनका संयोग कराकर प्रभु-हृदय-हरण किया है; यथा—''चलीं राखि उर स्यामल मूरति।'' (मा० बा० २३४); श्रीजानकीजी को देखने पर प्रभु उन पर इस प्रकार मुग्ध हैं कि सायंकाल की संध्या करने में उन्हीं पर चित्त था, प्रातःकाल होने को लछमणजी से पूछ रहे थे। जब उन्होंने अभिप्राय-सिद्धि परक वचन कहे, तब आपने प्रसन्न हो स्नान किया है, इत्यादि श्रीरामचरितमानस के स्पष्ट कारणों से श्रीजानकीजी ने ही अपनी शोभा से प्रभु का हृदय-हरण किया है।

रंगभूमि—प्रसंग

[७३]

रंगभूमि आये दसरथ के किसोर हैं।
पेखनों सो पेखन चले हैं पुर-नर-नारि,

बारे-बूढ़े, अंध-पंगु करत निहोर हैं ॥ १ ॥
नील-पीत-नीरज, कनक-मरकत, घन-
दामिनि - बरन तनु, रूप के निचोर हैं।
सहज सलोने, राम-लखन ललित नाम,
जैसे सुने तैसेई कुँवर सिर मौर हैं ॥ २ ॥
चरन सरोज, चारु जंघा जानु उरू कटि,
कंधर बिसाल, बाहु बड़े बरजोर हैं।
नीके कै निषंग कसे, कर कमलनि लसैं,
बान-बिसिषासन मनोहर कठोर हैं ॥ ३ ॥
काननि कनकफूल, उपवीत अनुकूल,
पियरे दुकूल बिलसत आछे छोर हैं।
राजिव नयन, बिधु-बदन, टेपारे सिर,
नख-सिख अंगनि ठगौरी ठौर-ठौर हैं ॥ ४ ॥
सभा - सरवर लोक - कोकनद - कोकगन,
प्रमुदित मन देखि दिनमनि भोर हैं।
अबुध असैले मन मैले महिपाल भये,
कछुक उलूक कछु कुमुद चकोर हैं ॥ ५ ॥
भाई सों कहत बात, कौसिकहि सकुचात,
बोल घनघोर-से बोलत थोर-थोर हैं।
सनमुख सबहि, बिलोकत सबहि नीके,
कृपा सों हेरत हँसि तुलसी की ओर हैं ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—पेखानो=तमाशा, कौतुक। असैले = (१) रीति-नीति के विरुद्ध काम करने वाले, कुमार्गी। (२) शैली के विरुद्ध, अनुचित।—हि० श० सा०।

अर्थ—'श्रीदशरथ महाराज के राज किशोर (पुत्र) रंगभूमि में आये हैं' यह सुन कर श्रीजनकपुर के स्त्री-पुरुष नाटक आदि तमाशा-सरीखा देखने चले हैं, बच्चे-बूढ़े तथा अन्धे-पाँगुले (भी साथ ले चलने के लिये) निहोरा (प्रार्थना) करते हैं (अन्धे दोनों राजकुमारों की बात सुनने के लिये लालायित हैं,) ॥ १ ॥ दोनों भाई नीले-पीले कमल, सोना-मरकत मणि और मेघ-बिजली के-

से वर्ण वाले शरीरों में ये रूप के सारस्वरूप ही हैं। ये स्वाभाविक ही सुन्दर हैं, इनके श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी ये मनोहर नाम हैं, ये जैसे सुने गये थे, वैसे ही राजकुमारों में शिरमौर हैं ॥ २ ॥ इनके चरण कमल के समान हैं, जंघा (ठेहुन का नीचा भाग), ठेहुन, उरु (ठेहुन का ऊपरी भाग) और कमर सुन्दर हैं तथा कन्धे विशाल (उन्नत) और बाहुएँ बड़ी बलवती हैं, ये भली-भाँति तर्कश कसे हुए हैं और इनके कमलवत् हाथों में मनोहर एवं कठोर बाण और धनुष शोभायमान हो रहे हैं ॥ ३ ॥ इनके कानों में धतूरे के फूल के आकार के सोने के कुण्डल, गलो में अनुकूल (क्षत्रियोचित) यज्ञोपवीत तथा शरीरों में पीताम्बर सुशोभित हैं, जिनके अच्छे-अच्छे छोर (किनारे) हैं। इनके लाल कमल के समान नेत्र हैं, चन्द्रमा के समान मुख हैं और इनके शिरों पर ऊँची दीवार की टोपियों के मुकुट हैं तथा इनके नख से लेकर शिखा तक सभी अङ्गों में स्थान-स्थान पर ठगौरी (ठगने की शक्ति, मोहकता हैं ॥ ४ ॥ वह राजसभा श्रेष्ठ सरोवर के समान और वहाँ के एकत्रित लोग कमल एवं चकवे-चकवी के समान हैं, वे सब श्रीरामजी को प्रातःकाल के सूर्य के समान देख कर मन में आनन्दित हैं, तथा मूर्ख, कुमार्गी और मन के मलिन राजाओं में कुछ तो उल्लू और कुछ कुईं एवं चकोर के समान हो रहे हैं ॥ ५ ॥ श्रीरामजी अपने भाई श्रीलक्ष्मणजी से बातें कर रहे हैं, परन्तु श्रीविश्वामित्रजी को सकुचाते हैं, इससे थोड़ा-थोड़ा एवं धीमे स्वर में बोलते हैं, तब भी उनके बोल मेघ की गर्जन के समान (गम्भीर) हैं। यद्यपि वे सभी के सम्मुख ही हैं और सभी की ओर अच्छी ही दृष्टि से देख रहे हैं, तथापि तुलसीदास की ओर कृपा करके हँस कर देख रहे हैं ॥ ६ ॥

विशेष—'रंग भूमि आये···पेखनो सो···'; यथा—"रंगभूमि आये दोउ भाई। असि सुधि सब पुरबासिन्ह पाई ॥ चले सकल गृह काज बिसारी। बाल जुवान जरठ नर-नारी ॥" (मा० बा० २३९); तथा—"सुनत चलीं प्रमदा प्रमुदित मन, प्रेम पुलकि तनु मनहुँ मदन मंजुल पेखन ॥" (पद ७५)। 'बारे बूढ़े···' ये भीड़ में चल नहीं पा रहे हैं, किन्तु लालसा है, इससे जवानों से निहोरा करते हैं कि हमें भी लिवा ले चलो।

'नील पीत नीरज···'—नील कमल, मरकत मणि और मेघ के समान

श्याम वर्ण श्रीरामजी और पीत कमल, सोना और बिजली के समान गौर वर्ण श्रीलक्ष्मणजी हैं, रूप के सार तत्त्व हैं। 'सहज सलोने…'; यथा—"राज कुँवर दोउ सहज सलोने। इन्ह ते लहि दुति मरकत सोने॥" (मा० अ० ११५); अर्थात् पहनने ओढ़ने से नहीं, यों ही सुन्दर हैं।

'जैसे सुने…'; यथा—"एक कहइ नृपसुत तेइ आली। सुने जे मुनि सँग आये काली॥ जिन्ह निज रूप मोहनी डारी। कीन्हें स्वबस नगर नर नारी॥ बरनत छबि जहँ-तहँ सब लोगू॥" (मा० बा० २२८)।

'बाहु बड़े बरजोर हैं'—ये लोग सुबाहु आदि का बध सुन चुके हैं। 'मनोहर कठोर हैं'-बाण और धनुष देखने में मनोहर शृंगार स्वरूप हैं, परन्तु कार्य क्षमता में कठोर हैं।

'कानन कनक फूल…'; यथा—"कानन्हि कनकफूल छबि देहीं। चितवत चितहिं चोरि जनु लेहीं॥" (मा० बा० २१८); कनक धतूरे को भी कहते हैं, धतूरे के फूल के आकार के कुंडल हैं, इनमें (इनकी छबि में) धतूरे की-सी नशा भी होती है, इससे दर्शकों के चित्त ही चुरा लेते हैं, इसीसे आगे 'ठगौरी ठौर-ठौर हैं' ऐसा कहा गया है।

'पियरे दुकूल…'; यथा—"पियर उपरना काँखा सोती। दुहुँ आँचरन्हि लगे मनि मोती॥" (मा० बा० ३२६); 'आछे छोर' इसका तात्पर्य यह कि उसके छोरों (किनारों) में मणि-मुक्ताओं की झालरें लगी हुई हैं।

'टेपारे सिर'—पद ७१ के 'सीसनि टेपारे' इसका विशेष देखिये, वहाँ पुष्प-वाटिका के प्रसंग का वर्णन है। यहाँ रंगभूमि में पीत रंग की मुकुटाकार चौतनी टोपी है; यथा—"पीत चौतनी सिरन्हि सुहाई। कुसुम कली बिच-बीच बनाई॥" (मा० बा० २४२); 'राजिव नयन बिधु बदन'; यथा—"सरदचंद निंदक मुख नीके। नीरज नयन भावते जी के॥" (मा० बा० २४२)।

'नख-सिख अंगनि…'; यथा—"अंग-अंग पर वारिअहिं, कोटि-कोटि सतकाम॥ कहहु सखी अस को तनुधारी। जो न मोह यह रूप निहारी॥" (मा० बा० २२०); "सकल अंग मन मोहन जोहन लायक॥ राम-लखन छबि देखि मगन भए पुरजन। उर आनँद जल लोचन प्रेम पुलक तन॥" (जानकी मंगल २३–२४)। "हेरत हृदय हरत नहिं फेरत चारु बिलोचन

कोने। तुलसी प्रभु किधौं प्रभु के प्रेम पढ़े प्रगट कपट बिनु टोने॥" (अ० २३)।

'सभा सरवर लोक...अबुध असैले...'—अबुध उलूक, असैले कुमुद और मनमैले चकोर हैं; मूर्ख उलूक की भाँति छिप रहे, कुमार्गी के बदन पर स्याही छा गई, जैसे कुईं भोर में संपुटित हो जाती है तो ऊपर कालापन छा जाता है। मन-मैले चकोर की भाँति दृष्टि मूँद लिये हैं।

यहाँ रूपक से पुष्ट उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा-अलङ्कार है।

'भाई सों कहत बात....'—जैसे मेघ धीमी मधुर ध्वनि से भी गर्जता है, तो उस में गाम्भीर्य गुण रहता है, इससे उसकी ध्वनि सब को प्रिय रूप से सुनाई देती है। वैसे श्रीरामजी की प्रिय, मधुर और गम्भीर वाणी सबको सुन पड़ती है; यथा—"दुन्दुभिस्वरकल्पेन गम्भीरेणानुनादिना। स्वरेण महता राजा जीमूत इव नादयन्॥" (वाल्मी २। २। २); अर्थात् भेरी के समान प्रतिध्वनित होने वाले और अर्थयुक्त अपने वचन से मेघ के समान सभा मण्डल को प्रतिध्वनित करते हुए राजा दशरथ बोले। श्रीरामजी की वाणी में गाम्भीर्य के साथ माधुर्य भी अत्यधिक है; यथा—"राम देखावहिं अनुजहिं रचना। कहि मृदु मधुर मनोहर बचना॥" "कहि बातैं मृदु मधुर सुहाई।" (मा० बा० २२४); "सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ, कल आपुस में कछु पै कहिहैं।" (क० अ० २३); तथा—"प्रभु बचनामृत सुनि न अघाऊँ। तनु पुलकित मन अति हरषाऊँ॥ सो सुख जानइ मन अरु काना। नहिं रसना पहिं जाइ बखाना॥" (मा० उ० ८७)।

'बोल घनघोर से' इसमें 'पूर्णोपमा अलङ्कार' है।

'सनमुख सबहिं, बिलोकत सबहि नीके'; यथा—"मुनि समूह महँ बैठे, सनमुख सब की ओर। सरद इंदु तन चितवत, मानहुँ निकर चकोर॥" (मा० अर० १२); "निज-निज रुख रामहिं सब देखा। कोउ न जान कछु मरम बिसेखा॥" (मा० बा० २४३)। सबको नीकी दृष्टि से ही देखते हैं; यथा—"अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहिं बराबर दाया॥" (मा० उ० ८६)।

'कृपा सों हेरत हँसि...'; यथा—"हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥" (मा० बा० १९७); "जिय की जरनि हरत हँसि

हेरत ॥'' (मा० अ० २३८); अर्थात् तुलसीदासजी पर कृपा है, इससे हँस कर इसकी ओर देखते हैं, इस प्रकार इसके हृदय की ताप दूर करते हैं। उस समय श्रीगोस्वामीजी नहीं थे, परन्तु उस समय के लोगों के साथ अपना सम्बन्ध कहलाने में यहाँ 'भाविक अलङ्कार' है।

[७४]

एई राम-लखन जे मुनि सँग आये हैं।
चौतनी-चोलना काछे, सखि ! सोहैं आगे-पीछे,
आछेहु आछे-आछे आछे भाय भाये हैं ॥ १ ॥
साँवरे गोरे सरीर, महाबाहु, महाबीर,
कटि तून तीर धरे, धनुष सुहाये हैं।
देखत कोमल, कल, अतुल बिपुल बल,
कौसिक कोदंड-कला कलित सिखाये हैं ॥ २ ॥
इन्हहीं ताड़का मारी, गौतम की तिय तारी,
भारी-भारी भूरि भट रन बिचलाये हैं।
रिषि-मख रखवारे, दसरथ के दुलारे,
रंगभूमि पगुधारे, जनक बुलाये हैं ॥ ३ ॥
इन्हके बिमल गुन गनत पुलकित तन,
सतानंद-कौसिक नरेसहि सुनाये हैं।
प्रभु पद मन दिये, सो समाज चित किये,
हुलसि-हुलसि हिये तुलसिहुँ गाये हैं ॥ ४ ॥

शब्दार्थ — चोलना=कुरता। काछे=पहने।

अर्थ—(पुरनारियाँ परस्पर कहती हैं—) हे सखी ! जो मुनि विश्वामित्र-जी के साथ आये हैं, वे श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी ये ही हैं। ये चौकोसिया टोपी के रूप के मुकुट और कुरता (एवं अँगरखा) पहने आगे-पीछे चलते हुए बड़े शोभायमान हो रहे हैं। ये सुन्दर हू से सुन्दर-सुन्दर हैं और मूर्त्तिमान् अच्छे भाव को भी भाने (प्रिय लगने) वाले हैं ॥ १ ॥ ये दोनों साँवरे और गोरे शरीर वाले हैं। महान् (आजानु लम्बी एवं बलशाली) बाहु वाले तथा महान् वीर हैं। कमर में बाणों से पूर्ण तर्कश और शोभायमान धनुष धारण

किये हुए हैं। ये देखने में तो बड़े कोमल और सुन्दर हैं तथापि बहुत बल-शालियों में अतुलनीय हैं; इन्हें श्रीविश्वामित्रजी ने सुन्दर ढंग की धनुष की कला (धनुर्विद्या) सिखाई है॥ २ ॥ इन्हीं ने ताड़का मारी है और श्रीगौतम मुनि की स्त्री अहल्या तारी है तथा (मुनि-मख-रक्षा करने में) इन्होंने ही भारी-भारी बहुत से योद्धाओं को युद्ध में पराजित किया है, मुनि की यज्ञ-रक्षा करनेवाले ये ही हैं। ये चक्रवर्त्ती श्रीदशरथ महाराज के राजदुलारे हैं, श्रीजनक महाराज के बुलाने से यहाँ रंगभूमि में पधारे हैं॥ ३ ॥ श्रीशतानन्दजी और श्रीविश्वामित्रजी ने शरीर से पुलकित होकर इनके निर्मल गुणों का वर्णन करते हुए श्रीजनक महाराज को सुनाया है। इस तुलसीदास ने भी प्रभु श्रीरामजी के चरणों में मन लगा और उस समाज पर चित्त द्वारा ध्यान किये हुए हृदय से हुलस-हुलस कर इनका गान किया है॥ ४ ॥

विशेष—'साँवरे गोरे सरीर···'—साँवरे श्रीरामजी आगे और गोरे श्री-लक्ष्मणजी पीछे हैं। दोनों ही 'महाबाहु महाबीर' हैं; यथा-"बय किसोर बरजोर बाहुबल मेरु मेलि गुन तानिहैं। अवसि राम राजीव बिलोचन संभु सरासन भानिहैं॥" (पद ८०), आगे तीसरे चरण में भी भारी वीरता कही गई है।

'देखत कोमल कल···'—प्रायः कोमल शरीर वाले सुन्दर लोग बलवान् नहीं होते; परन्तु ये तो बलवानों में अद्वितीय हैं; यथा —"कुन्देन्दीवरसुन्दरावतिबलौ···" (मा० कि० मं० श्लोक)।

'कौसिक कोदंड-कला···'—पद ५२ के 'बिद्या बिप्र पढ़ाई' इसका विशेष देखिये। धनुर्विद्या देना, यथा —"ददाम्यस्त्राणि सर्वशः॥ २ ॥" से "जपतस्तु मुनेस्तस्य विश्वामित्रस्य धीमतः। उपतस्थुर्महार्हाणि सर्वाण्यस्त्राणि राघवम्॥" (वाल्मी० १।२७।२–२४); अर्थात् मुनि ने कहा कि मैं अस्त्रों को देता हूँ।··· (मुनि ने अस्त्रों के नाम कहे, और फिर) बुद्धिमान विश्वामित्रजी के जप करते ही वे सब अस्त्र श्रीरामजी के पास आ गये; अर्थात् श्रीरामजी ने उन्हें सीख लिया एवं वे विद्याएँ आकर अपने परम निधि में प्राप्त हो गईं। पुनः आगे वाल्मी० १।२८ में मुनि ने इन अस्त्रों का संहार (चलाये अस्त्रों का लौटाना) भी बत-लाया है। यहाँ 'कोदंड कला' का सिखाना कहा गया है, इसमें कोदण्ड-खण्डन

कला भी सिखाया होगा, यह जानकर प्रसन्न होंगी कि ये पिनाक कोदण्ड भी तोड़ डालेंगे।

'इन्हहीं ताड़का मारी...'—एक ही तीर में ताड़का-वध से इनका बल और अहल्योद्धार से प्रभाव का ज्ञान तथा यज्ञ-रक्षण में योद्धाओं का वध सुन कर इनकी युद्ध-निपुणता कही गई है।

'इन्हके बिमल गुन...'—शुद्ध रीति से छल-रहित इन्होंने ताड़का बध, मुनि वध उद्धार एवं राक्षस-बध आदि किये हैं। इससे बड़े-बड़े सत्यवादी महर्षि इनकी सराहना करते हुए पुलकित हो जाते हैं और आश्चर्य चरित जान कर ज्ञानी जनकजी को इन महर्षियों ने कह सुनाये हैं। कौशिकजी का इनके गुणों का वर्णन करना पद ६६-६७ में लिखा गया। श्रीशतानन्दजी ने उनका समर्थन किया एवं फिर एकान्त में श्रीजनकजी से कहा है, यह यहाँ के प्रमाण से सिद्ध है। प्रत्यक्ष में तो श्रीशतानन्दजी ने इस स्थल पर विश्वामित्र के प्रभाव की विशाल कथा कही है—पद ७० में वह कथा लिखी गई है।

'प्रभु पद मन दिये...'—उस समाज में प्रभु श्रीरामजी का प्रभुत्व श्रीजनक और कौशिकजी के संवाद से बहुत जाना गया। इससे ग्रन्थकार ने उन्हें हृदय से हुलस-हुलस कर गान किया है और प्रभु के चरणों में इनका मन भी प्रीतिपूर्वक लगा है। वही कृतज्ञता के रूप में आपने यहाँ कहा है।

राग कान्हरा

[७५]

सीय स्वयंबर, माई ! दोउ भाई आए देखन।
सुनत चलीं प्रमदा प्रमुदित मन,
प्रेम पुलकि तन मनहुँ मदन मंजुल पेखन ॥१॥
निरखि मनोहरताई सुख पाइ कहैं एक-एक सों,
'भूरि भाग हम, धन्य, आलि ! ए दिन, ए खन।'
तुलसी सहज सनेह सुरंग सब,
सो समाज चित्त-चित्रसार लागी लेखन ॥२॥

अर्थ—'हे माई ! (देखिये—) दोनों भाई श्रीराम-लक्ष्मण श्रीसीताजी का स्वयंवर देखने आये हैं'—यह सुनकर स्त्रियाँ मन में आनन्दित हो और प्रेम से

शरीर में पुलकित होकर (देखने) चलीं मानों मनोहर कामदेव को देखने के लिये जा रही हों ॥ १ ॥ इनकी सुन्दरता देख सुख पाकर एक-एक से कहती हैं--'हे आली ! हम सब बड़ी भाग्यशालिनी हैं । आज का यह दिन और ये क्षण धन्य हैं ।' श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इस प्रकार वे सब अपने स्वाभाविक स्नेह रूपी सुन्दर रंग से अपने चित्त रूपी चित्रशाला में उस समाज का चित्र लिखने लगीं ॥ २ ॥

विशेष—'सीय स्वयंबर···'; यथा—"सीय स्वयंबर देखिय जाई। ईस काहि धौं देइ बड़ाई ॥" (मा० बा० २३९); 'सुनत चलीं प्रमदा····'; यथा–"नख-सिख अंगनि ठगौरी····" (पद ७३) एवं "पेखनो सो पेखन चले हैं····" (पद ७३)—इनके विशेष देखिये ।

'मनहुँ मदन···'—यहाँ 'दोउ भाई' मानों 'मदन-मंजुल' हैं, अतः उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

'भूरि भाग हम····'; यथा—"एक कहै, कछु होउ, सुफल भये··अव लोके भरि नयन···" (पद ६८)—इसका विशेष देखिये । तथा –"एक कहहिं हम बहुत न जानहिं । आपुहि परम धन्य करि मानहिं ॥ ते पुनि पुन्य पुंज हम लेखे । जे देखहिं देखिहहिं जिन्ह देखे ॥" (मा० अ० ११९)।

'सहज सनेह सुरंग···'; यथा—"परम प्रेममय मृदु मसि कीन्हीं । चारु चित्त भीती लिखि लीन्हीं ॥" (मा० बा० २३४)। स्वाभाविक स्नेह अनुराग है, उसका रंग लाल कहा जाता है, उसी से चित्त रूप श्वेत दीवार पर चित्र लिखती हैं । सात्त्विक अहंकार चित्त है, इसका श्वेत रंग होता है । श्वेत दीवार पर लाल रंग का चित्र अच्छा आता है ।

अलङ्कार—रूपक ('सहज सनेह सुरंग··' इस चरण में)।

राग गौरी

[७६]

राम-लखन जब दृष्टि परे, री !
अवलोकत सब लोग जनकपुर मानो बिधि बिबिध बिदेह करे, री ॥१॥
धनुष जज्ञ कमनीय अवनि-तल कौतुक ही भए आइ खरे, री ।
छबि सुरसभा मनहुँ मनसिज के कलित कलपतरु रूप फरे, री ॥२॥

सकल काम बरषत मुख निरखत, करषत चित हित हरष भरे, री।
तुलसी सबै सराहत भूपहि भले पैत पासे सुढर ढरे, री ॥३॥

अर्थ—अरी सखी ! जब से श्रीराम-लक्ष्मणजी दृष्टिगोचर हुए हैं, तब से श्रीजनकपुर के सब लोग इन्हें ऐसे देखते हैं, मानों ब्रह्माजी ने भाँति-भाँति (अनेक) विदेह बना दिये हैं (; अर्थात् देहाध्यास-रहित सब यकटक देख रहे हैं) ॥ १ ॥ इस समय धनुष-यज्ञ के अत्यन्त सुन्दर भूमितल में क्रीड़ा-पूर्वक ही दोनों भाई आकर खड़े हो गये हैं; मानों छबिमयी देवसभा में कामदेव के मनोहर (दो) कल्पवृक्ष रूप रूपी फल फले हुए हैं ॥ २ ॥ इनके मुख, देखते ही (दर्शकों के लिये) सारी कामनाओं की वृष्टि करते हैं और चित्त को आकर्षित कर उसमें स्नेह और आनंद भर देते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि सब कोई राजा जनक की प्रशंसा करते हैं कि इनके अच्छी दाँव के अनुकूल पासे आ पड़े हैं (भाव यह कि पण करने से ही अचानक इन राजकुमारों के आने का संयोग हो गया, यह अद्भुत लाभ हुआ) ॥ ३ ॥

विशेष—'मानों बिधि···'—ब्रह्मा की सृष्टि गुण-अवगुण मिश्रित ही होती है। श्रीविदेह उससे निर्लिप्त हैं, प्राकृत-विकार रूपी दोषों से रहित हैं। इन्हें देख कर मानों स्पर्धा से ब्रह्मा ने विविध (भिन्न-भिन्न आकृति के अनेक) विदेह बना दिये कि क्या एक आप हो विदेह हैं, देखो, हमने बहुत-से विदेह बना दिये हैं। तथा—"प्रिय पाहुने जानि नर-नारिन्ह नयननि अयन दये। तुलसीदास प्रभु देखि लोग सब जनक समान भये॥" (पद ६३)—इसका विशेष भी देखिये।

'अवलोकत सब लोग···'; यथा—"जब ते राम-लखन चितए, री। रहे एकटक नर-नारि जनकपुर लागत पलक कलप बितए, री॥" (पद ७८)।

'धनुष यज्ञ···छबि सुरसभा····'—यहाँ धनुषयज्ञ की सुन्दर भूमि छबिमयी देवसभा है, श्रीराम-लक्ष्मणजी कामदेव के दो कल्पवृक्ष हैं और इनके रूप उस कल्पवृक्ष के फल हैं। इस प्रकार यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।

धनुष-यज्ञ की भूमि छबिमयी है, इसी से छबि सुरसभा रूप कही गई है; यथा—"जहँ धनुमख-हित भूमि बनाई॥" से "चितवत चकित धनुष-मख

साला ॥" (मा० बा० २२३-२२४) तक। इस रचना की प्रशंसा श्रीविश्वामित्रजी ने की है जो रचना करने में दूसरे ब्रह्मा हैं। श्रीराम-लछमणजी कामदेव से कहीं अधिक सुन्दर हैं, इससे कामदेव के कल्पवृक्ष कहे गये हैं। रूप रूपी फल से युक्त कल्पतरु हैं, इनकी छाया में कामनाओं की पूर्ति आगे कहते हैं—

'सकल काम बरषत···'—श्रीराम-लछमण दो कल्पवृक्ष हैं, कल्पवृक्ष छाया में जाने पर कामनाओं की पूर्ति करता है। ये मुख दर्शकों के लिये उनकी सारी कामनाओं की वर्षा कर देते हैं; यथा—"लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी" (मा० बा० १०६)—यह भरद्वाजजी ने श्रीरामजी से कहा है। तथा—"तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जौ चाहसि मन मेरो। तौ भजु राम काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरो॥" (वि० १६२)। पद ७३ 'नख-सिख अंगनि···' इसका विशेष भी देखिये। तथा—"बीर महा अवराधिये, साधे सिधि होय। सकल काम पूरन करै जानै सब कोय॥" (वि० १०८)। 'करषत चित'—अ० ४० देखिये। तथा—"चन्द्रकान्ताननं राममतीवप्रियदर्शनम्। रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम्।" (वाल्मी० २।३।२८-२९); अर्थात् चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख वाले प्रिय दर्शन श्रीरामजी को, जो अपने सुन्दर रूप से पुरुषों की आखों तथा उदारता आदि गुणों से चित्त का हरण करने वाले हैं। 'हित हरष भरे, री'—दर्शन से हर्ष एवं गुणों से स्नेह भर देते हैं।

'तुलसी सबै सराहत···'; यथा—"भूमिदेव, नरदेव, सचिव परस्पर कहत, हमहिं सुरतरु सिव धनु भो।" (पद ६६); तथा—"तुलसी सराहैं भाग कौसिक जनक जू के बिधि के सुढर होत सुढर सुदाय के।" (पद ६७)—इन दोनों पदों के विशेष देखिये।

[७७]

नेकु, सुमुखि, चित्त लाइ चितौ, री।
राजकुँवर-मूरति रचिबे की रुचि-सुचि बिरंचि श्रम कियो है कितौ, री ॥१॥
नख-सिख सुंदरता अवलोकत कह्यो न परत सुख होत जितौ, री।
साँवर-रूप-सुधा भरिबे कहँ नयन-कमल-कल-कलस रितौ, री ॥२॥

मेरे जान इन्हहिं बोलिबे कारन चतुर जनक ठयो ठाट इतौ री।
तुलसी प्रभु भंजिहैं संभु-धनु, भूरि-भाग सिय-मातु-पितौ, री ॥३॥

अर्थ—अरी सुमुखि! थोड़ा चित्त लगाकर देख तो, इन राजकुमारों की मूर्त्ति रचने की पवित्र रुचि करके ब्रह्माजी ने कितना परिश्रम किया है? ॥१॥ अरी! इनकी सुन्दरता नख से शिखा तक देखने पर जितना सुख होता है, वह कहा नहीं जाता। अरी! इस साँवले रूप रूपी अमृत भरने के लिये तू अपने नेत्रकमल रूपी सुन्दर कलशों को खाली कर ॥२॥ मेरी समझ में तो इन्हें बुलाने के लिये ही चतुर राजा जनकजी ने इतना ठाट-बाट ठाना (रचा) है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (वह कहती है—) प्रभु श्रीरामजी श्रीशिवजी का धनुष भी तोड़ेंगे। अतः, श्रीसीताजी के माता-पिता बड़े भाग्यशाली हैं ॥३॥

विशेष—'रुचि सुचि'—जिसके द्वारा सारे संसार को महान् सुख मिल रहा है, उस रुचि में ब्रह्मा का स्वार्थ-रहित परमार्थ है, इससे उसकी रुचि शुचि कही गई है।

'कह्यो न परत सुख...'; यथा—"सो सुख जानइ मन अरु काना। नहिं रसना पहिं जाइ बखाना॥" (मा० उ० ८७); "सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई॥" (मा० अ० ४); वैसा ही यहाँ का सुख भी अत्यधिक एवं अवर्ण्य है।

'नयन कमल कल...'—नेत्रों को अन्यत्र से हटाना उन्हें खाली करना है; अर्थात् अन्यत्र का देखना छोड़कर केवल इन्हीं को देख; यथा—"भूपति किसोर दुहूँ ओर, बीच मुनि राउ, देखिबे को दाउँ, देखो देखिबो बिहाइ कै॥" (पद ८४)।

'साँवर-रूप-सुधा' और 'नतन-कमल-कल-कलस' इनमें 'रूपक अलङ्कार' है।

'मेरे जान इन्हहिं बोलिबे कारन...'—श्रीजनकजी ज्ञानी हैं, साथ ही व्यवहार के भी चतुर हैं। धनुर्भंग का यह सब ठाट इन्होंने इसी लिये ठाना है कि जब श्रीजानकीजी अयोनिजा (अप्राकृत) बालिका उन्हें प्राप्त हुईं और उन्होंने भारी धनुष का संचालन भी बायें हाथ से कर दिया, तब इन्होंने अपनी चतुराई से ही यह प्रतीक्षा की है कि इस अप्राकृत शक्ति का कोई शक्तिमान भी अवश्य होगा, वह इस पण पर अवश्य प्रकट हो जायगा। क्योंकि इस

अयोनिजा कन्या के योग्य ही इसका वर भी अवश्य सृष्टि में होगा। आगे पद ७९ के 'तेहि चतुर बिधाता' इसका विशेष देखिये।

'प्रभु भंजिहैं...'—इनके अलौकिक रूप एवं तेज-प्रताप से इनमें प्रभुता भी है; यथा—"कोउ कहै, तेज-प्रताप पुंज,...छुअत सरासन सलभं..." (पद ६८)—इसका विशेष देखिये। इन्हें जामातृ रूप में पाकर श्रीसीताजी के माता-पिता बड़े भाग्यशाली होंगे; यथा—"सबहि भाँति मोहिं दीन्हि बड़ाई। निज जन जानि लीन्ह अपनाई॥ होहिं सहसदस सारद सेखा। करहिं कलप कोटिक भरि लेखा॥ मोर भाग्य राउरि गुनगाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा॥" (मा०बा०३४१); यह श्रीजनकजी ने स्वयं श्रीरामजी से कहा है।

राग सारंग

[७८]

जब ते राम-लखन चितये, री।
रहे एकटक नर-नारि जनकपुर, लागत पलक कलप बितये, री ॥१॥
प्रेम-बिबस माँगत महेस सों, देखत ही रहिये नित ये, री।
कै ये सदा बसहु इन्ह नयनन्हि, कै ये नयन जाहु जित ये, री ॥२॥
कोउ समुझाइ कहै किन भूपहि बड़े भाग आए इत ये, री।
कुलिस-कठोर कहाँ संकर-धनु, मृदु-मूरति किसोर कित ये, री ॥३॥
बिरचत इन्हहिं बिरंचि भुवन सब सुंदरता खोजत रित ये, री।
तुलसिदास ते धन्य जनम जन, मन-क्रम-बच जिन्हके हित ये, री ॥४॥

अर्थ—अरी सखी ! जब से श्रीराम-लक्ष्मणजी को देखा है, तब से श्रीजनकपुर के स्त्री-पुरुष यकटक देखते ही रह गये हैं, इन्हें पलक मारने में ऐसा जान पड़ता है मानों कल्प बीत गये ॥१॥ ये लोग इनके प्रेम के विशेष वश होकर श्रीशिवजी से ऐसा वरदान माँगते हैं कि हम सब नित्य इन्हें देखते ही रहें और या तो ये सदा इन नेत्रों में निवास करें अथवा ये नेत्र ही जहाँ ये रहें; वहाँ चले जायँ (भाव यह कि नेत्रों से इनका क्षणिक वियोग भी न हो) ॥२॥ राजा जनक से कोई समझा कर क्यों नहीं कहता कि ये बड़े भाग्य से इधर आ गये हैं (अतः, प्रतिज्ञा छोड़कर इनसे कन्या का विवाह कर दें, नहीं तो भला,) कहाँ बज्र से भी कठोर शिवजी का धनुष और कहाँ ये किशोर अवस्था के

कोमल मूर्त्ति ? ।।३।। इन्हें रचते हुए ब्रह्माजी ने सुन्दरता खोजने में समस्त भुवनों को खाली कर दिया है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जिनके मन, कर्म और वचन से ये प्यारे हैं, उन लोगों के जन्म धन्य हैं ।।४।।

विशेष—'जब ते राम-लखन…रहे एकटक…'; यथा—"राम-लखन जब दृष्टि परे री। अवलोकत सब लोग जनकपुर मानो बिधि बिबिध बिदेह करे, री ।।" (पद ७६)—इसका विशेष देखिये। 'लागत पलक…'—इसमें 'गम्योत्प्रेक्षा' है।

'प्रेम बिबस माँगत…'—प्रेम के विशेष वश होने से मुग्ध होकर यह माँगते हैं, नेत्रों में इनका सदा रहना एवं इनके पीछे नेत्रों का जाना ऐसा होता नहीं, यह वर्णन—इनका क्षणिक वियोग भी न हो—इसका प्रतिबिंब है। अतः, यहाँ 'ललित अलंकार' है। महेश से माँगते हैं, क्योंकि यहाँ शीघ्र वर मिलना चाहिये और शिवजी ही अवढर दानी हैं तथा आशुतोष भी हैं; यथा—"बिनती सुनहु सदा सिव मोरी ।। आसुतोष तुम्ह अवढर दानी।" (मा० अ० ४३)।

'कोउ समुझाइ कहै…'; यथा—"को जानै केहि सुकृत सयानी। नयन अतिथि कीन्हें बिधि आनी ।।" (मा० बा० ३३४); "कोउ न बुझाइ कहइ नृप पाहीं। ए बालक असि हठ भलि नाहीं ।। रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा ।। सो धनु राजकुँवर कर देहीं। बाल मराल कि मंदर लेहीं ।। भूप सयानप सकल सिरानी। सखि बिधिगति कछु जाति न जानी ।।" (मा० बा० २५५)। "कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदु गात किसोरा ।।" (मा० बा० २५७); "तुलसी नृपहि ऐसो कहि न बुझावै कोऊ, पन औ कुँवर दोऊ प्रेम की तुला धौं तारु ।।" (पद ८०)।

'बिरचत इन्हहिं बिरंचि…'; यथा—"सुखमा सुरभि सिंगार छीर दुहि मयन अमिअ मय कियो है दही, री। मथि माखन सिय-राम सँवारे, सकल भुवन छबि मनहुँ मही, री ।।" (पद १०६)।

'ते धन्य जनम जन…'; यथा—"ते धन्य तुलसीदास आस बिहाइ जे हरि रँग रये।" (मा० अर० ४५); "सुख पायेउ बिरंचि रचि तेही। ए जेहि के सब भाँति सनेही ।।" (मा० अ० १२१)।

[७६]

सुनु, सखि ! भूपति भलोई कियो, री।
जेहि प्रसाद अवधेस-कुँवर दोउ नगर लोग अवलोकि जियो, री ॥१॥
मानि प्रतीति कहे मेरे तैं कत सँदेह-बस करति हियो, री।
तौ लौं है यह संभु-सरासन, श्रीरघुबर जौ लौं न लियो, री ॥२॥
जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी, अरु रामहिं ऐसो रूप दियो, री।
तुलसिदास तेहि चतुर बिधाता निजकर यह संजोग सियो, री ॥३॥

अर्थ—अरी सखी ! सुन, राजा जनक ने अच्छा ही किया है जिसकी कृपा से अवध नरेश के दोनों बालकों को जनक नगर के लोग देखकर (अत्यन्त सुख-पूर्वक) जीवन धारण कर रहे हैं ॥ १ ॥ अरी, मेरे कहने से तू विश्वास मान, संशय के वश हृदय क्यों कर रही है ? अरी ! यह शिवजी का धनुष तभी तक बना हुआ है, जब तक रघुकुल श्रेष्ठ श्रीरामजी ने इसे अपने हाथ में नहीं लिया है ॥ २ ॥ (क्योंकि) जिस ब्रह्मा ने श्रीसीताजी को सँवार कर रचा है और फिर श्रीरामजी को भी ऐसा (तदुपयुक्त अत्यन्त सुन्दर) रूप दिया है (श्री-तुलसीदासजी कहते हैं कि) उसी चतुर विधानकर्त्ता (ब्रह्मा) ने अपने हाथों से ही यह (श्रीसीतारामजी के ब्याह का) संयोग बाँध रक्खा है एवं सजा रक्खा है ॥ ३ ॥

विशेष—'सुनु, सखि ! भूपति···'—ऊपर के पद में एक सखी ने राजा जनक को समझाने को कहा है—'कोउ समुझाइ कहइ किन भूपहि···'। उस पर यह सखी कहती है कि राजा को समझाने की क्या आवश्यकता है ! उन्होंने तो अच्छा ही किया है। 'भूपति' पद का भाव यह कि उनकी योग्यता पर ही तो भू देवी ने उन्हें कन्या देकर अपना पति माना है; यथा—"देखे सुने भूपति अनेक झूठे-झूठे नाम, साँचे तिरहुत नाथ, साखी देति मही है॥" (पद ८७)। अतः अपने अधीन पृथिवी मात्र की प्रजा को वे अपने सन्तान के समान मानते हैं, इसी से अपने तुल्य भोग देते हैं।

'जेहि प्रसाद अवधेस···'—वे स्वयं ब्रह्मानन्द के भोक्ता हैं, वही एवं उससे अधिक सुख अपने नगर के लोगों को देने के लिये उन्होंने विचार कर यह धनुर्भंग-पण किया है; यथा—"मेरे जान इन्हहिं बोलिबे कारन चतुर जनक

ठयो ठाट इतौ, री।" (पद ७७)—इसका विशेष देखिये। इसी प्रतिज्ञा पर इन राजकुमारों का आगमन हुआ है, इससे नगर के लोग भी श्रीजनकजी के समान ही ब्रह्मानन्द से बढ़कर परमानन्द के भोक्ता हुए; यथा—"जाहिं जहाँ जहँ बंधु दोउ तहँ-तहँ परमानंद ॥" (मा० बा० २२३); तथा—"तुलसिदास प्रभु देखि लोग सब जनक समान भए।" (पद ६३)—इसका विशेष देखिये। 'जियो, री' इसका भाव यह कि अब मृत्युमय संसार में न पड़ेंगे, सदा के लिये जीते-जागते एवं परमानन्दमय ही रहेंगे। 'नगर लोग' यह कहने का भाव यह कि नगर वाले प्रायः बड़े चतुर एवं धूर्त भी होते हैं, सहसा किसी में इनकी श्रद्धा एवं निष्ठा नहीं होती, पर श्रीरामजी ने सबको अपनी शोभा से आकर्षित कर लिया, यह भी जनक कृपा का विशेष महत्त्व है।

'प्रसाद' पद का मुख्य अर्थ 'प्रसन्नता' होता है। तदनुसार 'जेहि प्रसाद' का अर्थ 'जिसको प्रसन्न करने में' यह होगा। भाव यह कि आदिशक्ति ने श्रीजनकजी को पिता का गौरव दे रक्खा है। श्रीरामजी का अवतार कार्य आदिशक्ति के बिना हो नहीं सकता। अतः, उनकी प्राप्ति के लिये श्रीरामजी ने पहले मिथिला प्रान्त निवासी विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा करके उनको प्रसन्न किया, फिर अहल्योद्धार कर श्रीजनकजी के गुरु गौतमजी को दिव्य पत्नी दिया। तत्पश्चात् प्रजावत्सल श्रीजनकजी के नगर-निवासियों को परमानन्द प्रदान कर प्रसन्न किया। तब श्रीजनकजी की प्रसन्नता सम्पन्न हुई। अब धनुभंग-मात्र अवशिष्ट कार्य उनका कर देंगे, तब आदिशक्ति की प्राप्ति होगी—यह रहस्यात्मक भाव भी है।

'मानि प्रतीति···तौ लौं है····'—यह सखि हठात् विश्वास मानने को कहकर धनुभंग का सामर्थ्य 'श्रीरघुवर' इस विशेषण से श्रीरामजी में बतलाती है। 'श्री' पद के अर्थ—(१) कीर्त्ति, यश, (२) प्रभा-शोभा, (३) कान्ति, चमक—ये यहाँ संगत हैं, और 'रघुवर' का अर्थ 'रघुकुल में श्रेष्ठ श्रीरामजी' हैं। भाव यह कि जिन्होंने अहल्योद्धार कर कीर्त्ति पाई है और ताटका, मारीच, सुबाहु आदि को युद्ध में मारकर यश प्राप्त किया है, जो शोभा सम्पन्न रूपवाले हैं और जो तेजस्वी एवं प्रतापी हैं तथा रघुवंशियों में भी बढ़ कर वीर हैं; वे अवश्य धनुभंग करेंगे; यथा—"कोउ कहै तेज-प्रताप पुंज चितये नहिं जात

भिया रे। छुअत सरासन सलभ जरैगो ये दिनकर बंस दिया रे ॥" (पद ६८)-इसका विशेष देखिये। तथा—"तेज प्रताप बढ़त कुँवरन को, जदपि सँकोची बानि हैं ॥ बय किसोर बरजोर बाहुबल मेरु मेलि गुन तानिहैं। अवसि राम राजीव बिलोचन संभु-सरासन भानिहैं ॥" (पद ८०)। प्रतीति का दूसरा कारण भी आगे कहती है।

'जेहि बिरंचि रचि ···तुलसिदास तेहि चतुर बिधाता···'—चतुर व्यक्ति अपने श्रम से बनाये हुए पदार्थों को व्यर्थ नहीं करता। 'रचि सीय सँवारी'; यथा—"रूप रासि बिधि नारि सँवारी। रति सत कोटि तासु बलिहारी ॥" (मा० अ० २१); "ऐसी ललना सलोनी न भई, न है, न होनी, रत्यो रची बिधि जो छोलत छबि छूटी ॥···तुलसी निरखि सिय···" (अ० २१)। अतः, इनकी रचना में ब्रह्माजी ने बड़ा श्रम किया है; तथा—"राजकुँवर-मूरति-रचिबे की रुचि सुचि बिरंचि श्रम कियो है कितौ, री ॥" (पद ७७); इस प्रकार श्रीरामजी को रूप देने में उसने बड़ा श्रम किया है। ये दोनों (श्रीसीताजी और श्रीरामजी) एक दूसरे के योग्य हैं; अन्यथा दोनों व्यर्थ हो जायँगे; यथा—"तस्या देव्या यथा रूपमङ्गप्रत्यङ्गसौष्ठवम्। रामस्य च तथा रूपं तस्येयमसितेक्षणा ॥ ५१ ॥ अस्या देव्या मनस्तस्मिंस्तस्य चास्यां प्रतिष्ठितम्। तेनेयं स च धर्मात्मा मुहूर्तमपि जीवति ॥ ५२ ॥ दुष्करं कृतवान्रामो हीनो यदनया प्रभुः। धारयत्यात्मनो देहं न शोकेनावसीदति ॥ ५३ ॥" (वाल्मी० ५।१५); अर्थात् (श्रीहनुमान्‌जी ने अशोक वृक्ष के नीचे श्रीसीताजी को पहले देख कर कहा है—) इस स्त्री का जैसा शरीर है, इसके अङ्गों एवं प्रत्यङ्गों की जैसी सुन्दरता है, श्रीरामजी का शरीर भी वैसा ही सुंदर है, उनके अंग प्रत्यङ्ग भी वैसे ही गठीले हैं। अतएव यह उनके योग्य है ॥ ५१ ॥ इस देवी का मन श्रीरामजी में और श्रीरामजी का मन इस देवी में लगा हुआ है। अतएव ये और धर्मात्मा वे जीवन धारण कर रहे हैं ॥ ५२ ॥ श्रीरामजी इसके बिना जो जीवन धारण कर रहे हैं, शोक में प्राण त्याग नहीं करते, अवश्य यह बहुत ही दुष्कर कर्म वे कर रहे हैं ॥ ५३ ॥ तथा—"तुल्यशीलवयोवृत्तां तुल्याभिजनलक्षणाम्। राघवोऽर्हति वैदेहीं तं चेयमसितेक्षणा ॥५॥ (वाल्मी० ५।१६); अर्थात् शील, अवस्था, व्यवहार और कुल से श्रीरामजी श्रीसीताजी के लिये

योग्य हैं और श्रीसीताजी श्रीरामजी के लिये योग्य हैं (यह भी वहीं पर श्रीहनुमान्‌जी ने ही कहा है)।

ब्रह्माजी चतुर हैं, वे इन दोनों का संयोग अवश्य करेंगे (दोनों के अन्योन्य योग्य लक्षणों से यह सिद्ध है कि ब्रह्माजी ने इन दोनों का सम्बन्ध नियत कर रक्खा है सी रक्खा है एवं सृज रक्खा है, उत्पन्न कर रक्खा है।) 'सियो' का अर्थ 'षिञ-बन्धने' इस धातु के अनुसार 'सी रक्खा है' यह होता है तथा सृज्यो का तद्भव रूप मानने पर 'सृज रक्खा है' 'उत्पन्न कर रक्खा है' यह होता है। अतः, सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है।

नगर-प्रदर्शन-प्रसंग में अष्ट सखियों का निर्णय भी ऐसा ही है—"सखि इन्ह कहँ कोउ-कोउ अस कहहीं। बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं॥ परसि जासु पद पंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघ भूरी॥ सो कि रहिहि बिनु सिव धनु तोरे। यह प्रतीति परिहरिय न भोरे॥ जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बर रचेउ बिचारी। तासु बचन सुनि सब हरषानी।" (मा०बा०२२२)।

आगे पद में प्रत्यक्ष कारणों से भी इन दोनों के व्याह सम्बन्ध का निश्चय करती हैं।

[८०]

अनुकूल नृपहि सूलपानि हैं।
नीलकंठ कारुन्यसिंधु हर दीनबन्धु दिन्नदानि हैं॥१॥
जो पहिले ही पिनाक जनक कहँ गये सौंपि जियजानि हैं।
बहुरि त्रिलोचन लोचन के फल सबहि सुलभ किये आनि हैं॥२॥
सुनियत भव - भावते राम हैं सिय - भावती - भवानि हैं।
परिखत प्रीति - प्रतीति पयज - पन रहे काज ठटु ठानि हैं॥३॥
भये बिलोकि बिदेह नेहबस बालक बिनु पहिचानि हैं।
होत हरे होने बिरवनि दल सुमति कहति अनुमानि हैं॥४॥
देखियत भूप भोर के-से उडुगन, गरत गरीब गलानि हैं।
तेज - प्रताप बढ़त कुँवरनि को जदपि सँकोची बानि हैं॥५॥
बय किसोर, बरजोर बाँहुबल मेरु मेलिगुन तानि हैं।
अवसि राम राजीव - बिलोचन संभु - सरासन भानि हैं॥६॥

देखिहैं ब्याह-उछाह नारि-नर, सकल-सुमंगल-खानि हैं।
भूरिभाग तुलसी तेउ, जे सुनि हैं, गाइ हैं, बखानि हैं॥ ७॥

अर्थ—श्रीमहादेवजी राजा जनक के अनुकूल हैं। वे करुणा के सागर, नील कण्ठ श्रीशिवजी दीनबन्धु और नित्य दीनों को दान देने वाले हैं॥ १॥ जिन श्रीशिवजी ने पहले ही इन भविष्य की बातों को हृदय में जान कर पिनाक धनुष श्रीजनकजी को सौंपा था, फिर उन्हीं त्रिलोचन भगवान् ने सभी के लिये नेत्रों के फल रूप इन राजकुमारों को ले आकर सुलभ कर दिया है॥ २॥ सुना जाता है कि श्रीरामजी श्रीशिवजी को प्यारे हैं और श्रीजानकीजी श्री-पार्वतीजी को भाती (सोहाती) हैं। अभी तक वे (श्रीशिव-पार्वतीजी) इन (श्रीराम-जानकीजी) की प्रीति-प्रतीति एवं (राजा लोगों के) प्रतिज्ञा-पूर्ति के हठ की तथा (राजा जनक की) प्रतिज्ञा की दृढ़ता की परीक्षा कर रहे हैं, इसीसे कार्य का ठाट ठट कर इसमें विलम्ब कर रहे हैं॥ ३॥ स्वाभाविक विरक्त विदेह राजा जनकजी इन बालकों को देख कर बिना पहचाने ही स्नेहवश हो गये हैं (यह आश्चर्य घटना भी इनसे भावी सम्बन्ध की बात प्रकट करती है); क्योंकि सुन्दर बुद्धि ऐसा अनुमान करके कहती है कि होनहार वृक्षों के हरे पत्ते होते हैं॥ ४॥ यद्यपि (इन बालकों के) संकोची स्वभाव हैं तथापि इन कुमारों के तेज और प्रताप बढ़ते हैं और इनके समक्ष राजा लोग प्रातः-काल के तारागणों की भाँति देख पड़ते हैं, बेचारे ग्लानि से गले जाते हैं॥ ५॥ ये कुमार अभी किशोर अवस्था के और ये प्रबल बाहु बल वाले हैं। अतः ये सुमेरु पर्वत में भी रोदा पहना कर उसे तानेंगे। अवश्य कमल-नयन श्रीरामजी श्रीशिवजी का धनुष तोड़ डालेंगे॥ ६॥ यहाँ के स्त्री-पुरुष सब समस्त सुमङ्गलों की खान हैं, इससे इनके ब्याह का उत्साह देखेंगे। श्रीतुलसी-दासजी कहते हैं कि जो इसे सुनेंगे, गावेंगे और इसका वर्णन करेंगे, वे भी महाभाग्यशाली हैं॥ ७॥

विशेष—'अनुकूल नृपहि···'—सब प्रकार की पीड़ाओं (शूलों) का नाश करने वाला त्रिशूल हाथ में लिये हुए श्रीशिवजी जब राजा के प्रति अनु-कूल हैं तो अवश्य इनके शूलों (दुःखों) का नाश करेंगे। आगे इसीके अनु-कूल गुणों का वर्णन करते हैं।

'नीलकंठ कारुन्यसिंधु हर'—जब समुद्र-मन्थन समय हालाहल प्रकट हुआ, तब देव और असुर शिवजी की शरण गये, इस पर करुणासागर श्रीशिवजी ने इन सब पर करुणा करके उस विषका पान कर इनके क्लेशों का हरण किया है। उस विष ने अपना प्रभाव दिखाया है, उसीसे शिवजी का कण्ठ नीला हो गया है; किन्तु इनकी करुणा का सूचक होने से वह चिह्न भूषण रूप है; यथा—"ततः करतली कृत्य व्यापि हालाहलं विषम्। अभक्षयन्महादेवः कृपया भूतभावनः ॥ ४२ ॥ तस्यापि दर्शयामास स्ववीर्यं जलकल्मषः। यच्चकार गले नीलं तच्च साधोर्विभूषणम् ॥ ४३ ॥" (भाग० ८।७); अर्थात् भूतभावन महादेवजी ने करुणावश उस सर्वतो व्याप्त हालाहल विष को हथेली में लेकर पी लिया ॥ ४२ ॥ जल के दोष रूप उस विष ने महादेवजी पर भी अपना प्रभाव दिखाया, उससे नील-कण्ठ (शिवजी) के कण्ठ में नीलिमा आ गई; किन्तु वह नील वर्ण चिह्न परोपकारी शिवजी के लिये आभूषण हो गया ॥४३॥ भाव यह कि सामान्य सुरा-सुर पर भी इतनी करुणा की है, उनके क्लेशों का हरण किया है और इन गुणों को प्रकट करने के लिये आप नील-कण्ठ हैं। इन राजा जनक पर तो अनुकूल हैं, तब इनके शूल हरण में तो सन्देह करने की बात ही नहीं है।

'दीन बन्धु दिन दानि हैं'—दीनों के सहायक और दिन प्रति (नित्य) दान देने वाले हैं। अतः, यह शङ्का नहीं कि पहले ऐसे थे, अब नहीं होंगे। भाव यह कि हम लोग पिनाक की कठिनता पर दीन हैं तो शिवजी अवश्य हमारी सहायता करेंगे और हमें अभीष्ट-सिद्धि रूपी दान देंगे। धनुष तोड़ा कर हमारा अभीष्ट दान देंगे। आगे अनुकूलता-सिद्धि के प्रमाण दिये जाते हैं—

'जो पहिले ही पिनाक जनक कहँ…' शिवजी ने पहिले ही यह समझ बूझ कर पिनाक धनुष राजा जनक के पूर्वज श्रीदेवरात जनक को दिया था कि भविष्य में यह काम आयेगा; यथा—"श्रूयतामस्य धनुषो यदर्थमिह तिष्ठति ॥ ७ ॥ देवरात इति ख्यातो निमेर्ज्येष्ठो महीपतिः। न्यासोऽयं तस्य भगवन्हस्ते दत्तो महात्मनः ॥ ८ ॥" (वाल्मी० १।६७); अर्थात् राजा जनकजी ने श्रीविश्वामित्र मुनि से कहा है कि इस धनुष का वृत्तान्त सुनिये, जिस लिये यह

यहाँ रक्खा गया है। निमि महाराज के ज्येष्ठ पुत्र देवरात जनक (निमि के वंश में छः पीढ़ी पीछे देवरात जनक हुए हैं वाल्मी० १।७१।३–६, उन) को यह धनुष न्यास रूप (थाती) मिला था।

'बहुरि त्रिलोचन लोचन के फल···'—श्रीरामजी सभी के नेत्रों के फल स्वरूप हैं; यथा—"फल लोचन आपन तौ लहिहैं।" (क० अ० २२); अर्थात् वनवासिनी सखी ने कहा है कि श्रीरामजी सबके नेत्रों के फल हैं। तथा—"करहु सुफल सबके नयन, सुंदर बदन देखाइ॥" (मा० बा० २१८); पद ४१ के 'लोचननि को लेत फल···' एवं पद ४८ के 'आज सकल सुकृत फल···'—इनके विशेष देखिये। श्रीशिवजी ने भी अपने तीनों नेत्रों से इन्हीं को देखने में अपने नेत्रों की सफलता मानी है; यथा—"संकर राम रूप अनुरागे। नयन पंचदस अति प्रिय लागे॥" (मा० बा० ३१६); "राम प्रगट भए आइ। जे हर हिय नयनन्हि कबहुँ, निरखे नहीं अघाइ॥" (मा० अ० २०६)।

उन श्रीशिवजी ने ही इन अलौकिक तेजस्वी को यहाँ लाकर प्रकट कर दिया है, भाव यह कि इस दिव्य धनुष के तोड़ने के लिये ही मानों उन्होंने इन दिव्य राजकुमारों को यहाँ प्रेरणा करके प्राप्त कराया है। अर्थात्, धनुर्भङ्ग-प्रतिज्ञा भी पूरी होगी।

'सुनियत भव-भावते राम हैं···'—ऊपर की बातों से निश्चित हुआ था कि अलौकिक तेजस्वी रूपवाले श्रीरामजी इस धनुष को तोड़ सकते हैं, फिर शिव-पार्वती इस कार्य की पूर्त्ति में विलम्ब क्यों करा रहे हैं? इस पर कहा जाता है कि श्रीरामजी शिवजी को प्यारे हैं और वैसी ही श्रीसीतजी श्रीपार्वतीजी को प्रिय हैं; परन्तु इन दोनों के संयोग के कारण रूप धनुर्भंग-प्रतिज्ञा पूर्त्ति में विलम्ब इस लिये हो रहा है कि शिवजी श्रीरामजी की प्रीति परख रहे हैं, अपने में उनकी दृढ़ प्रीति पाकर धनुष तोड़ने की उन्हें प्रेरणा करेंगे। श्रीपार्वतीजी श्रीजानकीजी की प्रतीति परख रही हैं कि मैंने जो वरदान दिया था कि स्यामल श्रीरामजी ही तुम्हें पति मिलेंगे, उसमें इनका विश्वास है कि नहीं। अटल प्रतीति पाकर वे श्रीजानकीजी से प्रेम-पण दृढ़ करा देंगी, उसी पर तुरत श्रीराम-जी धनुष तोड़ देंगे। राजाओं से प्रतिज्ञा-पूर्त्ति के साहस की भी परीक्षा कर रहे हैं, जब पराक्रम करके वे हार जायँगे, तब शिवजी धनुष तोड़वायेंगे और

राजा जनक की पण-दृढ़ता की परीक्षा कर रहे हैं, जब उनकी प्रतिज्ञा अडिग स्थापित हो जायगी, तब शिवजी धनुष तोड़वायेंगे।

'भये बिलोकि बिदेह नेह बस…'; यथा—"भये बिदेह-बिदेह नेह बस देह दसा बिसराए।" (पद ६५) देखिये। राजा जनक जन्म ही से प्राकृत पदार्थों से निर्लिप्त हैं, उनकी इनमें स्नेह की आसक्ति भी इनमें दिव्यता प्रकट कर रही है; यथा—"मुनि गन गुरु धुर धीर जनक-से ज्ञान अनल मन कैसे कनबासे॥ जे बिरंचि निरलेप उपाये। पदुमपत्र जिमि जग जल जाये॥" (मा० बा० ३१६); तथा—"सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥ ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥ इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा॥" (मा० बा० २१५)। इन बालकों पर बिना जान-पहचान के भी सहज विदेह की आसक्ति हो गई। अतः, ये कोई दिव्य पुरुष हैं, इसी से तो इन्हें देखकर राजा जनक का शुद्ध मन चिरअभ्यसित ब्रह्मानन्द का त्याग कर इनमें अनुरक्त हो गया है।

'होत हरे होने बिरवनि दल…'—इन्होंने अहल्या तारी है, ताड़का मारी है और मारीच-सुबाहु आदि को जीता है, इनके ये कर्म ही इनकी भावी योग्यता का परिचय देते हैं कि ये धनुर्भंग भी करेंगे; जैसे हरे-हरे दलों को देख कर होनहार वृक्ष की भावी उन्नति जानी जाती है; यथा—"सखि इन्ह कहँ कोउ-कोउ अस कहहीं। बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं॥ परसि जासु पद-पंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघ भूरी॥ सो कि रहिहि बिनु सिव धनु तोरे। असि प्रतीति परिहरिय न भोरे॥" (मा० बा० २२२)। यहाँ 'लोकोक्ति अलङ्कार' है। यहाँ तक सुमति का अनुमान कहा है, आगे प्रत्यक्ष बातों से उक्त बात को दृढ़ करती है—

'देखियत भूप भोर के-से उडुगन…'—जैसे सूर्य का उदय होते समय पहले ही से ताराओं की द्युति मंद पड़ने लगती है और सूर्य का तेज-प्रताप बढ़ने लगता है, वैसे ही इन कुमारों का तेज-प्रताप स्वभावतः बढ़ता है और राजा लोगों का ताराओं की भाँति घटता है; यथा—"अरुनोदय सकुचे कुमुद, उडुगन जोति मलीन। तिमि तुम्हार आगमन मुनि, भये नृपति बलहीन॥"

से "रबि निज उदय ब्याज रघुराया। प्रभु प्रताप सब नृपन्हि दिखाया॥" (मा० बा० २३७-२३८) तक। तथा—"अरुन उदित, बिगत सरबरी, ससांक किरन हीन, दीन दीप जोति, मलिन-दुति समूह तारे।" (पद ३८)।

'जदपि सँकोची बानि है।'—भाव यह कि श्रीरामजी, गुरुजी के साथ विनम्र भाव से हैं, कुछ अहङ्कारयुक्त नहीं बोलते, तब भी इनका सहज तेज-प्रताप बढ़ता है, वह इनके बल को प्रकट करता है; यथा—"तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ।" (जानकी मंगल ३७)। अतः, ये अवश्य धनुष तोड़ेंगे, यही आगे स्पष्ट कहते हैं—

'बयकिसोर बरजोर बाहुबल...'—किशोर अवस्था के साथ ही युवा आती है, इसमें कार्य का उत्साह होता है; यथा—"यथा मत्त गुन गन निरखि, सिंह किसोरहि चोप॥" (मा० बा० २६७)। बाहुबल को ही बरजोर कहा हैं; क्योंकि यहाँ धनुष तोड़ने में इसी की आवश्यकता है। सुमेरु गिरि का नवाना एवं चढ़ाना धनुष की अपेक्षा बहुत कठिन है। अतः, ऐसा कह कर इनके समक्ष धनुष का चढ़ाना अत्यन्त सुगम कहा गया है; यथा—"सुनहुँ भानुकुल-कमल-भानु! जो अब अनुसासन पावौं। का बापुरो पिनाक मेलि गुन मंदर मेरु नवावौं॥" (पद ८९)। तथा—"सुनहुँ भानुकुल-पंकज-भानू। कहौं सुभाउ न कछु अभिमानू॥......सकौं मेरु मूलक जिमि तोरी॥ तव प्रताप महिमा भगवाना। का बापुरो पिनाक पुराना॥" (मा० बा० २५२); यह श्रीलक्ष्मण-जी ने कहा है। अतः—'अवसि राम...'।

'देखिहैं ब्याह उछाह...'—श्रीजनकपुर के स्त्री-पुरुष समस्त सुमंगलों एवं सुलक्षणों की खान हैं, इससे इन्हें यह ब्याह-उत्साह देखने को मिलेगा; यथा—"हम सब सकल सुकृत कै रासी। भये जग जनमि जनकपुर बासी॥ जिन्ह जानकी राम छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेखी॥ पुन देखब रघुबीर बिआहू। लेब भली बिधि लोचन लाहू॥ कहहिं परस्पर कोकिल बयनी। येहि बिबाह बड़ लाभ सुनयनी॥" (मा० बा० ३०९)।

'भूरि भाग तुलसी तेउ, जे...'; यथा—"लोचन सजल, तनु पुलक, मगन मन, होत भूरि भागी जस तुलसी बखानि कै॥" (अ० ३१); तथा—"तुलसी तिन्ह सरिस तेऊ भूरिभाग जेऊ सुनि कै सुचित तेहि समय समै हैं॥" (अ० ३७)।

राग केदारा

[८१]

रामहिं नीके निरखि, सुनैनी ।
मनसहु अगम समुझि, यह अवसर कत सकुचति, पिक-बैनी ॥ १ ॥
बड़े भाग मख-भूमि प्रगट भई सीय सुमंगल-ऐनी ।
जा कारन लोचन-गोचर भइ मूरति सब सुख दैनी ॥ २ ॥
कुलगुरु-तिय के मधुर बचन सुनि जनक-जुवति मति-पैनी ।
तुलसी सिथिल देह-सुधि-बुधि करि सहज-सनेह-बिषैनी ॥ ३ ॥

अर्थ—[श्रीशतानन्दजी की पत्नी श्रीसुनैनाजी से कहती हैं—] 'हे सुनयनी ! श्रीरामजी को भली-भाँति देख लो । हे कोकिल वचनी ! इन्हें मन से भी अगम समझो, इस अवसर पर इन्हें देखने में क्यों संकोच कर रही हो ? ॥ १ ॥ जिस (श्रीसीताजी) के कारण समस्त सुखों को देने वाली यह (श्रीरामजी की) मूर्त्ति हम सबके नेत्रों का विषय हुई है, वह समस्त सुन्दर मङ्गलों की आश्रयभूता श्रीसीता हम सब के बड़े भाग्य से यज्ञभूमि में प्रकट हुई है' ॥ २ ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि कुलगुरु श्रीशतानन्दजी की स्त्री के इन मीठे वचनों को सुनकर कुशाग्रबुद्धि श्रीजनकजी की स्त्री श्रीसुनयनाजी शरीर की सुधि-बुधि शिथिल करके स्वाभाविक स्नेह की दृष्टि से देखने लगीं ॥ ३ ॥

विशेष—'मनसहु अगम समुझि'—श्रीरामजी मन से भी अगम हैं; अर्थात् इनका ध्यान भी बड़े भाग्य से होता है; यथा—"राम प्रगट भये आइ । जे हर हिय-नयनन्हि कबहुँ, निरखे नहीं अघाइ ॥" (मा० अ० २०९); "ठाकुर अतिहि बड़ो, सील, सरल, सुठि । ध्यान अगम सिवहूँ, भेट्यो केवट उठि ।" (वि० १३५) ।

'बड़े भाग मखभूमि...जा कारन...' यथा—"सोधत मखमहि जनकपुर, सीय सुमंगलखानि । भूपति पुन्यपयोधि जनु, रमा प्रगट भइ आनि ॥" "जनक नंदिनी जनकपुर, जब ते प्रगटीं आइ । तब ते सब सुख संपदा, अधिक-अधिक अधिकाइ ॥" (रामाज्ञा प्रश्न ४।४।५, ४।५।१); "सीय सुता भै जासु सकल मंगल मइ ।" (जानकी मंगल ४) । श्रीजनकजी ने श्रीविश्वामित्रजी

से कहा है; यथा—"अथ मे कृषतः क्षेत्रं लाङ्गलादुत्थिता ततः ॥१३॥ क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता।" (वाल्मी० १।६६); अर्थात् मैं खेत खोद (जोत) रहा था, उसमें हल में टकरा कर एक कन्या निकल आई ॥१३॥ सीता (हल की नोक) से मैं खेत बना रहा था, इससे यह कन्या प्राप्त हुई। अतः सीता नाम से प्रसिद्ध हुई। तथा—"अथ लोकेश्वरी लक्ष्मीर्जनकस्य पुरे स्वतः। शुभक्षेत्रे हलात्खाते तारेचोत्तरफाल्गुने ॥ अयोनिजा पद्मकरा बालार्कशशिसन्निभा। सीतामुखे समुत्पन्ना बालभावेन सुन्दरी ॥ सीतामुखोद्भवात्सीता इत्यस्या नाम चाकरोत् ॥" (पद्मपुराण-हरिहरप्रसाद-टीका से उद्धृत तथा—"सर्वर्त्तुनिकरश्रेष्ठे ऋतौ तु कुसुमाकरे। मासि पुण्यतमे विप्र माधवे माधवप्रिये ॥ नवम्यां शुक्लपक्षे च वासरे मङ्गले शुभे। सार्पर्क्षे च मध्यान्हे जानकी जनकालये ॥ आविर्भूता स्वयं देवी यागेषु गतिरुत्तमा ॥" (भविष्य पुराण-हरिहर प्रसाद-टीका से उद्धृत)।

'जनक जुवति मति पैनी'; यथा—"को बिबेकनिधि वल्लभहिं, तुम्हहिं सकइ उपदेसि ॥" (मा० अ० २८३)। 'सहज सनेह बिषैनी'—स्वाभाविक स्नेह-विषयक दृष्टि से देखने लगी। कुलगुरु-तिय के वचन सुनकर तीक्ष्ण बुद्धि से यह निश्चित कर लिया कि दिव्य रीति से दिव्य कन्या उत्पन्न हुई है। तो उसके योग्य वर भी अवश्य मिलना ही चाहिये। श्रीरामजी ठीक इसके योग्य हैं। अतः इनका संयोग अवश्य होगा—पद ७९ का अंतिम चरण देखिये। पहले सन्देह था। कि ये धनुष कैसे तोड़ेगे ? अब निस्सन्देह होने से स्वाभाविक स्नेह से देखने लगीं।

इस पद के आशय समझ कर श्रीसुनैनाजी की कोई सखी महारानी को अनुकूल समझ राजा जनक के प्रति समझाने के लिये आगे अन्य सखी से कहती है—

[८२]

मिलो वर सुंदर सुंदरि सीतहि लायक
साँवरो सुभग, सोभाहूँ को परम सिंगारु।
मनहुँ को मन मोहै, उपमा को कोहै ? सोहै,
सुखमा-सागर-संग अनुज राजकुमारु ॥ १ ॥

ललित सकल अंग, तनु धरे कै अनंग,
नैननि को फल कै धौं, सिय को सुकृतसारु ।
सरद-सुधा-सदन-छबिहि निंदै बदन,
अरुन आयत नवनलिन-लोचन चारु ॥ २ ॥
जनक-मन की रीति जानि बिरहित प्रीति,
ऐसीऔ मूरति देखे रह्यो पहिलो बिचारु ।
तुलसी नृपहि ऐसो कहि न बुझावै कोउ,
'पन औ कुँवर दोऊ प्रेम की तुला धौं तारु' ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—तारु = ठीक माप करु, तौल ।

अर्थ—अरी सखी ! यह (मूर्त्तिमान्) शोभा का भी परम श्रृङ्गार रूप अत्यन्त मनोहर श्याम वर्ण वाला सुन्दर वर श्रीसीताजी के योग्य है । अतः परम सुन्दरी श्रीसीताजी को ही मिलना चाहिये । यह मन के भी मन को मोहित करते हैं, इनकी उपमा के योग्य और कौन हो सकता है ? इनके साथ इनका छोटा भाई परम शोभा का समुद्र राजकुमार सुशोभित है ॥ १ ॥ इनके सभी अंग मनोहर हैं, ये क्या शरीरधारी कामदेव, नेत्रों के फल अथवा श्रीसीताजी के पुण्यों के सार (फल) हैं ? इनका मुख शरद ऋतु के चन्द्रमा की छवि की निन्दा करता है और इनके सुन्दर लाल-लाल विशाल नेत्र नवीन कमल के समान हैं ॥ २ ॥ ऐसी मनोहर मूर्त्ति को देखकर भी यदि श्रीजनकजी का पहला विचार (प्रण-पूर्ति पर कन्या देने का) बना ही रह गया है तो जानना चाहिये कि उनके मन की रीति प्रीति-विहीन है । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं (कि वह सखी कहती है) कि राजा जनक को कोई ऐसा कह कर क्यों नहीं समझाता कि—'प्रतिज्ञा और श्रीरघुनाथ कुँवर—इन दोनों को प्रेम की तराजू में तौलो तो ! (कौन अधिक ठहरता है ?) ॥ ३ ॥

विशेष—'मिलो बरु सुंदर····'; यथा—"येहि लालसा मगन सब लोगू । बर साँवरो जानकी जोगू ॥" (मा०बा०२४८); तथा पद ७९ का अंतिम चरण देखिये ।

'सोभा हू को···'—शोभा को भी सुशोभित करनेवाले हैं; अर्थात् अत्यन्त शोभा वाले हैं । ऐसे ही 'मन हू को मन मोहै' इसका भी भाव है कि अत्यन्त मोहित करनेवाले हैं ।

'सोहैं सुखमासागर संग अनुज…'; यथा—"पाछे गौर किसोर मनोहर, लोचन बदन उदार।" (अ० २६)।

'ललित सकल अंग…'; यथा—"आगे राजिव नयन स्याम तनु सोभा अमित अपार। डारौं बारि अंग-अंगनि पर कोटि-कोटि सत मार॥" (अ०२६)।

'नैनन को फल कैधौं'--पद ४१ के 'लोचननि को लेत फल…'तथा—"आजु सकल सुकृत फल पाइहौं।" (पद ४८)-इनके विशेष देखिये। 'कैधौं सिय को सुकृत सारु'—पुण्य का फल ही भोग्य होता है, ये श्रीसीताजी के योग्य एवं उनके भोग्य होने योग्य हैं। अतएव उनके पुण्य के सार रूप भी कहे गये हैं।

'सरद सुधासदन छबिहि…'; यथा—"सरदचंद-निंदक मुख नीके। नीरज नयन भावते जीके॥" (मा० बा० २४२)। 'अरुन आयत…'; यथा-"नव कंज लोचन कंज मुख कर कंज पद कंजारुनं।" (वि० ४५)।

'जनक मन की रीति…'; यथा—"ये जाने बिनु जनक जानियत करि पन भूप हँकारे। नतरु सुधा सागर परिहरि कत कूप खनावत खारे॥" (पद ६६)- इसका विशेष देखिये। यदि राजा जनक इन्हें देख कर भी प्रतिज्ञा पर आरूढ़ हैं तो वे अवश्य प्रीति रहित हैं।

'पन औ कुँवर दोऊ प्रेम की तुला धौं तारु'--प्रेम की दृष्टि से देखने पर प्रतिज्ञा-रक्षण की अपेक्षा इनका ही अधिक आदर होना चाहिये; यथा—"बिनु प्रयास सब साधन को फल प्रभु पायो सो तो नाहिं सँभारे। हरि तजि धरम-सील भयो चाहत, नृपति नारिबस सरबस हारे॥ रुचिर काँच मनि देखि मूढ़ ज्यों करतल ते चिंतामनि डारे। मुनि-लोचन-चकोर, ससि-राघव, सिव जीवन धन सोउ न बिचारे॥" (अ० २)। प्रतिज्ञा रक्षण धर्म है और श्रीराम-प्रेम धर्म का फल है; यथा—"बेद-पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू॥" (मा० बा० २६)। अतएव धर्म-रक्षण से राम-प्रेम श्रेष्ठ है।

[८३]

देखि-देखि री! दोउ राज-सुवन।
गौर स्याम सलोने, लोने लोने लोयननि,
जिन्ह की सोभा ते सोहैं सकल भुवन॥१॥

इन्ह ही ताड़का मारी, मग मुनि-तिय तारी,
रिषि-मख राख्यो, रन दले हैं दुवन।
तुलसी प्रभु को अब जनक नगर-नभ,
सुजस-बिमल-बिधु चहत उवन ॥ २ ॥

अर्थ—अरी सखी! इन दोनों राजकुमारों को देख, देख! इनके शरीर लावण्यमय श्याम-गौर वर्ण हैं और सुन्दर-सुन्दर नेत्र हैं, जिनकी शोभा से सारा भुवन शोभायमान हो रहा है ॥ १ ॥ इन्होंने ही ताड़का मारी है और मार्ग में मुनि की स्त्री अहल्या तारी है, ऋषि विश्वामित्रजी के यज्ञ की रक्षा की है और उसी में युद्ध करके शत्रु (मारीच-सुबाहु आदि) का नाश किया है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (वह सखी कहती है-) अब श्रीजनक नगर रूपी आकाश में प्रभु श्रीरामजी के सुयश रूपी निर्मल चन्द्रमा का उदय होना ही चाहता है ॥२॥

विशेष—'देखि देखि री!…'—आश्चर्यचकित होकर यह 'देखि-देखि' इस प्रकार दो बार कहती है। अतः आश्चर्य एवं आदर में 'वीप्सा अलङ्कार' है। 'देखि' पद का 'देखु' अर्थ है।

'जिनकी सोभा ते…'; यथा—"तारन तरन हरन सब दूषन। तुलसिदास प्रभु त्रिभुवन-भूषन ॥" (मा० उ० ३५); दोनों भाई आदर्श पुरुष हैं, इनके अनुसार चलने से समस्त संसार सुशोभित होता है। श्रीवैजनाथजी ने नेत्रोंकी ही शोभा से भुवनों का सुशोभित होना अर्थ किया है कि इन्हीं नेत्रों से सूर्य हुए हैं; यथा—"चक्षोः सूर्योऽजायत।" (पुरुष सूक्त); उन्हीं सूर्य के उदय से सारा संसार शोभित होता है। आगे अपने प्रयोजन-सिद्धि की बात कहती है—

'इन्ह ही ताड़का मारी….'—इन कर्मों से इनमें अलौकिक वीरता एवं बड़ा प्रभाव सिद्ध होता है। अतः, शिव-धनुष भी तोड़ेंगे, ऐसा अनुमान होता है—पद ७४ के 'इन्हही ताड़का मारी…रिषि-मख रखवारे…'—इनका विशेष देखिये। तथा पद ७९ देखिये।

'तुलसी प्रभु को अब…'—उक्त कर्मों से निश्चित है कि ये जनक-पण पूर्ण कर विश्व-विजय का यश प्राप्त करेंगे; यथा—"कन्या, कल कीरति, बिजय बिस्व की बटोरि, कैधौं करतार इन्ह ही को निरमई है।" (पद ८६); तथा—"बिस्व-बिजय जस जानकि पाई। आए भवन…" (मा० बा० ३५६)।

"प्रभु' पद उपयुक्त सामर्थ्य के अनुसार दिया गया है। सुयश चन्द्र; यथा— "नव बिधु बिमल तात जस तोरा।" (मा० अ० २०८); "जिन्ह के जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे॥" (मा० बा० २९१)। 'चहत उवन,— अब यशचन्द्र का उदय होता ही है बिलम्ब नहीं है।

राग टोड़ी

[८४]

राजा रंगभूमि आजु बैठे जाइ-जाइ कै।
आपने-आपने थल, आपने-आपने साज,
आपनी-आपनी बर बानिक बनाइ कै॥१॥
कौसिक सहित राम लखन ललित नाम,
लरिका ललाम लोने पठए बुलाइ कै।
दरस-लालसा-बस लोग चले भाय भले,
बिकसत-मुख निकसत धाइ-धाइ कै॥२॥
सानुज सानंद हिये आगे ह्वै जनक लिये,
रचना रुचिर सब सादर देखाइ कै।
दिये दिब्य आसन सुपास सावकास अति,
आछे-आछे बीछे-बीछे बिछौना बिछाइ कै॥३॥
भूपति-किसोर दुहुँ ओर, बीच मुनिराउ,
देखिबे को दाउँ देखो देखिबो बिहाइ कै।
उदय-सैल सोहैं सुंदर कुँवर, जोहैं,
मानो भानु भोर भूरि किरनि छिपाइ कै॥४॥
कौतुक कोलाहल निसान गान पुर नभ,
बरषत सुमन सुबिमान रहे छाइ कै।
हित अनहित, रत बिरत बिलोकि बाल,
प्रेम-मोद-मगन जनम-फल पाइ कै॥५॥

अर्थ— आज राजा लोग अपने-अपने साज (छत्र-चँवर एवं भूषण वस्त्र तथा परिकरों के साथ) और अपने-अपने सुन्दर वेष बनाकर रंगभूमि में अपने-अपने (योग्य) स्थलों पर जा-जाकर बैठ गये हैं॥ १ ॥ उसी समय राजा जनकजी

ने, जिनके श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी ये मनोहर नाम हैं, उन सुन्दर श्रेष्ठ बालकों को श्रीविश्वामित्रजी के साथ बुला भेजा। उनके दर्शनों की लालसा वश नगर के लोग अच्छे भाव से अपने-अपने घरों से प्रसन्न मुख हो निकल-निकल दौड़-दौड़ कर चले ॥२॥ तब अपने छोटे भाई कुशध्वज के साथ श्रीजनक (शीरध्वज) जी ने आगे होकर हृदय से आनन्दपूर्वक इनका स्वागत किया और उस धनुष यज्ञ की सारी सुन्दर रचना आदरपूर्वक दिखाकर इन्हें दिव्य आसन दिये; जिन पर चुने हुए अच्छे-अच्छे बिछौने बिछे हुए थे और सब प्रकार के सुपास तथा अत्यन्त सावकाश थे ॥ ३ ॥ राजकिशोर श्रीराम-लक्ष्मण दोनों ओर हैं और बीच में मुनिराज श्रीविश्वामित्रजी विराजमान हैं, इनके दर्शन करने का अच्छा अवसर है। अतः, अन्य वस्तुओं का देखना छोड़ कर इन्हीं के दर्शन करो। ये सुन्दर राजकिशोर ऐसे सुहावने जान पड़ते हैं मानों उदयाचल पर प्रातःकाल के सूर्य अपनी बहुत किरणों को छिपाकर उदित हुए हैं ॥ ४ ॥ श्रीजनक नगर में बड़े-बड़े कौतुक हो रहे हैं, नगाड़ों के बजने का और स्त्रियों के गाने का कोलाहल हो रहा है और आकाश से फूलों की वर्षा हो रही है तथा देवगण विमानों पर चढ़े हुए आकाश में छाये हुए हैं। मित्र-शत्रु और रागी-विरागी—ये सब इन दोनों बालकों को देखकर अपने-अपने जन्मफल पाकर प्रेम और प्रमोद में निमग्न हो रहे हैं ॥ ५ ॥

विशेष—'राजा रंगभूमि आजु···'—रंगभूमि के मध्य भाग में धनुष रक्खा हुआ था, उसके चारों ओर पहले राजाओं के मञ्च थे। उसमें उनकी योग्यता के अनुसार मंच थे, उन पर बैठे हुए अपने-अपने देशों की वेष-भूषा से सब सुशोभित हो रहे हैं।

'कौसिक सहित···दरस-लालसा-बस'···; यथा—"रंगभूमि आए दोउ भाई। असि सुधि सब पुरबासिन्ह पाई ॥ चले सकल गृहकाज बिसारी। बाल जुवान जरठ नर नारी ॥" (मा० बा० २३९); "रंगभूमि आए दसरथ के किसोर हैं। पेखनो सो पेखन चले हैं पुर नरनारि बारे-बूढ़े अंध-पंगु करत निहोर हैं ॥···सहज सलोने, राम लखन ललित नाम···" (पद ७२)।

'सानुज सानंद हिये···'; यथा—"हरषे जनक देखि दोउ भाई। मुनि-पद कमल गहे तब जाई ॥ करि बिनती निज कथा सुनाई। रंग अवनि सब

मुनिहि देखाई ॥" (मा० बा० २४३)। रामचरितमानस में श्रीजनकजी का ही नाम आया है किन्तु यहाँ दोनों भाइयों को स्पष्ट कहा गया है। अतएव वहाँ भी दोनों भाइयों को समझना चाहिये; क्योंकि दोनों का रहना उचित ही है। श्रीशीरध्वज (जनक) जी ने स्वयं मुनि को सारी रचना दिखाई, यही सादर दिखाना है।

'दिये दिव्य आसन···'; यथा—"सब मंचन्ह ते मंच एक, सुंदर बिसद बिसाल। मुनि समेत दोउ बंधु तहँ, बैठारे महिपाल ॥" (मा० बा० २४४); जान पड़ता है कि यह सिंहासन विजयी राजा को बैठाने के लिये रक्खा गया था, परन्तु मुनि के लिये उपयुक्त समझ कर वही दिया गया। इसके आसपास परिकरों के बैठने का पर्याप्त अवकाश था और उपयोगी वस्तुओं का सुपास भी था।

'भूपति किसोर दुहुँ ओर···'; यथा—"दुहुँ दिसि राजकुमार बिराजत मुनिवर। नील-पीत पाथोज बीच जनु दिनकर ॥" (जानकी मंगल ३९)। मुनि बीच में हैं, उनकी दाहिनी ओर श्रीरामजी हैं और बाईं ओर श्रीलक्ष्मणजी बैठे हैं। इनके आसपास मुनिगण हैं, इस सिंहासन में आसपास अवकाश बहुत है, यह ऊपर कहा ही गया है।

'उदय सैल सोहैं···'—यहाँ मंच उदयाचल है, उस पर राजकुमार उदयकालीन सूर्य हैं, इनके तेज-प्रताप भूरि किरणें हैं, मुनि के साथ संकोच के साथ बैठे हैं, इससे तेज प्रताप प्रत्यक्ष नहीं होने देते, फिर भी वह कुछ-कुछ प्रकट ही होता है; यथा—"तेज-प्रताप बढ़त कुँवरन को जदपि सँकोची बानि हैं ॥" (पद ८०); तथा—"चितइ न सकहु राम तन गाल बजावहु।" (जानकी मंगल २७)। यहाँ 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा-अलङ्कार' है।

'हित-अनहित, रत-बिरत··'—सभी श्रीरामजी को देखकर प्रेम और आनन्द में निमग्न हो जाते हैं; यथा—"ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी।" (मा० बा० २१५); "सेवक सचिव सकल पुर बासी। जे हमार अरि मित्र उदासी ॥ सबहि राम प्रिय जेहि बिधि मोहीं ॥" (मा० अर० २)। 'जनम फल पाइकै'; यथा—"सुफल भये जीवन जनम हमारे। अवलोके भरि नयन···" (पद ६८)—इसका विशेष देखिये।

राजा की रजाइ पाइ सचिव-सहेली धाइ,
सतानंद ल्याये सिय सिबिका चढ़ाइ कै।
रूप-दीपिका निहारि मृग-मृगी नर-नारि,
बिथके बिलोचन - निमेषैं बिसराइ कै ॥६॥
हानि, लाहु, अनख, उछाह, बाहुबल कहि,
बंदी बोले बिरद अकस उपजाइ कै।
दीप - दीप के महीप आए सुनि पैज पन,
कीजै पुरुषारथ को अवसर भो आइ कै ॥७॥
आनाकानी, कठहँसी मुहाँचाही होन लागी,
देखि दसा कहत बिदेह बिलखाइ कै।
घरनि सिधारिए, सुधारिये आगिलो काज,
पूजि - पूजि धनु कीजै बिजय बजाइ कै ॥८॥
जनक-बचन छुए बिरवा लजारू के-से,
बीर रहे सकल सकुचि सिर नाइ कै।
तुलसी लखन माखे रोषे राखे राम रुख,
भाषे मृदु परुष सुभायन रिसाइ कै ॥९॥

अर्थ—राजा जनक की आज्ञा पाकर मन्त्रीगण और सखियाँ दौड़ीं, तब श्रीशतानन्दजी श्रीसीताजी को पालकी पर चढ़ाकर ले आये। श्रीजानकीजी के स्वरूप रूपी दीपक को देखकर सब स्त्री-पुरुष नेत्रों के निमेषों को भूलकर मृग-मृगियों के समान एकटक स्थगित रह गये ॥६॥ इसी समय वन्दीगण (धनुष न टूट सकने पर बल, प्रताप और वीरता की) हानि (धनुष टूटने पर 'त्रिभुवन जय समेत बैदेही' का) लाभ, ('जेहि पिनाक बिनु नाक किये नृप' ऐसा कहकर) अनख, ('धनु तोरइ सोइ बरइ जानकी' ऐसा कहकर) उत्साह और ('राज समाज आजु जेहि तोरा।' ऐसा कहकर) बाहुबल (बढ़ाने को) कहा तथा ('रावन बान महाभट भारे। देखि सरासन गँवहिं सिधारे ॥ सोइ···' ऐसा कहकर) अकस (सं० आकर्ष = बुरी उत्तेजना) उत्पन्न कर (धनुर्भंग के लिये उत्साहित करनेवाली वीरता परक) विरुद का वर्णन किया और फिर प्रतिज्ञा कहते हुए बोले—'द्वीप-द्वीप के राजा, राजा जनक की दृढ़ प्रतिज्ञा सुनकर आये

हुए हैं, अब आप लोग तदुपयुक्त पुरुषार्थ कीजिये, इसका अवसर आ गया है' ॥७॥ प्रतिज्ञा सुनकर राजाओं में परस्पर आना-कानी (सं० अनाकर्णन = न ध्यान देने का कार्य, टालमटूल एवं कानाफूसी), कठ हँसी (बिना हँसी आये हुए व्यर्थ हँसना) और मुहाचाही (एक दूसरे का मुँह देखना कि पहले आप उठें, सुनकर दूसरे कहते हैं, नहीं, पहले आप उठें, यह) होने लगी, राजाओं की यह दशा देखकर राजा जनक बिलख कर कहने लगे कि आप लोग अपने-अपने घरों को जायँ और अगले कार्य का सँभाल करें (यहाँ का कार्य आप लोगों से होने का नहीं है। अतः,); इस धनुष की पूजा कर-कर के (इसके प्रसाद से) डंका बजाकर विजय कीजिये (भाव यह कि इस धनुष को तोड़ने आये थे, वह तो हुआ नहीं, अब इसी की पूजा कीजिये और इसीसे वरदान माँगिये। शत्रु की पूजा करके उसके प्रसाद से स्वार्थ साधन करना महती निर्लज्जता है) ॥८॥ (ऐसे अपमान सूचक) श्रीजनकजी के वचन सुनकर लजावती (लज्जालु=एक पौधा जिसकी पत्तियाँ छूने से सिकुड़ कर बंद हो जाती हैं, छुई-मुई उस) के पौधे के समान संकोच करके सब वीर शिर झुका कर रह गये। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (श्रीजनकजी के उक्त वचनों से) श्रीलक्ष्मण-जी अप्रसन्न हुए और क्रुद्ध हुए तथा श्रीरामजी का रुख रखते हुए कोमल शब्दों में कठोर वचन स्वभाव से ही बोले, कुछ क्रोध करके नहीं ॥९॥

विशेष—'राजा की रजाइ पाइ···'; यथा—"जानि सुअवसर सीय तब, पठई जनक बोलाइ, चतुर सखी सुंदर सकल, सादर चलीं लिवाइ ॥" (मा० बा० २४६)। "तब जनक-आयसु पाइ कुलगुरु जानकिहि लै आयऊ। सिय रूपरासि निहारि लोचन लाहु लोगन्हि पायऊ ॥" (जानकी मंगल ५०)।

'रूप दीपिका निहारि···'; यथा—"राम लखन सिय सुंदरताई। सब चितवहिं चित मन मति लाई ॥ थके नारि-नर प्रेम पिआसे। मनहुँ मृगी-मृग देखि दिआ-से ॥" (मा० अ० ११५)। ब्याधा एक दीपक के समान बड़ा लुक जलाकर कुछ राग गाता है, उस पर मृग-मृगी उसके समीप मुग्ध होकर आ जाते हैं। उन्हें देह की सुधि-बुधि भूल जाती है। वही दशा यहाँ के स्त्री-पुरुषों की है। यहाँ 'रूपक अलंकार' है।

'पैज-पन' अर्थात् दृढ़ प्रतिज्ञा; पैज और पण पर्यायी हैं। दोनों एक साथ

कहकर इसकी दृढ़ता कही गई है। 'आए सुनि…'—भाव यह कि दृढ़ प्रतिज्ञा ही सुनकर यहाँ आये हैं, कुछ मैं हलुवा, पूड़ी खिलाने के लिये निमंत्रण देकर नहीं बुलाया है; तथा—"दीप-दीप के भूपति नाना। आए सुनि हम जो पन ठाना॥" (मा० बा० २५०)।

'देखि दसा कहत बिदेह बिलखाइ कै' यथा—"नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलाने। बोले बचन रोष जनु साने॥" (मा० बा० २५०)।

'जनक बचन छुए…'—यहाँ वीर राजा लजारू के बिरवा हैं, जनक वचन सुनना छू जाना है और सकुच कर शिर नीचाकर रह जाना, उस बिरवा की पत्तियों का सिकुड़ कर बन्द हो जाना है। यहाँ 'पूर्णोपमा-अलंकार' है। तथा - "नृप समाज जनु तुहिन बनजबन मारेउ।" (जानकी मंगल ५६)।

'लखन माखे…'; यथा—"माखे लखन कुटिल भइ भौंहैं। रदपट फरकत नयन रिसौंहैं॥" से "जौं न करउँ प्रभु-पद-सपथ, कर न धरउँ धनुभाथ॥" (मा० बा० २५३) तक। और राजा लोग पहले भाटों के वचन पर ही क्रुद्ध हुए थे, परन्तु श्रीलक्ष्मणजी राजा जनक के वचनों पर क्रुद्ध हुए; क्योंकि बड़े लोग सामान्य लोगों की बातों पर ध्यान नहीं देते। किन्तु श्रीरामजीका रुख देखकर इन्होंने वैसा ही प्रामाणिक वचन कहे हैं। 'मृदु परुष'—मीठा कठोर वचन है, इसीसे श्रीजनकजी अपनी चूक मानकर संकुच ही जायँगे, क्रुद्ध नहीं होंगे। 'सुभाय'; यथा—"कहौं सुभाव न कछु अभिमानू॥" (मा०बा०२५२)। 'डगमगानि महि दिग्गज डोले' इस घटना से इसकी प्रामाणिकता है।

आगे पद में श्रीलक्ष्मणजी के वचन कहे जाते हैं—

[८५]

भूपति बिदेह कही नीकीयै जो भई है।
बड़े ही समाज आजु राजनि की लाज-पति,
हाँकि आँक एक ही पिनाक छीनि लई है॥१॥
मेरो अनुचित न कहत लरिकाई-बस,
पन परिमिति और भाँति सुनि गई है।
नतरु प्रभु-प्रताप उतरु चढ़ाएँ चाप,
देतो पै देखाइ बल, फल पापमई है॥२॥

भूमि के हरैया उखरैया भूमिधरनि के,
बिधि बिरचे प्रभाउ जाको जग जई है।
बिहँसि हियें हरषि हटके लखन राम,
सोहत सकोच सील नेह नारि नई है ॥३॥
सहमी सभा सकल, जनक भये बिकल,
राम लखि कौसिक असीस आज्ञा दई है।
तुलसी सुभाय गुरु पाय लागि रघुराज,
रिषिराज की रजाइ माथे मानि लई है ॥४॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी ने कहा—'महाराज विदेहजी ने जो कुछ कहा है, वह हुई व्यवस्था के अनुसार ठीक ही कहा है। इस बड़े भारी समाज में आज राजाओं की लज्जा और प्रतिष्ठा इस पिनाक धनुष ने निश्चय करके ललकार कर छीन ली है ॥१॥ प्रभु श्रीरामजी के समक्ष मेरा कुछ भी कहना अनुचित है तथापि मैं लड़कपन-स्वभाव के वश हो कहता हूँ, इससे यह अनुचित नहीं है। प्रतिज्ञा की मर्यादा (प्रतिफल रूप 'धनु तोरै सो बरइ जानकी' यह) और ही प्रकार की (मेरे प्रतिकूल) सुनी गई है। नहीं तो प्रभु के प्रताप से इस धनुष को चढ़ाकर ही श्रीजनकजी को उत्तर देता और बल दिखा देता, परन्तु इसका फल मेरे लिये पापमय है (योग्य बड़े भाई के विना ब्याह हुए छोटे का ब्याह होना पापमय है) ॥२॥ भूमि का हरण करनेवाले बाणासुर और पहाड़ उखाड़नेवाले रावण के साथ सारे जगत् को जीतने से विधाता ने जिस धनुष का प्रभाव जगद्विजयी बनाया है (परन्तु मैं तो उसे तुच्छ समझता हूँ)।' श्रीरामजी ने हृदय में हँस और हर्षित होकर श्रीलक्ष्मणजी को रोका (कि और कुछ न कहें), उस समय वे संकोच, शील और स्नेहवश झुकी हुई गर्दन से सुशोभित हो रहे हैं ॥३॥ सारी सभा डर गई और श्रीजनकजी प्रेमविह्वल हो गये। तब श्रीविश्वामित्रजी ने श्रीरामजी की ओर देख कर उन्हें आशीर्वाद और धनुर्भंग करने की आज्ञा दी। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामजी ने अपने सहज स्वभाव से ही श्रीगुरुजी के चरणों में लग कर ऋषिराज श्रीविश्वामित्रजी की आज्ञा शिरोधार्य कर ली ॥ ४ ॥

विशेष—'भूपति बिदेह कही···'—इस चरण में श्रीजनकजी के वचनों

का समर्थन किया गया है; तथा—"लाज तोरि, साजि साज राजा राढ़ रोषे हैं।...बल इनके पिनाक नीके नापे जोखे हैं॥" (पद ९५); "राज समाजहिं लाज लजानी। बल प्रताप बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहि संग सिधाई॥" (मा० बा० २६५); इत्यादि।

'मेरो अनुचित न...'—लड़कों में चंचलता विशेष रहती है, इससे ये बिना विचारे भी बोल देते हैं, स्वाभाविक जानकर इसे गुरुजन अनुचित नहीं मानते; यथा—"जौं लरिका कछु अचगरि करहीं। गुरु पितु मातु मोद मन भरहीं॥" (मा० बा० २७६)। 'पन परिमिति और भाँति सुनी गई है'—ज्येष्ठ भाई के रहते छोटे भाई का ब्याहा जाना अनुचित है; यथा—"दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजेस्थिते। परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः॥ परिवित्तिः परिवेत्ता यया च परिविद्यते। सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपंचमाः॥" (मनु० ३।१७१-१७२); अर्थात् बड़े भाई के रहते यदि छोटा भाई ब्याह कर ले और अग्निहोत्र की क्रिया करे तो वह 'परिवेत्ता' और उसका बड़ा भाई 'परिवित्ति' होता है। परिवित्ति, परिवेत्ता और वह कन्या जिससे इनका विवाह होता है, कन्यादान करनेवाला और विवाह में होम करनेवाला—ये पाँचों नरक जाते हैं। महा० शान्ति पर्व ३४।४ में इन परिवित्ति और परिवेत्ता के नाम आये हैं। महा० शान्ति० ३४।२७ में यह लिखा है कि ज्येष्ठ भाई यदि अंग-भंग या दूषित हो अथवा संन्यास ले लिया हो तो छोटा भाई ब्याह कर सकता है, परिवेत्ता नहीं होता। महा० शान्ति० ३५।२७-२८ में इनका प्रायश्चित्त भी लिखा है, वहीं पर देखना चाहिये। यहाँ के 'और भाँति' का भाव आगे के 'फल पापमई है' इस वाक्य से स्पष्ट किया गया है कि यदि मैं अभी धनुष तोड़ दूँ तो प्रतिज्ञा के अनुसार मेरा ब्याह होगा, अभी मेरे बड़े भाई अनब्याहे हैं, इससे हम दोनों पापमयी फल से नरक जायँगे।

तात्पर्य यह कि इस डर से मैं केवल वचन से ही श्रीजनकजी के वचनों का उत्तर दे रहा हूँ; अन्यथा मैं कर्म द्वारा प्रण पूरा कर और बल दिखा कर ही उत्तर देता तो उत्तम पुरुषों में गिना जाता; यथा—"संसार महँ पूरुष त्रिविध पाटल रसाल पनस समा॥ एक सुमन प्रद एक सुमन फल एक फलै केवल लागहीं। एक कहहिं कहहिं, करहिं, अपर एक करहिं, कहत न बागहीं॥" (मा० बा० ८८)।

'हटके लखन राम' ; यथा—"सयनहिं रघुपति लखन निवारे। प्रेम समेत निकट बैठारे ॥" (मा०बा० २५३); यथा—"मृदु मुसुकाइ राम बरज्यो प्रिय बंधु नयन की सैन ।" (पद ८९) । 'सोहत संकोच ···'—बड़े के प्रति संकोच, शील और स्नेह से सकुच कर शिर नवाने में शोभा है, यह दिखाया है। 'नारि'=ग्रीवा, गर्दन; यथा—"जियत न नाई नारि, चातक घन तजि दूसरहि ।" (दोहावली ३०५); तथा—"गुरु नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी ॥ सील सराहि सभा सब सोची । कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची ॥" (मा० अ० ३१२) ।

'सहमी सभा सकल···'—श्रीलक्ष्मणजी ने कुपित होकर अपना बल कहा है, इसका विस्तार श्रीरामचरितमानस में है, वहाँ ब्रह्माण्ड उठाना और उसका फोड़ना कहा गया है, इसी पर सब डर गये हैं; यथा—"लखन सकोप बचन जब बोले । डगमगानि महि दिग्गज डोले ॥ सकल लोक सब भूप डेराने। सिय हिय हरष जनक सकुचाने ॥" (मा० बा० २५३); श्रीजनकजी सकुच गये कि मैंने वात्सल्य में भूल कर इन्हें बालक मात्र मान लिया था, इससे 'बीर बिहीन मही मैं जानी' ऐसा कह डाला । फिर इन दोनों को धनुर्भंग पर उद्यत देख कर स्नेह की अधिकता से व्याकुल हो गये । आगे के पद में तदनुसार राम-स्नेह-परक वचन कहते हैं ।

'राम लखि कौसिक···सुभाय गुरु पाय लागि···'; यथा—"बिस्वामित्र समय सुभ जानी । बोले अति सनेहमय बानी ॥ उठहु राम भंजहु भव चापा। मेटहु तात जनक परितापा ॥ सुनि गुरु बचन चरन सिर नावा । हरष बिषाद न कछु उर आवा ॥" (मा० बा० २५३); चरण-स्पर्श करने में आज्ञा का शिरोधार्य करना है । 'सुभाय' इसका भाव यह कि इसमें लाभ का हर्ष नहीं है, यथा—"ठाढ़ भये उठि सहज सुहाए ।" (मा० बा० २५३) । गुरु आज्ञा मानने पर 'रघुराज' कहा गया; क्योंकि रघुवंशी सभी धर्मात्मा हुए हैं, वैसे आप भी हैं ।

[८६]

सोचत जनक पोच पेंच परि गई है ।
जोरि कर-कमल निहोरि कहैं कौसिक सों,
'आयसु भो राम को सो मेरे दुचितई है ॥१॥

बान जातुधानपति, भूप दीप सातहू के,
लोकप बिलोकत पिनाक भूमि लई है।
जोतिलिंग कथा सुनी जाको अंत पाये बिनु
आए बिधि हरि हारि सोई हाल भई है ॥२॥
आपु ही बिचारिये, निहारिये सभा की गति,
बेद-मरजाद मानो हेतुबाद हई है।
इन्ह के जितौहैं मन, सोभा अधिकानी तन,
मुखन की सुखमा सुखद सरसई है ॥३॥
रावरो भरोसो बल, कै हैं कोऊ किये छल,
कै धौं कुल के प्रभाव, कै धौं लरिकई है।
कन्या, कल कीरति, बिजय बिस्व की बटोरि
कै धौं करतार इन्ह ही को निरमई है ॥४॥
पन की न मोह, न बिसेषि चिंता सीता हू की,
लुनिहै पै सोई-सोई जोई जेहि बई है।
रहै रघुनाथ की निकाई नीकी नीके नाथ,
हाथ सों तिहारे करतूति जाकी नई है' ॥५॥
कहि 'साधु-साधु' गाधि-सुवन सराहे राउ,
'महाराज ! जानि जिय ठीक भली दई है'।
हरषे लखन, हरषाने बिलखाने लोग,
तुलसी मुदित जाको राजाराम जई है ॥६॥

अर्थ—राजा जनक मन में शोच कर रहे हैं कि 'बड़ा कठिन अवरेब आ पड़ा है'। फिर वे हाथ जोड़ कर प्रार्थना करते हुए श्रीविश्वामित्रजी से कहते हैं कि 'जो श्रीरामजी को (धनुष तोड़ने की) आज्ञा दी गई है, उस पर मेरे हृदय में द्विविधा, अस्थिरता एवं आशंका है ॥ १ ॥ बाणासुर, राक्षसेश्वर रावण, सातो द्वीपों के राजा और लोकपालों को देखते ही इस पिनाक धनुष ने मानो भूमि को पकड़ रक्खा है। शिवजी के ज्योतिर्लिङ्ग की कथा सुनी गई है कि जिसका अन्त बिना पाये ही श्रीब्रह्माजी और श्रीविष्णुजी हार कर लौट आए, वही हाल यहाँ हुई है (किसी को इस धनुष का अन्त नहीं मिला कि यह

कितना गरुअ है,) ॥ २ ॥ आप ही विचार कीजिये और इस सभा की दशा देखिये; ऐसा जान पड़ता है कि मानो नास्तिकवाद ने वेद की मर्यादा का हनन किया है (वैसे इस सभा की श्री को इस धनुष ने नष्ट कर दिया है)। इन दोनों राजकुमारों के मन जीतने की चेष्टा से युक्त हैं, वैसे ही इनके शरीरों की शोभा बढ़ती हुई है तथा इनके मुखों की सुखदायिनी परमशोभा भी बढ़ रही है ॥३॥ (इनके इन उत्कर्षों का कारण) आपके भरोसे का बल है; या ये कोई छल किये हुए (मनुष्य रूप में कोई देवता) हैं; या इनके कुल (सूर्य कुल) का यह (तेजस्वी) प्रभाव है और या तो केवल इनका बालकपन है (इससे हारने-जीतने के मानापमान का इन्हें ज्ञान ही नहीं है। अतः, प्रसन्न हैं)। अथवा मेरी अयोनिजा कन्या सीता, सुन्दर कीर्त्ति और संसार भर की विजय—इन सबको एकत्र कर क्या इन्हीं के लिये विधाता ने निर्माण कर रक्खा है ? ॥ ४ ॥ मुझे अपने पण के निर्वाह का मोह (प्रेम) नहीं है और न अपनी पुत्री सीता की ही चिन्ता है, जिसने जो बोया है, वह वही काटेगा (अर्थात् अपना-अपना कर्म फल भोगेगा), हे नाथ ! (मैं तो यही चाहता हूँ कि) इन रघुकुल शिरोमणि श्रीरामजी की अच्छी उत्तमता भली भाँति बनी रहे, यह आपके ही हाथों से हो सकती है, जिन आपकी करनी (संसार में) नयी (निराली) है (ब्रह्माजी के अतिरिक्त आपने ही सृष्टि भी की है तो आप क्या नहीं कर सकते ?), ॥५॥ इस पर श्रीविश्वमित्रजी ने 'साधु-साधु' कहकर राजा जनक की प्रशंसा की और कहा—'महाराज ! आपने अपने हृदय से समझ कर यह बहुत अच्छा विचार निश्चित किया है'। (यह संवाद सुन कर) श्रीलक्ष्मणजी हर्षित हुए और पूर्व के दुःखित हुए पुरवासी लोग भी हर्षित हुए; तथा जिस तुलसीदास के राजा श्रीरामजी विजयी हैं, वह भी अत्यन्त आनन्दित है ॥ ६ ॥

विशेष—"सोचत जनक पोच पेंच परि गई है।' - भाव यह कि मैंने सहसा प्रतिज्ञा कर ली, अब छोड़ने पर सारा सुकृत नष्ट होता है। उधर श्रीलचमणजी के उत्तेजित करने से गुरु-आज्ञा पर श्रीरामजी धनुर्भंग पर प्रस्तुत हो गये हैं। अब इन्हें रोका कैसे जाय ? इनकी अत्यन्त सुकुमारता से तथा बालपन से प्रतिज्ञा-पूर्त्ति असंभव है। अब क्या किया जाय ? ऐसा सोचते हुए श्रीराम कृपा से जो निश्चत किया, वह आगे कहते हैं।

'जोरि कर कमल…'—यद्यपि राजा ने प्रथम दर्शन पर श्रीरामजी को ब्रह्म ही जाना है किन्तु अब वात्सल्य-स्नेह से वे इन्हें बालक ही देख रहे हैं, इससे ब्रह्मर्षि विश्वामित्र से आशीर्वाद दिला इनके द्वारा पण पूर्त्ति करा इनका कल्याण करना चाहते हैं। वात्सल्य भाव ऐसा ही होना चाहिये, यह समझ कर महर्षिजी ने भी 'साधु-साधु' कह इसीका समर्थन किया है।

'मेरे दुचितई'—द्वि-चितई, दुविधा, इनकी सुकुमारता एवं बाल-अवस्था देखने से निराशता और इनका असाधारण रूप, तेज एवं इनके पूर्वके कर्मों से आशा होती है; मन स्थिर नहीं हो पाता। पहले निराशता के कारणों का वर्णन करते हैं—

'बान जातुधानपति…'; यथा—"भूमि के हरैया उखरैया भूमिधरनि के, बिधि बिरचे प्रभाउ जाको जग जई है।" (पद ८५); "बान बान जिमि गयउ गँवहिं दसकंधर। को अवनीतल इन्ह सम बीर धुरंधर॥…सो धनु कहि अवलोकन भूप-किसोरहि। भेद कि सिरिस-सुमन कन कुलिस कठोरहि॥" (जानकी मंगल ५७-५८); तथा—"तीनि लोक महँ जे भट मानी। सब कै सकति संभुधनु भानी॥ सकइ उठाइ सरासुर मेरू। सोउ हिय हारि गयउ करि फेरू॥ जेहि कौतुक सिव सैल उठावा। सोउ तेहि सभा पराभव पावा॥" (मा० बा० २९१)। 'लोकप'—इन्द्र आदि लोकपालों में भी कुछ मनुष्य शरीर धारण कर स्वयंवर में आये हुए थे; यथा—"देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आये रनधीरा॥" (मा० बा० २५०)। किन्तु यह पिनाक भूमि से नहीं ही उठा।

'जोतिलिंग कथा सुनी…'—शिवजी के ज्योतिलिङ्ग की ऐसी कथा शैव-पुराणों में सुनी गई है कि जब यह प्रकट हुआ, तब उसका अन्त (पता, कि यह कहाँ तक गया है, इसका अन्त कहाँ पर हुआ है? यह) प्राप्त करने के लिये ऊपर की ओर ब्रह्माजी गये और नीचे पाताल की ओर विष्णु भगवान् गये, पर ये घूमते ही रह गये, इन्हें अन्त नहीं मिला, अन्त में निराश होकर एवं हार कर लौट आये, वही हाल यहाँ हुई है उन्हीं शिवजी के ही इस पिनाक धनुष की गरुता का अन्त किसी ने नहीं पाया—श्रीहरिहरप्रसाद ने इस कथा को काशी खण्ड की कहा है।

'आपु ही विचारिये···'; यथा—"जनक सदसि जेते भले-भले भूमिपाल किए बलहीन, बल आपनो बढ़ायो है॥" (क० बा० १०); "नृप समाज जनु तुहिन बनज वन मारेउ।" (जानकी मंगल ५६); "श्रीहत भये हारिहिय राजा। बैठे निज-निज जाइ समाजा॥" (मा० बा० २५०)। 'हेतुवाद'-(१) 'तर्क शास्त्र' यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा-अलंकार' है।

(२) कुतर्क, नास्तिकता—हिं० श० सा०। यहाँ तक निराशता के कारण हैं।

'इन्हके जितौहैं मन ···'—ये चेष्टाएँ इनके द्वारा पणपूर्त्ति की हैं; यथा—"सुचि सुजान नृप कहहिं हमहिं अस सूझइ। तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ॥···अवसि राम के उठत सरासन टूटिहि।···" (जानकी मंगल ३७-३८); 'रावरो भरोसो बल'—आपने त्रिशंकु के प्रति दूसरा स्वर्ग ही रच डाला, अनहोनी करके भी अपना पक्ष रक्खा है, क्या इन्हें ऐसे आपके प्रभाव का भरोसा एवं बल है?

'कन्या कल कीरति···'—इस प्रतिज्ञापूर्त्ति पर ये तीनों साथ ही मिलेंगी; यथा—"कुँवरि मनोहरि बिजय बड़ि, कीरति अति कमनीय। पावनिहार बिरंचि जनु, रचेउ न धनु दमनीय॥" (मा० बा० २५१)। माताओं ने भी इन तीनों लाभों को साथ ही कहा है; यथा—"मुनि तिय तरी लगत पग धूरी। कीरति रही भुवन भरि पूरी॥ कमठ पीठि पवि कूट कठोरा। नृप समाज महँ सिव धनु तोरा॥ बिस्व बिजय जस जानकि पाई॥" (मा० बा० ३५६)। भाव यह कि ये प्रतिज्ञा पूरी करेंगे और तीनों लाभ पावेंगे, विधाता के द्वारा संघटित उपयुक्त ('इन्ह के जितौहैं मन···' आदि) सुलक्षणों से सिद्ध होता है।

यहाँ तक अपने हृदय की दोनों भावनाओं का वर्णन किया है। प्रथम निराशता के कारण कहे और फिर पीछे आशा के हेतुभूत गुण कहे। अब इन्हीं आशा के कारणों की पुष्टि के लिये मुनि से सहायता करने की प्रार्थना करते हैं—

'पन की न मोह····'—प्रतिज्ञा पूर्ति का मोह छोड़ने में अपने स्वत्व का त्याग है और अपने समस्त पुण्यों की मूर्त्ति श्रीसीताजी की भी विशेष चिन्ता त्याग में श्रीरामजी में उनसे भी अधिक भाव प्रकट किया। भाव यह कि यदि इनका अनिष्ट होकर कन्या का हित हो तो मैं उसे भी नहीं चाहता। राजा जनक

श्रीसीताजी में देह सम्बन्धी नाता माने हुए हैं और श्रीरामजी में अभी उनका स्नेह का नाता है। देह-सम्बन्धी से स्नेह-सम्बन्धी में अधिक भाव होने में उनकी प्रीति-प्रवीणता है; यथा—"जानत प्रीति रीति रघुराई। नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई ॥···" (वि० १६४)—यह पूरा पद देखने योग्य है।

'लुनिहै पै···'; यथा—"बयो सोजानि लुनिये।"—(हनुमान-बाहुक ४४) तथा—"काहु न कोउ सुख-दुख कर दाता। निज-कृत करम भोग सब भ्राता ॥" (मा० अ० ९१); "जीव करम बस दुख-सुख भागी ॥" (मा० अ० ११)।

यहाँ 'अपना किया कर्म सब भोगेगा' ऐसा वर्ण्य विषय न कह कर उसका प्रतिबिंब 'लुनिहै पै···' इस लोकोक्ति (मुहावरा) के द्वारा कहा गया है। अतएव 'लोकोक्ति से पुष्ट ललित-अलङ्कार' है।

'रहै रघुनाथ की निकाई···'—अभी तक के इनके कर्म प्रशंसनीय हैं, वैसे इस धनुर्भंग में भी इनकी वैसी ही उत्तमता बनी रहे, आपके हाथों से यह बात हो सकती है; भाव यह कि जिन हाथों से आपने त्रिशंकु के लिये नयी सृष्टि की है, उन्हीं से आशीर्वादात्मक करस्पर्श से इन्हें भी बल दे दीजिये, जिससे ये विजयी हो जायँ। कर स्पर्श से बल देने का प्रमाण; यथा—"कर परसा सुग्रीव सरीरा। तनु भा कुलिस गई सब पीरा ॥ मेली कंठ सुमन की माला। पठवा पुनि बल देइ बिसाला ॥" (मा० कि० ७)।

शङ्का—श्रीजनकजी ने पहले इन्हें ब्रह्म निश्चित किया था, अब इनका ऐश्वर्य कैसे भूल गये, जो कौशिक से इस प्रकार निहोरा कर रहे हैं ?

समाधान—यह श्रीराम-स्नेह की महिमा है जो ज्ञान को दबा कर भक्तों को माधुर्य का सुख देती है; यथा—"लीन्ह राय उर लाइ जानकी।" से "मोह मगन मति नहिं विदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की ॥" (मा० अ० २८५) तक। तथा मा० अ० २७६ में 'जासु ज्ञानरवि···' यह प्रसंग भी देखिये। श्रीकौसिल्याजी को प्रभु ने स्वयं विराट रूप दिखाया है और श्रीदशरथीजी को श्रीवसिष्ठजी ने श्रीराम-परत्व समझाया है, फिर भी इन सब ने माधुर्य में स्थिति रक्खी है। श्रीरामजी की प्रत्यक्ष की हुई वीरताओं को भी इन्होंने मुनि कृपा से होना माना है; यथा—"राम-लखन कै कीरति करनी बारहि बार भूप बर बरनी ॥ मुनि प्रसाद कहि द्वार सिधाये ॥" (मा० बा० २९४); तथा—"मुनि

प्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरें टारी॥" से "सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे।" (मा० बा० ३५६) तक।

'कहि साधु-साधु···'—मुनि ने राजा की भावना सराही है; क्योंकि वे सरस ज्ञानी हैं; यथा—"राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभा बड़ आदर तासू॥ सोह न राम-प्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥" (मा० अ० २७६) "जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं रामप्रेम परधानू॥" (मा० अ० २९०)।

'हरषे लखन···'—राजा जनक की प्रार्थना पर श्रीविश्वामित्रजी ने प्रसन्नता प्रकट कर स्वीकृति दी, इससे श्रीराम पर मुनि कृपा जान कर श्रीलक्ष्मण-जी हर्षित हुए, मुनि प्रसाद से श्रीराजी अवश्य विजयी होंगे, यह मानकर पुरवासी सुखी हुए, इसीलिये तो ये पहले दुखी थे और श्रीरामजी के विजयी होने के भाव पर ग्रंथकार भी आनन्दित हैं, तथा यह भी ध्वनित है कि जिसके राजा विजयी श्रीरामजी हैं, जो इनका आश्रित है, वही मुदित रहता है; अन्यथा रोते ही बीतता है।

[८७]

सुजन सराहैं जो जनक बात कही है।
रामहि सोहानी जानि, मुनि-मन-मानी सुनि,
नीच महिपावली दहन बिनु दही है॥१॥
कहैं गाधि नंदन मुदित रघुनंदन सों,
नृप गति अगह, गिरा न जाति गही है।
देखे-सुने भूपति अनेक झूठे-झूठे नाम
साँचे तिरहुतिनाथ, साखी देत मही है॥२॥
रागऊ बिराग, भोग जोग जोगवत मन,
जोगी जागबलिक प्रसाद सिद्धि लही है।
ताते न तरनि ते, न सीरे सुधाकर हू ते,
सहज समाधि निरुपाधि निरबही है॥३॥
ऐसेउ अगाध बोध रावरे सनेहबस,
बिकल बिलोकियत दुचितई सही है।

कामधेनु-कृपा हुलसानी तुलसीस उर,
पन-सिसु हेरि, मरजाद बाँधी रही है ॥४॥

अर्थ—श्रीजनकजी ने जो बात कही है, इसकी सज्जन सराहना करने लगे। यह बात मुनि ने मन से मान ली है, यह जानकर श्रीरामजी को भी प्रिय लगी; परन्तु श्रीविश्वामित्रजी ने उसको मन से मान लिया है, यह सुनकर नीच राजाओं की श्रेणी बिना आग के ही जलने लगी (कि ये परम समर्थ ब्रह्मर्षि हैं, अपने आशीर्वाद से ऐसा न हो कि श्रीरामजी के द्वारा धनुष तोड़वा दें तो हम सबकी नाक कटेगी, बालक श्रीराम हम सब पर विजयी होंगे) ॥१॥ गाधि पुत्र श्रीविश्वामित्रजी आनन्दित होकर रघुनन्दन श्रीरामजी से कहने लगे कि राजा जनक की गति अग्राह्य है, वह वाणी के द्वारा ग्रहण करने में नहीं आती। अनेक पृथिवीपति देखे और सुने गये हैं, परन्तु ये झूठे-झूठे नाम वाले ही सिद्ध होते हैं (क्योंकि पृथिवी ने उन्हें अपना पति स्पष्ट रूप में नहीं माना है उन्हें सन्तान नहीं दी)। तिरहुत नाथ महाराज सीरध्वज जनक ही सच्चे पृथिवीपति हैं, पृथिवी (कन्या देकर) इस बात की साक्षी दे रही है ॥२॥ इनका मन रागी रहने पर भी वैराग्य को और भोगरत रहते हुए भी योग को रक्षित रखता है, योगि याज्ञवल्क्य की कृपा से इन्होंने सिद्धि प्राप्त की है। ये न तो सूर्य से सन्तप्त होते हैं और न चन्द्रमा से शीतल ही होते हैं; (अर्थात् इन्होंने संसार के सभी द्वन्द्व भावों को जीत लिया है)। इनकी स्वाभाविक समाधि निर्विघ्न निबह गई है ॥३॥ ऐसे अगाध ज्ञान सम्पन्न होते हुए भी आपके स्नेहवश व्याकुल दिखाई देते हैं और चित्त की अस्थिरता सह रहे हैं। यह सुनकर श्रीतुलसीदास के स्वामी श्रीरामजी के हृदय में कामधेनु रूपिणी कृपा उल्लसित हुई किन्तु वह पण रूपी बछड़े को देखकर मर्यादा रूपी रस्सी में बँधी होने से रह रही है (यहाँ मर्यादा यह है कि गुरु आज्ञा होने पर ही धनुष तोड़ें और प्रतिज्ञा रूपी बछड़े को तृप्त करें, भाव यह कि अब केवल गुरु-आज्ञा ही की अपेक्षा है) ॥४॥

विशेष—'सुजन सराहैं…'—श्रीरामजी के प्रति शुद्ध वात्सल्य परक श्रीजनकजी के वचन हैं, इससे सज्जन उसकी सराहना करते हैं। साधु-सभा में राम-स्नेह की ही सराहना होती है। ऊपर पद के 'कहि साधु-साधु….' इसके विशेष में प्रमाण देखिये।

'दहन बिनु'—वास्तव में वह बात थी नहीं कि मुनि के ही बल पर श्रीरामजी धनुष तोड़ेंगे, परन्तु श्रीजनकजी के माधुर्यपरक वचनों को सुन राजाओं ने वैसा ही मान लिया है और वे उस ईर्ष्यात्मक कल्पित अग्नि में जल रहे हैं।

'नृप गति अगह....'—पहले अगह कहकर फिर वाणी के द्वारा भी उसका वर्णन करना अशक्य कहा है। फिर भी कुछ लक्ष्य कराते हुए आगे उसका वर्णन करते हैं—

'देखे सुने भूपति....' – सभी राजा भूपति बनते हैं, परन्तु जैसे पत्नी से पति सन्तान उत्पन्न करता है, वैसा पृथिवी का पति भाव किसी को नहीं प्राप्त हुआ। श्रीजनकजी को ही पृथिवी ने कन्या दी है। इस विषय में पृथिवी ही साक्षी है।

'रागऊ बिराग, भोग जोग जोगवत मन ...'; यथा—"प्रनवौं परिजन सहित बिदेहू। जाहि रामपद गूढ़ सनेहू॥ जोग भोग महँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई॥" (मा० बा० १६); अन्यत्र राग के साथ विराग और भोग के साथ योग नहीं रहता; क्योंकि राग और विराग तथा भोग और योग परस्पर विरोधी हैं। राजा जनक में ये दोनों बातें रहती हैं, इसीसे इनकी गति अग्राह्य है। इसी का कुछ स्पष्टीकरण आगे पद में श्रीरामजी ने किया है; यथा – "रागी औ बिरागी बड़भागी ऐसो आन को॥ भूमि-भोग करत अनुभवत जोग सुख मुनि-मन-अगम अलखगति जान को?" 'जोगी जागबलिक प्रसाद....'; यथा—"यह सब जागबलिक कहि राखा। देवि न होइ मुधा मुनि भाषा॥" (मा० अ० २८४)—इस श्रीसुनयनाजी की उक्ति से सिद्ध है कि जनकजी के गुरु श्रीयाज्ञवल्क्यजी हैं; बृहदारण्यक आदि उपनिषदों में श्रीजनकजी का याज्ञवल्क्यजी से संवाद है। उन्हीं के प्रसाद से इन्हें योग की सिद्धि एवं ब्रह्मविद्या प्राप्त हुई है। इसकी प्रशंसा व्यासजी ने भी की है; यथा—"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताः जनकादयः।" (गीता ३।२०); अर्थात् जनक आदि (आसक्ति रहित) कर्म के आचरण से ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं।

'ताते न तरनि ते न सीरे सुधाकर हू ते....'—इनकी स्वाभाविक समाधि निर्विघ्न निबह गई है। उसमें संसार रूप सूर्य की व्यवहार रूपी

किरणों से सन्ताप नहीं पहुँचा तथा मन रूपी चन्द्रमा की स्पृहात्मक वृत्ति रूपी किरणों से शीतत्व रूपी जड़ता नहीं आई, संसार सूर्य; यथा—"ते संसार पतङ्ग-घोरकिरणैर्दह्यन्तिनो मानवाः ॥" (मा० उ० १३०); तथा—"मन ससि चित्त महान।" (मा० लं० १५)। भीतर से विषय-स्पृहा प्रकट कर मन बाधक होता है और कर्मानुसार बाहर से संसार के बर्त्ताव भी ताप देनेवाले आ जाते हैं, इनसे स्वाभाविक (चेतन) समाधि में बाधा हो सकती है, परन्तु राजा जनक के प्रति ये बाधाएँ नहीं हुईं, इससे इनकी समाधि निर्विघ्न निबह गई है; तथा—"मुनिगन गुरु धुर धीर जनक-से। ज्ञान अनल मन कसे कनक से॥ जे बिरंचि निरलेप उपाये। पदुमपत्र जिमि जग जल जाये॥" (मा० अ० ३१६)। शीतोष्ण में एकरस स्थिति कह कर सभी द्वन्द्वात्मक भावों में समत्व कहा गया है; तथा—"जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः। शीतोष्ण सुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥" (गीता० ६।७); अर्थात् शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमान में जिसका मन जीता हुआ है, उस प्रशान्त पुरुष के मन में परम शुद्ध प्रत्यगात्मा अपने सम्यक् रूप से स्थित रहता है।

'ऐसेउ अगाध बोध रावरे सनेह बस'''—आपके स्नेह में प्रत्यक्ष व्याकुल हो रहे हैं और चित्त की अस्थिरता को भी स्पष्ट कर रहे हैं। अगाध बोध की इसी में शोभा है; यथा—"यह बिचारि पंडितमोहिं भजहीं। पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥" (मा० अर० ४२); तथा—"जे ज्ञान मान विमत्त तव भवहरनि भगति न आदरी। ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥" (मा० उ० १२)। एवं—"येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः। आरुह्य कृच्छ्रेण परंपदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥ तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः। त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥" (भाग० १०।२।३२-३३); अर्थात् (हे प्रभो !) आपके भक्तों से भिन्न अन्य लोग, जो अपने को मुक्त मान कर अभिमान करते हैं, वे अनेक कष्ट उठाकर जिस श्रेष्ठ पद को पाते हैं' अन्ततः, उससे उनको पतित होना पड़ता है, क्योंकि आपमें भक्ति न होने के कारण उनकी बुद्धि भली-भाँति शुद्ध नहीं होती; अतएव आपके श्रीचरणों की अवहेलना करने के कारण उनको पूर्णतया मुक्ति नहीं मिलती और बीच में ही

अनेक विघ्नों के कारण भ्रष्ट हो जाते हैं। हे माधव! किन्तु जो आपके भक्त हैं वे आपमें ही अनन्य भाव से प्रेम करते हैं—उनकी ऐसी गति नहीं होती। आप उनके रक्षक रहते हैं। अतएव वे सम्पूर्ण विघ्नों के शिर पर पाँव रखते हुए निर्भय भाव से विचरते हैं। उपर्युक्त पद के 'सोचत कहि साधु-साधु...' इसका विशेष भी देखिये।

'कामधेनु कृपा...'—सामान्य गऊ भी बछड़े को दूध से तृप्त करती है, यह कृपा तो कामधेनु रूपिणी है। अतः, प्रतिज्ञापूर्त्ति कर तत्सम्बन्धी और भी सभी मनोरथ श्रीजनकजी के पूरा करेगी; मुनि-आज्ञा की ही अपेक्षा है। मनोरथ पूर्त्ति पर श्रीजनकजी ने कहा है; यथा—"राम करौं केहि भाँति प्रसंसा।" से "मोर भाग्य राउरि गुन गाथा। कहि न सिराहिं सुनहुँ रघुनाथा॥" (मा० बा० ३४०-३४१) तक।

[८८]

रिषिराज! राजा आजु जनक-समान को?
आप एहि भाँति प्रीति सहित सराहियत,
राग़ी और बिरागी बड़ भागी ऐसो आन को? ॥१॥
भूमि-भोग करत अनुभवत जोग-सुख,
मुनि-मन-अगम अलख गति जान को?।
गुरु-हर-पद-नेह, गेह बसि भो बिदेह,
अगुन-सगुन-प्रभु-भजन-सयान को? ॥२॥
कहनि रहनि एक, बिरति बिबेक नीति,
बेद-बुध-संमत पथी न निरबान को?
बिनु गुन की कठिन गाँठि जड़-चेतन की,
छोरी अनायास, साधु सोधक अपान को ॥३॥
सुनि रघुबीर की बचन-रचना की रीति,
भयो मिथिलेस मानो दीपक बिहान को।
मिट्यो महामोह जी को, छूट्यो पोच सोच सी को,
जान्यो अवतार भयो पुरुष पुरान को ॥४॥

सभा, नृप, गुरु, नर-नारि पुर, नभ सुर,
सब चितवत मुख करुना-निधान को।
एकहि एक कहत प्रगट एक प्रेम-बस,
तुलसीस तोरिये सरासन इसान को ॥५॥

अर्थ—श्रीरामजी श्रीविश्वामित्रजी से कहते हैं कि हे ऋषिराज ! आज श्रीजनकजी के समान दूसरा राजा कौन है कि जिनकी आप इस प्रकार प्रीतिपूर्वक प्रशंसा कर रहे हैं; रागियों और विरागियों में ऐसा बड़ा भाग्यवान और कौन है ? ॥ १ ॥ ये पृथिवी के (राज) भोग करते हुए भी योग के सुख का अनुभव करते हैं। मुनियों के मन को भी अगम्य इनकी अलक्ष्यगति को कौन जान सकता है ? इनका गुरु (श्रीयोगि-याज्ञवल्क्यजी) और श्रीशिवजी के चरणों में स्नेह है, ये घर में रहते हुए भी विदेह भाव में रहते हैं। निर्गुण और सगुण प्रभु का भजन करने में इनके समान प्रवीण और कौन है ? ॥२॥ इनका कहना और रहना एक ही है (; अर्थात् ये जैसा कहते हैं तदनुसार आचरण करते हैं, उसमें द्वै भाँति नहीं होने देते। अतः, सत्य-प्रतिज्ञ हैं)। इनके वैराग्य और सदसद्विवेक एवं राजनीति वेदों और बुद्धिमान् पंडितों के अनुकूल ही हैं। इनके समान मोक्षमार्गानुयायी और कौन है ? (क्योंकि) इन्होंने बिना रस्सी की कठिन जड़-चेतन-ग्रन्थि को अनायास ही खोल लिया है। अतः, इनके समान अपने स्वरूप का भली भाँति शोधन करनेवाला और कौन है ? ॥ ३ ॥ रघुवीर श्रीरामजी की वाक्य-रचना की रीति सुन कर मिथिलेश श्रीजनकजी महाराज प्रातःकाल के दीपक के समान हो गये (; अर्थात् उनके ज्ञानरबि के समक्ष अपने ज्ञानदीपक को इन्होंने तुच्छ माना तथा लोकदृष्टि में अपनी प्रशंसा सुन कर संकुचित हो गये)। उनके हृदय का महामोह मिट गया (; अर्थात् श्रीरामजी को परंब्रह्म मानने में अब अज्ञान नहीं रह गया उपर्युक्त माधुर्य की मुग्धता निवृत्त हो गई,) और श्रीसीताजीके सम्बन्ध की क्षुद्र चिन्ता दूर हो गई; अब इन्होंने जान लिया कि पुराण पुरुष (परमात्मा) का अवतार हो गया (ये साक्षात् परमात्मा ही हैं) ॥ ४ ॥ इस अवसर पर सभा के लोग, राजा जनक, गुरु श्रीविश्वामित्रजी और श्रीजनकपुर के स्त्री-पुरुष तथा आकाश में स्थित देवगण—सब करुणासागर श्रीरामजी का मुख देख रहे

हैं। प्रेमवश होकर प्रत्यक्ष होकर एक-एक से कहते हैं कि 'हे तुलसीदास के स्वामी श्रीरामजी ! आप श्रीशिवजी का धनुष तोड़ डालिये (बिलम्ब न कीजिये, शीघ्र सम्बन्धी बनकर हम सबको सुख दीजिये)' ॥ ५ ॥

विशेष—'रिषिराज ! राजा…'—उपर्युक्त पद में मुनिके कहे हुए वचनों का समर्थन किया। समर्थन का हेतु 'आप एहि भाँति…' इस चरण से कहते हैं कि आप प्रथमावस्था में बड़े भारी राजा रह कर रागी भी रह चुके हैं फिर महान् विरागी होकर ब्रह्मर्षि पद पर्यन्त प्राप्त कर चुके हैं, ऐसे राग और विराग के मर्मज्ञ आप भी जब प्रीतिपूर्वक (शुद्ध हार्दिक भाव से) इनके राग-विराग महत्त्व की प्रसंसा कर रहे हैं तब भला, इनके समान राग-विराग का बड़ा भाग्यवान् और कौन है ?

'भूमि भोग करत…'—भूमि भोग की छाया मन पर पड़ जाती है, यह ज्ञानस्वरूप सुग्रीव के चरित्र में स्पष्ट है; यथा—"ज्ञान सुग्रीव कृत जलधि सेतू' (वि० ५८) तथा—"कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। ससि महँ प्रगट भूमि कै झाँई ॥" (मा० लं० ११); श्रीरामजी ने चन्द्रमा के व्याज से यहाँ इन सुग्रीव आदि के मन के भाव पूछे हैं और फिर भूषण-वस्त्र देकर उनके उपाय भी किये हैं। श्रीसुग्रीवजी को श्रीभरतजी के हाथ से पहनवाया है; यथा—"तब प्रभु भूषन-बसन मँगाये। नाना रंग अनूप सुहाए ॥ सुग्रीवहि प्रथमहि पहिराए। बसन भरत निज हाथ बनाए ॥" (मा० उ० १६)–इसका भाव यह कि श्री-भरतजी अपनी भाँति पहना कर इन्हें अपना सारूप्य प्रदान करें, जिससे सुग्रीव जी किष्किंधा जाकर श्रीभरतजी के समान त्यागवृत्ति से रहें। जैसे श्रीकैकेयीजी के १४ वर्ष के राज्य माँगने पर भरतजी ने उसके प्रतिकूल किया है, भूमिभोग का कर्तव्य करते हुए भी रामभक्ति का निर्वाह किया है। वैसे माता प्रकृति के परिणाम रूप देह की चौदह इन्द्रियों का भोग न दे, उनसे विरक्त रह राम-भक्ति करने से वह छाया मिटेगी, यह सुग्रीवजी को शिक्षा दी है।

तात्पर्य यह कि श्रीभरतजी के समान खड्ग धाराव्रती रहने पर ही भूमि-भोग में योग-सुख रह सकता है, वह जनकजी ने सहज में अनुभव किया है।

'मुनि मन अगम'—अभी श्रीजनकजी की दशा को श्रीभरत दशा से उपमित किया है। भरत दशा पर कहा गया है; यथा—"मुनि व्रत नेम साधु

सकुचाहीं। देखि दसा मुनिराज लजाहीं॥···मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥" (मा० अ० ३२५)। 'अलख गति' इससे कहा गया कि ऊपर से देखने में भोगी हैं, पर वस्तुतः योगी हैं, इस भाव को कोई नहीं लख पाता।

'गुरु हर पद नेह···'—गुरु-चरणों में स्नेह होने से योग-क्रिया का ज्ञान होता है और शिवजी निर्गुन परक ज्ञान के साक्षात्कार स्वरूप हैं; यथा—"नमामीशमीशान निर्वाणरूपं। विभुं व्यापकं ब्रह्मवेदस्वरूपं। निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं।" (मा० उ० १०७); इनकी कृपा से उस ज्ञान का साक्षात्कार होता है, श्रीजनकजी इन दोनों से युक्त हैं। इससे 'गेह बसि भो बिदेह'; यथा—"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताः जनकादयः।" (गीता ३।२०); 'अगुन-सगुन प्रभु भजन सयान को,—निर्गुण-भजन की प्रवीणता प्रथम ही 'गुरु हर पद नेह···' इससे कही गई, इस प्रकार आप ब्रह्मानन्द के भोक्ता हैं। सगुण-भजन की प्रवीणता यह है कि श्रीरामजी को देखते ही इन्होंने उनमें वात्सल्यभाव की प्रीति की है; यथा—"सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाइ बखानी॥" (मा० बा० २४१); इस भाव में प्रवीणता यह है कि शिशु माता-पिता एवं गुरुवर्ग से उऋण नहीं हो सकता। अतः, सदा के लिये वश में रहता है; यथा—"निजकर खाल खैंचि या तनु ते जौं पितु पद पानहीं करावौं। होउ न उरिन पिता दसरथ ते, कैसे ताके बचन मेटि पतिपावौं॥" (अ० ७२); यही समझकर श्रीकौशल्याजी ने वात्सल्यभाव-परक वरदान माँगने पर राजा दशरथ को 'चतुर नृप' कहा है; यथा—"जो बर नाथ चतुर नृप माँगा। सोइ कृपाल मोहिं अति प्रिय लागा॥" (मा० बा० १४९)। इनकी इस निष्ठा को श्रीरामजी ने स्वीकार किया है; यथा—"पूरन काम राम परितोषे॥ करिवर विनय ससुर सनमाने। पितु कौसिक बसिष्ठ सम जाने॥" (मा० बा० ३४१); यही इनकी सगुण-भक्ति की सफलता है।

'कहनि रहनि एक···'—आपने जो प्रतिज्ञा की उसमें परम दृढ़ रहे; यथा—"सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ। कुँवरि कुवारि रहउ का करऊँ॥" (मा० बा० २५१)। इनके वैराग्य और विवेक आदि की प्रशंसा उपनिषदों में भी है और शास्त्रों में तो है ही। अतः, ये सब इनके प्रामाणिक ही हैं।

'पथी न निखान को' ऐसा कह कर साथ ही इनकी असाधारण विवेक-निपुणता दिखाते हुए कहते हैं—'बिनु गुन की कठिन गाँठि जड़-चेतन की'''-ग्रन्थि पड़ गई है, परन्तु यह गाँठ बिना रस्सी की है; यथा—"जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥" (मा० उ० ११६); जड़ माया और चेतन जीव इन दोनों का ग्रन्थि-बन्धन हो गया है, यह ग्रन्थि-बन्धन यद्यपि झूठा है तथापि उसके छूटने में कठिनता है। जीव के सम्बन्ध से माया (जड़) चेतन-सी भासती है और माया (प्रकृति) में तादात्म्य होने से जीव जड़वत् भासता है। इस प्रकार का अन्योन्य अध्यास होना चेतन और जड़ का ग्रन्थि-बन्धन है, यही चिज्जड़ ग्रन्थि कही जाती है। इस ग्रन्थि-बन्धन में बाँधनेवाली रस्सी नहीं है; क्योंकि दोनों विरुद्ध स्वभाववाले हैं। जीव ने अज्ञान से गुणों से होनेवाले कर्मों का अभिमान किया। अतः, उसके फल रूप शरीर को अपना रूप मानकर इसमें आसक्त हो बँधा हुआ है। गुण नहीं बाँधे हैं, वे तो जड़ हैं। 'छोरी अनायास साधु सोधक अपान को।'—इस गन्थि के छूटने के उपाय कहे गये हैं; यथा—"श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक-अधिक अरुझाई॥" से "होइ घुनाच्छर न्याय जौं, पुनि प्रत्यूह अनेक॥" (मा० उ० ११६-११८) तक। इसकी कठिनता विचारणीय है। किन्तु इन राजा जनक ने इसे अनायास ही खोल लिया है, इसीसे विदेह रहते हैं; यथा-"मुनि गन गुरु धुर धीर जनक से। ज्ञान अनल मन कसे कनक-से॥ जे बिरंचि निरलेप उपाये। पदुम पत्र जिमि जग जल जाये॥" (मा० अ० ३१६); तथा-"जासु ज्ञान रवि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥" (मा० अ० २७६)। अतः, इनके समान स्व-स्वरूप शोधक और कोई नहीं है।

राजा जनक निर्गुण-सगुण दोनों निष्ठाओं में प्रवीण हैं। इन्होंने पहले निर्गुण-निष्ठा का साक्षात्कार कर ब्रह्मानन्द का भोक्तृत्व प्राप्त किया था। पीछे सगुण श्रीरामजी के दर्शन पर इन्होंने उस ब्रह्मानन्द का त्याग कर सगुण-निष्ठा भी बड़ी प्रवीणता से की, इसकी सिद्धि भी ऊपर लिखी गई है कि वात्सल्य भाव की प्रीति श्रीराम-चरण में हुई और उसे श्रीरामजी ने भी स्वीकार किया है ये ही दो प्रकार की मुक्तियाँ हैं; यथा—"राम चरन रति जो चहै, अथवा पद निरवान।" (मा० उ० १२८)। रामचरण-रति वाले श्रीराम को ही पाते

हैं, फिर संसार में नहीं आते, वहाँ नित्य परिकर भाव से रहते हैं; यथा—"सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता।" (तैत्त० २।१); अर्थात् वह मुक्तात्मा ब्रह्म के साथ सारी कामनाओं को भोगता है। राजा ने सगुण-निष्ठा को अत्यन्त श्रेष्ठ मान कर ग्रहण किया है। तथा—"ब्रह्मानंद हृदय दरस सुख लोयननि, अनुभए उभय सरस राम जाने हैं। तुलसी बिदेह की सनेह की दसा सुमुरि मेरे मन माने राउ निपट सयाने हैं॥" (पद ६१)–इसका विशेष देखिये।

'सुनि रघुबीर की···'—विदेह महाराज ने इन थोड़े शब्दों में परमार्थ की निर्गुण-सगुण की निष्ठाओं का जिस प्रकार विवेचन सुना, वह प्राकृत राजकुमार का कथन नहीं हो सकता। अभी तक रूप, तेज और प्रताप आदि से ही इन्होंने ब्रह्मका अनुभव किया था। इस वाक्य रचना से अब इनके ईश्वरीय अखण्ड ज्ञानरूपी सूर्य का भी ज्ञान हो गया। इसके समक्ष श्रीमिथिलेशजी ने अपने ज्ञान को दीपकवत तुच्छ माना है। लोक दृष्टि में श्रीजनकजी की प्रशंसा कही गई है, इससे सकुच गये हैं।

'मिट्यो महा मोह जीको···'—यहाँ पर महामोह का अर्थ ईश्वर के स्वरूप में भ्रम का है। स्वस्वरूप में अज्ञान को मोह कहते हैं और तदनुसार पर स्वरूप में अज्ञान को महामोह कहा जाता है; यथा—"महामोह उपजा उर तोरे।" (मा० उ० ५८); यह ईश्वर-स्वरूप के विषय में अज्ञान होने पर ही कहा गया है। यहाँ श्रीरामजी को पुराण-पुरुष जाना, इससे महामोह मिट गया। अब इस ज्ञान से श्रीसीताजी की भी चिन्ता छूट गई। श्रीरामजी अवश्य धनुष तोड़ कर कन्या का ब्याह करेंगे ही, इसमें अब संदेह नहीं रह गया।

'अवतार भयो पुरुष पुरान को'; यथा—"राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना। पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि, प्रगट परावर नाथ। रघुकुल मनि मम नाथ सोइ, कहि सिव नायउ माथ॥" (मा०बा०११५-११६)।

'सभा नृप गुरु ··सब चितवत मुख···'—श्रीरामजी ने इन लोगों पर करुणा की है, जो शास्त्र का निचोड़ तत्त्व कह दिया है। अभी किशोर-अवस्था है, राजकुमार हैं, यह भी नहीं है कि कोई मुनिकुमार हों। इस मुख से ऐसी बातें सुनते हुए सब चकित हो श्रीरामजी के मुख को ही देख रहे हैं। ज्ञानि शिरोमणि श्रीजनकजी और श्रीविश्वामित्रजी भी दंग हैं। प्रभु की करुणा का

अनुभव कर रहे हैं कि जो इन्होंने इस प्रकार के वाक्य-निबन्ध से अपने को लक्षित कराया है; यथा—"पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च ॥" (श्वेता० ६।८); अर्थात् इस (ब्रह्म) की पराशक्ति अनेक प्रकार की सुनने में आती है, इस परमेश्वर की ज्ञान, बल और क्रिया रूप स्वाभाविक दिव्य शक्ति नानाप्रकार की सुनी जाती है। स्वाभाविक ज्ञान एवं बल से ही आपने शिशु-अवस्था में ही पूतना के कपट को जाना और फिर उसे मारा है। स्वाभाविक क्रिया शक्ति से समुद्र पर पत्थरों का पुल उतराया है और उसी प्रकार स्वाभाविक ज्ञान शक्ति से शिशु अवस्था में कौशल्याजी को विराट् रूप दिखा उपदेश दिया है तथा वैसे ही स्वाभाविक ज्ञानशक्ति से इस राजकुमार रूप की किशोर-अवस्था में भी ऐसी तत्त्वज्ञान की बातें थोड़े शब्दों में आपने बड़े प्रबन्ध से कही हैं। अतएव ये पुराण पुरुष हैं, इन्होंने अवतार धारण किया है। हम सब पर करुणा करके अपना परिचय करा दिया है, यह विचारते हुए सब चकित हैं।

'एकहि एक कहत…'—परंब्रह्म के लिये धनुष तोड़ना कौन कठिन है यह विचार कर और फिर श्रीसीताजी के सम्बन्ध से अपने नातों का अनुमान कर प्रेमवश हो सब परस्पर प्रत्यक्ष कहने को कहते हैं कि अब शीघ्र धनुष तोड़, विलम्ब न करें।

राग मारू

[८९]

सुनो भैया भूप सकल दै कान।

बज्ररेख गजदसन जनकपन बेद-बिदित, जग जान ॥१॥
घोर कठोर पुरारि-सरासन नाम प्रसिद्ध पिनाकु।
जो दसकंठ दियो बाबों, जेहि हर-गिरि कियो है मनाकु ॥२॥
भूमि-भाल भ्राजत, न चलत सो, ज्यों बिरंचि को आँकु।
धनु तोरइ सोइ बरइ जानकी, राउ होइ की राँकु ॥३॥
सुनि आमरषि उठे अवनी पति, लगे बचन जनु तीर।
टरै न चाप, करैं अपनो सो महा-महा बल धीर ॥४॥

नमित-सीस सोचहिं सलज्ज सब श्रीहत भये सरीर।
बोले जनक बिलोकि सीय तन दुखित सरोष अधीर ॥५॥
सप्त दीप नव खंड भूमि के भूपति बृंद जुरे।
बड़ो लाभ कन्या कीरति को जहँ-तहँ महिप मुरे ॥६॥

अर्थ—(वन्दीगण बोले —) हे भइया ! हे राजा लोगो ! सब कोई कान देकर सुनिये। राजा जनक का पण (अटल निश्चय) वज्र की रेखा (के समान अमिट) और हाथी के दाँत के समान (भीतर को न लौटनेवाला) है। वेदों में प्रसिद्ध है और सारा जगत् जानता है कि जिसका पिनाक नाम प्रसिद्ध है, यह श्रीशिवजी का (त्रिपुर-नाशक) धनुष बड़ा ही घोर और कठोर है, जिसे उस रावण ने भी बाँयाँ दिया (उपेक्षा कर बहाना करके चला गया) है, जिसने श्रीशिवजी के कैलास-पर्वत को भी तुच्छ कर दिखाया है (ढेला के समान उठा लिया है) ॥२॥ यह पृथ्वी के मस्तक (ललाट) पर विराजमान है, चलायमान नहीं होता, जैसे (लोगों के ललाट पर लिखा हुआ) विधाता का अङ्क (चलायमान नहीं होता)। उसी धनुष को जो तोड़ेगा, वही श्रीजनकपुत्री सीताजी का व्याह करेगा, चाहे वह राजा हो अथवा कङ्गाल हो (इसका विचार नहीं किया जायगा) ॥ ३ ॥ यह सुनकर उत्तेजित एवं क्रुद्ध होकर राजा लोग उठ पड़े; क्योंकि भाँटों के द्वारा कहे हुए बचन उन्हें बाण के समान लगे थे (वे उसका सहन नहीं कर सके)। किन्तु उनसे वह धनुष नहीं टलता; प्रत्युत् उन सबको भी वह अपने समान (जड़) कर देता है, यद्यपि वे सब महान्-महान् बलवान् और धैर्यवान् थे (तथापि धनुष का कुछ न कर सके) ॥ ४ ॥ उन सबके शिर नये हुए हैं, सब लज्जा से शोच कर रहे हैं और उनके शरीर श्रीविहीन होगये हैं—यह देख कर श्रीजनकजी श्रीसीताजी की ओर देख दुःखित और क्रोधित हो अधीर होकर बोले ॥ ५ ॥ सातों द्वीपों, नवो खण्डों एवं सारी पृथिवी के समूह राजा लोग यहाँ एकत्र हुए हैं। इस पण-पूर्त्ति से इन्हें (अयोनिजा दिव्य) कन्या और (सुन्दर) कीर्ति का बड़ा भारी लाभ प्राप्त हो सकता था, परन्तु सभी राजा लोग धनुष के पास से मुड़ (लौट) कर जहाँ के तहाँ आ बैठे हैं ॥ ६ ॥

विशेष—'सुनो भैया भूप···'—एक वर्ष से धनुर्भंग की प्रतिज्ञा चली आ रही है किन्तु आज उसका अंतिम दिन है। अतः कान दे (ध्यान से) सुन लो; अन्यथा पछताना पड़ेगा। 'भूप' इस सम्बोधन का भाव यह कि यहाँ सभी देश-देश के राजा ही विशेष रूप में आए है। देव, दनुज आदि भी मनुष्य शरीर में राजा के ही वेष में हैं।

'वज्र रेख गज दसन···'—वज्र पर बनी हुई रेखा नहीं मिटती, वैसे ही श्रीजनकजी की प्रतिज्ञा अमिट है। बिना धनुष तोड़े कोई भी कन्या नहीं पा सकता। तथा जैसे हाथी का दाँत जो मुख से बाहर निकल गया, वह लौट कर भीतर नहीं जाता, वैसे ही श्रीजनकजी ने जो प्रतिज्ञा मुख से निकाल दी है वह स्वयं भी उसे नहीं लौटावेंगे, ऐसे वे दृढ़व्रत हैं। आगे कहा भी है—, "सुकृति जाइ जो पन परिहरऊँ। कुँवरि कुँवारि रहइ का करऊँ॥" (मा०बा०२५१)।

'वेद विदित जग जान। घोर कठोर···'—पिनाक का गौरव वेद के उपबृंहण रूप श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड सर्ग ७५ में कहा गया है कि उसी से शिवजी ने विष्णु से संग्राम किया है। अन्यत्र यह भी लिखा है कि इसी से त्रिपुर का नाश भी शिवजी ने किया है; यथा—"मयन महन पुर-दहन गहन जानि आनिकै सबै को सार धनुष गढ़ायो है। जनक सदसि जेते भले-भले भूमिपाल किए बलहीन, बल आपनो बढ़ायो है॥ कुलिस कठोर कूर्म पीठ ते कठिन अति, हठि न पिनाक काहू चपरि चढ़ायो है।" (क० बा० १०)। इस प्रकार यह जगत् में प्रसिद्ध है।

'सो दसकंठ दियो बावों ···'; यथा—"रावन बान महा भट भारे। देखि सरासन गवहिं सिधारे॥" (मा० बा० २४९); "जेहि कौतुक सिव सैल उठावा। सोउ तेहि सभा पराभव पावा॥" (मा० बा० २९१)।

'भूमि भाल भ्राजत···'—विधाता का लिखा कोई मिटा नहीं सकता; यथा—"कह मुनीस हिमवंत सुनु, जो बिधि लिखा लिलार। देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटनिहार॥" (मा० बा० ६८)। वैसे ही यह धनुष किसी से नहीं टला। तिरहुत देश को भूमि का तिलक कहा गया है; यथा—"भूमि तिलक सम तिरहुत त्रिभुवन जानिय।" (जानकी मंगल २); तिलक ललाट पर रहती है, वैसे ही तिरहुत देश वहाँ की भूमि पर बसा है, वह भूमि

के भाल के समान है। अतः, वह धनुष भूमि के भाल पर विधाता के लिखे अंक की भाँति अडिग होकर अभी तक विराजमान है। 'यदि भूमि रूपी भाल पर' ऐसा अर्थ करें तो 'भूमि' और 'पिनाकु' उपमेय और 'भाल' और 'बिरंचि को आंकु' उपमान होंगे। 'ज्यों' वाचक और 'आजत न चलत' यह धर्म होगा। अत: 'रूपक से पुष्ट पूर्णोपमा अलङ्कार' होगा। यों तो 'पूर्णोपमा' है।

'धनु तोरै सो बरै···' यहाँ पर कोई भी हो जो छल से राजा बन कर आया हो और धनुष तोड़े तो उसी को कन्या मिलेगी। महाभारत में द्रौपदीजी स्वयंबर में कुलीन राजा मात्र को मत्स्य लक्ष्य वेधने का अधिकारार नियत था, यहाँ वैसा कोई नियम बाधक नहीं है।

'सुनि आमरषि उठे···'; यथा—"सुनि पन सकल भूप अभिलाखे। भट मानी अतिसय मन माखे॥ परिकर बाँधि उठे अकुलाई।" (मा० बा० २४९)। भाँटों ने कहा कि यह धनुष किसी से नहीं टलता एवं नहीं टल सकता, इस पर राजा लोगों को क्रोध हुआ कि अभी मैं इसे तोड़ बहाऊँगा। इस प्रकार उत्तेजित होकर उठे। रामचरित मानस में 'नृप-भुज-बल बिधु सिव धनु राहू' यह वचन उत्तेजित करनेवाला स्पष्ट है। यहाँ भाँटों के द्वारा सुनने पर श्रीलक्ष्मणजी को माँख नहीं हुआ, जब जनकजी यही सब कहेंगे, तब वे क्रुद्ध होंगे; क्योंकि बड़े लोग बड़ों की ही बात पर ध्यान देते हैं।

'लगे बचन जनु तीर'; यथा—"जीभ कमान बचन सर नाना।" (मा० अ० ४०)। तथा—"लगे बचन जनु बान।" (मा० बा० २५२)।

'टरै न चाप···'; यथा—"तमकि ताकि तकि सिव धनु धरहीं। उठइ न कोटि भाँति बल करहीं॥ ··तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप, उठइ न चलहिं लजाइ।···भूप सहसदस एकहि बारा। लगे उठावन टरइ न टारा॥" (मा० बा० २४९-२५०)। वह सब वीरों को अपना-सरीखा जड़ कर देता है। हार कर सब जड़ सरीखे रह जाते हैं, लज्जा से फिर हिलते-डोलते नहीं।

'नमित सीस सोचहिं सलज्ज···'; यथा—"श्रीहत भए हारि हिय राजा। बैठे निज-निज जाइ समाजा॥" (मा० बा० २५०)।

'बोले जनक बिलोकि सीय तन···'—मेरी कन्या कुमारी ही रह जायगी, यह विचार कर दुःखित हुए तथा राजा गण अहंकार पूर्वक लगे, पर कुछ कर न

सके, इस पर क्रुद्ध भी हुए। दुःख और क्रोध से धीरता न रह गई, इसीसे उन्हें, सभा में श्रीरामजी भी हैं, यह ध्यान न रहा, प्रत्युत् उन्हें बालक ही जान कर उपेक्षा कर दी और आगे—'वीर विहीन मही मैं जानी।' एवं 'जनु वीर बिगत महिं' ऐसा कह दिया है। कहा भी है; यथा—"सोक बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा॥" (मा० अ० २७५)।

'सप्त दीप नव खंड'''बड़ो लाभ'''; यथा—"नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलाने। बोले बचन रोष जनु साने॥ दीप दीप के भूपति नाना। आए सुनि हम जो पन ठाना॥ देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल वीर आए रनधीरा॥ कुँवरि मनोहरि बिजय बड़ि, कीरति अति कमनीय। पावनि हार बिरंचि जनु, रचेउ न धनु दमनीय॥ कहहु काहि यह लाभ न भावा। काहु न संकर चाप चढ़ावा॥" (मा० बा० २५०-२५१)।

डग्यो न धनु, जनु बीर बिगत महि, किधौं कहुँ सुभट दुरे।
रोषे लखन बिकट भृकुटी करि, भुज अरु अधर फुरे॥७॥
सुनहुँ भानुकुल कमल भानु जौं अब अनुसासन पावौं।
को बापुरो पिनाक मेलि गुन मंदर - मेरु नवावौं॥८॥
देखौ निज किंकर को कौतुक क्यों कोदंड चढ़ावौं।
लै धावौं भंजौं मृनाल ज्यों तौ प्रभु अनुग कहावौं॥९॥
हरषे पुर - नर - नारि, सचिव, नृप कुँवर कहे बर बैन।
मृदु मुसुकाइ राम बरज्यो प्रियबंधु नयन की सैन॥१०॥
कौसिक कह्यो, उठहु रघुनंदन, जगबंदन, बल - अैन।
तुलसिदास प्रभु चले मृगपति ज्यों निज भगतनि सुख दैन॥११॥

अर्थ—इन (राजाओं) से यह धनुष थोड़ा भी नहीं डिगा, पृथिवी मानो वीर से रहित हो गई है, अथवा क्या श्रेष्ठ योद्धा कहीं छिपे हुए हैं? यह सुन-कर श्रीलक्ष्मणजी क्रोधित हो गये। उनकी भुजाएँ और ओष्ठ फरकने लगे। उन्होंने भौंहें टेढ़ी किये हुए (श्रीरामजी से कहा—)॥ ७॥ हे सूर्यकुल कमल दिवाकर श्रीरामजी! अब यदि मैं आपकी आज्ञा पाऊँ तो यह बेचारा पिनाक धनुष क्या, मैं रस्सी डालकर मन्दराचल और सुमेरु पहाड़ को भी नवा दूँ॥ ८॥ आप इस अपने सेवक का खेल देखें कि मैं किस प्रकार इस

धनुष को चढ़ाऊँगा, लेकर दौड़ूँगा और कमल की डाँड़ी की भाँति इसे तोड़ बहाऊँगा; तभी आपका दास कहाऊँगा ॥ ९ ॥ कुँवर श्रीलक्ष्मणजी ने श्रेष्ठ वचन कहे, इस पर श्रीजनकपुर के स्त्री-पुरुष, श्रीजनकजी के मंत्रीगण और स्वयं राजा श्रीजनकजी हर्षित हुए। श्रीरामजी ने मधुर मुसकराते हुए अपने प्यारे भाई श्रीलक्ष्मणजी को नेत्रों के संकेत से रोक दिया (कि वे और कुछ न कहें) ॥१०॥ श्रीविश्वामित्रजी ने कहा—'हे जगद्वन्द्य बल के स्थान रघुकुल को आनं-दित करने वाले श्रीरामजी ! उठिये (धनुभंङ्ग कर श्रीजनकजी को सुखी कीजिये)'। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (गुरु आज्ञा सुनकर) अपने भक्तों को सुख देनेवाले प्रभु श्रीरामजी सिंह की-सी चाल से चले ॥ ११ ॥

विशेष—'डग्यो न धनु'; यथा—"डगै न संभु-सरसन कैसे। कामी बचन सती मन जैसे ॥" (मा० बा० २५०)। 'जनु बीर बिगत महि'; यथा—"अब जनि कोउ माखै भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी ॥" (मा० बा० २५१)।

'किधौं कहुँ सुभट दुरे'—राजा जनक परमज्ञानी एवं परमभक्त हैं। अतः, इनके वचन अन्यथा नहीं हैं; यथा "कह मुनि बिहँसि कहेउ नृप नीका। बचन तुम्हार न होइ अलीका।" (मा० बा० २१५); "सेवक-बचन सत्य सब जाने ॥" (मा० अ० २३४। ठीक ही सुभट छिपे हुए यहीं पर बैठे हैं। राजा जनक के 'जनु बीर बिगत महि' इस अपमानजनक एवं उत्तेजित करने वाले वचन से जाग्रत हो उठेंगे; यथा—"लोकपाल महिपाल बान बानइत दसानन सके न चाप चढ़ाई ॥ तेहि समाज रघुराज के मृगराज जगाई।" (पद १०१)। अभी ही श्रीलक्ष्मणजी क्रुद्ध हो उठते हैं जैसे सोता हुआ सिंह अपमानित कर जगाने पर क्रुद्ध हो उठता है। श्रीलक्ष्मणजी का बोलना श्री-रामजी के धनुष तोड़ने के लिये प्रस्तावना रूप है, इससे यह श्रीरामजी का ही उत्तेजित होना है। अतः, यहाँ श्रीजनकजी के ये वचन श्रीरामजी को भी प्रेरित करने के लिये हैं—"बोले बचन रोष जनु साने।" (मा० बा० २५०); इसमें भी यह ध्वनि है।

'रोषे लखन···'; यथा—"माखे लखन कुटिल भै भौंहैं। रदपट फरकत नयन रिसौंहैं ॥" (मा० बा० २५१)। भारी समाज में राजा जनक के वचन

से इष्ट श्रीरामजी का अपमान हुआ है, उन वीर शिरोमणि के रहते हुए 'बीर बिगत महि' कहा गया है, इससे क्रोध से भौंहें टेढ़ी हो गईं हैं। भुजाएँ पुरुषार्थ करके दिखाने को फड़कने लगीं और ओष्ठ कुछ कहने के लिये फड़कने लगे।

'सुनहु भानुकुलकमलभानु····'; यथा—"सुनहु भानु-कुल-पंकज-भानू। कहउँ सुभाउ न कछु अभिमानू ॥" से "कमलनाल जिमि चाप चढ़ावौं। जोजन सत प्रमान लै धावौं ॥ तोरउँ छत्रकदंड जिमि, तव प्रताप-बल नाथ। जौं न करौं प्रभु-पद-सपथ, कर न धरउँ धनु-भाथ ॥" (मा० बा० २५२-२५३) तक। 'अब' क्योंकि अब सभी राजा हार चुके हैं। यह कोई नहीं कह सकता कि मुझे मिलता तो मैं धनुष तोड़ डालता। 'अनुसासन पावौं' क्योंकि मैं तो आपका सेवक ही हूँ। अतः, आपकी आज्ञा से आपका कार्य ही करूँगा। 'को बापुरो पिनाक'—आपके प्रताप के समक्ष यह बेचारा क्या है ?; यथा—"तव प्रताप महिमा भगवाना। का बापुरो पिनाक पुराना ॥" (मा० बा० २५२)। आपके प्रताप से तो मैं 'मेरु-मंदर' भी नवा सकता हूँ। 'मेलिगुन' उसके योग्य रस्सी डाल कर।

'देखौ निज किंकर····'—यह न समझिये कि इसमें मुझे कुछ श्रम पड़ेगा, यह तो मेरा खेल ही होगा। आप राजा हैं। अतः, खेल देखें। 'चढ़ाऊँगा, लेकर धाऊँगा और मृणाल की भाँति तोड़ बहाऊँगा'—ऐसा इस लिये कहा है कि श्रीजनकजी ने तीनों कामों के लिये कहा था; यथा—"रहौ चढ़ाउब तोरब भाई। तिल भरि भूमि न सके छुड़ाई ॥" (मा० बा० २५१)। 'तौ प्रभु अनुग कहावौं'—स्वामी के अनुकूल-स्वभाव वाला उसका अनुगामी भी होना चाहिये। आप वीर हैं, यदि मैं इतना भी न कर सकूँ तो आपका अनुगामी कैसा ?। श्रीलक्ष्मणजी प्रभु-सेवा को ही परम धन मानते हैं; यथा—"अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति मोरे ॥" (मा० अर० १०) तथा—"बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी ॥" (मा० बा० १९७)। अतएव ये इसी की शपथ भी करते हैं; यथा—"जौं तेहि आजु बधे बिनु आवौं। तौ रघुपति-सेवक न कहावौं ॥" (मा० लं० ७३)

इसी से यहाँ भी कह रहे हैं कि तभी मैं राम-अनुग कहाऊँगा।

यहाँ 'पूर्णोपमालंकार' है।

'हरषे पुर नर-नारि···'—क्योंकि ये सब पहले निराश हो दुःखी हुए थे। अब आशा पर हर्षित हुए। 'बर बैन' क्योंकि इसमें किसी का अपमान नहीं है, अपनी वीरता ही कही गई है, वह भी समय के अनुसार एवं परम प्रयोजनीय है।

'मृदु मुसुकाइ···'; यथा—"गुरु रघुपति सब मुनि मन माहीं। मुदित भये पुनि-पुनि पुलकाहीं॥ सैनहिं रघुपति लखन निवारे। प्रेम समेत निकट बैठारे॥" (मा० बा० २५३)। संकेत से ही रोकने और पास बैठाने में लक्ष्मण-जी का आदर है। 'प्रिय बंधु' पद में भी यह ध्वनि है।

'कौसिक कह्यो···'; यथा—"बिस्वामित्र समय सुभ जानी। बोले अति सनेह मय बानी॥ उठहु राम भंजहु भव चापा। मेटहु तात जनक-परितापा॥" (मा० बा० २५३); 'रघुनंदन' रघुकुल की कीर्ति बढ़ाइये। 'जगबंदन बलऐन'—इन विशेषणों में ताटका, मारीच, और सुबाहु आदि के बध एवं मुनि-मख-रक्षण आदि को कीर्ति का स्मरण करा धनुर्भंग की कीर्ति ग्रहण करने के भाव हैं।

'प्रभु चले मृगपति ज्यों···'; यथा—"सुनि गुरु बचन···ठाढ़ भये उठि सहज सुभाए। ठवनि जुवा मृगराज लजाए॥" (मा० बा० २५३)। 'निज भगतनि सुख दैन'; यथा—"ऐसेहि प्रभु सब भगत तुम्हारे। होइहहिं टूटे धनुष सुखारे॥" (मा० बा० २३८)। यहाँ 'पूर्णोपमालंकार' है।

[६०]

जबहिं सब नृपति निरास भए।
गुरु-पद-कमल बंदि रघुपति तब चाप-समीप गए॥१॥
स्याम-तामरस-दाम-बरन बपु, उर-भुज-नयन बिसाल।
पीत बसन कटि कलित कंठ सुंदर सिंधुर-मनि माल॥२॥
कल कुंडल, पल्लव प्रसून सिर चारु चौतनी लाल।
कोटि-मदन-छबि-सदन बदन-बिधु, तिलक मनोहर भाल॥३॥
रूप अनूप बिलोकत सादर पुरजन राज-समाजु।
लखन कह्यो थिर होहिं धरनिधरु, धरनि, धरनिधर आजु॥४॥
कमठ कोल दिगदंति सकल अँग सजग करहु प्रभु-काज।
चहत चपरि सिव-चाप चढ़ावन दसरथ को जुवराज॥५॥

गहि करतल, मुनि पुलक सहित, कौतुकहि-उठाइ लियो।
नृप-गन-मुखनि समेत नमित करि सजि सुख सबहि दियो॥६॥
आकरष्यो सिय-मन समेत हरि, हरष्यौ जनक-हियो।
भंज्यो भृगुपति-गर्व सहित, तिहुँ लोक बिमोह कियो॥७॥

अर्थ—जब सब राजा लोग निराश हो गये, तब श्रीरघुनाथजी गुरु श्रीविश्वामित्रजी के चरण-कमलों की वंदना करके उस धनुष के पास गये॥१॥ श्रीरामजी का शरीर श्याम-कमल की माला के समान श्याम है, उनके वक्षःस्थल, भुजाएँ और नेत्र विशाल हैं, कटि में पीताम्बर तथा सुन्दर कण्ठ में सुन्दर गजमुक्ताओं की माला है ॥ २ ॥ उनके कानों में सुन्दर कुण्डल हैं और सिर पर पल्लव फूल तथा मनोहर लाल रंग की चौगोसिया टोपी है। उनका मुख चन्द्र करोड़ों कामदेवों की छवि का स्थान है और उनके ललाट पर मनोहर तिलक है ॥ ३ ॥ श्रीरामजी के अनुपम रूप को पुरवासी गण एवं राज-समाज आदरपूर्वक देख रहे हैं। उसी समय श्रीलक्ष्मणजी ने कहा—'हे शेषजी! हे पृथिवी! और हे पर्वत गण! आज आप सब निश्चल हो जायँ ॥४॥ हे कमठ! हे वराह और हे दिग्गजो! आप लोग अपने-अपने समस्त अंगों को सावधान करो और प्रभु श्रीरामजी का कार्य करें। श्रीदशरथजी के युवराज श्रीरामजी उत्साहपूर्वक शिवजी का धनुष चढ़ाना चाहते हैं ॥ ५ ॥ तब श्रीरामजी ने मुनि विश्वामित्रजी को पुलकित करते हुए खेल में ही हथेली से पकड़ कर उस धनुष को उठा लिया और राजाओं के मुखों के साथ उसे झुका कर और उस पर रोदा सज कर सभी को सुख दिया ॥ ६ ॥ फिर सबके क्लेश हरण करनेवाले हरि श्रीरामजी ने श्रीसीताजी के मन के साथ उसे आकर्षित किया, इससे श्रीजनकजी का हृदय हर्षित हुआ और फिर श्रीपरशुरामजी के गर्व के साथ उस धनुष को तोड़ डाला। इस आश्चर्य कर्म से प्रभु ने तीनों लोकों को विशेष मोहित (विमुग्ध) कर दिया ॥ ७ ॥

विशेष—'जबहि सब' 'गुरु-पद-पदुम बंदि'…'—'सब नृपति' पहले एक-एक ने उठाने की भरपूर चेष्टा की थी, फिर दस हजार राजाओं ने मिल कर भी पूर्ण प्रयास किया। इस प्रकार उनकी पूर्ण-निराशता पर ही प्रभु अपनी आवश्यकता मान कर गुरु-वन्दना करके धनुष तोड़ने गये। गुरु-पद वन्दना के

सम्बन्ध से 'रघुपति' कहा गया है; क्योंकि रघुवंशी सब गुरु-ब्राह्मण में निष्ठा रखनेवाले होते आये हैं।

'कल कुंडल पल्लव प्रसून···'; यथा —"सिरनि सिखंड, सुमन-दल-मंडन बालसुभाय बनाए।" (पद ५६); "चौतनि सिरनि कनक कलि काननि···;" (पद ६२) तथा—"कल कुंडल, चौतनी चारु अति···" (पद ६२)–इनके विशेष देखिये।

श्रीरामचरितमानस के धनुष-यज्ञ प्रसंग में 'पीत चौतनी' का वर्णन है; यथा —"पीत चौतनी सिरनि सुहाई। कुसुम कली बिच बीच बनाई॥" ऐसा लिखा है और यहाँ 'सिर चारु चौतनी लाल' ऐसा लिखा है। यह कल्पभेद है।

'उर भुज नयन बिसाल'—छाती चौड़ी, भुजाएँ लम्बी और नेत्र बड़े-बड़े हैं, एक 'बिसाल' पद में ही ये तीनों अर्थ होते हैं।

'लखन कह्यो थिर होहिं···कमल कोल दिग्दंति···'; यथा—"लखन लख्यो रघुबंस मनि, ताकेउ हर कोदंड। पुलकि गात बोले बचन, चरन चापि ब्रह्मंड॥ दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला॥ राम चहहिं संकर धनु तोरा। होहु सजग सुनि आयसु मोरा॥" (मा० बा० २५९)। 'धरनिधरु' अर्थात् पृथिवी का धारण करनेवाले शेषजी। धरनि-धर=भूधर, पहाड़।

'सकल अंग'– जिन-जिन अंगों से ब्रह्माण्ड धारण का कार्य करते हैं, उन्हें सावधान करिये। 'दसरथ को जुबराज'—यद्यपि अभी श्रीरामजी युवराज नहीं हुए हैं तथापि "जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥" इस वंश-परम्परा के अनुसार युवराज कहे जाते हैं।

'गहि करतल, मुनि पुलक सहित···'; यथा—"कौसिक-रूप-पयोनिधि पावन। प्रेमवारि अवगाह सुहावन॥ राम-रूप-राकेस निहारी। बढ़त बीच पुलकावलि भारी॥" (मा० बा० २६१)। "अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा।" (मा० बा० २६०)। 'नृप गन मुखनि समेत··'—जिस धनुष को राजा लोग उठा भी नहीं सके थे, इससे पहले घमंड से शिर ऊँचा किये हुए थे कि मुझ से नहीं उठा तो किसी से भी तो नहीं उठा। अब उनका घमंड नष्ट होकर शिर नीचा हो गया है। तथा—"श्रीहत भए भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीप छबि छूटे॥" (मा० बा० २६२)।

'आकरष्यो सिय मन समेत'''—धनुष का रोदा खींचने के साथ ही श्रीसीताजी का मन भी खिंच गया। वे तो चाहती थीं कि इन्हीं से धनुष टूटे, वही हुआ। अतः, उनका मन खिंच गया, श्रीरामजी पर मुग्ध हो गया। 'हरि' क्योंकि इस कर्म से श्रीरामजी ने श्रीसीताजी का क्लेशहरण किया है; यथा—"देखी बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलप सम तेही॥ तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा। मुए करइ का सुधा तड़ागा॥ का बरषा सब कृषी सुखाने। समय चुकें पुनि का पछिताने॥ अस जिय जानि जानकी देखी।'''अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा॥" (मा० बा० २६०)। 'हरष्यो जनक हियो'; यथा—"जनक लह्यो सुख सोच बिहाई। पैरत थके थाह जनु पाई॥" (मा० बा० २६२)। 'भंज्यो भृगुपति-गरब सहित'; यथा—"भृगुपति केरि गरब गरुआई।'''संभुचाप बड़ बोहित पाई। चढ़े जाइ सब संग बनाई॥'''संकर चाप जहाज, सागर रघुबर बाहुबल। बूड़ सो सकल समाज। चढ़ा जो प्रथमहिं मोहबस॥" (मा० बा० २५९-२६१)।

इन ६-७ वें चरणों के भाव श्रीहनुमन्नाटक के इस श्लोक से मिलते हैं। यथा—"उत्क्षिप्तं सह कौशिकस्य पुलकैः सार्द्धं मुखैर्नामितं भूपानां जनकस्य संशयधिया साकं समास्फालितम्। वैदेही मनसा समं च सहसाकृष्टं ततो भार्गव प्रौढ़ाहंकृतिदुर्मदेन सहितं तद्भग्नमैशं धनुः॥" श्लोकार्थ ही श्रीगोस्वामीजी ने प्रकट किया है।

"यहाँ श्रीरामजी में नाना रसों की स्थिति है। श्रीविश्वामित्रजी का वात्सल्य रस है—कर कमलों से झुक कर धनुष उठाना आलंबन विभाव है, अनुराग से देखना अनुभाव है, हर्ष संचारी है, पुलक सात्त्विक है और वत्सलता स्थायी है। दुष्ट राजाओं का भयानक रस है प्रतापवान बीर रूप प्रभु का विभाव है, शिर झुका कर धनुष लेना अनुभाव है, दीनता संचारी है और भय स्थायी है। पहले श्रीजनकजी का करुण रस था—धनुष का न टूटना विभाव, अधीरता अनुभाव, ग्लानि संचारी और शोक स्थायी था, यहाँ प्रभु के वीर रस से धनुष टूटने पर वह करुणा नष्ट हुई, इससे इनका हृदय हर्षित हुआ। श्रीजानकीजी का शृंगार रस है—धनुष चढ़ाना विभाव, मन लगा कर देखना अनुभाव, निर्वेद संचारी और दृष्टिभोग स्थायी है। श्रीपरशुरामजी पर प्रभु का वीर रस है—स्था

उद्दीपन है।" इत्यादि भाव श्रीवैजनाथजी एवं हरिहर प्रसाद ने कुछ भेद से माना है।

भयो कठिन कोदंड-कोलाहल प्रलय पयोद समान।
चौंके सिव बिरंचि, दिसि नायक, रहे मूँदि कर कान ॥८॥
सावधान ह्वै चढ़े बिमाननि चले बजाइ निसान।
उमँगि चल्यो आनंद नगर नभ जय धुनि मंगल गान ॥९॥
बिप्र-बचन सुनि सखी सुआसिनि चलीं जानकिहि ल्याइ।
कुँवर निरखि, जयमाल मेलि उर कुँवरि रही सकुचाइ ॥१०॥
बरषहिं सुमन, असीसहिं सुर-मुनि, प्रेम न हृदय समाइ।
सीय-राम की सुंरता पर तुलसिदास बलि जाइ ॥११॥

अर्थ—धनुष टूटने का बड़ा भारी कठिन कोलाहल (महाशब्द) प्रलय-कालीन मेघों के गर्जने के समान हुआ। उससे श्रीशिवजी और श्रीब्रह्माजी तथा इन्द्र आदि दिक्पाल चौंक पड़े एवं कानों को मूँद कर रह गये ॥ ८ ॥ फिर सावधान हो अपने-अपने विमानों पर चढ़े हुए वे नगाड़े बजाते हुए चले। नगर से आकाश तक आनन्द उमड़ चला, सर्वत्र जय ध्वनि और मंगलगान हो रहे हैं ॥ ९ ॥ ब्राह्मण श्रीशतानन्दजी के वचन सुन कर सुआसिनी सखियाँ श्री-जानकीजी को लिवा ले चलीं। कुँवर श्रीरामजी को देखकर कुँवरि श्रीजानकीजी ने उनके हृदय पर जयमाल पहनाया और फिर (लोकलाज से) वे सकुचा कर रह गईं ॥ १० ॥ उस समय देवता और मुनि फूलों की वर्षा करने लगे और आशीर्वाद देने लगे, उनके हृदय में प्रेम नहीं समाता। श्रीसीताजी और श्रीरामजीकी सुन्दरता पर तुलसीदास तो बलिहार हो रहा है ॥ ११ ॥

विशेष—'भयो कठिन''चौंके सिव-बिरंचि''; यथा—"लख्यो न चढ़ावत, न तानत, न तोरत हू, घोर धुनि सुनि सिव की समाधि टरी है ॥" (पद ९२)। "भरे भुवन घोर कठोर रव रबि बाजि तजि मारग चले। चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले ॥ सुर असुर मुनि कर कान दीन्हें सकल बिकल बिचारहीं। कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति बचन उचारहीं ॥" (मा० बा० २६०); "डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्बै समुद्र सर। ब्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर ॥ दिग्गयंद लरखरत,

परत दसकंठ मुक्खभर । सुर-बिमान हिमभानु भानु संघटित परस्पर ॥ चौंके बिरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यो । ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि जबहि राम सिव-धनु दल्यो ॥" (क० बा० ११)।

'सावधान ह्वै···'—देवता पहले से ही विमानों पर चढ़े आये हुए थे, वैसे चौंक कर कान मूँदे रह गये थे । अब नगाड़े बजा कर चले । यदि यहाँ चढ़ना अर्थ किया जायगा तो पहले उनका विमानों पर से उतरना या गिर पड़ना होना चाहिये, पर वैसा नहीं लिखा गया, इससे उक्तार्थ ही ठीक है।

'उमँगि चल्यो आनंद···'; यथा—"नभ पुर मंगल गान निसान गहागहे ।" (जानकी मंगल ६६); "राम कामरिपु चाप चढ़ायो । मुनिहि पुलक आनंद नगर नभ निरखि निसान बजायो ॥" (पद ९३)।

'बिप्र बचन सुनि···'; यथा—"सतानंद तब आयसु दीन्हा । सीता गवन राम पहिं कीन्हा ॥ संग सखी··कर सरोज जयमाल सुहाई ।" (मा० बा० २६३)। तथा—"तब उपरोहित कहेउ, सखी सब गावत । चलीं लेवाइ जानकिहिं भा मन भावत ॥" (जानकी मंगल ६६)।

'कुँवर निरखि, जयमाल मेलि···'; यथा—"जाइ समीप राम छबि देखी । रहि जनु कुँवरि चित्र अवरेखी ॥ ·· गावहिं छबि अवलोकि सहेली । सिय जयमाल राम उर मेली ॥" (मा० बा० २६३)। श्रीरामचरितमानस और जानकी-मंगल में जयमाल पहनाने के पहले का संकोच कहा गया है । यहाँ पहनाने के पीछे का वर्णित है । दोनों भाव ठीक हैं, पहले संकोच था और पीछे भी रहा; क्योंकि यहाँ सभा है, गुरु जन विराजमान हैं । इससे आँख भर देख नहीं सकतीं ।

'बरषहिं सुमन, असीसहिं सुर-मुनि···'; यथा—"सुर किन्नर नर नाग मुनीसा । जय, जय जय कहि देहिं असीसा ॥ नाचहिं गावहिं बिबुध बधूटीं । बार-बार कुसुमांजलि छूटी ॥" (मा० बा० २६४)।

'सीय-राम की सुंदरता पर···'; यथा—"सोहति सीय राम कै जोरी । छबिसिंगार मनहुँ एकठौरी ॥" (मा० बा० २६४)। अतः, यह सुन्दरता ही वैसी है । आगे के पद ९६-९७ देखिये ।

राग मलार

[६१]

जब दोउ दसरथ-कुँवर बिलोके।
जनक नगर नर-नारि मुदित मन निरखि नयन पल रोके ॥१॥
बय किसोर, घन तड़ित-बरन तनु, नख-सिख अंग लोभारे।
दै चित, कै हित, लै सब छबि-बित बिधि निज हाथ सँवारे ॥२॥
संकट नृपहिं, सोच अति सीतहि, भूप सकुचि सिर नाए।
उठे राम रघुकुल-कल-केहरि गुरु-अनुसासन पाए ॥३॥
कौतुकहीं कोदंड खंडि प्रभु, जय अरु जानकि पाई।
तुलसिदास कीरति रघुपति की मुनिन्ह तिहूँ पुर गाई ॥४॥

अर्थ—जिस समय श्रीदशरथ महाराज के दोनों कुमारों को देखा, उस समय श्रीजनक नगर के स्त्री-पुरुषों ने आनन्दित मन हो, इन्हें देख कर अपने-अपने नेत्रों की पलकों को रोक दिया; अर्थात् वे सब यकटक देखने लगे ॥ १ ॥ इन की किशोर-अवस्था है, दोनों ही मेघ और बिजली के समान श्याम-गौर वर्ण के शरीरवाले हैं, इनके नख से शिखा पर्यन्त सभी अंग लुभावने हैं; मानो विधाता ने समस्त छबि रूपी धन लेकर और चित्त देकर प्रीतिपूर्वक अपने हाथों से ही इनको सँवारा है ॥ २ ॥ जिस समय राजा जनक को (प्रतिज्ञा और इनके स्नेह की खींचातानी का) संकट था तथा श्रीसीताजी को अत्यन्त शोच था (कि श्रीरामजी अति कोमल हैं और धनुष अत्यन्त कठोर है। ये कैसे तोड़ेंगे ?) एवं राजा लोग (इनके तेज-प्रताप एवं रूप से अलौकिक बल का अनुमान कर इनसे धनुष टूटने की संभावना पर) सङ्कोच वश हो शिर झुकाये हुए थे; उसी समय गुरु-आज्ञा पाए हुए रघुकुल के सुन्दर सिंह रूप श्रीरामजी उठे ॥ ३ ॥ इन प्रभु ने खेल में ही धनुष तोड़ कर (विश्व-) विजय और श्रीजानकीजी को प्राप्त किया। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि तीनों लोकों में मुनियों ने श्रीरघुनाथजी की कीर्ति का गान किया ॥ ४ ॥

विशेष—'जब दोउ· ·जनक नगर···'; यथा—"जब ते राम-लखन चितये री। रहे इकटक नर-नारि जनकपुर, लागत पलक कलप बितये री ॥" (पद ७८);

तथा—"राम-लखन जब दृष्टि परे, री। अवलोकत सब लोग जनकपुर मानो बिधि बिबिध बिदेह करे, री॥" (पद ७६)।

'दै चित, कै हित ···'; यथा—"राज कुँवर-मूरति रचिबे की रुचि सुचि बिरंचि श्रम कियो है कितौ, री॥" (पद ७७); तथा—"बिरचत इन्हहिं बिरंचि भुवन सब सुंदरता खोजत रितये, री॥" (पद ७८); "कहा एक मैं आजु निहारे जनु बिरंचि निज हाथ सँवारे॥" (मा० बा० ३१०)।

'संकट नृपहि'—पद ८६ देखिये। 'सोच अति सीतहिं'; यथा—"देखी बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलप सम तेही॥" से "अस जिय जानि जानकी देखी। प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेषी॥" (मा० बा० २६०) तक। 'भूप सकुचि सिर नाए'; यथा—"उदित उदयगिरि मंच पर, रघुबर बालपतंग।··· मानी महिप कुमुद सचाने। कपटी भूप उलूक लुकाने॥" (मा० बा० २५४)।

'उठे राम···कौतुक ही···'; यथा—"गुरुहि प्रनाम मनहि मन कीन्हा। अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा॥···लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े॥ तेहि छन राम मध्य धनु तोरा।" (मा० बा० २६०); तथा पद ६० के ६-१० चरण देखिये। एवं—"धनु चढ़ाइ कौतुकहि कान लगि तानेउ।" (जानकी मंगल ६४); "बिस्व बिजय जस जानकि पाई।" (मा० बा० ३५६)।

'कीरति रघुपति की···'; यथा—"महि पाताल नाक जस ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा॥" (मा० बा० २६५); "पहिराई जयमाल जानकी··· सुजस तिहुँ पुर छायो॥" (पद ९१); "टूट्यो धनुष मनोरथ पूज्यो, बिधि सब बात बनाई॥···त्रिभुवन बिदित बड़ाई॥" (पद ६८)।

राग टोड़ी

[९२]

मुनि-पद-रेनु रघुनाथ माथे धरी है।
रामरुख निरखि, लखन की रजाइ पाइ,
धरा-धर-धरनि सुसावधान करी है॥१॥
सुमिरि गनेस, गुरु, गौरि, हर, भूमिसुर,
सोचत सकोचत सकोची बानि खरी है।

दीनबंधु, कृपासिंधु, साहसिक, सीलसिंधु,
सभा को सकोच कुलहू की लाज परी है ॥२॥
पेखि पुरुषारथ, परखि पन, प्रेम, नेम,
सिय-हिय की बिसेषि बड़ी खरभरी है।
दाहिनो दियो पिनाकु, सहमि भयो मनाकु,
महाब्याल बिकल बिलोकि जनु जरी है ॥३॥
सुर हरषत, बरषत फूल बार-बार,
सिद्ध-मुनि कहत सगुन सुभ घरी है।
राम-बाहु-बिटप बिसाल बोंड़ी देखियत,
जनक-मनोरथ कलपबेलि फरी है ॥४॥
लख्यो न चढ़ावत, न तानत, न तोरत हूँ,
घोर धुनि सुनि सिव की समाधि टरी है।
प्रभु के चरित चारु तुलसी सुनत सुख,
एक ही सुलाभ सब ही की हानि हरी है ॥५॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी ने मुनि श्रीविश्वामित्रजी के चरण की धूलि शिर पर धारण की। तब श्रीरामजी का रुख देख और श्रीलक्ष्मणजी की आज्ञा पाकर पृथिवी का धारण करनेवाले कच्छप, शेष एवं दिग्गज आदि ने पृथिवी को सावधान कर दिया। (कि हम सब तो तुम्हें धारण करेंगे ही, तुम भी सावधान रहो, कही लघुतरणी की भाँति उलट न जाना,) ॥ १ ॥ श्रीजानकीजी, श्रीगणेशजी, श्रीगुरुजी, श्रीगौरीजी, श्रीशिवजी और पृथिवी के देवता ब्राह्मण इन सबका स्मरण कर शोच करती हैं और संकोच देती हुई कहती हैं कि आप लोगों का शुद्ध संकोचमय स्वभाव है (अतः, संकोच में पड़ कर असाध्य कार्य भी सम्पन्न कर देते हैं,) हे दीनबन्धु ! हे कृपासिंधु ! हे सहसा (अतिशीघ्र) कार्यसिद्धि देनेवाले ! और हे शीलसिंधु ! मुझे सभा का संकोच है और कुलकी भी लज्जा (रखने की बात) आ पड़ी है ॥ २ ॥ राजाओंके पुरुषार्थ देख और श्रीजनकजी के प्रण की तथा श्रीताजी के प्रेम-नेम की परीक्षा कर, विशेष कर श्रीसीताजी के हृदय की बड़ी खलबली पर (श्रीरामजी ने) पिनाक धनुष को दाहिना दिया (परिक्रमा की). वह डर से सिकुड़ कर छोटा-सा हो गया, ऐसा जान पड़ता

था मानो जड़ी देख कर महा सर्प व्याकुल हो (सिकुड़ गया हो) ॥ ३ ॥ देवतागण हर्षित होकर बार-बार फूल बरसने लगे और सिद्ध तथा मुनि कहने लगे कि यह घड़ी शुभ है और शुभशकुन भी हो रहे हैं (अतः, धनुष तोड़ने का यही उपयुक्त समय है)। (उसी समय) श्रीरामजी के विशाल बाहु रूप सुन्दर वृक्ष पर श्रीजनकजी की बौड़ी हुई मनोरथ रूपी कल्पलता फली हुई देख पड़ने लगी (अर्थात् श्रीरामजी ने धनुष तोड़ दिया) ॥४॥ किसी ने धनुष को न चढ़ाते देखा, न खींचते और न तोड़ते ही देख पाया (अत्यन्त शीघ्रता में धनुष तोड़ दिया गया), उसकी भयानक ध्वनि सुन कर श्रीशिवजी की अखण्ड समाधि छूट गई है । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इस एक ही सुन्दर लाभ से सभी की हानियाँ दूर हो गईं ! प्रभु श्रीरामजी के इन सुन्दर चरित्रों को सुनने पर सुख होता है ॥ ५ ॥

विशेष—'मुनि पद रेनु···'—गुरु चरण रज का महत्त्व दिखाया है; यथा—"जे गुरुचरन रेनु सिर धरहीं । ते जनु सकल बिभव बस करहीं ॥" (मा० अ० २)यहाँ आप इस निष्ठा से विश्वविजय-यश और श्रीजानकीजी की प्राप्ति करेंगे ।

'राम रुख निरखि···'; यथा—"लखन लखेउ रघुबंस मनि, ताकेउ हरकोदंड । पुलकिगात बोले बचन, चरन चापि ब्रह्मंड ॥ दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला । धरहु धरनि धरि धीर न डोला ॥ राम चहहिं संकर धनु तोरा । होहु सजग सुनि आयसु मोरा ॥" (मा० बा० २५९) । 'धराधर' इस पद से पृथिवी का धारण करनेवाले दिग्गज, कमठ, शेष और वराह सभी लिये गये हैं । इन सबने पृथिवी को सावधान किया है । क्योंकि धनुष तो पृथिवी पर ही है । अतः, उसका सावधान रहना आवश्यक है ।

'सुमिरि गनेस···'; यथा—"तब रामहिं बिलोकि बैदेही । सभय हृदय बिनवति जेहि तेही ।। मन ही मन मनाव अकुलानी । होहु प्रसन्न महेस भवानी ॥ करहु सुफल आपनि सेवकाई । करि हित हरहु चाप गरुआई ॥ गन नायक बर दायक देवा । आजु लगे कीन्हिउँ तव सेवा ।। बार-बार बिनती सुनि मोरी । करहु चाप गरुता अति थोरी ॥ देखि देखि रघुबीर तन, सुर मनाव धरि धीर ।" (मा० बा० २५६-२५७) ।

'दीनबंधु कृपासिंधु…'—देवों से ही कहती हैं कि आप मेरी दीनता पर सहायक हों, कृपा करें, शीघ्र श्रीरामजी के प्रति धनुष को हलका कर इनसे तोड़ा दें। आप सब शील के सागर हैं। अतः मेरी ओर की त्रुटियों पर ध्यान न दें। यह प्रार्थना देवों से ही है, पर आगे फल की व्यवस्था उनके अन्तर्यामी श्रीराम जी के द्वारा हुई है—"पेखि पुरुषारथ…'। ऐसा भगवान् का नियम है; यथा—"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥" (गीता ७।२१-२२); अर्थात् जो-जो भक्त जिस-जिस तन (देवता रूप मेरे शरीर) को श्रद्धा के साथ पूजना चाहता है, उस-उस की उस श्रद्धा को मैं ही अचल-स्थिर कर देता हूँ। वह (भक्त) उस श्रद्धा से युक्त होकर उस (देवता रूप मेरे शरीर) की आराधना करता है और उससे उन भोगों को प्राप्त करता है, जो मेरे ही द्वारा नियत किये हुए हैं।

'सभा को सकोच…'—भाव यह कि मेरे हृदय की भावना तो यही है कि विना धनुष तोड़े ही श्रीरामजी को जयमाला पहना दूँ; परन्तु सभा में स्वेच्छा से पिता के पण की अवहेलना कर पति वरण करना बड़ा अनुचित है, लज्जा की बात है और फिर हमारे पवित्र कुल में किसी कन्या ने ऐसा स्वेच्छाचरण नहीं किया, यह कुल की लज्जा रखने की बात भी आ पड़ी है। अतः आप सब ऐसी कृपा करें, जिससे मेरी हार्दिक-निष्ठा और बाहरी मर्यादा दोनों रह जायँ। श्रीराम ही विजयी हों और मैं उन्हें ही वरण करूँ।

'पेखि पुरुषारथ…'—राजा लोग पुरुषार्थ कर हार गये, उनका पुरुषार्थ देख लिया गया। अब वे यह नहीं कह सकते कि श्रीरामजी ने धनुष तोड़ दिया नहीं तो हम तोड़ डालते। श्रीजनकजी के पण की परीक्षा हो गई, वे दृढ़ प्रतिज्ञ ख्यात हुए: यथा—"लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू॥ सुकृत जाइ जौं पन परि हरऊँ। कुँवरि कुँवारि रहउ का करऊँ॥" (मा० बा० २५२)।

'परखि प्रेम नेम'—श्रीजानकीजी का प्रेम-नेम; यथा—"तब रामहिं बिलोकि बैदेही! सभय हृदय बिनवति जेहि तेही॥" से "प्रभु तन चितइ प्रेम तन ठाना। कृपा निधान राम सब जाना॥" (मा० बा० २५६-२५८) तक। श्रीजानकीजी का प्रेम-नेम सच्चा देखा।

'सिय हिय की बिसेषि बड़ी खरभरी है।'; यथा—"चितई सीय कृपायतन, जानी बिकल बिसेखि ॥" से "अस जिय जानि जानकी देखी। प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेखी ॥" (मा० बा० २६०) तक।

'दाहिनो दियो पिनाकु…'—यह पिनाक शिवजी का आयुध है। अतः, दिव्य है, इससे शिवजी का अंग मान उसकी प्रदक्षिणा की। प्रभु तोड़ेंगे, यह समझ कर वह डर से सिकुड़ गया।

'महाब्याल बिकल…'—यहाँ महाब्याल रूप धनुष है और जड़ी के समान प्रभु हैं। उक्त विषयावस्तूप्रेक्षा अलङ्कार है।

'राम बाहु बिटप…'—यहाँ श्रीराम बाहु रूपी वृक्ष का आश्रयण कर श्रीजनकजी की मनोरथ बेलि बौंड़ चुकी थी-पद ८८ के 'मिट्यो महामोहजी को' इस चरण में लिखा गया, यहाँ वह बेलि फल भी गई; अर्थात् श्रीरामजी ने धनुष तोड़ बहाया; यथा—"गुरुहि प्रनाम मनहि मन कीन्हा। अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा ॥…तेहि छन राम मध्य धनु तोरा ॥" (मा० बा० २६०); यहाँ 'रूपक' अलङ्कार है, यह टूटने की व्यवस्था आगे कहते हैं—

'लख्यो न चढ़ावत…'—यथा—"लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े ॥ तेहि छन राम मध्य धनु तोरा।" (मा० बा० २६०)। 'घोर धुनि सुनि…'; यथा—"भयो कठिन…चौंके सिव-बिरंचि…" (पद ९०) —इसका विशेष देखिये।

'एक ही सुलाभ…'—धनुर्भङ्ग से श्रीजनकजी का पण पूरा हुआ और उनकी कन्या का व्याह-संयोग बना, यह सुन्दर लाभ हुआ। इस लाभ से सभी की हानियाँ दूर हुईं, क्योंकि आदिशक्ति के संयोग से आगे का अवतार कार्य होगा। अतः, इससे देवों के यज्ञ भाग न मिलने की हानि गई; क्योंकि अब रावण मारा जायगा। इस प्रकार जिन-जिन हानियों को दूर करने के लिये अवतार हुआ है, वे सब दूर हुईं। ऐसे परम लाभदायक प्रभु के इस सुन्दर चरित के सुनने में परम सुख होता ही है।

राग सारंग

[९३]

राम कामरिपु-चाप चढ़ायो।

मुनिहि पुलक, आनंद नगर, नभ निरखि निसान बजायो ॥१॥

जेहि पिनाक बिनु नाक किये नृप, सबहि बिषाद बढ़ायो।
सोइ प्रभु कर परसत टूट्यो, जनु हुतो पुरारि पढ़ायो ॥२॥
पहिराई जयमाल जानकी, जुवतिन्ह मंगल गायो।
तुलसी सुमन बरषि हरषे सुर, सुजस तिहूँ पुर छायो ॥३॥

अर्थ—श्रीरामजीने कामादि शिवजी के धनुष को चढ़ा दिया, इस पर मुनि विश्वामित्रजी को पुलकावली हो आई, श्रीजनक नगर में आनन्द छा गया; यह देख कर आकाश में देवताओं ने नगाड़े बजाये ॥ १ ॥ जिस पिनाक धनुष ने सप्तद्वीपों के राजाओ को विना नाक (प्रतिष्ठा) का कर दिया था और सभी को दुःख बढ़ाया था, वही प्रभु श्रीरामजी के हाथ का स्पर्श होते ही टूट गया, ऐसा जान पड़ता है कि मानों त्रिपुरारि शिवजी ने उसे यह पढ़ा रक्खा था (कि श्रीराम का स्पर्श होते ही तुम टूट जाना) ॥ २ ॥ श्रीजानकीजी ने जयमाला पहनाई और स्त्रियों ने मङ्गलगान किया। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि देवगण फूलों की वर्षा कर हर्ष प्रकट कर रहे हैं और तीनों लोकों में इसका सुयश छा गया है।

विशेष—'मुनिहि पुलक···'; यथा—"गहि करतल, मुनि पुलक सहित··· उमँगि चल्यो आनँद नगर नभ जय धुनि मंगलगान।" (पद ९०)—इनके विशेष देखिये।

'जेहि पिनाक बिनु नाक किये नृप···'; यथा—"साधु भूप बोले सुनि बानी। राज समाजहिं लाज लजानी॥ बल प्रताप बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहि संग सिधाई॥" (मा० बा० २६५)।

'सोइ प्रभु कर परसत टूट्यो···'; यथा—"छुअत टूट रघुपतिहु न दोषू।" ···"छुअतहि टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करउँ अभिमाना॥" (मा० बा० २७१-२८२)। "तुलसी सो राम के सरोजपानि परसत टूट्यो मानों बारे ते पुरारि ही पढ़ायो है॥" (क० बा० १०)।

'जनु हुतो···'—इतनी शीघ्रता में टूटा कि किसीने उसका खींचना चढ़ाना और तोड़ना देखा ही नहीं—'लख्यो न चढ़ावत'···' यह ऊपर का पद देखिये। इस पर उत्प्रेक्षा की है कि मानो इसके स्वामी शिवजी ने ही इसे पढ़ा रक्खा था।

'पहिराई जयमाल···'; यथा—"गावहिं छबि अवलोकि सहेली। सिय

जयमाल राम उर मेली ॥ (मा० बा० २६३); 'सुमन बरषि···'; यथा—
"बरषहिं सुमन असीसहिं सुरमुनि—" (पद ६०); तथा—"तुलसिदास
कीरति रघुपति की मुनिन्ह तिहूँ पुर गाई ॥" (पद ६१)–इनके विशेष देखिये।

राग टोड़ी

[६४]

जनक मुदित मन टूटत पिनक के।
बाजे हैं बधावने, सुहावन मंगलगान,
भयो सुख एकरस रानी राजा राँक के ॥१॥
दुंदुभी बजाइ, गाइ, हरषि बरषि फूल,
सुरगन नाचैं नाच नायकहू नाक के।
तुलसी महीस देखे दिन रजनीस जैसें,
सूने परे सून-से मनो मिटाये अँक के ॥२॥

अर्थ—पिनाक धनुष के टूटते ही श्रीजनकजी मन में आनन्दित हुए। बधाए बजने लगे और सुहावने मंगलगान होने लगे, इससे रानी, राजा और रङ्क, सब को एकरस सुख हुआ ॥ १ ॥ देवगण तथा स्वर्ग के स्वामी इन्द्र भी नगाड़े बजाते और गाते हुए आनन्दित हो फूल की वर्षा कर नाच नाचने लगे। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उस समय राजा लोग दिन में चन्द्रमा के समान (श्री हीन) जान पड़ते थे। वे मानों अङ्क के मिटाये जाने पर शून्य के समान शून्य (नगण्य, बेहिसाब) पड़ गये थे ॥ २ ॥

विशेष—'जनक मुदित मन··'; यथा—"जनक लह्यो सुख सोच बिहाई। पैरत थके थाह जनु पाई ॥" (मा० बा० २६२)।

'बाजे हैं बधावने···'; यथा—"झाँझ मृदंग संख सहनाई। भेरि ढोल दुंदुभी सुहाई ॥ बाजहिं बहु बाजने सुहाए। जहँ-तहँ जुवतिन्ह मंगल गाए ॥ सखिन्ह सहित हरषीं सब रानी। सूखत धान परा जनु पानी ॥ जनक लहेउ सुख सोच बिहाई। पैरत थके थाह जनु पाई ॥" (मा० बा० २६२)।

'दुंदुभी बजाइ···'—आदिशक्ति से ही इन देवों की विपत्ति दूर होगी, यह समझ ये इनके ब्याह पर विशेष आनन्द मना रहे हैं।

'महीस देखे दिन रजनीस जैसे'; यथा—श्रीहत भये भूप धनु टूटे। जैसे

दिवस दीप छबि छूटे ॥'' (मा० बा० २६२); पहले भी ये राजा, श्रीराम-लक्ष्मण के समक्ष फीके पड़े थे; यथा—''राज समाज विराजत रूरे। उडगन महँ जनु जुग बिधु पूरे ॥'' (मा० बा० २४०)। धनुष टूट जाने पर तो पूर्ण पराजित हो गये। अतः, अब दिन के चन्द्रमा के समान नितान्त प्रभाहीन हो गये। यहाँ 'धर्मलुप्तोपमालंकार' है।

'सूने परे सून-से....' जैसे दस (१०) की संख्या में यदि '१' यह अङ्क निकाल लिया जाय तो शेष बचे हुए शून्य की कुछ गणना नहीं रह जाती; इसी प्रकार धनुष रूपी अङ्क के साथ इनकी मर्यादा बनी हुई थी कि धनुष अजेय है, इससे हमसे नहीं टूटा तो किसी से भी तो नहीं टूटा। अब उसके टूट जाने पर इन राजाओं की वह रही-सही मर्यादा भी रफूचक्कर हो गई। अब शून्य के समान बैठे हैं, इनकी कुछ गणना नहीं रह गई। यहाँ 'उक्तविषया-वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।

आगे इन मर्यादा-भ्रष्ट राजाओं की अशिष्टतापूर्ण मूर्खता कहते हैं—

[६५]

लाज तो न साजि साज राजा राड़ रोषे हैं।
कहा भौ चाप चढ़ाये, ब्याह ह्वै है बड़े खाये,
बोलैं खोलैं सेल असि चमकत चोखे हैं ॥ १ ॥
जानि पुरजन त्रसे, धीर दै लखन हँसे,
बल इन्हको पिनाक नीके नापे जोखे हैं।
कुलहि लजावैं बाल, बालिस बजावैं गाल,
कैधौं कूर कालबस तमकि त्रिदोषे हैं ॥ २ ॥
कुँवर चढ़ाई भौंहैं, अब को बिलोकै सोहैं,
जहाँ-तहाँ भे अचेत खेत के-से धोखे हैं।
देखे नर-नारि कहैं, साग खाइ जाए माइ,
बाहु पीन पाँवरनि पीना खाइ पोखे हैं ॥ ३ ॥
प्रमुदित-मन लोक - कोकनद - कोक गन,
राम के प्रताप-रबि सोच-सर सोखे हैं।

तब के देखैया तोषे, तब के लोगनि भले,
अब के सुनैया साधु तुलसिहुँ तोषे हैं ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—राड (हिं० राढ़ ?) = (१) नीच, निकम्मा, (२) कायर, भगोड़ा; यथा—"राढ़उ राउत होत फिरि कै जूझै।" (वि० १७६); "लखि गयंद लै चलत भजि, स्नान सुखानो हाड़ । गज-गुन, मोल, अहार, बल, महिमा जान कि राड़ ? ॥" (दोहावली ३८०) । बड़े खाये = (मुहा०) बड़ी कठिनता से । खेत के-से धोखे = पशु-पक्षियों को डराने के लिये खेत में खड़ा किया हुआ चीथड़ों का मनुष्य का पुतला-सा । पीना = तिल की खली; अर्थात् निःसार भोजन ।

अर्थ—इन कायर राजाओं में लज्जा तो है नहीं, इससे युद्ध के साज सज कर क्रुद्ध हुए हैं । 'धनुष चढ़ा लेने से क्या हुआ ? व्याह बड़ी कठिनता से होगा'—ऐसा कहते हैं और वे भाले तथा चमकती हुई तीक्ष्ण तलवारें खोलते (म्यान से निकालते) हैं ॥ १ ॥ पुरवासियों को डरे हुए जान कर उन्हें धैर्य दे कर हँसते हुए श्री लक्ष्मणजी ने कहा—'इनके बल पिनाक ने भली-भाँति नाप-तौल लिया है । ये मूर्ख अपने कुल को लज्जित करते हैं और अज्ञान से गाल बजाते हैं । अथवा, ये क्रूर हैं; कालवश होकर त्रिदोष-वश होने से तमक रहे हैं' ॥ २ ॥ (ऐसा कह कर) राजकुमार श्रीलक्ष्मणजी ने कुछ क्रुद्ध होकर भौंहें चढ़ा लीं । अब उनके समक्ष कौन देखने में समर्थ हो सकता था ? खेत के धोखे के समान सब जहाँ के तहाँ अचेत हो रह गये । उन्हें देख नगर के स्त्री-पुरुष कहने लगे कि इनकी माताओं ने इन्हें शाक खाकर पैदा किया है और इन नीचों ने पीना खा-खाकर मोटी-मोटी बाहें पोष रक्खी हैं ॥ ३ ॥ इस प्रकार श्रीरामजी के प्रताप रूपी सूर्य के उदित होते ही समस्त लोक रूपी कमल एवं चकवा-चकवी समूह मन से परम आनंदित हुए और सबके शोक रूपी सर सूख गये । उस समय के देखने वालों ने तो उस समय के अच्छे लोगों को सन्तुष्ट किया है । अब के सुननेवाले साधुओं को श्रीतुलसीदास ने भी सन्तुष्ट किया है ॥ ४ ॥

विशेष—'लाज तो न···कहा भौ चाप चढ़ाये···'; यथा—"तब लगि देखि भूप अभिलाखे । क्रूर कपूत मूढ़ मन माखे ॥ उठि-उठि पहिरि सनाह

अभागे। जहँ-तहँ गाल बजावन लागे॥ लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ। धरि बाँधहु नृप-बालक दोऊ॥ तोरे धनुष चाँड नहिं सरई। जीवत हमहिं कुँवरि को बरई॥ जौ बिदेह कछु करइ सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई॥" (मा० बा० २६५) 'बल इनके पिनाक नीके नापे जोखे हैं': यथा—"जेहि पिनाक बिनु नाक किये नृप" (पद ९३)—इसका विशेष देखिये। 'बजावैं गाल'—व्यर्थ की डींगे मार रहे हैं। झूठी वीरता बड़बड़ा रहे हैं; यथा—"मर्कट हीन करहु महि जाई। जियत धरहु तापस दोउ भाई॥ पुनि सकोप बोलेउ जुवराजा। गाल बजावत तोहिं न लाजा॥" (मा० लं० ३१)—इस प्रकार के व्यर्थ झूठे वचन बोलना गाल-बजाना है।

'कै धौं क्रूर कालबस…'—यहाँ राजकुमारी को देख काम-वश हैं, यह बात है और उसके पाने के लोभ-वश हैं, यह कफ है तथा प्रभु से क्रोध करते हैं, यह पित्त है, इन तीनों दोषों से इन्हें यदि सन्निपात हो गया है तो काल-वश होंगे; भाव यह कि मैं तुरत इन्हें मार डालूँगा, जैसे सन्निपात वाले मर जाते हैं, यदि तुरत चुप न होंगे। तथा "सन्निपात जलपसि दुर्बादा। भयसि कालबस खल मनुजादा॥" (मा० लं० ३१)।

'कुँवर चढ़ाई भौंहैं…'; यथा—"अरुन नयन भृकुटी कुटिल, चितवत नृपन्ह सकोप। मनहुँ मत्त-गज-गन-निरखि, सिंह किसोरहु चोप॥" (मा० बा० २६७); तथा—"तेज-निधान लखन पुनि तैसे॥ कंपहिं भूप बिलोकत जाके। जिमि गज हरि-किसोर के ताके॥" (मा० बा० २९२)।

'देखे नर-नारि कहैं…'—सामान्य लोग अनुचित कार्य पर प्रायः ऐसी गालियाँ देते हैं; यथा—"खरभर देखि बिकल पुरनारी। सब मिलि देहिं महीपन्ह गारी॥" (मा० बा० २६७)—यह इसी प्रसंग पर कहा गया है।

'प्रमुदित मन…'—श्रीराम-प्रताप सूर्यवत उदित हुआ, इसका रूपक पहले ही श्रीलक्ष्मणजी ने कह रक्खा है; यथा—"बोले लखन जोरि जुग पानी। प्रभु प्रभाउ सूचक मृदु बानी॥ अरुनोदय सकुचे कुमुद,…कमल कोक मधुकर खग नाना। हरषे सकल निसा अवसाना॥ ऐसेहि प्रभु सब भगत तुम्हारे। होइहहिं टूटे धनुष सुखारे॥…रबि निज उदय ब्याज रघुराया। प्रभु प्रताप सब नृपन्ह दिखाया॥ तव भुज बल-महिमा उदघाटी। प्रगटी धनु बिघटन परिपाटी॥"

(मा० बा० २३७-२३८)। सबके शोक रूपी सर सूख गये (इससे जो पहले सज्जन शोक रूपी जल में डूबे थे, वे कमलवत प्रफुल्लित हो गये तथा जो शोक रूपी रात में दु;खी थे, वे चक्रवाक के समान प्रसन्न हो गये (ऐसा श्रीवैजनाथजी ने लिखा है)। यहाँ प्रताप रवि के समक्ष कमल आदि का खिलना और साथ ही सरोवर के सूखने की बात क्यों कही गई ? यहाँ दोनों रूपकों में विरोध-सा दीखता है। सर का नाम ही पद्माकर है। पाठक विचार करें।

'तब के देखैया···'—भाव यह कि उन प्रत्यक्ष देखने वालों की भाँति ही मैंने इस चरित का वर्णन किया है, इससे सुनने वाले साधु सन्तुष्ट होते हैं। अथवा, उन देखने वालों की बातें श्रुति परम्परा से आई हैं, उनसे श्रवण के श्रोता साधु और तुलसीदासजी भी सन्तुष्ट हुए हैं, यह भी भाव हो सकता है।

[६६]

जयमाल जानकी जलज कर लई है।

सुमन सुमंगल सगुन की बनाइ मंजु,
मानहु मदन माली आपु निरमई है ॥ १ ॥
राज-रुख लखि गुरु भूसुर सुआसिनिन्हि,
समय समाज की ठवनि भली ठई है।
चलीं गान करत, निसान बाजे गहगहे,
लहलहे लोयन सनेह सरसई हैं ॥ २ ॥
हनि देव दुंदुभी हरषि बरषत फूल,
सुफल मनोरथ भो, सुख-सुचितई है।
पुरजन परिजन रानी राउ प्रमुदित,
मनसा अनूप राम-रूप-रंग रई है ॥ ३ ॥
सतानंद-सिख सुनि पाय परि पहिराई,
माल सिय-पिय-हिय, सोहत सो भई है।
मानस ते निकसि बिसाल सुतमाल पर,
मानहु मराल पाँति बैठी बनि गई है ॥४॥
हितन को लाह की, उछाह की, बिनोद-मोद,
सोभा की अवधि नहिं अब अधिकई है।

या ते बिपरीत अनहितन की जानि लीबी,
गति, कहे प्रगट, खुनिस खासी खई है ॥ ५ ॥
निज-निज बेद की सप्रेम जोग-छेम-मई,
मुदित असीस बिप्र बिदुषनि दई है।
छबि तेहि काल की कृपाल सीता दूलह की,
हुलसति हिये तुलसी के नित नई है ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—खुनिस (खुनस, सं० खिन्न-मनस्) क्रोध करना। खई = १-क्षयी, २-लड़ाई, झगड़ा। खासी = उत्तम, भरपूर, पूरी-पूरी। ठवनि = १-स्थिति, २-बैठने या खड़े होने का ढंग, मुद्रा।

अर्थ—श्रीजानकीजी ने अपने करकमलों में (कमल की) जयमाला ली है, वह शुभ शकुन सूचक सुमङ्गलमय फूल की मनोहर बनाई हुई है, मानो कामदेव रूपी माली ने स्वयं उसका निर्माण किया है ॥ १ ॥ राजा जनकजी का रुख देखकर गुरु श्रीशतानन्दजी, ब्राह्मण और सुवासिनी स्त्रियों ने उस समय तथा वहाँ के समाज के अनुरूप सुन्दर मुद्रा (साज) सजा (; अर्थात् श्री-जानकीजी को आगे कर और उनके आस-पास उपयुक्त सौंज वाली सखियों को नियुक्त कर) गान करती हुई चलीं। उस समय घमाघम नगाड़े बजने लगे और (श्रीसीताजी और श्रीरामजी का जयमाल-संयोग देखने वालों के) प्रफुल्ल नेत्रों में स्नेह सरसाने लगा ॥ २ ॥ देवगण नगाड़े बजाने और हर्षित होकर फूल बरसने लगे, सुफल मनोरथ हो जाने से उन्हें सुख और शान्ति है। पुरवासी, परिवार के लोग, श्री सुनैना आदि रानियाँ और राजा जनक अति आनन्दित हैं और मन के द्वारा अनुपम श्रीरामजी के रूप के अनुराग रूपी रंग में रँगे हुए हैं ॥३॥ श्रीशतानन्दजी की शिक्षा सुन कर श्रीसीताजीने श्रीरामजी के चरणों पर पड़ कर उन अपने प्रियतम को वह जयमाला पहना दी, प्रियतम श्रीरामजी के हृदय पर वह माला ऐसी शोभायमान हुई, मानो मानस-सरोवर से निकल कर हंसों की पंक्ति विशाल तमाल वृक्ष पर बैठी हुई-सी बन गई है ॥ ४ ॥ श्रीरामजी के हितैषियों (भक्तों) के लिये तो (यह झाँकी) लाभ की, उत्साह की तथा क्रीड़ा, आनन्द और शोभा की सीमा है, इससे अधिक उनके लिये और कुछ नहीं है, किन्तु इनसे द्वेष रखने वालों की दशा इससे

बिपरीत समझनी चाहिये। प्रत्यक्ष कहने पर क्रोधित होना और भरपूर झगड़ा है ॥ ५ ॥ विद्वान् ब्राह्मणों ने प्रेमपूर्वक अपने-अपने वेदों की योग-क्षेममयी आशिष आनन्दपूर्वक दी है। श्रीसीताजी के दूलह कृपालु श्रीरामजी की उस समय की छवि इस तुलसीदास के हृदय में नित्य नई उल्लसित होती है ॥६॥

विशेष—'जयमाला जानकी जलज कर लई है।'—इसमें 'जलज का' यह पद श्लिष्ट है, इसका अर्थ 'हस्त कमल' और 'कमल का' दोनों है। वहीं आगे 'सुमन सुमंगल सगुन की...' इस वाक्य खण्ड से स्पष्ट है। तथा उससे भी आगे 'मराल पाँति' की उपमा से भी श्वेत वर्ण हंसों के समान श्वेत कमल का ही बोध होता है। अन्यत्र मानस में भी 'सरोज' इस कमल के पर्याय नाम की ही माला श्लेषालंकार से कही गई है; यथा—"कर सरोज जयमाल सुहाई।" (मा० बा० २६३); तथा—"पानि सरोज सोह जयमाला।" (मा० बा० २४७); "लसत ललित कर कमल माल पहिरावत। कामफंद जनु चंदहि बनज फँदावत॥" (जानकीमंगल ६८); अन्यत्र भी; यथा—"सीता उ रघुनाथ के अमल कमल की माल। पहिराई जनु सबनि कै, हृदयावलि भूपाल॥" (केशव कविकृत रामचंद्रिका) तथा—"तस्यांसदेश उशतीं नवक ञ्जमालां माद्यन्मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टाम्। तस्थौ निधाय निकटे तदुरः स्वधाम सव्रीडहासविकसन्नयनेन याता॥" (भाग० ८।८।२४); अर्थात् श्रीलक्ष्मीजी ने भगवान् नारायण के गले में वह कोमल कमल-कलित जयमाला डाल दी, जिसकी सुगन्ध में मतवाले भ्रमर आस-पास गुञ्जार करते रहते थे और फिर श्रीलक्ष्मीजी मौन भाव धारण कर लज्जापूर्ण मन्द मुसुकान से विभासित एवं विकसित नेत्रों के द्वारा उन श्रीहरि के वक्षःस्थल में स्थान बना कर स्थित हुईं। 'मानहुँ मदनमाली....'—इसमें 'उत्प्रेक्षा अलङ्कार' है। रघुवंश ६।२५ में इन्दुमती के स्वयंवर में लिखा है—"एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किञ्चिद्विस्रंसि दूर्वाङ्कमधूकमाला।" अर्थात् उस समय महुवा के फूल और दूब की जयमाला होती थी, किन्तु महुवा के फूल की माला युक्त नहीं है। अतः, कुछ लोग 'मधूक' पद का कमल ही अर्थ करते हैं। शरत् ऋतु के कार्तिक मास में जय-माला पड़ने का समय है। वह समय महुवे के फूलने का भी नहीं है। अतः, यहाँ तो कमल ही की माला संगत है।

'राज रुख लखि गुरु···'–राजा ने स्वयंवर में धनुर्भंग शुल्क रक्खा था। अतः गुरुजी ने शुल्कपूर्त्ति पर राजा के सन्तुष्ट होने का रूख देखकर जयमाला पहराने की आज्ञा दी और सखियों से वह कार्य सम्पन्न कराया; यथा– "सतानंद तब आयसु दीन्हा। सीता गमन राम पहिं कीन्हा॥ संग सखी सुन्दर चतुर, गावहिं मगलाचार।" से "गावहिं छबि अवलोकि सहेली। सिय जयमाल राम उर मेली॥" (मा० बा० २६३) तक। 'सुफल मनोरथ भो'–आदिशक्ति के साथ ही प्रभु भूभार हरण करेंगे, इससे देवों को इनके संयोग पर विशेष हर्ष है।

'सतानंद सिख सुनि···'—यहाँ पर 'पाय परि' माला पहनाना है और रामचरितमानस में जयमाला पहना कर चलते समय चरण-स्पर्श करना कहा गया है। दोनों स्थानों पर दोनों बातें लगा लेनी चाहिये। अतः चरण लग कर जयमाला पहनाई गई और फिर चलते समय भी चरण-स्पर्श करके चलना लिखा गया है।

'मानस ते निकसि···'–यहाँ श्रीरामजी का शरीर विशाल तमाल वृक्ष है। और श्वेत कमल के फूलों की माला हंसों की श्रेणी है। हंस उड़ते हैं, परन्तु यहाँ मानों वह पंक्ति बैठी हुई है। माला इस प्रकार श्रीरामजी के वक्षःस्थल पर सुशोभित है। यहाँ 'उक्त विषयावस्तूप्रेक्षा अलङ्कार' है।

'हित न को लाह की···'—भक्त भरद्वाजजी ने दर्शन लाभ का ऐसा ही वर्णन किया है; यथा—"लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी॥" (मा० अ० १०६); इसी प्रकार उत्साह आदि सब यहाँ सर्वोपरि हैं।

'याते बिपरीत···'—विमुखों को इस प्रसंग पर हानि, बिषाद, शोक एवं दुःख की अवधि की अनुभूति हुई, यह भाव है; यथा—"हित मुदित अनहित रुदित मुख, छबि कहत कवि धनु जाग की। जनु भोर चक्र चकोर कैरव सघन कमल तड़ाग की॥" (जानकीमंगल ६५)।

'निज-निज वेद की···'—सभी ब्राह्मणों के वेद भिन्न-भिन्न होते हैं, कोई सामवेदी, कोई ऋग्वेदी, कोई यजुर्वेदी और कोई अथर्ववेदी हैं तथा कोई द्विवेदी, कोई त्रिवेदी और कोई चतुर्वेद भी होते हैं। सभी ने अपने-अपने वेदों के आशीर्वाद दिये, जिनसे वर-कन्याका योग-क्षेम हो।

'छबि तेहि काल की…'—उस छबि का ध्यान ग्रन्थकार के हृदय में है; तथा—"बसत तुलसीदास उर पुर जानकी को नाहु ॥" (पद ६७)।

राग केदारा

[६७]

लेहु री लोचननि को लाहु ।
कुँवर सुंदर साँवरो, सखि सुमुखि ! सादर चाहु ॥१॥
खंडि हर-कोदंड ठाढ़े, जानु-लंबित-बाहु ।
रुचिर उर जयमाल राजति, देत सुख सब काहु ॥२॥
चितै चित-हित सहित, नख-सिख अंग-अंग निबाहु ।
सुकृत निज, सिय राम-रूप, बिरंचि-मतिहि सराहु ॥३॥
मुदित मन बर-बदन सोभा उदित अधिक-उछाहु ।
मनहुँ दूरि कलंक करि ससि समर सूद्यो राहु ॥४॥
नयन सुखमा-अयन हरत सरोज-सुंदरताहु ।
बसत, तुलसीदास उर पुर जानकी को नाहु ॥५॥

शब्दार्थ—चाहु=देख ले । सूद्यो=सूदन किया, नाश किया, मार डाला।

अर्थ—अरी सुन्दर मुखवाली सखि ! थोड़ा नेत्रों का लाभ तो ले । साँवला कुँवर बड़ा सुन्दर है, इसे आदरपूर्वक देख ले ॥ १ ॥ ये श्रीशिवजी का धनुष खंडन कर खड़े हैं, इनकी बाहुएँ जानु पर्यन्त लम्बी हैं । इनके वक्षःस्थल पर मनोहर जयमाला विराजमान है, वह सब किसी को सुख दे रही है ॥ २ ॥ इन्हें प्रीतिपूर्वक चित्त देकर देख, नख से शिखा पर्यन्त इनके अंग-अंग की सुन्दरता का कैसा निर्वाह हुआ है । (इन्हें देख कर) अपने पुण्य, श्रीसीता-रामजी के स्वरूप और ब्रह्माजी की बुद्धि की सराहना कर ॥ ३ ॥ प्रसन्न मन के कारण मुख की शोभा पर और अधिक उत्साह उदित हो रहा है, मानों चन्द्रमा ने अपना कलंक दूर करके राहु को युद्ध में मार डाला हो ॥ ४ ॥ परम शोभा के स्थान रूप नेत्र कमल की सुन्दरता का भी हरण करते हैं । ऐसे सुन्दर श्रीजानकीजी के स्वामी इस तुलसीदास के हृदयरूप पुर में निवास करते हैं॥ ५ ॥

विशेष—'लोचननि को लाहु'; यथा—"लोचननि को लहत फल छबि निरखि पुर नर नारि ।" (पद ९१) इसका विशेष देखिये । 'जानु लंबित बाहु';

यथा—"आजानुभुज सर चाप धर…" (वि०४५)। 'देत सुख सब काहु'—इन्हें इसकी अभिलाषा पहले से ही थी। उसकी सिद्धि हुई, इससे सब सुख पा रहे हैं। 'अंग-अंग निबाहु'—जो अंग जैसे चाहिये, वैसे ही सुन्दर हैं; यथा—"अंग-अंग पर बारि-अहि, कोटि-कोटि सत काम ॥" (मा० बा० २२०); तथा—"नख सिख सुंदर बंधु दोउ, सोभा सकल सुदेस।" (मा० बा० २१९), "घन-दामिनि-बर-बरन, हरन मन सुंदरता नख-सिख निबही, री ॥" (पद १०६)।

'सुकृत निज…'; यथा—"हम सब सकल सुकृत कै रासी। भये जग जनमि जनकपुर बासी ॥ जिन्ह जानकी राम छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेषी ॥" (मा० बा० ३०९)। 'लिय राम रूप' की सराहना आगे पद १०५–१०६ में है।

'बिरंचि मतिहि सराहु'; यथा—"राम-सीय-छबि देखि जुवतिजन करहिं परस्पर बाता। अब जान्यो साँचहू सुनहु, सखि! कोविद बड़ो बिधाता ॥" (पद ११०)।

'मुदित मन बर बदन सोभा…'; यथा—"इन्हके जितौहैं मन, सोभा अधिकानी तन, सुखन की सुखमा सुखद सरसई है ॥" (पद ८६)।

'मनहुँ दूरि कलंक करि…' श्रीरामजी का मन चन्द्रमा है, प्रसन्नता उसमें कलंक का दूर होना है और धनुर्भंग से उत्साह की अधिकता राहु को युद्ध में मारने के उत्साह के समान है। यहाँ 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।

'नयन सुखमा अयन हरत…'; यथा—"नयन नवल राजीव लजावन।" (मा० बा० ३१५); यहाँ 'तृतीय प्रतीप-अलङ्कार' है।

राग सारंग

[९८]

भूप के भाग की अधिकाई।
टूट्यो धनुष, मनोरथ पूज्यो, विधि सब बात बनाई ॥१॥
तब ते दिन-दिन उदउ जनक की जब ते जानकि जाई।
अब येहि ब्याह सुफल भयो जीवन, त्रिभुवन बिदित बड़ाई ॥२॥
बारहिं बार पहुनई अइहैं राम-लखन दोउ भाई।
एहि आनंद मगन पुरबासिन्ह देह दसा बिसराई ॥३॥

सादर सकल बिलोकत रामहिं काम-कोटि-छबि छाई।
यह सुख समउ समाज एक मुख क्यों तुलसी कहै गाई ? ॥४॥

अर्थ—(कोई सखी कहती है—) 'यह राजा जनक के भाग्य की अधिकता है कि शिव-धनुष टूट गया, उनका मनोरथ पूरा हो गया और विधाता ने सारी बातें बना दी हैं ॥१॥ जब श्रीजानकीजी का जन्म हुआ है, तब से दिनोदिन श्रीजनकजी का उदय ही होता आ रहा है। अब इस ब्याह से तो उनका जीवन ही सफल हो गया, इससे तीनों लोकों में इनकी प्रशंसा प्रख्यात हो रही है ॥२॥ अब ये श्रीराम-लक्ष्मण दोनों भाई बार-बार पाहुन होकर यहाँ आया करेंगे'। इस प्रकार के आनन्द में निमग्न होकर पुरवासियों ने देह-दशा भुला दी ॥३॥ श्रीरामजी के शरीर में करोड़ों कामदेवों की छबि छाई हुई है, सब के लोग आदरपूर्वक देख रहे हैं। इस समय के समाज का यह तुलसीदास अपने एक ही मुख से किस प्रकार गाकर (बखान कर) कह सकता है ? ॥४॥

विशेष—'भूप के भाग की अधिकाई।···'; यथा—"सुख बिदेह कर बरनि न जाई।···जनक कीन्ह कौसिकहिं प्रनामा। प्रभु प्रसाद धनु भंजेउ रामा॥ मोहिं कृतकृत्य कीन्ह दुहुँ भाई।" (मा० बा० २८५)। श्रीजनकजी ने स्वयं अपने भाग्य की अधिकता कही है; यथा—"होहिं सहस दस सारद सेखा। करहिं कलप कोटिक भरि लेखा॥ मोर भाग्य राउरि गुन गाथा। कहि न सिराहिं सुनहुँ रघुनाथा॥" (मा० बा० ३४१)। 'टूट्यो धनुष···'; यथा—"जनक मुदित मन टूटत पिनाक के।" (पद ९४); प्रतिज्ञा-पूर्त्ति का मनोरथ पूर्ण हो गया। असंभव बात संभव हुई अतएव विधाता के बात बनाने का अनुमान है। ऐसी अद्भुत घटनाएँ दैवकृत ही मानी जाती हैं।

'तब ते दिन-दिन उदउ···'; यथा—"जब ते उमा सैल गृह जाई। सकल सिद्धि संपति तहँ छाई॥" से "नित नूतन मंगल गृह तासू। ब्रह्मादिक गावहिं जस जासू॥" (मा० बा० ६४—६५) तक। तथा—"जनक नंदिनी जनकपुर जब ते प्रगटी आइ। तब ते सब सुखसंपदा, अधिक-अधिक अधिकाइ॥" (रामज्ञा प्रश्न ४।५।१)।

'अब येहि ब्याह सुफल भयो जीवन'; यथा—"दूलह राम, सीय दुलही री!···जीवन-जनम लाहु लोचन फल है इतनोइ, लह्यो आजु सही।

री ॥" (पद १०६)। 'त्रिभुवन बिदित बड़ाई'; यथा—"महि पाताल नाक जस ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा ॥" (मा० बा० २६४); "टूटत ही धनु भयउ बिबाहू। सुर नर नाग बिदित सब काहू ॥" (मा० बा० २८५); इससे श्रीजनकजी की भी तीनों लोकों में बड़ाई प्रसिद्ध हुई; यथा—"जो सुख सुजस लोकपति चहहीं। करत मनोरथ सकुचत अहहीं ॥ सो सुख सुजस सुलभ मोहिं स्वामी। सब सिधि तव दरसन अनुगामी ॥" (मा० बा० ३४२) तक।

'बारहिं बार पहुनई अइहैं...'; यथा—"बारहिं बार सनेह बस, जनक बोलाउब सीय। लेन आइहहिं बंधु दोउ, कोटि काम कमनीय ॥ बिबिध भाँति होइहि पहुनाई। प्रिय न काहि अस सासुर माई ॥ तब-तब राम लखनहिं निहारी। होइहहिं सब पुरलोग सुखारी ॥" (मा० बा० ३१०); तथा—"खरभर नगर, नारि-नर बिधिहि मनावहिं। बार-बार ससुरारि राम जेहि आवहिं ॥" (जानकी मंगल १०२)।

'एहि आनंद मगन...'—बार-बार आने के भावी दर्शनानन्द में पुरवासी निमग्न हैं। जैसा ऊपर के उदाहरणों में स्पष्ट कहा गया है।

'सादर सकल बिलोकत...'; यथा—"अंग-अंग पर वारियहि, कोटि-कोटि सत काम ॥ कहहु सखी अस को तनु धारी। जो न मोह यह रूप निहारी ॥" (मा० बा० २२०)। तथा—"रामचंद्र-मुख-चंद्र छबि, लोचन चारु चकोर। करत पान सादर सकल, प्रेम-प्रमोद न थोर।" (मा० बा० ३२१)।

'यह सुख समउ समाज एक मुख...'; यथा—"वोह सोभा समाज सुख, कहत न बनइ खगेस। बरनै सारद सेष श्रुति, सो रस जान महेस ॥" (मा० उ० १२)।

माताओं का वात्सल्य

राग सोरठ

[९९]

मेरे बालक कैसे धौं मग निबहहिं गे ?
भूख, पियास, सीत, स्रम सकुचनि क्यों कौसिकहिं कहहिं गे ? ॥ १ ॥
को भोरही उबटि अन्हवैहै, काढ़ि कलेऊ दैहै ? ।

को भूषन पहिराइ निछावरि करि लोचन-सुख लैहै ? ॥ २ ॥
नयन निमेषनि ज्यों जोगवैं नित पितु-परिजन-महतारी ।
ते पठये रिषि साथ निसाचर-मारन, मख रखवारी ॥ ३ ॥
सुंदर सुठि सुकुमार सुकोमल, काकपच्छ-धर दोऊ ।
'तुलसी' निरखि हरषि उर लैहौं बिधि ह्वैहै दिन सोऊ ॥ ४ ॥

अर्थ—[श्रीकौसल्याजी कहती हैं—] मेरे बालक (श्रीराम-लक्ष्मण) न जाने कैसे मार्ग में निर्वाह करेंगे ? ये संकोच के कारण अपनी भूख, प्यास, जाड़ा और थकावट कैसे श्रीविश्वामित्रजी से कहेंगे ॥ १ ॥ प्रातःकाल ही इन्हें कौन उबटन कर स्नान करायेगा ।, कौन कलेऊ लाकर देगा और कौन आभूषण पहना कर निछावर करके नेत्रों का सुख लेगा ? ॥ २ ॥ जिन्हें पिता, परिजन और माताएँ सदा, जैसे नेत्रों की पलकें नेत्रों की रक्षा करती हैं, वैसे रक्षा करते थे, उन्हें ऋषि के साथ यज्ञ की रखवाली करने और राक्षसों का संहार करने के लिये भेजा गया है ! ॥ ३ ॥ हे विधाता ! क्या कभी वह दिन भी आयेगा कि जब सुन्दर, अत्यन्त सुकुमार, अत्यन्त कोमल और काकपक्ष धारी दोनों बालकों को देख हर्षित होकर मैं हृदय से लगाऊँगी ? ॥ ४ ॥

विशेष—'मेरे बालक ...भूख पियास ...'—श्रीराम-लक्ष्मण के चले जाने पर माताजी चिन्ता करती हैं कि बालक अत्यन्त संकोची हैं, इससे मुनि के समक्ष अपनी भूख-प्यास नहीं कहेंगे तो मुनि कैसे कुछ व्यवस्था करेंगे ? शरद ऋतु है । अतः रात में शीत भी पड़ती है तथा मार्ग चलने में थकावट भी लगेगी । पर इनके विना कहे मुनि कैसे जानेंगे ? यह माताओं का कहना है, परन्तु ये बालक ही ऐसे हैं कि महान् विरक्त कौशिक में भी माता-पिता का-सा वात्सल्य इनके प्रति आ ही गया है; यथा —"अध्यर्धयोजनं गत्वा सरय्वा दक्षिणे तटे ॥ ११ ॥ रामेति मधुरां वाणीं विश्वामित्रोऽभ्यभाषत । गृहाण वत्स सलिलं मा भूत्कालस्य पर्ययः ॥ १२ ॥ मन्त्रग्रामं गृहाण त्वं बलामतिबलां तथा ।..." (वाल्मी० १।२२); अर्थात् अयोध्याजी से आधा योजन जाने पर श्रीसरयू जी के दक्षिण तट पर पहुँच विश्वामित्रजी ने बड़े कोमल स्वर से 'हे राम' ऐसा कहा और फिर कहा, वत्स ! जल लेओ, जिससे योग्य समय प्राप्त है, यह बीत न जाय । ये मन्त्र ग्रहण करो, ये मन्त्र बला और अतिबला नामक

विद्याओं के हैं। इन विद्याओं से भूख-प्यास नहीं लगती। आगे फिर माता की भाँति जगाने का वात्सल्य भी देखिये; यथा—"प्रभातायां तु शर्वर्यां विश्वामित्रो महामुनिः। अभ्यभाषत काकुत्स्थौ शयानौ पर्णसंस्तरे॥ १॥ कौसल्या सुप्रजा राम पूर्वा संध्या प्रवर्तते। उत्तिष्ठ नरशार्दूल कर्त्तव्यं दैवमाह्निकम्॥ २॥" (वाल्मी० १।२३); अर्थात् रात बीतने पर महामुनि विश्वामित्रजी ने श्रीराम-लक्ष्मणजी से—जो तृण के बिछौने पर सो रहे थे—कहा॥ १॥ राम, तुम्हारे समान पुत्र पाकर श्रीकौसल्या जी सुपुत्रवती हैं। प्रातःकाल की सन्ध्या हो रही है। अतः, हे नर श्रेष्ठ! उठो, प्रतिदिन किये जाने वाले कर्म करो॥ २॥ और भी अन्यत्र कहा गया है; यथा—"जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं विषमबिष तामस तीछी॥" (मा० अ० २६१)।

'को भोरहीं···'—यहाँ माता अपने नित्य के कृत्यों का स्मरण करती हुई शोच रही हैं।

'नयन निमेषनि ज्यों जोगवैं नित···'; यथा—"राम सुना दुख कान न काऊ। जीवन तरु जिमि जोगवइ राऊ॥ पलक नयन फनि-मनि जेहि भाँती। जोगवहिं जननि सकल दिनराती॥" (मा० अ० २००); "मातु-पिता परिजन पुरबासी। सखा सुसील दास अरु दासी॥ जोगवहिं जिन्हहिं प्रान की नाईं।" (मा० अ० ६०)।

'सुंदर सुठि सुकुमार···'; यथा—"कहँ निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुंदर सुत परम किसोरा।" (मा० बा० २०७)। 'काकपच्छ धर दोऊ' भाव यह कि अभी इन दोनों ने कभी शिरत्राण आदि धारण नहीं किया, युद्ध में प्रवृत्त नहीं हुए थे। शिरो पर केवल जुल्फों का ही धारण करते थे।

'निरखि हरषि···'—भाव यह कि जैसे यहाँ से गये हैं, वैसे ही 'सुंदर सुठि···' रूप में आवें और मैं हृदय लगाऊँ तो मेरे मनभाया हो, यह विधि से प्रार्थना है।

[१००]

रिषि नृप सीस ठगौरी-सी डारी।
कुलगुरु, सचिव, निपुन नेवनि अवरेव न समुझि सुधारी॥ १॥
सिरिस-सुमन-सुकुमार कुँवर दोउ, सूर सरोष सुरारी।

पठये बिनहि सहाय पयादेहि केलि बान धनु धारी ॥ २॥
अति सनेह–कातरि माता कहै लखि सखि बचन दुखारी।
बादि बीर जननी जीवन जग छत्रि जाति-गति भारी ॥ ३॥
जो कहिहै फिरे राम–लखन घर करि मुनि-मख-रखवारी।
सो 'तुलसी' प्रिय मोहि लागि है ज्यों सुभाय सुत चारी ॥ ४॥

अर्थ – ऋषि श्रीविश्वामित्रजी ने राजा (दशरथ जी) के शिर पर कुछ जादू सा डाल दिया (जिससे राजा ने वचन दे दिया कि जो माँगोगे, वह दूँगा)। कुलगुरु श्रीवसिष्ठजी, मंत्री श्रीसुमंत्र आदि और प्रवीण नायकों ने भी उस उलझन को समझ-बूझकर नहीं सुधारा ॥१॥ कहाँ, सिरस के फूल के समान अत्यन्त सुकुमार दोनों कुमार श्रीराम-लक्ष्मण और कहाँ, शूरवीर तथा क्रोधी देवताओं के भी शत्रु राक्षसगण! फिर भी, ये दोनों बालक क्रीड़ा के ही धनुष-बाण धारण किये हुए और बिना सहायक (सेना आदि) के पैदल ही भेजे गये हैं ॥२॥ माता कौसल्या सखी की ओर देखकर अत्यन्त (पुत्र-) स्नेह से अधीर और दुखारी होकर वचन कहती हैं कि संसार में वीर पुरुषों की माताओं का जन्म व्यर्थ ही है तथा क्षत्रिय जाति की गति भी बड़ी भारी कठिन है ॥३॥ जो मुझसे कहेगा कि श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी मुनि के यज्ञ की रक्षा करके घर लौट आये, वह, जिस प्रकार स्वभाव से ही मुझे चारो पुत्र प्यारे लगते हैं, वैसा ही प्यारा लगेगा ॥४॥

विशेष—'रिषि नृप सीस....'—ठगौरी डालने के सम्बन्ध से ऋषि कहा गया है, क्योंकि ऋषि वेद-द्रष्टा को कहते हैं। ऋषि ने भी किसी वेद मंत्र से ही राजा पर जादू डाला है; अन्यथा राजा ऐसे धर्म-बन्धन में न फँसते। जादू डाल कर ठग लोग किसी का रत्न ठगते हैं। वैसे ऋषि ने भी राम-लक्ष्मण रूपी रत्नों को ठगा है; तथा—"स्याम-गौर सुंदर दोउ भाई। बिश्वामित्र महानिधि पाई॥" (मा० बा० २०८); ये दोनों मरकतमणि और पद्मराग मणि के समान हैं, यथा—"तुलसी फल ताके चारथो मनि मरकत पंकजराग॥" (पद २६)।

'कुलगुरु, सचिव...'—ये सभी तो बड़े-बड़े प्रवीण हैं, किसी ने भी उस उलझन को समझ कर नहीं सँभाला।

'सिरस-सुसन-सुकुमार...'; यथा—"कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा।

कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा ॥ बिधि केहि भाँति धरौं उर धीरा। सिरस-सुमन-कन बेधिय हीरा ॥" (मा० बा० २५७); तथा—"सिरस-सुमन-सुकुमार मनोहर बालक···" (अ० ८८)। "कहँ निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुंदर सुत परम किसोरा ॥" (मा० बा० २०७)। वे देवों के भी शत्रु हैं और क्रोधी हैं तो भला इन बालकों में उनसे लड़ने की योग्यता कैसी ?

यहाँ 'विषमअलङ्कार' है।

'पठये बिनहिं सहाय···'—एक तो सेना साथ नहीं, दूसरे रथ आदि वाहन नहीं और तीसरे वीर बाना के कवच, शिरत्राण आदि एवं दिव्यास्त्र भी कुछ साथ नहीं हैं, भला, ये बालक कैसे राक्षसों से लड़ेंगे ?

'अति सनेह कातरि माता कहैं···'—उक्त तीनों अभावों एवं बालकों की सुकुमारता और राक्षसों की कठोरता समझकर माता अधीर हो गई हैं। स्नेह की अधीरता में उपर्युक्त बातें भी कही गई हैं; अन्यथा न ऋषि ने जादू ही डाला है और न वसिष्ठ आदि ही भूले हैं। कहा भी है—"रहत न आरत के चित चेतू ॥" (मा० अ० २६७); तथा—"सोक बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा ॥" (मा० अ० २७५)।

'बादि बीर जननी···'—क्षत्रिय जाति युद्ध को अपना परम आवश्यक धर्म मानती है और वीर की माँ का जीवन इससे व्यर्थ है कि वह आजन्म से वीर पुत्र को पालती है, पर पुत्र के जीवन रहने का ठिकाना नहीं है; यथा—"होइ कि छेम कुसल रवताई।" (मा० अ० ३४)।

यह वचन भी माता स्नेह की व्याकुली में ही कह रही हैं; अन्यथा वीर माताएँ पुत्र की शूरता में ही जीवन धन्य मानती हैं; यथा—"अथो धनञ्जयं ब्रूया नित्योद्युक्तं वृकोदरम् ॥ ७४ ॥ यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः। अस्मिंश्चेदागते काले मिथ्या चाऽतिक्रमिष्यति ॥ ७५ ॥ लोकसम्भाविताः सन्तः सुनृशंसं करिष्यथ। नृशंसेन च वो युक्तांस्त्यजेयं शाश्वतीः समाः ॥ ७६ ॥" (महा० उद्योग० ९०); अर्थात् माता कुन्ती ने श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन और भीम के प्रति संदेश कहा है कि 'क्षत्रियों की माताएँ जिस लिये पुत्र उत्पन्न करती हैं, उसके योग्य समय आ गया है (; अर्थात् युद्ध करो), इस काल को यदि झूठ ही कर के बिता दोगे, एवं लोक में मान्य होकर निंदित एवं घृणित

कार्य करोगे तो मैं 'तुम सब को सब दिन के लिए त्याग दूँगी।' यही बातें कुन्तीजी ने महा० उद्योग० १३७। ९-१० में भी कही हैं और यह भी कि पुरुष श्रेष्ठ वीर बैरी को पाकर कभी चुपचाप नहीं बैठते।

'छत्रि जाति गति भारी।'; यथा—"धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ ३१…सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥३२॥" (गीता० २); अर्थात् धर्म-युद्ध ही क्षत्रिय का प्रधान धर्म है। तथा—"विक्रमेणाऽर्जितान्भोगान्वृणीतं जीवितादपि। विक्रमाधिगता ह्यर्थाः क्षत्रधर्मेण जीवतः॥" (महा० उद्योग० १०।७८); अर्थात् कुन्ती ने श्रीकृष्ण के द्वारा नकुल-सहदेव से कहा है कि हे पुत्रो! तुम लोग प्राणपण करके भी अपने पराक्रम से उपार्जित भोगों की प्रार्थना (कांक्षा) करो, यही क्षत्रियों के लिये उचित है।

'जो कहिहै …सो तुलसी प्रिय …'—प्यारे का संदेश देनेवाला उस प्यारे के समान ही प्यारा होता है; यथा—"जे जन कहहिं कुसल हम देखे। ते प्रिय राम-लखन-सम लेखे॥" (मा० अ० २२३); इसी दृष्टि से श्रीचक्रवर्तीजी ने श्रीराम-लक्ष्मणजी के संदेश लाने वाले एवं उनकी कुशल कहने वाले श्री जनकपुर के दूतों को 'भैया' कहा है; क्योंकि ज्येष्ठपुत्र श्रीरामजी को श्रीअवध की रीति के अनुसार वे 'भैया' कहते थे। तथा—"प्रिय सम प्रिय-सनेह-भाजन, सखि! प्रीति रीति जग जानी॥" (कृष्ण गीतावली ४९)।

[१०१]

जब ते लै मुनि संग सिधाये।
राम-लखन के समाचार, सखि! तब ते कछुअ न पाये॥ १॥
बिनु पानहीं गवन, फल भोजन, भूमि सयन तरु छाँहीं।
सर-सरिता जल पान, सिसुन के साथ सुसेवक नाहीं॥ २॥
कौसिक परम कृपाल, परमहित, समरथ सुखद सुचाली।
बालक सुठि सुकुमार सकोची, समुझि सोच मोहिं आली॥ ३॥
बचन सप्रेम सुमित्रा के सुनि सब सनेह-बस रानी।
तुलसी आइ भरत तेहि अवसर कही सुमंगल बानी॥ ४॥

अर्थ—'हे सखी! जब से मुनि श्रीविश्वामित्रजी साथ लेकर चले गये, तब से श्रीराम-लक्ष्मणजी के कुछ भी समाचार नहीं प्राप्त हुए॥ १॥ इस समय इनके

विना जूतियों के ही चलना पड़ता है, फलों का ही भोजन करना पड़ता है, वृक्ष की छाया में पृथिवी पर ही शयन करना पड़ता है और तालाबों एवं नदियों का ही जल पीना पड़ता है। इन बालकों के साथ अच्छे सेवक भी नहीं हैं ॥ २ ॥ यद्यपि श्रीविश्वामित्रजी परम कृपालु, परम हितैषी, समर्थ, सुखदायक और सच्चरित हैं; तथापि ये बालक अत्यन्त सुकुमार और संकोची स्वभाव वाले हैं, हे आली! यह समझकर मुझे बड़ी चिन्ता रहती है' ॥ ३ ॥ श्रीसुमित्राजी के प्रेमपूर्वक कहे हुए वचन सुनकर सब रानियाँ स्नेहवश हो गईं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उसी अवसर पर श्रीभरतजी ने आकर सुन्दर मंगलमय (श्रीराम-ब्याह) वचन कहे (वे वचन आगे के पद में हैं—)

विशेष—'जब ते···राम लखन···'–राजा ने अपना पितृत्व मुनि को सौंपा था; यथा—"मेरे प्राननाथ सुत दोऊ। तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ ॥ सौंपे भूप रिषिहि सुत···" (मा० बा० २०७-२०८)। इसीसे इन्होंने समाचार के लिये कोई समाचार-वाहक एवं सेवक आदि की व्यवस्था नहीं रक्खी। मुनि ने इनका पूर्ण भार ले लिया था, इसीसे बला-अतिबला आदि विद्याएँ देकर इनकी सार-सँभार रक्खी है। यदि राजा गुप्तचर भी रखते तो इनकी ओर का छल समझा जाता। राजा ने स्वयं भी ऐसा ही कहा है; यथा—"जा दिन ते मुनि गये लिवाई। तब ते आजु साँचि सुधि पाई ॥" (मा० बा० २९०)।

'बिनु पानही गवन···'—सदा मखमली जूतियाँ पहन कर चलते थे, उन्हें सहसा कंकरीली भूमि पर पैदल चलने कष्ट होता होगा। मुनि के साथ सेवक रूप में हैं, इससे उनके समान उबेने पावों से ही चलते हैं। नाना पक्वान्न तथा भाँति-भाँति के व्यञ्जन भोजन करते थे, अब भाँति-भाँति के कड़वे कषैले फल खाते हैं। इसमें बड़ा कष्ट सहते हैं। महलों में उत्तम शय्याओं पर थे, वे ही अब वृक्ष की छाया में भूमि पर ही सोते हैं। नदियों और तालाबों के सोते भाँति-भाँति के जल उन्हें कैसे अनुकूल होता होगा, फिर अच्छा सेवक भी साथ नहीं है कि देश-काल के अनुसार सुव्यवस्था करे।

"कौसिक परम कृपाल···'—श्रीवसिष्ठजी ने समझाने में कहा है कि यदि कौशिक इनके रक्षक रहेंगे तो कोई चिन्ता नही है? कौशिकजीकी परम-कृपालुता आदि उन्होंने कही थी। उस पर कहती हैं कि वह ठीक है परन्तु

बालक अत्यन्त सुकुमार हैं और फिर संकोची हैं। अपने कष्ट ये कहेंगे नहीं तो वे कैसे कोई व्यवस्था करेंगे, इसी बात को समझ कर मुझे चिन्ता है। 'सुठि सुकुमार' ऊपर 'सिरस सुमन सुकुमार कुँवर दोउ' ऐसा कहा गया है। 'सकोची'; यथा—"भूख, पियास, सीत, स्त्रम सकुचनि क्यों कौसिकहि कहहिंगे?" (पद ९९)–इसका विशेष देखिये।

'बचन सप्रेम सुमित्रा के सुनि···'—विरह उद्दीप्त हो उठा, इससे सब स्नेहवश हो गईं। सुमंगल बानी'—श्रीरामजीके ब्याह मंगल की बाणी, वह आगे के पद में कही गई है।

ब्याह-उछाह

[१०२]

सानुज भरत भवन उठि धाए।
पितु-समीप सब समाचार सुनि, मुदित मातु पहिं आए॥१॥
सजल नयन, तनु पुलक, अधर फरकत लखि प्रीति सुहाई।
कौसल्या लिये लाइ हृदय, 'बलि' कहौ, कछु है सुधि पाई?॥२॥
सतानंद उपरोहित अपने तिरतिहुनाथ पठाए।
खेम-कुसल रघुबीर-लखन की ललित पत्रिका ल्याए॥३॥
दलि ताड़का, मारि निसिचर, मख राखि, बिप्र-तिय तारी।
दै बिद्या लै गये जनकपुर, हैं, गुरु-संग सुखारी॥४॥
करि पिनाक-पन, सुता-स्वयंबर सजि, नृप कटक बटोरयो।
राज-सभा रघुबर मृनाल ज्यों, संभु-सरासन तोरयो॥५॥
यों कहि सिथिल सनेह बंधु दोउ, अंब अंक भरि लीन्हें।
बार-बार मुख चूमि, चारु मनि बसन निछावरि कीन्हें॥६॥
सुनत सुहावनि चाह अवध घर-घर आनंद बधाई।
तुलसिदास रनिवाँस रहसबस, सखी सुमंगल गाई॥७॥

अर्थ—पिता श्रीदशरथजी के यहाँ से सारा समाचार सुन कर छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी के साथ श्रीभरतजी सभा से उठ कर घर को दौड़े हुए प्रसन्न मन से माता श्रीकौसल्याजी के पास आये॥ १॥ उनके नेत्रों में प्रेम एवं आनन्द के आँसू हैं, शरीर में पुलकावली है और ओष्ठ फड़क रहे हैं, इस प्रकार की

उनकी सुहावनी प्रीति देख कर श्रीकौसल्याजी ने उन्हें हृदय से लगा लिया और पूछा—'पुत्र ! मैं बलिहारी जाती हूँ, कहो, कुछ समाचार मिला है क्या ?' (श्रीभरतजी ने कहा—) तिरहुत नाथ श्रीशीरध्वज जनकजी ने अपने पुरोहित श्रीशतानन्दजी को भेजा है, वे श्रीरघुनाथजी और श्रीलक्ष्मणजी के क्षेम-कुशल के समाचार और एक सुन्दर पत्रिका लेकर आये हैं ॥ ३ ॥ (उस पत्रिका में लिखा है कि श्रीलक्ष्मण के साथ श्रीरामजी ने) ताड़का का वध किया है, राक्षसों को मारा है, मुनि के यज्ञ की रक्षा की है और ब्राह्मण गौतम की स्त्री अहल्या का उद्धार किया है। श्रीविश्वामित्रजी इन्हें विद्या देकर श्रीजनकपुर ले गये हैं, वहाँ ये (दोनों भाई) श्रीगुरुजी के साथ में सुखपूर्वक हैं ॥ ४ ॥ वहाँ के राजा श्रीजनकजी पिनाक नामक शिव-धनुष के तोड़ने की प्रतिज्ञा कर और कन्या के स्वयंवर का साज सजा कर बहुत-से राजाओं को उनकी सेनाओं के साथ एकत्र किया था। उस राज-समाज में रघुकुल श्रेष्ठ श्रीरामजी ने कमल की डाँड़ी के समान उस शिव-धनुष को तो डाला है ॥ ५ ॥ ऐसा कहकर दोनों भाई स्नेह में शिथिल हो गये, माता ने दोनों को गोद में बैठा हृदय से लगा लिया। वे बार-बार इनके मुख चूमने लगीं, फिर उन्होंने उन पर सुन्दर मणि और वस्त्र निछावर किये ॥ ६ ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यह सुहावना समाचार सुनते ही श्रीअवधपुर में घर-घर आनंद की बधाई बजने लगी; सारा रनिवाँस आनन्द में निमग्न हो गया और आनन्द-मग्न होकर सखियों ने सुमङ्गल (ब्याह गीत) गाना प्रारम्भ कर दिया ॥ ७॥

विशेष—'सानुज भरत···पितु-समीप···'—श्रीभरतजी बड़े भाई के प्रेम में विशेष रत थे और माता के वचन सुने थे; यथा—"जो कहि है फिरे राम-लखन घर करि मुनि मख रखवारी। सो तुलसी प्रिय मोहिं लागि है ज्यों सुभाय सुतचारी ॥" (पद १००)-इससे मनभाया समाचार पाकर माता को सुना प्रसन्न करने के लिये दौड़ चले।

'सुजल नयन, तनु पुलक···'—यह सब प्रेम और आनन्द की चेष्टाएँ हैं; यथा—"प्रेम बिबस सीता पहिं आईं ॥ तासु दसा देखी सखिन्ह, पुलकगात जल नयन। कहु कारन निज हरष कर, पूछहिं सब मृदु बयन ॥" (मा० बा० २२८)। तथा—"सुनि पाती पुलके दोउ भ्राता। अधिक सनेह समात न

गाता ॥ प्रीति पुनीत भरत कै देखी। सकल सभा सुख लहेउ बिसेखी॥" (मा० बा० २९०)। 'अधर फरकत'—वह समाचार कहने के लिये ओष्ठ फड़क रहे हैं, यह बचन की प्रीति है। 'मुदित' एवं 'प्रीति सुहाई' इसमें भरत जी के मन की प्रीति और 'सजल नयन; तनु पुलक' इसमें तनु की प्रीति है।

'कौसल्या लिये···'— माता ने उक्त लक्षणों से देख कर कहा है-'कछु है सुधि पाई ?' आगे भरतजी कहते हैं—

'सतानंद उपरोहित अपने···'; यथा —"कौसिकहि पूजि प्रसंसि आय-सु पाइ नृप सुख पायऊ। लिखि लगन तिलक समाज सजि कुलगुरुहिं अवध पठायऊ ॥" (जानकी मंगल ७०)

'खेम कुसल···'; यथा—"दीन्हि लगन कहि कुसल राउ हरषानेउ।" (जानकी मंगल ७३)। "ललित लगन लिखि पत्रिका, उपरोहित के कर जनक जनेस पठाई ॥" (पद १०३)।

'दलि ताड़का···'; यथा—"दले मलिन खल, राखि मख, मुनि सिख आसिख दीन्हि। बिद्या बिस्वामित्र सब, सुथल समरपित कीन्ह ॥" (रामाज्ञा प्रश्न ४।६।३); तथा—"बिद्या दई जानि बिद्यानिधि बिद्यहु लही बड़ाई।" (पद ५५); 'नृप कटक बटोरयो'; यथा—"तासु स्वयंवर सुनि सब आए देस-देस के नृप चतुरंग बनाई ॥" (पद १०३)। 'मृनाल ज्यों···'—"यथा—"तहाँ राम रघुबंस मनि, सुनिय महा महिपाल। भंजेउ चाप प्रयास बिनु, जिमि गज पंकजनाल ॥" (मा० बा०२९२)। यहाँ 'पूर्णोपमालङ्कार' है। "बार-बार मुख चूमि···'—श्रीभरतजी पर दुलार तो सदा से था। पर आज इस संदेश सुनाने पर वार-बार मुख चूम रही हैं और जिस मुख से ऐसा प्रिय संदेश कहा गया है। उस पर मणि-वस्त्र निछावर कर रही हैं।

श्रीकैकेयीजी श्रीरामजी को अपने पुत्र भरतजी से अधिक मानती थीं, वैसे ही श्रीकौसल्याजी श्रीभरत को ही अधिक लाड़ करती थीं; यथा—"कौसल्या सम सब महतारी। रामहिं सहज सुभाय पियारी ॥ मोपर करहिं सनेह बिसेखी। मैं करि प्रीति परीछा देखी ॥" (मा अ० १४)–यह श्रीकैकेयीजी के वचन हैं। तथा—"कहैं मोहिं मैया, कहउँ 'मैं न' 'मैया भरत की'; बलैया लेहीं

भैया ! तेरी मैया कैकेयी हैं"। तुलसी सरल भाय रघुराय माय मानी,…" (क० अ० ३)।

'सुनत सुहावनि चाह…'—चाह का अर्थ यहाँ समाचार है। तथा—"सुनि पुर भयउ अनंद बधाव बजावहिं। सजहिं, सुमंगल कलस बितान बनावहिं॥" (जानकी मंगल ७३)। 'रनिवास रहस बस'; यथा—"प्रेम प्रफुल्लित राजहिं रानी। मनहुँ सिखिनि सुनि बारिद बानी॥" (मा० बा० २९४); 'रहस बस' दीपदेहली है।

'सखी सुमंगल गाई'; यथा—"जहँ-तहँ जूथ-जूथ मिलि भामिनि। सजि नव सप्त सकल दुति दामिनि॥ बिधु बदनी मृग-सावक-लोचनि। निज सरूप रति-मान-बिमोचनि॥ गावहिं मंगल मंजुल बानी। सुनि कलरव कलकंठि लजानी॥" (मा० बा० २९६)।

राग कान्हरा

[१०३]

राम-लखन सुधि आई, बाजै अवध बजाई।
ललित लगन लिखि पत्रिका, उपरोहित के कर जनक जनेस पठाई॥१॥
कन्या भूप बिदेह की रूप की अधिकाई।
तासु स्वयंबर सुनि अब आए देस-देस के नृप चतुरंग बनाई॥२॥
पन पिनाक, पबि मेरु ते गुरुता कठिनाई।
लोकपाल महिपाल बान बानइत दसानन सके न चाप चढ़ाई॥३॥
तेहि समाज रघुराज के मृगराज जगाई।
भंजि सरासन संभूको जग जय, कल कीरति, तिय तियमनि सियपाई॥४॥
पुर घर-घर आनंद महा सुनि चाह सुहाई।
मातु मुदित मंगल सजैं, कहैं मुनि प्रसाद भये सकल सुमंगल, माई॥५॥
गुरु-आयसु मंडप रच्यो, सब साज सजाई।
तुलसिदास दसरथ बरात सजि, पूजि गनेसहि चले निसान बजाई॥६॥

अर्थ—(श्रीअवध पुरवासी आपस में कहते हैं—) आज श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी का समाचार आया है, इससे श्रीअवध में बधाई बज रही है। श्रीजनक महाराज ने मनोहर लग्न पत्रिका लिखकर अपने उपरोहित के हाथ

भेजी है ॥ १ ॥ महाराजा विदेह की कन्या रूप में बढ़ी-चढ़ी है, उसका स्वयंवर सुनकर सब देश-देश के राजा अपनी-अपनी चतुरंगिणी सेनाएँ (हाथी, घोड़े, रथ और पैदल) सजा कर आये थे ॥ २ ॥ उस स्वयंवर की प्रतिज्ञा में रक्खा हुआ पिनाक नामक शिवजी का धनुष था, वह गरुआई में सुमेरुगिरि से और कठिनाई में वज्र से भी अधिक था (उसी के उठाने, चढ़ाने और तोड़ने की प्रतिज्ञा थी)। उस धनुष को लोकपाल (इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि), पृथिवी के समस्त राजागण, यशस्वी बाणासुर एवं रावण भी नहीं चढ़ा सके ॥ ३ ॥ उस राजसमाज में रघुवंशी राजवंश के पुत्र श्रीराम रूपी सिंह को (श्रीजनकजी ने 'बीर बिहीन मही मैं जानी' ऐसी अनुचित वाणी कह कर) जगा दिया। उन्होंने श्रीशिवजी के उस धनुष को तोड़ कर जगत् भर की विजय, कमनीय कीर्ति और स्त्री रूप में स्त्री रत्न श्रीसीताजी की प्राप्ति की है ॥ ४ ॥ यह सुहावना समाचार सुनकर श्रीअवधपुर में घर घर महान् आनन्द छा गया है। (श्रीरामजी की) माताएँ आनंदित होकर मङ्गल सज रही हैं और कहती हैं—'माई ! ये समस्त सुन्दर मंगल मुनि विश्वामित्रजी की कृपा से हुए हैं, ॥ ५ ॥ गुरु श्रीवसिष्ठजी की आज्ञा से समस्त साज सजाकर मंडप रचा गया है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीदशरथजी ने बरात सजा कर और श्रीगणेश-जीकी पूजा कर तथा नगाड़े बजा कर (श्रीजनकपुर को) प्रस्थान किया ॥६॥

विशेष—राम लषन सुधि...'—लोग चिंतित थे, इससे भी समाचार पाने पर बधाई बजती, परन्तु इस बधाई में बड़ी-बड़ी विशेषताएँ हैं, वे आगे कही जाती हैं—

'ललित लगन लिखि...'—लग्न का लालित्य; यथा—'मंगलमूल लगन दिन आवा। हिमरितु अगहन मास सुहावा ॥ ग्रह तिथि नखत जोग बर बारू। लगन सोधि बिधि कीन्ह बिचारू ॥ पठै दीन्ह नारद सन सोई। गनी जनक के गनकन्ह जोई ॥ सुनी सकल लोगन्ह यह बाता। कहहिं जोतिषी आहि बिधाता ॥" (मा० बा० ३११)।

'कन्या भूप बिदेह की...'—राजा विदेह हैं और उनकी कन्या भी अयोनिजा एवं लोकोत्तर सुन्दरी है; यथा—"सोधत मखमहि जनकपुर, सीय सुमंगलखानि। भूपति पुन्य-पयोधि जनु, रमा प्रगट भइ आनि ॥" (रामाज्ञा

प्रश्न ४।४।५); तथा—"जौ छबि सुधा पयोनिधि होई।" से "येहि बिधि उपजै लच्छि जब, सुंदरता सुखमूल। तदपि सकोच-समेत कवि कहहिं सीय समतूल ॥" (मा० बा० २४७) तक।

'तासु स्वयंबर सुनि···'; यथा—"दीप-दीप के भूपति नाना। आए सुनि हम जो पन ठाना॥ देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥" (मा० बा० २५०), "सप्त दीप नव खंड भूमि के भूपतिबृंद जुरे।" (पद ८६); "नृप कटक बटोरयो।" (पद १०२)।

'पन पिनाक, पबि मेरु ते···'; यथा—"करि पिनाक पन" (पद १०२); "कमठ-पीठि पबि कूट कठोरा। नृप-समाज महँ सिव धनु तोरा॥" (मा० बा० ३५६); "सकइ उठाइ सरासुर मेरू। सोउ हिय हारि गयउ करि फेरू॥" (बा० २६१)।

'लोकपाल महिपाल···'; यथा—"बान जातुधानपति भूप दीप सातहू के, लोकप बिलोकस पिनाक भूमि लई है।" (पद ८६)-इसका विशेष देखिये।

'तेहि समाज रघुराज-के मृगराज···'—'रघुराज-के' इसका अर्थ राजा रघु के वंश में उत्पन्न पुत्र; यथा—"दसरथ के रन बाँकुँरे।" (मा० बा० २४५)। मृगराज जाग कर हस्ति-समूह पर टूटता है, वैसे ही सिंह रूप श्रीराम ने धनुष तोड़ा है; यथा—"प्रेम परखि रघुबीर सरासन भंजेउ। जनु मृगराज किसोर महागज गंजेउ॥" (जानकी मंगल ६४)। जगाना इस प्रकार है; यथा—"नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलाने। बोले बचन रोष जनु साने॥" (मा० बा० २५०); श्रीजनकजी पूर्ण ज्ञानी हैं, इससे इनमें अज्ञान नहीं है, विना अज्ञान द्वैत बुद्धि नहीं होती और विना द्वैत बुद्धि के क्रोध नहीं हो सकता। इसीसे 'रोष जनु साने' लिखा है, यह राजा की व्यवहारिक युक्ति है कि पहले भाँटों के उत्तेजक वचनों पर सामान्य राजा फड़क उठे थे, यदि और विशेष होंगे तो मेरे वचन पर फड़क उठेंगे, वही हुआ भी—"माखे लखन···" (मा० बा० २५१); उसी पर श्रीरामजी को धनुभँग में प्रवृत्त होना पड़ा, यही इनका जगाना है।

'भंजि सरासन···'; यथा—"नृपसमाज महँ सिव धनु तोरा॥ बिस्व बिजय जस जानकि पाई। आए भवन ब्याहि सब भाई॥" (मा० बा० ३५६);

तथा—"महि पाताल नाक जस ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा॥" (मा० बा० २६४)। "कन्या, कलकीरति, बिजय बिस्व की बटोरि, कैधौं करता इन्हहींको निरमई है॥" (पद ८६)—इसका विशेष देखिये। 'तियमनि सिय'; यथा—"जौं पटतरिय तीय सम सीया। जग अस जुवति कहाँ कमनीया॥" से "तदपि सकोच-समेत कवि, कहहिं सीय समतूल॥" (मा० बा० २४७) तक।

'पुर घर-घर…'—"चाह (हिं० चाल=आहट)=खबर, समाचार"—हिं० श० सा०। यथा—"सुनत सुहावनि चाह अवध घर-घर आनंद बधाई।" (पद १०२)।

'मातु मुदित मंगल सजैं'; यथा—"प्रेम-पुलकि तन-मन अनुरागीं। मंगल कलस सजन सब लागीं॥ चौकइँ चारु सुमित्रा पूरीं। मनिमय बिबिध भाँति अति रूरीं॥ आनँद मगन राम महतारी। दिये दान बहु बिप्र हँकारी॥ पूजी ग्रामदेवि सुर नागा। कहेउ बहोरि देन बलि भागा॥" (मा० अ० ७)। इत्यादि।

'कहैं मुनि प्रसाद…'; यथा—"राम-लखन कै कीरति करनी। बारहिं बार भूप बर बरनी॥ मुनि प्रसाद कहि द्वार सिधाए।" (मा० बा० २९४) तथा—"मुनिप्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरैं टारी॥" से "सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे॥" (मा० बा० ३५६) तक।

'गुरु आयसु मंडप रच्यो' 'पूजि गनेसहि…'—यद्यपि दूलह श्रीरामजी यहाँ नहीं हैं तथापि माँड़व रचा गया, श्रीगुरुजी ने आज्ञा दी है; क्योंकि श्रीगणेशजी की पूजा उसी माँड़व में होनी है। इस मंडप की रचना भी श्रीजनकपुरकी मंडप-रचना के समान हुई है; यथा—"भूप भवन किमि जाइ बखाना। बिस्व बिमोहन रचेउ बिताना॥" (मा० बा० २९६)। एक स्थल पर रचना कह दी गई है, इससे इस चौपाई में 'बिस्व बिमोहन' कह कर सूचित कर दिया गया है।

राग केदारा

[१०४]

मन में मंजु मनोरथ हो, री।
सो हर-गौरि-प्रसाद एक तेँ, कौसिक-कृपा चौगुनो भो, री!॥१॥

पन-परिताप, चाप-चिंता-निसि, सोच-सकोच-तिमिर नहिं थोरी।
रविकुल-रवि अवलोकि सभा-सर हित चित-बारिज-बन बिकसोरी ॥२॥
कुँवर कुँवरि सब मंगलमूरति, नृप दोउ धरम धुरंधर धोरी।
राज समाज भूरिभागी जिन्ह लोचन-लाहु लह्यो इक ठोरी ॥३॥
ब्याह-उछाह राम-सीता को सुकृत सकेलि बिरंचि रच्यो, री।
तुलसिदास जानइ सोइ यह सुख, जाके उर बसति मनोहर जोरी ॥४॥

अर्थ—(बरात देखकर श्रीजनकपुर की स्त्रियाँ कहती हैं—) अरी सखी! मेरे मन में एक सुन्दर मनोरथ था, वह श्रीशिवजी और श्रीपार्वतीजी के प्रसाद से तथा श्रीविश्वामित्रजी की कृपासे उससे चौगुना हो गया ॥ १ ॥ प्रतिज्ञा करने के सन्ताप और धनुष की गरुआई एवं कठोरता की चिन्ता रूपी रात में (धनुष न टूटने का) शोच और (प्रतिज्ञा-त्याग का) संकोच रूप अंधकार कम नहीं था; परन्तु सूर्यकुल के सूर्य श्रीरामजी को देखकर इस राजसमाज रूपी सरोवर में हितैषी सज्जनों के चित्तरूपी कमलों का वन विकसित हो गया ॥ २॥ श्रीराम आदि कुमार और श्रीजानकीजी आदि कुमारियाँ, सब मङ्गल की मूर्तियाँ हैं और दोनों राजा (श्रीदशरथजी और श्रीजनकजी) धर्मकी धुरी धारण करने में प्रधान हैं। यह राज-समाज बड़ा भाग्यवान् है, जिसने नेत्रों का लाभ एक ही स्थान पर प्राप्त कर लिया ॥ ३ ॥ श्रीब्रह्माजी ने सभी के पुण्यों को एकत्र कर उससे श्रीरामजी और श्रीसीताजी के विवाह के उत्साह को रचा है। श्रीतुलीदासजी कहते हैं कि इस सुख को वही जान सकता है, जिसके हृदय में यह (श्रीसीतारामजी की) मनोहर जोड़ी निवास करती है ॥ ४ ॥

विशेष—'मन में मंजु····'; यथा – "येहि लालसा मगन सब लोगू। वर साँवरो जानकी जोगू ॥" (मा० बा० २४८)। 'हो' = था, यह ब्रज भाषा का प्रयोग है।

'सो हर-गौरि प्रसाद···'—शुभ कार्य की अत्यन्त दुर्लभ सिद्धि पर ईश्वर कृपा कही जाती है, वैसे ही इन्होंने 'हर-गौरि-प्रसाद' यहाँ कहा है। तथा—'सो प्रभु कर परसत टूट्यो मानों हुतो पुरारि पढ़ायो ॥" (पद ९३); "तुलसी सो राम के सरोजपानि परसत ही, टूट्यो मानो बारे ते पुरारि ही पढ़ायो है ॥" (क० बा० १०); इन उदाहरणों में भी शिव-प्रसाद की ध्वनि है।

'कौसिक-कृपा चौगुनो भो, री'—वाल्मी० १।७२ में श्रीवसिष्ठजी की अनुमति से श्रीविश्वामित्रजी ने राजा जनक (शीरध्वज) से कहा कि श्रीजानकीजी और श्रीउर्मिलाजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी को व्याही जायँ, इनमें परस्पर तुल्यता है और आपके भाई कुशध्वजजी के दो सुन्दरी कन्याएँ हैं। उन (श्रीमांडवीजी और श्रीश्रुतिकीर्त्तिजी) के व्याह श्रीभरतजी और श्रीशत्रुघ्नजी से हो, ऐसा हमलोग चाहते हैं, इस पर श्रीजनकजी ने धन्यवाद के साथ स्वीकृति दी है। उसीका अनुमोदन यहाँ किया गया है कि चारों विवाहों का संयोग कौशिकजी की कृपा से हुआ है। तथा—"पुरनारि सकल पसारि अंचल विधिहि बचन सुनावहीं। ब्याहिअहु चारिउ भाइ येहि पुर हम सुमंगल गावहीं॥" (मा० बा० ३१०)।

'पन परिताप, चाप चिंता निसि'''पन परिताप'; यथा—"नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितु पन सुमिरि बहुरि मन छोभा॥ अहह तात दारुनि हठ ठानी।" (मा० बा० २५७); तथा—"उठहु राम भंजहु भव चापा। मेटहु तात जनक परितापा॥"(मा० बा० २५३); अर्थात् सहसा प्रतिज्ञा करने पर श्रीरामजी को देख जनकजी को परिताप था; यथा—"सोचत सत्य-सनेह-विवश निसि, नृपहि गनत गये तारे॥" (पद ६८); यदि पण पूरा न हुआ तो कन्या कुमारी ही रह जायगी, यह ताप था।

'चाप चिंता'; यथा—"घोर कठोर पुरारि सरासन, नाम प्रसिद्ध पिनाक जो दससीस दियो बावों जेहि हर गिरि कियो है मनाक॥" (पद ८९) "बान जातुधानपति भूप दीप सातहू के लोकप बिलोकत पिनाक भूमि ढई है।" (पद ८६)-इनके विशेष देखिये। प्रतिज्ञा का परिताप और चाप की चिन्ता रात के समान थीं, इनसे चाप न टूटने का सोच और प्रतिज्ञा-त्याग का संकोच रूप उस रात में अन्धकार की बहुलता थी। इस तमपूर्ण रात के कारण सभा रूपी सरोवर में हितैषी वर्गके चित्त रूपी कमल संपुटित थे; सूर्यकुल रूपी कमल को प्रफुल्लित करनेवाले सूर्य रूप श्रीरामजी को देख कर वे विकसित हो उठे; तथा—"प्रमुदित-मन लोक कोकनद कोकगन, रामके प्रताप रवि सोच सर सोखे हैं।" (पद ९५); "हितन के लाह की, उछाह की, विनोद मोद, सोभा की अवधि नहिं अब अधिकई है।" (पद ९६); इत्यादि।

यहाँ 'रूपक-अलङ्कार' है।

'कुँवर कुँवरि सब मंगलमूरति'; यथा—"धूप दीप नैवेद बेद बिधि। पूजे बर-दुलहिनि मंगल निधि॥" (मा० बा० ३४९); "सीय सुता भइ जासु सकल मंगलमइ।" (जानकी मंगल ४); "देखि-देखि सियराम सकल मंगल निधि।" (जानकी मंगल ९४)। 'नृप दोउ धरम धुरंधर धोरी'; यथा—"पुन्य पयोनिधि भूप दोउ" (मा० बा० ३११); "जनक सुकृति मूरति बैदेही। दसरथ सुकृत राम धरे देही॥ इन्ह सम काहु न सिव अवराधे। काहु न इन्ह समान फल लाधे॥ इन्ह सम कोउ न भयेउ जगमाहीं। हैं नहिं कतहूँ होनेउँ नाहीं॥" (मा० बा० ३०९)।

'राज-समाज भूरि भागी…'—पूर्व के पद ९७-९८ में लोचन लाभ और भाग्य की अधिकता देखिये।

'व्याह उछाह राम सीता को…'—यह समस्त पुण्यों का फल रूप है, इसीसे इसकी फलश्रुति सुखमय कही गई है; यथा—"प्रभु-विवाह जस भयेउ उछाहू। सकहिं न बरनि गिरा अहि नाहू॥…उपवीत व्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं। बैदेहि राम-प्रसाद ते जन सर्वदा सुख पावहीं॥ सिय रघुवीर विवाह-जे सप्रेम गावहि सुनहिं। तिन्हँ कहँ सदा उछाह, मंगलायतन राम जस॥" (मा० बा० ३६०-३६१); "उपवीत व्याह उछाह जे सियराम मंगल गावहीं। तुलसी सकल कल्यान ते नर-नारि अनुदिन पावहीं॥" (जानकी मंगल १२०)।

'जानइ सोइ जाके उर…'—इस मनोहर जोड़ी का ध्यान करने से चित्त शीघ्र निर्मल हो अनुरक्त हो जाता है और तब यह इन्हीं की कृपा से इस सुख का साक्षात्कार करता है—गीता १०।९-११ देखिये। तथा—"मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥" (मा० बा० १९९); "तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन।" (मा० अ० १२६)।

[१०५]

राजति राम-जानकी जोरी।
स्याम-सरोज जलद-सुंदर बर, दुलहिनि तड़ित-बरन तनु गोरी॥१॥
व्याह-समय सोहति बितान तर, उपमा कहुँ न लहति मति मोरी।
मनहुँ मदन-मंजुल-मंडप महँ छबि-सिंगार-सोभा सोउ थोरी॥२॥

मंगलमय दोउ, अंग मनोहर, ग्रथित चूनरी पीत पिछौरी।
कनक कलस कहँ देत भाँवरी, निरखि रूप सारद भइ भोरी॥३॥
इत बसिष्ठ मुनि, उतहिं सतानँद, बंस बखान करैं दोउ ओरी।
इत अवधेस, उतहिं मिथिलापति, भरत अंक सुख-सिंधु हलोरी॥४॥
मुदित जनक रनिवास रहस बस चतुर नारि चितवहिं तृन तोरी।
गान-निसान-वेदधुनि सुनि सुर बरषत सुमन, हरष कहै को री?॥५॥
नयनन को फल पाइ प्रेम बस सकल असीसत ईस निहोरी।
तुलसी जेहि आनंद मगन मन, क्यों रसना बरनै सुख सो री!॥६॥

अर्थ—(व्याह-समय) श्रीरामजी और श्रीजानकीजी की जोड़ी विरा[illegible] मान है। दूलह श्रीरामजी श्याम (नील) कमल और श्याम सजल मेघ[illegible] समान सुन्दर हैं और दुलहिन श्रीजानकीजी बिजली के समान गोरे शरीर[illegible] हैं ॥ १ ॥ यह जोड़ी व्याह के समय माँडव के नीचे सुशोभित हो रही[illegible] मेरी बुद्धि इस जोड़ी की उपमा कहीं नहीं पा रही है। (तथापि कवि-स्वभा[illegible] से उत्प्रेक्षा द्वारा कुछ लक्ष्य कराते हैं—) मानो कामदेव रूप सुन्दर माँडव[illegible] छबि और शृङ्गार रस हैं, परन्तु यह उत्प्रेक्षा भी ठीक नहीं है क्योंकि इन[illegible] जो शोभा है, वह भी इन दूलह-दुलहिन की शोभा की अपेक्षा थोड़ी ही है॥२ दोनों दूलह दुलहिन के सब अंग मङ्गलमय और मनोहर हैं। दुलहिन की चू[illegible] और दूलह के पीले चादर से ग्रन्थि-बन्धन हुआ है। दोनों सोने के कलश[illegible] भाँवरी दे रहे हैं, उस रूप की छटा देखकर शारदा भी भोली हो गई ([illegible] होकर रह गई, कुछ कह नहीं पाती) ॥ ३ ॥ इधर श्रीदशरथजी की ओ[illegible] श्रीवसिष्ठमुनि और उधर से श्रीशतानन्दजी हैं, दोनों ओर के वंश बखान [illegible] रहे हैं, इधर श्रीदशरथजी और उधर श्रीजनकजी अंक भर कर मिले हैं। [illegible] ही सुख-सागर में हिलोरे ले रहे हैं। ४ ॥ श्रीजनकजी का रनिवास आनन्दि[illegible] है और आनन्दवश होकर चतुर स्त्रियाँ तृण तोड़कर देखती हैं (कि दृष्टि[illegible] लग जाय)। गान हो रहा है, नगाड़े बज रहे हैं और वेदध्वनि हो रही है, [illegible] सुनकर देवगण फूल बरसाते हैं, उनका आनन्द कौन कह सकता है?॥५ इस प्रकार नेत्रों का फल पाकर समस्त स्त्री-पुरुष प्रेम वश हो श्रीशिवजी[illegible]

प्रार्थना कर आशीर्वाद देते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जिस आनन्द में मन ही निमग्न हो जाता है, जिह्वा उस सुख का वर्णन कैसे करे? ॥ ६ ॥

विशेष—'राजत राम जानकी जोरी।···'—ब्याह साज सजकर दूलह श्रीरामजी और दुलहिन श्रीजानकीजी माँडव में विराजमान हैं। उस समय की शोभा का वर्णन है।

'मनहुँ मदन-मंजुल-मंडप महँ···'—श्रीजानकीजी छबि रूपिणी हैं और श्रीरामजी श्रृङ्गार रूप हैं; यथा—"सोहति सीय राम कै जोरी। छबि सिंगार मनहुँ यक ठौरी॥" (मा० बा० २६४); तथा—"सखिन्ह-मध्य सीय सोहति कैसे। छबि-गन मध्य महाछबि जैसे॥" (मा० बा० २६३); "नारि बिलोकहिं हरषि हिय, निज-निज रुचि अनुरूप। जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप॥" (मा० बा० २४१); इन उद्धरणों में 'महाछबि' और 'परम अनूप' श्रृंगार की उत्प्रेक्षा है। अतः, युक्त मान ली गई है। यहाँ 'छबि-सिंगार' मात्र हैं। अतः, इनकी शोभा थोड़ी कही गई है। उपमेय से उपमान का निरादर किया गया है अतः, यहाँ 'रूपक से पुष्ट तृतीय प्रतीप अलंकार' है।

'मंगलमय दोउ अंग··'; यथा—"कुँवर कुँवरि सब मंगलमूरति" (पद १०४)—इसका विशेष देखिये। 'ग्रथित चूनरी पीत पिछौरी'; यथा—"करि होम बिधिवत गाँठि जोरी होन लागी भाँवरी।" (मा० बा० ३२४)।

'कनक कलस कहँ देत भाँवरी···'; यथा—"कुँवर कुँवरि कल भाँवरि देहीं। नयन लाभ सब सादर लेहीं॥ जाइ न बरनि मनोहर जोरी। जो उपमा कछु कहउँ सो थोरी। राम सीय सुंदर प्रतिछाँही। जगमगाति मनि खंभन्ह माहीं॥ मनहुँ मदन रति धरि बहु रूपा। देखत राम बिआहु अनूपा॥ दरस लालसा सकुच न थोरी। प्रगटत दुरत बहोरि बहोरी॥ भये मगन सब देख-निहारे। जनक समान अपान बिसारे॥ प्रमुदित मुनिन्ह भाँवरी फेरी।" (मा० बा० ३२४)। इस प्रकार की भाँवरी पर शारदा का भोरी होना योग्य ही है; यथा—"को कहि सकइ अनंद मगन भइ भारति।" (जानकीमंगल ६४)

'इत बसिष्ठ मुनि, उतहि सतानँद···'; यथा—"बर कुँवरि करतल जोरि। साखोच्चार दोउ कुलगुरु करैं।" (मा० बा० ३२३ ;) वाल्मी० १।७०। १९–४५ में श्रीवसिष्ठजी ने राजा दशरथ के वंश का वर्णन किया है, किन्तु

श्रीजनकजी ने वाल्मी० १।७१।१–२० में स्वयं अपने वंश की परम्परा का वर्णन किया है। श्रीगोस्वामीजी के कल्प में दोनों ओर के पुरोहितों ने ही दोनों की वंश परम्परा का वर्णन किया है। उक्त प्रमाणों से सिद्ध है।

रघुवंश और निमिवंश की परंपरा

१ श्रीब्रह्माजी
२ श्रीमरीचिजी
३ श्रीकश्यपजी
४ श्रीविवस्वानजी
५ श्रीमनुजी
६ श्रीइक्ष्वाकुजी (इन्होंने श्रीअयोध्याजी में राज्य किया है)

रघुवंश	निमिवंश
७ श्री कुक्षिजी	७ श्री निमिजी (इनकी राजधानी वैजयंत नगर थी)
८ ,, विकुक्षिजी	८ ,, मिथिजी (मिथिलापुरी इन्होंने बसाई)
९ ,, बाणजी	९ ,, जनकजी (इस कुल में ये प्रथम जनक हैं)
१० ,, अनरण्य जी	१० ,, उदावसुजी
११ ,, पृथुजी	११ ,, नंदिवर्द्धनजी
१२ ,, त्रिशंकुजी	१२ ,, सुकेतुजी
१३ ,, धुन्धुमारजी	१३ ,, देवरातजी
१४ ,, युवनाश्वजी	१४ ,, बृहद्रथजी
१५ ,, मानधाताजी	१५ ,, महावीरजी
१६ ,, सुसन्धिजी	१६ ,, सुधृतिजी
१७ ,, ध्रुवसन्धिजी	१७ ,, धृष्टकेतुजी
१८ ,, भरतजी	१८ ,, हर्यश्वजी
१९ ,, असितजी	१९ ,, मरुजी
२० ,, सगरजी	२० ,, प्रतीन्धकजी

२१ ,, असमंजसजी	२१ ,, कीर्तिरथजी
२२ ,, अंशुमानजी	२२ ,, देवमीढ़जी
२३ ,, दिलीपजी	२३ ,, बिबुधजी
२४ ,, भगीरथजी	२४ ,, महीध्रकजी
२५ ,, कुकुत्स्थजी	२५ ,, कीर्तिरातजी
२६ ,, रघुजी	२६ ,, महारोमाजी
२७ ,, कल्माषपादजी	२७ ,, स्वर्णरोमाजी
२८ ,, शंखणाजी	२८ ,, ह्रस्वरोमाजी
२९ ,, सुदर्शनजी	२९ ,, सीरध्वज (जनकजी) और कुशध्वजजी
३० ,, अग्निवर्णजी	३० श्रीलक्ष्मीनिधिजी
३१ ,, शीघ्रगजी	इन्हीं सीरध्वज (जनक)जी की कन्याएँ
३२ ,, मरुजी	१ श्रीसीताजी
३३ ,, प्रशुश्रुकजी	२ श्रीउर्मिलाजी और
३४ ,, अम्बरीषजी	श्रीकुशध्वजजी की कन्याएँ—
३५ ,, नहुषजी	१ श्रीमांडवीजी २ श्रीश्रुतिकीर्तिजी
३६ ,, ययातिजी	
३७ ,, नाभागजी	
३८ ,, अजजी	
३९ ,, दशरथजी	
४० ,, रामजी	
,, भरतजी	
,, लक्ष्मणजी	
शत्रुघ्नजी	

यह परंपरा वाल्मी० १।७०-७१ के अनुसार है। महाराजा इक्ष्वाकु से ही वंशों की परम्पराएँ हैं। किन्तु श्रीजनक वंश में कम ही पीढ़ियाँ हुई हैं; क्योंकि इस वंश के राजा योगी होते आए हैं, इससे योग-सिद्धि से अधिक आयु वाले होते थे।

'इत अवधेस' उतहि मिथिलापति'''; यथा—"मिले जनक दसरथ

अति प्रीती । करि बैदिक लौकिक सब रीती ।।" से "सकल भाँति सम साज-समाजू । सम समधी देखे हम आजू ।।" (मा० बा० ३१९) तक। तथा— "गुन सकल सम समधी परस्पर मिलत अति आनँद लहे । जय धन्य जय जय धन्य-धन्य बिलोकि सुर नर मुनि कहे ।। तीनि लोक अवलोकहिं नहिं उपमा कोउ । दसरथ-जनक समान जनक-दसरथ दोउ ।।" (जानकी मंगल ८०-८१)।

'इत बसिष्ठ मुनि···इत अवधेस···' ये दोनों पंक्तियाँ श्रीभागवतदास की प्रति एवं श्रीहरिहरप्रसाद की सटीक प्रति में नहीं हैं। श्रीबैजनाथजी की भी सटीक प्रति में नहीं हैं, परन्तु उसमें दोनों वंश-परंपराएँ लिखी गई हैं, वे इन्हीं पंक्तियों की हैं। शेष काशी नागरीप्रचारिणी सभा की संकलित प्रति एवं गीता प्रेस की सटीक प्रति में ये दोनों पंक्तियाँ हैं। इससे मैंने भी इन्हें रक्खा है।

'मुदित जनक रनिवास···'—ये चतुर नारि श्रीजनक रनिवास की सखियाँ हैं, इनका इस जोड़ी पर वात्सल्य है, इससे दृष्टि दोष बचाव के लिये तृण तोड़ती हुई देखती हैं; यथा—"सुंदर तन सिसु-बसन-बिभूषन नख-सिख निरखि निकैया। दलि तृन प्रान निछावरि करि-करि लैहैं मातु बलैया ।।" (पद ९)।

'गान-निसान-वेद-धुनि···'; यथा—"बृंदारका गन सुमन बरसहिं राउ जनवासेहि चले । दुंदुभी जयधुनि बेदधुनि नभ नगर कौतूहल भले ।।" (मा० बा० ३२५); "येहि बिधि भयउ बिवाह उछाह तिहूँ पुर। देहिं असीस मुनीस सुमन बरसहिं सुर ।।" (जानकी मंगल ९१)।

'नयनन को फल पाइ'—इस जोड़ी का दर्शन पाना नेत्रों का फल है—पद १०७ के "देखि तियन के नयन···" एवं पद ९७ देखिये। तथा—"येहि बिधि सबहि नयन फल देता। गये कुँवर सब राज-निकेता ।।" (मा० बा० २२४)। "जीवन-जनम-लाहु लोचन फल है इतनोइ···" (पद १०६)। 'प्रेमबस सकल असीसत ईस निहोरी'; यथा—"सनमाने अवनीस असीसत ईस रमेस सनाइ ।।" (पद २); "अस कहि नारद सुमिरि हरि, गिरिजहिं दीन्हि असीस।" (मा० बा० ७०)। 'जोड़ी चिरजीवी हो' ऐसी आशिष देते हैं।

'जेहि आनंद मगन मन····'; यथा—"को कहि सकइ अनंद मगन भइ भारति।" (जानकी मंगल ९४); मन के सहयोग से ही रसना (जिह्वा) आदि इन्द्रियों के कार्य होते हैं। जब मन ही निमग्न है तो जिह्वा कैसे कहै?

[१०६]

दूलह राम, सीय दुलही, री ।
घन-दामिनि बर बरन, हरन-मन, सुंदरता नख-सिख निबही, री ॥ १ ॥
ब्याह-बिभूषन-बसन-बिभूषित, सखि अवली लखि ठगि सी रही, री ।
जीवन-जनम-लाहु, लोचन-फल है इतनोइ लह्यो आजु सही, री ॥ २ ॥
सुखमा सुरभि सिंगार-छीर दुहि मयन अमिअ मय कियो है दही, री ।
मथि माखन सियराम सँवारे, सकल भुवन-छबि मनहुँ मही, री ॥ ३ ॥
तुलसिदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल न जाति कही, री ।
रूप-रासि बिरची बिरंचि मनो, सिला लवनि रति-काम लही, री ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—मही = मट्ठा । सिला (सं० शिल) = स्वामी के ले जाने के पीछे खेत में पड़े हुए अन्न के एक-एक दाने जो जीविका के लिये चुने जाते हैं, शिलावृत्ति, उंछ वृत्ति । लवनि (सं० लवन) = सब खेत कट जाने के पीछे काटने वाले श्रमिकों को कृषक लोग डंठल समेत अन्न का एक सामान्य बोझा श्रमिक को प्रसन्नता में देते हैं, उसे 'लवनी' कहते हैं।

अर्थ - श्रीरामजी दूलह हैं और श्रीजानकीजी दुलहिन हैं। दोनों का मेघ और बिजली के समान श्रेष्ठ (श्याम-गौर) वर्ण है। दोनों की मनोहर सुन्दरता नख से शिखा तक (यथा योग्य पूर्ण रीति से) निबह गई है (किसी के किसी भी अंग में कोई न्यूनता नहीं है) ॥ १ ॥ इन्हें विवाह के विभूषणों और वस्त्रों से विभूषित देख कर सखियों की श्रेणी ठगी-सी रह गई है। (वह विचारती है—) जीवन और जन्म का लाभ एवं नेत्रों का फल, बस, इतना ही है, उसे हम सबने आज ठीक-ठीक प्राप्त कर लिया है ॥ २ ॥ कामदेव रूप ग्वाले ने परमाशोभा रूपी गाय से शृंगार रूप दूध दुहकर (उसमें अमृत की जावन देकर) जो अमृतमय दही का निर्माण किया है, उसे मथ कर निकले हुए (सारांश) मक्खन से श्रीसीताजी और श्रीरामजी रचे गये हैं तथा समस्त लोकों की छबि मानों उसका रहा-सहा (निःसार) मट्ठा है ॥ ३ ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इस जोड़ी को देखते हुए बड़ा सुख होता है, इसकी शोभा अतुलित है, इससे कही नहीं जाती। ऐसा जान पड़ता है कि मानों विधाता

ने सम्पूर्ण रूप की राशि इस जोड़ी को बनाया है और रति एवं कामदेव को तो उसमें की शिला और लवनी मात्र मिला है ॥ ४ ॥

विशेष—'घन दामिनि बर बरन…'—मेघ में बिजली संलग्न रहती है, इसी प्रकार दोनों साथ बैठे हैं।

'जीवन जनम लाहु, लोचन फल…'; यथा—"नयनन को फल पाई" (पद १०५); "अब येहि ब्याह सफल भयो जीवन" (पद ६८); इस युगल छबि अवलोकन पर ही साधु राजाओं ने कहा है; यथा—"हम तौ आजु जनम फलु पावा।" (मा० बा० २४५)।

'सुखमा सुरभि …'—ऊपर पद में 'छबि सिंगार मनहुँ…' कहा था, यहाँ उससे बहुत अधिकता कहते हैं कि परमाशोभा का सार शृंगार और उस शृङ्गार का भी सार श्रीसीतारामजी का स्वरूप है। दही का जावन देने पर सब दूध दही हो जाता है, वैसे ही अमृत का जावन देने पर यहाँ अमृतमय दही की व्यवस्था है। जैसे दही का सारांश माखन होता है, वैसे ही शृङ्गार का भी सारांश श्रीसीतारामजी का स्वरूप है। उसका निःसार मट्ठा की भाँति समस्त भुवनों की छवि है। (इस रूपक की विशेष व्याख्या श्री बैजनाथ की टीका में है।) यहाँ साँग रूपक के द्वारा 'सकल भुवन छबि' रूप उपमान को उपमेय 'सियराम' की अपेक्षा अत्यन्त हीन कहा गया है। अतएव 'सांग रूपक एवं उत्प्रेक्षा से पुष्ट तृतीय प्रतीप अलङ्कार' है।

'रूप रासि बिरची बिरंचि मानो…'—मजदूर की स्त्री एवं अन्य रंक लोग शीला चुनते हैं और मजदूर को लवनी का बोझ दिया जाता है। वैसे रति ने शिला पाया है और कामदेव ने लवनी पाया है। राशि की अपेक्षा शिला और लवनी का अन्न अत्यन्त अल्प होता है, वैसे ही इस जोड़ी में रूप की राशि है और रति-काम के भाग्य में इस का अत्यन्त अल्पांश ही है। अतः यहाँ भी उपर्युक्त रीति का 'रूपक और उत्प्रेक्षा से पुष्ट तृतीय-प्रतीप अलङ्कार' है। विधाता रूपी किसान ने जगत् रूप में शोभा रूपी अन्न बोया और उसे रति-काम रूपी लवनिहार से कटवा कर श्रीमिथिला के माँड़व रूप खरिहान में रूप राशि प्रस्तुत कर उससे इस जोड़ी को रचा और उसके शिला एवं लवनी में मानो रति-काम की रचना की है, यह उत्प्रेक्षा का स्पष्टीकरण है।

[१०७]

जैसे ललित लखन लाल लोने ।
तैसियै ललित उर्मिला, परस्पर लखत सुलोचन-कोने ॥ १ ॥
सुखमा-सार सिंगार-सार करि कनक रचे हैं तेहि सोने ।
रूप-प्रेम-परिमिति न परत कहि, बिथकि रही है मति मौने ॥ २ ॥
सोभा-सील-सनेह सोहावनो समउ केलिगृह गौने ।
देखि तियनि के नयन सफल भये, तुलसिदासहु के होने ॥ ३ ॥

अर्थ – जैसे मनोहर और लावण्ययुक्त श्रीलक्ष्मण लाल जी हैं, वैसी ही मनोहर श्रीउर्मिलाजी हैं, दोनों परस्पर (एक दूसरे को) नेत्रों की कनखियों से देखते हैं ॥ १ ॥ परमाशोभा का सार और श्रृंगार का सार को सोना करके (मानों) उस सोने से ये दोनों रच गये हैं। दोनों में रूप और पारस्परिक प्रेम की सीमा है, वह कही नहीं जाती, बुद्धि शिथिल होकर मौन हो रही है ॥ २ ॥ समय पर जब ये दोनों केलिगृह (कोहवर) गये, उस समय की इनकी शोभा, सद्वृत्ति और बड़ा सुहावना स्नेह देखकर वहाँ की स्त्रियों के नेत्र सफल हो गये; अब (उसका ध्यान एवं वर्णन करने से) तुलसीदास के भी सफल होने वाले हैं ॥ ३ ॥

विशेष—'जैसे ललित···तैसियै ललित···'; यथा—"अनुरूप बर दुलहिनि परस्पर लखि सकुचि हिय हरषहीं। सब मुदित सुंदरता सराहहिं सुमन सुरगन बरषहीं ॥" (मा० बा० ३२४)।

'सुखमा सार सिंगार सार करि कनक···'—श्रीलक्ष्मणजी गौरवर्ण हैं। अतः, वे परमाशोभा के सार रूप सोने के वर्णवाले हैं। सुखमा का वर्ण भी सोने का-सा है। श्रीउर्मिलाजी श्याम वर्णा हैं। अतः, वे श्रृङ्गार के सार रूप सोने (जाम्बूनद) के वर्णवाली हैं। श्रृङ्गाररस श्याम वर्ण का होता है, वैसे ही जाम्बूनद गहरे हरे रंग का सोना कहा जाता है। कान्तियुक्त शरीरों की उपमा में दोनों प्रकार के सोने ही कहे गये हैं। उर्मिला आदि के वर्ण-प्रमाण; यथा—"हिरण्यवर्णा सीता स्यान्माण्डवी पाटलप्रभा। उर्मिला श्यामवर्णाभा श्रुतिकीर्त्तिः समप्रभा ॥" (नारद पंचरात्र); अर्थात् श्रीसीताजी स्वर्णवर्णा हैं, श्रीमाण्डवीजी

पाटल (श्वेत-लाल मिश्रित) वर्णा और उर्मिला तथा श्रुतिकीर्ति श्याम वर्णा हैं। "श्वेतरक्तस्तु पाटलः।" (अमरकोष)।

यहाँ 'गम्योत्प्रेक्षा' एवं 'ललित-अलङ्कार' हैं; क्योंकि उत्प्रेक्षा के वाचक 'जनु' 'मानो' आदि पद नहीं हैं। तथा जोड़ी के वर्ण के प्रतिबिंब दो प्रकार के सोने की आभा से कहे गये हैं।

'रूप प्रेम परिमिति...'—दोनों ही रूप की सीमा है और पारस्परिक प्रेम की सीमा हैं, इससे इनके रूप और प्रेम कहे नहीं जा सकते; यथा—"रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेखा। सो जानइ सपनेहुँ जेहि देखा॥" (मा० बा० १९८); प्रेम तो अनिर्वचनीय प्रसिद्ध ही है; यथा—"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्" (नारद भक्ति सूत्र ५१)।

'बिथकि रही है मति मौने'; यथा—"तुलसी भइ मति बिथकित करि अनुमान। राम लखन के रूप न देखउ आन॥" (बरवा रा० २३); यहाँ तात्पर्य यह है कि बुद्धि अनुमान करके हार कर और शिथिल होकर मौन हो रही; क्योंकि इनके रूप और प्रेम का वर्णन करने के लिये उपमान आदि कहीं मिलते ही नहीं।

'सोभा सील सनेह...'; यथा-"कोहबरहिं आने कुँवर कुँवरि सुआसनिन्ह सुख पाइ कै।" से "कौतुक बिनोद प्रमोद प्रेम न जाइ कहि जानहिं अली।" (मा० बा० ३२६) तक। तथा—"वर दुलहिनिहिं लेवाइ सखी कोहबर गईं॥९१॥ निरखि निछावरि करहिं बसन मनि छिनु-छिनु। जाइ न बरनि बिनोद मोदमय सो दिन।......॥९२॥" (बरवा रा०)।

'देखि तियन के नयन सफल भये'; यथा - "नयननि को फल पाइ" (पद १०५)–इसका विशेष देखिये। तथा—"निज प्रभु-बदन निहारि निहारी। लोचन सफल करउँ उरगारी॥" (मा० उ० ७४); अर्थात् भगवान् एवं उनके परिकरों के दर्शन से नेत्र सफल होते हैं; तथा—"करहु सुफल सबके नयन सुंदर बदन देखाइ॥" (मा० बा० २१८); "होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भव-मोचन॥" (मा० अर० ९)।

'तुलसिदासहु के होने'—भाव यह कि तुलसीदासजी ने इसका ध्यान किया एवं वर्णन किया है, इससे इसके भी हृदय के बुद्धि और चित्त रूपी

गोलकों के ज्ञान और विराग नेत्र सफल होंगे; ज्ञान से इनका विवेक प्राप्त कर और विराग से विषयान्तर का त्याग कर दृढ़ भक्ति-परायणता प्राप्त करायेंगे। ऐसे ही और भी ध्याता, वक्ता एवं श्रोता दृढ़ भक्ति पायेंगे, यह आशय गर्भित है। तथा—"सुफल मनोरथ बिधि किये सब बिधि सबही के। अब होइहैं गाए सुने सब के तुलसी के॥" (पद ६)—इसका विशेष भी देखिये।

राग बिलावल

[१०८]

जानकी वर सुंदर, माई।
इंद्र नील-मनि-स्याम सुभग, अँग-अंग मनोजनि बहु छबि छाई॥ १॥
अरुन चरन, अंगुली मनोहर, नख दुतिवंत कछुक अरुनाई।
कंज-दलनि पर मनहुँ भौम दस बैठे अचल सुसदसि बनाई॥ २॥
पीन जानु, उरु चारु, जटित मनि नूपुर पद कल मुखर सोहाई।
पीत पराग भरे अलिगन जनु जुगल जलज लखि रहे लोभाई॥ ३॥
किंकिनि कनक-कंज-अवली मृदु मरकत सिखर मध्य जनु जाई।
गई न उपर, सभीत नमित मुख, बिकसि चहुँ दिसि रही लोनाई॥ ४॥
नाभि गँभीर, उदर रेखा वर, उर भृगु-चरन-चिन्ह सुखदाई।
भुज प्रलंब भूषन अनेक जुत, बसन पीत सोभा अधिकाई॥ ५॥

अर्थ—(सखी से सखी कहती है—) अरी माई! श्रीजानकीजी के दूलह बड़े ही सुंदर हैं। इनका सुन्दर श्याम शरीर इन्द्रनील मणि के समान है, इन के अँग अँग में बहुत कामदेवों की छबि छाई हुई है॥ १॥ इनके चरण लाल रंग के हैं, उन चरणों की अँगुलियाँ मनोहर हैं और उन अँगुलियों के नख कान्ति युक्त एवं कुछ ललाई लिये हुए हैं; मानों कमल के दलों पर दस मंगल ग्रह निश्चिल होकर और अपनी अच्छी सभा बना कर बैठे हुए हों॥ २॥ इनके घुटने पुष्ट हैं और जाँघे सुन्दर हैं तथा चरणों में मणि जटित नूपुर हैं, उनमें सुन्दर सुहावना शब्द हो रहा है; मानों पीले पराग भरे हुए (अतएव पीले रंग के) भ्रमर गण दो कमलों को देख लुभा कर रह गये हों॥ ३॥ कटिप्रदेश में किंकिणी धारण किये हुए हैं, वह ऐसी जान पड़ती है मानों सोने के रंग के कमलों की श्रेणियाँ हैं, वे कोमल मरकतमणि के पर्वत-शिखर के मध्य भाग

में उत्पन्न हुई हैं तथा वे मुखचन्द्र से डर कर ऊपर को नहीं गईं, नीचे को मुख लटका कर रह गई हैं और विकसित होने पर उनकी सुन्दरता चारो दिशाओं में फैली हुई है ॥ ४ ॥ इनकी नाभि गम्भीर है, उदर पर सुन्दर रेखाएँ हैं और वक्षःस्थल पर अत्यन्त सुखदायक भृगु मुनि के चरणों का चिह्न है। अनेकों आभूषणों से युक्त भुजाएँ आजानु लम्बी हैं और (श्याम तनु में) पीताम्बर की शोभा अति-अधिक हो रही है ॥ ५ ॥

विशेष—'इंद्रनील-मनि-स्याम…'; यथा—"स्याम सरीर सुभाय सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन॥" (मा० बा० ३२६) "लोक लोचनाभिराम, नीलमनि तमाल-स्याम, रूप सील्रधाम, अंग छबि अनंग की री?" (उ०७)

'अरुन चरन कंज दलनि पर…'—यहाँ अरुण चरण-तल अरुण कमल, अंगुली उसके दल और उन पर ललाई युक्त नख मंगल हैं। नख दस हैं, वैसे मंगल ग्रह भी दस ही कहे गये हैं। मंगल एक ग्रह विशेष हैं, इससे चल हैं, उस पर कहा गया है कि ये दसो अचल होकर बराबर पंक्ति में स्थित हैं, मानों सभा में एक-एक पंक्ति में बैठे हैं। चरण की ललाई लेकर नखों में ललाई है, वैसे ही मंगल ग्रह भी लाल कहा जाता है। तथा—"राजत नख जनु कमल-दलनि पर अरुन-प्रभा-रंजित तुषारकन॥" (उ० १६) "सुभग अँगुष्ठ अंगुली अविरल, कछुक अरुन नख-ज्योति जगमगति॥" (उ० १७) "अरुन-चरन-पंकज-नख-जोती। कमल-दलन्हि बैठे जनु मोती॥" (मा० बा० १९८)।

'पीन जानु, उर चारु'; यथा—"जंघा जानु आनु उरु उर" (उ० १६) 'नूपुर पद कमल मुखर पीत पराग भरे…'—नूपुर नहीं है मानों पीत कमल की पराग में लोटने से भ्रमर पीत रंग के हो गये हैं। उन्हीं की दो पंक्तियाँ हैं। दोनों चरण रूपी दो कमलों में लुभा कर उनके पास रह गये हैं। उनके गुंजार ही मानों नूपुरों के कलमुखर हैं।

'किंकिनि कनक कंज''गई न उपर'…'—यहाँ सोने की किंकिणी मानो स्वर्ण वर्ण कमल की कलियों की पंक्ति है। वह मृदु मरकतमणि के शिखर के मध्य भाग से मानो उत्पन्न हुई है। यहाँ मृदु मरकतमणि-शिखर श्रीरामजी का कोमल शरीर है। उनके शरीर का मध्य (कटि) भाग उस शिखर का मध्य भाग है, किंकिणी वहीं पर है, संलग्न है, यहीं उसका वहाँ

से उत्पन्न होना है। मरकत-शिखर कठोर होता है, उस दोष के निवारणार्थ यहाँ 'मृदु पद' दिया गया है। तथा—"मरकत सैल पर लरत दामिनि कोटि सों जुग भुजग ज्यों।" (मा० अर० १७)।

'गई न उपर, सभीत…'—किंकिणी के दानों का मुख के नीचे की ओर होता है, उस पर कहते हैं कि मानों वे कमल कलियाँ मुखचन्द्र के डर से ऊपर को नहीं खिलीं, नीचे मुख करके खिली हैं, इसीसे उनकी लुनाई नीचे के मुख से फैली हुई है। चन्द्रमा की शीत किरणों से हिम ऋतु में कमल भस्म हो जाता है, यही डर इन कलियों को मुखचन्द्र से है।

यहाँ प्रथम चरण में 'रूपक' और द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ चरणों में 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' हैं।

'नाभि गँभीर…भुज प्रलंब…'; यथा—"कटि किंकिनी उदर त्रयरेखा। नाभि गँभीर जान जेहि देखा॥ भुज बिसाल भूषन जुत भूरी।" (मा० बा० १९८); यथा—"तड़ित बिनिंदक पीत पट, उदर रेख बर तीन। नाभि मनोहर लेति जनु, जमुन भ्रमर छबि छीनि॥" (मा० बा० १४७); "आजानु भुज सर चाप धर" (वि० ४५)। 'उर भृगु चरन चिह्न सुखदाई'; यथा—"हृदय पदिक भृगु-चरन चिह्न बर, बाहु बिसाल जानु लगि पहुँचति।…स्याम सरीर सुचंदन-चर्चित, पीत दुकूल अधिक छबि छाजति। नील जलद पर बिरखि चंद्रिका दुरनि त्यागि दामिनि जनु दमकति॥" (उ० १७)

यज्ञोपवीत बिचित्र हेममय, मुक्तामाल उरसि मोहिँ भाई।
कंद-तड़ित बिच जनु सुरपति-धनु निकट बलाक पाँति चलि आई॥६॥
कंबु कंठ, चिबुकाधर सुंदर, क्यों कहौं दसनन की रुचिराई?।
पदुमकोस महँ बसे बज्र मनो निज सँग तड़ित-अरुन-रुचि लाई॥७॥
नासिक चारु, ललित लोचन, भ्रू कुटिल, कचनि अनुपम छबि पाई।
रहे घेरि राजीव उभय मानों चंचरीक कछु हृदय डेराई॥८॥
भाल-तिलक, कंचन किरीट सिर, कुंडल लोल कपोलनि झाँई।
निरखहिं नारि-निकर बिदेह पुर निमि नृप की मरजाद मिटाई॥९॥
सारद सेष संभु निसि-बासर चिंतत रूप न हृदय समाई।
तुलसिदास सठ क्यों करि बरनै यह छबि, निगम नेति कहि गाई॥१०॥

शब्दार्थ—कंद=मेघ, बादल । रुचि = कान्ति, दीप्ति ।

अर्थ - इन (दूलह श्रीरामजी) के हृदय में विचित्र स्वर्णमय यज्ञोपवीत और मोतियों की माला है, वह मुझे विशेष प्रिय लगती हैं; मानों मेघ और बिजली के बीच में इन्द्रधनुष हो और उसके समीप बक-पाँति भी चली आई हो । ६।। इनका कण्ठ शङ्ख के समान (सुडौल) है, ठोढ़ी और ओष्ठ सुन्दर हैं । दाँतो की सुन्दरता मैं कैसे कहूँ ? मानो बज्र (हीरे) ही अपने साथ में बिजली और बालसूर्य की कान्ति लाकर कमल के कोश में आ बसे हों ।।७।। इनकी नासिका सुन्दर है और मनोहर नेत्र हैं तथा टेढ़ी भौंहें हैं एवं इनके केशों ने तो अनुपम छबि प्राप्त की है; मानों हृदय में कुछ डरते हुए भौंरों ने दो लाल कमलों को घेर रक्खा हो ।।८।। इनके ललाट पर तिलक है और शिर पर सोने का मुकुट है तथा कपालों पर कुछ हिलते हुए कुंडलों की छाया पड़ती है; इन्हें विदेह नगर की समूह स्त्रियाँ राजा निमि की मर्यादा (पलक मारना) छोड़कर (यकटक) देख रही हैं ।।९।। श्रीशारदाजी, श्रीशेषजी और श्रीशिवजी इस रूप का रात-दिन चिन्तन किया करते हैं तथापि यह उनके हृदय में नहीं समाता (एक रस स्थिर नहीं रहता एवं इस रूप की विशेषताएँ उनके हृदय के ज्ञान के विषय नहीं हो पातीं कि वे पूर्ण कह सकें); फिर मूर्ख तुलसीदास इस छबि का वर्णन किस प्रकार करे ? जिसे वेद ने 'नेति' कह कर गाया है ।।१०।।

विशेष—'यज्ञोपवीत···कंद तड़ित···'—यहाँ श्याम शरीर जलभरा हुआ श्याम मेघ है, पीताम्बर बिजली है, पीला यज्ञोपवीत इन्द्र-धनुष है और उसके निकट की मुक्तामाल बगुलों की पाँति है; तथा—"पीत जग्य उपवीत सुहाए ।" (मा० बा० २४३); "रुचिर उर उपवीत राजत, पदिक गजमनि हारु । मनहुँ सुरधनु नखतगन बिच निसिर-गंजनिहारु ।।" (उ० ८); तथा—"बिबिध कंकन हार, उरसि गजमनि-माल, मनहुँ बग-पाँति जुग मिलि चली जलद ही । पीत निर्मल चैल, मनहुँ मरकत सैल, पृथुल दामिनि रही छाइ तजि सहज ही ।।" (उ० ६) ।

'कंबु कंठ, चिबुकाधर सुंदर'; थथा—"कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई ।" (मा० बा० १९८); "कंबु ग्रीव, छबि सींव चिबुक द्विज, अधर कपोल बोल भय मोचन ।" (उ० १६) ।

'क्यों कहौं दसनन···पदुम कोस महँ···'—'क्यों कहौं' अर्थात् वह कहने में किसी उपाय से भी नहीं आती। फिर उत्प्रेक्षा के द्वारा कुछ लक्ष्य कराते हैं। यहाँ ओष्ठ कमल का कोश है. उसमें दाँत हीरा गण हैं, उन दाँतों की चमक बिजली का अंश है दाढ़ों की लालिमा प्रातःकाल के सूर्य की लालिमा है, यह लालिमा और चमक दाँतों के साथ है, यही इनका साथ लाना है। तथा—"सुंदर नासा कपोल चिबुक, अधर अरुन बोल मधुरे दसन राजत जब चितवत मुख मोरी। कंज कोस भीतर जनु कंजराग-सिखर निकर, रुचिर रचित विधि विचित्र तड़ितरंग बोरी॥" (उ० ७)।

'नासिक चारु, ललित लोचन···रहे घेरि···'—यहाँ दोनों नेत्र दो कमल हैं, शिर के केश (कच) भ्रमर समूह हैं। ये भ्रमर गण दोनों कमलों पर मानों बैठना चाहते हैं, परन्तु पलकें चल रही हैं, इन्हें पंखा का चलना मानकर हृदय से डरते हैं, इससे ऊपर ही मँडराते हैं, बैठते नहीं हैं। भौंरे पंखा से डरते ही हैं। इस प्रकार इनमें अनुपम छवि प्राप्त है।

यहाँ उपर्युक्त ६,७,८, इन तीनों चरणों में 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा-अलङ्कार' है।

'भाल तिलक···'—कपोल दर्पणवत् सचिक्कन कान्तियुक्त हैं, उन पर चंचल कुण्डलों की झाँईं पड़ने पर अत्यन्त अद्भुत छटा दिखती है।

'निमि नृप की···'—राजा निमि ने सबकी पलकों पर निवास माँगा है, उसीसे पलकें चला करती हैं। यहाँ सब स्त्रियाँ पलक मारना छोड़कर यकटक देख रही है, यही इनका राजा निमि की मर्यादा का छोड़ना है। ये सब निमिवंश की राजधानी की हैं। अतः, इन्हें तो अवश्य ही उक्त मर्यादा का रक्षण करना था, पर इस समय इन्होंने इनकी छटा के वश हो, उस मर्यादा का त्याग कर दिया है। यह श्रीरामजी की रूपमाधुरी का वैभव है।

'सारद सेष संभु···'; यथा—"रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेखा। सो जानइ सपनेहुँ जेहि देखा॥" (मा० बा० १९८); तथा—"वोह सोभा समाज सुख, कहत न बनइ खगेस। बरनै सारद सेष श्रुति, सो रस जान महेस॥" (मा० उ० १२); "निगम नेति सिव अंत न पावा। ताहि धरै जननी हठि धावा॥" (मा० बा० २०२); "निगम-अगम मूरति महेस मति जुवति वराय वरी" (पद ५५)। 'निगम नेति कहि गाई'; यथा—"स एष नेति नेत्यात्मा"

(बृह० ४।५।१५); अर्थात् वह यह 'ऐसा नहीं' 'ऐसा नहीं' आत्मा है। उस छबि का वर्णन मुझ मूर्ख के द्वारा कैसे हो सकता है।

श्रीअवध-आगमन

राग कान्हरा

[१०६]

भुजनि पर जननी वारि फेरि डारी।
क्यों तोर्‌यो कोमल कर-कमलनि संभु-सरासन भारी ? ॥१॥
क्यों मारीच सुबाहु महाबल प्रबल ताड़का मारी ?।
मुनि-प्रसाद मेरे राम-लखन की बिधि बड़ि करवर टारी ॥२॥
चरन-रेनु लै नयननि लावति, क्यों मुनि बधू उधारी।
कहौ धौं, तात ! क्यों जीति सकल नृप बरी है बिदेह कुमारी ॥३॥
दुसह-रोष-मूरति भृगुपति अति नृपति-निकर खयकारी।
क्यों सौंप्यो सारंग हारि हिय करी है बहुत मनुहारी ॥४॥
उमँगि-उमँगि आनंद बिलोकति बधुन सहित सुत चारी।
तुलसिदास आरती उतारति प्रेम मगन महँतारी ॥५॥

शब्दार्द—करवर = संकट, कठिनाई, विपत्ति। खयकारी (क्षयकारी)= नाश करने वाले। मनुहारी (मनुहार, हिं०-मान-हरना) = (१) मनौआ, खुशामद। (२) विनय, प्रार्थना। (३) आदर, सत्कार।

अर्थ—माता श्रीकौशल्याजी ने श्रीरामजी की भुजाओं पर (द्रव्य, वस्त्र एवं राई-लोन आदि) फिराकर निछावर (वारा-फेरा) करती हुई डाल दिया और कहने लगीं—'इन कोमल कर कमलों से शिवजी का भारी धनुष कैसे तोड़ा है ? ॥१॥ महाबलवान् मारीच और सुबाहु तथा प्रबल ताड़का को भी किस प्रकार मारा है ? (जब संकोच वश श्रीरामजी ने कुछ नहीं कहा, तब स्वयं समाधान करती हुई कहती हैं—) मुनि श्रीविश्वामित्र जी की कृपा से विधाता ने मेरे (पुत्र) श्रीराम और श्रीलक्ष्मण की बड़ी-बड़ी विपत्तियाँ टाल दी हैं' ॥२॥ फिर श्रीरामजी के श्रीचरणों की धूलि लेकर अपने नेत्रों में लगाती हुई कहती हैं—'इससे कैसे मुनिबधू अहल्या का उद्धार किया है और हे तात !

कहो तो भला, तुमने किस प्रकार समस्त राजाओं को जीत कर विदेह-कुमारी श्रीसीता का वरण (विवाह) किया है ? ॥ ३ ॥ तथा भृगुकुल श्रेष्ठ श्रीपरशुराम जी तो दुस्सह क्रोध की मूर्त्ति और राजाओं के समूह का अत्यन्त नाश करने वाले हैं। उन्होंने किस प्रकार हृदय से हारकर अपना सारंग धनुष तुम्हें सौंपा है और फिर बहुत प्रार्थना भी की है ? ॥ ४ ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इस प्रकार (कहती हुई) माता आनन्द में उमँग-उमँगकर वधुओं के साथ चारो पुत्रों को देखती हैं और प्रेम में निमग्न होकर इनकी आरती उतारती हैं ॥५॥

विशेष—'भुजनि पर जननी···'—भगवान् उपासकों के भावानुसार अभिनय करते हैं, कोमल एवं कठोर होते हैं; यथा—"मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युता। रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाच्युतः॥" ऐसा स्मृतियों में लिखा है; तथा—"जिन्हके रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी॥··· सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाइ बखानी॥··· जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसलराऊ॥" (मा० बा० २४०-२४१) तक। राजा जनकजी एवं उनकी रानी की वात्सल्य दृष्टि थी, इससे उन्हें श्रीरामजी शिशु सम (पाँच वर्ष के भीतर आयुवाला बच्चा की भाँति) देख पड़ते थे। वैसे ही वात्सल्य-निष्ठ माता कौसल्या को देख पड़ते थे, यथा—"कदा परिणतो बुद्ध्या वयसा चामरप्रभः। अभ्युपैष्यति धर्मात्मा त्रिवर्ष इव लालयन्॥" (वाल्मी० २।४३।१६), अर्थात् (श्रीकौसल्याजी ने वनयात्रा पर लौट आने के समय की अभिलाषा पर कहा है—) बुद्धि से श्रेष्ठ (ज्ञान में श्रेष्ठ) और आयु में देवता के समान पचीस वर्ष की तरुण अवस्था के धर्मात्मा श्रीरामजी कब तीन वर्ष के बालक के समान मेरे प्रति क्रीड़ा कर मुझे आनन्दित करते हुए आवेंगे। तात्पर्य यह कि युवा होने पर भी श्रीरामजी माता को शिशु के समान ही दीखते थे। तथा—"त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्॥ यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥" (भाग० ३।९।११), अर्थात् (ब्रह्माजी ने भगवान् कृष्ण से कहा है—) हे नाथ ! आप अपने भक्तों के भावयोग से शुद्ध किये हुए हृदय कमल में विराजते हैं और जिस भाव से वे भक्त आपकी भावना करते हैं, वेद

से देखे हुए मार्ग द्वारा आप उन सज्जनों पर अनुग्रह करके वही-वही रूप धारण करते हैं।

माता कौसल्याजी श्रीरामजी को सदा शिशु ही समझती हैं, इसीसे जो उन्होंने सुना है कि मेरे लाल ने बड़े बड़े आश्चर्य कर्म एवं अमानुष कर्म अपनी भुजाओं से किये हैं। उन भुजाओं के प्रति बाधाओं का अपहरण करने एवं कल्याण करने की भावना से वे उन पर वारा-फेरा कर रही हैं और फिर कहती हैं—

'क्यों तोरयो कोमल कर कमलनि…'—ये हाथ कमल के समान अत्यन्त कोमल हैं और वह धनुष अत्यन्त कठोर एवं भारी था, फिर कैसे तोड़ा गया, यथा—"कमठ पीठ पविकूट कठोरा। नृप समाज महँ सिव धनु तोरा॥" (मा० बा० ३५६), "कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदु गात किसोरा॥" (मा० बा० २५७)।

'क्यों मारीच सुबाहु…मुनि प्रसाद…'; यथा—"मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरें टारी॥ मख रखवारी करि दुहुँ भाई। गुरु प्रसाद सब विद्या पाई॥ मुनि तिय तरी लगत पग धूरी। कीरति रही भुवन भरि पूरी॥ कमठपीठ पवि कूट कठोरा। नृप समाज महँ सिव धनु तोरा॥ बिस्व बिजय जस जानकि पाई। आये भवन ब्याहि सब भाई॥ सकल अमानुष कर्म तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे॥" (मा० बा० ३५६); इस उद्धृत प्रसंग के आदि-अन्त में मुनि-प्रसाद ही कह कर माता ने समाधान किया है, वही भाव यहाँ भी है। 'महाबल' और 'प्रबल' कह कर उनकी भीषणता कही है।

'चरन रेनु लै…'- विरह से संतप्त नेत्रों को यह रज देकर शीतल कर रही हैं; यथा—"रज सिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥" (मा० अ० २३७); तथा—"लेहिं परस्पर अति प्रिय पाती। हृदय लगाइ जुड़ावहिं छाती।" (मा० बा० २९४)। 'जीति सकल नृप…'—सभी राजा धनुष तोड़ कर ब्याह करने ही आये थे, पर किसी ने प्रतिज्ञा पूरी नहीं की। अतः वे धनुष से हार गये थे। श्रीरामजी ने उसे तोड़ा, इस पर इनकी सब पर जीत हुई, उसी को माता कहती है। 'विदेह-कुमारी' पद में

ध्वनि से अयोनिजा एवं दिव्य रूपा श्रीसीताजी का गौरव भी है। ऐसी कुमारी को प्राप्त किया है।

'दुसह रोष मूरति भृगुपति···'; यथा—"बाल ब्रह्मचारी अति कोही। बिस्व-बिदित छत्रिय-कुल द्रोही॥ भुज बल भूमि भूप बिनु कीन्हीं। बिपुल बार महि-देवनि दीन्हीं॥" (मा० बा० २७१); "छत्रियाधीस-करि-निकर-वर केसरी परसुधर" (वि० ५२) यहाँ विवाह के पीछे परशुराम-प्रसंग कहा गया है। अतः, वाल्मीकीय रामायण के अनुसार है; तथा—"जनक सुता समेत आवत गृह परसुराम अति मदहारी॥" (उ० ३८)।

'क्यों सौंप्यो सारंग···'; यथा—"सुनि सरोष भृगुनायक आये। बहुत भाँति तिन्ह आँखि देखाये॥ देखि राम बल निज धनु दीन्हा। करि बहु बिनय गवन बन कीन्हा॥" (मा० बा० २९२); 'बहुत मनुहारी'; यथा—"देत चाप आपुहि चलि गयऊ। परसुराम मन बिस्मय भयऊ॥ जाना राम प्रभाउ तब, पुलक प्रफुल्लित गात। जोरि पानि बोले बचन, प्रेम न हृदय समात॥" से "कहि जय, जय, जय रघुकुल केतू। भृगुपति गये बनहिं तप-हेतू॥" (मा० बा० २८४) तक। हृदय से हार गये, तब शस्त्र सौंप कर उन्होंने प्रार्थना की है।

'उमँगि-उमँगि आनंद···'—पुत्र की वीरता के कर्मों पर माता को अत्यन्त आनन्द होता है। क्योंकि क्षत्रिया माताएँ पुत्र के शौर्य पर ही अत्यन्त आनन्दित होती हैं। प्रत्येक वीरता की बात कह-कह कर आनन्द से बार-बार उल्लसित होती हैं। और उन कर्मों पर प्रत्येक के प्रति बार-बार राई-लोन उतारती हैं, वैसे ही प्रत्येक चरण पर 'भुजनि पर···' यह कहा भी जाता है। सुकुमार तन से भी ऐसे-ऐसे कर्म किये हैं, इस पर प्रेम में निमग्न हो जाती हैं और इनकी विघ्न-बाधा-हरण के भाव से आरती उतारती हैं। आरती करना आगे पद में कहा गया है—

[११०]

मुदित-मन आरती करै माता।
कनक-बसन-मनि वारि-वारि कर पुलक प्रफुल्लित गाता॥ १॥

पालागनि दुलहियन सिखावति सरिस सासु सत-साता ।
देहिं असीस ते 'बरिस कोटि लगि अचल होउ अहिवाता' ॥ २ ॥
राम-सीय-छवि देखि जुवति जन करहिं परस्पर बाता ।
अब जान्यो, साँचेहू सुनहु, सखि ! कोबिद बड़ो बिधाता ॥ ३ ॥
मंगल गान निसान नगर-नभ, आनंद कह्यो न जाता ।
चिरजीवहु अवधेस-सुवन सब तुलसिदास-सुखदाता ॥ ४ ॥

अर्थ—माता श्रीकौसल्याजी आनन्दित मन से सोना, वस्त्र और मणि निछावर कर शरीर से पुलकित एवं प्रफुल्लित हो (प्रेम पूर्वक) आरती कर रही हैं ॥ १ ॥ चारो दुलहियों को अपने समान ही (अपनी सपत्नी) सात सौ सासों के चरण-लगना सिखाती हैं । इस पर वे सब सासें आशीर्वाद देती हैं- 'करोड़ों वर्षों तक तुम्हारा अहिवात (सुहाग) अचल हो' ॥ २ ॥ श्रीरामजी और श्रीसीताजी की छवि देखकर सब स्त्रियाँ परस्पर बातें करती हैं । हे सखी ! सुनो, 'हमने सत्य-सत्य अब जाना है कि विधाता बड़ा प्रवीण है' ॥ ३ ॥ नगर और आकाश में मङ्गलगान हो रहा है, नगाड़े बज रहे हैं, उस समय (दोनों स्थलों) का आनन्द कहा नहीं जाता । (सब लोग आशीर्वाद देते हैं—) तुलसीदास को सुख देने वाले अवध-नरेश के सभी पुत्र चिरजीवी हों ॥ ४ ॥

विशेष—'मुदित मन···कनक-बसन-मनि···'; यथा—"बारहिं बार आरती करहीं । ब्यजन चारु चामर सिर ढरहीं ॥ बस्तु अनेक निछावरि होहीं । भरी प्रमोद मातु सब सोहीं ॥" (मा० बा० ३४९); तथा—"करहिं निछावरि मनि-गन चीरा । बारि बिलोचन पुलक सरीरा ॥ आरति करहिं मुदित पुर नारी ।" (मा० बा० ३४७) । ऊपर पद में माता के वचन के भाव कहे गये, इस पद में वे मन से मुदित हैं और तन से पुलकित एवं प्रफुल्लित होकर आरती कर रही हैं । अतः; माता मन, वचन और तन से कृतकृत्य हैं ।

'पालागनि दुलहियनि'···'—यों तो दुलहियाँ प्रधान चार हैं, परन्तु इन चारों की सखियाँ बहुत हैं । इन सब को सूचित करते हुए बहुवचन कहा गया है ।

'सासु सत साता'—श्रीमद्वाल्मीकीय रामयण अयो० २।३९।३६ में साढ़े तीन सौ माताएँ श्रीरामजी की कही गई हैं; यथा—"त्रयः शतशतार्धा हि

ददर्शावेक्ष्य मातरः।'' अर्थात् श्रीरामजी ने अपनी ३५० माताओं की ओर देखा। किन्तु श्रीगोस्वामीजी के कल्प के इस चरित में सास सौ कहीं गई हैं, यह कल्पभेद है।

'देहिं असीस ते···'; यथा—"अचल होउ अहिवात तुम्हारा। जब लगि गंग-जमुन जल धारा॥" (मा० अ० ६८)।

'राम-सीय छबि···अब जान्यो···'—इन दोनों की सुन्दरता रचने एवं ऐसी जोड़ी का संयोग करने में ब्रह्मा की प्रवीणता सराही जा रही है; यथा— "जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी, अरु रामहि ऐसो रूप दियो री। तुलसिदास तेहि चतुर विधाता निजकर यह संजोग सियो री॥" (पद ७६)—इसका विशेष देखिये।

'मंगल गान निसान···'—नगर में पुरवासी और आकाश में देवगण तथा देवांगनाएँ मंगल-आनन्द मना रही हैं। 'तुलसिदास सुखदाता'—उस समय के लोगों एवं देवगणों तथा देवांगनाओं के मुखों से भविष्य की बात कहला कर अपना सम्बन्ध पुष्ट करने में 'भाविक-अलङ्कार' है; यथा—"सकल तनय चिरजीवहु, तुलसिदास के ईस।" (मा० बा० १९६)।

———

अयोध्याकाण्ड

यौवराज्याभिषेक-रसभङ्ग

राग सोरठ

[१]

नृप कर जोरि कह्यो गुरु पाहीं।
तुम्हरी कृपा असीस, नाथ! मेरी सबै महेस निबाहीं॥ १॥
राम होहिं जुबराज जियत मेरे, यह लालच मनमाँहीं।
बहुरि मोहिं जियबे-मरिबे की चित चिंता कछु नाहीं॥ २॥
महाराज, भलो काज बिचारयो, बेगि बिलंब न कीजै।
बिधि दाहिनो होइ तौ सब मिलि जनम-लाहु लुटि लीजै॥ ३॥

सुनत नगर आनन्द बधावन, कैकेयी बिलखानी।
तुलसीदास देवमाया-बस कठिन कुटिलता ठानी ॥ ४ ॥

अर्थ—राजा दशरथ ने हाथ जोड़ कर गुरु श्रीवसिष्ठजी के पास (समक्ष) कहा। 'हे नाथ ! आपकी कृपा एवं आशीर्वाद से श्रीमहादेवजी ने मेरी सभी इच्छाओं को पूर्ण कर दिया ॥ १ ॥ अब मेरे मन में, बस, यही लालच है कि मेरे जीते जी श्रीरामजी युवराज हो जायँ। फिर मेरे चित्त में अपने जीने-मरने की कुछ भी चिन्ता नहीं रह जाती' ॥ २ ॥ (श्रीगुरुजी ने कहा—) 'हे महाराज ! आपने बहुत अच्छा कार्य विचारा है, इसे शीघ्र ही कीजिये, इसमें विलम्ब न कीजिये। यदि विधाता अनुकूल हो तो सब के साथ मिल कर यह जन्म लाभ लूट लिया जाय' ॥ ३ ॥ नगर में आनन्द बधावा बजने लगा, उसे (मन्थरा से) सुन कर कैकेयी दुःखित हो गई। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि देव-माया के वश हो उसने कठिन कुटिलता धारण कर ली ॥ ४ ॥

विशेष—'नृप कर जोरि कह्यो ...'—चैत्र का महीना था, स्वभाव से ही राजा ने हाथ में मुकुर लेकर मुकुट सीधा किया। उसी समय राजा ने अपने कानों के पास के श्वेत केश देख यह विचार किया कि ये मानों मुझे उपदेश दे रहे हैं कि राजन् ! जीवन अस्थिर है। अतः, श्रीरामजी को युवराज पद दे दीजिये। श्रीमद्वाल्मीकीय रा० अयो० ४।१७–१८ में राजा ने यह भी कहा है कि मैं अशुभ स्वप्न देखता हूँ और कुछ ग्रहों के दारुण संयोग से मेरी मृत्यु की सम्भावना है। अत: मैं अत्यन्त शीघ्र ही रामजी को अभिषेक कर दूँ। इन कारणों से आतुर हो राजा दशरथजी ने श्रीगुरुजी से हाथ जोड़कर कहा—'तुम्हरी कृपा ...'; यथा—"प्रभु प्रसाद सिव सबइ निबाहीं। यह लालसा एक मनमाहीं॥" (मा० अ० ३)।

'राम होहि जुबराज ... बहुरि मोहिं जियबे ...'; यथा—"नाथ राम करियहि जुबराजू। कहिअ कृपा करि करिअ समाजू॥ मोहिं अछत यह होइ उछाहू। लहहिं लोग सब लोचन लाहू॥ प्रभु-प्रसाद सिव सबइ निबाहीं। यह लालसा एक मन माहीं॥ पुनि न सोच तनु रहउ कि जाऊ। जेहि न होइ पाछे पछताऊ॥" (मा० अ० ३)।

'महाराज भलो काज ... बिधि दाहिनो ...'—'महाराज' इस पद में

श्रीगुरुजी ने राजा दशरथ का राज्य शासन गौरव कहा कि आपने अभी तक बहुत सुन्दर रीति से राज्य छत्र को सुशोभित किया है। वाल्मी० २।२।२५ के प्रश्नोत्तर का भाव इस पद में आ गया है, वहाँ राजा ने सब का हार्दिक भाव भाव लेने के लिये कहा कि मैंने जैसे ही दूसरे राजा (युवराज) का प्रस्ताव किया, आप लोगों ने बड़े आनन्द से इसे ग्रहण किया, क्या मुझमें शासन-योग्यता नहीं थी ? इस पर लोगों ने रामजी के बहुत-से लोकोत्तर गुणों को कहा है, उससे सिद्ध किया है कि आप तो धर्मपूर्वक राज्य चलाते थे, पर आपके पुत्र में तो अत्यन्त श्रेष्ठ गुण हैं, इससे हम लोगों ने कहा है। तथा—"बिनती सचिव करहिं कर जोरी। जियहु जगत पति बरिस करोरी॥" (मा० अ० ४); इसमें भी वही भाव है। महा० द्रोण० १६४।५ में लिखा है कि लोग एक अपने पुत्र को ही अपने से अधिक गुणवान् करने की इच्छा करते हैं, इस नियम से राजा दशरथ को इसमें बड़ा सुख हुआ है, इसे उन्होने वाल्मी० २।३।२ में कहा है।

'भलो काज बिचारयो···'—यह बहुत अच्छा कार्य है; यथा—"सब के उर अभिलाष अस, कहहिं मनाइ महेस। आपु अछत जुवराज पद, रामहिं देउ नरेस॥" (मा० अ० १); तथा—"तं देवदेवोपममात्मजं ते सर्वस्य लोकस्य हिते निविष्टम्। हिताय नः क्षिप्रमुदारजुष्टं मुदाभिषेक्तुं वरद त्वमर्हसि॥" (वाल्मी० २।२।५४); अर्थात् लोक कल्याण में लगे हुए विष्णु के समान अपने पुत्र श्रीरामजी का—जिनमें औदार्य आदि गुण हैं—हम लोगों के कल्याण के लिये शीघ्र प्रसन्नता पूर्वक, हे वरद ! आपको राज्याभिषेक करना चाहिये।

'बेगि बिलम्ब न कीजै'; यथा—"बेगि बिलंब न करिय नृप, साजिय सबुइ समाज।" (मा० अ० ४); 'बिधि दाहिनो होइ तो···'—श्रीवसिष्ठजी की वाणी यहाँ सन्दिग्ध निकल रही है कि यदि विधाता अनुकूल तो···। भाव यह कि वसिष्ठजी सर्वज्ञ हैं, फिर भी जीव हैं। जीव का अणु स्वरूप है। अतः, इसकी सर्वज्ञता भी परिमित है, परम नहीं और वह ईश्वरसापेक्ष है। जब ध्यान धर के देखते, तब वे यथार्थ जान लेते। परन्तु यहाँ ईश्वर की इच्छा कुछ और ही लीला करने की है। अतः, उनकी वैसी प्रवृत्ति नहीं हुई। उन्होंने स्वभाव से पुरोहित की मर्याद से कह दिया कि हाँ, महाराज ! बहुत अच्छा है,

कीजिये, यदि विधाता अनुकूल हो तो इसमें जन्म-लाभ लूटना है। श्रेय कामों में विघ्नों की आशंका रहती है, इससे 'विधि दाहिनो होइ तो' यह कहा जाना स्वाभाविक है। यदि गुरुजी कह देते कि 'अच्छा ही होगा' तो वह वचन अन्यथा होता, उसमें उनके ऋषित्व की मर्यादा जाती। अतः, ऐसा कहलाने में उन पर वाणी-प्रेरक श्रीरामजी की दया है; यथा—"सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी ॥ जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी ॥" (मा० बा० १०४)।

यहाँ के ध्यान धर कर न देखने की चूक को आगे वसिष्ठजी ने रोकर स्वीकार किया है; यथा—"सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कह्यो मुनि नाथ। हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस बिधि हाथ ॥" (मा० अ० १७१)। श्रीदशरथ ऐसे अनुरागी शिष्य को अपने सामर्थ्य भर वसिष्ठजी धोखा देने वाले नहीं हैं।

'जनम लाभ लुटि लीजै'; यथा-"कबहिं लगन मुद-मंगल कारी ॥ सुकृत सील सुख सींव सुहाई। जनम लाभ कइ अवधि अघाई ॥ जेहि चाहत नर-नारि सब, अति आरत एहि भाँति। जिमि चातक चातकि तृषित, बृष्टि सरद रितु स्वाति ॥" (मा० अ० ५१-५२)।

'सुनत नगर आनंद बधावन···'—कैकेयीजी ने मन्थरा से सुना; यथा—"भयेउ पाख दिन सजत समाजू। तुम्ह पाई सुधि मोहिं सन आजू ॥" (मा० अ० १८); मन्थरा ने जितनी रचना देखी है, उसके विचार में वह पन्द्रह दिन की है, वास्तव में तो वह रचना उसी एक दिन की थी। सरस्वती की प्रेरणा से आग भड़काने के योग्य शब्द बना कर वह कह रही है। वाल्मी० २।७। १-३० में लिखा है कि मन्थरा कोठे पर चढ़ी, उसने भारी रचना-समारोह देख कर श्रीरामजी की धाय से पूछा, उसने बतलाया। सुन कर मन्थरा हृदय से जल गई। उसने तुरत आकर कैकैयीजी से कहा और फिर बहुत कुछ उल्टा-सीधा समझा कर श्रीकैकेयी जी को क्रुद्ध कर अनर्थ करने पर उसने आरूढ़ किया।

'देव माया बस···'; यथा—"सुर माया बस बैरिनिहिं, सुहृद जानि पति आनि।" (मा० अ० १६); तथा—"तात कैकइहि दोष नहिं, गई गिरा

मनि धूति।" (मा० अ० २०६)। वाल्मी० २।२२। १६-२२ से भी यही सिद्ध है।

'कठिन कुटिलता ठानी'; यथा-"कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू।" (मा० अ० १९); तथा--"कैकय नंदिनि मंदमति, कठिन कुटिलपन कीन्ह। जेहि रघुनंदन, जानकिहि, सुख अवसर दुख दीन्ह॥" (मा० अ० ६१)। इसने ऐसी कठिन कुटिलता ठानी है कि राजा दशरथ स्वयं नीति-निपुण थे, तथा वसिष्ठजी एवं सुमंत्र आदि सभी निपुण थे, पर किसी से सुलझाते नहीं बना। अन्त में श्रीभरतजी भी आकर साकांक्ष ही रह गये। वनवास होकर ही रहा।

वनवास-प्रस्थान

राग गौरी

[२]

सुनहुँ राम मेरे प्रान पियारे।
वारौं सत्य बचन श्रुति-सम्मत, जाते हौं बिछुरत चरन तिहारे॥ १॥
बिनु प्रयास सब साधन को फल प्रभु पायो, सो तो नाहिं सँभारे।
हरि तजि धरम सील भयो चाहत, नृपति नारिबस सरबस हारे॥ २॥
रुचिर काँच-मनि देखि मूढ़ ज्यों करतल ते चिंतामनि डारे।
मुनि-लोचन-चकोर, ससि-राघव, सिव-जीवनधन सोउ न बिचारे॥ ३॥
जद्यपि नाथ तात! माया बस सुख निधान सुत तुम्हहिं बिसारे।
तदपि हमहिं त्यागहु जनि रघुपति, दीनबंधु, दयालु मेरे बारे॥ ४॥
अतिसय प्रीति बिनीत बचन सुनि, प्रभु कोमल-चित चलत न पारे।
तुलसिदास जौं रहौं मातु-हित, को सुर-बिप्र-भूमि-भय टारे?॥ ५॥

अर्थ—[श्रीरामजी से वन जाने की बात सुन उस पर श्रीकौसल्या माता कहने लगीं —] 'ऐ मेरे प्राण-प्यारे राम! सुनो; जिसके कारण तुम्हारे चरणों का वियोग होता है, उस श्रुति के अनुकूल सत्य-वचन (रक्षण धर्म) को मैं तुम्हारे (संयोग-सुख के) प्रति निछावर करती हूँ (वारा-फेरा कर फेंक देती हूँ)॥ १॥ विना परिश्रम ही समस्त साधनों के फल स्वरूप (तुम) प्रभु को पाया है, उसका सँभाल तो नहीं किया (रख नहीं सके)। अब (आश्रित-क्लेश-हर्त्ता) श्रीहरि को छोड़ कर धर्म शील होना चाहते हैं। शोक! राजा

स्त्री (कैकेयी) के वश होकर अपना सर्वस्व हार गये ॥ २ ॥ हा ! जैसे कोई मूर्ख सुन्दर (चमकीली) काँच की मणि देख कर (हाथ में उसे रखने के लिये) अपने हाथ से चिन्तामणि गिरा दे (वैसे ही राजा ने सत्य वचन-रक्षण पर मोहित होकर तुम्हारा त्याग किया है, । हा ! राजा ने यह भी नहीं विचारा कि, हे राघव ! तुम मुनियों के नेत्र रूपी चकोरों के लिये चन्द्रमा के समान (आनन्द दायक) हो और (संसार भर के संहारकर्त्ता) श्रीशिवजी के जीवन धन हो (ऐसे परम दुर्लभ प्रभु का मैं काँच मणिवत् सत्यवचन-रक्षणार्थ क्यों त्याग रहा हूँ ?) ॥ ३ ॥ हे तात ! यद्यपि मेरे स्वामी (राजा दशरथ) ने मायावश होकर सुख के निधान तुम ऐसे पुत्र को ध्यान में नहीं रक्खा (तुम्हारी उपर्युक्त दुर्लभता को चित्त में नहीं रक्खा) तथापि, हे दीनबन्धु ! हे दयालु ! हे मेरे बच्चे रघुश्रेष्ठ राम ! तुम हम को मत छोड़ो (; अर्थात् मेरे पास से मत जाओ), ॥ ४ ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि माता के अत्यन्त प्रीतिमय और विनम्र वचन सुनकर कोमल चित्त वाले प्रभु (करुणायुक्त हो) वहाँ से चल न सके (फिर वे विचारने लगे कि) 'यदि मैं माता के हित (उनका प्रिय करने के लिये) रह जाऊँ तो फिर देवता, ब्राह्मण और पृथिवी का भय कौन दूर करेगा ? ॥ ५ ॥

विशेष—'वारौं सत्य बचन...'—'सत्य-वचन' यह वेद के अनुकूल धर्म है; यथा—"सत्यं वद, धर्म चर" यह प्रसिद्ध वेद वाक्य है । तथा—"सत्यमूल सब सुकृत सुहाए । वेद-पुरान बिदित मनु गाये ।।" (मा० अ० २७); "धरम न दूसर सत्य समाना । आगम निगम पुरान बखाना ॥" (मा० अ० ६४); "सत्यमेकं परो धर्मः सत्यमेकं परंतपः । सत्यमेकं परं ज्ञानं सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः ॥" (स्कन्ध पु० ब्रा० चा० मा० २।१८) । धर्म के चार चरणों में 'सत्य' प्रथम है । अतः, मुख्य है-मनु० १।८०-८१ में इन चारों का वर्णन है । तथा—"अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः । एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥" (मनु० १०।६३); सत्य बोलने की रीति भी कही गई है; यथा—"सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् । प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥" (मनु ४।१३८); अर्थात् "कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी ।" (मा० अ० १२६), ऐसा महत्त्वशाली सत्य वचन भी यदि

भगवान् की भक्ति से विमुख कराने वाला हो तो त्याज्य है; यथा—"सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥ जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू॥" (मा० अ० २९०)। तथा—"जरउ सो संपति सदन सुख, सुहृद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो राम पद, करइ न सहस सहाइ॥" (मा० अ० १८५); इन उद्धरणों के आधार पर कुछ लोगों ने 'वारौं' का अर्थ 'बारउँ' जला डालूँ, यह किया है। परन्तु 'वारौं' अर्थात् इस पर निछावर कर फेंक दूँ, यह अर्थ विशेष संगत है, इसमें भी 'सत्य वचन' रूप धर्म की अपेक्षा प्रभु-संयोग को बहुत अधिक गौरव है।

"बिनु प्रयास सब साधन को फल प्रभु···"; यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसन पावा॥" (मा० अ० २०९); "तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥" (मा० उ० ४८); "सब साधन को एक फल, जेहि जान्यो सोइ जान। ज्यों-त्यों मन मंदिर बसहिं, राम धरे धनु बान॥" (दोहावली ९०)। ऐसे प्रभु राजा दशरथ को विना श्रम ही प्राप्त हो गये थे, उन्हें सँभाल कर वे रख नहीं सके।

'हरि तजि धरमसील भयो चाहत···'—सब धर्मों के फलस्वरूप श्रीहरि हैं, वे आश्रित के सभी प्रकार के क्लेश हरण किया करते हैं, उनको त्याग कर धर्म-रक्षण करना अपना सर्वस्व हारना है। राजा ने ही ऐसा क्यों किया? इस पर कहती हैं कि 'नारि बस' होकर सहसा उन्होंने वरदान देने में राम-शपथ कर ली है, अब तो वे विवश हो गये हैं; यथा—"तेहि पर राम सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई॥" (मा० अ० २७); 'करि आई' शब्द स्पष्ट करता है, राजा से यह शपथ अचानक निकल आई, उन्होंने अपने विचार से वैसा नहीं किया था, इसी बात को आगे इसी पद में इन कौसल्याजी ने भी कहा है—"मायाबस···" राजा ने भी आगे पश्चात्ताप करते हुए कहा है—"मुएउ न मिटैगो मानसिक पछिताउ। नारिबस न बिचारि कीन्हों काज, सोचत राउ॥ तिलक को बोल्यो दियो बन···" (पद ५७)। वाल्मी० २।२२। १९–२० में भी लिखा है कि जो सोचे-विचारे विना सहसा काम हो जाता है, वह दैव कृत है। तथा वाल्मी० २।२२।३० में स्पष्ट लिखा है कि कैकेयीजी का वर माँगना एवं मोहित हो पिता का देना दैव कृत है। राम-शपथ करके भी

यदि उसे वह वर न दें तो उसमें श्रीरामजी की ही हानि होगी; यथा—"मुनि समाज अरु तीरथ राजू। साँचिहु सपथ अघाइ अकाजू॥" (मा० अ० २१०); राजा की इस विवशता को कौसल्याजी ने 'मायावश' कह कर प्रकट किया है। किन्तु जो स्थिति है, वह कहती हैं—

'रुचिर काँचमनि देखि मूढ़ ज्यों…'—जो धर्म हरि भक्ति प्राप्ति के लिये किया जाता है, वह तो भक्ति का ही अंग है। उसके अतिरिक्त सत्य वचन-रक्षण आदि धर्म स्वर्ग आदि एवं लोक के सुखों का देने वाला है, ऐसा धर्म काँच मणि के समान है; यथा—"सो तनु धरि हरि भजहिं न जो नर। होंहिं बिषयरत मंद मंद तर॥ काँच किरिच बदले ते लेहीं। करते डारि परस-मनि देहीं॥' (मा० उ० १२०)। चिन्तामणि हाथ रहे तो वह इच्छित फल देते हुए ज्यों का त्यों रहता है। वैसे ही भगवान् भक्त के हृदय में रह कर उसे परम सुख देते हुए सदा उसके हाथ में रहते हैं। काँचमणि तुच्छ है, थोड़ा फल रूप दाम की होती है। वैसे सत्य वचन रूप धर्म का फल स्वर्ग आदि भी स्वल्प ही है, अन्त में फिर चौरासी-भ्रमण का दुःख मिलता है; यथा—"स्वर्गौ स्वल्प अंत दुखदाई॥" (मा० उ० ४३); तथा—"कृपणाः फल हेतवः।" (गीता २।४९); इत्यादि॥ यहाँ 'ललित-अलङ्कार' है। आगे चिन्तामणि रूप श्रीरामजी से लाभ उठाने वालों का दृष्टान्त देती हैं—'मुनि-लोचन-चकोर, ससि राघव,'; यथा—"मुनि समूह महँ बैठे, सनमुख सब की ओर। सरद इंदु तन चितवत, मानहु निकर चकोर॥" (मा० अर० १२)। चन्द्रमा में चकोर अनुरक्त रहता है, इसमें उसे बड़ा आनंद प्राप्त होता है। 'चदि-आह्लादने' इस धातु से चन्द्र शब्द निष्पन्न होता है; क्योंकि वह सब को आनन्द देता है। वैसे ही श्रीरामजी में अनुरक्त हो मुनि अत्यन्त सुख पाते हैं; यथा—"मम गुन ग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानै, परानंद संदोह॥" (मा० उ० ४६); वैसे ही शिवजी को भी श्रीरामानुराग में अत्यन्त सुख मिलता है; यथा—"जेहि सुख लागि पुरारि, असिव वेष कृत सिव सुखद। अवध पुरी नर-नारि, तेहि सुख महँ संतत मगन॥ सोई सुख लवलेस, जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस, ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति॥" (मा० उ० ८८); शिवजी को श्रीराम-दर्शन से इतना अधिक आनन्द मिलता

हैं कि वे महान् विरक्त वेष से निरन्तर पंद्रह नेत्रों से देखा करते हैं; यथा—"संकर राम रूप अनुरागे। नयन पंचदस अति प्रिय लागे॥" (मा० बा० ३१६)। यहाँ 'रूपक-अलङ्कार' हैं।

'जद्यपि नाथ, तात ! मायाबस···'—उपर्युक्त 'हरि तजि···' इसका विशेष देखिये। तथा राजा दशरथ को श्रीरामजी की विद्यामाया ने ही मोहित कर इस प्रकार कैकेयीजी के वश कर इनसे सहसा वर देने में श्रीराम-शपथ करवा दी है; यथा—"हरि-सेवकहि न ब्याप अबिद्या। प्रभु-प्रेरित तेहि ब्यापइ बिद्या॥ ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहंग बर॥" (मा० उ० ७८), इससे राजा ने ग्लानिपूर्वक 'राम, राम' रटते हुए प्रभु-विरह में प्राण छोड़ा है, ऐसी उत्तम मृत्यु प्राप्त की है—दोहावली २१९-२२१ देखिये। श्रीरामजी की राज्य लीला देखने की उनकी अभिलाषा थी, स्वर्ग में अपने सखा इन्द्र के साथ उसे देख कर फिर श्रीरामजी के साथ परम धाम गये। वासना पूरी होने पर ही मुक्ति होती है। इन्होंने राम-विरह में एवं राम नाम लेते हुए प्राण छोड़ा है और फिर प्रभु के द्वारा इन्हें लङ्का में दृढ़ ज्ञान भी प्राप्त हुआ है, यह सब व्यर्थ नहीं हो सकता। 'तदपि हमहिं त्यागहु जनि···'—पूर्व जन्म के तप और वरदान में दोनों साथ थे किन्तु अंत में कौसल्याजी ने भक्तों का-सा विवेक माँगा एवं पाया था, तथा राजा दशरथ ने माधुर्य दृष्टि की पुत्र-विषयक रति ही माँगी थी कि जिससे 'तत्क्रतु न्याय' से पुत्रवत् श्रीरामजी सदा मेरे अधीन एवं आनन्दप्रद रहें। राजा के भाव पर मुग्ध होकर श्रीरामजी ने स्वयं कहा है; यथा—"निज कर खाल खैंचि या तनु ते जौं पितु पग पानही करावौं। होउँ न उरिन पिता दसरथ तें; कैसे ताके बचन मेंटि पति पावौं॥" (पद ७२); तथा—"यं माता पितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम्। न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्ष शतैरपि॥" (मनु० २।२२७); अर्थात् सन्तानों की उत्पत्ति में माता-पिता को जो क्लेश सहना पड़ता है, वे संतान उससे निस्तार सौ वर्षों में भी नहीं पा सकते। अतः, राजा का भाव उनकी दृष्टि से बहुत उत्तम है। यहाँ कौसल्याजी अपनी दृष्टि से अनुरोध कर रही हैं। दीनबंधु एवं दयालु कह कर और फिर अपना माता-पुत्र का सम्बन्ध आगे कर निरन्तर संयोग की याचना कर रही हैं। इनकी इस सप्रेम याचना की प्रशंसा ग्रंथकार आगे चरण में करते हैं—

'अतिसय प्रीति बिनीत…'—माता के प्रस्ताव का आदर किया और अपने कोमल चित्त का परिचय भी दिया, प्रभु चल नहीं सके। लीला के आवश्यक विधान पर भी दृष्टि रख विचार करने लगे।

माता के प्रस्ताव की सार्थकता प्रकारान्तर से करेंगे, यह अगले दोनों पदों में देखिये।

[३]

रहि चलिये सुंदर रघुनायक।
जो सुत ! तात-बचन-पालन-रत जननिउ तात ! मानिबे लायक ॥ १ ॥
बेद-बिदित यह बानि तुम्हारी, रघुपति सदा संत-सुख-दायक।
राखहु निज मरजाद निगम की, हौं बलि जाउँ, धरहु धनुसायक ॥ २ ॥
सोक-कूप पुर परिहि, मरिहि नृप, सुनि सँदेस रघुनाथ-सिधायक।
यह दूषन बिधि तोहि होत अब राम-चरन-बियोग-उपजायक ॥ ३ ॥
मातु बचन सुनि स्रवत नयन जल कछु सुभाउ जनु नर तनु पायक।
तुलसिदास सुर काज न साध्यौ तौ तो दोष होइ महि आयक ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—रहि चलिये=रह जाइये, जैसे कहा जाता है—'कर चलिये' क्या सोचते हो ? । सिधायक=सिधारने का। पायक=पाने का। आयक=आने का-ऐसा प्रयोग मिथिला की भाषा में अधिक होता है।

अर्थ—हे सुन्दर रघुकुल श्रेष्ठ श्रीराम ! तुम रह जाओ। हे पुत्र ! यदि तुम इस समय पिताजी के वचनों का पालन करने में तत्पर हो तो, हे तात ! तुम्हारे लिये माता भी तो मानने के योग्य ही है (फिर इस माता का त्याग कर कैसे जा रहे हो ?) ॥ १ ॥ तुम्हारा यह स्वभाव वेदों में प्रसिद्ध है कि श्रीरघुकुल श्रेष्ठ श्रीरामजी सदा सन्तों (साधुओं एवं धार्मिक पुरुषों) को सुख देनेवाले हैं। अतः, तुम अपनी वेद-मर्यादा की रक्षा करो, मैं बलिहारी जाती हूँ, धनुष-बाण उतार कर रख दीजिये (और अब रह जाइये) ॥ २ ॥ 'रघुकुल श्रेष्ठ श्रीरामजी वन को चले ही गये' यह संदेश सुनते ही सारा अवधपुर शोक कूप में डूब जायगा और महाराजा (दशरथ) की मृत्यु होगी। अहो ! श्रीराम-चरण-वियोग उत्पन्न करने वाले विधाता ! यह दूषण अब तुम्हारे ऊपर आ रहा है (; अन्यथा शीघ्र ऐसा संयोग कर कि श्रीरामजी रह जायँ, वन न

जायँ ॥ ३ ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि माता के वचन सुन कर नेत्रों से अश्रुपात होने लगा, मानो यह नर शरीर पाने का कुछ स्वभाव है (फिर प्रभु विचारने लगे कि) यदि देवताओं का कार्य मैंने सिद्ध नहीं किया तो पृथिवी पर आने का मुझे दोष ही लगेगा (मैं मिथ्यावादी कहाऊँगा; क्योंकि आकाशवाणी से कहा गया है कि मैं भूमि पर अवतार लूँगा और भू-भार उतारूँगा) ॥ ४ ॥

विशेष—'रहि चलिये सुंदर···'—'सुंदर' विशेषण देकर रह जाना कहती हैं कि ऐसे सुन्दर (सुकुमार) तुम वन जाने के योग्य नहीं हो ।

'जौं सुत···'—यदि कहो कि मैं पिता का वचन-पालन रूप श्रेष्ठ धर्म पर आरुढ़ हो रहा हूँ, यह कैसे रोका जा सकता है ? उस पर साथ ही कहती हैं कि हे तात ! माता भी तो मानने ही के योग्य है। अतः, मेरे कहने पर रह जाइये; यथा—"यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहम् । त्वां साहं नानुजानामि न गन्तव्यमितो वनम् ॥" (वाल्मी० २।२१।२५); अर्थात् इसी प्रसंग पर श्रीकौसल्याजी ने श्रीरामजी से कहा है कि जिस प्रकार राजा तुम्हारे पूज्य हैं, गौरव से उसी प्रकार मैं भी हूँ । अतः, मैं तुम्हें यहाँ से वन जाने की आज्ञा नहीं देती हूँ । तथा—"सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥" (मनु० २।१४५); अर्थात् गौरव में माता-पिता से हजार गुनी अधिक है ।

यहाँ माता के इस पक्ष का समर्थन श्रीरामजी ने उनके कथनानुसार नहीं किया । इसका समाधान अन्यत्र है; यथा—"जौं केवल पितु आयसु ताता । तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ॥ जौ पितु-मातु कह्यो बन जाना । तौ कानन सत अवध समाना ॥" (मा० अ० ५५); अर्थात् यहाँ माता कैकेयीजी ने वर माँगा है और पिता ने दिया है, इसमें दोनों की आज्ञा है, इससे कौसल्या जी ने स्वयं समाधान कर लिया है । अपने उस पक्ष की शिथिलता देख कर माता और पक्ष आगे कहती हैं –

'बेद-बिदित यह बानि···'; यथा–"सुनु सुरेस उपदेस हमारा । रामहि सेवक परम पियारा ॥ मानत सुख सेवक सेवकाई । सेवक बैर बैर अधिकाई ॥··· राम सदा सेवक रुचि राखी । बेद-पुरान-साधु-सुर-साखी ॥" (मा० अ० २१८); "मोते संत अधिक करि लेखा ।" (मा० अर० ३५); "राम ते अधिक राम

कर दासा।" (मा० उ० ११६)। यहाँ संत-सुखदातृत्व वैदिक मर्याद-रक्षण पुष्ट कर साथ ही वन जाने पर सन्तों को महान् दुखी होना दिखाती हैं—

'सोक कूप पुर परिहि, मरिहि नृप...'—पुरवासी सब संत हैं; यथा— "निज इच्छा प्रभु अवतरइ, सुर महि गो द्विज लागि। सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥" (मा० कि० २६); इस रीति से पुरवासी संत (उपासक) ही हैं। अतः, इनका रक्षण आवश्यक है; यथा—"ये सेवक संतत अनन्य अति, ज्यों चातकहिं एक गति घन की। यह विचारि गवनहु पुनीत पुर, हरहु दुसह आरति परिजन की॥" (पद ७१); यह पुरजनों के प्रति ही श्रीभरतजी ने रक्षणार्थ कहा है।

पिता दशरथजी भी परम धर्मात्मा होने से परम संत हैं; यथा—'तुलसी जान्यो दसरथहि, 'धरम न सत्य समान'। राम तजे जेहि लागि, बिनु राम परि-हरे प्रान॥" (दोहावली २१६)। अतः, इनके रक्षणार्थ भी आप यहीं रहें।

'यह दूषन बिधि...'—उपर्युक्त प्रस्ताव पर श्रीरामजी की स्वीकृति का रुख न पाकर माता ने विचारा कि जैसे राजा ने कैकेयी के प्रति राम-शपथ कर वर देने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली थी, इससे वे उस पर दृढ़ ही रह गये, वह कर्म ऊपर पद में 'मायावश' एवं दैव (विधाता) कृत कहा गया है कि बुद्धि के देवता ब्रह्माजी हैं, उन्होंने राजा से सहसा वैसी शपथपूर्ण प्रतिज्ञा करवा दी है। वैसे ही श्रीरामजी ने भी माता कैकेयी के प्रति दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली है; यथा—"तद्ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकांक्षितम्। करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते॥" (वाल्मी० २।१८।३०); अर्थात् श्रीरामजी ने कैकेयीजी से कहा है कि हे देवि! वह वचन कहो तो सही, जो राजा चाहते हैं, मैं करूँगा, प्रतिज्ञा करता हूँ, यह राम दो बार नहीं बोलता; अर्थात् जो कहता है, उसे वैसा ही पूरा करता है। श्रीरामजी की की हुई इस प्रतिज्ञा को भी माता उक्त रीति से दैव-प्रेरित ही मानती हैं। अब ये भी अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ हैं, छोड़ नहीं सकते; यथा—"जौं नहिं फिरहि धीर दोउ भाई। सत्य संध दृढ़व्रत रघुराई॥" (मा० अ० ८१)—यह श्रीदशरथजी ने कहा है। इन कारणों को समझकर श्रीरामजी के न लौटने पर जो उपर्युक्त अनर्थ होंगे, उस वियोग

का संयोग-विधायक होने से इसका दोष, हे ब्रह्मा ! तुम्हें लग रहा है, इस प्रकार प्रयत्न कर हार जाने पर माता ब्रह्मा पर दोष रख उस 'उधेड़-बुन' से निवृत्त हुईं।

'मातु बचन सुनि···'—मनुष्य का स्वभाव है कि वह किसी काम में असमर्थ होने पर वह रो देता है। वैसे नर तन पाने से श्रीरामजी भी अभिनय कर रहे हैं, माता का पक्ष करने में उक्त कारणों से (पिता-माता की आज्ञा रखने के प्रति प्रतिज्ञा कर लेने पर अब उसे अन्यथा करने में) असमर्थ हो रो दिये।

यदि कहा जाय कि रोते क्यों हैं, आप प्रभु हैं, इससे कोई उपाय निकाल कर रह ही क्यों नहीं जाते ? जैसे हिरण्यकशिपु-वध का उपाय निकाल ही लिये थे। उस पर आगे कहते हैं—

'सुरकाज न साध्यो तौ तो दोष···'—आकाशवाणी से जो कहा गया है, तदनुसार न करने पर पृथिवी पर आने का मेरा उद्देश्य साकांक्ष ही रह जायगा। उधर से भी हम भ्रष्ट प्रतिज्ञ होंगे। अतः, जैसे हो वन जाकर लीला की मर्यादा से भू-भार-हरण करना ही चाहिये, यह सोचने लगे। अतः, अगले पद में माता के परितोष का ही कोई विलक्षण उपाय निकालेंगे। उससे माता को वियोग दुःख न होगा और लीला भी होगी। पिता के मरण पर उनका श्रेय ही होगा, यह ऊपर पद के 'जद्यपि नाथ, तात···' इस के विशेष में लिखा गया और पुरवासियों को थोड़ा १४ वर्ष का वियोग दे, उससे प्रेम पुष्ट कर फिर आकर ११००० वर्ष तक महान् सुख देंगे और अंत में परमधाम भी साथ ले जायँगे, यह उन पर सहानुभूति है।

इस प्रकार माता के सभी वचनों का स्वागत किया है, परन्तु ऊपर से कुछ रोकर नर-नाट्य दिखा रहे हैं, इसी को 'कछु सुभाउ···' ऐसा कहा गया है।

राग सोरठ

[४]

राम ! हौं कौन जतन घर रहिहौं ?
बार-बार भरि अंक गोद लै ललन कौन सों कहिहौं ॥ १ ॥
इहि आँगन बिहरत मेरे बारे ! तुम जो संग सिसु लीन्हें।
कैसे प्रान रहत सुमिरत सुत, बहु बिनोद तुम्ह कीन्हें ॥ २ ॥

जिन्ह श्रवननि कल बचन तिहारे सुनि-सुनि ह अनुरागी।
तिन्ह श्रवननि बन-गवन सुनति हौं, मोते कवन अभागी ?॥ ३ ॥
जुग सम निमिष जाहिं रघुनंदन ! बदन-कमल बिनु देखे।
जौं तनु रहै बरष बीते, बलि, कहा प्रीति इहि लेखे ?॥ ४ ॥
तुलसीदास प्रेम बस श्रीहरि देखि विकल महतारी।
गदगद कंठ, नयन जल, फिरि-फिरि आवन कह्यो मुरारी ॥ ५ ॥

अर्थ—[माता कौसल्याजी कहती हैं—] वत्स राम ! मैं किस उपाय से घर में रहूँगी ? बार-बार अङ्क भर कर गोद में ले किसे 'ललन' कहूँगी ?॥१॥ ऐ मेरे बच्चे। इसी आँगन में जो बच्चों को साथ लेकर विहार करते हुए तुमने बहुत क्रीड़ाएँ की हैं। उन क्रीड़ाओं का स्मरण आने पर भला, हे पुत्र ! कैसे मेरे प्राण रहेंगे ? ॥२॥ जिन कानों से तुम्हारे सुन्दर वचन सुन-सुन कर मैं अनुरक्त हो जाया करती थी, उन्हीं कानों से आज तुम्हारे वन जाने की बात भी सुन रही हूँ (फिर भी मैं जीती ही हूँ) तो मुझ से बढ़ कर अभागिनी और कौन होगी ? ॥३॥ हे रघुनन्दन ! तुम्हारे मुख कमल विना देखे एक-एक निमेष भी मुझे एक युग के समान जाते जान पड़ते हैं; अब यदि वर्ष (चौदह वर्ष) बीतने तक यह शरीर रह जायगा तो, मैं बलिहारी जाती हूँ, इस विचार से फिर प्रीति कहाँ रहेगी ? (अर्थात् यह प्रीति झूठी ही कही जायगी) ॥४॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि माता को प्रेम में व्याकुल देख हरि श्रीरामजी प्रेम के वश हो गये, उनका कण्ठ गद्गद हो आया और नेत्रों में प्रेमाश्रु भर आये। मुरारि श्रीरामजी ने बार-बार आने को कहा (कि मैं अत्यन्त शीघ्र ही लौट आऊँगा, ये चौदह वर्ष आपको सोते हुए से बीतेंगे, बार-बार हमें आया हुआ देखोगी) ॥५॥

विशेष—'राम ! हौं कवन जतन ···'—ऊपर के पदों में माता ने वन जाने से रोकने का प्रयास किया, परन्तु उसमें सफलता न मिली, साथ में भी नहीं लिया; प्रत्युत् उन्हें पति-सेवा करती हुई घर में ही रहने के लिये श्रीरामजी ने कहा है; यथा—"देव्याश्च भर्त्ता स गतिश्च धर्मः ॥ ६० ॥ तस्मिन्पुनर्जीवति धर्मराजे विशेषतः स्वे पथि वर्तमाने। देवी मया सार्धमितोऽभिगच्छेत्कथं स्विदन्या विधवेव नारी ॥ ६१ ॥" (वाल्मी० २।२१); अर्थात् (माता के साथ चलने के आग्रह पर श्रीरामजी लचमणजी के समक्ष कहने लगे—) श्रीकौसल्या

माता के तो राजा पति हैं, पति ही स्त्रियों की गति है और वे ही इनके धर्म हैं। राजा जीते हैं और अपने धर्म (राज्य शासन) पर आरुढ़ हैं, जिन्होंने धर्म रक्षा के लिये अपने प्राणप्रिय पुत्र को भी वनवास दिया है, उनकी ऐसी दशा में सामान्य विधवा स्त्रियों के समान देवी (माता) मेरे साथ कैसे जायँगी? वाल्मी० २।२४।११–१२ में श्रीरामजी ने माता को पति-सेवा करने को ही कहा है। उन्हीं बातों को लेकर माता कहती हैं कि मैं पति-सेवा करती हुई घर रहूँगी, पर किस उपाय से रह सकूँगी? तुम्हारा वियोग मुझसे कैसे सहा जायगा? इसी का विस्तार आगे चरणों में है—

'बार-बार भरि अंक···'—पूर्व बा० १०६ के 'भुजनि पर जननी····' इसके विशेष में सप्रमाण लिखा गया है कि वात्सल्य भाव की प्रबलता से माता युवा श्रीरामजी को भी तीन वर्ष के शिशुवत् प्यार दृष्टि से देखती हैं। उसी वृत्ति से कहती हैं कि अब मैं किसे गोद में लेकर 'ललन' कहूँगी? इस समय का भी लाड़-प्यार ऐसा ही कहा गया है; यथा–"बार-बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जल पुलकित गाता॥ गोद राखि पुनि हृदय लगाए। श्रवत प्रेमरस पयद सुहाए॥" (मा० अ० ५१)। 'इहि आँगन बिहरत···कैसे प्रान रहत···'— आँगन में खेलने की क्रीड़ाओं का कुछ वर्णन बा० २६, ३०, ३१, ३२, ३३ में देखिये। उन क्रीड़ाओं का स्मरण वियोग में अत्यन्त दुःखद होगा; उन अवसरों पर मैं कैसे प्राण रख सकूँगी?

'जिन्ह श्रवननि···तिन्ह···'; यथा—"अति प्रिय मधुर तोतरे बोला।" (मा० बा० १६८) "कलबल बचन तोतरे बोलत॥ किलकत, झुकि झाँकत प्रतिबिंबनि। देत परम सुख पितु अरु अंबनि।।" (बा० ३१) इत्यादि। "सुनिबे जोग बियोग राम को हौं न होउँ मेरे प्यारे। सो मेरे नयननि आगे ते रघुपति बनहिं सिधारे॥" (पद ६२)।

'जुग सम निमिष जाहिं···'; यथा—"अपश्यन्ती तव मुखं परिपूर्ण-शशिप्रभम्। कृपणा वर्तयिष्यामि कथं कृपणजीविका॥" (वाल्मी० २।२०।४७); अर्थात् (श्रीकौसल्याजी श्रीरामजी से कहती हैं—) परिपूर्ण चन्द्रमा के समान सुन्दर तुम्हारा मुख न देखने से मैं दुःखिनी कैसे अपना दुःखमय जीवन बिताऊँगी?

'जौ तनु रहै बरष बीते…'—जब एक निमेष का वियोग भी युग के समान दुःखद होता है, तब वर्षों की गिनती में १४ वर्ष तक कैसे जी सकती हूँ, यदि जीती रह जाऊँ तो समझना चाहिये कि मुझमें प्रीति झूठी ही है; क्योंकि प्यारे के वियोग में न जी सकना ही प्रेम का सत्य स्वरूप है; यथा—"ऐसे सुत के बिरह अवधि लौं जौं राखउँ यह प्रान। तौ मिटि जाइ प्रीति की परमिति, अजस सुनउँ निज कान॥ राम गए अजहूँ हौं जीवत, समुझत हिय अकुलान। तुलसिदास तनु तजि रघुपति हित कियो प्रेम परवान॥" (पद ५९)। तथा—"बंदउँ अवध भुआल, सत्य प्रेम जेहि राम पद बिछुरत दीन दयाल, प्रिय तन तृन इव परिहरेउ॥" (मा० बा० १६)।

'प्रेम बस श्रीहरि देखि बिकल…'—माता को अपने प्रेम में व्याकुल देखकर आपने भी वैसा ही प्रेम प्रकट किया। यह तो प्रभु-स्वभाव ही है; यथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११); "तुलसी प्रभु सुभाउ सुरतरु सों ज्यों दरपन मुख कांति।" (वि० २३३)।

'फिरि-फिरि आवन कह्यो मुरारी।'—माता ने अपने मातृत्व भाव को सामने कर अत्यन्त आर्त्त होकर पुत्र-वियोग में चौदह वर्ष कैसे रहूँगी? इस प्रकार कह कर आधार पूछा है और तदनुसार हेतु कहे हैं। उस पर प्रेम वश हो प्रभु ने 'फिरि-फिरि आवन कह्यो' है। यदि इसका सीधा यही अर्थ लिया जाय कि 'बार-बार यही कहा है कि मैं आऊँगा' तो चौदह वर्ष निर्वाह का तो इसमें आधार आता नहीं है। अतः, परिस्थिति के अनुकूल इसका अर्थ करना चाहिये कि—'बार-बार आने को कहा। अर्थात् मैं तुम्हारी गाढ़ स्मृति के अनुसार बार-बार दर्शन देता रहूँगा, इससे तुम्हें चौदह वर्ष का वियोग जान ही नहीं पड़ेगा; यथा—"बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बूझिय बिपति कि ताही॥" (मा० सुं० ३१) तथा—"अम्ब मा दुःखिता भूत्वा पश्येस्त्वं पितरं मम। क्षयोऽपि वनवासस्य क्षिप्रमेव भविष्यति॥ ३४॥ सुप्तायास्ते गमिष्यन्ति नव वर्षाणि पञ्च च। समग्रमिह संप्राप्तं मां द्रक्ष्यसि सुहृद्वृतम्॥ ३५॥" (वाल्मी० ३९।३४-३५); अर्थात् श्रीरामजी ने माता कौसल्याजी से कहा है (मैं पिता के कारण वन जा रहा हूँ, यह समझ) तुम दुखित हो मेरे पिताजी को न देखना, इनसे बुरा भाव न रखना; क्योंकि इस वनवास का अन्त शीघ्र

हो जायगा। ये चौदह वर्ष तो तुम्हारे सोते हुए (जैसे) बीत जायँगे। सोने के पीछे जैसे प्रभात होता है, वैसे ही एक दिन सुनोगी कि मैं अपने मित्रों के साथ आ गया। तथा—"माई री ! मोहिं कोउ न समुझावै। राम-गवन साँचो किधौं सपनो, मन परतीति न आवै ॥ लगेइ रहत मेरे नैननि आगे राम-लखन अरु सीता। तदपि न मिटत दाह या उर को, बिधि जो भयो बिपरीता ॥ २ ॥ दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत, तनु न रहै बिनु देखे। करत न प्रान पयान सुनहु, सखि ! अरुझि परी यहि लेखे ॥" (पद ५३); इन दोनों स्थलों के उद्धरणों के अनुसार माता को यह आधार मिला कि शीघ्र आवेंगे, इस आशा में उन्हें चौदह वर्षों का वियोग जान ही नहीं पड़ा, श्रीराम-लक्ष्मण और सीताजी उनके आँखों के सामने दीखते थे। बार-बार वे देखा करती थीं, यही 'फिरि-फिरि आवन' का भाव है।

राग बिलावल

[५]

रहहु भवन हमरे कहे, कामिनि !
सादर सासु चरन सेवहु नित, जो तुम्हरे अति हित, गृह-स्वामिनि ॥१॥
राजकुमारि ! कठिन कंटक मग, क्यों चलिहौ मृदु पद गज गामिनि।
दुसह बात, बरषा, हिम, आतप कैसे सहिहौ अगनित दिन जामिनि ? ॥२॥
हौं पुनि पितु-आज्ञा प्रमान करि ऐहौं बेगि सुनहुँ दुति-दामिनि।
तुलसिदास प्रभु-बिरह-बचन सुनि सहि न सकी, मुरछित भइ भामिनि ॥३॥

अर्थ—[वनवास चलने पर प्रस्तुत श्रीजानकीजी के प्रति श्रीरामजी उन्हें समझाते हुए कहते हैं—] हे कामिनि (सुन्दरि) ! हमारे कहने से तुम घर में ही रहो। जो तुम्हारे लिये अत्यन्त हित करने वाली हैं, वे तुम्हारी स्वामिनी घर में ही हैं; उन सास के चरणों की नित आदरपूर्वक सेवा किया करो ॥१॥ हे राजकुमारी ! वन का मार्ग कठिन है, उसमें काँटे भरे रहते हैं, तुम तो गज-गामिनि हो, इन कोमल चरणों से ऐसे मार्ग में कैसे चलोगी ? (चौदह वर्ष में) असंख्य दिन और रात हैं, तुम दुस्सह वायु, वर्षा, जाड़ा और घाम कैसे सहन करोगी ? ॥ २ ॥ हे बिजली की-सी कान्तिमय शरीर वाली ! सुनो, मैं भी पिता की आज्ञा प्रामाणिक कर शीघ्र ही आऊँगा। श्रीतुलसीदासजी कहते

हैं कि प्रभु के विरह-वचन सुन कर सुन्दरी श्रीसीताजी सह नहीं सकीं, मूर्च्छित हो गईं ॥ ३ ॥

विशेष—'रहहु भवन'''सादर सासु चरन'''; यथा—"आपन मोर नीक जौ चहहू । बचन हमार मानि गृह रहहू ॥ आयेसु मोरि सासु सेवकाई । सब बिधि भामिनि भवन भलाई ॥ एहि ते अधिक धरम नहिं दूजा । सादर सासु-ससुर-पद-पूजा ॥" (मा० अ० ६०) ।

'कठिन कंटक मग''दुसह बात''''; यथा—"कानन कठिन भयंकर भारी । घोर घाम हिम बारि बयारी ॥ कुस कंटक मग काँकर नाना । चलब पयादेहि बिनु पद त्राना ॥ चरन कमल मृदु मंजु तुम्हारे ।" (मा० अ० ६१); वर्षा, जाड़ा और घाम में यदि वायु का संयोग रहता है तो वह झकोरा, सुरसुरा और लू का रूप हो दुस्सह हो जाता है । इसलिये दुस्सह के साथ पहले 'बात' कह कर तब वर्षा आदि कहे गये हैं । उपर्युक्त 'घोर घाम हिम बारि बयारी' भी ऐसे ही भाव में कहा गया है । फिर दो-चार दिन हो तो किसी प्रकार धैर्य धारण कर सह लिया जाय, यहाँ तो असंख्य दिन और रातों तक वन में ही रहना है । तुम से यह सब सहा नहीं जायगा । अतः, घर में ही रहो ।

'हौं पुनि पितु-आज्ञा'''; यथा—"मैं पुनि करि प्रमान पितु बानी । बेगि फिरब सुनु सुमुखि सयानी ॥ दिवस जात नहिं लागिहि बारा ।" (मा०बा०६१) ।

'प्रभु-बिरह-बचन सुनि'''; यथा—"मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू । तुम्हहिं उचित तप मोकहँ भोगू ॥ ऐसेहु बचन कठोर सुनि, जौं न हृदय बिलगान । तौ प्रभु बिषम बियोग दुख, सहिहहिं पामर प्रान ॥ अस कहि सीय बिकल भइ भारी । बचन बियोग न सकी सँभारी ॥" (मा० अ० ६६-६७) ।

[६]

कृपा निधान सुजान प्रानपति, संग बिपिन ह्वै आवौं गी ।
गृह ते कोटि-गुनित सुख मारग चलत, साथ सचु पावौं गी ॥ १ ॥
थाके चरन कमल चापौं गी, श्रम भए बाउ डोलावौं गी ।
नयन-चकोरनि मुख-मयंक-छबि सादर पान करावौं गी ॥ २ ॥

जौं हठि नाथ राखिहौ मो कहँ, तौ सँग प्रान पठावौं गी ।
तुलसिदास प्रभु बिनु जीवत रहि क्यों फिरि बदन देखावौं गी ?॥ ३ ॥

अर्थ—[श्रीजानकीजी ने कहा—] हे कृपा निधान ! हे सुजान ! हे प्राण नाथ । मैं आप के साथ वन में रह आऊँगी । आप के साथ रहने से घर से करोड़ गुणा सुख मुझे मार्ग में रहेगा; आप के साथ-साथ चलने में मैं आनन्द ही पाऊँगी ॥ १ ॥ मार्ग में थक जाने पर मैं आप के चरण कमलों को दबाऊँ (चरण सेवा करूँ) गी और गरमी से पसीना होने पर वायु चलाऊँगी (पंखा चला वायु करूँ गी) तथा अपने नेत्र रूपी चकोरों को आप के मुख-चन्द्र की छबि का आदरपूर्वक पान कराऊँगी ॥ २ ॥ हे नाथ ! यदि हठ-पूर्वक आप मुझे यहीं छोड़ जायँगे तो मैं अपने प्राणों को आप के साथ भेजूँगी (; अर्थात् तुरत प्राण छोड़ दूँगी) । (श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—) हे प्रभो ! आप के विना जीती रह कर फिर मैं अपना मुख कैसे दिखाऊँगी ? (भ्रष्ट प्रतिज्ञ होकर जीने से मरना ही श्रेष्ठ है) ॥ ३ ॥

विशेष—'कृपा निधान सुजान'···'—कृपा दृष्टि से मेरे दोष न देखें । सुजानता से मुझ आश्रित की लालसा पूरी करें; यथा—"स्वामि सुजान जान सबही की । रुचि लालसा रहनि जन जीकी ॥ प्रनतपाल पालहिं सब काहू ।" (मा० अ० ३१३); और प्राण पति होने से आप मेरे प्राणों की रक्षा करें । भाव यह कि मेरी लालसा साथ रहने की है । अतः, साथ रख करे मेरे प्राणों की रक्षा करें; अन्यथा मेरे प्राण ही न रहेंगे । आप के साथ-साथ मैं वन हो आऊँगी; सहज में चौदह वर्ष समाप्त कर आजाऊँगी ।

'गृह ते कोटि गुनित···'; यथा—"अवध सौंध सत सरिस पहारू ॥ छिन-छिन प्रभु-पद कमल बिलोकी । रहि हौं मुदित दिवस जिमि कोकी ॥" (मा० अ० ६५) । स्वामी ने कहा था—'कठिन कंकट मग' उस पर कहा है कि 'गृह ते कोटि···' अर्थात् वह मुझे सुख कर ही रहेगा और 'क्यों चलिहौ मृदु पद···' इस पर कहा है—'चलत साथ सचु पावौंगी' । इस प्रकार पहले मार्ग को ही सुखस्वरूप मानना कहा है, फिर अपने मार्ग चलने में आनन्द प्राप्ति कही है, इससे पुनरुक्ति नहीं है; प्रत्युत 'पुनरुक्तवदाभास-अलङ्कार' है ।

'थाके चरन कमल····'; यथा—"सबहि भाँति पिय सेवा करि हौं ।

मारग जनित सकल श्रम हरिहौं ॥ पाय पखारि बैठि तरु छाँही। करिहौं बाउ मुदित मन माहीं ॥" (मा० अ० ६६); "पोंछि पसेउ बयारि करौं" (क० अ० १२)।

'नयन चकोरनि…'; यथा—"अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी ॥" (मा० बा० २३१); इस प्रकार आनन्दपूर्वक दर्शन करूँगी। यहाँ 'रूपक-अलङ्कार' है।

'जौं हठि नाथ ! राखिहौं….'; यथा—"राखिय अवध जो अवधि लगि, रहत न जानिय प्रान।……देखि दसा रघुपति जिय जाना। हठि राखे नहिं राखिहि प्राना ॥" (मा० अ० ६६-६७); तथा—"त्वद्वियोगेन मे राम त्यक्तव्यमिह जीवितम् ॥" (वाल्मी० २।२६।५); अर्थात् यदि आपका वियोग होगा तो मेरा प्राण त्याग होगा। यह वचन इसी प्रसंग पर श्रीसीताजी ने कहा है।

'तौ सँग प्रान पठाऊँगी'—तब तो परलोक में आपका समागम होगा ही; यथा—"प्रेत्यभावे हि कल्याणः संगमो मे सदा त्वया। श्रुतिर्हि श्रूयते पुण्या ब्राह्मणानां यशस्विनाम् ॥ इहलोके च पितृभिर्या स्त्री यस्य महाबल। अद्भिर्दत्ता स्वधर्मेण प्रेत्यभावेऽपि तस्य सा ॥" (वाल्मी० २।२९।१७-१८); अर्थात् यदि आप मुझे साथ में वन न ले जायँगे तो अवश्य ही मेरी मृत्यु होगी। पुनः परलोक में एवं दूसरे जन्म में आपका सुखमय समागम होगा, यशस्वी ब्राह्मणों के द्वारा पढ़े जाने वाले वेद मंत्रों में यह बात सुनी जाती है। इस लोक में पिता ने जल से संकल्प कर के जिसको जो स्त्री दी है, वह परलोक में भी अपने पतिव्रत्य के प्रभाव से उसी की स्त्री होती है।

'प्रभु बिनु जीवत रहि…'—यहाँ पहले प्रतिज्ञा की है कि मैं आपके बिना नहीं जीऊँगी, ऐसा यदि न हुआ तो मेरी प्रीति झूठी ही होगी। ऊपर पद ४ के 'जो तनु रहै बरष बीते…' इसके विशेष में प्रमाण देखिये। झूठी होकर कैसे मुँह दिखाऊँगी ?

शङ्का—लङ्का यात्रा में तो ११ महीने जीती ही रह गईं। वहाँ भी तो प्रभु का वियोग रहा ही है।

समाधान—इसका समाधान सुं० ७-८ में देखिये।

[७]

कहौ तुम्ह विनु गृह मेरो कौन काजु ?।
बिपिन कोटि सुरपुर समान मोको, जो पै पिय परिहरयो राजु ॥ १ ॥
बलकल बिमल दुकूल मनोहर, कंद-मूल-फल अमिअ नाजु।
प्रभु-पद-कमल बिलोकिहौं छिन-छिन, इहि ते अधिक कहा सुख-समाज ?
हौं रहौं भवन भोग-लोलुप ह्वै, पति कानन कियो मुनि को साजु।
'तुलसिदास' ऐसे बिरह-बचन सुनि कठिन हियो बिहरो न आजु ॥ ३ ॥

अर्थ—कहिये, आप के विना घर में मेरा कौन काम है ? जब मेरे प्रियतम (आप) ने राज्य का परित्याग कर दिया है, तब मेरे लिये वन ही करोड़ स्वर्ग के समान (सुखमय) है ॥ १ ॥ मेरे लिये अब बलकल ही मनोहर और निर्मल दुकूल (क्षौम वस्त्र एवं महीन कपड़ा) है और कन्द, मूल एवं फल ही अमृत के समान उत्तम अन्न है। (वन में) यदि मैं क्षण-क्षण पर, हे प्रभो ! आप के चरण कमलों के दर्शन करूँगी तो इससे अधिक और सुख की सामग्री कौन हो सकती है ? ॥ २ ॥ मैं तो भोग-लोलुप होकर घर में रहूँ और मेरे पतिदेव (आप) मुनि के वेष से वन में रहें—ऐसे विरह सूचक वचन सुन कर आज यदि मेरा हृदय फट नहीं गया तो (अवश्य) यह बड़ा कठिन है ॥ ३ ॥

विशेष—'कहो तुम्ह बिन··· बिपिन कोटि···'—शास्त्र दृष्टि से पति के ही प्रारब्ध में स्त्री का भी भाग है। अत, आप के वनवास-भोग में भी मेरा भाग है; यथा—"भर्तुर्भाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ। अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि ॥" (वाल्मी० २।२७।५); अर्थात् (श्रीसीताजी कहती हैं कि हे पुरुष श्रेष्ठ श्रीरामजी ! एक स्त्री ही पति के कर्मफलों की भागिनी है। अतएव आपके लिये जो वनवास की यह आज्ञा हुई है, वह मेरे लिये भी है। अतएव मैं भी वन में रहूँगी। मनु० ८।४१६ में लिखा है कि पति का भाग्य ही पत्नी का भी है। आपके साथ का वन ही मुझे कोटि स्वर्ग के समान है; "यस्त्वया सह स स्वर्गो निरयो यस्त्वया विना। इति जानन्परां प्रीतिं गच्छ राम मया सह ॥" (वाल्मी० २।३०।१८); अर्थात् हे श्रीरामजी ! आपके साथ जहाँ भी रहना है, वही स्वर्ग है और आप के विना जहाँ रहना हो, वही नरक है। इस प्रकार मेरी पराप्रीति अपने सम्बन्ध में जान कर आप मेरे साथ

ही वन जायँ। तथा—"तुम्ह बिनु रघुकुल-कुमुद-बिधु, सुरपुर नरक समान।... नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। सरद-बिमल-बिधु-बदन निहारे॥" (मा० अ० ६४)।

'बलकल बिमल' 'प्रभु पद कमल'''; यथा—"खग मृग परिजन नगर बन, बलकल बिमल दुकूल। नाथ साथ सुर सदन सम, परनसाल सुखमूल॥''' कंद-मूल-फल अमिय अहारू। अवध सौंध सत सरिस पहारू॥ छिन-छिन प्रभु-पद-कमल बिलोकी। रहिहौं मुदित दिवस जिमि कोकी॥" (मा० अ० ६५)। 'हौं रहौं भवन ऐसे बिरह वचन'''; यथा—"मैं सुकुमारि, नाथ बन जोगू। तुम्हहिं उचित तप मोकहुँ भोगू॥ ऐसेउ बचन कठोर सुनि, जौं न हृदय बिलगान। तौ प्रभु-बिषम-बियोग-दुख, सहिहहिं पाँवर प्रान॥ अस कहि सीय बिकल भइ भारी। बचन बियोग न सकी सँभारी॥" (मा० अ० ६६-६७); भाव यह कि पतिव्रता स्त्री का धर्म तो पति की सेवा है, सेवा वृत्ति में सुख भाव कहाँ ? और यदि मैं पति की दुःखमय दशा में भोग भोगूँ तब तो मेरा धर्म नाश के साथ सर्वनाश ही है।

[८]

प्रिय ! निठुर बचन कहे कारन कवन ?
जानत हौ सब के मन की गति, मृदुचित, परम कृपालु, रवन !॥ १॥
प्राननाथ सुंदर सुजानमनि, दीनबंधु, जन-आरति-दवन।
'तुलसिदास' प्रभु-पद-सरोज तजि रहि हौं कहा करौंगी भवन॥ २॥

अर्थ—हे प्यारे आपने किस कारण से ऐसे निष्ठुर वचन कहे हैं ? हे स्वामिन् ! आप तो सभी के मन की गति जानते हैं (अतः, मेरे मन की भी अनन्य गति जानते ही हैं) फिर आप कोमल चित्त और परम कृपालु हैं ॥१॥ हे प्राणनाथ ! आप सुन्दर-सुजान शिरोमणि, दीनबन्धु और भक्तों के दुःखों का नाश करने वाले हैं; ऐसे प्रभु (परम समर्थ आप) के चरण कमल छोड़ कर मैं घर में रह कर क्या करूँगी ? ॥ २ ॥

विशेष—'प्रिय ! निठुर बचन'''—ऊपर पद के अन्त में निष्ठुर-वचन हैं, उसे सुन कर श्रीजानकी जी भारी व्याकुल हो गई हैं; क्योंकि वैसे वचन इनके स्वरूपनाशक हैं। ये घर में रह सुख भोगें और पतिदेव वन में मुनि वृत्ति से

रहें, ऐसे स्वधर्म-विरुद्ध एवं विरह सूचक वचन प्यारे स्वामी ने क्यों कहे हैं ? क्या मुझ में कुछ वैसे दोष आ गये, जिससे आप मुझ अनन्या पतिव्रता का भी त्याग करना चाहते हैं ? 'जानत हौ सब के मन की गति'; यथा—"जानत हौ सब ही के मन की । तदपि, कृपालु ! करौं बिनती…" (पद ७१); तथा—"कृपा निधान सुजान…" (पद ६) – इसका विशेष भी देखिये ।

'मृदु चित, परम कृपालु, रवन !'—उपर्युक्त सुजानता से मेरी मन-गति जान इस समय मेरे मन में आये आप के वियोग सम्भावना के दुःख को अपने कोमल चित्त की करुणा से दूर करें; यथा—"कारुनीक बिनु कारन ही हरि हरी बिषम भव-भीर ॥" (वि० १४४); यदि मेरे कोई दोष आपकी दृष्टि में हों तो उन्हें अपने परम कृपालु स्वभाव से चित्त में न रक्खें; क्योंकि कृपा के द्वारा आप आश्रितों के दोषों को देखकर जब अपने सामर्थ्य पर ध्यान देते हैं तो आश्रितों के दुःख भोगने में अपनी अनवधानता मान लेते हैं, उसके दोष चित्त में नहीं रह जाते । इस प्रकार अधिकारी समझ मुझे अपने स्वामित्व से साथ रख सुखी करें; क्योंकि आश्रित-रक्षण ही स्वामित्व है; यथा—"सींव न चापि सको कोऊ तब जब हुते राम कन्हाई । अब तुलसी गिरधर बिनु गोकुल कौन करिहि ठकुराई ? ।।" (कृष्ण गीतावली ३२)। 'रवन'=स्वामी ।

'प्रान नाथ सुंदर सुजानमनि…'—आप मेरे प्राणनाथ हैं, पतिदेव है, इस सम्बन्ध से मैं आपकी सुन्दरता में मुग्ध रहती हूँ और आप अपने सुजान-मणि स्वभाव से मेरे हृदय के भावों के अनुसार मेरा पालन करते आए हैं। आप दीनों के सहायक हैं और मैं अन्य आश्रयहीन होने से दीनवत् आपकी सहधर्मिणी हूँ, फिर मेरी सहायता भी आप को करनी ही चाहिये। आप तो भक्त मात्र के दुःखों का नाश करते हैं तो क्या मुझ अनन्या का वियोग जन्य दुःख दूर न करेंगे ? अवश्य करेंगे । ऐसे—

'प्रभु-पद-सरोज…'—ऐसे परम समर्थ स्वामी आपके चरण-कमलों को छोड़कर यहाँ घर में रहकर मैं क्या करूँगी ? आप तो यहाँ रहेंगे नहीं तो मैं किसकी सेवा करूँगी । क्या ऐसी अनन्य पतिव्रता का भी त्याग किया जाता है ?यथा—"मन क्रम बचन चरन रत होई । कृपासिंधु परिहरिय कि सोई ॥" (मा० अ० ७१); यह त्याग की आशङ्का पर श्रीलक्ष्मणजी ने कहा है ।

तथा—"मन क्रम बचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ! हौं त्यागी॥" (मा० सुं० ३०)--यह श्रीसीताजी का ही वचन स्वामी से हनुमान् जी के द्वारा कहने के लिये कहा गया है।

इस पद की आशङ्का का निराकरण करते हुए स्वामी कहते हैं—

[६]

मैं तुम्ह सो सति-भाव कही है।
बूझति और भाँति भामिनि कत कानन कठिन कलेस सही है॥१॥
जौं चलिहो तो चलो-चलि कै बन, सुनि सिय मन अवलंब लही है।
बूड़त बिरह-बारिनिधि मानहु नाह बचन मिस बाँह गही है॥२॥
प्रान नाथ के साथ चली उठि, अवध सोक सरि उमँगि बही है।
तुलसी सुनी न कबहुँ काहु कहुँ, तनु परिहरि परिछाह रही है॥३॥

अर्थ—[श्रीरामजी ने कहा—] मैंने तुमसे सच्चे भाव से कहा है। हे भामिनि! आप उसे और प्रकार से क्यों समझ रही हैं? (कि मेरे किसी दोष पर मेरा त्याग कर रहे हैं, आदि); वन में ठीक ही कठिन क्लेश है॥१॥ यदि चलना ही चाहती हो तो पैदल चलकर वन को चलो, यह सुनकर श्रीसीताजी के मन ने सहारा पा लिया। विरह सागर में डूबते-डूबते मानो स्वामी ने इस वचन के ब्याज से उनकी बाँह पकड़ ली है॥२॥ प्राणपति श्रीरामजी के साथ श्रीसीताजी उठकर चल पड़ीं, इस पर श्रीअयोध्याजी में शोक रूपी नदी उमड़ कर बहने लगी। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यह तो कभी किसी ने कहीं नहीं सुना कि शरीर का त्याग कर उसकी परछाईं कहीं रह गई हो (फिर शरीर और उसकी छाया के समान नित्य संगिनी श्रीसीताजी श्रीरामजी को छोड़कर पृथक् कैसे रह सकती हैं?)॥३॥

विशेष—'मैं तुम्ह सों···बूझति और भाँति···'—मैंने सच्चे भाव से वन के ठीक-ठीक दुःखों का वर्णन कर उनके सहन करने में तुम्हें असमर्थ समझ कर घर रहने को कहा है, तुम उसे और प्रकार न समझो। मैं तुम्हें त्याग नहीं करता था; यथा—"तव सर्वमभिप्राय मविज्ञाय शुभानने। वासं न रोचयेऽरण्ये शक्तिमानपि रक्षणे॥ यत्सृष्टासि मया सार्धं वनवासाय मैथिली। न विहातुं मया शक्या प्रीतिरात्मवता यथा॥" (वाल्मी० २।३०।२८-२९); अर्थात् (श्रीरामजी

ने कहा—) हे शुभानने ! तुम्हारा अभिप्राय ठीक-ठीक विना जाने तुम्हारा वनवास मैं उचित नहीं समझता था, यद्यपि मैं तुम्हारी रक्षा करने में समर्थ हूँ। तुम मेरे साथ वनवास के लिये ही उत्पन्न हुई हो। अतएव मैं तुम्हारा त्याग नहीं कर सकता, जिस प्रकार आत्मज्ञानी मनुष्य हर्ष एवं सुख का त्याग नहीं कर सकता। 'सही है' भाव यह कि तुम्हें डराने के लिये नहीं कहा, वह सत्य ही है, यह न समझो कि मुझे डरा कर यहाँ छोड़ अपना रक्षण-श्रम बचाते थे।

'जौं चलिहौं तो चलो…'—अब मैंने समझ लिया कि तुम अवश्य चलोगी ही; अन्यथा प्राण ही नहीं रक्खोगी। तब चलो, किन्तु वन को तो पैदल-पैदल ही चलना है। तथा—"देखि दसा रघुपति जिय जाना। हठि राखे नहिं राखिहि प्राना ॥ कहेउ कृपालु भानुकुल नाथा। परिहरि सोच चलहु बन साथा ॥" (मा० अ० ६७)।

'बूड़त बिरह बारिनिधि मानहुँ…'—उपर्युक्त 'सुनि सिय मन अवलंब लही है' इस अवलंब के सुख को उत्प्रेक्षा के द्वारा दिखाते हैं कि जैसे सागर में डूबते हुए को कोई बाँह पकड़ बचा ले, वैसे ही स्वामी ने अपने इस वचन से श्रीसीताजी को बचा लिया है; यथा—"बूड़त बिरह बारीस कृपा निधान मोहिं कर गहि लियो।" (मा० उ० ४); 'नाह' पद "नाथ" पद का तद्भव रूप है। 'नाथृ-याचने' इस धातु से नाथ पद निष्पन्न होता है, यहाँ श्रीजानकीजी की याचना सफल की है, इससे यह पद यहाँ सुसंगत है।

यहाँ 'उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा-अलङ्कार' है।

'प्रान नाथ के साथ चली…'—सारी अयोध्यापुरी में शोक छा गया, उमड़ चला इसका वर्णन करने के लिये अगला पद ही लिखा गया है। यदि इस प्रकार सभी को शोक है तो लोगों ने श्रीजानकी जी को रोका क्यों नहीं ? इस सम्भवित शङ्का का समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि ये शरीर की छाया के समान नित्य साथ रहने वाली हैं। अतः, पृथक् रह ही नहीं सकतीं; यथा—"कृतकृत्या हि वैदेही छायेवानुगता पतिम्। न जहाति रता धर्मे मेरुमर्कप्रभा यथा ॥" (वाल्मी० २।४०।२४); अर्थात् यह श्रीसीताजी कृतार्थ हुईं, इनके मनोरथ सिद्ध हुए, जो ये छाया के समान पतिदेव के साथ लगी हुई हैं, ये धर्मज्ञा हैं। अतः, श्रीरामजी का साथ कभी नहीं छोड़ती, जैसे सुमेरु पहाड़

को सूर्य की प्रभा नहीं छोड़ती तथा—"सुनि पति बचन कहति बैदेही। सुनहुँ प्रानपति परम सनेही॥ प्रभु करुना मय परम बिबेकी। तनु तजि हरति छाँह किमि छेकी॥ प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंद्र तजि जाई॥" (मा० अ० ६६); एवं विष्णु पुराण १।९।१४२–१४५ में भी इन दोनों का नित्य संयोग ही कहा गया है। तथा मा० बा० ५३–५४ में लीला में वियोग देख कर परीक्षा करती हुई सतीजी ने भी इनका नित्य संयोग ही देखा है।

[१०]

जबहिं रघुपति-सँग सीय चली।
बिकल-बियोग लोग, पुरतिय कहैं, अति अन्याउ अली॥ १॥
कोउ कहै, मनिगन तजत काँच लगि, करत न भूप भली।
कोउ कहै, कुल-कुबेलि कैकेयी दुख-बिष-फलनि फली॥ २॥
एक कहैं, बन जोग जानकी! बिधि बड़ बिषम बली।
तुलसी कुलिसहु की कठोरता तेहि दिन दलकि दली॥ ३॥

अर्थ—जब श्रीरघुनाथजी के साथ श्रीसीताजी भी चल पड़ीं, तब सब लोग इनके वियोग में व्याकुल हो गये, पुर की स्त्रियाँ कहने लगीं कि हे सखी! यह तो अत्यन्त अन्याय हो रहा है॥ १॥ कोई कहते हैं—'काँच के लिये मणिगण का त्याग कर रहे हैं; राजा दशरथ यह अच्छा नहीं कर रहे हैं'। कोई कहते—'इस कुल के लिये यह कैकेयी कुत्सित लता के समान होकर इस समय दुःख रूपी बिषमय फलों से फली हुई है'॥ २॥ किसी एक ने कहा—'क्या जानकी जी वन जाने के योग्य हैं? (सत्य ही) विधाता बड़ा विषम और बलवान् है!' श्रीतुलसीदास जी कहते हैं कि उस दिन तो वज्र की भी कठोरता थर्रा कर चूर्ण हो गई॥ ३॥

विशेष—'बिकल बियोग लोग···'; यथा—"तमारुरुहतुस्तूर्णं भ्रातरौ राम-लक्ष्मणौ॥ सीता तृतीयानारूढान्दृष्ट्वा रथमचोदयत्। सुमंत्रः संमतातान-श्वान्वायुवेगसमाञ्जवे॥ प्रयाते तु महारण्यं चिररात्राय राघवे। बभूव नगरे मूर्च्छा बलमूर्च्छा जनस्य च॥" (वाल्मी० २।४०।१६–१८); अर्थात् दोनों भाई श्रीराम-लक्ष्मण और श्रीसीताजी को रथ पर बैठे देख कर श्रीसुमंत्रजी ने रथ हाँका। श्रीरामजी बहुत दिनों के लिये बन जा रहे हैं, यह समझ कर सारा

नगर मूर्च्छित हो गया। हाथी-घोड़े मूर्च्छित हो गये तथा बाहर से आये लोग भी मूर्च्छित हो गये।

'कोउ कहै मनि गन तजत काँच लगि...'; यथा—"रुचिर काँच मनि देखि मूढ़ ज्यों करतल ते चिंतामनि डारे॥" (पद २)—इसका विशेष देखिये। तथा—"अहो निश्चेतनो राजा जीवलोकस्य संचयम्। धर्म्यं सत्यव्रतं रामं वनवासे प्रवत्स्यति॥" (वाल्मी० २।४१।६); अर्थात् राजा दशरथ बड़े अज्ञानी हैं जो सब के आश्रय धर्मात्मा सत्यव्रत श्रीरामजी को वन भेज रहे हैं। यहाँ 'ललित अलंकार' है।

'कोउ कहै, कुल कुबेलि कैकेयी...'; यथा—"नगर सफल बन गहवर भारी। खग मृग बिपुल सकल नर नारी॥ बिधि कैकई किरातिनि कीन्हीं। जेहि दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्हीं॥" (मा० अ० ८३); "अवध उजारि कीन्हि कैकेई। दीन्हेंसि अचल बिपति कै नेई॥" (मा० अ० २८)।

यहाँ 'रूपक अलङ्कार' है।

'बन जोग जानकी....'; यथा—"सिय रघुबीर कि कानन जोगू। करम प्रधान सत्य कह लोगू॥" (मा० अ० ६०); तथा—"सहित विषाद परस्पर कहहीं। बिधि करतब उलटे सब अहहीं॥ निपट निरंकुस निठुर निसंकू। जेहि ससि कीन्ह सरुज सकलंकू॥ रूख कलपतरु सागर खारा। तेहि पठये बन राजकुमारा॥" (मा० अ० ११८)। वाल्मी० २।४२।१९–२० में राजा दशरथ ने ही श्रीजानकी जी को वन के अत्यन्त अयोग्य कहा है।

'कुलिसहुँ की कठोरता...'—यहाँ 'ललित-अलङ्कार' है; क्योंकि यहाँ वर्ण्य विषय का प्रतिबिंब कहा गया है।

[११]

ठाढ़े हैं लखन कमल कर जोरे।
उर धकधकी, न कहत कछु सकुचनि, प्रभु परिहरत सबनि तृन तोरे॥१॥
कृपासिंधु अवलोकि बंधु तन प्रान कृपान बीर-सी छोरे।
तात! बिदा माँगिये मातु सो बनि है बात उपाइ न औरे॥२॥
जाइ चरन गहि आयसु जाँच्यो जननि कहत बहु भाँति निहोरे।
सिय रघुबर सेवा सुचि ह्वैहौ तौ जानि हौं सही सुत मोरे॥३॥

कीजहु इहै बिचार निरंतर, राम समीप सुकृत नहिं थोरे।
तुलसी सुनि सिख चले चकित चित उड़यो मानो बिहँग बधिक भये भोरे ॥४॥

अर्थ—[साथ वन जाने के लिये सन्नद्ध हो] श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजी के समक्ष हाथ जोड़ कर खड़े हैं, उनके हृदय में (यह समझ कर सन्देहात्मक) धकधकी धड़क रही है (अकस्मात आशंका से उनका हृदय धक-धक कर रहा है) कि प्रभु इस समय सभी का तृण तोड़ कर (सम्बन्ध तोड़ कर, बेलस होकर) त्याग कर रहे हैं (साथ लेने की प्रार्थना पर कहीं मेरे त्याग की भी आज्ञा न दे दें, इस) संकोच से कुछ कहते नहीं हैं ॥ १ ॥ कृपा सागर श्रीरामजी ने भाई की ओर देखा कि वे वीर के समान प्राण रूपी कृपाण को खोले खड़े हैं [; अर्थात् बीर अभीष्ट न पाने पर खुली कृपाण (द्विधारा खड्ग) तुरत छोड़ देता है, वैसे इनका अभीष्ट साथ चलने का है, यह न पाने पर ये भी प्राण छोड़ देंगे,] यह देख कर उनसे कहा – हे तात ! माता (श्रीसुमित्राजी) से विदा (साथ जाने के लिये आज्ञा) माँग आओ और उपाय से बात न बनेगी (; विना उनकी आज्ञा मैं तुम्हें साथ नहीं ले चल सकूँगा) ॥ २ ॥ श्रीलक्ष्मणजी ने माता के पास जाकर आज्ञा माँगी, माता श्रीसुमित्राजी ने पुत्र श्रीलछमणजी से बहुत प्रकार से निहोरा करती हुई कहा—'यदि तुम श्रीसीताजी और श्रीरघुनाथजी की सेवा कर के पवित्र होंगे तो मैं जानूँगी कि तुम सच्चे मेरे पुत्र हो ॥ ३ ॥ निरन्तर सदा हृदय में यही विचार करते रहना कि श्रीरामजी के समीप रहना थोड़े पुण्य का फल नहीं है (; यह सेवा का संयोग बड़े भाग्य से प्राप्त है)। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि माता की शिक्षा सुन कर श्रीलछमणजी इस प्रकार चित्त से चकित होकर चले; मानो वधिक के असावधान होने पर पक्षी उड़ कर भागता है ॥ ४ ॥

विशेष—'ठाढ़े हैं लखन ··उर धकधकी···'; यथा—"समाचार जब लछिमन पाये।···कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े। मीन दीन जनु जल ते काढ़े ॥ सोच हृदय बिधि का होनिहारा। सब सुख सुकृत सिरान हमारा ॥ मो कहँ काह कहब रघुनाथा। रखिहहिं भवन कि लेइहहिं साथ ॥" (मा० अ० ६९); अर्थात् हृदय में धक-धकी इसी शङ्का पर है कि यदि स्वामी ने मुझे घर पर रहने की ही आज्ञा दी तो मानों मेरा सारा पुण्य समाप्त हो गया और

सुख भी चला गया। 'प्रभु' पद का भाव यह कि यदि स्वामी ने त्याग दिया तो उन पर वश नहीं है, वे इसमें परम समर्थ हैं; यथा—"नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह, तजहु त कहा बसाइ। (मा० अ० ७१)।

'कृपासिंधु अवलोकि बंधु तन…'—जब देख लिया कि ये साथ न लेने पर प्राण ही छोड़ देंगे, रह ही न सकेंगे, तब उन पर कृपा की, इससे इस चितवन पर 'कृपासिंधु' कहा गया है; यथा—"राम बिलोकि बंधु कर जोरे। देह-गेह सब सन तृन तोरे॥ बोले बचन राम नय नागर। सील-सनेह-सरल-सुख सागर॥" से "मन क्रम बचन चरनरत होई। कृपा सिंधु परिहरिअ कि सोई॥ करुनासिंधु सुबंधु के, सुनि मृदु बचन बिनीत। समुझाये उर लाइ प्रभु, जानि सनेह सभीत॥" (मा० अ० ६९–७२) तक। इस उद्धृत प्रसंग के 'देह-गेह सब सन तृन तोरे' में यहाँ के 'प्रान कृपान…' का भाव है।

'तात! बिदा माँगिये…'; यथा—"माँगहु बिदा मातु सन जाई। आवहु बेगि चलहु बन भाई॥" (मा० अ० ७२); तथा—"व्रजापृच्छस्व सौमित्रे सर्वमेव सुहृज्जनम्॥" (वाल्मी० २।३१।२८); अर्थात् श्रीरामजी ने लक्ष्मणजी से कहा कि माता आदि सुहृद वर्ग से पूछ आओ।

'जाइ चरन गहि…सिय रघुवर सेवा…'; यथा—"जाइ जननि पग नायेउ माथा। मन रघुनंदन जानकि साथा॥ पूछे मातु मलिन मन देखी। लखन कही सब कथा बिसेखी॥" "सहज सुहृद बोली मृदु बानी॥ तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही॥…भूरि भाग भाजन भयेहु, मोहिं समेत बलि जाउँ। जौं तुम्हरे मन छाँड़ि छल, कीन्ह राम-पद ठाउँ॥ पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुपति भगत जासु सुत होई॥ नतरु बाँझ भलि बादि बियानी। राम-बिमुख सुतते हित जानी॥" (मा० अ० ७२-७४)। 'सुचि ह्वैहौ'; यथा—"कुरुष्व मामनुचरं वैधर्म्यं नेह विद्यते। कृतार्थोऽहं भविष्यामि…" (वाल्मी० २।३१।२४); अर्थात् श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीरामजी से कहा है कि मुझे सेवक बनाइये, इसमें आप की धर्म हानि नहीं है, मैं आपकी सेवा करके कृतार्थ हो जाऊँ। तात्पर्य यह कि जीव ईश्वर का शेष (सेवक) है; यथा—"जीव भवदंघ्रिसेवक बिभीषन बसत…" (वि० ५८)। यह अपनी नियत वृत्ति से पृथक् हो संसार में आया, तब से अशुचि हो रहा है। प्रभु-सेवा से

ही शुचि हो कर अपनी नियत स्थिति पायेगा। तभी यह कृतार्थ होगा—वि० ८७ भी देखिये। उपासना शक्ति श्रीसुमित्राजी का यही उपदेश है।

'कीजहु इहै बिचार···'; यथा—"तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥ सकल सुकृत कर बड़ फल एहू। राम-सीय-पद सहज सनेहू॥" (मा० अ० ७४); तथा—"दाहिन दइउ होइ जब सबहीं। राम-समीप बसिय बन तबहीं॥" (मा० अ० २७९); "बेद-पुरान-संत-मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू॥" (मा० बा० २६)। "बड़े भाग अनुराग राम पद होइ।" (बरवै रा० ६३), एवं—"ये कल्पकोटिषु शतैर्जपहोमयोगैर्ध्यानैस्समाधिभिरहो परबोधनिष्ठाः॥ ते देवि धन्यमनुजा हृदिवाह्यशुद्धा भक्तिस्तदा भवति तेषु च राम पादे॥" (महारामायण); इत्यादि।

'सुनि सिख चले चकित चित···'; यथा—"राग रोष इरिषा मद मोहू। जनि सपनेहुँ इन्हके बस होहू॥ सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥ तुम्ह कहँ बन सब भाँति सुपासू। सँग पितु मातु राम-सिय जासू॥ जेहि न राम बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥ उपदेस यह जेहि जात तुम्हरे राम-सिय सुख पावहीं। पितु-मातु-प्रिय परिवार पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं॥ तुलसी-प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई। रति होउ अविरल अमल सिय-रघुबीर-पद नित-नित नई॥ मातु चरन सिर नाइ, चले तुरत संकित हृदय। बागुर बिषम तोराइ, मनहुँ भाग मृग भागबस॥" (मा० अ० ७४-७५)—इस उद्धृत प्रसंग में शिक्षा का स्वरूप भी कुछ आ गया है। तथा—यहाँ के 'चकित चित उड़्यो मानो···' इसका भाव भी-'चले तुरत संकित हृदय···' इसमें मिलान करने पर अधिक स्पष्ट हो जाता है। माता से आज्ञा मिलना फन्दा टूटना है, लक्ष्मणजी इसमें बड़ा भाग्य मानते हैं। यदि माता आज्ञा न देती तो प्रभु साथ न लेते। अपनी ओर से तो ये सब नाते तोड़ ही चुके थे, परन्तु स्वामी की आज्ञा से यह एक भारी बन्धन हो गया था, यह भी टूट गया। यहाँ वधिक स्थान में माता हैं, उनका भोरा होना यह कि अभी वे श्रीराम-स्नेह में मुग्ध होकर आज्ञा दे रही हैं, कहीं फिर पुत्र-स्नेह से रोकने न लग जायँ, इससे तुरंत चल दिये। चकित-चित हैं कि कहीं विलम्ब होने पर स्वामी चल न दें। यहाँ 'अनुक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षाअलङ्कार' है।

राग सोरठ

[१२]

मोको बिधु-बदन बिलोकन दीजै ।
राम लखन मेरी यहै भेंट, बलि जाउँ, मोहिं मिलि लीजै ॥१॥
सुनि पितु-बचन चरन गहे रघुपति, भूप अंक भरि लीन्हें ।
अजहुँ अवनि बिहरत दरार मिस सो अवसर सुधि कीन्हें ॥२॥
पुनि सिर नाइ गवन कियो प्रभु, मुरछित भयो भूप न जाग्यो ।
करम-चोर नृप-पथिक मारि मानो राम-रतन लै भाग्यो ॥३॥
तुलसी रबिकुल-रबि रथ चढ़ि चले तकि दिसि दखिन सुहाई ।
लोग नलिन भए मलिन अवध-सर, बिरह बिषम हिम आई ॥४॥

अर्थ—[श्रीरामजी को वन जाते देख राजा दशरथ कहते हैं—] 'हे श्रीरामजी ! और हे श्रीलक्ष्मणजी ! मुझको अपना चन्द्र मुख देख लेने दीजिये, मेरी तो अब यही अन्तिम भेंट है, मैं बलिहारी जाता हूँ, मुझसे मिल लीजिये ॥१॥ पिताजी के वचन सुनकर रघु श्रेष्ठ श्रीरामजी ने उनके चरण ग्रहण (प्रणाम) किया, राजा दशरथ ने इन्हें अङ्क भर कर हृदय से लगा लिया। उस अवसर की स्मृति करने पर दरार फटने के व्याज से आज भी पृथिवी विदीर्ण हो जाती है ॥२॥ प्रभु श्रीरामजी ने फिर से प्रणाम कर वन-गमन किया, राजा उस समय मूर्च्छित हो गये थे। अतः, जाते समय फिर देखने की चेतना नहीं हुई; मानो कर्म रूप चोर राजा रूप पथिक को मार कर, उनके रत्न रूप श्रीरामजी को लेकर भाग गया ॥३॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि सूर्यकुल के सूर्य श्रीरामजी रथ पर चढ़कर सुहावनी दक्षिण दिशा की ओर देखकर चल दिये (जैसे सूर्य दक्षिणायन होते हैं)। उस समय उनके विरह रूप विषम हिमऋतु के आने पर श्रीअयोध्या रूप सरोवर के लोग रूप कमल मलिन हो गये ॥४॥

विशेष—'मोको बिधुबदन ... राम-लखन मेरी ...'; यथा—"अद्यत्विदानीं रजनीं पुत्र मा गच्छ सर्वथा। एकाहं दर्शनेनापि साधु तावच्चराम्यहम् ॥" (वाल्मी० २।३४।३२); अर्थात् (वन जाते हुए श्रीरामजी से राजा दशरथ कहते हैं—) हे पुत्र ! आज तुम किसी प्रकार मत जाओ, जिससे यह एक दिन और एक रात तुमको देखकर मैं सुख से समय बिता लूँ। 'मेरी यहै भेंट'

क्योंकि राजा को निश्चय है कि मैं श्रीराम-विना न जीऊँगा; यथा—"कहौं सुभाउ न छल मन माहीं । जीवन मोर राम बिनु नाहीं ॥ समुझि देखु जिय प्रिया प्रवीना । जीवन राम दरस आधीना ॥" (मा० अ० ३२); "नृप कि जिइहि बिनु राम ।" (मा० अ० ४९)।

'अजहुँ अवनि बिहरति दरार मिस···'—पृथिवी में जीवन रूप जल के वियोग पर उसमें दरार फट जाता है, यह आज दिन भी देखा जाता है। पृथिवी में दरार फटने का यह कारण व्याज मात्र है । वस्तुतः उस अवसर का स्मरण करने पर पृथिवी अपना हृदय विदीर्ण कर देती है, वह वियोग इसे इतने दिनों तक नहीं भूला ।

पृथवी तो जड़ा है, इसकी ओट से ग्रंथकार ने हृदयवानों के हृदयों का फटना कहा है; यथा—"परसत मृदुल चरन अरुनारे । सकुचति महि जिमि हृदय हमारे ॥" (मा० अ० १२०); इस प्रकार यहाँ पृथिवी की ओट से वर्ण्य विषय का प्रतिबिंब कहा गया है । अतः यहाँ 'ललित अलङ्कार' है ।

ग्रन्थकार ने इस एक ही चरण में वाल्मी० २।४१ के बीसों श्लोकों का भाव कह दिया है । 'पुनि सिर नाइ गवन कियो प्रभु···'; यथा—"लोग बिकल मुरछित नर नाहू । काह करिय कछु सूझ न काहू ॥ राम तुरत मुनि बेष बनाई । चले जनक जननी सिर नाई ॥" (मा० अ० ७८) ।

'करम चोर नृप पथिक मारि···'—राजा ने श्रवण-वध का कर्म अनजान में किया था, वही यहाँ चोर रूप है । उसी कर्म के फल रूप में राजा राम-रत्न विहीन हो रहे हैं, इसी राम-वियोग में राजा का प्राण त्याग भी होगा। चोर पथिक को अत्यन्त घायल कर उसका रत्न ले भागता है, पथिक थोड़ी घड़ियों तक तड़फड़ा कर प्राण त्याग देता है, वैसे ही राजा अभी तड़प रहे हैं। जैसे सुमंत्रजी से सुनेंगे कि श्रीरामजी चले ही गए । वैसे ही उस कर्म (तापस अंध शाप) का वर्णन करते हुए प्राण त्याग करेंगे । यहाँ 'रूपक से पुष्ट उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है ।

'रबिकुल रबि रथ चढ़ि चले···'—यहाँ सूर्यकुल रूप कमल को प्रफुल्लित करने वाले सूर्य रूप श्रीरामजी हैं । सूर्य दक्षिणायन में दक्षिण दिशा की ओर जाते हैं, तब हिम ऋतु आती है, वैसे श्रीरामजी दक्षिण दिशा की

ओर वन को चले हैं, इससे बिषम विरह रूपी विषम हिम ऋतु आई है। अयोध्या नगर सरोवर है, यहाँ के लोग कमल हैं; ये सब उसी प्रकार मलिन हो गये हैं; यथा—"अस कहि राम गवन तब कीन्हा।...सुनि भये बिकल सकल नर नारी। बेलि बिटप जिमि देखि दवारी॥" (मा० अ० ४५); "बागन्ह बिटप बेहिन कुम्हिलाहीं। सरित सरोवर देखि न जाहीं॥...नगर सफल बन गहवर भारी। खग मृग बिपुल सकल नर नारी॥ बिधि कैकई किरातिनि कीन्हीं। जेहि दव दुसह दिसि दीन्हीं॥" (मा० अ० ८२–८३)।

यहाँ 'रूपक से पुष्ट गम्योत्प्रेक्षा-अलङ्कार' है; क्योंकि 'मानों, जनु' आदि वाचक पद नहीं हैं।

वन मार्ग के चरित

राग बिलावल

[१३]

कहो सो बिपिन है धौं केतिक दूरि।
जहाँ गवन कियो, कुँवर कोसलपति, बूझति सिय पिय पतिहि बिसूरि॥१॥
प्राननाथ परदेस पयादेहि चले सुख सकल तजे तृन तूरि।
करउँ बयारि, बिलंबिय बिटप तर, झारौं हौं चरन-सरोरुह-धूरि॥२॥
तुलसिदास प्रभु प्रिया बचन सुनि नीरज नयन नीर-आए पूरि।
कानन कहाँ अबहिं, सुनु सुंदरि, रघुपति फिरि चितये हित भूरि॥३॥

अर्थ—प्यारे पति श्रीरामजी की (सुकुमारता पर) चिन्ता करती हुई श्रीजानकीजी पूछती हैं कि हे कोशलपति के कुमार (आर्य पुत्र)! कहिये, वह वन कितनी दूर है, जहाँ के लिये आपने गमन किया है॥ १॥ हे प्राणनाथ! आपने समस्त सुखों को तृण तोड़ने के समान अनासक्त होकर त्याग दिया है और परदेश को पैदल ही चल रहे हैं (अतः, श्रमित हो गये होंगे)। किसी वृक्ष के नीचे कुछ समय ठहर जाइये तो मैं आपको हवा कर दूँ और चरण कमलों की धूल झाड़ दूँ॥ २॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि प्राणप्रिया के वचन सुन कर प्रभु श्रीरामजी के कमलवत् नेत्र जल से पूर्ण हो आये; (और बोले) हे सुन्दरि! सुनो, अभी वन कहाँ? ऐसा कह कर उनकी ओर अत्यन्त कल्याण की दृष्टि से देखा॥ ३॥

विशेष—'कहो सो बिपिन···जहाँ गवन···'—यद्यपि श्रीजानकीजी स्वयं अत्यन्त सुकुमारी हैं, पुरुष होने से श्रीरामजी उनकी अपेक्षा अधिक सहेष्णु हैं; तथापि अपने कष्ट पर दृष्टि न देकर स्वामी की ही सुकुमारता पर बिसूरती हैं और आगे उस श्रम-निवारण के उपाय बतलाती हैं। अपने दुःख पर दृष्टि ही नहीं है। आपने पहले ही कहा था; यथा—"मोहिं मग चलत न होइहि हारी। छिन छिन चरन सरोज निहारी॥ सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं। मारग जनित सकल श्रम हरिहौं॥ पाय पखारि बैठि तरु छाँहीं। करिहौं बाउ मुदित मन माहीं॥ श्रम कन सहित स्याम तन देखे। कहँ दुख-समउ प्रान-पति पेखे॥" (मा० अ० ६६)।

'चले सुख सकल तजे तृन तूरि'—क० अ० १-२ देखिये।

'करउँ बयारि···'—उपर्युक्त उद्धृत प्रसंग की प्रतिज्ञा के अनुसार सेवा चाहती हैं; तथा—"जल को गये लक्खन हैं लरिका परिखो पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े। पोंछि पसेउ बयारि करउँ, अरु पायँ पखारिहौं भूभुरि डाढ़े॥" (क० अ० १२) 'प्रभु प्रिया बचन सुनि···'—'प्रभु' पद आपके सामर्थ्य का सूचक है। भाव यह कि आप तो परम समर्थ हैं, परन्तु प्रियाजी अत्यन्त सुकुमारी हैं। अतः उन्होंने अपनी दृष्टि से मेरे श्रम का अनुमान किया है, ये स्वयं अत्यन्त श्रमित हो गई हैं और अपनी अपेक्षा अधिक सुकुमारता मुझमें मान कर इस प्रकार कह रही हैं। ऐसा समझ कर करुणा से नेत्रों में जल भर आया। फिर करुणा करके प्रिया पर कल्याण दृष्टि की, इस दृष्टि से उनमें सहेष्णुता का साहस दिया; जिससे फिर उन्हें कभी वन में श्रम एवं ह्रासता नहीं आई। यहाँ दृष्टि से साहस दिया है, जैसे श्रीसुग्रीवजी को कर-स्पर्श से विशाल बल दिया है एवं कर स्पर्श से ही उनकी पीड़ा का हरण कर शरीर बज्रवत पुष्ट कर दिया है; यथा—"कर परसा सुग्रीव सरीरा। तन भा कुलिस गई सब पीरा॥···पुनि पठवा बल देइ बिसाला॥" (मा० कि० ७)। श्रीजानकीजी ने वचन से ही श्रीहनुमानजी को 'होहु तात बल सील निधाना।' आदि बनाया है। प्राणप्रिया ने पहले ही कहा था—"कहँ दुख समउ प्रान-पति पेखे॥" यह ऊपर लिखा है, तदनुसार हुआ है। देखते ही आपने दुःख छुड़ा दिया है।

यह घटना गंगा तट से पैदल चलने के प्रारम्भ की है। कवितावली से स्पष्ट है, वहाँ भी ऐसा ही कहा गया है; यथा—"पुर ते निकसी रघुबीर-बधू, धरि धीर दिये मग में डग द्वै। झलकीं भरि भालकनी जल की, पुट सूखि गये मधुराधर वै ॥ फिरि बूझति हैं 'चलनो अब केतिक पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै'?। तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै ॥" (अ० ११)।

यहाँ के प्रसंग से कवितावली के इस पद में श्रीकिशोरीजीने पति-श्रम-निवारणार्थ ही अपना श्रम आदि दिखलाया है, क्योंकि वे पूर्व ही कह चुकी हैं—"मोहिं मग चलत न होइहि हारी।..." यह प्रसंग ऊपर देखिये।

[१४]

फिरि-फिरि राम सीय-तन हेरत।
तृषित जानि जल लेन लखन गए, भुज उठाय ऊँचे चढ़ि टेरत ॥१॥
अवनिकुरंग, बिहँग, द्रुम-डारनि रूप निहारत पलक न प्रेरत।
मगन न डरत निरखि कर-कमलनि सुभग सरासन सायक फेरत ॥२॥
अवलोकत मग लोग चहूँ दिसि मनहुँ चकोर चंद्रमहिं घेरत।
ते जन भूरि-भाग भूतल पर तुलसी राम-पथिक-पद जे रत ॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी श्रीजानकीजी की ओर घूम घूम कर (बार-बार) देखते हैं। (श्रीजानकीजी को) प्यासी जान कर श्रीलक्ष्मणजी उनके लिये जल लेने गये हैं। (जलाशय दूर है। अतः आने में विलम्ब होने पर) श्रीरामजी ऊँचे पर चढ़ कर उन्हें भुजा उठाकर पुकारते हैं (—'लक्खन अहा ! लक्खन हो !! ए लक्खन आ !!!') ॥ १ ॥ पृथिवी पर मृग और वृक्षों की डालों पर पक्षी श्रीरामजी का रूप-लावण्य देख रहे हैं, वे पलक भी नहीं चलाते; प्रेम में निमग्न हैं, इससे श्रीरामजी को अपने करकमलों से सुन्दर धनुष और बाण फिराते हुए देख कर भी नहीं डरते हैं ॥ २ ॥ मार्ग के लोग चारों दिशाओं से देख रहे हैं; मानो चकोर पक्षी चन्द्रमा को घेर लिये हों। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जो लोग बटोही श्रीरामजी के चरणों में अनुरक्त हैं, वे ही पृथिवी तल पर महान् भाग्यशाली हैं ॥ ३ ॥

विशेष—'फिरि-फिरि...तृषित जानि...'—श्रीजानकीजी को प्यासी हुए विलम्ब हो गया। अतः, प्राणनाथ बार-बार घूम-घूम कर उनकी ओर देखते हैं

कि कुछ विवर्णता तो नहीं आ गई। तथा ऊँचे चढ़कर पुकारने गये हैं, वह ऊँचा स्थल कुछ दूर है, वहाँ जाते समय घूम-घूम कर प्रियाजी की ओर देखते जाते हैं; क्योंकि वे इस समय वहाँ अकेली हैं, उन्हें किसी प्रकार का भय न हो। क्योंकि उनका स्वभाव भीरु है; यथा—"चित्र लिखित कपि देखि डेराती।" (मा० अ० ५९)। तथा—"जल को गये लक्खन हैं लरिका परिखो पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।" (क० अ० १२)।

'ऊँचे चढ़ि टेरत'—यह जांगल देश के अनुसार ग्रामीणों का-सा सुन्दर अभिनय है।

'अवनि कुरंग··सगन न डरत···'; यथा—"अवलोकि अलौकिक रूप मृगी-मृग चौंकि चकैं चितवैं चित दै। न डगैं, न भगैं जिय जानि सिलीमुख पंच धरे रति-नायक है॥" (क० अ० २७); तथा—"खग-मृग मगन देखि छबि होहीं। लिये चोरि चित राम बटोही॥" (मा० अ० १२२)।

'अवलोकत मग लोग···'; यथा--"मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मन लोभा॥ एक टक सब सोहिं चहुँ ओरा। रामचंद्र मुख चंद्र चकोरा॥" (मा० अ० ११४)।

'ते जन भूरि-भाग भूतल पर···'; यथा—"जिन्ह-जिन्ह देखे पथिक प्रिय, सिय समेत दोउ भाइ। भव-भग-अगम अनंद तेइ, बिनु श्रम रहे सिराइ॥ अजहुँ जासु उर सपनेहु काऊ। बसहु लखन सिय राम बटाऊ॥ रामधामपथ पाइहि सोई। जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई॥" (मा० अ० १२३)।

[१५]

नृपति-कुँवर राजत मग जात।
सुंदर बदन सरोरुह-लोचन, मरकत-कनक-बरन मृदुगात॥१॥
अंसनि चाप, तून कटि मुनिपट, जटा-मुकुट बिच नूतन पात।
फेरत पानि-सरोजनि सायक, चोरत चितहि सहज मुसुकात॥२॥
संग नारि सुकुमारि सुभग सुठि, राजति बिनु भूषन नवसात।
सुखमा निरखि ग्राम-बनितनिके नलिन-नयन बिगसित मानो प्रात॥३॥
अंग-अंग अगनित अंनग-छबि, उपमा कहत सुकबि सकुचात।
सिय समेत नित तुलसिदास-चित, बसत किसोर पथिक दोउ भ्रात॥४॥

अर्थ—मार्ग में जाते हुए राजकुमार शोभित हो रहे हैं। इनके सुन्दर मुख, कमल के समान नेत्र और मरकतमणि एवं सोने के-से रंग के कोमल शरीर हैं ॥१॥ इनके कंधों पर धनुष, कटि भाग में तर्कस और मुनिजनोचित वस्त्र और शिरों पर जटाओं के मुकुट हैं, जिनके बीच-बीच में नवीन पत्ते खोंसे हुए हैं। ये कर कमलों से धनुष फिरा रहे हैं और स्वाभाविक मुसकराते हुए चित्त चुरा लेते हैं ॥२॥ इनके साथ में सोलहो शृङ्गार किये बिना ही अत्यन्त सुंदरी और सुकुमारी एक स्त्री शोभायमान है। इनकी शोभा देखते ही ग्राम की स्त्रियों के नेत्र कमल मानो प्रातःकाल के कमलों के समान विकसित हो उठे ॥३॥ इनके अंग-अंग में अगणित कामदेवों की छबि है, उनकी उपमा कहने में अच्छे-अच्छे कवि भी सकुचा जाते हैं। श्रीसीताजी के साथ ये किशोर अवस्था के बटोही दोनों भाई तुलसीदास के चित्त में तो सदा निवास करते हैं ॥४॥

विशेष—'मरकत-कनक-बरन मृदु गात'; यथा—"मरकत कनक बरन बर जोरी। देखि सुरन भइ प्रीति न थोरी॥" (मा० बा० ३१४); तथा—"मरकत-कलधौत बरन" (पद १६); अर्थात् मरकत मणि के समान श्यामवर्ण श्रीरामजी और सोने के रंग के गौर वर्ण श्रीलक्ष्मणजी हैं। मणि और सोना कठोर होते हैं, यह दोष इनके शरीरों में नहीं है प्रत्युत् ये 'मृदुगात' हैं।

'नूतन पात'—नवीन पत्ते अशोक आदि के लाल रंग के सुहावने होते हैं, उन्हें जटाओं में खोंसे हैं। जैसे स्वर्ण मुकुटों में किरण आदि शोभित होते हैं।

'फेरत पानि-सरोजनि सायक…'; यथा—"कर-कमलनि धनु-सायक फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥" (मा० अ० २३८)।

'संग नारि सुकुमारि…'—आगे पद २१-२२ देखिये। तथा—"जुगल बीच सुकुमारि नारि यक राजति बिनहिं सिंगार। इंद्रनील हाटक मुकुतामनि जनु पहिरे महि हार॥" (पद २९)।

'सुखमा निरखि…'—यहाँ 'सुखमा' सूर्य-दर्शन के समान है और ग्राम नारियों के नेत्र कमल के समान हैं। यहाँ सुखमा का उपमान नहीं कहा गया। अतः, 'वस्तूत्प्रेक्षा अनुक्तास्पदा-अलङ्कार' है।

'अंग-अंग अगनित…'; यथा—"डारौं वारि अंग-अंगनि पर कोटि-कोटि

सत मार ॥" (पद २६) । असंख्य काम की छबि भी उपमा योग्य नहीं है। अतः, यहाँ पर 'तृतीय प्रतीप-अलङ्कार' है ।

'सिय समेत नित...'—यह झाँकी चित्त में निरन्तर बसी ही रहती है; यथा—"माधुरी बिलास हास, गावत जस तुलसिदास, बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रान की ॥" (पद ४४) ।

[१६]

तू देखि-देखि, री! पथिक परम सुंदर दोऊ।
मरकत - कलधौत - बरन, काम - कोटि - कांति-हरन,
चरन-कमल कोमल अति, राजकुँवर कोऊ ॥१॥
कर सर धनु, कटि निखंग, मुनिपट सोहैं सुभग अंग,
संग चंद्रबदनि बधू, सुंदरि सुठि सोऊ।
तापस बर बेष किये, सोभा सब लूटि लिये,
चित के चोर, बय किसोर, लोचन भरि जोऊ ॥२॥
दिनकर-कुल-मनि निहारि प्रेम-मगन ग्रामनारि,
परस्पर कहैं, सखि! अनुराग ताग पोऊ।
'तुलसी' यह ध्यान-सुधन जानि मानि लाभ सघन,
कृपन ज्यों सनेह सो हिये-सुगेह गोऊ ॥३॥

अर्थ—[वनमार्ग की कोई ग्रामीण स्त्री कहती है—] 'अरी सखी! तू देख, देख, ये दोनों बटोही परम सुन्दर हैं। मरकत (पन्ना) और सोने के समान ये दोनों श्याम-गौर वर्ण हैं, ये करोड़ों कामदेवों की कान्ति का हरण करनेवाले हैं और इनके चरण कमल के समान अत्यन्त कोमल हैं। ऐसा जान पड़ता है कि ये कोई राजकुमार हैं ॥१॥ इनके हाथों में धनुष और बाण हैं, कटिभाग में तरकश हैं और सुन्दर अंगों में मुनियों के-से वस्त्र शोभायमान हैं। इनके साथ में चन्द्रमुखी स्त्री है, वह भी अत्यन्त सुन्दरी है। इन्होंने श्रेष्ठ तपस्वी का वेष बना कर सारी शोभा लूट ली है, इन किशोर अवस्थावाले चित्त के चोरों को आँख भर देख ले' ॥२॥ इस प्रकार सूर्य कुल शिरोमणि श्रीरामजी को देखकर ग्रामीण स्त्रियाँ प्रेम में निमग्न हो गईं और आपस में कहने लगीं—',इन रत्नों को अनुराग रूपी सूत्रों में पिरो (गूथ) ले'। और (श्रीतुलसीदासजी

कहते हैं—) इस ध्यान को श्रेष्ठ धन जानकर तथा इसे ही बड़ा भारी लाभ मानकर तू कृपण के समान स्नेहपूर्वक हृदय रूपी सुंदर घर में छिपा रख ॥३॥

विशेष—'तू देखि-देखि'—अत्यन्त हर्ष से बार-बार कहती है।

'मरकत कलधौत बरन…'; यथा—"राजकुँवर दोउ सहज सलोने। इन्ह ते लहि दुति मरकत सोने॥" (मा० अ० ११५)। मरकत और सोने में वर्ण मात्र की ही समता पर लावण्य प्रदर्शन के लिये कोटि काम की भी कान्ति का हरण करनेवाला कहा, पुनः कोमलता कमल की उपमा से दिखाई गई है इन सब बातों को एकत्र पाकर किसी राजकुमार का अनुमान किया। फिर इस अनुमान की विशेष पुष्टि के लिये आगे इनका धनुर्बाण धारण कहा। 'मुनि पट…'—अंग ऐसे सुन्दर हैं कि इन पर मुनि वस्त्र भी बहुत शोभा दे रहा है। 'संग चंद्र बदनि बधू…'—इनकी सुठि सुन्दरता आगे पद २१-२२ में देखिये।

'तापस बर बेष किये…'—तापस वेष में शोभा नहीं रहती, परन्तु इन्होंने संसार भर की सारी शोभा लूट ली है। शोभा ही नहीं, ये दर्शकों के चित्तों को भी चुरा लेनेवाले हैं। अभी किशोर अवस्था ही के हैं। अतएव आँख भर देखने के योग्य भी हैं। अतः, देख ले। 'चित के चोर'; यथा—"राजत राज समाज महँ, कोसलराज-किसोर। सुंदर-स्यामल-गौर-तन, बिस्व-बिलोचन-चोर॥" (मा० बा० २४२)। 'बय किसोर'; यथा—"बय किसोर सब भाँति सुहाए।… बरनत छबि जहँ-तहँ सब लोगू। अवसि देखियहि देखन जोगू॥" (मा० बा० २२८)।

'लोचन भरि जोऊ'; यथा—"अवलोकहु भरि नैन, बिकल जनि होहु, करहु सुबिचार। पुनि कहँ यह सोभा, कहँ लोचन, देह-गेह संसार॥" (पद२६)।

'दिनकर कुलमनि निहारि…'; यथा-"केहरि कटि पट पीतधर, सुखमा-सील-निधान। देखि भानुकुल-भूषनहि, बिसरा सखिन्ह अपान।" (मा० बा० २३३)। 'अनुराग ताग पोऊ'—अनुराग चित्त से होता है, इसका लाल रंग भी है। यहाँ शोभामय रत्न तीन हैं, इन्हें अनुराग में बाँधकर हृदय में रख लो, चित्त से जाने न पावें। किस प्रकार रक्खे जायँ एवं इनका महार्हत्व भी कहती है।

'यह ध्यान सुधन…'—जैसे कृपण श्रेष्ठ धन को और उसे भी अधिक परिमाण में पाकर घर के गुप्त कोने में छिपाकर रखता है और स्नेह से अहर्निश

उसी का चिंतन करता रहता है। वैसे ही ये श्रेष्ठ सौन्दर्य रूप धन से युक्त हैं और तीन हैं, इससे समूह लाभ रूप हैं। अतः, स्नेहपूर्वक हृदय के सुन्दर घर रूप सात्त्विक अहंकार (चित्त) में रख; अर्थात् चित्त से स्नेहपूर्वक इनका ध्यान किया कर। ध्यान करना कहती है, क्योंकि ये पथिक हैं, सदा सामने न रहेंगे।

यहाँ 'रूपक से पुष्ट पूर्णोपमा-अलङ्कार' है।

[१७]

कुँवर साँवरो, री सजनी ! सुंदर सब अंग।
रोम-रोम छबि निहारि आलि वारि फेरि डारि,
कोटि भानु-सुवन सरद सोम, कोटि अनंग ॥ १ ॥
बाम अंस लसत चाप, मौलि मंजु जटा-कलाप,
सुचि सर कर, मुनिपट कटि-तट कसे निषंग।
आयत उर-बाहु नैन, मुख-सुखमा को लहै न,
उपमा अवलोकि लोक, गिरा-मति-गति भंग ॥ २ ॥
यों कहि भई मगन बाल, बिथकीं सुनि जुवति-जाल,
चितवत चले जात संग मधुप-मृग-बिहंग।
बरनौं किमि तिन्ह की दसहि, निगम-अगम प्रेमरसहि,
तुलसी मन-बसन रँगे रुचिर रूप रंग ॥ ३ ॥

अर्थ – 'अरी सखी ! इस साँवले कुमार के तो सभी अंग सुन्दर हैं। अरी आली ! इनके रोम रोम की छबि देख कर तो ऐसा भाव होता है कि, करोड़ों अश्विनीकुमार और शरद् ऋतु के चन्द्रमा तथा करोड़ों कामदेव, इन पर वारा-फेरा कर (निछावर कर) फेंक दिये जायँ ॥ १ ॥ इनके वाम कंधे पर धनुष शोभायमान हैं और शिर पर सुन्दर जटाओं का समूह है। हाथ में सुन्दर बाण है तथा ये मुनियों के-से वस्त्र धारण किये हुए हैं और कटि भाग में तरकश कसे हुए हैं। इनकी छाती चौड़ी, बाहु आजानु लम्बे और नेत्र बड़े-बड़े हैं इनके मुख की परमाशोभा की उपमा समस्त लोक में खोजते-खोजते सरस्वती की बुद्धि की गति (चाल) नष्ट हो गई, पर नहीं मिली' ॥ २ ॥ ऐसा कह कर बाला (स्त्री) श्रीरामजी की रूप राशि में निमग्न हो गई और सुनने वाली स्त्रियों का समूह भी शिथिल (एवं आश्चर्य रूप देख दंग) हो गया; यहाँ तक

कि इनको देखते हुए भ्रमर, मृग और पक्षी भी साथ-साथ चले जाते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि मैं उनकी दशाओं का किस प्रकार वर्णन करूँ? उनके मन रूपी वस्त्र सुन्दर रूप रूपी रंग में रँगे हुए हैं, ऐसे प्रेम-रस का वर्णन तो वेदों के लिये भी अगम्य है (तो मेरी कौन गिनती ?) ॥ ३ ॥

विशेष—'कुँवर साँवरो,···'; यथा—"साँवर कुँवर सखी सुठि लोना।" (मा० बा० २३२); तथा—"अंग-अंग अगनित अनंग-छबि···" (पद १५)।

'रोम-रोम छबि निहारि···'—विशेष कर सुन्दरता में अश्विनीकुमार आह्लादकता में चन्द्रमा और लावण्य में काम निछावर किये जाने योग्य हैं। सामान्य रीति से सुन्दरता में तो तीनों ही तुलनीय हैं। तथा—"रोम-रोम छबि निंदति सोम मनोजनि।" (जानकी मंगल ५९)। "सरदसुधासदन-छबिहि निंदै बदन···" (पद ८२); "सुखमा-सील-सनेह सानि मानो रूप बिरंचि सँवारे। रोम रोम पर सोम काम सत कोटि वारि-फेरि डारे॥" (पद ६८) तथा—"मानो मख रुज निसिचर हरिबे को सुत पावक के साथ पठये पतंग।" (पद ५२) इनके विशेष देखिये।

यहाँ 'पंचम प्रतीप-अलङ्कार' है।

'सुचि सर'—यहाँ 'सुचि' पद शुचि; अर्थात् उज्ज्वल एवं सुन्दर के अर्थ में है; यथा—"शृङ्गारः शुचिरुज्ज्वलः।" (अमरकोष)।

'उपमा अवलोकि लोक···'; यथा—"मति भारति पंगु भई जो निहारि, बिचारि फिरी उपमा न पवै।" (क० बा० ७)।

'चितवत चले जात संग···'; यथा—"रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे॥" (मा० अ० ११३); "खग-मृग मगन देखि छबि होहीं। लिये चोरि चित राम बटोही॥" (मा० अ० १२२)। इन सबको अनुराग की दशा प्राप्त है, इसी को 'मन बसन रँगे···' इस वाक्य खंड से स्पष्ट किया गया है। कहा भी है—"व्यापकता जो प्रीति की, ज्यों सुठि बसन सुरंग। दृगन द्वार दरसै चटक, सो अनुराग अभंग॥" यह अनुराग ही प्रेम की उच्च दशा है। जैसे नेत्र के समक्ष हरे रंग का वस्त्र हो तो उसके उस पार की वस्तु हरी ही दीखती है, वैसे ही राम रूप में अनुराग होने से उसे श्रीराम ही दीखते हैं; यथा—"जहँ-तहँ देख धरे धनु बाना॥" (मा० अ०

१२०); इस प्रकार का प्रेमानन्द अवर्ण्य कहा गया है; यथा—"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ।" (नारद भक्ति सूत्र) इससे यहाँ पर इसे 'निगम-अगम' कहा गया है; तथा—"निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी । कहि न जाइ सो दसा भवानी ॥" (मा० अ० ६) ।

यहाँ 'रूपक-अलंकार' है ।

राग-कल्याण

[१८]

देखु, कोउ परम सुंदर सखि ! बटोही ।
चलत महि मृदु चरन अरुन-बारिज-बरन,
भूपसुत रूपनिधि निरखि हौं मोही ॥ १ ॥
अमल मरकत स्याम, सील-सुखमा-धाम,
गौर-तनु सुभग सोभा सुमुखि जोही ।
जुगल बिच नारि सुकुमारि सुठि सुंदरी,
इंदिरा इंदु-हरि-मध्य जनु सोही ॥ २ ॥
करनि बर धनु तीर, रुचिर कटि तूनीर,
धीर, सुर-सुखद, मरदन अवनि-द्रोही ।
अंबुजायत नैन बदन-छबि बहु मयन,
चारु चितवनि चतुर लेत चित पोही ॥ ३ ॥
बचन प्रिय सुनि श्रवन राम करुना-भवन,
चितै सब अधिक हित सहित कछु ओही ।
दास तुलसी नेह-बिबस बिसरी देह,
जान नहिं आपु तेहि काल धौं को ही ॥ ४ ॥

अर्थ—'अरी सखी ! देख, कोई बड़े सुन्दर बटोही रूप के निधान राजकुमार लाल कमल के समान रंग वाले अपने कोमल चरणों से पृथिवी पर (पैदल) चल रहे हैं, मैं तो इन्हें देख कर मोहित हो गई हूँ ॥ १ ॥ अरी सुमुखि ! मैंने शील और परमा शोभा के धाम, स्वच्छ मरकतमणि के समान श्याम तथा सुन्दर गौर शरीर की शोभा देखी है । इन दोनों के बीच में एक अत्यन्त सुन्दरी और सुकुमारी स्त्री है; मानो चन्द्रमा और विष्णु के बीच में

साक्षात् लक्ष्मीजी ही शोभायमान हों ॥ २ ॥ इनके हाथों में श्रेष्ठ धनुष-बाण हैं और कटिभाग में मनोहर तरकश हैं; दोनों धैर्यवान्, देवताओं को सुख देने वाले और पृथिवी के द्रोही राक्षसों का नाश करने वाले हैं। इनके कमल दल के समान विशाल नेत्र हैं और मुखों की छवि बहुत-से कामदेवों के समान है। ये ऐसे प्रवीण हैं कि सुन्दर (सीधी) चितवन से ही सब के चित्तों को पोह (गूँथे एवं आकर्षित किये) लेते हैं ॥ ३ ॥ करुणा के स्थान श्रीरामजी ने अपने कानों से उसके प्यारे वचन सुनकर सभी की ओर देखा किन्तु उसकी ओर कुछ अधिक प्रीतिपूर्वक देखा। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि स्नेह के वश हो जाने से उसे तो अपनी देह ही भूल गई, उस समय उसने अपने को भी नहीं जाना कि वह कौन थी ?

विशेष—'देखु, कोउ…'—बटोही हैं, परन्तु ऐसे मृदु चरणों से भूमि पर चलना देख कर वह मोहित हुई है कि ऐसे कठिन भूमि पर चलते हुए भी ये चरण ऐसे बने हुए हैं, विवर्णता नहीं हुई। अतः, कोई दिव्य तनु हैं।

'अमल मरकत स्याम…'—रूप के साथ शील एवं परम शोभा है। अतएव रूप पर मोहित होने पर शील से भक्त का आदर करते हैं और अपनी परम शोभा से इसे सुख देते हैं। 'इंदिरा इंदु-हरि-मध्य…'—चन्द्रमा रूप श्रीलक्ष्मणजी, विष्णु रूप श्रीरामजी और लक्ष्मी रूपिणी श्रीजानकीजी हैं, देवों में ही उत्प्रेक्षा की है; क्योंकि इसने इन्हें दिव्य तनु निश्चित कर रक्खा है, यह ऊपर लिखा गया। ऐसे ही श्रीहनुमानजी ने अनुमान किया है; यथा—"की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ।…" (मा० कि० १)।

यहाँ 'उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा-अलङ्कार' है।

'करनि बर धनु तीर…'—शस्त्र-धारण कह कर फिर उसका कार्य कहा गया कि इससे पृथिवी के द्रोही राक्षसों का नाश करेंगे। पृथिवी ने राक्षसों को अपना द्रोही कह कर ब्रह्मा से प्रार्थना की है। अतः, वे ही उसके द्रोही हैं। ये सब श्रीरामजी के लीला के सहयोगी परिकर हैं, इससे भविष्य की बात भी इन्हें ज्ञात है; यथा—"सेवक बचन सत्य सब जाने।" (मा० अ० २३४); "बचन तुम्हार न होइ अलीका॥" (मा० बा० २१५); "हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥ निज इच्छा प्रभु अवतरइ, सुर

महि गो द्विज लागि । सगुन उपासक संग जहँ, रहहिं मोच्छ सब त्यागि ॥" (मा० कि० २६) ।

'चारु चितवनि चतुर...'; यथा—"चितवनि चारु मार मन हरनी। भावति हृदय जाति नहिं बरनी ॥" (मा० बा० २४२); "चितवत चितहिं चोरि जनु लेहीं ॥" (मा० बा० २१८)

'बचन प्रिय सुनि...'—वह रूप पर मोहित हो छवि का वर्णन कर रही है । प्रेमपूर्ण उसके वचन सुन उस पर करुणा है, इससे उसे अधिक प्रीतिपूर्वक देखा, वह इस पर मुग्ध हो गई, अपनापन भूल गई । यही किंचित् कृपा-दृष्टि का परिणाम है; यथा—"बहुत पतित भवनिधि तरे बिनु तरि, बिनु बेरे । कृपा-कोप-सतिभायहू, धोखेहु-तिरछेहु, राम ! तिहारेहि हेरे ॥" (वि० २७३) । इसका सरल भाव का प्रेम देख इस पर कृपा हुई है, इससे इसे दृढ़ प्रेम प्राप्त हुआ है । यथा—"उमा जोग जप दान तप, नाना मख ब्रत नेम। राम कृपा नहिं करहिं तसि, जसि निष्केवल प्रेम ॥" (मा० उ० ११६)। 'को ही'=कौन थी । 'ही' ब्रजभाषा में 'थी' के अर्थ में कहा जाता है ।

राग केदारा

[१६]

सखि नीके कै निरखि कोउ सुठि सुंदर बटोही।
मधुर मूरति मन मोहन जोहन-जोग
वदन सोभा-सदन देखि हौं मोही ॥१॥
साँवरे-गोरे किसोर, सुर-मुनि-चित्त-चोर,
उभय-अंतर एक नारि सोही।
मानहु बारिद-बिधु बीच ललित अति,
राजति तड़ित निज सहज बिछोही ॥२॥
उर धीरजहि धरि, जनम सुफल करि,
सुनहि, सुमुखि ! जिनि बिकल होही।
को जानै, कौने सुकृत लह्यो है लोचन-लाहु,
ताहि ते बारहिं बार कहति तोही ॥३॥

सखिहि सु सिख दई, प्रेम-मगन भई,
सुरति बिसरि गई आपनी ओही।
तुलसी रही है ठाढ़ी, पाहन गढ़ी-सी काढ़ी,
न जानै, कहाँ ते आई, कौन की, को ही ॥४।

अर्थ—अरी सखी ! भली भाँति देख, कोई अत्यन्त सुन्दर बटोही जा रहे हैं। इनकी मधुर मूर्त्ति कामदेव को भी मोहित करनेवाली है और शोभा का घर इनका मुख देखने ही योग्य है, मैं तो देखकर मोहित हो गई हूँ ॥१॥ ये साँवरे और गोरे शरीर और किशोर अवस्थावाले अपनी सुन्दरता से देवताओं और मुनियों के चित्त चुरानेवाले (बड़े ही मनोहर) हैं, इन दोनों के बीच में एक स्त्री शोभायमान हो रही है; मानों मेघ और चन्द्रमा के बीच में अपनी स्वाभाविक (चञ्चलता) छोड़कर अत्यन्त मनोहर बिजली विराजमान हो रही हो ॥२॥ अरी सुमुखि ! सुन, व्याकुल मत हो; प्रत्युत् हृदय में धैर्य धारण कर (इन्हें भलीभाँति देखकर) अपना जन्म सफल कर ले। कौन जानता है कि किस पुण्य के द्वारा यह नेत्रों का लाभ प्राप्त हुआ है, इसी से मैं बार-बार तुझसे (इनके दर्शनार्थ) कहती हूँ ॥३॥ इस प्रकार अपनी सखी को सुन्दर शिक्षा देकर वह प्रेम में निमग्न हो गई, उसे अपनी सुधि भूल गई। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि अब तो पत्थर में गढ़कर काढ़ी हुई के समान (ज्यों की त्यों) खड़ी रह गई। उस समय वह यह भी नहीं जानती थी कि वह कहाँ से आई थी और किसकी कौन (बेटी, स्त्री एवं मां) लगती थी ? ॥४॥

विशेष—'सखि नीके कै···मधुर मूरति···'—पहले भली-भाँति देखने को कहकर तब 'सुठि सुंदर' कह सुन्दरता की प्रशंसा की। आगे सुन्दरता का प्रकार कहती है कि इनको देखने में नेत्रों को मधुरता प्राप्त होती है, इससे तृप्ति नहीं होती; यथा—"चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृपिति न मानहिं मनु-सतरूपा॥ हरष बिबस तन दसा भुलानी।" (मा० बा० १४८)। इससे इन्हें देखकर सबका मन मोहित हो जाता है। इनके सब अंगों में भी शोभा का स्थान मुख तो देखने ही योग्य है; यथा-"मुख छबि कहि न जाइ मोहिं पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥" (मा० बा० २३२)। मैं तो देखते ही मोहित हो गई, यह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

'साँवरे गोरे किसोर···'—यहाँ से इन तीनों बटोहियों के व्यष्टि भेदों का वर्णन करती है कि इनमें एक साँवरे और दूसरे गोरे हैं। अभी किशोर अवस्था के हैं और दिव्य-दर्शन ऐसे हैं कि देवों और मुनियों के भी चित्त चुरा लेते हैं; यथा—"चारु चितवनि चतुर लेत चित पोहीं।" (पद १८); यह ऊपर देखिये।

'उभय अंतर···मानहुँ···'—दोनों के बीच एक स्त्री है, उसकी शोभा उत्प्रेक्षा से कहती है—साँवरे श्रीरामजी मेघ के समान तथा गोरे श्रीलक्ष्मणजी चन्द्रमा के समान और वह स्त्री श्रीजानकीजी मानों दोनों के बीच में स्थिर बिजली के समान हैं। बिजली क्षण मात्र में चमक कर दूर हो जाती है, वह दोष 'निज सहज बिछोहीं' कह कर दूर कर दिया है।

यहाँ 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।

'उर धीरजहि धरि···'; यथा—"अवलोकहु भरि नैन, बिकल जनि होहु, करहु सुबिचार। पुनि कहँ यह सोभा, कहँ लोचन, देह-गेह-संसार ?॥" (पद २९); अत्यन्त अद्भुत सौन्दर्य पर सहसा व्याकुलता आ जाती है, इससे कहती है कि हृदय में धैर्य धारण कर व्याकुलता छोड़ इनके दर्शन कर अपना जन्म सफल कर ले। इनके दर्शन से ही जन्म सफल होता है; यथा—"धन्य बिहँग मृग कानन चारी। सफल जनम भये तुम्हहिं निहारी॥ हम सब धन्य सहित परिवारा। दीख दरस भरि नयन तुम्हारा॥" (मा० अ० १३५); तथा—"जीवन जनम-लाहु लोचन-फल है इतनोइ," (बा० १०६)—देखिये।

'को जानै, कौन सुकृत···'; यथा—"लेहु नयन भरि रूप निहारी।··· को जाने केहि सुकृत सयानी। नयन अतिथि कीन्हें बिधि आनी॥" (मा० बा० २२४)। 'को जानै'; क्योंकि "गहना कर्मणो गतिः।" (गीता ४।१७)।

'सखिहि सुसिख दई···'—केवल शिक्षा ही नहीं दी; प्रत्युत स्वयं भी प्रेम में मग्न हो वैसा करती है। प्रेम में निमग्नता ऐसी हुई कि उसे अपनी सुधि भी भूल गई। अपनपौ भूलने पर वह कैसी दीखती थी, यह आगे कहते हैं—

'रही है ठाढ़ी पाहन गढ़ी-सी काढ़ी···' जैसे किसी विशाल पत्थर की शिला में छेनी से काट कर कोई मूर्त्ति काढ़ी (उसी शिला में संलग्न प्रकट कर

दी) जाय। वैसे ही वह जड़-सी खड़ी रह गई। स्तब्ध दशा में अंग स्फुरण नहीं होते।

'न जानै...' यह उसके हृदय की दशा है, वह उस समय यह भी नहीं जानती थी कि मैं कहाँ से आई हूँ और किसकी कौन हूँ; अर्थात् वह अपनपौ के साथ आत्मीयों को भी भूल गई थी; यथा—"निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी कहि न जाइ सो दसा भवानी॥ दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहा नहिं बूझा॥ कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई। कबहुँ के नृत्य करइ गुन गाई॥ अविरल प्रेम-भगति मुनि पाई।" (मा० अर० ६)।

[२०]

माई! मन के मोहन जोहन-जोग जोही।
थोरी ही बयस गोरे-साँवरे सलोने, लोने-
लोयन, ललित-बिधु-बदन बटोही॥ १॥
सिरनि जटा-मुकुट मंजुल सुमन जुत,
तैसिये लसति नव-पल्लव-खोही।
किये मुनिबेष बीर, धरे धनु, तून-तीर,
सोहैं मग, को हैं, लखि परै न मोही॥ २॥
सोभा को साँचो सँवारि, रूप जातरूप,
ढारि नारि बिरची बिरंचि, संग सो सोही।
राजत रुचिर तन, सुंदर श्रम के कन,
चाहे चकचौंधी लागै, कहौं का तोही?॥ ३॥
सनेह-सिथिल सुनि बचन सकल सिय,
चितई अधिक हित सहित ओही।
तुलसी मानहुँ प्रभु-कृपा की मूरति फिरि,
हेरि कै हरषि हिये लियो है पोही॥ ४॥

अर्थ—'अरी माई! आज इन मन को मोहित करने वाले और देखने के योग्य पथिकों को मैंने देखा है। इनकी थोड़ी ही अवस्था है, ये गोरे और साँवरे शरीर वाले लावण्य भरे हैं, इनके बड़े सुन्दर नेत्र हैं तथा इनके मनोहर मुख चन्द्रमा के समान (आह्लाद-वर्द्धक) हैं॥ १॥ इनके शिरों पर जटाओं के

मुकुट हैं, वे पुष्प युक्त और मनोहर हैं तथा वैसी ही सुन्दर नवीन पल्लवों की निर्मित खोही (पत्तों का बना हुआ छाता) भी सुशोभित हो रही है। ये मुनियों का वेष किये हुए हैं, परन्तु वीर हैं; इसी से धनुष-बाण और तरकश धारण किये हुए हैं। ये मार्ग में शोभायमान हो रहे हैं; परन्तु ये कौन हैं, यह मुझे समझने में नहीं आता ॥ २ ॥ विधाता ने मानों शोभा का साँचा सँवार कर रचा है, इसमें रूप रूपी सोने को ढाल कर जो एक स्त्री का निर्माण किया है और वह इनके साथ में सुशोभित है। उसके कान्तियुक्त शरीर में सुन्दर पसीने की बूँदें जो विराजती हैं; उसके विषय में तो मैं तुझसे क्या कहूँ ? देखने पर आखों में चकाचौंध हो जाती है ॥ ३ ॥ उस स्नेह में शिथिल ग्रामीण स्त्री के वचन सुन कर श्रीसीताजी ने उन समस्त स्त्रियों की ओर देखा; परन्तु उस कहने वाली स्त्री की ओर कुछ अधिक प्रीति के साथ देखा, तो, श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि मानो प्रभु श्रीरामजी की कृपा की मूर्त्ति ने उसकी ओर घूम कर देखा हो और हर्षित होकर उसके हृदय को अपने में गूँथ लिया हो ॥ ४ ॥

विशेष—'माई वन के मोहन···'; यथा—"मधुर मूरति मनमोहन जोहनजोग···" (पद १६); 'थोरीही बयस···'; यथा—"बय किसोर-सरि-पार मनोहर बयस-सिरोमनि होने। सोभा सुधा, आलि! अँचवहु करि नयन मंजु मृदु दोने ॥" (पद २३); तथा—"दामिनि बरन गोरी, लखि सखि तृन तोरी, बीती है बय किसोरी, जोवन होनी ॥" (पद २२) 'ललित बिधु-बदन'; यथा—"बदन सोभा-सदन देखि हौं मोही।" (पद १९)।

'सिरनि जटा मुकुट···'; यथा—"जटा मुकुट बिच नूतन पात।" (पद १५); यह पूर्व लिखा गया। यहाँ उन पत्तों की भाँति पुष्प खोसे हुए हैं, यह एक निराली ही छटा है। उसी प्रकार इन शिरों पर नवीन पत्तों की खोही (खोई) विराजमान है। यह छत्ता के आकार की अँगरेजी टोपी से कुछ बड़ी होती है, शिर एवं कुछ और अंगों के धूप से रक्षार्थ आज दिन भी जंगली लोग इसे शिर पर रखते हैं। आज कल वे प्रायः हल जोतने पर लगाते हैं। खोई=कम्बल की घोघी—हिं० श० सा०। कोई-कोई यहाँ पत्ते से छाये हुए बाँस की फट्टियों की कमानी वाले छाता का अर्थ 'खोही' का करते हैं।

'लखि परै न'—क्योंकि मुनि तो ऐसे वीर नहीं होते और न शस्त्र ही रखते

और वीर मुनि वेष नहीं रखते तथा वे वन के मार्ग में भी नहीं फिरते; प्रत्युत् वे तो किसी देश को वश में कर राज्य करते हैं।

'सोभा को साँचो···राजत रुचिर···'—यहाँ 'रुचिर' का अर्थ कान्ति-युक्त है, सोने में कान्ति होती है, ऐसा कान्तियुक्त तनु पसीने की बूँदों से विशेष सुशोभित है और उसमें देखने पर कान्ति से चकाचौंधी लगती है; यथा—"रूप की-सी दामिनी सुभामिनी सोहति संग," (पद ३०); इससे उसका वर्णन करते ही नहीं बनता तो मैं तुझसे उसके विषय में क्या कहूँ?

यहाँ 'गम्योत्प्रेक्षा' है।

सनेह सिथिल सुनि···'—वह कहनेवाली कहते-कहते स्नेह में शिथिल हो गई। इसीसे श्रीजानकीजी ने उसकी ओर अधिक प्रीति से देखा; क्योंकि इसने श्रीजानकीजी का ही विशेष वर्णन किया है, जैसे पद १८ में श्रीरामजी ने अपने रूप वर्णन पर देखा था; यथा—"बचन प्रिय श्रवन सुनि राम करुना भवन, चितए सब अधिक हित सहित कछु ओही। दास तुलसी नेह-बिबस बिसरी देह, जान नहिं आपु तेहि काल धौं को ही॥" इस पद में जैसे स्नेह वश प्रेम-दशा कही गई है, वैसे यहाँ के 'हिये लियो है पोही' में भी प्रेमदशा समझनी चाहिये। हृदय आबद्ध होना वैसी ही दशा में कहा जाता है।

'प्रभु कृपा की सूरति फिरि···'—श्रीजानकीजी ने फिर कर उसकी ओर देखा है और साथ ही उस पर हर्षित हो उसके हृदय को अपनी ओर खींचकर अपने में लगा लिया है, जिससे अब वह अन्यत्र नहीं जा सकती। प्रभु-कृपा के अपनाने पर भी ऐसी ही भक्ति प्राप्त होती है; यथा—"तौ मन में अपनाइये, तुलसीहि कृपा करि, कलि बिलोकि हहरयो हौं॥" साथ ही अपनाने की दशा भी कही गई है—"तुम अपनायो तब जानिहौं, जब मन फिरि परिहैं। जेहि सुभाउ बिषयनि लग्यो, तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छल करिहै॥···" (वि० २६७-२६८)—इन दोनों पदों के पूरे भाव देखिये।

यहाँ श्रीजानकीजी प्रभु-कृपा की मूर्त्ति कही गई हैं। वास्तव में श्रीजानकीजी में कृपा गुण प्रधान है, इससे ये कृपा रूपिणी कही जाती हैं; यथा—"कृपा रूपिणि! कल्याणि! राम प्रेयसि! जानकि! कारुण्यपूर्णनयने कृपा दृष्ट्यावलोकण॥" तथा—"मातर्मैथिलि! राक्षसीस्त्वयि तदैवार्द्रापराधास्त्वया रक्षन्त्या पव-

नात्मजाल्लघुतरा रामस्य गोष्ठी कृता । काकं तं च विभीषणं शरणमित्युक्तिक्षमौ रक्षतः सा नः सान्द्रमहागसः सुखयतु क्षान्तिस्तवाकस्मिकी ॥'' (श्रीगुणरत्नकोष); अर्थात् हे माता ! हे मैथिलीजी ! तात्कालिक अपराध करनेवाली राक्षसियों की श्रीहनुमान्‌जी से रक्षा करानेवाली आपकी कृपा ने 'मैं आपकी शरण हूँ' ऐसे वचन कहनेवाले शरणागत जयन्त और विभीषणजी की रक्षा करनेवाली श्रीरामजी की कृपा को अत्यन्त लघु सिद्ध कर दिया । वह आप की निर्हेतु की कृपा अत्यन्त पापी हम सरीखे आश्रितों को सुखी करे । आगे पद २८ 'मुनि बेष किये किधौं ब्रह्म....' इसका विशेष भी देखिये । आगे के दो पदों में इन्हीं कृपामूर्त्ति श्री-सीताजी का ही वर्णन करते हैं—

[२१]

सखि ! सरद-बिमल-बिधु-बदनि बधूटी ।
ऐसी ललना सलोनी न भई, न है, न होनी,
रत्यो रची बिधि जो छोलत छबि छूटी ॥१॥
साँवरे गोरे पथिक बीच सोहति अधिक,
तिहुँ त्रिभुवन-सोभा मानहुँ लूटी ।
तुलसी निरखि सिय प्रेमबस कहैं तिय,
लोचन - सिसुन्ह देहु असिय घूटी ॥२॥

अर्थ—हे सखी ! यह बहू तो शरदऋतु के निर्मल चन्द्रमा के समान मुख वाली है । ऐसी सुन्दरी स्त्री पहले न हुई है, न इस समय है और न आगे होने ही वाली है । विधाता ने जो रती को भी रचा है, उसकी छबि भी—इस ललना की मूर्त्ति सुधारते समय इसकी मूर्त्ति से जो छबि छूटकर गिरी है—वही है; (अर्थात् इस ललना के शरीर की गिरी हुई मैल मात्र रति की छबि है)। साँवरे और गोरे पथिकों के बीच में यह (दोनों की अपेक्षा भी) अधिक शोभायमान है, इन तीनों ने तो मानों तीनों लोकों (स्वर्ग, मर्त्यलोग और पाताल) की शोभा लूट ली हो । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीसीताजी को देखकर वे स्त्रियाँ प्रेम के वश होकर आपस में कहती हैं—'अपने-अपने नेत्र रूपी बच्चों को (इनके रूप रूपी) अमृत की घूँटी देवो' ॥२॥

विशेष—'सरद-बिमल-बिधु बदन बधूटी ।'; यथा—"बीच बधू बिधु-

बदनि बिराजति···" (पद २४); शरद् ऋतु के चन्द्रमा में भी लाञ्छन रूपी मैल है, वह भी न हो तो उस निर्मल चन्द्र के समान मुखवाली यह बहू है। श्रीरामजी ने श्रीमुख से कहा है; यथा—"सीय बदन सम हिमकर नाहीं ॥" से "सिय मुख छबि बिधु ब्याज बखानी।" (मा० बा० २३७) तक।

'ऐसी ललना सलोनी···'—तीनों कालों में ऐसी स्त्री नहीं हो सकती। 'रत्यो रचो बिधि···'—रति की छबि तो इसकी छूटी हुई मैलमात्र है, ऐसा कहने में 'पंचम प्रतीप अलङ्कार' है।

'साँवरे गोरे के बीच···'—इन दोनों की अपेक्षा भी इसकी छबि अत्यधिक है; यथा—"गरब करहु रघुनंदन जनि मन माँह। देखहु आपनि मूरति सिय कै छाँह ॥" (बरवा रा० १७)।

'तिहुँ तिभुवन सोभा मानहुँ लूटी'—इन तीनों के समक्ष तीनों लोकों में किसी की शोभा नहीं हो सकती, ऐसा जान पड़ता है कि मानो इन तीनों ने तीनों लोकों की शोभा लूट ली है। यहाँ भी 'पंचम प्रतीप अलङ्कार' है।

'निरखि सिय···'—श्रीजानकी की ही अत्यधिक शोभा पर मुग्ध होकर ये सब कहती हैं कि नेत्र रूपी बच्चों को इस 'सरद-बिमल-बिधु बदन बधूटी' के मुख-छवि रूपी अमृत की घूँटी दो। घूँटी के दो अर्थ होते हैं—(१) एक औषध जो छोटे बच्चों को नित्य पिलाई जाती है। एवं मुहा०–जनम घूँटी = वह घूँटी जो बच्चे को उसका पेट साफ करने के लिये जन्म के दूसरे दिन दी जाती है।—हिं० श० सा०। इस अर्थ के अनुसार यहाँ यह भाव है कि इस ललना की छबिरूपी घूँटी नेत्रों द्वारा पीने से अनेकों जन्मों का नेत्र-विषय रूपी विकार पच जायगा। भाव यह कि ऊपर के पद में श्रीजानकीजी की दृष्टि को प्रभु-कृपा-मूर्त्ति की उपमा दी गई है और उससे दृढ़ प्रेम-भक्ति की प्राप्ति कही गई है। वह भक्ति विषय-विकार पच जाने पर ही होती है। अतः, इनमें अनुराग करने पर इनकी दृष्टि होगी।

(२) चन्द्रमा से उसकी अमृतमय चाँदनी के घूँट की प्राप्ति होने के लिये माताएँ भावना करती हैं–ऐसा मुहावरा है–"जोंधा [जोन्हैया (सं० ज्योत्स्ना)= चाँदनी] माई धाय आओ, धुपाय आओ, बच्चा के मुख में घूँट !!!" उसी घूँट की घूँटी का अर्थ यहाँ विशेष संगत है। 'बिधु-बदन बधूटी' की मुख छवि

से नेत्रों को पान करने में भी अमृतवत् स्वाद एवं तुष्टि की प्राप्ति है। 'अमिय घूटीं' पद में उपर्युक्त पद की भक्ति-प्राप्तिवाला भाव भी आ जायगा।

[२२]

सोहैं साँवरे पथिक, पाछे ललना लोनी।
दामिनि-बरन गोरी, लखि सखि तृन तोरी,
बीती है बय किसोरी, जोबन होनी ॥१॥
नीके कै निकाई देखि, जनम सुफल लेखि,
हम-सी भूरिभागिनि नभ न छोनी।
तुलसी स्वामी-स्वामिनि जोहे मोही हैं भामिनि,
सोभा-सुधा पियैं करि अँखियाँ दोनी ॥२॥

अर्थ—साँवरे पथिक शोभायमान हैं। इनके पीछे यह अत्यन्त सुन्दरी स्त्री है, यह बिजली के समान गौर वर्ण है, इसे देखकर सखियाँ तृण तोरती हुई कहती हैं कि इस (स्त्री) की किशोरावस्था तो बीत चुकी है, अब युवावस्था आनेवाली है ॥१॥ इसकी सुन्दरता को भली-भाँति देखकर जन्म सफल समझना चाहिये और यह भी कि हम सबके समान अत्यन्त भाग्यशालिनी न स्वर्ग में है और न पृथिवी में ही है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि स्वामी श्रीरामजी और स्वामिनी श्रीजानकीजी को देखकर वे सब स्त्रियाँ मोहित हो गई हैं, इनकी शोभा रूपी अमृत को नेत्ररूप दोनों के द्वारा पी रही हैं ॥२॥

विशेष—'सोहैं साँवरे पथिक, पाछे...'—पीछे-पीछे सुन्दरी स्त्री के चलने से साँवरे पथिक अधिक सोहते हैं, ऐसी मुख्य बात कहकर आगे लोनी-ललना की ही सुन्दरता कहती हैं; यथा—"अप्रमेयं हि तत्तेजो यस्य सा जनकात्मजा।" (वाल्मी० ३।३७।१८); अर्थात् जिसकी वह श्रीजानकीजी स्त्री (प्रिया) हैं, वह अप्रमेय तेजवाला है। पद ७९ का अन्तिम चरण भी देखिये।

'दामिनि बरन गोरी'; यथा—"रूप की-सी दामिनी सुभामिनी सोहति संग," (पद २०)। 'लखि सखि तृन तोरी'—अत्यन्त सुन्दर रूप देखने में दृष्टि (नजर) न लग जाय, इस उपाय रूप में तृड़ तोड़ती हैं; यथा—"स्याम-गौर सुंदर दोउ जोरी। निरखहिं छबि जननी तृन तोरी॥" (मा० बा० १९७)।

'बीती है वय किसोरी…'; यथा—"बय किसोर-सरि-पार मनोहर बयस सिरोमनि होने।" (पद २३)।

'नीके कै निकाई देखि…'—इनकी निकाई भली-भाँति देखने में ही जन्म की सफलता है; यथा—"उर धीरजहि धरि जनम सफल करि…" (पद १६)—इसका विशेष देखिये।

'हम-सी भूरिभागिनि नभ न छोनी'; यथा—"पुन्यपुंज मग निकट-निवासी। तिन्हहिं सराहहिं सुरपुर-बासी॥ जे भरि नयन बिलोकहिं रामहिं। सीता लखन सहित घनस्यामहिं॥" (मा० अ० ११२); "एक कहहिं हम बहुत न जानहिं। आपुहि परम धन्य करि मानहिं॥ ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे। जे देखहिं देखिहहिं जिन्ह देखे॥" (मा० अ० ११६)। "जिन्ह जानकी राम छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेखी॥" (मा० बा० ३०६)।

'सोभा-सुधा पियैं…'; यथा—"सोभा सुधा आलि! अँचवहु करि नयन मंजु मृदु दोने॥" (पद २३); वन मार्ग में नये-नये पत्तों के कोमल दोनों की उपमा बहुत ही उपयुक्त है वन में दोनों में लोग जल पीते ही हैं। सुधा में तुष्टि-पुष्टि और अमरत्व रहता है, वैसे ही इनकी शोभा देखने में आँखों को परम सन्तोष होता है, दृष्टियों का अन्यत्र से वैराग्य होता है, यही बल का आना है; यथा—"जब उर बल बिराग अधिकाई॥" (मा० उ० १२१); और इनमें प्रेम होने से सदा के लिये मृत्युमय संसार से मुक्ति मिलती है, यह अमरत्व भी प्राप्त होता है। 'मृदु दोने' भाव यह कि कोमल दृष्टि से शोभा देखती हैं कि आँख के देवता सूर्य हैं, इतकी कड़ाई से रूप में ताप न लग जाय। 'स्वामी-स्वामिनि' इन दोनों की शोभा साथ-साथ देखने में शृंगाररस है। अतः, शोभा को सुधा कहना उत्तम है; तथा—"राम-सीय जस सलिल सुधा सम।" (मा० बा० ३६)। यहाँ 'रूपकालंकार' है।

[२३]

पथिक गोरे-साँवरे सुठि लोने।
संग सुतिय, जाके तन ते लही हैं दुति स्वर्न सरोरुह सोने॥१॥
बय-किसोर-सरि-पार मनोहर बयस-सिरोमनि होने।
सोभा सुधा, आलि! अँचवहु करि नयन मंजु मृदु दोने॥२॥

हेरत हृदय हरत, नहिं फेरत, चारु बिलोचन कोने।
तुलसी प्रभु किधौं प्रभु के प्रेम पढ़े प्रगट कपट-बिनु टोने ॥३॥

अर्थ—गोरे और साँवरे पथिक अत्यन्त सुन्दर हैं। इनके साथ एक सुन्दरी स्त्री है जिसके शरीर से ही सुवर्ण और लाल कमल ने द्युति पाई है ॥ १ ॥ किशोर-अवस्था रूप नदी से पार कर अब ये अवस्थाओं में शिरोमणि युवा-अवस्था वाले होने वाले हैं। ऐ आली ! अपने नेत्रों के सुन्दर और कोमल दोने बना कर इनकी शोभा रूप सुधा का पान करो ॥ २ ॥ ये अपने सुन्दर नेत्रों के कोने से भी देखते हुए हृदय का हरण कर (अपने में लगा) लेते हैं, फिर इसे लौटने नहीं देते। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि प्रभु श्रीरामजी अथवा इन प्रभु के प्रेम ने विना छिपाव का प्रत्यक्ष टोना पढ़ा है।

विशेष—'संग सुतिय' जाके ....'—यहाँ उपमान रूप सोने और सोने (लाल) कमल का उपमेय रूप 'जाके तन' इससे निरादर किया गया है। अतः, 'प्रतीप-अलङ्कार का द्वितीय भेद' है।

'वय किसोर सरि पार...'—इनकी नित्य ही किशोर अवस्था रहती है। अभी भी पूर्ण किशोर ही है। यह सखी होने वाली अगली अवस्था का अनुमान मात्र करती है, पर होगी नहीं, यही रहेगी। तथा—"बीती है बय किसोरी, जोवन होनी।" (पद २२)-वहाँ भी ऐसा ही भाव लगा लेना चहिये।

'सोभा-सुधा...'—उपर्युक्त पद के 'सोभा-सुधा पियैं...' इसका विशेष देखिये।

'हेरत हृदय हरत, नहिं फेरत...'; यथा—"चन्द्रकान्ताननं राममतीव-प्रियदर्शनम् ॥ रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम् ।" (वाल्मी० २।३ २८-२९); अर्थात् चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख वाले प्रियदर्शन श्रीरामजी जो अपने सौन्दर्य से पुरुषों की आँखें तथा उदारता आदि गुणों से चित्त का हरण कर लेते हैं। उपर्युक्त पद १८ के 'चारु चितवनि...बचन प्रिय सुनि...' इनके विशेष में चितवन के प्रमाण देखिये। 'नहिं फेरत'; यथा—"जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहिं करुना करि कीन्ह न कोहू ॥" (मा० बा० १२); "चितवत मोहिं लगी चौंधी सी जानौं न कौन कहाँ तें धौं आए ॥ मन गयो संग, सोचबस लोचन मोचत बारि, कितौ समुझाए।" (पद ३५); तुलसी

बिलोके चित्त लाइ लेत संग हैं।" (क० अ० १५) तथा—"कर बान सरासन, सीस जटा, सरसीरुह लोचन सोन सुहाए। जिन्ह देखे सखी! सयिभायहुँ तें तुलसी तिन्ह तौ मन फेरि न पाए। यहि मारग आजु किसोर बधू बिधुबैनी समेत सुभाय सिधाए॥" (क० अ० २४)।

'प्रभु किधौं प्रभु के प्रेम पढ़े...'—टोना छिपा कर किया जाता है, पर ये तो प्रत्यक्ष देखते-देखते सुन्दर नेत्रों के कोने से देखकर हृदय का हरण कर लेते हैं, यह इनमें अद्भुत कला है; यथा—"जेहि जेहि मग सिय-राम-लखन गए, तहँ-तहँ नर-नारि बिनु छर छरिगे।" (पद २२) 'प्रभु' पद उस अद्भुत सामर्थ्य का बोधक है जो दृष्टि के कोने मात्र से आकर्षित करते हैं। प्रभु एवं उनके प्रेम में भी वैसा ही प्रभुत्व है, इसी से दोनों में 'प्रभु' पद ही है।

[२४]

मनोहरता के मानो ऐन।
स्यामल-गौर किसोर पथिक दोउ, सुमुखि! निरखि भरि नैन॥१॥
बीच बधू बिधु-बदनि बिराजति उपमा कहँ कोउ है न।
मानहुँ रति-रितुनाथ सहित मुनिबेष बनायो है मैन॥२॥
किधौं सिंगार-सुखमा-सुप्रेम मिलि चले जग-चित-बित लैन।
अद्भूत त्रयी किधौं पठई है बिधि मग-लोगन्हि सुख दैन॥३॥
सुनि सुचि सरल सनेह सुहावने ग्राम-बधुन्ह के बैन।
तुलसी-प्रभु तरु तर बिलँबे किये प्रेम कनौड़े कैन॥४॥

अर्थ—अरी सुमुखि! आँख भर कर देख ले, ये दोनों किशोर-अवस्था वाले श्याम-गौर पथिक तो मानो मनोहरता के स्थान ही हैं॥ १॥ इन दोनों के बीच में एक चन्द्र-बदनी बहू विराज रही है, उसकी उपमा के योग्य कोई नहीं है; मानों रति और ऋतुराज वसन्त के साथ कामदेव ने ही मुनि वेष बनाया हो॥२॥ अथवा, शृंगार, परमा शोभा और सुन्दर प्रेम मिल कर (तीनों) जगत् का चित्त रूपी धन हरण करने चले हों; अथवा, विधाता ने मार्ग निवासियों को सुख देने के लिये अद्भुत त्रयी (तीन का समूह, त्रिगुड्ड—वेदत्रयी एवं वशीकरण आकर्षण और मोहनी—इनको मूर्त्तिमान कर) भेजी है॥ ३॥ उन ग्राम-बधूटियों के पवित्र, सरल, स्नेह युक्त और सुहावने वचन सुनकर तुलसीदास के प्रभु

श्रीरामजी एक वृक्ष के नीचे कुछ समय के लिये ठहर गये; क्योंकि आपको प्रेम करके किसने कनौड़ (कृतज्ञ एवं क्रीतदास) नहीं कर लिया ? ॥ ४ ॥

विशेष—'मानहु रति रितुराज···'—पहले कहा कि उपमा के योग्य कोई नहीं है, अब उत्प्रेक्षा द्वारा कुछ लक्ष्य कराते हैं। रति श्रीजानकीजी, वसंत श्रीलक्ष्मणजी और कामदेव श्रीरामजी; तथा—"बहुरि कहउँ छबि जसि मन बसई। जनु मधु मदन मध्य रति लसई ॥" (मा० अ० १२२)।

'किधौं सिंगार···'—श्रृंगार रूप श्याम वर्ण श्रीरामजी हैं। श्रृंगार श्याम वर्ण कहा गया है; यथा—"नारि बिलोकहिं हरषि हिय, निज-निज रुचि अनु-रूप। जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप ॥" (मा० बा० २४१); परमा शोभा रूपिणी श्रीजानकीजी हैं; यथा—"सुखमा की मूरति-सी, साथ निसिनाथ मुखी, नख-सिख अंग सब सोभा के सदन हैं।" (पद २६)। शोभा का गौर वर्ण होता है; तथा—"सुंदरता कहँ सुंदर करई। छबि गृह दीप सिखा जनु बरई ॥" (मा० बा० २२९); तथा सुप्रेम की मूर्त्ति श्रीलक्ष्मणजी हैं। प्रेमी अपने प्रियतम के विना नहीं रह सकता; वैसे ही इनकी वृत्ति है; यथा—"राम बिलोकि बंधु कर जोरे। देह-गेह सब सो तृन तोरे ॥" (मा० अ० ६९); तथा—"न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव। मुहूर्त्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ ॥" (वाल्मी० २।५३।३१); अर्थात् श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीरामजी से कहा है कि मैं और श्रीसीताजी एक क्षण भी आपसे पृथक् रह कर नहीं जी सकते, जैसे जल से पृथक् कर देने पर मछली नहीं जी सकती।

'अद्भुत त्रयी किधौं···'—त्रयी तीन मूर्त्तियों के समूह को कहते हैं, इसमें 'ऋक्, साम, और यजुः प्रायः कहे जाते हैं; यथा—"एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना···" (गीता ९।२१); तथा उपर्युक्त वशीकरण आदि तीन या ऐसा ही और भी ले सकते हैं। या, वन मार्ग के सुख देने के लिये ही इन तीन को ब्रह्मा ने बना कर ही भेजा है, स्वतंत्र रचा है।

यहाँ 'संदेह-अलङ्कार' है।

तीन उत्प्रेक्षाओं के द्वारा वर्ण्य विषय का आंशिक लक्ष्य कराया है।

'सुनि सुचि···तुलसी-प्रभु···'; यथा—"मैं कछु कहउँ एक बल मोरे। तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे ॥" (मा० बा० ३४१); "रामहिं केवल प्रेम

पियारा। जानि लेहु जो जाननिहारा।" (मा० अ० १३६); "भगति अव-सहिं बस करी।" (मा० अ० २५); "रघुपति भगत भगति बस अहहीं॥" (मा० अ० २६४)। 'प्रभु तरु तर बिलँबे किये'; यथा—"सुनि प्रिय बचन प्रीति अति देखी। राम कृपालु सुसील बिसेषी॥ जानी श्रमित सीय मन माहीं। घरिक बिलंब कीन्ह बट छाहीं॥" (मा० अ० ११४)—इसके आगे तीन दोहों में प्रेमवश हो प्रभु ने इनका सत्कार ग्रहण कर इन्हें विविध सुख दिया है।

[२५]

बय किसोर गोरे साँवरे धनु बान धरे हैं।
सब अँग सहज सोहावने, राजिव जिते नयननि, बदननि बिधु निदरे है॥१॥
तून-सुमुनिपट कटि कसे, जटा-मुकुट करे हैं।
मंजु मधुर मृदु मूरति, पानह्यौ न पायनि, कैसे धौं पथ बिचरे हैं ?॥२॥
उभय बीच बनिता बनी, लखि मोहिं परे हैं।
मदन सप्रिया सप्रिय सखा मुनि-बेष बनाए लिये मन जात हरे हैं॥३॥
सुनि जहँ-तहँ देखन चले अनुराग भरे हैं।
राम-पथिक छबि निरखि कै, तुलसी, मगलोगनि धाम-काम बिसरे हैं॥४॥

अर्थ—इन (पथिकों) की किशोर अवस्था है। एक साँवरे और दूसरे गोरे हैं, धनुष-बाण धारण किये हुए हैं। इन के सभी अंग स्वाभाविक (विना शृंगाराभूषण के) ही शोभायुक्त हैं। इनके नेत्रों ने लाल कमलों को जीत लिया है और मुखों ने चन्द्रमा का निरादर कर रक्खा है॥ १॥ ये कटि भाग में मुनियों के वस्त्र और तरकश कसे हुए हैं और इन्होंने जटाओं के मुकुट बना रक्खे हैं। इनकी सुन्दर, कोमल और मधुर मूर्त्ति हैं; परन्तु पावों में पनहियाँ (जूतियाँ) भी नहीं हैं, न जाने किस प्रकार ये इस (वन के कठोर एवं कंटका-कीर्ण) मार्ग में चल कर आये हैं॥ २॥ इन दोनों के बीच में एक स्त्री भली-भाँति सुसज्जित है, मुझे तो ये ऐसे देख पड़ते हैं; मानों कामदेव ही अपनी प्रिय स्त्री रति और प्रिय सखा वसन्त के साथ मुनि का वेष बनाये हुए मन का रण किये लिये जाता हो॥ ३॥ यह सुन कर अनुराग से भरे हुए लोग जहाँ-

तहाँ से देखने के लिये चल पड़े। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीराम पथिक की छबि को देख कर मार्ग के लोग अपने-अपने घर के काम भूल गये हैं ॥४॥

विशेष—'सब अंग सहज सोहानने'; यथा—"कागर-कीर ज्यों भूषन चीर सरीर लस्यो तजि नीर ज्यों काई।" (क० अ० २)। 'राजिव जिते…'; यथा—"नयन नवल-राजीव-लजावन।" (मा० बा० ३१५); तथा—"सरद-चंद-निंदक मुख नीके।" (मा० बा० २४२)। यहाँ इन दोनों राजीव और बिधु रूप उपमानों का उपमेयों के द्वारा निरादर हुआ है। अतः यहाँ 'प्रतीप अलङ्कार का द्वितीय भेद' है।

'तून सुमुनिपट…'; यथा—"मुनि पट कटिन्ह कसे तूनीरा। सोहहिं करकमलनि धनु तीरा॥ जटा मुकुट सीसनि सुभग, उर भुज नयन बिसाल।" (मा० अ० ११५)। 'मंजु मधुर मृदु…'; यथा—"पायँ पनह्यौ न, मृदु पंकज से पग हैं।" (पद २७); 'कैसे धौं मग बिचरे हैं?'; यथा—"पथिक पयादे जात पंकज से पाय हैं। मारग कठिन, कुस कंटक निकाय हैं॥…मग-लोग देखत करत हाय-हाय है।" (पद २८); "पंकज-से पगनि पानह्यौं न, परुष पंथ, कैसे निबहे हैं, निबहैं गे, गति नई है?।" (पद ३४)।

'उभय बीच बनिता…'—इनकी शोभा उत्प्रेक्षा द्वारा आगे कहते हैं—

'मदन सप्रिया सप्रिय सखा…'; यथा—"बीच बधू…मानहुँ रति रितुनाथ सहित मुनि बेष बनायो है मैन।" (पद २४)—ऊपर इसका विशेष देखिये। काम सब के मन का हरण करता है; यथा—"काम कुसुम धनु-सायक लीन्हें। सकल भुवन अपने बस कीन्हें॥" (मा० बा० २५६); वैसे ही ये भी सब के मन हरे लिये जाते हैं।

'सुनि जहँ-तहँ…राम पथिक छबि…'; यथा—"धाये धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी॥" (मा० बा० २१६); "रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे॥ (मा० अ० ११२)।

[२६]

कैसे पितु-मातु, कैसे ते प्रिय-परिजन हैं?
जग-जलधि ललाम, लोने-लोने, गोरे-स्याम,
जिन पठये हैं ऐसे बालकनि बन हैं॥ १॥

रूप के न पारावार, भूप के कुमार मुनि-बेष,
देखत लोनाई लघु लागत मदन हैं।
सुखमा की मूरति-सी, साथ निसिनाथ-मुखी,
नख-सिख अंग सब सोभा के सदन हैं॥ २॥
पंकज-करनि चाप-तीर, तरकस कटि,
सरद-सरोजहू ते सुंदर चरन हैं।
सीताराम-लखन निहारि ग्रामनारि कहैं,
हेरि, हेरि, हेरि! हेली हिय के हरन हैं॥ ३॥
प्रानहू के प्रान-से, सुजीवन के जीवन-से,
प्रेम हू के प्रेम, रंक कृपन के धन हैं।
तुलसी के लोचन-चकोरन के चंद्रमा-से,
आछे मन-मोर चित्त-चातक के घन हैं॥ ४॥

अर्थ—'(हे सखी!) वे माता और पिता कैसे हैं और वे प्यारे परिवार के लोग कैसे हैं, जिन्होंने संसार-समुद्र के रत्न रूप सुन्दर-सुन्दर गौर श्यामवर्ण के ऐसे बालकों को वन भेज दिये हैं? ॥१॥ इनके रूप के आर-पार (दोनों तट एवं सीमा) नहीं हैं, ये राजा के कुमार हैं, यद्यपि ये मुनिवेष में हैं, तथापि इनका लावण्य (सौंदर्य) देखकर तो कामदेव भी तुच्छ जान पड़ता है। इनके साथ परमाशोभा की मूर्त्ति-सरीखी एक चन्द्रमुखी स्त्री है, उसके नख से शिखा तक सभी अंग मानों शोभा के मन्दिर ही हैं ॥२॥ इनके कमल के समान हाथों में धनुष और बाण हैं तथा कटि भाग में तरकश हैं एवं शरद् ऋतु के कमल से भी अत्यन्त सुन्दर इनके चरण हैं'। इस प्रकार श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी को देखकर गाँवों की स्त्रियाँ कहती हैं—'हे अली! देखो, देखो, देखो, ये तो (अपनी शोभा से) हृदय का हरण करनेवाले हैं। ३॥ ये प्राणों के भी प्राण-सरीखे, सुन्दर जीवन के भी जीवन-सरीखे और प्रेम के भी प्रेम-सरीखे तथा रङ्कों और कृपणों के धन-सरीखे हैं। ये तुलसीदास के नेत्र रूप चकोरों के लिये चन्द्रमा के समान और मन रूपी मोर तथा चित्त रूपी चातक ही के लिये अच्छे (सजल नवीन) मेघ के समान हैं' ॥४॥

विशेष—'कैसे पितु मातु···'; यथा—''ते पितु-मातु कहहु सखि कैसे।

जिन्ह पठये बन बालक ऐसे ॥" (मा० अ० ११०)। 'जग जलधि ललाम'; यथा—"प्रमुदित हृदय सराहत भल भव-सागर। जहँ उपजहिं अस मानिक, बिधि बड़ नागर ॥" (जानकी मंगल २६)—यह श्रीरामजी के प्रथम दर्शन पर श्रीजनकजी ने कहा है; तथा—"तीय रतन तुम उपजिहु भव-रतनाकर ॥" (पार्वती मंगल २७)।

'रूप के न पारावार'; यथा—"सील-सुधा के अगार, सुखमा के पारावार, पावत न पर पार पैरि-पैरि थाके हैं।" (बा० ६४), पारावार के अर्थ 'दोनों तट' और 'समुद्र' दोनों होते हैं। प्रसंगानुसार लगाया जाता है। 'भूप के कुमार'—धनुषबाण धारण एवं राज-लक्षणों से राजकुमार कहा गया है।

'मुनि बेष देखत लोनाई···'—मुनि वेष शान्तरस पूर्ण है, तथापि इनमें तो ऐसा लावण्य है कि कामदेव इनके समक्ष तुच्छ लगता है। इसी पर तो दण्डक वन के ऋषि भी मोहित हो गये हैं; यथा—"रूप संहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम्। ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः॥ वैदेहीं लक्ष्मणं रामं नेत्रैरनिमिषैरिव। आश्चर्यभूतान्ददृशुः सर्वे ते वनवासिनः॥" (वाल्मी० ३। १।१३–१४); अर्थात् वनवासी श्रीरामजी का सुडौल शरीर, सुन्दरता, सुकुमारता तथा सुवेषता देखकर वे विस्मित हो गये। वनवासी ऋषि तथा पशु-पक्षी आदि भी निमेष-रहित नेत्रों से श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी को देखकर आश्चर्य रूप में देखने लगे (कि ये ऐसे सुन्दर दिव्य शरीरवाले वन में क्यों फिरते हैं ?)। तथा—"नीले-पीले कमल-से कोमल कलेवरनि तापस हूँ, वेष किये काम कोटि फीके हैं॥" (पद ३०)।

'सुखमा की मूरति-सी···'; यथा—"किधौं सिँगार-सुखमा-सुप्रेम मिलि···" (पद २४); इसका विशेष देखिये। तथा पद २१-२२ देखिये।

'लघु लागत मदन हैं' और 'सरद-सरोजहू ते सुंदर चरन हैं' इनमें 'प्रतीप-अलंकार का द्वितीय भेद' है।

'सीता-राम-लखन···हेरि-हेरि-हेरि····'—इसमें 'हेली' इसका 'हे अली' यह अर्थ है। यहाँ 'सीता-राम-लखन' इन तीन को देखने के लिये तीन बार देखने को कहा गया है। अथवा, हर्ष से तीन बार कहा गया है। अतः, यहाँ हर्ष में 'वीप्सा' है।

'प्रानहू के न-से···'; यथा—"प्रान प्रान के जीव के, जिव, सुख के सुख राम।" (मा० अ० २९०); तथा—"राम प्रान-प्रिय जीवन जी के। स्वारथ-रहित सखा सबही के॥" (मा० अ० ७३)। 'रंक-कृपन के धन हैं'; यथा—"मन माधव को नेकु निहारहि। सुनु सठ सदा रंक के धन ज्यों छन-छन प्रभुहि सँभारहि॥" (वि० ८५)।

'लोचन चकोरन के···'; यथा—"मुनि समूह महँ बैठे, सनमुख सब की ओर। सरद इंदु तन चितवत, मानहुँ निकर चकोर॥" (मा० अर० १२); तथा—"बाल चरितमय चंद्रमा यह सोरह कला निधान। चित चकोर तुलसी कियो करै प्रेम अमिय रस पान॥ तुलसी को जीवन रामलला।" (बा० २२); एवं—"अवलोकत मग लोग चहूँ दिसि, मनहुँ चकोर चंद्रमहि घेरत॥" (पद १४) देखिये।

'आछे मन मोर चित चातक के घन हैं'; यथा—"मधुप मराल मोर चातक ह्वै लोचन बहु प्रकार धावहिं गे। अंग-अंग छबि भिन्न-भिन्न सुख निरखि-निरखि जहँ-तहँ छावहिं गे॥" (सुं० १०); इसमें प्रभु के श्याम मेघ समान शरीर और तड़िद्वर्ण उनके पीताम्बर को देखकर नेत्रों का मयूर रूप से नाचना एवं चातक रूप से विशेष आनंदित होना कहा गया है। इनमें लगकर मनरूपी मोर कामादि उरगों (सर्पों) का भक्षण कर पचा जायगा, तब चित्त रूप चातक अनन्य होकर रूप रूपी स्वातिबुंद का आनन्द ध्यान द्वारा प्राप्त करेगा। इस प्रकार के मन और चित्त से जीव कृतार्थ होगा, यहाँ 'रूपक अलंकार' है।

राग भैरव

[२७]

देखि ! द्वै पथिक गोरे-साँवरे सुभग हैं।
सुतिय सलोनी सँग सोहत सुमग हैं॥ १॥
सोभा-सिंधु-संभव-से नीके-नीके नग हैं।
मातु-पितु भाग बस गए परि फँग हैं॥ २॥
पाइ पनह्यो न मृदु पंकज-से पग हैं।
रूप की मोहिनी मेलि मोहे अग-जग हैं॥ ३॥

मुनि-वेष धरे धनु-सायक सु लग हैं।
तुलसी हिये लसत लोने-लोने डग हैं॥ ४॥

शब्दार्थ—सुलग=पास, समीप। डग (डेग)=फाल, चाल, कदम।

अर्थ—'अरी सखी! देख, साँवरे और गोरे दो बटोही बड़े सुन्दर जा रहे हैं। इनके साथ में एक बड़ी सुन्दरी और सलोनी स्त्री भी है, ये सुंदर मार्ग में शोभायमान हैं॥ १॥ ये शोभा रूपी समुद्र से उत्पन्न हुए अच्छे-अच्छे रत्न के समान हैं। माता-पिता के भाग्यवश ये उनके फन्दे में पड़ गये हैं॥ २॥ कोमल कमल के समान तो इनके चरण हैं, परन्तु इन चरणों में पनही (जूती) भी नहीं है। इन्होंने अपने रूप की मोहनी डाल कर स्थावर और जंगम रूप सारे संसार को मोहित कर लिया है॥ ३॥ इन्होंने मुनियों का-सा वेष धारण किया है, परन्तु इसके पास धनुष-बाण भी हैं'। तुलसीदास के हृदय में तो इनके सुन्दर-सुन्दर फाल विराजमान हैं॥ ४॥

विशेष—'सोभा सिंधु-संभव...'—जैसे क्षीर समुद्र से १४ रत्न निकले थे, वैसे ही ये शोभा समुद्र के रत्नों में भी तीन अच्छे-अच्छे रत्न हैं। यहाँ 'रूपक अलंकार' है। 'मातु-पितु भागबस...'—भाग्यवश ही इनके माता-पिता ने इन्हें पाया है, फिर भी ये तो उनके फन्दे में ही फँस गये हैं। सुयोग्य माता-पिता को मिले होते तो वे इनका लालन-पालन करते। परन्तु इनके माता-पिता ने तो इन्हें वन भेज दिया है। अतः, ये तो उनके फन्दे में ही पड़ गये हैं, इसी से मर्याद में बँधे हुए उनकी आज्ञा-पालन में ऐसे कष्ट झेल रहे हैं—

'पाइ पनह्यो न...'—; यथा—"पानही न, चरन-सरोजनि चलत मग, कानन पठाए पितु मातु कैसे ही के हैं॥" (पद ३०); तथा—"मंजु मधुर मृदु मूरति, पानह्यो न पायनि, कैसे धौं पथ बिचरे हैं?॥" (पद २५)—इसका विशेष भी देखिये। ऐसे कोमल चरणों से वन की भूमि में और बिना जूतियों के चलने में इन्हें अत्यन्त कष्ट सहन करना पड़ रहा है।

'रूप की मोहिनी...'; यथा—"जिन्ह निज रूप मोहनी डारी। कीन्हे स्व-बस नगर नर नारी॥" (मा० बा० २२८)। 'मोहे अग-जग हैं'—जंगम के मोहित होने के उदाहरण बहुत आ गये हैं। स्थावर के मोहित होने के उदाहरण; यथा—"परसि चरन रज अचर सुखारी। भए परमपद के अधिकारी॥"

(मा० अ० १३८); "परसि राम-पद-पदुम परागा। मानति भूमि भूरि निज भागा ॥ छाँह करहिं घन…" (मा० अ० ११२–११३)। तथा वाल्मी० २।४११०–१३ में नक्षत्रों एवं दिशाओं का राम-वनयात्रा पर मलिन होना कहा गया है। तथा—"विषये ते महाराज महाव्यसनकर्शिताः। अपि वृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पाङ्कुरकोरकाः ॥ उपतप्तोदका नद्यः पल्लवानि सारांसि च। परिशुष्कपलाशानि वनान्युपवनानि च ॥" (वाल्मी० २।५९।४–५); अर्थात् श्रीसुमंत्रजी ने राजा दशरथ से श्रीराम वन यात्रा पर दुःखित अचरों की बात कही है कि महाराज! आपके देश में पुष्प, अंकुर और कली के साथ वृक्ष भी इस बड़े दुःख से दुःखी हुए हैं। अतएव वे मुरझा गये हैं। नदियों और छोटे-बड़े तालाबों के जल सूख गये हैं, वन और बाग के पत्ते सूख गये हैं, तथा—"बागन्ह बिटप बेलि कुँभिलाहीं। सरित सरोवर देखि न जाहीं ॥" (मा० अ० ८२)।

'मुनि बेष धरे…'; यथा—"किए मुनि वेष बीर, धरे धनु तून तीर, सोहैं मग…" (पद २०)। 'सुलग हैं' इसका अर्थ 'सुंदर लगते हैं' ऐसा अर्थ भी श्री हरिहर प्रसादजी ने किया है। 'लोने-लोने डग हैं'—चलने की विशेष रीति आगे ३१ में भी देखिये। यहाँ तो केवल चरणों की सुन्दर-सुन्दर गतियों पर ही ग्रन्थकार मुग्ध हैं।

[२८

पथिक पयादे जात पंकज-से पाय हैं।
मारग कठिन, कुस-कंटक-निकाय हैं ॥ १ ॥
सखी! भूखे-प्यासे, पै चलत चित चाय हैं।
इन्हके सुकृत सुर-संकर सहाय हैं ॥ २ ॥
रूप-सोभा-प्रेमके-से कमनीय काय हैं।
मुनि बेष किये किधौं ब्रह्म जीव माय हैं ॥ ३ ॥
बीर, बरियार, धीर, धनुधर-राय हैं।
दसचारि-पुर-पाल आली उरगाय हैं ॥ ४ ॥
मग-लोग देखत करत हाय-हाय हैं।
बन इनको तो बाम बिधि के बनाय हैं ॥ ५ ॥

धन्य ते जे-मीन-से अवधि-अंबु-आय हैं।
तुलसी-प्रभु सों जिन्हहूँ के भले भाय हैं॥ ६॥

शब्दार्थ—उरगाय (ऊरुगाय)=विष्णु भगवान् के। बनाय हैं (बनाय के हैं)=बहुत ही अधिक हैं।

अर्थ—ये बटोही पैदल ही चले जा रहे हैं, इनके कमल-सरीखे चरण हैं और मार्ग बड़ा कठिन है, इसमें कुश की नुकीली डाभें और समूह काँटे भरे पड़े हैं (इसमें ये कैसे निबहेंगे)॥ १ ॥ हे सखी! यद्यपि ये भूखे और प्यासे हैं तथापि उत्साह भरे चित से चल रहे हैं। (जान पड़ता है कि) इनके पुण्य-प्रभाव से देवता और श्रीशिवजी सहायक हैं॥२॥ ये मूर्तिमान रूप, शोभा और प्रेम के सरीखे सुन्दर शरीर वाले हैं। अथवा, ये मुनिवेष धारण किये हुए ब्रह्म, जीव और माया ही हैं॥ ३ ॥ ये वीर, बलवान्, धैर्यवान् और धनुर्धारियों में अग्रगण्य हैं। अथवा, हे आली! ये चौदहों भुवनों का पालन करने वाले विष्णु ही हैं॥ ४ ॥ मार्ग के लोग तो इनको देखते ही 'हाय! हाय!!' करते हैं और कहते कि 'यदि इनको भी वनवास हुआ है तो ब्रह्मा बहुत ही अधिक ठेढ़ा है॥ ५ ॥ वे लोग धन्य हैं, जिनकी आयु इनके लौटने की अवधि रूप जल के आधार पर मछली की-सी चल रही है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि हमारे प्रभु में जिनके अच्छे भाव हैं, वे भी धन्य हैं॥ ६ ॥

विशेष—'पथिक पयादे जात…मारग कठिन…'; यथा—"पाइ पात रह्यो न…" (पद २७)—इसका विशेष देखिये।

'भूखे प्यासे, पै चलत….'—भूखा-प्यासा व्यक्ति उत्साहपूर्वक चित्त से नहीं चल सकता, प्रत्युत् उसमें विवर्णता आ जाती है, पर इनमें नहीं आई, इसका कारण कहती है कि इनके पूर्व के पुण्य-प्रभाव से देवता एवं देवों में भी श्रेष्ठ महादेव सहायक हैं, इससे इनके शरीरों मैं दिव्यता आ गई है।

वस्तुतः ये तीनों दिव्य शरीर हैं, क्योंकि दिव्य शरीर से ही प्रकट हुए हैं और इन्हीं शरीरों के साथ परधाम भी गये हैं। इसीसे इनमें विवर्णता नहीं आती। ग्रीष्म की तपन में किष्किंधा के वन में चलते देखकर श्रीहनुमान्‌जी को भी आश्चर्य हुआ है और फिर उन्होंने इनकी देवों में ही कल्पना की है।

'रूप-सोभा-प्रेमके-से…'; यथा—"किधौं सिंगार-सुखमा-सुप्रेम मिलि

चले जग चित-बित लैन।" (पद २४)—इसका विशेष भी देखिये। केवल वहाँ के श्रृंगार के स्थान पर यहाँ 'रूप' है। रूप की सजावट ही श्रृंगार है। यहाँ मूर्तिमान रूप के समान श्रीरामजी, शोभा के समान श्रीजानकीजी और प्रेम के समान श्रीलक्ष्मणजी हैं। यहाँ 'पूर्णोपमा-अलङ्कार' है।

'मुनिवेष किये किधौं ब्रह्म-जीव-माय हैं'; यथा—"आगे राम लखन बने पाछे। तापस बेष बिराजत काछे॥ उभय बीच सिय सोहति कैसे। ब्रह्म जीव बिच माया जैसे॥" (मा० अ० १२२); तथा—"आगे राम अनुज पुनि पाछे। मुनिबर बेष बने अति काछे॥ उभय बीच श्री सोहइ कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी॥" (मा० अर० ६)। यहाँ श्रीरामजी ब्रह्म, श्रीलक्ष्मणजी जीव और श्रीजानकीजी माया रूप कही गई हैं। यहाँ 'सन्देहालंकारगम्योत्प्रेक्षा से पुष्ट' है। श्रीरामजी साक्षात् ब्रह्म हैं और श्रीलक्ष्मणजी भी उनके नित्य परिकर रूप में नित्य जीव ही हैं। श्रीरामजी से अभिन्न तत्त्व श्रीजानकी उनकी आदिशक्ति हैं। इनमें कृपा श्रीरामजी की अपेक्षा भी कहीं अधिक है—पद २० के 'प्रभु-कृपा की मूरति फिरि···'इसका विशेष देखिये। इसी कृपा की प्रधानता से ये माया भी कही जाती हैं; यथा—"आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥" (मा० बा० १५१)। 'माया दम्भे कृपायाञ्च' इस कोष प्रमाण से माया और कृपा शब्द पर्यायी हैं। जैसे आनन्द गुण की प्रधानता से ब्रह्म आनन्द संज्ञा से कहा जाता है; यथा—"स एको ब्रह्मण आनन्दः" (तैत्त० २।८); इस श्रुति में ब्रह्म आनन्दगुणक कहा गया है। पुनः आगे—"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्॥ न बिभेति कुतश्चनेति॥" (तैत्त० २।६)—इसमें ब्रह्म को आनन्द संज्ञा से भी कहा गया है। इस प्रकार यहाँ यह उत्प्रेक्षा बहुत ही युक्त है।

'वीर, बरियार, धीर···'—इन वीरता आदि गुणों एवं धनुर्बाण से असुरों का संहार कर संसार की रक्षा करेंगे। अतएव जगत् के पालक विष्णु भगवान् की उत्प्रेक्षा की है; यथा—"करनि वर धनु तीर···" (पद १८)—इसका विशेष भी देखिये। रावणादि के वध से तीनों लोकों एवं चौदहो भुवनों की रक्षा होगी; यथा—"दसमुख-बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाए नाक चना है। सुबस बसे गावत जिनके जस अमर-नाग-नर-सुमुखि सना हैं॥"

(उ० १३)। 'उर गाय'; यथा—"दास तुलसी कहत मुनि गन, जयति जय उरगाय ॥" (वि० २२०)—इसमें पालन करने के उपलक्ष में ऐसा कहा गया है (यहाँ भी 'गम्योत्प्रेक्षा' है ।)

'बन इनको तो बाम....'; यथा—"सहित बिषाद परस्पर कहहीं। बिधि करतब उलटे सब अहहीं। निपट निरंकुस निठुर निसंकू। जेहि ससि कीन्ह सरुज सकलंकू ॥ रुख कलपतरु सागर खारा। तेहि पठये बन राजकुमारा॥" (मा० अ० ११८)।

'धन्य ते जे मीन से...'—श्रीराम वियोग में श्रीअवधवासी ऐसे धन्य हैं; यथा—"अवधि अंबु प्रिय-परिजन मीना। तुम्ह करुनाकर धरमधुरीना॥ अस बिचारि सोइ करहु उपाई। सबहि जियत जेहि भेंटहु आई॥" (मा०अ०५६)-यह श्रीकौसल्याजी ने कहा है। तथा—"रहा एक दिन अवधि कर, अति आरत पुर लोग। जहँ तहँ सोचहिं नारि नर, कृसतन राम-बियोग॥" (मा०उ०१)। 'प्रभु सों जिन्हहूँ के भले भाय हैं'; यथा—"सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत-पूज्य सुपुनीत। श्रीरघुबीर-परायन, जेहि नर उपज बिनीत॥" (मा०उ०१२७)।

राग आसावरी

[२६]

सजनी ! हैं कोउ राजकुमार।
पंथ चलत मृदु-पद-कमलनि दोउ सील-रूप-आगार ॥१॥
आगे राजिव नयन स्याम तन सोभा अमित अपार।
डारौं वारि अंग-अंगनि पर कोटि-कोटि सत मार ॥२॥
पाछे गौर किसोर मनोहर, लोचन-बदन उदार।
कटि तूनीर कसे, कर सर-धनु, चले हरन छिति भार ॥३॥
जुगल बीच सुकुमारि नारि एक राजति बिनहिं सिंगार।
इंद्रनील, हाटक, मुकुतामनि जनु पहिरे महि हार ॥४॥
अवलोकहु भरि नैन, बिकल जनि होहु, करहु सुबिचार।
पुनि कहँ यह सोभा, कहँ लोचन, देह-गेह-संसार ? ॥५॥
सुनि प्रिय बचन चितै हित कै रघुनाथ कृपा-सुखसार।
तुलसिदास प्रभु हरे सबन्हि के मन, तन रहि न सँभार ॥६॥

अर्थ—हे सजनी ! ये कोई राजकुमार हैं, जो मार्ग में अपने कोमल चरण कमलों से (पैदल) चल रहे हैं, ये दोनों शील और रूप के स्थान ही हैं ॥१॥ आगे लाल कमल के समान नेत्रवाले और श्याम शरीरवाले राजकुमार हैं, इनकी शोभा अपरिमित और अपार है, इनके एक-एक अङ्ग पर मैं सैकड़ों करोड़-करोड़ कामदेव निछावर करती हूँ ॥२॥ और पीछे गौर वर्ण किशोर अवस्थावाले मनोहर राजकुमार हैं, इनके नेत्र और मुख बड़े ही सुन्दर हैं। दोनों कटिभाग में तरकश कसे हुए हैं और हाथों में धनुष तथा बाण धारण किये हैं। दोनों ही पृथिवी का भार-हरण करने चले हैं ॥३॥ दोनों के बीच में एक सुकुमारी स्त्री है, वह विना श्रृङ्गार किये हुई ही सुशोभित हो रही है। (ये तीनों मार्ग में चलते हुए ऐसे जान पड़ते हैं) मानों पृथिवी इन्द्रनीलमणि (नीलम), सोना और मोती का (मार्ग रूप सूत्र में पोहा हुआ) हार पहने हुए है ॥४॥ इन्हें नेत्र भर कर देख लो, व्याकुल मत होओ, थोड़ा सुन्दर बिचार तो करो (सौभाग्य से ही यह शोभा हमारे इन तुच्छ भाग्यवाले नेत्रों को प्राप्त हुई है) क्या फिर इसका संयोग हो सकता है ? कहाँ यह शोभा और कहाँ ये तुच्छ नेत्र ? तथा कहाँ यह देह-गेह (की आसक्ति का विलास रूप यह) संसार ? ॥५॥ उसके इन प्रिय वचनों को सुनकर कृपा और सुख के सार स्वरूप श्रीरघुनाथजी ने उसकी ओर प्रीतिपूर्वक देखा। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि साथ ही प्रभु (परम समर्थ) श्रीरामजी ने सब के मन हर लिये, यहाँ तक कि उन्हें अपने अपने शरीर की भी सँभाल न रही।

विशेष—'हैं कोउ''पंथ चलत'—अत्यन्त कोमल चरणों से ये कैसे चल रहे हैं ? ये तो शील और रूप के आगार हैं। अतः, सुख के योग्य हैं, इस भाव से इसने कथन प्रारंभ किया है—पद २७ के 'पाइ पानह्यो न···' इसका विशेष भी देखिये।

'आगे राजिव नयन''डारौं वारि···'; यथा—"श्रीरामचंद्र कृपाल··· नव कंज लोचन, कंजमुख, कर कंज, पद कंजारुनं।" (वि० ४५); तथा— "कुँवर साँवरो री सजनी''रोम-रोम छवि····" (पद १७)—इसका विशेष देखिये।

'पाछे गौर किसोर मनोहर····'; यथा—"गौर किसोर बेष बर काछे।

कर सर चाप राम के पाछे ॥ लछिमन नाम राम लघु भ्राता।" (मा० बा० २२०)। उदार शब्द में श्रेष्ठ एवं सुन्दर सभी भाव हैं। अतः, यहाँ सुन्दर अर्थ लिया है। वा, लोचन मनोहर और मुख उदार (प्रसन्न एवं प्रफुल्ल) है। ऐसा भी अर्थ हो सकता है।

'कटि तूनीर···'—यह चरण दोनों की छबि का वर्णन करके अन्त में कहा गया है, इसमें दोनों भाइयों के शस्त्र धारण का अर्थ करना उपयुक्त है; अन्यथा श्रीरामजी के शस्त्रों का वर्णन ही नहीं रहता। 'चले हरन छिति भार'-शस्त्र कहकर उसका कार्य भी साथ ही कहती है; यथा—"करनि बर धनु तीर···" (पद १८); तथा—"बीर बरियार धीर····" (पद २८)-इनके विशेष देखिये। एवं—"श्रुति सेतुपालक राम तुम्ह···जो सहससीस अहीस··· सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर अनी ॥" (मा० अ० १२५)

'जुगल बीच···इंद्रनील हाटक···'; यथा—"बीच बधू बिधु बदनि बिराजति···" (पद २४); "साँवरे गोरे किसोर····उभय अंतर एक नारि सोही।···" (पद १९)—इनके विशेष देखिये। यहाँ नीलम श्रीरामजी, स्वर्ण वर्णा श्रीजानकीजी और मोती रूप श्रीलक्ष्मणजी क्रम से मार्ग रूपी तागे में मानों पोहे हुए हैं। यहाँ 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

'अवलोकहु भरि नैन···'; यथा—"उर धीरजहि धरि, जनम सफल करि, सुनहि सुमुखि जनि बिकल होही। को जाने कौने सुकृत लह्यो है लोचन लाहु···" (पद १८)—इसका विशेष देखिये। 'करहु सुविचार' ऐसा कहकर विचारने का विषय साथ ही कहती है—

'पुनि कहँ यह सोभा····'; यथा—"कहँ हम लोक-बेद-बिधि हीनी। लघु तिय कुल-करतूति मलीनी ॥ बसहिं कुदेस कुगाँव कुबामा। कहँ येह दरस पुन्य परिनामा ॥" (मा० बा० २२२)। इनके दर्शन रूप पुण्य के प्रभाव से भव-भय निवृत्त हो जायगा; यथा—"मम दर्शन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा ॥" (मा० अर० ३५); "जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जे चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे ॥ ते सब भये परमपद जोगू।" (मा० अ० २१६)। यह दुर्लभ दर्शन इन नेत्रों को भाग्य से सुलभ हो गया है। यदि इनके दर्शन में व्याकुलता से त्रुटि रह गई तो फिर वही 'देह-गेह संसार' बना रहा। भला,

विचारो तो कहाँ इनके दर्शन से परमपद का सुख और कहाँ इस 'देह-गेह-संसार' की बार-बार जन्म-मरण वाली चौरासी लाख योनियों एवं नरकों की यातना? तथा—"अनविचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी।" (वि० १२१); "जिव जब ते हरि ते बिलगान्यो। तब ते देह-गेह निज जान्यो॥ मायाबस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते दारुन दुख पायो॥" (वि० १३६); "मैं तें अब जान्यो संसार।···तेरे लिये जनम अनेक मैं फिरत न पायों पार। महामोह-मृगजल-सरिता महँ बोरयो हौं बारहिं बार॥" (वि० १८८)

'सुत-वित-देह-गेह-नेह (स्नेह) इति जगत' यह प्रसिद्ध है। इसमें देह में सुत आदि का और गेह में वित्त का अन्तर्भाव मानकर श्रीगोस्वामीजी ने सर्वत्र 'देह-गेह' को ही संसार माना है। देह की आसक्ति में सुत आदि और गेह की आसक्ति में वित्त आदि आ ही जाते हैं। इन्हीं की आसक्ति में संसार के जन्म-मरण एवं नाना दुःखों की प्रवृत्ति रहती है। ऊपर उदाहरण लिखा गया है कि हरि से पृथक् अपनी सत्ता मानने पर देह-गेह में आसक्ति हुई, यही मायावश होना हुआ और इसी में स्वरूप विस्मृति हुई। फिर इसी भ्रम से नाना दुःख मिल रहे हैं। मा० बा० ११७ के 'सिद्धान्त-तिलक' में इस पर विशेष विवेचना देखिये।

'सुनि प्रिय बचन···प्रभु केरे सबन्हि के···'; यथा—"बचन प्रिय सुनि श्रवन राम करुनाभवन चितै सब अधिक हित-सहित ओही। दास तुलसी नेह-बिबस बिसरी देह जान नहिं आपु तेहि काल धौं को ही॥" (पद १८); तथा—"सनेह सिथिल सुनि बचन सकल सिया, चितई अधिक हित सहित ओही···हिये लियो है पोही॥" (पद २०)—इनके विशेष भी देखिये। इसने प्रभु की कीर्त्तन भक्ति की शेष ने श्रवण भक्ति की, इससे सब पर कृपा हुई।

राग टोड़ी

[३०]

देखु री सखी! पथिक नख-सिख नीके हैं।
नीले पीले कमल-से कोमल कलेवरनि,
तापसहूँ बेष किये काम कोटि फीके हैं॥ १॥

सुकृत-सनेह-सील-सुखमा-सुख सकेलि,
बिरचे बिरंचि किधौं, अमिय अमी के हैं।
रूप की-सी दामिनी सुभामिनी सोहति संग,
उमहुँ रमा तें आछे अँग-अँग ती के हैं॥ २॥
बन-पट कसे कटि, तून-तीर-धनु धरे,
धीर बीर पालक कृपाल सब ही के हैं।
पानह्यौं न चरन-सरोजनि चलत मग,
कानन पठाए पितु-मातु कैसे ही के हैं॥ ३॥
आली अवलोकि लेहु, नयननि को फल येहु,
लाभ के सुलाभ, सुख जीवन-से जी के हैं।
धन्य नर-नारि जे निहारि बिनु गाहक हूँ,
आपने आपने मन मोल बिनु बीके हैं॥ ४॥
बिबुध बरषि फूल हरषि हिये कहत,
ग्राम लोग मगन सनेह सिय-पी के हैं।
जोगी जन-अगम दरस पायो पाँवरनि,
मुदित बचन सुनि सुरप-सची के हैं॥ ५॥
प्रीति के सुबालक-से लालत सुजन मुनि,
मग चारु चरित लखन-राम-सी के हैं।
जोग न बिराग-जाग, तप न तीरथ त्याग,
एही अनुराग भाग खुले तुलसी के हैं॥ ६॥

अर्थ—अरी सखी! देख, ये पथिक तो नख से शिखा तक सुंदर हैं। नीले और पीले कमलों के समान कोमल शरीरों में तपस्वियों का-सा वेष बनाये रहने पर भी (इनकी छटा पर) करोड़ों कामदेव फीके लगते हैं॥ १॥ पुण्य, स्नेह, शील, परमा शोभा और सुख - इन सबको एकत्र करके विधाता ने इन्हें बनाया है; अथवा, ये अमृत के भी अमृत हैं। इनके साथ बिजली के समान रूप की एक सुन्दरी स्त्री शोभायमान है। उस स्त्री के अंग-अंग (अर्थात् सभी अंग) श्रीपार्वतीजी और श्रीलक्ष्मीजी से अच्छे हैं॥ २॥ ये वन के बल्कल आदि वस्त्रों से कटि भाग में तरकश कसे हुए हैं और बाण तथा धनुष धारण

किये हुए धैर्यवान् वीर, कृपालु एवं सभी का पालन करने वाले हैं। इनके चरण कमल के समान कोमल हैं, उनमें पनही (जूती) भी नहीं है, फिर भी पैदल मार्ग में चल रहे हैं। जिन्होंने इन्हें वन भेजा है, भला, वे माता और पिता न जाने कैसे (निष्ठुर) हृदय के हैं ? ॥ ३ ॥ अरी आली ! देख ले, नेत्रों का फल यही है। यही लाभ का भी लाभ है और जीव के सुखमय जीवन के समान है। वे स्त्री-पुरुष धन्य हैं, जो इन्हें देखकर इनके ग्राहक हुए बिना भी अपने-अपने मन से ही बिना मोल (इनके हाथ) बिक गये हैं ॥ ४ ॥ ऐसा देवगण फूल वर्षा करके अपने हृदय में कहते हैं। ग्राम के लोग श्रीसीताजी के स्वामी श्रीरामजी के स्नेह में निमग्न हैं, वे लोग—'योगिजनों को भी जो दर्शन अगम है, वह इन पामरों ने पा लिया।'—इन्द्र और इन्द्राणी के ये वचन सुनकर आनन्दित हैं ॥ ५ ॥ श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी के वन मार्ग के सुन्दर चरितों को अच्छे भक्त एवं मुनि प्रीति के सुन्दर बालकों के समान लालन (लाड़-प्यार) करते हैं ; अर्थात् जैसे पिता-माता प्रीति के पुतले रूप बालक का लाड़-प्यार करते हैं, वैसे ये इन चरितों में प्रेम करते हैं,) योग, विराग, यज्ञ, तपस्या और तीर्थाटन एवं त्याग के बिना भी इन्हीं चरितों के अनुराग से इस तुलसीदास के भी भाग्य खुल गये हैं (यह प्रत्यक्ष-प्रमाण है) ॥ ६ ॥

विशेष—'पथिक नख सिख नीके हैं'; यथा—"रूप के न पारावार,··· ···नख-सिख अंग सब सोभा के सदन हैं।" (पद २६)—इसका विशेष देखिये। आगे इस निकाई का कुछ वर्णन करते हैं—

'नीले पीले···फीके हैं' यथा—"मुनि बेष देखत लोनाई···" (पद २६) —इसका विशेष देखिये। यहाँ भी 'प्रतीप अलंकार का द्वितीय भेद' है।

'सुकृत सनेह सील···'—भाव यह कि इनका रूप वैभव संसार-भर के पुण्यों का फल स्वरूप है, इनमें परस्पर स्नेह लोकोत्तर है तथा इनमें शील (सद्वृत्ति), परमाशोभा एवं हार्दिक सुख—ये सब लोकोत्तर हैं। तथा—"सीय-मातु किमि जाइ बखानी ॥ सुजस सुकृत सुख सुंदरताई। सब समेटि बिधि रची बनाई ॥" (मा० बा० ३२३); "कन्या, कल कीरति, बिजय बिस्व की बटोरि कैधौं करतार इन्हहीं को निरमई है।" (बा० ८६) 'किधौं अमिय अमी के हैं'—अमृत के सार रूप अमृत हैं। अमृत पीने वाले देवता भी मृत्युमय संसार में

जन्मते-मरते हैं, परन्तु इनमें अनुराग होने से जन्म-मरण से जीव छूट जाता है। अतः, ये अमृत के भी अमृत हैं। यहाँ 'संदेह अलङ्कार' है।

'रूप की-सी दामिनी''संग'; यथा—"यथा—"उभय-अंतर एक नारि सोही।......राजति तड़ित निज सहज बिछोही॥" (पद १९); देखिये।

'उमहुँ रमा ते आछे...'; यथा—"गिरा मुखर तनु अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी॥ बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिय रमा सम किमि बैदेही॥" (मा० बा० २४६)।

'बन पट कसे कटि...'—इस चरण में शस्त्र धारण और फिर इनसे आश्रितों पर कृपा कर उनका पालन करना कहा गया है; यथा—"कटि तूनीर कसे, कर सर धनु, चले हरन छिति भार।" (पद २९)—इसका विशेष देखिये।

'पानह्यौं न...'; यथा—"पाइ पनह्यो न..." (पद २७); तथा—"मंजु मधुर मृदु मूरति, पानह्यौ न पायनि..." (पद २५)—इनके विशेष देखिये। एवं—"ते पितु मातु कहौ सखि कैसे। जिन्ह पठये बन बालक ऐसे॥" (मा० बा० ११०); "रानी मैं जानी अजानी महा, पबि पाहनहू ते कठोर हियो है। राजहु काज अकाज न जान्यो, कह्यो तिय को जिन कान कियो है॥ ऐसी मनोहर मूरति ये, बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो है?। आँखिन में, सखि राखिबे जोग, इन्हें किमि कै बनवास दियो है?" (क० अ० २०) तथा—"कैसे पितु-मातु कैसे प्रिय परिजन हैं''जिन पठए हैं ऐसे बालकनि बन हैं॥" (पद २६)।

'आली अवलोकि लेहु...'; यथा—"नीके के निकाई देखि, जनम सफल लेखि..." (पद २२); तथा—"राम-लखन-सिय रूप निहारी। पाइ नयन फल होंहि सुखारी॥" (मा० अ० ११२)।

'लाभ के सुलाभ...' यथा—"प्रानहू के प्रान-से, सुजीवन के जीवन-से" (पद २६); "लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरें दरस आस सब पूजी॥" (मा० अ० १०६); "राम कबहु प्रिय लागिहौ, जैसे नीर मनि को?। सुख जीवन ज्यों जीव को..." (वि० २६९)।

'धन्य नर नारि....'; यथा—"जो पै कहुँ कोउ पूछत बातो। तौ तुलसी बिनु मोल बिकातो॥" (वि० १७७); यहाँ बिना मोल बिकाना यह है कि प्रभु से कुछ न चाह कर निष्काम हो आत्म समर्पण करना; एकाङ्गी भक्ति करनी।

तथा—"ते धन्य तुलसीदास आस बिहाइ जे हरि रँग रये ॥" (मा० अर० ४५); एकाङ्गी भक्ति कठिन है, पर इस दर्शन से नेत्र और चित्त स्वतः लग जाते हैं, फिर नहीं हटते; यथा—"हेरत हृदय हरत, नहिं फेरत चारु बिलोचन कोने । तुलसी प्रभु किधौं प्रभु के प्रेम पढ़े प्रगट कपट-बिनु टोने ॥" (पद २३)— इसका विशेष देखिये ।

'जोगि-जन अगम दरस···'; यथा—"जोगि बृंद दुर्लभ गति जोई । तो कहँ आजु सुलभ भइ सोई ॥ मम दरसन फल परम अनूपा । जीव पाव निज सहज सरूपा ॥" (मा० अर० ३५) । यह इन्द्र-इन्द्राणी के वचन हैं, देवता सत्य ही बोलते हैं, यह समझ कर वे ग्रामीण मुदित हैं कि इस दर्शन से हमें अवश्य सद्‌गति मिलेगी ।

'प्रीति के सुबालक से···'—प्रीति का बालक परम प्रीतिमय ही होगा, उस पर तो उसके पिता-माता रूप प्रीति के लाड़-प्यार करने का क्या कहना है ? सामान्य पिता का पुत्र भी उसकी प्रीति का पुतला ही होता है; यथा— "प्रीतिमात्र पितुः पुत्रः सर्वं पुत्रस्य वै पिता । शरीरादीनि देयानि पिता त्वेकः प्रयच्छति ॥" (महा० शान्ति० २६६।१८); यहाँ प्रीति के मूर्त्तिमान् रूप के बालक की उपमा है । जैसे प्रीति अपने सुबालक का लाड़-प्यार करती है, वैसे अच्छे भक्त एवं मुनि इस चरित का लाड़-प्यार करते हैं; इससे प्रीति पूर्वक कहते, सुनते और गाते हैं । यदि कोई पूछे कि इस निष्ठा का क्या फल होता है तो प्रत्यक्ष प्रमाण रूप में कहते हैं—

'जोग न बिरागा···'—इनमें 'बिराग' का अर्थ तीनों गुणों के विभव विलास त्याग का है; यथा—"कहिअ तात सो परम बिरागी । तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी ॥" (मा० अर० १४) । और 'त्याग' का अर्थ निष्काम कर्म-निष्ठा का है, यथा—"यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥" (गीता १८।११); अतः, पुनरुक्ति दोष नहीं है । श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि मैंने योग आदि साधन नहीं किये, पर इन्हीं चरितों की निष्ठा से मेरा भाग्य खुल गया, श्रीराम चरणों में अनुराग हो गया; यथा—"बड़े भाग अनुराग राम सन होइ ।" (बरवा रा० ६३); तथा—"कीजहु इहै बिचार निरंतर···" (पद११ –

इसका विशेष देखिये। "जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई। रघुबीर चरित पुनीत निसिदिन दास तुलसी गावई॥" (मा० अर० ५)।

इस पद के आदि का 'राग टोड़ी' यह शीर्षक श्रीहरिहरप्रसाद की प्रति में है, अन्यों में नहीं।

[३१]

रीति चलिबे की चाहि, प्रीति पहिचानि कै।
आपनी-आपनी कहैं, प्रेम-परबस अहैं,
मंजु मृदु बचन सनेह-सुधा सानि कै॥१॥
साँवरे कुँवर के चरन के बराइ चिह्न,
बधू पग धरति कहा धौं जिय जानि कै।
जुगल कमल-पग-अंक जोगवत जात,
गोरे गात कुँवर महिमा महा मानि कै॥२॥
उनकी कहनि नीकी रहनि लखन-सी की
तिनकी गहनि जे पथिक उर आनि कै।
लोचन सजल, तन पुलक, मगन मन,
होत भूरि भागी जस तुलसी बखानि कै॥३॥

अर्थ—[वनमार्ग के स्त्री-पुरुष] श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी के चलने की रीति देखकर तथा इनकी प्रीति पहचान कर प्रेम के वश हो गये हैं, इससे अपनी-अपनी बुद्धि से स्नेह रूपी अमृत में सानकर कोमल एवं मनोहर वचन कहते हैं॥१॥ 'यह बधू न जाने अपने जी में क्या जानकर साँवरे कुँवर के चरण-चिह्नों को बचाकर चरण रखती है! तथा गोरे शरीरवाला कुँवर इनकी महा महिमा मानकर इन दोनों के कमलवत् चरणों के चिह्नों को जोगवते हुए (आदर करते हुए—दाहिने रखते हुए) चलता है'॥२॥ उन ग्रामीणों का कहना अच्छा है और श्रीलक्ष्मणजी एवं श्रीसीताजी की (स्वामी के साथ) रहनि रीति अच्छी है तथा उनका ग्रहण करना अच्छा है जो इन पथिकों को हृदय में लाकर नेत्रों से सजल, शरीर से पुलकित और मन से प्रीति में निमग्न हो जाते हैं। यह तुलसीदास भी इनके यश का वर्णन कर नेत्रों से सजल, शरीर से पुलकित और मन से प्रीति में निमग्न होकर बड़भागी हो रहा है॥३॥

विशेष—'रीति चलिबे की चाहि'...'—चलने की रीति देखने पर इनकी प्रीति की भी पहचान हुई; क्योंकि प्रीति हृदय की वृत्ति है, वह तदनुसार क्रियाओं से ही जानी जाती है। ग्रामीण लोग इनकी प्रीति पर मुग्ध हो गये और अपनी-अपनी भावनाएँ कहने लगे। स्नेह अमृतवत् तुष्टि, पुष्टि, और अमरत्व देता है। भक्ति से 'इन्द्रियों में तुष्टि और बल रूप वाह्य-विषय-विराग से पुष्टि तथा तत्क्रतुनाय से प्रभु को ही प्राप्त हो सदा के लिये-जन्ममरण से छूटकर नित्य अमरत्व प्राप्त होता है।

'साँवरे कुँवर के'...'जुगल कमल-पद-अंक'...'—इसका रहस्य इस प्रसंग से समझना चाहिये; यथा—"प्रभु-पद-रेख बीच-बिच सीता। धरति चरन मग चलति सभीता॥ सीयराम-पद अंक बरायें। लखन चलहिं मग दाहिन लायें॥ राम-लखन-सिय-प्रीति सुहाई। बचन अगोचर किमि कहि जाई॥" (मा० अ० १२२); अर्थात् श्रीजानकीजी प्रभु के चरणों के चिह्नों के बीच-बीच में चरण रखती जाती हैं। इस प्रकार युगल चरण चिह्नों की माला बनती जाती है। दोनों तत्त्वतः एवं सम्बन्धतः एक ही हैं; यथा—"गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न। बंदउँ सीताराम पद" (मा० बा० १८); तथा—"विप्रा प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्त्ता सा स्मृताङ्गना॥" (मनु०९।४५); अर्थात् वेदज्ञ ब्राह्मण ऐसा कहते हैं कि जो भर्त्ता है, वही उसकी भार्या भी है, इन दोहों में कुछ अन्तर नहीं है।

श्रीलक्ष्मणजी धर्मतः इन दोनों के पुत्रवत् उपासक हैं। अतः, इनके चरण-चिह्नों की महा-महिमा मानते हैं, इसीसे इन चरण-चिह्नों की पंक्ति को दाहिने लगाते हुए चलते हैं। जैसे भगवत्स्वरूप एवं भगवद्धाम की प्रदक्षिणा की जाती है तो उन्हें दाहिने रखकर चला जाता है। वैसे श्रीलक्ष्मणजी इन चिह्नों को महान् तीर्थ मानकर इन्हें दाहिने रखते चलते हैं। परिक्रमण के साथ भगवान् के स्वरूप एवं धाम की महिमा कही सुनी जाती है, वैसे ये भी इसकी महा-महिमा मानते हुए चल रहे हैं। इनकी इस पारस्परिक प्रीति को वचन अगोचर कहा गया है। तथा—"इन्ह कै प्रीति परस्पर पावनि। कहि न जाइ मन भाव सुहावनि॥ सुनहु नाथ कह मुदित बिदेहू। ब्रह्म जीव-इव सहज सनेहू॥" (मा० बा० २१६)। उपासक श्रीभरतजी ने भी इन चरण-चिह्नों की महा-

महिमा मानी है, यथा—"हरषहिं निरखि राम-पद-अंका। मानहुँ पारस पायेउ रंका ॥ रज सिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं ॥" (मा० अ० २३७)।

'रहनि लखन-सी-की'—यहाँ तो मार्ग में चलने की रीति रूपी रहनि की सराहना की जा रही है, इसकी निकाई तो ऊपर कही गई। वन की स्थिर-रहनि अन्यत्र कही गई है; यथा—"सेवहिं लखन करम-मन-बानी। जाइ न सील सनेह बखानी ॥" से "सिय मन राम चरन अनुरागा। अवध-सहस-सम बन प्रिय लागा ॥" (मा० अ० १३८-१३९) तक।

'लोचन सजल, तन पुलक, मगन मन, होत'—यह वाक्य-प्रबन्ध दीप देहली न्याय से दोनों ओर लगता है। तात्पर्य यह कि उस समय के चरित्र सहयोगी परिकरों का-सा सुख आज दिन भी उनके चरित कथन श्रवण से होता है; यथा—"सुफल मनोरथ बिधि किये सब बिधि सब ही के। अब होइहैं गाए सुने सब के तुलसी के ॥" (बा० ६); "सुमिरत श्री रघुबरन की लीला लरिकाई। तुलसिदास अनुराग अवध आनंद अनुभवत तब को-सो अजहुँ अघाई ॥" (बा० ३१); तथा—"भरत, राम, रिपुदवन, लखन के चरित-सरित अन्हवैया। तुलसी तब के-से अजहुँ जानिबे रघुबर-नगर-बसैया ॥" (बा० ९)—इनके विशेष भी देखिये।

राग केदारा

[३२]

जेहि-जेहि मग सिय-राम-लखन गए,
तहँ-तहँ नर-नारि बिनु छर छरि गे।
निरखि निकाई अधिकाई बिथकित भईं
बच, बपु-नैन-सर सोभा-सुधा भरि गे ॥१॥
जोते बिनु, बए बिनु, निफन निराए बिनु,
सुकृत-सुखेत सुख-सालि फूलि फरि गे।
सुनिहुँ मनोरथ को अगम अलभ्य लाभ
सुगम सो राम लघु लोगनि को करि गे ॥२॥

लालची कौड़ी के क्रूर पारस परे हैं पाले,
जानत न को हैं, कहा कीबो सो बिसरि गे।
बुधिव बिचार, न बिगार, न सुधार सुधि,
देह-गेह-नेह नाते मन से निसरि गे ॥३॥
बरषि सुमन सुर हरषि-हरषि कहैं,
'अनायास भव-निधि नीच नीके तरि गे'।
सो सनेह समउ सुमिरि तुलसीहु के-से
भली-भाँति भले पैंत भले पासे परि गे ॥४॥

शब्दार्थ—बिनु छर छरिगे=बिना छाँटे हुए छँटकर साफ हो गये, चावल का कना अलग करने के लिये उसे फिर कुछ छाँटकर एवं फटककर साफ करने को 'छरना' कहते हैं। निफन (सं० निष्पन्न)=पूर्ण, पूर्णरूप से भली-भाँति। निराये बिनु (निराना, सं० निराकरण)=कृषि के पौधों के आस-पास की घास खोदकर निकाले बिना। पैंत=दाँव। पाँसा=चारपाँच अंगुल लंबे बत्ती के आकार के चौपहल टुकड़े जिनसे चौसर का खेल खेला जाता है—हिं० श० सा०।

अर्थ—श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी जिस-जिस मार्ग से होकर गये, वहाँ-वहाँ के स्त्री-पुरुष बिना छाँटे हुए (चावल के समान) छँटकर साफ हो गये, (अर्थात् बिना पुण्य एवं साधन किये ही पापों से शुद्ध हो परमपद के अधिकारी हो गये)। इनकी सुन्दरताई की अधिकता देख उनकी वाणी विशेष शथिल हो गई तथा शरीर रूप पृथिवी के नेत्र रूप सरोवर शोभा रूप अमृत से भरकर पूर्ण हो गये ॥१॥ पुण्य रूप खेत में सुख रूप धान बिना जोते, बोये और भली-भाँति निराये ही फूलकर फल गये। जो लाभ मुनियों के मन की कांक्षा की पहुँच से भी दूर एवं अत्यन्त दुर्लभ था, उसे श्रीरामजी छोटे-छोटे लोगों को भी सुगम कर गये ॥२॥ जो क्रूर हृदय के जंगली लोग कौड़ियों (तुच्छ देवी-देव के दर्शनों) के लालची हो रहे थे, उनके पाले (हाथ में, वश में) पारस (के समान श्रीराम दर्शन) पड़ गया। वे यह भी नहीं जानते कि 'ये कौन हैं ?' और 'इनके साथ हमें क्या बर्त्ताव करना चाहिये' यह भी भूल गये हैं। (इस अद्भुत-दर्शन से चकित होने से) उनमें न तो बुद्धि रह गई और न कुछ विचार ही, तथा न उन्हें बिगाड़-सुधार की ही स्मृति रह गई।

उनके मन से देह तथा गेह से स्नेह एवं सम्बन्ध निकल गये ॥३॥ देव गण पुष्प वर्षा कर प्रसन्न हो-हो कर कहते हैं—'अहो! ये नीच लोग भी भव-सागर से बिना श्रम के ही भली भाँति पार कर गये'। उस समय का उनका वह स्नेह स्मरण कर तुलसीदास की भाँति के लोगों के भली-भाँति अच्छी दाँव वाले अच्छे पाँसे पड़ गये ॥४॥

विशेष—'जेहि-जेहि मग··· तहँ-तहँ···'; यथा—"जिन्ह देखे पथिक प्रिय, सिय समेत दोउ भाइ। भव मग अगम अनंद तेइ, बिनु श्रम रहे सिराइ॥ अजहुँ जासु उर सपनेहु काऊ। बसहु लखन सिय राम बटाऊ॥ राम धाम पथ पाइहि सोई। जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई॥" (मा० अ० १२३), तथा—"जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥ ते सब भए परमपद जोगू।" (मा० अ० २१६), "जब ते प्रभु पद पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे॥" (मा० अ० २५०)।

'निरखि निकाई अधिकाई···'; यथा—"उपमा अवलोकि लोक गिरा मति-गति भंग।" (पद १७)—इसका विशेष देखिये।

'बपु नैन सर सोभा सुधा भरि गे'; यथा—"सोभा-सुधा पियैं करि अँखियाँ दोनी॥" (पद २२); "सोभा-सुधा आलि! अँचवहु करि नयन मंजु मृदु दोने॥" (पद २३)—इनके विशेष देखिये। 'भरि गे'—अब इनके अतिरिक्त और किसी को देखने की चाह न रह गई; यथा—"देव! देखि तव बालक दोऊ। अब न आँखि तर आवत कोऊ॥" (मा० बा० २९२)।

यहाँ 'रूपकालङ्कार' है।

'जोते बिनु बये बिनु···'—पूर्व कृत पुण्य खेत हैं, उससे जप-तप आदि करना जोतना है, नवधा भक्ति करना भक्ति का बीज बोना है, इन्द्रियों से विषय-वासना त्याग एवं क्रोध-मत्सर आदि का त्याग करना निरावना है, इनके बिना ही इनके दर्शन मात्र से अन्तःकरण शुद्ध होकर दर्शन की शुद्ध चाह हुई, यह सुख रूपी धान का फूलना हुआ और शुद्ध प्रेमपूर्वक मधुरमूर्तियों के दर्शन से जो परमानन्द होता है, यही सुख रूपी धान का फलना है; यथा—"जाहिं जहाँ जहँ बंधु दोउ, तहँ-तहँ परमानन्द॥" (मा० बा० २२३)।

यहाँ जोतने-बोने आदि के उपमेय रूप वर्ण्य विषय नहीं कह कर उत्प्रेक्षा है। अतः, 'अनुक्त विषया गम्योत्प्रेक्षा' है।

'मुनिहु मनोरथ को अगम···'; यथा—"बेद बचन मुनि मन अगम, ते प्रभु करुना अयन। बचन किरातन्ह के सुनत, जिमि पितु बालक बयन॥ रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननि हारा॥" (मा०अ० १३६)। दर्शन देकर ही श्रीरामजी ने नीच लोगों को भी मोक्ष का अधिकारी बना दिया; यथा—"जोगी जन अगम दरस पायो पाँवरनि।" (पद २०)—इसका विशेष भी देखिये। 'अलभ्य लाभ'; यथा—"लाभ के सुलाभ···" (पद २०) इसका विशेष देखिये।

'लालची कौड़ी के कूर···'—जैसे कौड़ी के लालची को पारसमणि मिल जाने पर अत्यन्त हर्ष से व्याकुलता आ जाय, वैसे इन सबकी दर्शनानन्द में दशा हो रही है। तुच्छ देवी-देव की सिद्धियों को तरसते थे। आज साक्षात् परब्रह्म के दर्शन का निस्सीम परमानन्द मिल रहा है; जिस परम आनन्द के समक्ष श्रीजनकजी का ब्रह्मानन्द भी फीका पड़ गया था—बा० ६१ देखिये। इससे अपना एवं अपने कर्तव्य की सँभाल नहीं रह गई—पद १८-१९ के अन्तिम चरण देखिये। 'लालची···पाले' इसमें वर्ण्य विषय का प्रतिबिंब कहा है। अतः 'ललित अलङ्कार' है।

'बुधि न बिचार···'—यहाँ भी पूर्वार्द्ध की दशा ही कही जा रही है। 'देह गेह नेह नाते' इसमें 'यथासंख्य अलङ्कार' की रीति से अर्थ है। देह से स्नेह निकल जाने पर 'मैं' का अभाव हुआ, तथा गेह से सम्बन्ध निकल जाने में 'मम' अर्थात् 'मेरा' का अभाव हुआ। इस प्रकार दर्शन मात्र से ये ब्रह्म विद्या के पूर्ण अधिकारी हो गये; यथा—"तुलसिदास 'मैं' 'मोर' गये बिनु जिय सुख कबहुँ न पावै।" (विनय १२०); "कबिहि अगम जिमि ब्रह्म सुख अहमम-मलिन-जनेषु॥" (मा० अ० २२५)।

'अनायास भवनिधि नीच नीके तरि गे'—क्योंकि परम सुन्दर प्रभु के दर्शन उन्हें अनायास घर बैठे हो गये। जो दर्शन परम साधन-निष्ठ योगियों को भी दुर्लभ था। ऊपर २, ३, चरण देखिये।

'सो सनेह समउ सुमिरि···'—उस समय के उस स्नेह का स्मरण ऐसा

ही आश्चर्य-प्रभावशाली है कि जैसे जुआ की दाँव में किसी को अनायास बहुत सा धन मिल जाता है। अतः, इन पदों के द्वारा उस स्नेह का स्मरण-मनन करना चाहिये। इससे उनका-सा स्नेह प्राप्त हो जायगा, तो उनकी भाँति हम लोग भी देवों से श्लाघ्य हो जायँगे। 'भली भाँति...परिगे'—इसमें भी 'ललित अलङ्कार' है।

[३३]

बोले राज देन को, रजायसु भो कानन को,
आनन प्रसन्न, मन मोद, बड़ो काजु भो।
मातु-पितु-बंधु-हित, आपनो परम हित,
मोको बीसहू कै ईस अनुकूल आजु भो॥ १॥
असन अजीरन को समुझि तिलक तज्यो,
बिपिन-गवन भले भूखे को सुनाजु भो।
धरम-धुरीन धीर बीर रघुबीर जू को
कोटि राज सरिस भरत जू को राजु भो॥ २॥
ऐसी बातें कहत सुनत मगलोगनि की
चले जात बंधु दोऊ मुनि को-सो साजु भो।
ध्याइबे को, गाइबे को, सेइबे-सुमिरिबे को,
तुलसी को सब भाँति सुखद समाज भो॥ ३॥

अर्थ—राज्य देने के लिये (पिता राजा दशरथजी ने) कहा था, आज्ञा वन जाने की हुई, यह सुनकर भी मुख प्रसन्न हुआ, मन में आनन्द हुआ (यह समझ कर कि इसमें तो मेरा) 'बड़ा भारी कार्य हुआ। इसमें माता (कैकेयीजी), पिता और भाई भरतजी का हित हुआ और अपना तो परम हित है, इसमें तो आज ईश्वर मेरे 'बीसो विस्वा' (सम्यक् प्रकार से) अनुकूल हुआ है॥१॥ राज्य-तिलक को तो इन्होंने अजीर्ण के भोजन के समान त्याग दिया है और वन गमन इनके लिये अच्छे भूखे के लिये उत्तम अनाज के समान (अत्यन्त प्रिय) हुआ। धर्म-धुरीण, धैर्यवान् और वीर श्रीरघुनाथजी के लिये अपने करोड़ राज्य के समान श्रीभरतजी का राज्य प्राप्त करना (प्रिय) हुआ है॥२॥ मार्ग में लोगों की कही हुई ऐसी बातें सुनते हुए दोनों भाई मुनि का-सा साज

धारण किये हुए चले जा रहे हैं। मुझ तुलसीदास के लिये तो ध्यान करने, गान करने, सेवा करने और स्मरण करने के लिये यह मार्ग का समाज सब प्रकार से सुखदायक हुआ है ॥३॥

विशेष—' बोले राज देन को...'; यथा —" तिलक को बोल्यो, दियो बन, चौगुनो चित चाउ ।" (पद ५७); "राज देन कहँ बोलि नारिबस मैं जो कह्यों बन जान । आयसु सिर धरि चले हरषि हिय कानन भवन समान ॥" (पद ५६); तथा—"सुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ । मिटा सोच जनि राखइ राऊ ॥ नव गयंद रघुबीर मन, राज अलान समान । छूट जानि बन गवन सुनि, उर अनंद अधिकान ॥" (मा० अ० ५०-५१)। 'बड़ काजु भो'; यथा—"पिता दीन्ह मोहिं कानन राजू । जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू ॥" (मा० अ० ५२)। जिस कार्य के लिये अवतार लिया है, वह बड़ा कार्य इसी यात्रा में होगा।

'मातु पितु बंधु हित...'; यथा—"तात बचन पुनि मातु हित, भाइ भरत अस राउ । मो कहँ दरस तुम्हार प्रभु, सब मम पुन्य-प्रभाउ ॥" (मा० अ० १२५)। "मुनि गन मिलन बिसेषि बन, सबहि भाँति हित मोर । तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, संमत जननी तोर ॥ भरत प्रान-प्रिय पावहिं राजू । बिधि सब, बिधि मोहिं सनमुख आजू ॥" (मा० अ० ४१)। पिता का हित उनका दिया हुआ वरदान सत्य होने में है, श्रीरामजी इसी से निष्ठुर होकर भी उसके सत्य करने में तत्पर हैं। श्रीभरतजी से भी कहा है—"पितु आयसु पालिहि दुहुँ भाई । लोक-बेद भल भूप भलाई ॥" (मा० अ० ३१४); पिताजी ने स्वयं कहा है; यथा—"तारितोऽहं त्वया पुत्र सुपुत्रेण महात्मना ।" (वाल्मी० ६।११९।१६); अर्थात् हे पुत्र ! तुम महात्मा ने मेरा उद्धार कर दिया। तथा—"वञ्चना या तु लब्धा मे तां त्वं निस्ततु र्मिच्छसि । अनया वृत्तसादिन्या कैकेय्याभिप्रचोदितः ॥ न चैतदाश्चर्यतमं यत्त्वं ज्येष्ठः सुतो मम । अपानृतकथं पुत्र पितरं कर्तुमिच्छसि ॥" (वाल्मी० २।३४।३७-३८); अर्थात् तुम मुझे सत्यवादी कर मेरा निस्तार कर रहे हो। 'आपनो परम हित'; यथा—"पितु आयसु सब धरमक टीका ।" (मा०अ० ५४); "सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा ।" से "मैं सोइ धरम सुलभ करि पावा ।" (मा० अ० ९४) तक।

'असन अजीरन को समुझि तिलक तज्यो'—अजीर्ण व्याधि पर भोजन की ओर देखने की रुचि नहीं रहती, उसी प्रकार भक्त भरतजी को यह राज्य मिला, इससे आप पूर्ण तृप्त हो गये हैं। अब उस भोजन रूपी राज्य को देखने की भी रुचि नहीं रह गई।

वन यात्रा में वैसे ही सुख है, जैसे अच्छे भूखे को सुन्दर भोजन के प्रति रहता है। भाव यह कि देवता, ऋषि आदि भार उतारने एवं दर्शन के भूखे हैं, उन आश्रितों की भूख के अनुसार आप भूखे होकर उन्हें तृप्त कर तृप्त होने जा रहे हैं, इसकी प्रसन्नता है।

'धरम धुरीन धीर बीर···'—पिता की आज्ञा रूपी श्रेष्ठ धर्म धारण करने में दृढ़ हैं; यथा—"धरम धुरीन धरमगति जानी। कहेउ मातु सन अति मृदु बानी॥ पिता दीन्ह मोहिं कानन राजू।" (मा० अ० ५२)। "जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई।" (मा० अ० ८१); अर्थात् वन के कष्टों से अधीर होने वाले नहीं हैं। त्याग में वीर हैं। भक्त भरतजी के राज्य में आप अपने राज्य पाने से कोटि गुणा प्रसन्न हैं, यह परम आर्जव है। तथा—"भरत प्रान प्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहिं सनमुख आजू॥" (मा०अ० ४१)।

'ध्याइबे को, गाइबे को···'—मार्ग का समाज उस समय की स्नेहमयी घटना को प्रकट करनेवाला है। उसी समाज के कथन को ध्यान-गान आदि करके मेरे समान लोगों को भी वैसा ही सुख होगा। इन ध्यान-गान आदि की सफलता आगे पद ४४ के अन्त में देखिये। ऊपर पद के "सो सनेह समउ सुमिरि···" एवं "लोचन सजल, तन पुलक···" (पद ३१) इनके विशेष देखिये।

[३४]

सिरिस-सुमन-सुकुमारि, सुखमा की सींव
सीय, राम बड़े हो सकोच संग लई है।
भाई के प्रान समान, प्रिया के प्रान के प्रान,
जानि बानि प्रीति रीति कृपा-सील मई है॥१॥
आलबाल-अवध सुकाम तरु काम बेलि,
दूरि करि कैकई बिपत्ति-बेलि बई है।

आप, पति, पूत, गुरुजन, प्रिय परिजन,
प्रजाहू को कुटिल दुसह दसा दई है ॥२॥
पंकज-से पगनि पानह्यो न, परुष पंथ,
कैसे निबहे हैं, निबहैंगे, गति नई है।
एही सोच-संकट-मगन मग-नर-नारि,
सब की सुमति राम-राग-रँग-रई है ॥३॥
एक कहैं, बाम बिधि दाहिनो हमको भयो,
उत कीन्हीं पीठि, इतको सुडीठि भई है।
तुलसी सहित बनबासी मुनि हमरिऔ,
अनायास अधिक अघाइ बनि गई है ॥४॥

अर्थ—जो भाई श्रीलक्ष्मणजी के प्राण समान प्यारे और प्रिया श्रीजानकीजी के तो प्राणों के भी प्राण (के समान अत्यन्त प्रिय) हैं और जिनकी रीति कृपा एवं शीलमयी है, उन श्रीरामजी ने सिरस के फूल समान सुकुमारी और परमा शोभा की पराकाष्ठा श्रीसीताजी को उनकी बानि और प्रीति जानकर बड़े ही संकोच से अपने साथ (वनयात्रा में) लिया है ॥१॥ कैकयी रानी ने श्रीअयोध्या रूप थाल्हा से (श्रीरामजी और श्रीजानकीजी रूपी) सुन्दर कल्पवृक्ष और कल्पलता को दूर कर उसमें विपत्ति रूपी बेलि बो दी है। (अपने इस कर्म से) अपने लिये एवं पति, पुत्र, गुरुजन, प्यारे परिवार के लोग तथा प्रजा को भी इस कुटिला ने दुस्सह दशा प्रस्तुत कर दी है ॥२॥ मार्ग अत्यन्त कठिन है। चरण कमल के समान अत्यन्त कोमल हैं और फिर उनमें जूतियाँ भी नहीं हैं, इन चरणों से पैदल चलते हुए इन्होंने अभी तक कैसे निर्वाह किया है और आगे कैसे निर्वाह करेंगे ? यह तो इनकी नयी (निराली) गति देखने में आ रही है (ऐसा तो कभी किसी ने नहीं किया है)। इसी सोच और संकट में मार्ग के सभी स्त्री-पुरुष निमग्न हैं, उन सबकी सुन्दर बुद्धि श्रीरामजी के अनुराग रूप रङ्ग में रँगी हुई है (अतएव श्रीरामजी का ही प्रियत्व हृदय में भरपूर है) ॥३॥ कोई कहते हैं कि 'प्रतिकूल ब्रह्मा भी हम सबके लिये तो अनुकूल ही हो रहा है' यद्यपि उधर (श्रीअवध-समाज) की ओर से इसने पीठ कर ली है तथापि इधर (हम सबकी ओर) को तो इसकी सुदृष्टि ही हुई (जान

पड़ती) है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—वे नरनारी कहते हैं कि वनवासी मुनियों के साथ हमारी (बात) भी अनायास ही अधिक अघाकर (परिपूर्ण) बन गई है ॥४॥

विशेष—'सिरिस-सुमन-सुकुमारि···'; यथा—"तात सुनहु सिय अति सुकुमारी।" (मा० अ० ५७); "सुखमा की मूरति-सी, साथ निसिनाथ मुखी नख-सिख अंग सब सोभा के सदन हैं।" (पद २६)। 'जानि बानि प्रीति'-श्रीजानकीजी का यह स्वभाव जाना कि ये हमसे क्षण भर भी पृथक् नहीं रह सकतीं; यथा—"तुलसी सुनी न कबहुँ काहु कहुँ, तनु परिहरि परिछाँहि रही है।" (पद ९)—इसका विशेष देखिये। प्रीति देखी कि मेरे बिना जी नहीं सकतीं; यथा—"देखि दसा रघुपति जिय जाना। हठि राखे नहिं राखिहि प्राना॥" (मा० अ० ६७)। तथा पद ६ का अन्तिम चरण देखिये। 'रीति कृपा सील सई है'—कृपा दृष्टि से रक्षा की और शील से इनका आदर किया है, इसीसे संकोच में पड़कर इन्हें साथ लिया है।

'आलबाल अवध···'—कल्पतरु और कल्पलता रूप सीतारामजी हैं; क्योंकि इनका राज्य होता तो ये सारे जगत् के स्त्री-पुरुषों के सभी मनोरथ पूरे करते, आगे रामराज्य में हुआ ही है; यथा—"लता बिटप माँगे मधु चवहीं। मन भावतो धेनु पय स्रवहीं॥ ससि संपन्न सदा रह धरनी। त्रेता भइ कृतजुग कै करनी॥···बिधु महि पूर मयूखन्हि, रबि तप जेतनेहि काज। माँगे बारिद देहिं जल, रामचंद्र के काज॥" (मा० उ० २२-२३)। किन्तु कैकेयीजी ने इनको बन भेज दिया, यही इनका दूर करना एवं उखाड़ फेंकना है; यथा—"मोर मनोरथ सुरतरु फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला॥" (मा० अ० २८)।

'बिपति बेलि बई है'—उसी थाल्हा में फिर इसने विपत्ति रूपी बेलि बो दी, वह श्रीराम-विरह के दुःख फलती है; यथा—"कोउ कहैं, कुल कुबेलि कैकेई दुख बिष फलनि फली॥" (पद १०)—इसका विशेष देखिये।

'आप, पति, पूत'; यथा—"राम-लखन-सिय कहँ बन दीन्हा। पठइ अमरपुर पति हित कीन्हा॥ लीन्ह बिधवपन अपजस आपू। दीन्हेउ प्रजहि सोक संतापू॥ मोहिं दीन्ह सुख सुजस सुराजू। कीन्हि कैकई सब कर काजू॥" (मा० अ० १७९)। 'दुसह दसा दई है'; यथा—"बिधि कैकई किरातिनि

कीन्हीं। जेहि दव दुसह दसहु दिसि दीन्हीं॥ सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भोगी॥" (मा० अ० ८३)।

'पंकज से पगनि'...'; यथा—"पाइ पानह्यो न, मृदु पंकज से पग हैं।" (पद २७); "पान ही न, चरन-सरोजनि चलत मग..." (पद ३०)-इनके विशेष देखिये।

'सब की सुमति राम-राग-रंग-रई है'; यथा—"बरनौं किमि तिनकी दसहि। निगम-अगम-प्रेम-रसहि, तुलसी मन बसन रँगे रुचिर रूप रंग॥" (पद १७)-इसका विशेष देखिये।

'एक कहैं, बाम बिधि'...'; यथा—"कोउ कह दूषन रानिहुँ नाहिन। बिधि सब कीन्ह हमहिं जो दाहिन॥" (मा० अ० २२२); यद्यपि इन्हें एवं इनके परिवार तथा परिजनों के वाम होने से विधि वाम ही है, पर फिर भी एक दृष्टि से उसने पहले उधर दृष्टि की थी, अब इधर भी कर दी; क्योंकि सभी तो उसकी ही सन्तान हैं। अतः, इधर भी सुदृष्टि करना उसे उचित भी था।

'अनायास'...'; यथा—"लालची कौड़ी के कूर पारस परे हैं पाले...." (पद ३२); "जोगीजन अगम दरस पायो पाँवरनि" (पद २०); तथा—"कहँ हम लोक-बेद-बिधि हीनी। लघु तिय कुल करतूति मलीनी॥ बसहिं कुदेस कुगाँव कुबामा। कहँ येह दरस पुन्य परिनामा॥ अस अनंद अचरज प्रतिग्रामा। जनु मरु भूमि कलपतरु जामा॥ भरत दरस देखत खुलेउ, मग लोग न कर भाग। जनु सिंघल बासिन्ह भयेउ, बिधि बस सुलभ प्रयाग॥" (मा० अ० २२२-२२३)। घर बैठे आकर प्राप्त हो गये।

राग गौरी

[३५]

नीके कै मैं न बिलोकन पाए।
सखि ! येहि मग जुग पथिक मनोहर, बधु बिधुबदनि समेत सिधाए॥१॥
नयन सरोज, किसोर बयस बर, सीस जटा रचि मुकुट बनाए।
कटि मुनि-बसन-तून, धनु-सर कर, स्यामल-गौर, सुभाय सुहाए॥२॥
सुंदर बदन, बिसाल बाहु-उर, तनु-छबि कोटि मनोज लजाए।
चितवत मोहि लगी चौंधी सी, जानौं न, कौन, कहाँ ते धौं आए॥३॥

मन गयो संग, सोच बस लोचन मोचत बारि, कितौ समुझाए।
'तुलसिदास' लालसा दरस की सोइ पुरवै, जेहि आनि देखाए ॥४॥

अर्थ—हे सखि! इस मार्ग से जो दो मनोहर पथिक एक चन्द्रवदनी स्त्री साथ लिये हुए गये हैं उन्हें मैं भली-भाँति देख नहीं पाई थी ॥१॥ उनकी आँखें कमल के समान थीं, श्रेष्ठ किशोर अवस्था थी, वे शिरों पर रचकर जटाओं का मुकुट बनाये हुए थे। उनके कटि भाग में मुनियों के-से वस्त्र और फिर उसी से कसे हुए तरकश भी थे, उनके हाथों में धनुष और बाण थे, वे श्याम-गौर वर्ण के स्वाभाविक शोभायमान थे ॥२। उनके सुन्दर मुख थे, बाहुएँ लम्बी और छाती चौड़ी थीं। उनके शरीर की छबि पर तो करोड़ों कामदेव लज्जित होते थे। उन्हें देखने लगी तो मुझे चौंधी-सी लग गई (आश्चर्य सौन्दर्य एवं तेज से मैं उनके अंग-अंग देख नहीं सकी) और मैं यह भी नहीं जान पाई कि वे कौन हैं और कहाँ से आये हैं? ॥३॥ मेरा मन तो उनके साथ चला गया, मैंने कितना समझाया, पर नेत्र शोच वश रहते हुए जल बरसा रहे हैं। इन नेत्रों की यह दर्शन करने की लालसा वही पूरी करे तो करे, जिसने इन्हें इधर लाकर (एक बार) दिखाया है ॥४॥

विशेष—'नीके कै मैं न···'—यह सखी देखने में अतृप्त रह कर पश्चात्ताप कर रही है और पूर्व की देखी हुई छबि का वर्णन करती हुई अभिलाषा करती है।

'मन गयो संग···'—मन तो उनमें लगा हुआ उनके साथ ही चला गया है, वह लौट नहीं सका; क्योंकि उन्होंने इसका हरण कर लिया है; यथा—"हेरत हृदय हरत, नहिं फेरत चारु बिलोचन कोने। तुलसी प्रभु किधौं प्रभु के प्रेम पढ़े प्रगट कपट बिनु टोने॥" (पद २३)—इसका विशेष देखिये। बिना मन के नेत्र आदि इन्द्रियाँ कहीं रह कर कुछ कर नहीं सकतीं। इससे ये नेत्र भी उन्हीं के लिये चिन्तित रहते हैं, बहुत समझाने पर भी ये उनकी दर्शन-लालसा का त्याग नहीं करते। यदि इस प्रकार की इनकी दृढ़ निष्ठा बनी रह गई तो दृढ़ विश्वास है कि यह अवश्य पूरी होगी; यथा—"तन मन बचन मोर पन साँचा। रघुपति-पद-सरोज चितु राँचा॥ तौ भगवान सकल उर बासी। करिहहिं मोहिं रघुबर कै दासी॥ जेहि कर जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥" (मा० बा० २५८); तथा—"निगम अगम, साहिब

सुगम, राम सों चिली चाह। अंबु असन अवलोकियत, सुलभ सबै जग माह॥" (दोहावली ८०)। 'जेहि आनि देखाए'—भगवान् दर्शन दे अपने विषय में रुचि उत्पन्न करके पृथक् हो जाते हैं कि भक्त विरह में दिन-रात स्मरण करता हुआ आयु समाप्त करे तो 'तत्क्रतुन्याय' से मुझे सदा के लिये पाकर कृतार्थ हो जाय; यथा—"नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्‌ भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये। यथाधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद॥ एवं मदर्थोज्झितलोक-वेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः। मया परोक्षं भजता तिरोहितं मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः॥" (भाग० १०।३२।२०-२१); अर्थात् (रास में अन्तर्धान होने पर प्रकट हो गोपियों के प्रति श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है—) हे सखियो! मैं अपने भजन करने वालों को नहीं भजता (नहीं प्राप्त होता) तो वे निरन्तर मेरा ही ध्यान किया करते हैं, जैसे किसी को धन मिल कर फिर नष्ट हो जाता है तो उसका मन सब समय उसी धन में लगा रहता है। हे गोपियो! तुम सबने मेरे लिये धर्म का ध्यान न कर अपने सब बन्धु बान्धवों को छोड़ कर मेरा ही भजन किया है। अतः, तुम्हारा ध्यान मेरी ओर अटल हो जाय, इस लिये मैं छिपा था। मैं छिपे हुए भी तुम्हें भज रहा था, तुम्हारे पास ही था, तुम्हारी सारी दशाएँ मुझे विदित हैं। अतः, हे प्रियतमाओ! तुम अपने प्रिय (मुझ) पर क्रोध न करो।

'तत्क्रतु न्याय' की व्यवस्था; यथा—"अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा-क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत॥" (छान्दो० ३।१४।१); अर्थात् यह पुरुष निश्चय वाला है, पुरुष इस लोक में जैसे निश्चय वाला होता है, वैसा ही मरने के पश्चात् होता है, इस लिये शांत होकर यहीं पर अचल निश्चय करना चाहिये। तथा—"यं यं वापि स्मरन्‌ भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्‌। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥" (गीता ८।६); अर्थात् हे अर्जुन! जिस जिस भी भाव को अन्त काल में स्मरण करता हुआ (मनुष्य) शरीर छोड़ता है, वह सदा (पूर्व से ही) उस भाव से भावित हुआ उस उस भाव को ही प्राप्त होता है।

[३६]

पुनि न फिरे दोउ बीर बटाऊ।
स्यामल-गौर, सहज सुन्दर, सखि! बारक बहुरि बिलोकिबे काऊ॥१॥

कर-कमलनि सर, सुभग सरासन, कटि मुनि-बसन-निषंग सोहाए।
भुज-प्रलंब, सब अंग मनोहर, धन्य सो जनक-जननि जेहि जाए ॥२॥
सरद-बिमल-बिधु-बदन, जटा सिर, मंजुल अरुन-सरोरुह-लोचन।
तुलसिदास मन मय मारग में राजत कोटि मदन मद-मोचन ॥३॥

अर्थ—हे सखि ! वे दोनों वीर बटोही फिर नहीं लौटे। वे श्याम-गौर वर्ण के थे और स्वाभाविक (भूषण वस्त्र की सजावट बिना ही) सुन्दर थे। क्या एक बार फिर कभी देख पावेंगी ? ॥ १ ॥ उनके कमलवत् हाथों में बाण और सुन्दर धनुष थे, एवं कटि भाग में मुनि वस्त्र तथा तरकश शोभायमान थे। उनकी भुजाएँ लम्बी-लम्बी थीं तथा उनके सभी अंग मनोहर थे। वे माता-पिता धन्य हैं जिन्होंने इन्हें जन्म दिया है ॥ २ ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उनका शरद् ऋतु के निर्मल चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख है, शिर पर जटा है और मनोहर लाल कमल के समान नेत्र हैं, वे करोड़ों कामदेवों के मद का नाश करने वाले प्रभु मेरे मनोमय मार्ग में विराजमान रहते हैं ॥ ३ ॥

विशेष—'पुनि न फिरे···'—यह सखी फिर दर्शनार्थ लालायित है। पहले देखी हुई छबि का मनन करती हुई उसका वर्णन कर रही है। सौन्दर्य-प्रशंसा कर इनके माता-पिता को धन्य कहती है; यथा—"ते पितु-मातु धन्य जिन्ह जाए।" (मा० अ० १२१)।

'सरद बिमल-विधु···'; यथा—"सरद सर्बरी नाथ मुख, सरद सरोरुह नैन।" (मा० अ० ११६); "जटा मुकुट सीसनि सुभग,···सरद-परब-बिधु-बदन बर" (मा० अ० ११५)। 'मन मय मारग···'—करोड़ों कामदेवों से कहीं अधिक लावण्य वाले हैं, इससे मन अपने स्मरण पथ से इन्हें क्षण मात्र को भी जाने नहीं देता, सदा यों ही मन में विराजमान रहते हैं; यथा—"तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति। स्थितेऽरविन्दे मकरंद-निर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरकं हि वीक्षते ॥" (आलवंदार स्तोत्र २०); अर्थात् मोक्ष स्रवने वाले आपके चरण कमल में जिसका चित्त लग गया है, वह अन्य सांसारिक पदार्थों की कब इच्छा कर सकता है ? जैसे कि मकरंद परिपूर्ण कमल पर स्थित रहने पर भ्रमर तालमखाने के पुष्प को कभी क्या देखता भी है ?

(कभी नहीं)। तथा—"राम चरन पंकज प्रिय जिन्हहीं। विषय भोग बस करहिं कि तिन्ह हीं॥" (मा० अ० ८३)।

राग केदारा

[३७]

'आली! काहू तौ बूझै न, पथिक कहाँ धौं सिधैहैं।
कहाँ ते आए हैं, को हैं, कहा नाम स्याम-गोरे,
काज कै कुसल फिरि एहि मग ऐहैं?॥ १॥
उठत बयस, मसि भीजत, सलोने सुठि,
सोभा देखवैया बिनु बित्त ही बिकैहैं।
हिये हरि-हरि लेत लोनी ललना समेत,
लोयननि लाहु देत जहाँ-जहाँ जैहैं'॥ २॥
राम लखन सिय पथ की कथा पृथुल,
प्रेम बिथकी कहति सुमुखि सबै हैं।
तुलसी तिन्ह सरिस तेऊ भूरि भाग जेऊ,
सुनि कै सुचित्त तेहि समै समै हैं॥ ३॥

शब्दार्थ—पृथुल (पृथु सं०)=असंख्य, अगणित—हिं० श० सा०।

अर्थ—ऐ आली! किसी ने भी तो नहीं पूछा कि ये पथिक, भला, कहाँ जायँगे? कहाँ से आये हैं, कौन हैं, इन साँवले तथा गोरे कुमारों के नाम क्या हैं? और कुशल पूर्वक काम करके फिर इसी मार्ग से (क्या) आवेंगे?॥ १॥ इनकी उठती हुई अवस्था है, अभी स्याही भीग रही है (मोछ आने के स्थान पर कुछ हरियाली आना चाहती है, कुछ यौवन का रंग चढ़ रहा है)। अतएव अत्यन्त लावण्य भरे हुए (परम सुन्दर) हैं। इनकी शोभा देखने वाले, बिना दाम ही (इनके हाथ) बिक जायँगे। परम सुन्दरी स्त्री के साथ तीनों दर्शकों के हृदय का हरण कर लेते हैं, ये जहाँ-जहाँ जायँगे, वहाँ-वहाँ के लोगों के नेत्रों को इसी प्रकार से लाभ देते जायँगे'॥ २॥ इसी प्रकार सभी सुन्दरियाँ प्रेम में विह्वल होकर श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी के मार्ग की असंख्य कथाएँ कहती हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जो लोग इन

कथाओं को सावधान चित्त से सुन कर उस समय के चरितों में निमग्न हो जायँगे, वे भी उन्हीं (ग्राम नारियों) के समान महान् भाग्यशाली हैं ॥ ३ ॥

विशेष—'आली ! काहू तो···'—अत्यन्त तेजस्वी देख कर स्वयं नहीं पूछ सकती, इससे किसी से पूछने की बात कहती हैं। इन्हें देखने में परम सुख मिल रहा है, इससे इनका परिचय चाहती हैं। 'कहा नाम स्याम-गोरे'—श्याम का क्या नाम और गोरे का क्या नाम है ? यह पृथक्-पृथक् जानना चाहती हैं। 'फिरि एहि मग ऐहैं'—क्या लौटते समय इसी मार्ग से आयेंगे ? यदि आवेंगे तो बड़ा भाग्य है, फिर भी ऐसा ही सुख मिलेगा। 'उठत बयस···'; यथा—"बय किसोर सरि पार मनोहर बयस सिरोमनि होने। सोभा-सुधा, आलि अँचवहु करि नयन मंजु मृदु दोने॥" (पद २३)—इसका विशेष देखिये। 'सोभा देखवैया बिनु बितहि बिकै हैं'; यथा—"धन्य नर नारि जे निहारि बिनु गाहक हूँ आपने आपने मन मोल बिनु बिके हैं॥" (पद ३०)—इसका विशेष देखिये।

'हिये हरि-हरि लेत···'—तीनों अपनी-अपनी शोभा से दर्शकों के हृदय का हरण कर लेते हैं। इसी प्रकार जहाँ जहाँ जायँगे, वहाँ वहाँ के लोगों को नेत्र फल देते रहेंगे। इन तीनों के दर्शन ही लोचन लाभ हैं; यथा—"राम लखन सिय-रूप निहारी। पाइ नयन फल होहिं सुखारी॥ सजल बिलोचन पुलक सरीरा। सब भये मगन देखि दोउ बीरा॥ बरनि जाइ दसा तिन्ह केरी। लहि जनु रंकन्ह सुरमनि ढेरी॥ एकन्ह एक बोलि सिख देहीं। लोचन लाहु लेहु छन एहीं॥" (मा० अ० ११२)।

'हिये हरि-हरि लेत' यह पाठ श्रीभागवतदासजी की पुरानी प्रति का है, यह मुझे विशेष संगत जान पड़ा है। शेष प्रतियों का पाठ 'हिये हेरि हरि लेत' ऐसा है। इसका भाव—"हेरत हृदय हरत, नहिं फेरत···" (पद २२)—इसके विशेष में देखिये। 'हरि-हरि लेत' इस पाठ में तीनों का अपनी-अपनी शोभा से हृदयाकर्षण करना है। आगे भी 'लोयननि लाहु देत···' यही लिखा है। अतः, यह पाठ युक्त है। यदि 'हेरि हरि लेत' पाठ होता तो 'लोचननि देखि-देखि···' ऐसा कहा जाता। पूर्व भी 'सोभा देखवैया···' यही कहा गया है। अतः, दर्शकों का देखना ही यहाँ युक्त है। प्रभु का देखना नहीं।

'राम लखन सिय पथ की कथा...'—इसमें 'पथ की' इस स्थान पर कहीं तो 'पंथि की' यह पाठ है और कहीं 'पथिक की' ऐसा पाठ है। श्रीभागवतदासजी संशोधित प्रति में 'पथ की' यह पाठ है। इसमें छन्द गति ठीक है। अर्थ में भी कोई अड़चन नहीं है। पथिक और पंथि (पंथी) का बटोही अर्थ है। तीनों बटोहियों की कथा का जो अर्थ है, वही तीनों के पंथ (मार्ग) की कथा का भी अर्थ है। अतः, 'पथ की' यह पुराना पाठ ही मैंने रक्खा है।

'प्रेम बिथकी कहति...तिन्ह सरिस तेऊ...'—उस समय के अनुसार इन सुन्दरियों के प्रेमपूर्ण कथन में चित्त देकर निमग्न होने पर उनकी-सी दशा हो जायगी; यथा—"लोचन सजल, तन पुलक, मगन मन होत" (पद २१)-इसका विशेष देखिये। 'समैहैं'—समा जायँगे, निमग्न हो जायँगे।

[३८]

बहुत दिन बीते सुधि कछु न लही।
गए जो पथिक गोरे-साँवरे सलोने,
सखि! संग नारि सुकमारि रही ॥१॥
जानि-पहिचानि बिनु आपु ते, आपनेहु ते,
प्रानहु तें प्यारे प्रियतम उपही।
सुधा के सनेहहू के सार लै सँवारे बिधि,
जैसे भावते हैं भाँति जाति न कही ॥२॥
बहुरि बिलोकिबे कबहुँक, कहत,
तनु पुलक, नयन जलधार बही।
तुलसी प्रभु सुमिरि ग्राम जुवती सिथिल,
बिनु प्रयास परी प्रेम सही ॥३॥

अर्थ—हे सखी! बहुत दिन बीत गये, जो साँवले और गोरे बड़े सुन्दर पथिक गये थे, जिनके साथ में एक सुकमारी स्त्री थी, उनकी सुधि कुछ नहीं मिली ॥ १ ॥ वे परदेशी थे। अतः, उनसे जान-पहचान न थी, बिना जान-पहचान के भी वे अपने से, अपने परिजनों से और अपने प्राणों से भी प्यारे लगते थे। वे ऐसे प्रियतम लगते थे कि मानों उन्हें विधाता ने अमृत का एवं स्नेह का सार लेकर और सँवार कर रचा है। वे जैसे प्यारे लगते हैं, उस

भाँति के प्रेम का मुझसे वर्णन नहीं हो सकता ॥२॥ 'क्या उनको हम फिर कभी देख पायेंगी ?' ऐसा कहते ही उसका शरीर पुलकित हो आया और उसके नेत्रों से प्रेमाश्रु की धारा बह चली। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि प्रभु श्रीरामजी का स्मरण कर वह ग्रामीण स्त्री शिथिल हो गई (इससे उसकी वाणी रुक गई एवं वह स्तब्ध-सी रह गई) इस प्रकार वह बिना प्रयास प्रेम में सच्ची पड़ी (सिद्ध हुई) ॥३॥

विशेष—'जानि-पहिचानि बिनु...उपही।'—इस प्रकार के सर्व-प्रियत्व से आपका सब की प्रिय आत्मा होना सिद्ध है; यथा—"ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।" (मा० बा० २१५); तथा—"देखे राम-लखन निमेषैं विथकित भईं, प्रानहुँ ते प्यारे लागे बिनु पहिचाने हैं॥" (बा० ५९); "ऐषोऽस्य परम आनंद एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति॥" (बृह० ४। ३।३२); अर्थात् यही इसका परम आनंद है, इस आनन्द की मात्रा के आश्रित ही सब प्राणी जीते हैं। तथा—"यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः।" (बृह० ३।४।१), अर्थात् जो प्राण से प्राण क्रिया करता है, वह तेरी आत्मा सर्वान्तर है। "राम प्रानप्रिय जीवन जीके। स्वारथ रहित सखा सबही के॥ पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानियहि राम के नाते॥" (मा० अ० ७३)।

इन गुणों से श्रीरामजी परदेशी होते हुए भी उसे अपने से आत्मीयों से प्राणों से भी प्यारे लग रहे हैं। राजा दशरथ ने भी कहा है; यथा—"देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं॥....राम देत नहिं बनइ गोसाईं।" (मा० बा० २०७)।

'सुधा के सनेहहू के सार...'—जैसे अमृत में तुष्टि, पुष्टि एवं अमरत्व आदि गुण हैं, वैसे इनके दर्शन में हैं—"सोभा-सुधा पियैं करि अँखिया दोनी।" (पद २२)—इसका विशेष देखिये। इससे ये अमृत के सार तत्त्व जान पड़ते हैं। ऊपर लिखा गया कि इनसें बिना पहचान के भी स्नेह होता है, इससे ये स्नेह के भी सारतत्त्व हैं, ऐसा जान पड़ता है। तथा—"सुकृत-सनेह-सील-सुखमा-सुख सकेलि बिरचे बिरंचि किधौं अमिय अमी के हैं।" (पद ३०)—इसका विशेष देखिये।

'जैसे भावते हैं भाँति जाति न कहो'; यथा—"रामहिं चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुख नहिं कथनीया॥ उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवनि प्रकार कहै कवि कोऊ॥" (मा० बा० २४१)।

'बहुरि बिलोकिबे कबहुँक'; यथा—"तुलसी निरखि हरषि उर लैहौं बिधि होइहै दिन सोऊ।" (बा० ६६); "बारक बहुरि बिलोकिबे काऊ।" (पद ३६)। फिर मैं कभी देखूँगी ? इतना कहते ही वाणी की गति रुक गई। शरीर पुलक एवं प्रेमाश्रु से शरीर की गति स्तब्ध हो गई और स्मरण कर शिथिल होने में मन की भी सच्ची प्रीति सिद्ध हो गई। इस प्रकार इसकी प्रीति सच्ची सिद्ध हुई; यथा—"इतनी कही सो कही सीय, ज्यों ही त्यों ही रही, प्रीति परी सही, बिधि सों न बसानि॥" (सुं० ७); अर्थात् सच्ची प्रीति तो वही है, जिससे प्रियतम के वियोग में प्राण त्याग हो जाय। जैसे राजा दशरथ ने किया है; यथा—"बंदउँ अवध भुआल, सत्य प्रेम जेहि रामपद। बिछुरत दीन दयाल, प्रियतन तृन इव परिहरेउ॥" (मा० बा० १६)। परन्तु यहाँ यदि प्राण नहीं निकला तो इसमें मेरा वश नहीं है; यथा—"जीवन-मरण, जस-अपजस बिधि हाथ।" (मा० अ० १७१)। सही प्रीति की दशा यही है, प्राण न निकलने में ब्रह्मा की अधीनता है। प्रारब्ध पूर्ति विना मृत्यु नहीं होती।

[३९]

आली री ! पथिक जे एहि पथ परौं सिधाए।
ते तौ राम-लखन अवध ते आए ॥१॥
संग सिय सब अंग सहज सोहाए।
रति-काम-रितुपति कोटिक लजाए ॥२॥
राजा दशरथ, रानी कौसिला जाए।
कैकयी कुचालि करि कानन पठाए ॥३॥
बचन कुभामिनि के भूपहि क्यों भाए ?।
हाय ! हाय ! राय बाम बिधि भरमाए ॥४॥
कुलगुरु सचिव काहु न समुझाए।
काँच-मनि अमोल मानिक गँवाए ॥५॥

भाग मग-लोगनि के देखन जिन पाए ।
तुलसी सहित जिन्ह गुनगन गाए ॥६॥

अर्थ—अरी आली ! जो पथिक इस मार्ग से परसों गये थे, वे तो श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी (नाम के) थे, वे श्रीअयोध्या नगर से आये थे ॥१॥ उनके साथ (की स्त्री) श्रीसीताजी थीं । (उन तीनों के) सभी अंग स्वभाव से ही (बिना भूषण-वस्त्र सजाये ही शोभायमान थे । उन्हें देख कर करोड़ों रति, कामदेव और वसन्त लज्जित होते थे ॥२॥ उन (प्रधान श्रीरामजी) को राजा श्रीदशरथ और रानी श्रीकौशल्याजी ने जन्म दिया है और (विमाता) रानी कैकेयी ने कुचाल करके उन्हें वन भेजा है ॥३॥ उस दुष्टा स्त्री के वचन, भला राजा दशरथ को ही क्यों अच्छे लगे ? हाय ! हाय !! राजा को वाम-विधाता ने भ्रम में डाल दिया ! ॥४॥ उन्हें कुलगुरु श्रीवशिष्ठजी और मन्त्री सुमन्त्र आदि किसी ने भी नहीं समझाया; (हा ! इस कर्म से तो) राजा ने काँच की मणि लेकर अमूल्य माणिक गँवा (खो) दिया है ! ॥५॥ हाँ, भाग्य मार्ग के लोगों के हैं, जिन्होंने इनके दर्शन प्राप्त किये हैं और इस तुलसीदास के साथ वे भी वैसे ही भाग्यवान् हैं, जिन्होंने इनके इस मार्गचरित के गुण-गणों का गान किये हैं ॥६॥

विशेष—'आली री !...संग सिय...'—इसने पीछे नाम-ग्राम का पता पाया है और इनके अवध के चरितों का पता भी लगाया है, वही औरों से कहती है ।

'रति काम रितुपति कोटिक लजाए'—श्रीजानकीजी से रति, श्रीरामजी से काम और लक्ष्मणजी से वसन्त लज्जित हुए । तथा—"मानहुँ रति रितु नाथ सहित मुनि बेष बनायो है मैन ।" (पद २४); "सदन सप्रिया सप्रिय सखा मुनि बेष बनाए सिये जात मन हरे हैं ।" (पद २५)-इनके विशेष देखिये।

यहाँ 'प्रतीपअलङ्कार का द्वितीय भेद' है ।

'कैकयी कुचालि करि...'; यथा—"रानि कुचालि सुनत नरपालहि ।" (मा० अ० २७०); "कीन्ह मातु मिस काल कुचाली ।" (मा० अ० २५२); "देहिं कुचालिहि कोटिक गारी ।" (मा० अ० ५०) ।

'बचन कुभामिनि के...बिधि भरमाए ।'; यथा—"भूप प्रतीति तोरि

किमि कीन्हीं। मरन काल बिधि मति हरि लीन्हीं ॥" (मा० अ० १६१)।

'कुलगुरु सचिव काहू न···'-लीला के अनुरोध से श्रीरामजी की इच्छा ही यहाँ प्रधान हेतु है; राजा ने एकान्त में कैकेयी के जाल में फँस कर सहसा दोनों बरदानों को देने के लिये श्रीराम-शपथ कर डाला। बस, इस पर फिर कोई कुछ कर ही नहीं सका। अब यदि उस वचन में अन्यथा करते तो श्रीरामजी का ही अकल्याण होता, इससे न राजा ने ही गुरु से कुछ पूछा और न उन्होंने ही कुछ किया।

'काँच मनि लै अमोल मानिक गँवाए।'; यथा—"रुचिर काँचमनि देखि मूढ़ ज्यों करतल ते चितामनि डारे।" (पद २); तथा—"कोउ कहै, मनिगन तजत काँचलगि, करत न भूप भली।" (पद १०)-इनके विशेष देखिये।

यहाँ 'ललित अलंकार' है।

'भाग मग-लोगनि के देखन जिन पाए।'; यथा—"एक कहहिं हम बहुत न जानहिं। आपुहि परम धन्य करि मानहिं ॥ ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे। जे देखहिं देखिहहिं जिन्ह देखे ॥" (मा० अ० ११९)।

'तुलसी सहित जिन्ह गुनगन गाये।'-क्योंकि गुण-गान से भी उनकी-सी दशा आ जाती है; यथा—"तुलसी तिन्ह सरिस तेऊ भूरि भाग जेऊ सुनि कै, सुचित तेहि समै समै हैं।" (पद ३७)—इसका विशेष देखिये।

[४०]

सखि! जब ते सीता समेत देखे दोउ भाई।
तब ते परै न कल, कछू न सोहाई ॥१॥
नख-सिख नीके, नीके निरखि निकाई।
तन सुधि गई, मन अनत न जाई ॥२॥
हेरनि बिहँसनि हिये लिये हैं चोराई।
पावन प्रेम बिबस भई हौं पराई ॥३॥
कैसे पितु-मातु प्रिय परिजन भाई।
जीवत जीव के जीवन बनहिं पठाई ॥४॥
समउ सोचित करि हित अधिकाई।
प्रीति ग्राम-बधुन्ह की तुलसीहुँ गाई ॥५॥

अर्थ—हे सखी ! जब से मैंने श्रीसीताजी के साथ दोनों भाइयों को देखा है, तब से मुझे कल (चैन) नहीं पड़ता और न कुछ सुहाता ही है ॥१॥ वे नख से शिखा तक सुन्दर हैं, उनकी सुन्दरता को भली-भाँति देख लेने पर शरीर की सुधि चली गई । अब मन उनसे पृथक् (अन्यत्र) जाता ही नहीं ।२। उनकी चितवन और हँसी ने मेरे हृदय को चुरा लिया है । उनके पवित्र प्रेम के वश होकर मैं अब बिरानी (दूसरे की) हो गई हूँ (अपने हृदय पर अब मेरा अधिकार नहीं रह गया, यह उन्हीं की ओर लग गया है) ॥३॥ भला, वे माता-पिता, प्यारे परिवार के लोग और भाई वर्ग कैसे हैं कि जिन्होंने जीते जी इन जीवों के जीवन (श्रीरामजी) को वन भेजा है ॥४॥ अधिक प्रीति-पूर्वक उस समय को चित्त में लाकर इस तुलसीदास ने भी ग्राम-बधुओं की प्रीति गाई है ॥५॥

विशेष—'जब ते सीता समेत देखे···तब ते परै न कल···'; यथा—"जब ते राम-लखन चितए, री । रहे इकटक नर-नारि जनकपुर, लागत पलक कलप बितए री ॥" (बा० ७८) ।

'तन सुधि गई···'; यथा—"सखि नीके कै निरखि···सुरति बिसरि गई आपनी ओही ।" (पद १९); "मन गयो संग, सोच बस लोचन मोचन बारि, कितौ समुझाए ।" (पद ३५) ।

'हेरनि-बिहँसनि हिये···'; यथा—"हेरत हृदय हरत, नहिं फेरत···" (पद २३)—इसका विशेष देखिये । तथा—"जिय की जरनि हरत हँसि हेरत···" (मा० अ० २३८) ।

'पावन प्रेम-बिबस···'—स्वार्थ-भावना से रहित प्रेम पवित्र है । यह केवल श्रीरामजी आदि के वन मार्ग के कष्ट को देखकर इनको ही सुख की भावना करके प्रेमवश हुई है । अतः, इसकी प्रीति पवित्र है; यथा—"इन्ह कै प्रीति परस्पर पावनि । कहि न जाइ मन भाव सुहावनि ॥" (मा० बा० २१६) इस प्रसंग में भी श्रीरामजी श्रीलक्ष्मणजी को सुख देना चाहते हैं और श्री-लक्ष्मणजी श्रीरामजी को, इनकी पारस्परिक प्रीति में यही पावनता है । कहा भी है; यथा—"पावन प्रेम राम चरन, जनम लाहु परम ।" (विनय १३१) ।

'कैसे पितु-मातु···'; यथा—"कैसे पितु-मातु, कैसे ते प्रिय परिजन हैं ?"···

जिन्ह पठए हैं ऐसे बालकनि बन हैं ॥" (पद २६)—इसका विशेष देखिये ।

'जीव के जीवन'; यथा—"राम प्रान-प्रिय जीवन जी के" (मा० अ० ७३); तथा—"प्रान हू के प्रान से, सुजीवन के जीवन से,..." (पद २६)। 'कैसे...हैं ?' भाव यह कि मानव-हृदय तो फट गया होता, किन्तु वे जीते हैं तो आश्चर्य है।

'समउ सो चित करि...'—ऊपर पद के अंतिम चरण में उद्धृत प्रसंग देखिये। भाव यह कि इसके ध्यान एवं गान से उनकी दशा प्राप्त हो जाती है, इसलिये मैंने गाई है।

'प्रीति ग्राम-बधुन्ह की'—इसका उपक्रम—"सुखमा निरखि ग्राम-बनितनि के नलिन नयन बिकसित मानो प्रात।" (पद १५); यहाँ से है। इस पद पर उपसंहार हुआ है। इतना प्रसंग ग्राम-बधुओं की प्रीति का है।

श्रीचित्रकूट-निवास

राग केदारा

[४१]

जब ते सिधारे यहि मारग लखन-राम,
जानकी सहित, तब ते न सुधि लही है।
अवध गए धौं फिरि, कै धौं चढ़े बिंध्य गिरि,
कै धौं कहुँ रहे, सो कछू, न काहू कही है ॥१॥
एक कहैं, चित्रकूट निकट नदी के तीर,
परनकुटीर करि बसे, बात सही है।
सुनियत, भरत मनाइबे को आवत हैं,
होइगी पै सोई, जो बिधाता चित चही है ॥२॥
सत्यसंध, धरम-धुरीन रघुनाथ जू को,
आपनी निबाहिबे, नृप की निरबही है।
दसचारि बरिस बिहार बन पद चार,
करिबे पुनीत सैल, सर-सरि, मही है ॥३॥
मुनि-सुर-सुजन-समाज के सुधारि काज,
बिगरि-बिगरि जहाँ-जहाँ जाकी रही है।

पुर पाँउ धारि हैं, उधारि हैं, तुलसी हू से जन,
जिन जानि कै गरीबी गाढ़ी गही है ॥४॥

अर्थ—जब से श्रीजानकीजी के साथ श्रीराम-लक्ष्मणजी इस मार्ग से गये हैं, तब से उनकी कोई सुधि नहीं मिली। वे श्रीअयोध्या नगर को लौट गये या विन्ध्याचल पर चढ़े अथवा और कहीं रह रहे हैं, यह सब किसी ने कुछ नहीं कहा है ॥१॥ कोई कहने लगे—वे श्रीचित्रकूट (कामता नाथ) गिरि के समीप (श्रीमन्दाकिनी एवं) पयस्विनी नदी के तट पर पर्णकुटी बना कर बसे हुए हैं—यह बात सच्ची है। यह भी सुना जाता है कि श्रीभरतजी मना कर लौटा ले जाने के लिये आ रहे हैं। परन्तु बात तो वही होगी जो विधाता ने अपने चित्त में निश्चित कर रक्खी है ॥२॥ सत्यसंध और धर्मधुरीण श्रीरघुनाथजी को अपनी (प्रतिज्ञा) निबाहनी है; राजा दशरथ की तो निबह गई है। अब इन्हें (श्रीरामजी को) पैदल चलते हुए, चौदह वर्ष तक वन के विहार करते हुए, पहाड़ों, नदियों, तालाबों और पृथिवी के विभागों को पवित्र करना है ॥३॥ जहाँ-जहाँ जिन जिन की दशाएँ बिगड़ी हुई हैं; वहाँ-वहाँ उन मुनियों देवताओं और साधुजनों के समाज के सारे कार्य सुधार कर तब श्रीअवधपुर पधारेंगे और तुलसीदास-सरीखे भक्तों का भी उद्धार करेंगे, जिन्होंने (प्रभु को गरीब-निवाज) जान कर दृढ़ता से दीनता ग्रहण कर रक्खी है ॥४॥

विशेष—'जब ते सिधारे···अवध गए धौं···'—इन्होंने जिज्ञासा प्रकट की; क्योंकि समाचार नहीं मिला था।

'एक कहैं, चित्रकूट···'-इन्होंने ठीक पता पाया है, इससे सही कहा है।

'चित्रकूट निकट नदी के तीर···'; यथा—"लखन दीख पय उतर करारा। चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा॥" से "लखन जानकी सहित प्रभु, राजत रुचिर निकेत।" (मा० अ० १२२-१३३) तक।

'सुनियत-भरत मनाइबे को आवत हैं'; यथा—"रामहिं भरत मनावन जाहीं। सगुन कहइ अस बिग्रह नाहीं॥" (मा० अ० १९१)।

'होइगी पै सोई, जो···'—ब्रह्मा के पहले के कर्तव्य कुछ लिखे गये—"कैकेयी बिलखानी। तुलसीदास देषमाया बस कठिन कुटिलता ठानी॥" (पद १); तथा—"यह दूषन बिधि तोहि होत अब···" (पद ३)—इनके

विशेष देखिये। भाव यह कि विधाता ने ऐसे-ऐसे कठिन संयोग बना दिये हैं कि अब बिना चौदह वर्ष पूरे हुए श्रीरामजी का लौटना कठिन है। विधाता की चित-चही बात आगे की प्रतिज्ञाओं से प्रकट करते हैं—

'सत्य संध धरम धुरीन...'—सत्य संध हैं, इससे कैकेयीजी के समक्ष जो श्रीरामजी ने प्रतिज्ञा की है—ऊपर लिखित 'यह दूषन बिधि...' इसके विशेष में देखिये। उस पर दृढ़ रहेंगे। धर्म धुरीण हैं, इससे पिता की आज्ञा के पालन रूप श्रेष्ठ धर्म का धारण करेंगे; यथा—"पितु आयसु सब धरमक टीका।" (मा० अ० ५४)। ये अपनी प्रतिज्ञा अवश्य निबाहेंगे।

'नृप की निबही है'; यथा—"भूप धरम व्रत सत्य सराहा। जेहि तनु परिहरि प्रेम निबाहा॥" (मा० अ० १७०)।

'दस चारि बरिस...'—श्रीरामजी अपनी प्रतिज्ञा के निबाहने में जो करेंगे, वही सब कहते हैं—इस चौदह वर्ष के वन-विहार में इन शैल आदि को पवित्र करेंगे; यथा—"धन्य सो देस सैल बन गाऊँ। जहँ-तहँ जाहिं धन्य सोइ ठाऊँ॥" (मा० अ० १२१)। "दंडक बन पुनीत प्रभु करहू।" (मा० अर० १२); "जे सर सरित राम अवगाहहिं। तिन्हहि देव सर सरित सराहहिं॥ जेहि तरु तर प्रभु बैठहिं जाई। करहिं कलपतरु तासु बड़ाई॥ परसि राम-पद-पदुम परागा। मानति भूमि भूरि निज भागा॥" (मा० अ० ११२)।

'मुनि-सुर-सुजन-समाज के...'—प्रायः राक्षसों के बध से इन सबके कार्य सिद्ध हुए हैं; यथा—"सुर काज धरि नर राज तनु चले दलन खल निसि-चर अनी।" (मा० अ० १२५); "तुलसिदास सुर काज न साध्यो..." (पद ३); "जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर नर मुनि सबके भय बीते॥" (मा० अर० २०)। 'पुर पाँउ धारिहैं'—लंका विजय पर राक्षस निर्मूल हुए, तभी सभी के कार्य भी सम्पन्न हुए; यथा—"रन जीति राम राउ आए।...अरिपुर जारि, उजारि, मारिरिपु, बिबुध सुबास बसाए। धरनि धेनु महिदेव साधु सबके सब सोच नसाए॥" (लं० २२)।

'उधारिहैं तुलसी हू-से जन...'—गाढ़ी गरीबी दृढ़ निष्ठ शरणागति में रहती है। शरणागत का तो श्रीरामजी निरन्तर उद्धार करते ही रहते हैं। श्रीरामजी ने जिन गुणों से आश्रितों का कल्याण किया है। उनका गान एवं

ध्यान करने से आज भी वे उन्हीं गुणों से आश्रितों का कल्याण करते हैं। यथा—"कामधेनु महि बिटप कामतरु कोउ बिधि बाम न लाये। ते तब, अब तुलसी तेउ जिन्ह हित-सहित राम-गुन गाये॥" (लं० २२)।

राग सारंग

[४२]

ए उपही कोउ कुँवर अहेरी।
स्याम गौर धनु-बान-तूनधर चित्रकूट अब आइ रहे, री ॥१॥
इन्हहिं बहुत आदरत महामुनि समाचार मेरे नाह कहे, री।
बनिता बंधु समेत बसत बन पितु-हित कठिन कलेस सहे, री ॥२॥
बचन परस्पर कहत किरातिनि पुलकगात, जल नयन बहे, री।
तुलसी प्रभुहि बिलोकति एकटक लोचन जनु बिनु पलक लहे, री ॥३॥

अर्थ—(हे सखी !) ये अपरिचित एवं विदेशी मृगयाशील कोई राजकुमार हैं। ये श्याम-गौर वर्ण वाले धनुर्बाण और तरकशधारी हैं, अब इस श्रीचित्रकूट पर्वत पर आकर रहने लगे हैं ॥१॥ महामुनि श्रीअत्रिजी एवं श्रीवाल्मीकि आदि इनका बहुत बड़ा आदर करते हैं, ऐसा समाचार मेरे पति ने कहा है। इस समय ये स्त्री और भाई के साथ वन में निवास कर रहे हैं, इन्होंने पिता के लिये बड़े-बड़े कठिन क्लेश सहन किये हैं ॥२॥ किरातों की स्त्रियाँ आपस में ऐसे वचन कहती हैं और उनके शरीर पुलकित हो गये हैं तथा उनके नेत्रों से जल धारायें बह रही हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वे प्रभु श्रीरामजी को एकटक देख रही हैं, उनके नेत्र मानों बिना पलक के ही उन्हें प्राप्त हैं ॥३॥

विशेष—'ए उपही कोउ···'—वन में या तो कोल-किरात रहते थे और या तो तपस्वी मुनि आदि बसते थे, किन्तु ये तो कोई इनसे भिन्न उपही हैं, विदेशी हैं, राजकुमार हैं, बड़े सुन्दर हैं और शस्त्रधारी हैं। अतः, मुनि भी नहीं हैं; बाहर से आकर यहाँ रहने लगे हैं। 'अहेरी'; यथा—"जहँ-तहँ तुम्हहिं अहेर खेलाउब।" (मा० अ० १३५)।

'इन्हहिं बहुत आदरत महामुनि···'—महामुनि भी इनका बड़ा आदर करते हैं, इससे तो कोई दिव्य शरीरधारी जान पड़ते हैं; यथा—"चित्रकूट रघुनंदन छाए। समाचार सुनि-सुनि मुनि आए॥···मुनि रघुबरहिं लाइ उ

लेहीं। सुफल होन हित आसिष देहीं ॥ सिय-सौमित्रि राम छबि देखहिं। साधन सकल सफल करि लेखहिं ॥" (मा० अ० १३२)।

'पितु-हित कठिन कलेस सहे, री'—गर्मी, जाड़ा और वर्षा वात के दुःख सह रहे हैं। पिता का हित; यथा—"मातु-पितु-बंधु-हित···" (पद ३३)—इसका विशेष देखिये।

'बचन परस्पर कहत···'—वचन से कथा कह रही हैं, मन से प्रेम है, उसीसे शरीर से पुलक एवं अश्रुपात आदि हो रहे हैं। आश्चर्य रूप देखने में पलक रुक गये हैं।

'जनु बिनु पलक···'—इसमें 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा-अलङ्कार' है।

राग चंचरी

[४३]

चित्रकूट अति बिचित्र, सुंदर बन, महि पवित्र,
पावनि पय-सरित सकल मल-निकंदिनी।
सानुज जहँ बसत राम, लोक-लोचनाभिराम,
बाम अंग बामा बर बिस्व बंदिनी ॥१॥❀
चितवत मुनिगन चकोर, बैठे निज ठौर-ठौर,
अच्छय अकलंक सरद - चंद - चंदिनी।
उदित सदा बन-अकास, मुदित बदत तुलसिदास,
जय-जय रघुनंदन जय जनकनंदिनी ॥२॥

❀ इसके आगे श्रीवैजनाथजी की टीका एवं श्रीहरिहर प्रसाद तथा गीता प्रेस की टीकाओं वाली प्रतियों में ये चार चरण और हैं, पर भागवतदास की शोधी हुई प्रति एवं काशी ना० प्र० सभा की प्रति में ये नहीं हैं। इनकी रचना एवं भावार्थों से मुझे भी इनका गोस्वामीजी का होने में संदेह है, इससे मैंने भी इन्हें मूल में नहीं रक्खा। 'रिषिबर तहँ छंद बास, गावत कल कोकिल हास, कीर्तन उनमाय काय क्रोध-कंदिनी। बर बिधान करत गान, वारत धन-मान-प्रान झरना झरत झिंग-झिंग-झिंग जल तरंगिनी ॥२॥ बर बिहारु चरन चारु पाँडर चंपक चनार करनहार वार पार पुर पुरंगिनी। जोवन नव ढारत ढार, दुत्त मत्त मृग मराल, मंद मंद गुंजत हैं अलि-अलिंगिनी ॥३॥'

अर्थ—श्रीचित्रकूट पहाड़ अत्यन्त विचित्र है, वहाँ का वन बड़ा ही सुन्दर है और वहाँ की पृथिवी बड़ी पवित्र है, वहाँ पर समस्त पापों का नाश करनेवाली परम पावनी श्रीपयस्विनी नदी है। जहाँ पर भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ श्रीरामजी निवास करते हैं, जो समस्त लोकों के नेत्रों को प्रिय लगनेवाले हैं। उनके वामभाग में स्त्रियों में श्रेष्ठ एवं विश्ववन्दनीया श्रीजानकीजी विराजमान् हैं ॥१॥ उस वन रूप आकाश में श्रीरामजी और श्रीजानकीजी अक्षय तथा निष्कलंक शरद् ऋतु के चन्द्र एवं चन्द्रिका के समान सदा उदित रहते हैं, उन्हें मुनिगण रूप चकोर अपने-अपने स्थानों पर बैठे हुए देखा करते हैं। श्रीतुलसीदासजी आनन्दित होकर कहते हैं कि रघुनन्दन श्रीरामजी की जय हो, जय हो और श्रीजनकनन्दिनीजी की जय हो ॥२॥

विशेष—'चित्रकूट अति बिचित्र'; यथा—"तुलसी जो राम सों सनेह साँचो चाहिये तौ सेइये सनेह सों बिचित्र चित्रकूट सो ॥" (क० उ० १४१)। 'सुंदर बन'; यथा—"देखत चित्रकूट-बन मन अति होत हुलास।" (पद ४७); "कहि न सकहिं सुखमा जसि कानन। जौं सत सहस होंहिं सहसानन ॥" (मा० अ० १३८)। 'महि पवित्र'; यथा—"सो बन सैल सुभाय सुहावन। मंगलमय अतिपावनपावन ॥ महिमा कहिय कवनबिधि तासू। सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू ॥" (मा०अ० १३८)। 'पावन पय सरित···'; यथा—"सरित सोहावनि पावनि, पापहरनि पय नाम। सिद्ध-साधु-सुर-सेवित देति सकल मन काम ॥" (पद ४७); "लखन दीख पय उतर करारा। चहुँ दिसि फिरेउ धनुप जिमि नारा ॥" से "अस कहि लखन ठाँउ देखरावा। थल बिलोकि रघुबर मन भावा ॥" (मा० अ० १३२) तक। इससे आज कल रामघाट पर जहाँ श्रीचित्रकूट में श्रीरामजी की पर्णकुटी है, वह घाट पयस्विनी नदी का ही है। उस घाट से पहले ही राघव-प्रयाग संज्ञक स्थान पर पयस्विनी में श्रीमन्दाकिनी नदी मिली है। आज कल मंदाकिनी का ही जल सब दिन चलता है, इससे कुछ लोग रामघाट पर भी मंदाकिनी ही कहते हैं। परन्तु वहाँ के स्कूल आदि में उसे पयस्विनी कह कर पढ़ाया जाता है। श्रीगोस्वामीजी के समय में भी पयस्विनी ही नाम था। पयस्विनी प्राचीनतम है, इससे उसकी प्रधानता रहनी ठीक ही है। पयस्विनी वहीं पर श्रीकामतानाथ पहाड़ के दक्षिण ब्रह्मकुंड संज्ञक

स्थान से उद्भूत मानी गई है; यथा—"पयस्विनी ब्रह्मकुण्डाद्भविष्यति नदी पुरा। ममरूपा महाभागा परं निर्वाणदायिनी॥" (बृहद्रामायणोक्त श्रीचित्रकूट माहात्म्य)। मंदाकिनी नदी भी प्राचीन एवं पवित्र है; यथा—"नदी पुनीत पुरान बखानी। अत्रिप्रिया निज तप बल आनी॥ सुरसरि धार नाउँ मंदाकिनी। जो सब पातक पोतक डाकिनि॥" (मा० अ० १३१); तथा—"मंदाकिनि मज्जत अवलोकत त्रिबिध पाप, त्रय ताप नसाई।" (पद ४६)।

'सानुज जहँ बसत राम···बाम अंग···'; यथा—"लखन जानकी सहित प्रभु, राजत रुचिर निकेत। सोह मदन मुनिबेष जनु, रति-रितुराज समेत॥ अमर नाग किन्नर दिसिपाला। चित्रकूट आए तेहि काला।···चित्रकूट रघुनंदन छाए। समाचार सुनि-सुनि मुनि आए॥" (मा० अ० १३३); अर्थात् इन तीनों के दर्शनार्थ ये सब लोक-निवासी आते थे, इससे लोक-लोचनाभिरामता भी स्पष्ट है।

'बाम बर बिस्व-बंदिनी'; यथा—"उमा-रमा ब्रह्मादि बंदिता। जगदंबा संततमनिंदिता॥" (मा० उ० २३)।

'चितवत मुनिगन चकोर···उदित सदा····'; यथा—"मुनिसमूह महँ बैठे, सनमुख सब की ओर। सरद इंदु तन चितवत, मानहुँ निकर चकोर॥" (मा० अर० १२)। 'अच्छय अकलंक'—शरद् ऋतु के भी चन्द्रमा में क्षीण-होने का भाव एवं कलङ्कसूचक धब्बा रहता है और वह आकाश में सदा उदित भी नहीं रहता। परन्तु उपमेय रूप श्रीराम-जानकीजी सदा अक्षय हैं और निष्कलंक हैं तथा सदा वहाँ एक रस उदित रहते हैं, यह कई विशेषताएँ हैं।

अतः, यहाँ पर 'प्रतीप-अलङ्कार का तृतीय भेद' है।

'मुदित बदत··'—इसमें यदि कवि-वाचक 'तुलसीदास' इस पद को पृथक् कर दें, तो उन चकोरवत् देखनेवाले मुनियों का इनकी छवि पर आनंदित होकर जय-जय करना अर्थ होता है, वह भी युक्त है।

'उदित सदा बन अकास'—इस वाक्य खंड का यह भी भाव है कि ये तीनों अब भी वहाँ सदा विराजमान हैं; यथा—"चित्रकूट सब दिन बसत, प्रभु सिय लखन समेत। रामनाम जप जागिरहि, तुलसी अभिमत देत॥" (दोहावली ४, तथा रामाज्ञा प्रश्न २।५।७); इसमें 'जागिरहि' के स्थान पर

आधुनिक प्रतियों में 'जापकहि' पाठ है, पर मेरा यह पाठ भागवत दासजी की शोधित प्राचीन प्रति का है।

[४४]

फटिकसिला मृदु बिसाल, संकुल सुरतरु-तमाल,
ललित लता-जाल हरति छबि बितान की।
मंदाकिनि-तटिनि तीर, मंजुल मृग-बिहँग भीर,
धीर मुनि गिरा गँभीर सामगान की ॥१॥
मधुकर-पिक-बरहि मुखर, सुंदर गिरि निरझर झर,
जलकन घन-छाँह, छन प्रभा न भान की।
सब रितु रितुपति प्रभाउ, संतत बहै त्रिबिध बाउ
जनु बिहार-बाटिका नृप पंचबान की ॥२॥
बिरचित तहँ परनसाल, अति बिचित्र लखनलाल,
निवसत जहँ नित कृपाल रामजानकी।
निज कर राजीव नयन पल्लव-दल-रचित सयन,
प्यास परस्पर पियूष प्रेम-पान की ॥३॥
सिय अँग लिखैं धातुराग, सुमननि भूषन-बिभाग,
तिलक-करनि क्यों कहउँ कला-निधान की।
माधुरी-बिलास-हास, गावत जस तुलसिदास,
बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रान की ॥४॥

शब्दार्थ—तटिनि = नदी; यथा—"...ऽथ नदी सरित् ॥ २९ ॥ तरङ्गिणी शैवलिनी तटिनी ह्रदिनी धुनी।" (अमरकोष) कुछ प्रतियों में 'तटनि' पाठ है, यदि उसका 'किनारों' का अर्थ लिया जाय तो साथ 'तीर' पद बाचक है। अतः, वह 'तटिनी' का ही अपभ्रंश है। बरहि=मोर मयूर। पंचबान = कामदेव। धातुराग = मनः शिला, सिंगरफ, हरतार, सफेदा एवं मुरदाशंख आदि से पत्र-रचना करना धातु राग लिखना है। संकुल = १ संकीर्ण, घना, २ भरा हुआ, परिपूर्ण-हिं० श० सा०।

अर्थ—(श्रीसीतारामजी को सुखद होने के लिये) स्फटिक शिला कोमल एवं विस्तृत हो गई है। वह (आसपास के उगे हुए) सघन कल्पवृक्षों और

तमाल वृक्षों से सुशोभित है, उन वृक्षों पर फैला हुआ लताओं का समूह चँदोवों की छवि छीन रहा है। श्रीमन्दाकिनी नदी के तट पर जहाँ मनोहर मृगों और पक्षियों की भीड़ लगी रहती है तथा काम-क्रोध आदि को जीतने वाले धैर्यवान् मुनियों के सामगान की गम्भीर वाणी गूँजती रहती है ॥ १ ॥ भ्रमर, कोयल और मोरों के मनोहर शब्द होते रहते हैं, सुन्दर पर्वतों के झरने झरते रहते हैं, जल के कण पड़ा करते हैं और सघन वृक्षों की ऐसी छाया रहती है कि वहाँ क्षणमात्र को भी सूर्य की प्रभा नहीं पड़ती। तथा सब ऋतुओं में वहाँ ऋतुराज वसन्त का प्रभाव बना रहता है और निरन्तर शीतल, मंद और सुगंधित वायु चला करती है; ऐसा जान पड़ता है, मानों वह वन महाराज कामदेव की विहार वाटिका ही हो ॥ २ ॥ वहाँ पर श्रीलखनलालजी की रची हुई अत्यन्त विचित्र पर्णशाला है जहाँ पर कृपालु श्रीरामजी और श्रीजानकीजी निवास करते हैं। वहाँ राजीव-लोचन श्रीरामजी ने अपने ही हाथों से कोमल पल्लवों एवं फूलों की पँखड़ियों की शय्या (शयनासन) रची है। प्रिया-प्रीतम दोनों में परस्पर प्रेम रूपी अमृत-रस पान की प्यास है ॥ ३ ॥ प्रीतम श्रीरामजी श्रीसीताजी के अङ्गों में मैनसिल आदि धातुओं से पत्र-रचना (ललाट-कपोल आदि पर मयूराकृत, हंसाश्रित गुल्म लता कृत एवं मकराकृत आदि की रचना) करते हैं और फूलों के ही भाँति-भाँति के भूषण शीश, कंठ, उर एवं बाहु आदि सभी अंग-विभागों पर सुशोभित करते हैं चौसठ कलाओं में प्रवीण श्रीरामजी की तिलक करने की प्रवीणता का वर्णन मैं किस प्रकार करूँ? इस तुलसीदासजी के हृदय में यह परम प्राण-प्रिय जोड़ी सदा निवास करती है और यह इनके माधुर्यरस की क्रीड़ा एवं हास-विलास का यश गाता है ॥ ४ ॥

विशेष—'फटिकसिला मृदु बिसाल...'—श्रीचित्रकूट में स्फटिकशिला है, वहाँ का विहार-वर्णन करते हैं। प्रभु की माधुर्य-क्रीड़ा की इच्छा जानकर वह स्फटिकशिला अत्यन्त कोमल एवं विशाल हो रही है; यथा—"कोमल चरन चलत बिनु पनहीं। भइ मृदु भूमि सकुचि मन मनहीं॥" से "बिटप फूलि फलि तृन मृदुताहीं॥" (मा० अ० ३१०) तक। शिला कोमल और विशाल है और साथ ही वह कल्पवृक्षों एवं तमाल वृक्षों की सघन छाया से भी सुशोभित

है तथा उन वृक्षों पर लताएँ भी चदोवों की भाँति फैली हुई हैं। कल्पवृक्ष स्वच्छ वर्ण और तमाल श्यामवर्ण के हैं, इससे प्रिया-प्रीतम के वर्ण के अनुसार हैं। अतः, तमाल वृक्ष श्याम वर्ण शृङ्गार रूप होकर चित्ताकर्षक है और कल्पवृक्ष ध्याता की कामनाओं की पूर्त्ति करनेवाला है। यहाँ की स्फटिकशिला पर अत्यन्त मृदुता से श्रीसीतारामजी के चरणों के चिह्न बन गये हैं, वे आज दिन भी बने हुए दीखते हैं।

'मंदाकिनि तटनि तीर...'—उस स्थल पर श्रीमन्दाकिनीजी का तट आजदिन भी अत्यन्त रमणीक है। शिलाओं की शोभा एवं वृक्षों की सघनता तथा पक्षियों की विविध क्रीड़ा वहाँ की आज भी मनोरम हैं—वहाँ के मृगों का अवलोकन एवं पक्षियों का कूजन चित्ताकर्षक एवं शृङ्गार-रस का उद्दीपक है; तथा—"मृग बिलोकि खग बोलि सुबानी। 'सेवहिं' सकल राम-प्रिय जानी।।" (मा० अ० २१०)। 'धीर मुनि गिरा गँभीर...' सामवेद की ऋचाओं का ताल-स्वर से गान हो रहा है। वह गान भी वहाँ पर प्रभु के चित्त में विशेष उमंग-वर्द्धक है। सामवेद गांधर्ववेद का मूल है।

यहाँ यों भी भाव कहा जाता है कि 'मृग बिहँग भीर' ही 'धीर मुनि' हैं और उनकी वाणी (कूज) ही 'गिरा गँभीर सामगान की' है। इस प्रकार यहाँ गम्योत्प्रेक्षा है। प्रभु यहाँ पर इन मृगों और पक्षियों की वाणियों को ही सामवेद की ऋचागान के समान प्रिय मान कर आनन्दित हो रहे हैं।

'मधुकर पिक बरहि मुखर...'—भ्रमर कमलों के स्नेही हैं। अतः, जल में खिले हुए कमलों का उत्कर्ष प्रकट कर रहे हैं। कोयल आम्र आदि के बागों का उत्कर्ष प्रकट कर रहे हैं और मयूर वन-शोभा में रमण करने वाले हैं। अतः वहाँ वाटिका, बाग और वन इन तीनों विभागों की क्रीड़ाएँ विद्यमान हैं।

'सुंदर गिरि निर्झर झर...'—सुन्दर पहाड़ों की छटा एवं उनके झरनों की छटा तथा उन झरनों से झड़ते जलधारों से जलकणों का पड़ना एवं वृक्षों की सघन छाया और वहाँ उष्ण सूर्य किरणों का न पड़ना—यह सब ग्रीष्म ऋतु में अत्यन्त सुखद एवं शृङ्गार रसोद्दीपक हैं।

अथवा, यहाँ वर्षा ऋतु का रूपक है। सघन छाँह, घन की छाँह है। झरनों के जल कण उन मेघों की बूँदें हैं और उन बूँदों पर जो सूर्य की प्रभाएँ (किरणों)

पड़ती हैं तो उन बूँदों की प्रभा क्षण-प्रभान अर्थात् समूह बिजली के समान चमक रहे हैं—श्रीवैजनाथजी एवं श्रीहरिहर प्रसाद के ये भी भाव हैं। इसमें 'प्रभा' पद को दीपदेहली माना गया है।

'सब रितु रितुपति प्रभाउ...'—उस वन की शोभा पर मुग्ध हो मानों ऋतुराज वसन्त वहीं पर रह गया हो, इस प्रकार वहाँ सब ऋतुओं में वसन्त का प्रभाव रहता है; यथा—"जहँ बसंतरितु रही लोभाई।" (मा० बा० २२६); क्योंकि वहाँ पर सदा शीतल, मंद और सुगंधित वायु चला करती है। इन्हीं कारणों से वह वन-विभाग ऐसा जान पड़ता है। मानों कामदेव की विहार-वाटिका है। कामदेव की विहार वाटिका में प्रायः वाटिका, बाग और वन (तथा उपवन) के विभाग होते हैं; यथा—"पुलक बाटिका बाग बन..." (मा० बा० ३७); तथा—"सुमन बाटिका बाग बन,..."(मा० बा० २१२)। वैसे यहाँ भी ऊपर 'मधुकर पिक बरहि मुखर' के विशेष में तीनों विभागों की स्थिति लिखी गई है।

'पंचबान'—पाँच बाण वाला कामदेव यहाँ पंचबाण कहा गया है। द्रवण, शोषण, तापन, मोहन और उन्मादन—ये कामदेव के पाँच बाण हैं। तथा कामदेव के पाँच पुष्पबाण भी कहे गये हैं—कमल, अशोक, आम्र, नवमल्लिका और नीलोत्पल—हिं० श० सा०। तथा—"कामः पञ्चशरः स्मरः।" (अमर कोष); एवं—"उन्मादनस्तापनश्च शोषणस्तम्भनस्तथा। संमोहनश्च कामस्य पञ्चबाणाः प्रकीर्तिताः॥" (अमर कोष टीका, पं० शक्तिधर)। करवीर (कनेर) मारण, केवड़ा उच्चाटन, केतकी आकर्षण, गुलाब मोहन और आम के बौर वशीकरण हैं—श्रीवैजनाथजी की टीका। 'नृप' क्योंकि ऋतुराज आदि भी सेवा में उपस्थित हैं।

यहाँ 'जनु बिहार-बाटिका...' इसमें 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।

'बिरचित तहँ परनसाल...'—यहाँ की पर्णशाला तो देवताओं ने रची है; यथा—"रमेउ राम-मन देवन्ह जाना। चलेउ सहित सुर थपति प्रधाना॥ कोल किरात बेष सब आए। रचे परन तृन सदन सुहाए॥" (मा० अ० १३२) अतः, यहाँ 'बिरचित' का भाव यह कि श्रीलक्ष्मणजी ने इन कोल-किरात वेष में आए हुए देवों को जिस-जिस प्रकार कहा, उस-उस प्रकार उन्होंने बनाये हैं, इससे श्रीलक्ष्मणजी का विरचित कहा गया है। अथवा, कल्पभेद की रीति से

यहाँ भी पर्णशालाएँ श्रीलक्ष्मणजी ने अपने हाथों से बनाई हैं, जैसे आगे पंचबटी में रचना की है, जिस पर श्रीरामजी ने बड़ी सराहना की है, वाल्मीकीय रामायण देखिये। 'अति बिचित्र'— चित्र-विचित्र विविध रंग के पत्तों की शाला में विविध-रचना की गई है।

'निवसत जहँ नित कृपाल....'—यहाँ पर रहकर मुनियों पर कृपा कर रहे हैं, इससे 'कृपाल' कहा गया है; यथा—"अत्रि आदि मुनिवर बहु बसहीं। करहिं जोग जप तप तन कसहीं ॥ चलहु सफल श्रम सब कर करहू।" (मा० अ० १३१); तथा—"बास करहु तहँ रघुकुल राया। कीजै सकल मुनिन्ह पर दाया ॥" (मा०अ०१२)। अथवा, यहाँ रहकर श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी को भी सुख दे रहे हैं, इससे भी 'कृपाल' कहा गया है; यथा—"सीय-लखन जेहि बिधि सुख लहहीं। सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं ॥...जोगवहिं प्रभु सिय-लखनहिं कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे ॥" (मा० अ० १४०-१४१)।

'निज कर राजीव नयन'...—यह गुह्य रहस्यात्मक क्रीड़ा है, इससे श्रीरामजी स्वयं अपने ही हाथों से करते हैं। नीचे कोमल पल्लव हैं, उन पर फूलों की पँखड़ियाँ हैं, इस प्रकार शय्या रची है। 'प्यास परस्पर'...' दोनों की परस्पर मधुर-रस क्रीड़ा की चाह है।

'सिय अँग लिखैं धातुराग'..'—श्रीजानकीजी के कपोल आदि अंगों पर पत्रलेखा (पत्रावली) लिखते हैं। जैसे केसर या कस्तूरी आदि से आजकल पत्ते के आकार में छाप लगाते हैं।

'सुमननि भूषन बिभाग'—शीश पर पुष्प कलियों की चन्द्रिका रची, मालती के फूलों की कलियों से माँग गुह कर रचा। भाल पर वेंदी, कर्णफूल कण्ठ में पुष्पों के ही पदिकहार और चन्द्रहार रचे। भुजाओं में बाजू, कर मूल में कंकन और करमुद्रिका तथा चरणों में नूपुर आदि पुष्पों के ही रचकर पहनाये।

'तिलक करनि क्यों कहउँ कलानिधान की'—श्रीरामजी चौसठ कलाओं में प्रवीण हैं। अतः, तिलक की रचनी तो उनकी अत्यन्त ही मनोरम है, वह वर्णनातीत है।

'माधुरी बिलास हास'—जिसे देखने पर तृप्ति न हो, उसे माधुरी कहते हैं; यथा—छबि समुद्र हरि रूप बिलोकी। एकटक रहे नयन पट रोकी ॥ चित-

वहिं सादर रूप अनूपा । तृपिति न मानहिं मनु सतरूपा ॥" (मा०बा० १४७)। कलानिधान के द्वारा शृङ्गारित रूप में अत्यन्त माधुर्य प्राप्त है । उसका विलास अकथ्य है । परस्पर छेड़-छाड़ में हास-विलास भी है ।

यहाँ वृक्षों की, जल की एवं पक्षियों की शोभा विभाव है, अपने हाथों से शय्या रचना, पुष्पों के भूषण पहनाना, कपोल पत्र आदि लिखना एवं तिलक-रचना करना आदि अनुभाव हैं, हर्षोद्दीपन सञ्चारी और परस्पर प्रेम-पीयूष-पान की प्यास स्थायी है । इस प्रकार यहाँ आलम्बनपूर्ण शृंगाररस कहा गया है ।

पूर्व पुष्प-वाटिका-प्रसंग में शृंगाररस का वर्णन श्रीरामचरितमानस में किया गया है । तथा—"सोभा-सील-सनेह सोहावनो, समउ केलिगृह गौने । देखि तियन के नैन सफल भये, तुलसिदासहू के होने ॥" (बा० १०७)—यह लालसा यहाँ पूरी हुई । और इसी काण्ड में वनयात्रा-प्रसंग में कहा गया था; यथा—"ध्याइबे को, गाइबे को, सेइबे-सुमिरिबे को, तुलसी को सब भाँति सुखद समाज सो ॥" (पद ३३)—वह अभिलाषा भी यहाँ पूरी हुई । 'बसति हृदय जोरी ···'—इसमें ध्यान और 'गावत जस तुलसिदास' इसमें गान स्पष्ट कहे गये हैं ।

राग केदारा

[४५]

लोने लाल लखन, सलोने राम, लोनी सिय,
चारु चित्रकूट बैठे सुरतरु-तर हैं ।
गोरे साँवरे सरीर पीत-नील-नीरज-से,
प्रेम-रूप-सुखमाके मनसिज-सर हैं ॥१॥
लोने नख-सिख, निरुपम, निरखिबे जोग,
बड़े उर कंधर, बिसाल भुजबर हैं ।
लोने-लोने लोचन, जटनि के मुकुट लोने,
लोने बदननि जीते कोटि सुधाकर हैं ॥२॥
लोने-लोने धनुष, बिसिष कर-कमलनि,
लोने मुनिपट, कटि लोने सरघर हैं ।

प्रिया प्रिय बंधु को देखावत बिटप, बेलि,
मंजु कुंज, सिलातल, दल, फूल, फर हैं ॥३॥
रिषिन के आश्रम सराहैं, मृग नाम कहैं,
लागी मधु, सरित झरत निरझर हैं।
नाचत बरहि नीके, गावत मधुप-पिक,
बोलत बिहँग नभ-जल-थल-चर हैं ॥४॥
प्रभुहिं बिलोकि मुनिगन पुलके कहत
भूरि भाग भये सब नीच नारि-नर हैं।
तुलसी सो सुख-लाहु लूटत किरात-कोल
जाको सिसकत सुर बिधि-हरि-हर हैं ॥५॥

शब्दार्थ—लोने = लावण्ययुक्त, सुन्दर। सरधर = तरकश। बरहि = मयूर, मोर। सिसकत = तरसत।

अर्थ—श्रीलखनलालजी सुन्दर हैं, श्रीरामजी सुन्दर हैं और श्रीजानकीजी परम सुन्दरी हैं, तीनों सुन्दर श्रीचित्रकूट में कल्पवृक्ष के नीचे बैठे हुए हैं। ये गोरे और साँवरे शरीर वाले हैं, मानो इस (श्रीचित्रकूट रूप) काम सरोवर में प्रेम, रूप और परमा शोभा के नीले-पीले कमल ही हों॥ १ ॥ ये नख से शिखा तक बड़े सुन्दर, अनुपम और देखने के योग्य हैं, इनके वक्षस्थल और कन्धे बड़े-बड़े हैं (छाती चौड़ी और कंधे उन्नत हैं) तथा इनकी श्रेष्ठ भुजाएँ विशाल (आजानु लम्बी) हैं इनके नेत्र सुन्दर हैं और जटाओं के मुकुट भी बड़े ही सुन्दर हैं। इन्होंने अपने सुन्दर-सुन्दर मुखों से करोड़ों चन्द्रमाओं को जीत लिये हैं ॥२॥ इन श्रीरामजी के कर कमलों में सुन्दर-सुन्दर धनुष और बाण हैं, इनके कटिभाग में सुन्दर मुनिवस्त्र और सुन्दर तरकश हैं। ये अपनी प्यारी स्त्री श्रीजानकीजी और प्यारे भाई श्रीलक्ष्मणजी को वृक्ष, लता, मनोहर कुञ्ज, शिला तल और नवीन पत्ते, पुष्प एवं फल दिखा रहे हैं ॥ ३ ॥ वे ऋषियों के आश्रमों की प्रशंसा करते हैं, मृगों के नाम बतलाते हैं। (और कहते हैं कि देखो—यह मधु लगी हुई है, यह नदी बह रही है और ये झरने झर रहे हैं। मयूर सुहावना नृत्य कर रहे हैं। भ्रमर और कोयल गा रहे हैं तथा आकाश, जल और स्थल में विचरने वाले पक्षी बोल रहे हैं ॥ ४ ॥ प्रभु

श्रीरामजी को देखकर मुनिगण पुलकित होकर कहते हैं कि 'यहाँ के ये नीच स्त्री-पुरुष अब बड़े भाग्यवान् हो रहे हैं'। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जिस सुख और लाभ के लिये ब्रह्मा, विष्णु और महादेव ऐसे देवता भी तरसते रहते हैं, उस सुख और लाभ को आज किरात और कोल लूट रहे हैं ॥ ५ ॥

विशेष—'लोने लाल लखन…'—यहाँ कल्पवृक्ष के नीचे बैठे हुए हैं, इसीसे ध्यान करने वालों की कामना सदा पूरी किया करते हैं; यथा—"राम बामदिसि जानकी, लखन दाहिनी ओर। ध्यान सकल कल्यानमय, सुरतरु तुलसी तोर ॥" (वैराग्य-संदीपिनी १ तथा दोहावली १ एवं रामाज्ञा प्रश्न ७।३।७)–इसमें बैठने का क्रम और अभिमत-दातृत्व है। तथा—"चित्रकूट सब दिन बसत, प्रभु सिय लखन समेत। राम नाम जप जागिकहि, तुलसी अभिमत देत ॥" (दोहावली ४ तथा रामाज्ञा प्रश्न २।५।७); एवं—"सब सोच बिमोचन चित्रकूट कलि हरन, करन, कल्यान बूट ॥…साधक सुपथिक बड़े भाग पाइ। पावत अनेक अभिमत अघाइ ॥ रस एक रहित गुन कर्म काल। सिय राम लखन पालक कृपाल ॥" (वि० २३); "चित्रकूट पयतीर सो सुरतरु बास। लखन राम सिय सुमिरहु तुलसीदास ॥" (बरवै रा० ४३)।

यह माधुर्य दृष्टि का भाव है। ऐश्वर्य में तो आप स्वयं कल्पवृक्ष के भी कामपूरक हैं।

'गोरे साँवरे सरीर पीत-नील नीरज-से…'—ऊपर ध्यान का स्थल कहा गया, यहाँ ध्यान करने के लिये तीनों के गुणों के साथ रूप का वर्णन करते हैं। यहाँ श्रीलक्ष्मणजी प्रेम के पीत कमल, श्रीरामजी रूप के नील कमल और श्रीजानकीजी सुखमा के पीत कमल के समान हैं। अतः 'रूपक से पुष्ट पूर्णोपमा अलङ्कार' है।

यहाँ तीनों का वर्णन किया गया है। आगे चरण में दोनों भाई का ही वर्णन है—

'लोने नख-सिख, निरुपम…'—दोनों नख-शिख से सुन्दर हैं; यथा—"तरुन तमाल बरन तनु सोहा। देखत कोटि मदन मन मोहा ॥ दामिनि बरन लखन सुठि नीके। नख-सिख सुभग भावते जी के ॥" (मा० अ० ११४); 'निरुपम'; यथा—" निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।

जिमि कोटिसत खद्योत सम रवि कहत अति लघुता लहै ॥" (मा० उ० ९१); 'निरखिबे जोग'; यथा—"ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे। जे देखहिं देखिहहिं जिन्ह देखे ॥" (मा० अ० ११९)।

'बडे उर कंधर...'—यहाँ बड़े पद में ही छाती की चौड़ाई और कंधों की उँचाई के अर्थ हैं। विशाल पद में भुजाओं की लम्बाई का अर्थ है; यथा—"बाहु बिसाल जानु लगि पहुँचति।" (उ० १७); तथा—"आजानु भुज सर चाप उर धर" (वि० ४५)।

'लोने-लोने लोचन...'; यथा—"मुनि पट कटिन्ह कसे तूनीरा। सोहहिं कर-कमलन्हि धनु तीरा ॥ जटा मुकुट सीसनि सुभग, उर भुज नयन बिसाल। सरद-परब-बिधु-बदन बर, लसत-स्वेद-कन जाल ॥" (मा० अ० ११४-११५)। यहाँ 'प्रतीप अलङ्कार का पाँचवाँ भेद' है। इस चरण में केवल श्रीरामजी की ही शोभा कहते हैं।

'मृग नाम कहैं'—हिरण, पाड़ा, झाषा, चीसला, रुरु, श्याम, श्वेत एवं बारहसिंगा आदि। 'लागी मधु'—मधु मक्खियों के लगाये हुए मधु छत्ते दिखाते हैं।

'बोलत बिहँग...'—नभचर पक्षी तोता, स्थलचर कुक्कुट आदि और जलचर कलहंस टिट्टिभ आदि हैं, इनकी सुहावनी बोली सुनते और सुनाते हैं।

'प्रभुहि बिलोकि...'—प्रभु ने राज्य सुख छोड़कर विशेष कर हम लोगों पर कृपा की है। वनवास में सुख मान रहे हैं। यहाँ रहकर विशेष कर हम सबको सनाथ किया है, यह विचार कर प्रेम से पुलकित होते हैं और फिर नीचों की भाग्य सराहते हैं तथा उनके भाग्य-वैभव को स्पष्ट भी कहते हैं कि यहाँ के कोल-किरात वह सुख और लाभ लूट रहे हैं कि जिसे त्रिदेव भी तरसते रहते हैं। यहाँ के नीच कोल-किरातों के प्रेम से प्रभु उनके वश हो रहे हैं; यथा—"बेद बचन मुनि मन अगम, ते प्रभु करुना अयन। बचन किरातन्ह के सुनत, जिमि पितु बालक बैन ॥ रामहिं केवल प्रेम पियारा ॥ जानि लेहु जो जाननिहारा ॥ राम सकल बनचर तब तोषे। कहि प्रिय बचन प्रेम परितोषे ॥" (मा० अ० १३६); तथा—"हरि बिरंचि हर देखि कै राम प्रेम परबसताई। सुख-समाज रघुराज के बरनत बिसुद्ध मन सुरनि सुमन झरि लाई ॥" (बा०२७)।

राग सारंग

[४६]

आइ रहे जब तें दोउ भाई।
तब तें चित्रकूट-कानन-छबि दिन-दिन अधिक-अधिक अधिकाई ॥१॥
सीताराम-लखन-पद-अंकित अवनि सोहावनि बरनि न जाई।
मंदाकिनि मज्जत अवलोकत त्रिविध पाप त्रयताप नसाई ॥२॥
उकठेउ हरित भए जल-थलरुह, नित नूतन राजीव सुहाई।
फूलत फलत पल्लवत पलुहत बिटप बेलि अभिमत सुखदाई ॥३॥
सरित सरनि सरसीरुह-संकुल सदन सँवारि रमा जनु छाई।
कूजत बिहँग, मंजु गुंजत अलि, जात पथिक जनु लेत बुलाई ॥४॥
त्रिबिध समीर नीर झर झरननि जहँ तहँ रहे रिषि कुटी बनाई।
सीतल सुभग सिलनि पर तापस करत जोग जप तप मन लाई ॥५॥
भए सब साधु किरात किरातिनि, राम-दरस मिटि गइ कलुषाई।
खग-मृग मुदित एक सँग बिहरत सहज बिषम बड़ बैर बिहाई ॥६॥
कामकेलि-बाटिका बिबुध-बन, लघु उपमा कबि कहत लजाई।
सकल-भुवन-सोभा सकेलि मनो राम-बिपिन बिधि आनि बसाई ॥७॥
बन मिस मुनि, मुनि तिय, मुनि-बालक बरनत रघुबर-बिमल-बड़ाई।
पुलक सिथिल तनु, सजल-सुलोचन प्रमुदित मन जीवनफल पाई ॥८॥
क्यों कहौं चित्रकूट गिरि संपति महिमा मोद मनोहरताई।
तुलसी जहँ बसि लखन राम सिय आनँद-अवधि अवध बिसराई ॥९॥

अर्थ—जब से दोनों भाई श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी आकर रह रहे हैं, तब से श्रीचित्रकूट के वन की छबि दिनोदिन अधिक-अधिक बढ़ती ही जा रही है ॥१॥ श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी के चरणचिह्नों से अङ्कित उस सुहावनी भूमि का वर्णन नहीं किया जा सकता। वहाँ की नदी श्रीमंदाकिनीजी का स्नान करते एवं दर्शन करते ही (कायिक, वाचिक एवं मानसिक, ये) तीनों प्रकार के पाप तथा (दैहिक, दैविक एवं भौतिक, ये) तीनों ताप नष्ट हो जाते हैं ॥ २ ॥ जलकिनारे के उत्पन्न और सूखे स्थल के उत्पन्न वृक्ष उकठे हुए भी हरित हो गये, कमल नित्य नई-नई शोभा धारण कर रहे हैं। वृक्ष और उन पर

फैली हुई लताएँ फूलती, फलती, पल्लवती और पलुहती हुई सबको मनोवांछित सुख देती हैं ॥३॥ नदियों और तालाबों में कमल परिपूर्ण हैं, मानों श्रीलक्ष्मीजी अपने घरों को सँवार कर आनन्दपूर्वक (नाना रूप से) निवास कर रही हैं। पक्षिगण कूजते हैं, भ्रमरगण मनोहर गुञ्जार कर रहे हैं, वे मानों जाते हुए पथिकों को अपने पास बुला लेते हैं (; अर्थात् उनकी मनोहर गुञ्जार सुनने के लिये पथिक स्वतः उधर चले जाते हैं) ॥ ४ ॥ शीतल, मंद और सुगंधित वायु चल रही है, झरनों से जल झर रहे हैं। जहाँ-तहाँ ऋषिगण कुटी बना कर रह रहे हैं। सुन्दर शीतल शिलाओं पर तपस्वी लोग मन लगाकर योग, जप और तपस्या कर रहे हैं ॥ ५ ॥ श्रीरामजी के दर्शन पाकर सब किरात और किरातिनियाँ साधु हो गये हैं, उनकी कलुषता अब मिट गई है। पक्षी और मृग अब प्रसन्न हो एक साथ विहार करते हैं, इन्होंने अपने स्वाभाविक बड़े विषम वैर छोड़ दिये हैं ॥ ६ ॥ इस वन को कामदेव की क्रीड़ा-वाटिका एवं देवताओं के नन्दन वन की उपमा को भी लघु समझकर कहते हुए कवि लज्जित होते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मानों ब्रह्माजी ने समस्त भुवनों की शोभा एकत्र कर इस श्रीरामजी के वन (श्रीचित्रकूट) में लाकर बसायी है ॥ ७ ॥ इस वन-वर्णन के व्याज से मुनि, मुनियों की स्त्रियाँ और मुनियों के बालक श्रीरघुनाथजी की निर्मल बड़ाई का वर्णन कर रहे हैं। इसमें ये जीवन फल पाना मान कर पुलकित शरीर, सजल-लोचन और आनन्दित मन होते हैं ॥८॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि मैं श्रीचित्रकूट गिरि की सम्पत्ति, महिमा, आनन्द और मनोहरता का वर्णन किस प्रकार करूँ ? जहाँ पर निवास कर श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीजानकीजी ने आनन्द की अवधि श्रीअवध को भुला दिया है ॥ ९ ॥

विशेष—'जब तें आइ रहे''तब तें ''; यथा—"जब ते राम कीन्ह तहँ वासा। सुखी भये मुनि बीती त्रासा ॥ गिरि बन नदी ताल छबि छाए। दिन-दिन प्रति अति होहिं सुहाए ॥ खग-मृग बृंद अनंदित रहहीं। मधुप मधुर गुंजत छबि लहहीं ॥ सो बन बरनि न सक अहि राजा। जहाँ प्रगट रघुबीर बिराजा ॥" (मा० अर० १३)।

'सीता-राम-लखन-पद अंकित ''; यथा—"हरषहिं निरखि राम-पद-अंका। मानहु पारस पायउ रंका ॥" (मा० अ० २३७;) तथा—"प्रभु-पद

अंकित अवनि बिसेषी। आयसु होइ तो आवउँ देखी॥" (मा० अ० ३०७); एवं—"भूमि बिलोकु राम-पद-अंकित···" (वि० २४); श्रीराम-जानकीजी के चरणों में २४–२४ चिह्न हैं, उनसे अङ्कित भूमि की शोभा अपरिमित है। इससे इसका वर्णन करना कठिन है।

'मंदाकिनि सज्जत···'; यथा—"नदी पुनीत पुरान बखान बखानी। अत्रि प्रिया निज तप बल आनी॥ सुरसरि धार नाउँ मंदाकिनि। जो सब पातक-पोतक-डाकिनि॥" (मा० अ० १३१) यह श्रीगङ्गाजी की ही एक धार है, श्रीगङ्गाजी के रूप में भी इनका ऐसा ही महत्त्व कहा गया है; यथा—"हरति पाप त्रिबिध ताप सुमिरत सुरसरित।" (वि० १९)। "ततो गिरिवर-श्रेष्ठे चित्रकूटे विशांपते। मन्दाकिनीं समासाद्य सर्वपापप्रणाशिनीम्॥ ५९ तत्राऽभिषेकं कुर्वाणः पितृदेवार्चने रतः। अश्वमेधमवाप्नोति गतिञ्च परमां व्रजेत्" ॥६०॥ (महा० वन० ८५); इसमें भी मन्दाकिनी को सर्वपापनाशिनी कहा है।

'उकठेउ हरित भए···';—यथा—"दंडक-पुहुमि पायँ-परसि पुनीत भई, उकठे बिटप लागे फूलन फरन॥" (वि० २५७)। ये वृक्ष और लताएँ अपने फूलों, फलों और पत्तों से प्रभु की सेवा कर रही हैं। वृक्षों की ये ही तीन सम्पत्तियाँ हैं।

'सरित सरनि सरसीरुह संकुल···'—नदियों और तालाबों की शोभा कमलों की पूर्णता में ही है। लक्ष्मीजी पद्मालया कही जाती है; जिन कमलों पर वे स्वयं रहती हों, उनकी शोभा का क्या कहना है? यहाँ इन कमलों पर श्री छा रही है, मानों ये सब साक्षात् लक्ष्मीजी के सँवारे हुए सदन ही हैं।

यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।

'कूजत बिहँग, मंजु अलि···'—इनमें ऐसा आकर्षण है कि पथिक अपनी यात्रा छोड़ कर वहाँ चले जाते हैं।

यहाँ भी 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।

'त्रिबिध समीर···'—जल-वायु का सुपास देख कर ऋषि रहते हैं।

'सीतल सुभग सिलनि···'—यहाँ जल, स्थल एवं वायु की अनुकूलता पाकर तापस योग आदि करते हैं; यथा—"निरखि सैल सरि बिपिन बिभागा। भयेउ रमापति-पद अनुरागा॥" (मा० बा० १२४)।

'भए सब साधु···'; यथा—"हम जड़ जीव जीवगन-घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती॥ पाप करत निसि बासर जाहीं। नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं॥ सपनेहुँ धरमबुद्धि कस काऊ। यह रघुनंदन-दरस-प्रभाऊ॥ जब तें प्रभु पद-पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे॥" (मा० अ० २५१); यह इन्हीं कोल-किरातों ने ही कहा है। तथा—"सिला, गुह, गीध, कपि, भील, भालु, रातिचर ख्याल ही कृपालु कीन्हें तारन तरन॥" (वि० २४८)।

'खग मृग मुदित एक सँग···'; यथा—"सो बन सैल सुभाय सुहावन। मंगलमय अतिपावन पावन॥ महिमा कहिय कवनि बिधि तासू। सुख-सागर जहँ कीन्ह निवासू॥" (मा०अ० १३८)। श्रीरामजी के यहाँ रहने पर इनके स्वामित्व से खग-मृग आदि की विषमता मिट गई है; यथा—"फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पंचानन॥ खग मृग सहज बैर बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥" (मा० उ० २२) 'सहज बिषम बड़ बैर'—जैसे साँप और नेवला में तथा बिल्ली और चूहे में स्वाभाविक बड़ा वैर होता है, ऐसा वैर भी मिट गया। गिरिजाजी के प्रभाव से भी कहा गया है—"सहज बैर सब जीवन्ह त्यागा।" (मा० बा० ६५)—फिर श्रीरामजी के प्रभाव से ऐसा होता तो युक्त ही है।

'काम केलि बाटिका···'—यहाँ 'प्रतीप अलङ्कार का पाँचवाँ भेद' है क्योंकि इस वन के समक्ष काम-क्रीड़ा-उद्यान एवं नन्दनवन 'कुछ नहीं' के समान हैं, इसीसे कवि उपमा देने में लजाता है। आगे उत्प्रेक्षा करते हैं—

'सकल भुवन सोभा···'—ब्रह्माजी ने मानो सर्वत्र शोभा के स्थानरूप भुवनों की शोभा बटोर कर इस वन में लाकर रख दी है; अर्थात् यहाँ की शोभा के समक्ष समस्त भुवनों की शोभा तुच्छ है; यथा—"कहि न सकहिं सुखमा जसि कानन। जौं सत सहस होहिं सहसानन॥ सो मैं बरनि कहउँ बिधि केहीं। डाबर कमठ कि मंदर लेहीं॥" (मा० अ० १३८)।

यहाँ 'उक्तविषयावस्तूप्रेक्षा अलंकार' है।

'बन मिस मुनि···'—स्त्रियों और पुत्रों के साथ मुनि वन की शोभा वर्णन के व्याज से श्रीरामजी की बड़ाई का ही वर्णन करते हैं; क्योंकि श्रीरामजी के वहाँ पर निवास करने से ही वन की वह शोभा है। मुनि गण एवं उनके

लड़के तथा स्त्रियाँ शरीर से पुलकित और प्रेमाश्रु स्रवते हैं, वचन से श्रीरघुनाथजी की बड़ाई का वर्णन करते हैं और मन से आनंदित हो रहे हैं। अतः, ये जीवन फल पाकर मन, वचन और कर्म से भी कृतार्थ हो रहे हैं। यह मान रहे हैं कि हम सबको सुख देने को ही प्रभु यहाँ रहते हैं। अतः, हमारे अहोभाग्य हैं।

'क्यों कहौं चित्रकूट-गिरि""तुलसी जहँ…'; यथा—"सो बन सैल सुभाय सुहावन। मंगलमय अति-पावन-पावन॥ महिमा कहिअ कौनि बिधि तासू। सुख सागर जहँ कीन्ह निवासू॥ पय पयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय-लखन-राम रहे आई॥ कहि न सकहिं सुखमा जसि कानन॥ जौं सत सहस होहिं सहसानन॥ सो मैं बरनि कहौं बिधि केहीं। डाबर-कमठ कि मंदर लेहीं॥" (मा० अ० १३८); तथा—"त्वं पौरजनवद्व्यालानयोध्यामिव पर्वतम्। मन्यस्व वनिते नित्यं सरयूवदिमां नदीम्॥१५॥ लक्ष्मणश्चैव धर्मात्मा मन्निदेशे व्यवस्थितः। त्वं चानुकूला वैदेहि प्रीतिं जनयती मम॥१६॥ उपस्पृशंस्त्रिषवणं मधुमूलफलाशनः। नायोध्यायै न राज्याय स्पृहये च त्वया सह॥१७॥" (वाल्मी० २।९५); अर्थात् (श्रीरामजी श्रीसीताजी से कहते हैं—) तुम यहाँ के वनवासियों को अवधपुरवासियों के समान, पर्वत को अयोध्याजी के समान और इस नदी को श्रीसरयूजी के समान ही समझो। धर्मात्मा श्रीलक्ष्मणजी मेरे आज्ञाकारी हैं, तुम अनुकूल रहकर सुख देती हो, इससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारे साथ यहाँ तीनों काल स्नान करने से और मधु, मूल एवं फल भोजन करने से मैं अयोध्याजी की एवं वहाँ के राज्यपद की इच्छा नहीं करता।

'आनँद अवधि अवध'—उ० २३ देखिये।

राग गौरी

[४७]

देखत चित्रकूट-बन मन अति होत हुलास।
सीता - राम - लखन - प्रिय, तापस-बृंद-निवास॥१॥
सरित सोहावनि पावनि, पाप-हरनि पय नाम।
सिद्ध-साधु-सुर-सेवित देति सकल मन काम॥२॥

बिटप बेलि नव किसलय, कुसुमित सघन सुजाति।
कंद-मूल, जल-थल-रुह अगनित अनबन भाँति ॥३॥
बंजुल मंजु, बकुल कुल, सुरतरु, ताल, तमाल।
कदलि, कदंब, सुचंपक, पाटल, पनस, रसाल ॥४॥
भूरुह भूरि भरे जनु छबि अनुराग सुभाग।
बल बिलोकि लघु लागहिं बिपुल बिबुध-बन-बाग ॥५॥
जाइ न बरनि राम-बन चितवत चित हरि लेत।
ललित-लता-द्रुम-संकुल मनहुँ मनोज - निकेत ॥६॥
सरित सरनि सरसीरुह फूले नाना रंग।
गुंजत मंजु मधुप गन, कूजत बिबिध बिहंग ॥७॥
लखन कहेउ, रघुनंदन! देखिय बिपिन-समाज।
मानहुँ चयन मयनपुर आयउ प्रिय रितुराज ॥८॥
चित्रकूट पर राउर जानि अधिक अनुरागु।
सखा सहित जनु रति पति आएउ खेलन फागु ॥९॥
झिल्लि झाँझ, झरना डफ, पनव मृदंग निसान।
भेरि उपंग भृंग रव, ताल कीर-कल-गान ॥१०॥
हंस कपोत कबूतर बोलत चक्क चकोर।
गावत मनहुँ नारि-नर मुदित नगर चहुँ ओर ॥११॥

शब्दार्थ—किसलय (सं० किशलय)=नया निकला हुआ पत्ता। अनबन भाँति=भिन्न-भिन्न, नाना। बंजुल (सं० वन्जुल)=बेंत, स्थल बेत। बकुल= मौलसिरी। चयन=आनन्द मनाना। पनव=छोटा नगाड़ा या ढोल। उपंग= नस-तरंग शहनाई की भाँति का पीतल का एक बाजा, गले की घंटी के पास की नसों पर रखकर गले से स्वर भर कर बजाने का एक प्रकार का बाजा। पाटल=पाँडर। कपोत = १ कबूतर, २ परेवा, पंडुक पक्षी, पेंड़ुकी यहाँ कबूतर साथ ही स्पष्ट कहा गया है, इससे दूसरा 'पेंडुकी' वाला अर्थ ग्राह्य है, जिसे अरबी में 'कुमरी' कहते हैं। झिल्लि = झींगुर।

अर्थ—श्रीचित्रकूट वन को देखकर मन में अत्यन्त उल्लास (आनन्द की उमंग) होता है; क्योंकि वह श्रीजानकीजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी को

प्रिय है और समूह तपस्वियों का निवास-स्थान है ॥१॥ वहाँ पर बड़ी सुहावनी, पवित्र कारिणी और पापों का हरण करनेवाली पयस्विनी नाम की नदी है, वह सिद्धों, साधुओं और देवताओं से सेवित है; क्योंकि वह सबकी सारी मन की कामनाएँ देती है ।।२।। सुन्दर जाति के सघन वृक्ष, लताएँ, नवीन पल्लवों और पुष्पों से पूर्ण हैं तथा नाना भाँति के कन्द और मूल हैं जो जलों एवं स्थलों से उत्पन्न हैं ।।३।। मनोहर स्थल बेंत, मौलसिरी के समुदाय, कल्पवृक्ष, ताल (ताड़), तमाल, केला, कदम्ब, सुन्दर चम्पक, पाँड़र, कटहल और आम आदि वृक्ष बहुत हैं, वे सब मानों छबि, अनुराग और सौभाग्य से भरे हुए हैं। उस वन को देखकर देवताओं के नन्दन वन आदि बहुत से वन और उनके बहुत से बाग तुच्छ लगते हैं ।।४-५।। श्रीरामजी के वन का वर्णन नहीं किया जा सकता, वह देखते ही चित्त को चुरा लेता है, मनोहर लताओं और वृक्षों से पूर्ण मानों वह कामदेव का निवासस्थान ही हो ।।६।। वहाँ की नदियों और तालाबों में नाना रंग के कमल फूले हुए हैं। मनोहर भ्रमर गण गूँज रहे हैं और भाँति-भाँति के पक्षिगण कूज रहे हैं ।।७।। श्रीलक्ष्मणजी ने कहा, हे श्रीरघुनाथजी ! इस वन के ठाट-बाट को देखिये तो; ऐसा जान पड़ता है, मानो कामदेव के नगर में उसका प्यारा ऋतुराज वसन्त आनन्द मनाने आया हो ॥ ८ ॥ अथवा, इस श्रीचित्रकूट पर आपका अत्यन्त अनुराग जानकर मानों अपने सखा के साथ कामदेव फाग खेलने आया हो ॥ ९ ॥ झींगुर झाँझें हैं, विविध झरने, डफ, ढोल, मृदंग और दुंदुभी हैं, भ्रमरों के शब्द नस तरंग हैं और तोतों के कल-गान (ताल) हैं ॥ १० ॥ हंस, परेवा, कबूतर, चक्रवाक और चकोर बोल रहे हैं; वे ही मानो इस (कामदेव के) नगर में चारों ओर स्त्री-पुरुष प्रसन्न होकर (फाग) गा रहे हैं ॥ ११ ॥

विशेष—'देखत चित्रकूट बन····'; क्योंकि यहाँ के वन और पर्वत बड़े सुहावने हैं; यथा—"सब दिन चित्रकूट नीको लागत····" (पद ५०)। यह तो श्रीचित्रकूट का आकर्षक सौन्दर्य है—पद ४३ भी देखिये। आगे महिमा कहते हैं।

'सीता राम लखन-प्रिय'; यथा—"क्यों कहौं··तुलसी जहँ बसि··" (पद ४६)—इसका विशेष देखिये। 'तापस-बृंद-निवास'—तपस्यों के समूह

यहाँ रहते हैं; क्योंकि वे यहाँ तपस्या की सिद्धि पाते हैं; यथा—"साधक सुपथिक बड़े भाग पाइ। पावत अनेक अभिमत अघाइ ।।" (वि० २३); पद ४५ का प्रथम चरण देखिये। तथा—"नदी पनच, सर सम दम दाना। सकल कलुष कलि साउज नाना ।। चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चुकइ न घात मार मुठभेरी ।। असकहि लखन ठाउँ देखरावा।" (मा० अ० १३२)।

'सरित सोहावनि पावनि···'—उपर्युक्त पद ४३ के 'पावनि पय सरित···' इसका विशेष देखिये। इस पयस्विनी के तट पर ही सिद्धों ने सिद्धि पाई है, साधु निर्विघ्न साधन करते हैं और देवता भी यहाँ मन चाहा पाते हैं, इससे सभी इसका सेवन किया करते हैं।

पहले समष्टि में चित्रकूट की शोभा कही गई और महिमा भी कही गई। तब वहाँ की प्राचीन नदी पयस्विनी का महत्त्व कहा। अब आगे वन की शोभा कहते हैं, फिर २१वें चरण में इसका उपसंहार करेंगे।

'कंद मूल जल-थल-रुह···'—कंद उस जड़ को कहते हैं जो गूदे दार और बिना रेशे की होती है। सूरन,सकरकंद आदि। मूल भी मोटी जड़ विशेष को ही कहते हैं, यहाँ खाने योग्य मोटी जड़ का तात्पर्य है, जैसे मूली गाजर आदि, जल से उत्पन्न कंद-मूल कशेरू (एक प्रकार के मोथे की गठीली जड़ जो मीठी होती है—हिं० श० सा०) आदि और स्थल से उत्पन्न सूरन एवं सकरकंद आदि हैं। 'सुर तरु'—उस समय श्रीरामजी की लीला में था। ऊपर पद ४५ में 'बैठे सुरतरु तर हैं' लिखा जा चुका है। अथवा, पाँच प्रकार के देवतरु कहे गये हैं! कल्पवृक्ष के अतिरिक्त चार वृक्ष और भी देवतरु ही कहाते हैं; यथा—" (पञ्चैते देवतरवो) मन्दारः पारिजातकः। सन्तानः कल्पवृक्षश्च (पुंसि वा) हरिचन्दनम् ।।" (अमर-कोष)। इन चार वृक्षों का होना भी समझना चाहिये। अतः 'कुल' पद को दीप देहली मानकर 'कुल सुरतरु' इस वाक्य से पाँचो प्रकार के देव वृक्षों का अर्थ समझना चाहिये।

'भरे जनु छवि अनुराग सुभाग'—ये सब वृक्ष उपयुक्त छबि से पूर्ण हैं, इनकी लवलीनता प्रगट करती है कि मानो इनका प्रभु में अनुराग है और ये अपने परम सौभाग्य पर कृतकृत्य हैं, यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

'वन बिलोकि लघु लगत···'; यथा—"बिबुध बिपिन जहँ लगि जग

माहीं। देखि राम बन सकल सिहाहीं॥" (मा० अ० १३७)। यहाँ 'प्रतीप अलङ्कार का तीसरा भेद' है।

'बरनि न जाय राम बन…'; यथा—"जब तें आइ रहे रघुनायक। तब तें भयउ बन मंगलदायक॥ फूलहिं फलहिं बिटष बिधि नाना। मंजु बलित बर बेलि बिताना॥ सुरतरु सरिस सुभाय सुहाए। मनहुँ बिबुध बन परिहरि आए॥ गुंज मंजुतर मधुकर श्रेनी। त्रिबिध बयारि बहै सुख देनी॥ नीलकंठ कलकंठ सुक, चातक चक्क चकोर। भाँति-भाँति बोलहिं बिहँग, श्रवन सुखद चित चोर॥" (मा० अ० १३६-१३७)। वन में चित्त-हरण करनेवाले 'लता-द्रुम' हैं। अतः, इन्हें 'मदन-निकेत' से उत्प्रेक्षा की है।

'सरित सरनि सरसीरुह…'—यहाँ वन की नदियों और सरोवरों की शोभा कहते हैं। इनमें नाना रंग के कमल पूर्ण हैं। चार रंग के कमल ग्रन्थकार ने माना है; यथा—"मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा॥" (मा० बा० २८६)।

'गुंजत मंजु मधुप…'—कमलों में मकरंद पूर्णता है, इससे उसके आश्रित भ्रमर और जलपक्षी गूँजते और कूजते हैं। 'बिबिध-बिहंग' हंस, कारंडव और जलकुकुट आदि।

'लखन कहेउ, रघुनंदन…'—वसन्त ऋतु का समय है, क्योंकि आगे फाग खेलने का वर्णन है। यों ही श्रीचित्रकूट वन सुहावना है, वसन्त ऋतु की शोभा का तो कहना ही क्या? इससे आनन्द प्रद विपिन-समाज देखने को कहते हैं। ऊपर वन की शोभा से रस का उद्दीप्त होना कहा गया। यहाँ तद्रुपयुक्त उत्प्रेक्षा करते हैं—'मानहु चयन मयनपुर…'—ऋतुराज काम का सहायक एवं पुत्रवत् प्रिय है; यथा—"लखन जानकी सहित प्रभु, राजत रुचिर निकेत। सोह मदन मुनि बेष जनु, रति रितुराज समेत॥" (मा० अ० १३३); तथा—"बहुरि कहउँ छबि जसि मन बसई। जनु मधु मदन मध्य रति लसई॥" (मा० अ० १२२)।

'चित्रकूट पर…'; यथा—"सीता-राम-लखन-प्रिय" यह ऊपर लिखा है। 'सखा सहित जनु रतिपति…'—आपका प्यारा जानकर इस वन को

अधिक रमणीक बनाने के लिये मानों कामदेव अपने सखा को लेकर यहीं फाग खेलने आया है। आगे फाग खेलने का साँग रूपक कहते हैं—

'झिल्लि झाँझ...'—झींगुर पतंग के समान एक कीड़ा होता है, वह वसन्त ऋतु में वृक्षों पर झनकार के स्वर में बोलता है, इससे इसे झाँझ कहा गया है। पहाड़ों के झरने झड़ते हैं, इनमें छोटे-बड़े बहुत प्रकार के हैं और गम्भीर स्वर प्रकट करते हैं, तदनुसार इन्हें डफ, ढोल, मृदंग और दुंदुभी कहा गया है। भ्रमरों के शब्द को नसतरंग कहा गया है, क्योंकि मुख से ही बोलने एवं स्वर में भी समता है; यथा—"मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा।" (मा० अर० ३९)। तोतों का सुन्दर गान ताल कहा गया है, क्योंकि इसके शब्द मनुष्यों के से भी निकलते हैं। गाने में ताल का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। ताल देने पर उसके आधार पर सामान्य गवैये भी गाते हैं। इसी पर तोतों के गान का आधार पाकर शेष गायक पक्षी गाते हैं। आगे उन सामान्य गायक पक्षियों का नाम देते हैं।

यहाँ पहले झाँझ की झनकार कह कर डफ, ढोल, मृदंग एवं दुंदुभी का बजना कहा गया, तब नसतरंग का स्वर मिलकर बजा, तत्पश्चात् तोतों के कल गान से ताल दिया गया। अब आगे सभी गायकों का गान कहते हैं—

'हंस, कपोत कबूतर...'—इन पाँचों गायकों में कलहंस का नाम पहले दिया गया है, क्योंकि इसका स्वर विशेष मनोरम होता है; यथा—"बोलत जल कुक्कुट कलहंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा॥" (मा०अर० ३९); तथा—"हिय सुमिरी सारदा सुहाई। मानस ते मुख पंकज आई॥ बिनय बिबेक धरम नय साली। भरत भारती मंजु मराली॥" (मा० अ० २९६)। यहाँ पाँच पक्षी हैं। वन के चारों ओर बोल रहे हैं, मानों इस वन रूपी काम नगर में चारों ओर स्त्री-पुरुष प्रतियोगिता में फाग गा रहे हैं। इस उत्प्रेक्षा के अनुसार यहाँ हंस आदि पाँचों पक्षियों में भी नर-मादा हैं और उनके गान में भी प्रतियोगिता-सी है। 'मुदित'—प्रभु को पाकर ये आनंदित हैं, इससे इनके गान में विशेष आकर्षण है। फाग गान में मोद विशेष चाहिये ही।

चित्र-बिचित्र बिबिध मृग डोलत डोंगर डाँग।
जनु पुर-बीथिन्ह बिहरत छैल सँवारे स्वाँग॥१२॥

नचहिं मोर, पिक गावहिं, सुस्वर सुराग बँधान।
निलज तरुन-तरुनी जनु खेलहिं समय समान ॥१३॥
भरि-भरि सुंड करिनि-करि जहँ-तहँ डारहिं बारि।
भरत परस्पर पिचकनि मनहुँ मुदित नर-नारि ॥१४॥
पीठि चढ़ाइ सिसुन्ह कपि कूदत डारहिं डार।
जनु मुँह लाइ गेरु-मसि भए खरनि असवार ॥१५॥
लिए पराग सुमन-रस डोलत मलय-समीर।
मनहुँ अरगजा छिरकत, भरत गुलाल-अबीर ॥१६॥
काम कौतिकी यहि बिधि प्रभु हित कौतुक कीन्ह।
रीझि रामरतिनाथहिं जग-विजयी बर दीन्ह ॥१७॥
दुखवहु मोर दास जनि, मानेहु मोरि रजाइ।
'भलेहिं नाथ' माथे धरि आयसु-चलेउ बजाइ ॥१८॥
मुदित किरात किरातिनि रघुबर रूप निहारि।
प्रभु गुन गावत नाचत चले जोहारि जोहारि ॥१९॥
देहिं असीस प्रसंसहिं मुनि सुर बरसहिं फूल।
गवने भवन राखि उर मूरति मंगलमूल ॥२०॥
चित्रकूट कानन छबि को कवि बरनै पार।
जहँ सिय लखन सहित नित रघुबर करहिं बिहार ॥२१॥
तुलसिदास चाँचरि मिस कहे राम-गुन-ग्राम।
गावहिं सुनहिं नारि-नर पावहिं सब अभिराम ॥२२॥

शब्दार्थ—डोंगर=ऊँची भूमि या पहाड़ी टीला। डाँग-घना बनखंड। चाँचरि=चर्चरी राग, वसन्त ऋतु में गाया जानेवाला एक प्रकार का राग।

अर्थ—पहाड़ी टीलों एवं सघन वनखण्डों पर चित्र-विचित्र रंग के भाँति-भाँति के मृग डोल रहे हैं, वे मानों उस नगर की गलियों में स्वाँग बनाये हुए अनेक छैल विचर रहे हों ॥१२॥ मयूर नृत्य कर रहे हैं और कोयलें सुन्दर स्वर और राग-बन्धान के साथ गा रही हैं, ऐसा जान पड़ता है मानों उस काम नगर में निर्लज्ज युवक और युवतियाँ समय के अनुसार (प्रमत्त हो) फाग खेल रहे हों ॥१३॥ हाथी और हथिनियाँ सूँडों में जल भर-भर कर जहाँ-तहाँ

डाल देतीं हैं, ऐसा जान पड़ता है मानों आनन्दित होकर स्त्री-पुरुष परस्पर पिचकारियों से (रंग) भरते हों ॥१४॥ (काले और लाल मुख वाले) वानर अपने बच्चों को पीठ पर चढ़ाकर एक डाल से दूसरी डाल पर कूदते हैं, वे ऐसे जान पड़ते हैं मानों (स्वाँग रचनेवाले लोग) मुखों पर गेरु एवं स्याही लगा कर गधों पर सवार हों ॥१५॥ फूलों के पराग और रस लेकर जो सुगन्धित पवन चल रहा है, वह ऐसा जान पड़ता है मानों वह अरगजा छिड़क रहा हो एवं गुलाल और अबीर भर (मल) रहा हो ॥१६॥ इस प्रकार कौतुकी कामदेव ने प्रभु श्रीरामजी के लिये खेल किया है, इस पर प्रसन्न होकर श्रीरामजी ने उस रति के स्वामी कामदेव को जगद्विजयी होने का वरदान दिया ॥१७॥ (साथ ही यह शर्त भी रख दिया —) देखो, मेरे भक्त को दुःख मत देना, मेरी इस आज्ञा का पालन करना। कामदेव ने कहा—'हे नाथ ! बहुत अच्छा' इस प्रकार आज्ञा शिरोधार्य कर वहाँ से डंका बजाकर वह चला गया ॥१८॥ वहाँ के किरात और किरातिनी श्रीरघुनाथजी का रूप देखकर प्रसन्न हैं, प्रभु श्रीरामजी को जोहार (प्रणाम) कर-करके इनके गुण गाते और नाचते हुए चले जाते हैं ॥१९॥ मुनि गण आशीर्वाद देते और प्रशंसा करते हैं तथा देव गण फूल बरसाते हैं। ये सब भी श्रीरामजी की मङ्गलमूल मूर्त्ति हृदय में रखकर अपने-अपने घरों को गये ॥२०॥ श्रीचित्रकूट वन की छबि को कौन कवि वर्णन कर पार पा सकता है ? जहाँ पर श्रीजानकीजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ श्रीरघुनाथजी नित्य विहार किया करते हैं ॥२१॥ श्रीतुलसीदासजी ने चाँचरि गान के ब्याज से श्रीरामजी के गुण समूह का वर्णन किया; जो स्त्री-पुरुष इन्हें गाते-सुनते हैं, वे समस्त प्रिय (अभीष्ट) पाते हैं ॥२२॥

विशेष—'चित्र-बिचित्र···'—इनके चित्र-विचित्र अंग ही स्वांग हैं। डोंकर-डाँग ही पुर-वीथियाँ और वे सब मृग छैल हैं।

'नचहिं मोर, पिक गावहिं···'—कोयल का स्वर बहुत ही मधुर होता है, साथ ही यह ताल-बन्धान से भी गा रही है। मोर पंख फैलाकर नाचता है, यही इसकी निर्लज्जता है, कोयल उसके समक्ष है, यही उसकी भी निर्लज्जता है। मोर नाचने लगता है तो उसका वीर्य पात भी हो जाता है, ऐसी ख्याति है, यही उसकी निर्लज्जता का प्रत्यक्ष भाव है। फाग खेलने में भी स्त्री-

पुरुष मर्यादा लाँघकर निर्लज्जता करते देखे जाते हैं; यथा—"करैं कुटि निपट गई लाज भाजि॥ नर-नारि परस्पर गारि देत। सुनि हँसत राम भाइन्ह समेत॥" (उ० २२)।

'भरि-भरि सुंड....'—यहाँ सूँड़ पिचकारी और जल रंग हैं। परस्पर डालना पिचकारी मारना है।

'पीठि चढ़ाइ...'—यहाँ 'कपि' खर और 'सिसुन्ह' सवार हैं, लाल मुँह वाले बच्चे मानो गेरु लगाये हुए हैं और काले मुँह वाले मानों मुँह में स्याही लगाये हुए हैं।

'लिए पराग सुमन रस...'—केसरि, चन्दन और कर्पूर मिलाकर अरगजा बनता है। यहाँ 'सुमनरस' अरगजा है और पराग ही गुलाल और अबीर है, मन्द-मन्द पवन छिड़कने एवं अबीर आदि का मलनेवाला है।

अलङ्कार—'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' (१२,१३,१४,१५,१६ चरणों में)।

'काम कौतुकी...'—कामदेव ने प्रभु को प्रसन्न करने के लिये इनके वन को इस प्रकार रम्य बनाकर कौतुक किया। इस पर श्रीरामजी ने प्रसन्न होकर उसे जगद्विजयी होने का वरदान भी दिया है। यही कारण है कि श्रीशिवजी पर चढ़ाई करने के समय इसने जगत् भर पर विजय पाई है; यथा—"दुइ दंड भरि ब्रह्मंड भीतर काम कृत कौतुक अयं। धरी न काहू धीर, सबके मन मनसिज हरे। जे राखे रघुबीर, ते उबरे तेहि काल महँ॥" (मा० बा० ८५)।

'दुखवहु मोर दास जनि....'—काम ने मान लिया है, इसीसे कहा है; यथा—"कह तुलसिदास तेहि छाँड़ मैन। जेहि राख राम राजिव नैन॥" (पद ४८); तथा—"तिन्हकी न काम सकै चापि छाँह। तुलसी जे बसे रघुबीर बाँह॥" (पद ४९)।

'मुदित किरात-किरातिनि...'—ये सदा यहाँ रहते थे, वन की शोभा पहले ऐसी नहीं थी। प्रभु के आने पर ही ऐसी शोभा है। अतः, उपर्युक्त वन-वैभव प्रभु के ही गुणों से है। ऐसा कहते हुए वे प्रेम में निमग्न हो नाचने लगते हैं। श्रीरामरूप पर मुग्ध हैं। अतः, बार-बार जोहार करते हुए प्रभु का रूप देखते जाते हैं; यथा—"अंगद हृदय प्रेम नहिं थोरा। फिरि-फिरि चितव राम

की ओरा ॥ बार-बार कर दंड प्रनामा। मन अस रहन कहहिं मोहिं रामा ॥"
(मा० उ० १८)।

'देहिं असीस…'—मुनि वचन से आशीर्वाद देते और प्रशंसा करते हैं, देवगण कर्म से फूल बरसाते हैं और मन से सब मङ्गलमूल मूर्त्ति का ध्यान करते हैं। वन को मङ्गलमूल किया है, इससे प्रभु की मूर्त्ति 'मंगलमूल' कही गई है; तथा—"मंगल रूप भयउ बन तब ते। कीन्ह निबास रमापति जब ते ॥" (मा० कि० १२); "जब ते आइ रहे रघुनायक। तब ते भयउ बन मंगलदायक ॥" (मा० अ० १३६)।

'चित्रकूट कानन… जहँ सिय लखन…'; यथा–"सो बन सैल सुभाय सुहावन। मंगलमय अति पावन पावन ॥ महिमा कहिय कवनि बिधि तासू। सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू ॥ पय पयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय राम लखन रहे आई ॥ कहि न सकहिं सुखमा जसि कानन। जौं सत सहस होहिं सहसानन ॥" (मा० अ० १३८)।

'चाँचरि मिस…'—होली वर्णन के व्याज से मैंने श्रीरामजी के गुणगान किये हैं। प्रभु के प्रभाव से होनेवाली वन-विभूति का वर्णन किये हैं। प्रभु के इन गुणों के श्रवण एवं गान से सभी अभीष्ट प्राप्त होते हैं; क्योंकि यहाँ पर प्रभु ने अपनी कृपादृष्टि से जड़ वन को मंगलमूल कर दिया है तो भक्तों को क्यों न करेंगे ?

राग वसन्त

[४८]

आजु बन्यो है बिपिन देखो, राम धीर। मानों खेलत फाग मुद मदन बीर ॥१॥
बट, बकुल, कदंब, पनस, रसाल। कुसुमित तरु-निकर कुरव-तमाल।
मानों बिबिध बेष धरे छैल जूथ। बिच बिच लता ललना-बरूथ ॥२॥
पनवानक निरझर, अलि उपंग। बोलत पारावत मानो डफ मृदंग।
गायक सुक कोकिल झिल्लि ताल। नाचत बहु भाँति बरहि मराल ॥३॥
मलयानिल सीतल सुरभि मंद। वह सहित सुमन रस रेनु बृंद।
मानो छिरकत फिरत सबनि सुरंग। भ्राजत उदार लीला अनंग ॥४॥
क्रीड़त जीते सुरनर असुर नाग। हठि सिद्ध मुनिन्ह के पंथ लाग।

कह तुलसिदास तेहि छाडु मैन। जेहि राख राम राजीव नैन ॥५॥

अर्थ—हे धैर्यवान् श्रीरामजी ! देखिये, आज यह वन ऐसा बना हुआ है मानो वीर कामदेव आनन्दपूर्वक फाग खेल रहा है ॥१॥ वट, मौलसिरी, कदम्ब, कटहल, आम, कुरव (सं० कुरव = कटसरैया) और तमाल आदि वृक्ष समूह फूले हुए हैं। (ये ऐसे जान पड़ते हैं) मानों भाँति-भाँति के वेष धारण किये हुए छैलों के समूह हैं और इनके बीच बीच में लताएँ हैं, ये मानों स्त्री-समुदाय हैं ॥२॥ झरने ढोल और दुंदुभी हैं, भ्रमर नसतरंग और बोलते हुए कबूतर ही मानो डफ और मृदंग हैं। तोते और कोयलें गायक हैं, झींगुर ताल (झाँझ) हैं और मयूर तथा हंस बहुत प्रकार से (नृत्य करनेवाले हैं, वे) नृत्य कर रहे हैं ॥३॥ मलय-पर्वत को स्पर्श कर आया हुआ वायु शीतल, मन्द और सुगन्धित फूलों के पराग और रस के साथ बहता (चलता) है, वह ऐसा जान पड़ता है मानो श्रेष्ठ लीला करनेवाला कामदेव सब पर सुन्दर रंग छिड़कता फिरता है ॥४॥ इसी प्रकार की क्रीड़ा करते हुए इसने देव, दैत्य और नागों को जीत लिया है और सिद्धों तथा मुनियों के मार्ग में तो यह हठपूर्वक लगा रहता है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यह कामदेव उसीको छोड़ता है, जिसकी राजीवलोचन श्रीरामजी रक्षा करते हैं ॥५॥

विशेष—'आजु बन्यो है···'—ऊपर के पद में फाग का वर्णन हो आया है, उसे ही यहाँ भी विशेष रूप से कहते हैं। वहाँ श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीरामजी से कहा है, यहाँ तदनुसार उन्हींका कथन समझना चाहिये। 'धीर'—क्योंकि श्रीरामजी ही काम-पीड़ा को धैर्यपूर्वक जीतनेवाले हैं, यहाँ वे अचल चित्त हैं; यथा—"ते धीर अछत बिकार हेतु जे रहत मनसिज बस किये॥" (पार्वती-मंगल १५)। तथा—"नारि नयन सर जाहि न लागा।···सो नर तुम्ह समान रघुराया॥" (मा० कि० २०)।

'मानो खेलत फाग···'—आनन्दपूर्वक वीर काम फाग खेलता है। जिसने अपने स्वाभाविक पुष्पबाणों से तीनों लोकों को वश कर रक्खा है, वह यदि विशेष क्रीड़ा करके वश करना चाहे तो इससे कौन बच सकता है ? अतएव इस समय तो यह महान् वीर है। यथा—"काम कुसुम धनु-सायक लीन्हें।

सकल भुवन अपने बस कीन्हें ॥" (मा० बा० २५६); तथा—"दुइ माथ केहि रतिनाथ जेहि कहुँ कोपि कर धनु सर धरा ॥" (मा० बा० ८३)।

'बट, बकुल''मानो बिबिध बेष'''—काम का विशेष बल फूलों से होता है; क्योंकि फूल ही तो इसके धनुष्-बाण हैं। यहाँ फूले हुए वृक्ष ही फाग खेलनेवाले छैल यूथ हैं और उन वृक्षों के साथ की पुष्पित लताएँ स्त्री-समुदाय हैं। मानों परस्पर लपटे हुए फाग खेल रहे हैं, इससे विविध रंग के हो गये हैं। विविध-रंग के पुष्प ही इन वृक्षों और लताओं के वस्त्रवेष हैं। आगे फाग के उद्दीप्त करनेवाले गान-वाद्य का भी वर्णन करते हैं।

'पनवानक निरझर''; यथा—"झिल्लि, झाँझ झरना डफ पनव, मृदंग निसान। भेरि, उपंग भृंग रव, ताल कीर कलगान ॥" (पद ४७) देखिये। यहाँ कबूतरों के बोलने को 'डफ-मृदंग' कहा गया है। ढोल और दुंदुभी की ध्वनि जल झरनों की गम्भीर ध्वनि से उपमित है और मृदंग एवं डफ को कबूतर की कुछ स्पष्ट बोलों के समान कहा है, क्योंकि इनमें कुछ स्पष्ट शब्द होते हैं।

'गायक सुक कोकिल'''—कबूतर आदि की अपेक्षा तोते और कोयल स्पष्ट बोलते एवं सुरीले होते हैं। अतः, ये गायक हैं। मृदंग से गायकों के शब्द अधिक स्पष्ट होते ही हैं। 'झिल्लि ताल'—ऊपर पद में झींगुर को झाँझ कहा गया है। यहाँ इसे ताल कहा है, ताल का एक अर्थ झाँझ भी होता है, वही यहाँ लेना चाहिये। 'नाचत बहु भाँति'''—मयूर का नृत्य पंख फैला कर होता है और हंस का नृत्य भाँति-भाँति चाल में होता है। नृत्य इन दो रीतियों के होते हैं—विविध गतियों के और घाँघरे फैला कर।

'मलयानिल सीतल'''—फूलों की विविध रंग की परागें रंग हैं और और उनके रसों में घुलकर जलमय विविध-सुगन्धित-सुरंग हो गये हैं। वन भर में सर्वत्र यह छिड़काव हो रहा है, यही इसकी लीला में उदारता है जो सर्वत्र एक समान छिड़क रहा है, यही काम की सर्वश्रेष्ठ क्रीड़ा है; यथा—"सीतल सुगंध सुमंद मारुत मदन अनल सखा सही ॥" (मा० बा० ८५); अतः, इसी पर यहाँ क्रीड़ा का उपसंहार कर आगे इसका विजय कहते हैं—

'क्रीड़त जीते सुर'''—सुर स्वर्ग के, नर मर्त्यलोक के और असुर एवं

नाग पाताल लोक के हैं। मुनि और सिद्ध सभी लोकों में विचरते हैं, इन सबको इसने इस प्रकार की क्रीड़ाओं से जीत रक्खा है। मुनि और सिद्ध इसके समक्ष कुछ साहस दिखाते हैं, इससे यह हठकर इनके पीछे लगा रहता है; यथा—"सिद्ध बिरक्त महामुनि जोगी। तेऽपि कामबस भए बियोगी॥ भए कामबस जोगीस तापस पाँवरनि की को कहै।" (मा० बा० ८५)।

'तेहि छाँड़ु मैन। जेहि…'—ऊपर पद ४७ के 'काम कौतुकी…दुखवहु मोर दास जनि…' इनके विशेष देखिये। 'राजिवनयन'—यह विशेषण कृपा दृष्टि से दुःख-हरण पर विशेष कहा जाता है, यहाँ भी उसी पर है; यथा—"राजिव-नयन धरे धनुसायक। भगत-बिपति-भंजन सुखदायक॥" (मा० बा० १७); "देखी राम सकल कपि सैना। चितइ कृपा करि राजिव नैना॥ राम कृपा बल पाइ कपिंदा। भए पच्छजुत मनहुँ गिरिंदा॥ (मा० सुं० ३४); "सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आए जल राजिव नयना॥ बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बूझिय बिपति कि ताही॥" (मा०सुं०३१)।

श्रीलक्ष्मणजी ने वन की इस काम क्रीडा की भीषणता कहकर प्रभु के राजीव लोचन से अपनी रक्षा चाही है, यह भाव गर्भित है। प्रभु की कृपादृष्टि से ही इन्होंने कामदेव रूप साक्षात् मेघनाद को जीता है। श्रीगोस्वामीजी का कथन तो श्रीलक्ष्मणजी का भाव लेकर है। आगे भी ऐसा ही वर्णन है—

इस पद के १,२,३,४ इन चरणों में 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' हैं।

[४९]

रितुपति आये भलो बन्यो बनसमाजु। मानो भए हैं मदन महाराजआजु।
मनो प्रथम फाग मिस करि अनीति। होरी मिस अरिपुर जारि जीति।
मारुत मिस पत्र प्रजा उजारि। नय नगर बसाए बिपिन झारि॥ २॥
सिंहासन सैल सिला सुरंग। कानन छबि रति, परिजन कुरंग।
सित छत्र सुमन बल्ली बितान। चामर समीर निर्झर निसान॥ ३॥
मानो मधु-माधव दोउ अनिप धीर। बर बिपुल बिटप बानैत बीर।
मधुकर सुक कोकिल बंदि बृंद। बरनहिं बिसुद्ध जस बिबिध छंद॥ ४॥
महि परत सुमन रस फल पराग। जनु देत इतर नृप कर बिभाग।
कलि सचिव सहित नय-निपुन मार। कियो बिस्व बिबस चारिहु प्रकार॥

बिरहिन पर नित नइ परै मारि। डाटिअहि सिद्ध-साधक प्रचारि।
तिन्हकी न काम सकै चाँपि छाँह। तुलसी जे बसहिं रघुबीर बाँह॥ ६॥

अर्थ—ऋतुराज वसन्त के आने पर (श्री चित्रकूट) वन की सारी सामग्री एवं सभी अंग अच्छे बन गये हैं, ऐसा जान पड़ता है, मानों आज कामदेव महाराज पद पर प्रतिष्ठित हुए हों ॥ १ ॥ मानो उन्होंने पहले फाग के व्याज से अनीति (मर्यादा-भङ्ग) की और फिर होली के व्याज से शत्रुपुर (वन-प्रदेश) को जला कर जीता तथा वायु के व्याज से (प्रचण्ड वायु के झकोरों से) वन के पत्ते रूपी प्रजा गण को उजाड़कर उड़ा दिया और फिर वन को (उसी वायु से) झाड़-बहार कर नया नगर बसाया हो, अर्थात् वन रूप नगर को नये-नये कोपलों से सम्पन्न कर नया करके बसाया हो ॥ २ ॥ श्री चित्रकूट पर्वत की सुन्दर रंग वाली शिला ही सदन महाराज का राज्य सिंहासन है, वन की छबि ही उसकी स्त्री (रानी) रति है और मृग गण ही उसके परिजन हैं। वन के फूल उसके श्वेत छत्र हैं, लताएँ चँदोवे हैं, वायु चँवर है और झरने नगाड़े हैं ॥ ३ ॥ मानों चैत्र और वैशाख दोनों धैर्यवान् सेनापति हैं और अच्छे-अच्छे बहुत-से वृक्ष उसके बानैधन्द वीर हैं। भ्रमर, तोते और कोयलें बन्दीजनों के समूह हैं जो उसके विशुद्ध यश को भाँति-भाँति के छन्दों में वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥ पृथिवी पर जो फूलों के रस, पराग और फल गिरते हैं, वे ही मानों अन्य सामान्य (अधीन) राजा गण भिन्न-भिन्न विभाग के कर देते हैं। कलि-युग मन्त्री के साथ नीति-निपुण कामदेव ने (मानों) सारे विश्व को साम, दाम, दण्ड और भेद इन चारों प्रकार की नीतियों से वश में कर लिया है ॥५॥ विरही लोगों पर नित्य नई-नई मारें पड़ती हैं, सिद्ध और साधक तो ललकार कर डाँटे जाते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जो श्रीरघुकुल वीर श्रीरामजी की बाँहों का आश्रय कर (अर्थात् उनका शरणागत होकर) बसे हुए हैं, उनकी तो कामदेव छाया भी नहीं दबा सकता ॥ ६ ॥

विशेष—'रितुपति आए ''मानो भए हैं '''—वसन्त ऋतु चैत्र और वैशाख इन दो महीनों की होती है। सौर मास से ऋतुओं का विभाग होता है। किन्तु वसन्त का आगमन माघ शुक्ल पञ्चमी से ही माना जाता है। अतः दस दिन शेष माघ के और तीस दिन फागुन के, ये चालिस दिन भी वसन्त को मिल

गये हैं। शेष पाँच ऋतु रूप प्रजाओं ने अपने-अपने ऋतुकाल में से आठ-आठ दिन ऋतुराज वसन्त को कर रूप में दिया है, यही (८ × ५ = ४०) चालीस दिन इसे शेष ऋतुओं से प्राप्त कर के हैं, वर्ष के अन्त में दिये गये हैं।

जब से ऋतुराज का आगमन होता है, तभी से (माघ सुदी ५ से) आम्र आदि फूलने लगते हैं। आम्र ही काम का स्थल रूप वृक्ष है; यथा —"देखि रसाल बिटप बर साखा। तेहि पर चढ़ेउ मदन मन माखा॥ सौरभ पल्लव मदन बिलोका।" (मा० बा० ८६)। इन सब हेतुओं से वसन्तागमन पर कामदेव का महाराज होना कहा गया है; क्योंकि वसन्त काम का सहायक होने से अंग ही है।

'मनो प्रथम फाग मिस···'—वसन्त पञ्चमी से फाग प्रारंभ होता है, उसी दिन से लड़के ग्रामों में लोगों के लकड़ी-कण्डे चोरी से लेकर ग्राम में बाहर रखते हैं और साथ ही गालियाँ बकते हैं, यही अनीति करते हैं, तथा फाल्गुन पूर्णिमा पर संवत् समाप्ति पर होलिका दाह करते हैं एवं होली गाते हैं, तथा जंगलों में आग लगा कर भी लोग जला देते हैं, तब वर्षा पर वहाँ घास-वृक्ष होते हैं। तब चैत्र प्रारम्भ होता है, यही वसन्त ऋतु का प्रथम मास है। यही इसका सिंहासीन होना है।

इसी प्रकार कोई भी राजा शत्रु पर चढ़ाई कर पहले शत्रु पुर में अपना प्रताप दिखाते हुए अनीति कर प्रजा पर भी प्रहार करता है। नगर-गाँव जला भी देता है, तब वह वहाँ पर अधिकार जमाता है। अधिकार होने पर वह जिस प्रकार प्रजा को हाथ में करता है, यह आगे कहते हैं—

'मारुत मिस पत्र···'—चैत्र प्रारम्भ में फाल्गुन की वायु से पीली हुई पत्तियाँ चैत की वायु से झड़ जाती हैं, जैसे प्रतापी राजा चढ़ाई करते समय पहले प्रजा पर आतंक प्रकट करते हुए उसे उजाड़ देता है। फिर प्रचण्ड वायु से गिरी हुई पत्तियाँ उड़-उड़ कर गढ्ढों में पड़ कर छिप जाती हैं, वन साफ हो जाता है। जैसे नवीन राजा अपने विरोधी प्रजा वर्ग को कैद कर जेलों में बंद कर देता है।

'नय नगर बसाए' - नया राजा फिर नगर को नवीन सुन्दर रीति से बसाता है। वैसे ही वसन्त ऋतु में उजड़े एवं झड़े हुए वृक्षों में नवीन पत्ते

एवं कोपलें होती हैं तथा आम्र आदि बहुत वृक्ष फलों से परिपूर्ण हो जाते हैं। यही वसन्त का प्रजा को नवीनरूप से बसाकर उन्हें सम्पन्न करना है।

'सिंहासन सैलसिला…'—यहाँ राजा का राज्य सिंहासन, राजरानी, परिजन, श्वेत छत्र, चँदोवा, चँवर और नगाड़े आदि आवश्यक सभी अँग कहे गये हैं। मदन महाराज मानों सुरंग शैलशिला पर विराजे हैं, वनं छवि उनकी रानी उनसे संश्लिष्ट है। प्रजा रूप मृग आनन्दन क्रीड़ा कर रहे हैं। वन का पुष्पित भाव ही इसका छत्र है। लताएँ चँदोवा हैं। त्रिविध वायु ही इसका चँवर है और निर्झर ही निशान घुमड़ रहे हैं। आगे इन अंगो की रक्षा करने वाली सेना का वर्णन करते हैं—

'मानो मधु-माधव दोउ…'—चैत्र और वैशाख ये दोनों महीने इसके धैर्यवान सेनापति हैं। इनकी आज्ञा से एवं इनके ही आश्रित रह कर श्रेष्ठ बहुत से वृक्ष रूपी बानेवन्द वीर फूल-फल से पूर्ण सदा पराक्रम युक्त एवं सन्नद्ध रहते हैं।

प्रतापी मदन महाराज का इस प्रकार दृढ़ स्वामित्व कह कर आगे उनके यश का वर्णन करना भी कहते हैं—

'मधुकर सुक कोकिल…'—इनमें मधुकर सूत हैं, ये पौराणिक रीति से, श्लोकों में मदन महाराज की कीर्त्ति गा रहे हैं। मधुकरों के गान में अक्षर एवं पद स्पष्ट नहीं होते, वैसे ही पौराणिकों के संस्कृत श्लोकों के विविध छन्द एवं उनके भाव सर्व साधारण नहीं समझ पाते। परन्तु भ्रमर-गान प्रिय मान कर आदर सब करते हैं! वैसे ही पौराणिक यश वर्णन भी प्रिय एवं आदरणीय हैं। तथा तोते और कोयलों के शब्द स्पष्ट समझ पड़ते हैं, जैसे बन्दीजनों के भाषा-छन्दों के अर्थ एवं भाव सबको समझ पड़ते हैं। अतः ये ही भाषा में यश गाने वाले वन्दीजन हैं।

'बिसुद्ध जस' काम का यह यश हिंसात्मक नहीं है, प्रत्युत प्रीत्यात्मक है, यहाँ तो यह वन को विशेष रम्य बना कर प्रभु की सेवा कर रहा है। अतः इसके इस विशुद्ध यश का ये बन्दी-वृन्द गान कर रहे हैं।

'महि परत सुमन रस…'—मदन महाराज का कर ग्रहण करना भी कैसा विशुद्ध रीति का है कि आपसे आप वृक्ष गण जो पुष्परस, पराग एवं

फल भू पर गिराते हैं, राजा का वही कर होता है। यही कर लेने की सर्वश्रेष्ठ नीति है; यथा—"पाके, पकये, बिटप दल, उत्तम, मध्यम, नीच। फल नर लहहिं नरेस त्यों, करि बिचार मन बीच॥" (दोहावली ५१०); अर्थात् वृक्षों के फल मनुष्य तीन प्रकार से लेते हैं, उनमें उत्तम वे हैं जो वृक्षों के पके हुए फलों को उनके स्वतः गिरा देने पर लेते हैं। मध्यम वे हैं जो फल पकने तक धैर्य न रख कर फलों को वृक्षों से तोड़ कर घर में रख कर पकाते हैं और नीच वे हैं जो वृक्षों के दल पत्तों के साथ लाठी से पीट कर आम आदि फल (खटाई आदि बनाने के लिये) तोड़ते हैं। उसी प्रकार राजा को कर लेने में भी विचार है। खेत की उपज परिपक्व होने पर जो प्रजा स्वयं दे दे, वह कर लेना उत्तम है। जो उपज प्रस्तुत होने पर कर्मचारी भेज कर लिया जाय, वह कर लेना मध्यम है और जो अकाल आदि पर एवं अन्य कष्ट से प्रजा के न दे सकने पर उसका घर बार बेचवा कर एवं पीट कर ग्रहण करना है, वह कर लेना नीच है; तथा—"नित्यमुद्यतदण्डः स्यादाचरेदप्रमादः। लोके चायव्ययौ दृष्ट्वा वृहद्वृक्षमिवास्रवत्॥" (महा० शान्ति० १२०।६); अर्थात् राजा सदा दण्ड नीति से प्रजा पालन में रत रहे, (किन्तु, जैसे लोग ऊख को काट कर और उसे पेर कर उसका रस ग्रहण करते हैं, वैसा न कर) जैसे बड़े वृक्ष ताड़ और खजूर आदि की रक्षा करके लोग उनसे स्वतः स्रवते हुए रस को ग्रहण करते हैं, वैसे ही राजा प्रजा समूह के आय-व्यय (आमद-खर्च) को देखकर उनकी रक्षा करते हुए उनसे प्रसन्नतापूर्वक दिये हुए कर को ग्रहण करे। तथा—"कालं प्राप्तमुपादद्यान्नार्थं राजा प्रसूचयेत्। अहन्यहनि संदुह्यान्महीं गामिव बुद्धिमान्॥ यथाक्रमेण पुष्पेभ्यश्चिनोति मधु षट्पदः। तथा द्रव्यमुपादाय राजा कुर्वीत सञ्चयम्॥" (महा० शान्ति० १२०।३३-३४); अर्थात् राजा धन संग्रह करे और उस धन को प्रकट न करे। बुद्धिमान् राजा प्रतिदिन गऊ दुहने की भाँति पृथिवी से अन्न दुहा करे। जैसे भ्रमर क्रम के अनुसार फूलों से मधु ग्रहण करता है, वैसे ही राजा धीरे-धीरे द्रव्य ग्रहण करके एकत्र करे।

इस प्रकार का कर भी राजा प्रजा के लिये ही लेता है; यथा—"सु प्रभु प्रजा हित लेहि कर, सामादिक अनुमानि॥" (दोहावली ५०६); अर्थात् कर लेकर उस धन से प्रजा के लिये सड़कें, औषधालय एवं पाठशाला तथा पुलीस

एवं सेना के द्वारा प्रजा की ही रक्षा करे। राजा पहले तो सामनीति से ही कर ले। यदि प्रजा टूट जाय तो उसे कुछ द्रव्य देकर फिर उससे उपार्जन करा उचित कर ले। यदि प्रजा में दलबन्दी हो जाय तो भेदनीति से भेद डालकर उनके पक्ष को मिलाकर फिर उचित ही कर ले और यदि धनी होकर भी उचित कर न दे तो दण्डनीति से ले और फिर उस धन से निर्बल प्रजा का हित करे।

'कर विभाग···'—पुष्परस एक भाग, पुष्प-पराग दूसरा भाग है और पुष्प का अंतिम परिणाम रूप फल यह तीसरा विभाग है। वैसे ही क्रम से साल में कृषिकारों से उनकी भदई, अगहनी और चैती के कर लेना चाहिये, यह उत्तम राजा की नीति है। यहाँ इसी प्रकार मदन कर ले रहा है।

'कलि सचिव सहित···कियो बस्य बिस्व···'—अर्थ संचय करके बलिष्ट होने में कामदेव की उत्तम प्रतापी राजा की-सी नीतिमत्ता कही गई। अपने विभव से अब कलियुग रूपी मंत्री के उपदेशानुसार इसने सारे विश्व को अपनी नीति-निपुणता से चारो प्रकार की सामादि नीतियों से वश में कर रक्खा है।

यहाँ प्रथम अनीति करके प्रजा के उजाड़ने एवं पुर जलाने में दंड नीति है। नय नगर बसाने में सामनीति हैं, राज्य कर वन को समृद्धि देने में एवं कर लेने में इसकी दाननीति है और वियोग श्रृङ्गारवाले विरही लोगों को दुःख देने में इसकी भेद नीति है; क्योंकि बहु संयोग श्रृंगारियों को तो यह सुखद ही है, अल्प संख्यक विरहियों को दुःख देता है। बहु संख्यक संयोगियों के विलास देखकर बिरहियों को दुःख होता है। जैसे भेद नीति वाला राजा बहु-संख्यक को मिलाकर उन्हीं के द्वारा अल्पों को दण्ड देता है।

इस प्रकार चारो प्रकार की अपनी नीतियों से सम्पन्न होकर अपने शत्रु रूप सिद्धों और साधकों को डाँटता है, क्योंकि ये लोग काम को जीतने में रत रहनेवाले हैं। अतः, इनको ललकार-ललकार कर डाँट-फटकार बताता है—सावधान !! शिर उठाया कि ले मारूँगा, मेरा स्वामित्व देखता है न !!!

इस प्रकार कामदेव का दिग्विजयी स्वरूप कहा गया; तथा—"काम कुसुम धनु सायक लीन्हें। सकल भुवन अपने बस कीन्हें ॥" (मा० बा० २५६)। आगे उनका वर्णन करते हैं, जिन पर इस कामदेव का प्रभाव कुछ नहीं पड़ता-

'तिन्हकी न काम··'—प्रत्यक्ष हो उनके शरीर छूने तक की भी बात

नहीं प्रत्युत उनकी यह काम परछाहीं भी नहीं छू पाता। जो रघुबीर के शरणागत हैं, यथा–"सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकौ बाधा॥" (मा० कि० १६); तथा–"वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः। सर्वपाप विशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम्॥" (महा० अनु० १४९।१३०); अर्थात् भगवान् की शरण होकर जो उनमें परायण रहते हैं, वे सब पापों से रहित तथा पवित्र होकर उन सनातन ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त पद ४८ के 'तेहि छाड़ु मैन। जेहि राख राम···' इसका विशेष भी देखिये।

अलङ्कार–'सांग रूपक' तथा चरण १,२,४,५में 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा' है।

राग मलार

[५०]

सब दिन चित्रकूट नीको लागत।
बरषारितु प्रबेस बिसेष गिरि देखत मन अनुरागत॥ १॥
चहुँदिसि बन संपन्न, बिहँग-मृग डोलत सोभा पावत।
जनु सुनरेस देस-पुर प्रमुदित प्रजा सकल सुख छावत॥ २॥
सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रंग मगे सृंगनि।
मनहुँ आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर-मुनि-भृंगनि॥ ३॥
सिखर परस घनघटहि, मिलत बगपाँति सो छबि कबि बरनी।
आदि बराह बिहरि बारिधि मानो उठ्यो है दसन धरि धरनी॥४॥
जलजुत बिमल सिलनि झलकत नभ, बन-प्रतिबिंब तरंग।
मानहुँ जग-रचना बिचित्र बिलसति बिराट अंग-अंग॥ ५॥
मंदाकिनिहि मिलत झरना झरि-झरि भरि-भरि जल आछे।
तुलसी सकल सुकृत-सुख लागे मानो राम-भगतिके पाछे॥ ६॥

अर्थ—श्रीचित्रकूट सब दिनों में बड़ा अच्छा (सुहावना) लगता है। वर्षा ऋतु का प्रवेश होने पर तो इस पर्वत को देखते ही मन अनुरक्त हो जाता है॥ १॥ क्योंकि (उस समय) इसका वन पुष्प-फल एवं पत्तों से परिपूर्ण रहता है और इसमें चलते-फिरते पक्षी और मृग ऐसी शोभा पाते हैं मानो अच्छे राजा के देश एवं नगर में प्रजा समस्त सुख को प्राप्त होकर आनन्दित हो

रही हो ॥ २ ॥ गेरू आदि धातुओं से रँगे हुए पर्वत के शिखरों पर कोमल ध्वनि से गर्जते हुए काले मेघ ऐसे शोभायमान होते हैं मानों देवताओं और मुनिगण रूप भ्रमरों से सेवित आदि कमल (जिससे श्रीब्रह्माजी प्रकट हुए हैं) विराजमान हो ॥ ३ ॥ पहाड़ के शिखर मेघ की घटाओं का स्पर्श करते हैं और इनसे मिलती हुई बगुलों की पंक्ति है, उस छबि का कवियों ने इस प्रकार वर्णन किया है, मानो आदि वराह समुद्र में क्रीड़ा कर दाँतों पर पृथिवी धारण कर उठे हों ॥ ४ ॥ जल से भरी हुई निर्मल गिरि-शिलाओं पर उठती हुई तरंगों में पड़ता हुआ आकाश और वन का प्रतिबिम्ब ऐसा झलकता है मानों विराट् के अंग-अंग में जगत की विचित्र रचना विशेष शोभायमान हो रही हो ॥ ५ ॥ अच्छे निर्मल जल झरने झड़-झड़ कर और सोतों में भर-भर कर श्रीमन्दाकिनी नदी में मिलते जाते हैं, जैसे सारे पुण्य और सुख श्रीराम-भक्ति के पीछे लगे रहते हों ॥ ६ ॥

विशेष—'सब दिन चित्रकूट नीको लागत ।'—सामान्य रीति से चित्रकूट गिरि एवं वन सदा शोभा सम्पन्न ही रहता है, इसी से वह नित्य का श्रीरामजी का विहार-स्थल कहा गया है; यथा—"चित्रकूट कानन छबि को कबि बरनै पार । जहँ सिय-लखन-सहित नित रघुबर करहिं बिहार ॥" (पद ४७) । तथा—"चित्रकूट सब दिन बसत प्रभु सिय लखन समेत ॥" (दोहावली ४) ।

'बरषा रितु प्रवेस बिसेष…'—वर्षाऋतु के प्रारम्भ में गिरि श्रेष्ठ कामतानाथ आदि पर रंग-विरंग की हरी पीली घासों के विभाग एवं नवीन हरे भरे वृक्षों के लहलहाने पर उन्हें देखने के लिये मन विशेष अनुरक्त होता है । शेष वर्षाकाल की विशेषताओं का वर्णन आगे करते हैं—

'चहुँदिसि बन संपन्न…'—वन की तीन संपत्तियाँ हैं—पत्र, पुष्प और फल । इन तीनों से वन चारो ओर पूर्ण हो जाता है और फिर उसके आश्रित रहने वाले पक्षी और मृग बोलते (एवं डोलते) हुए शोभा पाते हैं ।

'जनु सुनरेस…' ; यथा–"प्रजा बाढ़ जिमिपाइ सुराजा ।" (आ०कि० १४)

'देस पुर'—सम्पूर्ण देश में और उसकी राजधानी वाले नगर में प्रजा प्रकर्ष आनन्द से पूर्ण हो समस्त सुख से पूर्ण होती है । उसी प्रकार वर्षा ऋतु के रचामित्व में वन रूपी देश एवं खग मृग रूपी पुर-विभाग सब सुख

पाते हैं। तथा—"राम बास बन संपति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा॥" से "बिपुल बिचित्र बिहँग-मृग नाना। प्रजा समाज न जाइ बखाना॥" (मा० अ० २३४-२३५) तक।

'सोहत स्याम जलद...'—प्रथम की वर्षा से जो गेरु आदि धातुएँ बही हैं, उनसे गिरि शृंग रँगे हुए हैं। पश्चात् श्याम घटा उठती है और शिखरों के समीप ही वह मधुर-मधुर गरजती है, उस शोभा पर उत्प्रेक्षा करते हैं—

'मनहुँ आदि अंभोज बिराजत...'—गिरि-शिखर बड़ा है, इससे उसे आदि अंभोज कहा गया है, जो भगवान् की नाभी से प्रकट हुआ है और जिससे सम्पूर्ण सृष्टि के रचयिता ब्रह्माजी प्रकट हुए हैं। वह बहुत बड़ा रहा ही होगा। गेरु आदि धातुओं के रंग लाल हैं, वैसे वह कमल भी स्वर्ण वर्ण का था; यथा—"पद्मे दिव्येऽर्कसंकाशे नाभ्यामुत्पाद्य मामपि।" (वाल्मी० ७।१०४।७); अर्थात् ब्रह्माजी ने काल के द्वारा श्रीरामजी से कहलाया है कि आपने अपनी नाभि से सूर्य के समान प्रकाशित दिव्य कमल उत्पन्न किया और उससे मुझे उत्पन्न किया है। तथा—"स पद्मकोशः...... विद्योतयन्नर्क इवात्मयोनिः॥" (भाग० ३।८।१४)। जैसे उस कमल के आस-पास भ्रमर रूप से सुर-मुनि स्तुति रूप में गुञ्जार करते हैं, वैसे ही यहाँ धातु रँगे गिरिशृङ्ग के आस-पास श्याम मेघ घटाएँ मधुर-मधुर गर्ज रही हैं। भ्रमर श्याम होते हैं, वैसे ही भिन्न-भिन्न श्याम मेघों की मिश्रित घटाएँ हैं।

'सिखर परस घन घटहि...'—पृथक् से देखने पर ऐसा जान पड़ता है मानों पहाड़ों के शिखर मेघ-घटाओं का स्पर्श कर रहे हों और उन शिखरों के आस-पास तथा मेघ घटाओं के बीच में जो बगुलों की पंक्तियाँ उड़ रही हैं। उनकी उत्प्रेक्षा करते हैं—

'आदि बराह बिहरि बारिधि...'—श्रीमद्भागवत तृतीय स्कंध अ० १३ में कथा है—श्रीब्रह्माजी की नासिका से एक अंगुष्ठ भर शूकर पैदा हुआ। थोड़े ही समय में वह भारी शिला के समान हो गया। फिर वह भारी पर्वत के समान होकर गर्जने लगा। भगवान् जानकर मुनिगण स्तुति करने लगे। वाराह जी ने गर्ज कर महाजल में प्रवेश किया। ये अपने शूकर रूप से सूँघते हुए पृथिवी को ढूँढ़ने लगे। जब नीचे की सीमा पर पहुँच गये, तब इन्होंने पृथिवी

को देखा। जल में डूबी हुई पृथिवी को अपनी दंष्ट्रा पर लिये हुए रसातल से निकल कर ये भगवान् बहुत ही शोभित हुए। तमाल वृक्ष के समान नील वर्ण वाराहजी श्वेत वर्ण दंष्ट्रा की कोटि पर गजराज के समान लीलापूर्वक पृथिवी को उठाए हुए देख पड़े। तब ब्रह्मा एवं महर्षि गण वेद वाक्यों से उनकी स्तुति करने लगे।

यहाँ आदि वराह नीलवर्ण का पर्वत है। वर्षा का जल उस पर्वत के नीचे चारों ओर भरा हुआ समुद्र सरीखा दीखता है। बग पाँति उनके दाँत हैं, और घनघटा पृथिवी है। आदि वराह नील वर्ण और उनके दाँत श्वेत हैं; यथा— "तमालनीलं सितदन्तकोट्या क्ष्मामुत्क्षिपन्तं गजलीलयाङ्ग।" (भाग० ३।१३। ३३)। हरी-भरी पृथिवी भी नीलघटा के समान है ही।

'जल जुत बिमल सिलनि···'-निर्मल शिलाओं पर जो निर्मल जल भरे हैं और वायु के द्वारा उनमें तरङ्गें उठती रहती हैं। उनमें आकाश का प्रतिबिंब नीली दीवार के समान बनता है और उसपर वन के विविध प्रकार के पत्रों-पुष्पों एवं फलों से युक्त वृक्ष लता आदि के प्रतिबिंब पड़ते हैं। क्षण-क्षण में वे तरङ्गों के द्वारा मिट भी जाते हैं। जैसे विराट् भगवान् के शरीर के शिर एवं चरण आदि में जगत् के भिन्न-भिन्न लोकों की रचना दीखती है और फिर उन लोकों के प्रलय भी होते एवं फिर विभिन्न प्रकार के नवीन होते रहते हैं; यथा- "बिस्वरूप रघुबंस मनि, करहु बचन बिस्वास। लोक कल्पना बेद कर, अंग-अंग प्रति जासु॥ पद पाताल सीस अज धामा। अपर लोक अँग-अँग बिश्रामा॥ भृकुटि बिलास भयंकर काला।···उतपति पालन प्रलय समीहा॥ रोम राजि अष्टादस भारा।" (मा० लं० १४)। "अति बिचित्र तहँ लोक अनेका।" (मा० उ० ७९)।

'अँग-अँग'—कहीं की शिला के जल की तरंग में आकाश एवं वन का कोई प्रतिबिंब है तो कहीं की शिला के जल में और ही विचित्र प्रतिबिंब है।

प्रथम श्रीचित्रकूट को 'आदि अंभोज' कहा गया, फिर 'आदि बराह' और यहाँ 'विराट् भगवान्' की ही उत्प्रेक्षा की गई है। प्रथम जगत् की उत्पत्ति फिर पालन-रक्षण और तब विराट् की उत्प्रेक्षा में रचना करना, पालन करना एवं विशेष कर उसके संहार की उत्प्रेक्षा की गई है; क्योंकि तरङ्गों के बार-बार मिटने

में संहार की प्रधानता है। 'बिलसति'—विराट् रूप में भगवान् जगत् के सम्यक् आधार रहते हुए भी उससे निर्लिप्त रहते हैं। बना कर फिर संहार करने में कुछ दुःख नहीं मानते। अतः, उनके शरीर रूप में उनके आश्रित होता हुआ जगत्-व्यापार क्रीड़ात्मक होने से शोभा देता है। गीता ९।४-५ देखिये।

'मंदाकिनिहि मिलत झरना…'—झरनों का जल बरसात में कुछ अधिक झड़ता है और पत्थरों से बह-बह कर वर्षा का स्वच्छ जल भी उन झरनों के सोतों में आ-आकर भरता जाता है। श्रीमन्दाकिनी में मिलने समय तक वह भारी नाला हो जाता है और स्वतः उनमें आ मिलता है। इसी प्रकार श्रीराम भक्ति रूपी मंदाकिनी के पीछे भक्त के सुकृत रूप झरने झड़ा करते हैं और उनके अतिरिक्त भी दैवात् प्राप्त होने वाले विविध सुख उन सुकृत-फलों के साथ मिलते रहते हैं, जैसे श्रीदशरथ-कौसल्याजी पहले जन्म में भक्ति-ज्ञान के स्वरूप कहे गये हैं। इस जन्म में इन्होंने पुत्र रूप में पाकर श्रीराम-भक्ति ही की है। अतः, इनकी इस राम भक्ति के पीछे समस्त सुकृत एवं सुख लगे रहते थे; यथा—"सुनि बोले गुरु अति सुख पाई। पुन्य पुरुष कहँ महि सुख छाई॥ जिमि सरिता सागर महँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं॥ तिमि सुख संपति बिनहिं बुलाएँ। धरमसील पहिं जाहिं सुभाएँ॥" से "तुम्ह कहँ सर्व-काल कल्याना।" (मा० बा० २९३) तक। "सब सुख खानि भगति तैं माँगी।" (मा० उ० ८४)।

अलङ्कार—'उक्त विषयाय वस्तू उत्पेक्षा' (पद के २,३,४,५,६ चरणों में)।

श्रीकौसल्याजी की विरह-व्यथा

राग सोरठ

[५१]

आजु को भोर, और सो, माई।
सुनौं न द्वार बेद-बंदी-धुनि, गुनि-गन-गिरा सोहाई॥ १॥
निज-निज पति सुंदर सदननि तें रूप-सील-छबि-छाई।
लेन असीस सीय आगे करि मोपै सुतबधू न आई॥ २॥
बूझी हौं न बिहँसि मेरे रघुबर 'कहाँ री! सुमित्रा माता?'।
'तुलसी' मनहुँ महासुख मेरो देखि न सकेउ बिधाता॥ ३॥

अर्थ—[श्रीकौसल्याजी पुत्र-विरह से दुखी हो कह रही हैं—] अरी माई ! आज का प्रातःकाल तो और ही प्रकार का देख पड़ता है। आज मैं द्वार पर मङ्गलरूप ब्राह्मणों की वेदध्वनि और वन्दीगणों की विरदध्वनि तथा गुणी गण (गायकों) की (यश-गान की) सुहावनी वाणी नहीं सुन रही हूँ ॥१॥ अपने-अपने पतियों के सुन्दर महलों से रूप, शील और छबि से सम्पन्न मेरी सुतवधुएँ (पतोहें) सीताजी (बड़ी पुत्रवधू) को आगे करके आज मेरे पास आशीर्वाद लेने नहीं आईं ॥ २ ॥ मेरे पुत्र रघुकुल श्रेष्ठ श्रीरामजी ने विहँस कर मुझसे आज यह नहीं पूछा—'अरी माता ! मेरी सुमित्रा माता कहाँ हैं ?'। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है, मानो मेरे महान् सुख को विधाता नहीं देख सका (इससे उसने ऐसी विषमता के संयोग लगा दिये) ॥ ३ ॥

विशेष—वनयात्रा से श्रीरामजी श्रीचित्रकूट पहुँच गये। उसके पश्चात् पद ४३ से ५० तक श्रीचित्रकूट की शोभा कही गई। इसमें प्रथम शरद ऋतु तब वसंत ऋतु एवं फिर वर्षा ऋतु का वर्णन किया गया है। अतः, इसमें क्रमशः जाड़ा, गर्मी और वर्षा के वर्णन से वर्ष भर की शोभा आ गई है। इस प्रकार श्रीचित्रकूट में आपका नित्य-विहार सूचित किया गया है; यथा—"चित्रकूट कानन छबि को कवि बरनै पार। जहँ सिय लखन सहित नित रघुबर करहिं बिहार ॥" (पद४५)। "चित्रकूट सब दिन बसत, प्रभु सिय लखन समेत।" (दोहावली४)।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण की दृष्टि से श्रीचित्रकूट में श्रीरामजी का रहना तीन-चार मास से अधिक नहीं जान पड़ता। आगे चलकर दण्डक वन में दस वर्ष तक रहना कहा गया है, तत्पश्चात् श्रीपञ्चवटी में एक-डेढ़ वर्ष का रहना हुआ है। उस दृष्टि से यहाँ का वर्णन अलक्ष्य रूप में नित्य-निवास का ही हो सकता है। अथवा, श्रीगोस्वामीजी के कल्प के श्रीचित्रकूट में एक वर्ष एवं इससे भी अधिक बारह वर्ष भी कहा जाता है; क्योंकि आगे के निवास का विशेष वर्णन नहीं पाया जाता। दण्डकवन का उक्त निवास इनके कल्प में स्पष्ट वैसा नहीं कहा गया।

'आजु को भोर ' सुनौं न…'—राजद्वार पर नित्य ब्राह्मण वेदध्वनि करते थे। वन्दी गण विरुद-वर्णन करते और गुणी लोग कीर्तिगान करते हुए राजा को जगाते थे; यथा—"बीना बेनु संख धुनि द्वारा ॥ पढ़हिं भाट गुन गावहिं गायक। सुनत नृपहिं जनु लागहिं सायक ॥" (मा० अ० ३६)। राजा के जगाने के

इस विधान का तात्पर्य यह कि राजा प्रातःकाल वेद-ध्वनि सुन कर जागे, तो धर्मनिष्ठ हो और मङ्गलमय ब्राह्मणों के दर्शन कर इन्हें प्रणाम कर इनसे आशीर्वाद प्राप्त करे। फिर बन्दियों से विरुद सुन कर वैसे ही और यश प्राप्त करने में रत रहे एवं कीर्त्तिगान सुन कर वैसे ही और कीर्त्ति-सम्पादन की चेष्टा करे।

'निज-निज पति सुंदर''लेन असीस''—यह भी नित्य नियम था श्रीश्रुतिकीर्त्ति, श्रीउर्मिला और श्रीमांडवीजी तीनों श्रीसीताजी के यहाँ आकर इनसे मिल, फिर इनके साथ होकर सासों के यहाँ प्रणाम करने जाती थीं। ये सब प्रथम वैमात्रिक सासों को प्रणाम कर अपनी-अपनी सासों के चरण पड़ती थीं और उनसे आशिष एवं प्यार प्राप्त करती हुई उनकी चरण सेवा भी करती थीं। 'रूप-सील-छबि छाई'—शरीर की सुन्दर गठनि एवं सुवर्ण को रूप तथा सौन्दर्य को छबि कहते हैं। इन रूप और छबि की शोभा शील से होती है, इसीसे शील (सद्वृत्ति) को मध्य में रक्खा गया है।

इस प्रसंग में 'सीय' पद के स्थान पर कुछ पुरानी प्रतियों में 'सीस' पाठ है। भागवतदास की प्रति में भी 'सीय' पाठ को छपने के पीछे 'सीस' यह दूसरी स्याही से बनाया गया है। हरिहरप्रसाद की प्रति में 'सीय' ही है। श्रीवैजनाथजी ने 'सीस' पाठ माना है और अर्थ किया है—'सीस आगे करि' अर्थात् 'शीश नवाय'। शेष प्रतियों में 'सीय' यही पाठ है।

'बूझी हौं न''—इससे यह भी स्पष्ट है कि श्रीसुमित्राजी प्रायः श्री-कौसल्याजी के पास ही रहा करती थीं। अतः, किसी दिन उन्हें यहाँ न पाकर श्रीरामजी आकर पूछते भी थे।

प्रसंगतः यह भी भाव है कि प्रथम तीनों भाई श्रीरामजी के यहाँ आकर इनके साथ पिता की सभा में जाकर श्रीगुरुजी और पिता के प्रणाम एवं दर्शन करते थे, तत्पश्चात् वहाँ से आकर माताओं के दर्शन एवं प्रणाम करते थे। माताएँ भी ज्येष्ठा श्रीकौसल्याजी के यहाँ सभी एकत्र मिलती थीं। वे प्रथम से आई हुई बधुओं के साथ पुत्रों को बैठा कर देख-देख कर सुख प्राप्त करती थीं।

यद्यपि विवाहित होकर आने पर चारों कुमारों के महल पृथक्-पृथक् थे। परन्तु माताओं को सुख देने के लिये इस समय सब भाई एक साथ बैठकर और दूसरे दालान में पुत्रवधुएँ भी एक साथ बैठकर यहाँ पर माताओं के यहाँ

सब कलेऊ करते थे। इससे माताओं को अपार सुख होता था; यथा—"अनुज सखा जुत भोजन करहीं। मातु-पिता अज्ञा अनुसरहीं॥" (मा० बा० २०४)। इन्हीं सुखों का स्मरण करती हुई श्रीकौसल्याजी इस समय कह रही हैं—

'तुलसी मनहुँ महासुख मेरो···'—मानों ब्रह्मा मेरे इन महान् सुखों को नहीं देख सका, इससे उसने विघ्न डाल दिया। लोकोक्ति के अनुसार इन्होंने भी ऐसा कहा है। परन्तु इन्हें पूर्व जन्म से ही सदसद्विवेक प्राप्त है। अतः, इन्होंने 'मनहुँ' कहकर इस कथन को उत्प्रेक्षा मात्र कहा है, वास्तविक नहीं माना; क्योंकि इन्होंने ही अपने विवेक से विधाता को निर्दोष कहा है; यथा—"कौसल्या कह दोष न काहू। करम बिबस दुख-सुख छति लाहू॥ कठिन करम-गति जान बिधाता। जो सुभ-असुभ सकल फल दाता॥ ईस रजाइ सीस सब ही के। उतपति थिति लय बिषहु अमी के॥ देबि मोहबस सोचिय बादी। बिधि प्रपंच अस अचल अनादी॥" (मा० अ० २८१)। इसी प्रकार राजा दशरथ विधाता को दोष देने की भूमिका बाँध कर भी दोष नहीं दे सके, हिचक गये और फिर 'अति बिचित्र भगवंत गति' कहकर निवृत्त हुए—मा० अ० ७७ देखिये।

वास्तव में सर्वज्ञ एवं परम न्यायशील ईश्वर का बर्त्ताव सब उचित ही होता है; क्योंकि सभी तो उसीकी सन्तान हैं किसी के प्रति वह अन्याय क्यों करे? जीवों के कर्म ही विधाता की प्रीति एवं अप्रीति में कारण हैं; यथा—"तुलसी प्रभु सुभाउ सुरतरु सों, ज्यों दर्पन मुख कांति॥" (वि० २३२)।

[५२]

जननी निरखति बान-धनुहियाँ।
बार-बार उर नयननि लावति प्रभु जू की ललित पनहियाँ॥१॥
कबहिं प्रथम ज्यों आइ जगावति कहि प्रिय बचन सकारे।
उठहु तात! बलि मातु बदन पर, अनुज-सखा सब द्वारे॥२॥
कबहुँ कहति यों, "बड़ी बार भइ, जाहु भूप पहँ, भैया।
बंधु बोलि जेंइय जो भावै, गइ निवछावरि मैया"॥३॥
कबहुँ समुझि बन-गवन राम को रहि चकि चित्र लिखी-सी।
तुलसिदास यह समय कहे तें लागति प्रीति सिखी-सी॥४॥

अर्थ—माता श्रीरामजी की (बाल-अवस्था में खेलने की) धनुहीं और बाण (ले-लेकर) निरीक्षण करती हैं (बार-बार देखती हैं) और उन्हें बार-बार हृदय तथा नेत्रों से लगाती हैं। इसी प्रकार उन प्रभु श्रीरामजी की मनोहर (बाल-अवस्था की) पनहियों को भी बार-बार हृदय और नेत्रों से लगाती हैं ॥१॥ कभी तो पहले की भाँति आकर प्रातःकाल इस प्रकार प्यारे वचन कहकर जगाने लगती हैं कि 'हे तात ! उठो, माता तुम्हारे मुख पर बलिहारी जाती है, छोटे भाई और सखा सब द्वार पर आकर उपस्थित हो गये हैं' ॥२॥ कभी इस प्रकार कहने लगती हैं कि—"हे भइया ! आज बड़ी बार (विलम्ब) हो गई, राजा के यहाँ जाओ (उन्हें भी दर्शन दे प्रणाम कर उनसे आशीर्वाद ले आओ) और फिर भाइयों को बुलाकर उनके साथ जो रुचे वह भोजन करो, माता निछावर हो रही है" ॥३॥ फिर कभी श्रीरामजी का वन-गमन समझकर चकित हो लिखित-चित्र सरीखी रह जाती हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इस समय का वर्णन करने से तो मेरी प्रीति सीखी हुई-सी जान पड़ती है (; अन्यथा वर्णन करने के पहले उस भाव को चित्त में लाते ही यदि सत्य प्रीति होती तो प्राण-त्याग हो जाता। सत्य स्नेह होता तो प्यारे का विरह सहन न होता) ॥ ४ ॥

विशेष—'जननी निरखति ... बार-बार उर ...'—प्रिय के वियोग में उसके सम्बन्ध की वस्तुएँ भी उसके समान ही प्रिय लगती हैं। अतः, उसे हृदय लगा कर प्यारे के मिलन का सुख अनुभव किया जाता है; यथा—"कुस साथरी निहारि सुहाई। कीन्ह प्रनाम प्रदच्छिन जाई ॥ चरन रेख रज आँखिन्ह लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई ॥ कनकबिंदु दुइ चारिक देखे। राखे सीस सीय सम लेखे ॥" (मा० अ० १९८); "हरषहिं निरखि राम-पद अंका। मानहुँ पारस पायउ रंका ॥ रज सिर धरि हिय-नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं ॥" (मा० अ० २३७)। इस चरण में 'बार-बार हिय नयननि लावति' यह वाक्य खण्ड दीप देहली है; क्योंकि अर्थ में इसका पूर्वापर से सम्बन्ध है।

'कबहिं प्रथम ज्यों ...'—इसमें 'सकारे' के स्थान पर कहीं-कहीं 'सवारे' भी पाठ है। 'सकारे' पद सं० सकाल अर्थात् सवेरे का बोधक है और

'सवारे' पद भी 'सवेरे' का ही तद्भव रूप है। 'कहि प्रिय बचन'–आगे उत्तरार्द्ध में 'उठहु तात···' ये ही प्रिय वचन हैं। तथा बालकांड पद ३६ से ४० तक के जगाने वाले प्रिय-वचन भी यहाँ संगत हैं। 'बलि मातु बदन पर' माता अपनी वात्सल्य-निष्ठा से पुत्र के मुख ही देखा करती थीं कि किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं है। आनन्दित मुख है कि नहीं; यथा—"जननिन्ह सादर बदन निहारे। भूपति संग द्वार पगुधारे॥" (मा० बा० ३५७); ऐसे ही राजा दशरथ के सखा वात्सल्यनिष्ठ श्रीसुमंत्रजी का भी भाव है; यथा–"राम सुमंत्रहिं आवत देखा। आदर कीन्ह पिता सम लेखा॥ निरखि बदन कहि भूप रजाई। रघुकुल-दीपहि चलेउ लेवाई॥" (मा० अ० ३८)। 'अनुज-सखा सब द्वारे' तीनों छोटे भाई और बाल-सखा गण प्रातःकाल श्रीरामजी के जगने के प्रथम ही आकर उपस्थित हो जाया करते थे; यथा–"अनुज सखा सब बोलन आए।" (पद ३६); "द्वार सिसु अनुज प्रियतम तिहारे।" (पद ३७)।

'कबहुँ कहति यों, बड़ी बार भइ, जाहु भूप पहिं, भैया।'—'भैया' यह ज्येष्ठ पुत्र एवं बड़े भाई के लिये श्रीअवध प्रान्त का प्रिय सम्बोधन है। तदनुसार ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामजी को माताएँ 'भैया' कहती थीं; यथा—"पितु समीप तब जायहु भैआ।" (मा० अ० ५२)। 'बड़ी बार भइ' क्योंकि प्रातःकाल उठ कर श्रीरामजी माता के यहाँ से जग कर इन्हें प्रणाम कर भरत आदि को साथ ले पिता को प्रणाम करने जाते थे, तत्पश्चात् गुरुजी के यहाँ जाकर प्रणाम करते थे; यथा—"प्रातःकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥" (मा० बा० २०)। तदनुसार बाल-अवस्था का स्मरण कर माता इस समय भी उसी समय के दृश्य का वर्णन कर रही हैं।

विवाहित होकर आने पर जब चारों भाई पृथक् पृथक् महलों में रहने लगे थे, उस समय गुरुजनों को प्रणाम करने का क्रम बदल गया है; यथा—"प्रात पुनीत काल प्रभु जागे। अरुन चूड़ बर बोलन लागे॥ बंदि मागधन्हि गुन गन गाए। पुरजन द्वार जोहारन आए॥ बंदि विप्र सुर गुरु पितु माता। पाइ असीस मुदित सब भ्राता॥" (मा० बा० ३५७); अर्थात् प्रथम जागने पर द्वार पर स्थित वेद मन्त्रों से मङ्गल करते हुए ब्राह्मणों को प्रणाम करते थे, तब

कुल देव श्रीरङ्गजी को प्रणाम करते थे, फिर श्रीगुरुजी को प्रणाम कर पिता-माता को जाकर प्रणाम करते थे।

'बंधु बोलि जेंइय जो भावै'—यहाँ पर माता पुत्रों को नित्य कलेऊ कराने का स्मरण करती हैं; यथा—"अनुज सखा संग भोजन करहीं।" (मा० बा० २०४); तथा—"जो मन भाव मधुर कछु खाहू।" (मा० अ० ५२)। पुत्र को भोजन कराने पर माता न्योछावर होती है; क्योंकि पुत्र को खिला-पिला कर सुखी रखने में ही अपने को कृतार्थ मानती है। वात्सल्यरस का यह परम सुख है।

'कबहुँ समझि बन गमन....'—कभी-कभी वन-गमन का दृश्य चित्त में आता है; क्योंकि इन्हें श्रीरामजी ने ऐसा ही आधार दे रखा है—पद ४ के अन्तिम चरण का विशेष देखिये। जब वन-गमन का दृश्य आता है, तब चकित होकर लिखित चित्र की भाँति जड़-सरीखी हो जाती हैं। तन-बदन की सुधि नहीं रह जाती। यही प्रीति की सत्य दशा है; अर्थात् दशवीं दशा मूर्च्छा पर्यन्त ही अपने वश की है। ग्यारहवीं मरण दशा निराशता में मानी गई है। साक्षात् मृत्यु होना तो विधाता के अधीन है। राजा दशरथ की मृत्यु हुई है, वहाँ तो अन्ध-तापस के शाप के द्वारा विधाता ने संयोग रच रक्खा था। इसी दशा को प्रीति का सही पड़ना स्पष्ट कहा भी गया है; यथा—"नेम तो पपीहा ही के प्रेम प्यारी मीन ही के तुलसी कही है नीके हृदय आनि। इतनी कही सो कही सीय ज्योंही त्योंही रही प्रीति परी सही बिधि सों न बसानि॥" (सुं० ७) (अर्थात् ज्यों की त्यों चित्रवत् रह गई, इससे प्रीति तो सही पड़ गई, पर ब्रह्मा से वश नहीं चला, इससे प्राण नहीं निकले)—इसका विशेष भी देखिये।

'तुलसिदास यह समय कहे ते....'—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि मैं जो इस समय का वर्णन कर रहा हूँ और सचेत बैठा हूँ, इससे किसी से सीख कर प्रीति कहनेवाले की भाँति ही मेरी प्रीति सिद्ध हो रही है; यथा—"सकुचत बोलत बचन सिखे-से।" (मा० बा० ३०२)। भाव यह कि जो किसी से सुन कर कोई बात कहता है, वह उसका भाव नहीं जानता, उसका तोते का-सा कथन ही रहता है। वैसे ही इस समय की परिस्थिति यदि मैं चित्त में लाकर तल्लीन होकर कहता तो वही श्रीकौसल्याजी की-सी दशा (सच्ची प्रीति) मेरे

चित्त में आ जाती और फिर तत्काल मुझसे कहा न जाता; यथा—"मगन ध्यान रस दंड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह। रघुपति चरित महेस तब, हरषित बरनै लीन्ह॥" (मा० बा० १११); अर्थात् शिवजी ने आनन्दमय चरित में भी कुछ घड़ियों के पीछे सावधान होकर कहा है, पर यह प्रसंग तो केवल दुःख मय विरह का है। फिर तुरत कैसे कहा जाता ?।

[५३]

माई री ! मोहिं न कोउ समुझावै।
राम गवन साँचो किधौं सपनो, मन परतीति न आवै॥ १॥
लगेइ रहत मेरे नैननि आगे राम लखन अरु सीता।
तदपि न मिटत दाह या उर को, बिधि जो भयो बिपरीता॥ २॥
दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत, तनु न रहइ बिनु देखे।
करत न प्रान पयान, सुनहु, सखि ! अरुझि परी एहि लेखे॥ ३॥
कौसल्या के बिरह बचन सुनि रोइ उठीं सब रानी।
तुलसिदास रघुबीर बिरह की पीर न जाति बखानी॥ ४॥

अर्थ—[श्रीकौसल्याजी, अपनी सपत्नियों एवं सखियों से कहती हैं—]अरी माई ! मुझे कोई यह नहीं समझाता कि श्रीरामजी का वन-गमन सत्य है, अथवा वह स्वप्न का-सा दृश्य है, मेरे मन में उस (राम वनगमन) की प्रतीति नहीं आती॥ १॥ (क्योंकि) श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी मेरे नेत्रों के समक्ष सदा लगे ही रहते हैं तथापि मेरे इस हृदय का दाहकत्व दूर नहीं होता; जो कि (=क्योंकि) विधाता मेरे प्रतिकूल हो गया है॥ २॥ श्रीरघुकुल श्रेष्ठ श्रीरामजी को देखने पर तो दुःख नहीं रह सकता और बिना उनको देखे शरीर भी नहीं रह सकता। मेरे प्राण इस शरीर से प्रस्थान (क्यों) नहीं करते ? सखि ! सुनो, मैं इसी विचार (उधेड़ बुन) में फँसी पड़ी हूँ॥ ३॥ श्रीकौसल्याजी के इन विरह के वचनों को सुन कर सब रानियाँ रो पड़ीं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरघुनाथजी के विरह की व्यथा बखानी नहीं जा सकती॥ ४॥

विशेष—'माई री ! मोहिं न···राम गवन साँचो···'—प्रीति में गाढ़-स्मृति की एक उच्च दशा आती है। उसमें प्रिय का स्वरूप आखों में बस जाता

है, वही सामने सर्वत्र देख पड़ता है; यथा—"सरग नरक अपबरग समाना। जहँ-तहँ देख धरे धनु बाना॥" (मा० अ० १३०)। माता की वही दशा सदा रहती है—पद ४ के अन्त में उसके प्रमाण देखिये। जब कभी उससे क्षणिक चित्त हटता है, तब वन-गमन की स्मृति आ जाती है। इससे ऐसा कह रही हैं।

'लगेइ रहत···तदपि न मिटत दाह···'—विरह में ऐसा ही होता है, किंचित् संयोग का सुख दे फिर बार-बार अदृश्य हो भगवान् विरही साधक से बार-बार स्मरण करा अपना स्नेह दृढ़ कराते हैं; यथा—"नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषा मनुवृत्तिवृत्तये। यथा धनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद॥ २०॥ एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः। मया परोक्षं भजता तिरोहितं मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः॥ २१॥" (भाग० १०।३२); अर्थात् (अदृश्य होकर प्रकट हो) भगवान् श्रीकृष्ण ने गोपियों को सान्त्वना देते हुई कहा है कि मैं अपने भक्तों से भी इसलिये अदृश्य हो जाया करता हूँ कि वे निरन्तर मेरा स्मरण करें। जैसे किसी को धन प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है तो वह सदा उसी का चिन्तन करता रहता है। इसी प्रकार तुम सब ने मेरे लिये सर्वस्व त्याग किया है। अतः, तुम्हारा ध्यान मेरी ओर दृढ़ हो जाय, केवल इसी लिये मैं छिप गया था। छिपे हुए भी मैं तुम्हे भज रहा था, पास ही था। तुम्हारी कोई दशा मुझ से छिपी नहीं है। अतः अपने प्यारे (मुझ) पर कोप न करो।

यहाँ बार-बार श्रीराम-लक्ष्मण और सीताजी के दर्शन तथा फिर अदर्शन पर होनेवाले विरह से दाह होता है, इसे माताजी विधि-विषमता मान रही हैं। किन्तु उपर्युक्त प्रमाणों से इसमें भगवान् की कृपा ही है।

'दुख न रहै···तनु न रहै···'—श्रीरघुनाथजी के दर्शन होते ही हैं, फिर भी मेरा दुःख दूर क्यों नहीं होता; तथा प्राण के प्राण श्रीरामजी के बिना देखे प्राण क्यों नहीं निकलते? इन्हीं बातों की उधेड़-बुन में मैं उलझी पड़ी हूँ। कोई मुझे समझाता भी नहीं। प्रेम-भक्ति में प्रियतम के दर्शन में भक्त जी उठते हैं और फिर अदर्शन में मृतक होने का-सा दुःख पाते हैं; यथा—"आशिक होना सहज नहीं मरने से मुश्किल जानोगे। पल-पल में मरना अरु जीना

ताको क्यों पहचानोगे ? ॥" (अनन्त श्रीस्वामी युगलानन्य शरणजी महाराज श्रीलक्ष्मण किला, अयोध्याजी)। वही दशा यहाँ माताजी की है।

'कौसल्या के बिरह-बचन...'—श्रीकौसल्याजी के समान ही शेष रानियों का भी स्नेह श्रीरामजी में है और श्रीरामजी भी सबको समान ही मानते थे; यथा—"कौसल्या सम सब महतारी। रामहिं सहज सुभाय पियारी॥" (मा० अ० १४)। अतएव श्रीकौसल्याजी के विरह-वचन पर सब रनिवास की वैसी ही दशा हो गई, अतः सबों ने एक साथ ही रो दिया। इन सबकी विरह-व्यथा कही नहीं जा सकती।

[५४]

जब-जब भवन बिलोकति सूनो।
तब-तब बिकल होति कौसल्या, दिन-दिन प्रति दुख दूनो ॥१॥
सुमिरत बाल-बिनोद राम के सुंदर मुनि-मन हारी।
होत हृदय अति सूल समुझि पद-पंकज अजिर-बिहारी ॥२॥
को अब प्रात कलेऊ माँगत रूठि चलैगो, माई!
स्याम-तामरस-नैन स्रवत जल काहि लेउँ उर लाई ॥३॥
जीवौं तौ बिपति सहौं निसि-बासर मरौं तौ मन पछितायो।
चलत बिपिन भरि नैन राम को बदन न देखन पायो ॥४॥
'तुलसिदास' यह दुसह दसा अति दारुन बिरह घनेरो।
दूरि करै को भूरि-कृपा बिनु सोक-जनित रुज मेरो ? ॥५॥

अर्थ—श्रीकौसल्याजी जब-जब घर को सूना देखती हैं, तब-तब वे व्याकुल हो जाती हैं, दिनों दिन उन्हें दुख दूना ही होता जाता है ॥ १ ॥ मुनियों के मन का भी हरण करनेवाले श्रीरामजी के सुन्दर बाल-क्रीड़ाओं का स्मरण करती हुई उनके हृदय में यह समझ कर अत्यन्त पीड़ा होती है कि मेरे लाल अभी तो कमलवत् चरणों से मेरे (इस मणिमय) आँगन में ही विहार करते थे (वन के कँटीले एवं कँकरीले मार्गों में वे अब इन चरणों से कैसे चलते होंगे ? हा !) ॥ २ ॥ अब प्रातःकाल कलेऊ माँगते हुए (थोड़ा बिलम्ब होने पर), अरी माई ! कौन रूठ कर चल देगा और फिर श्याम कमल के समान नेत्रों से जल स्रवता हुआ देखकर किसे हृदय से लगा लूँगी ? (भाव यह कि जो विविध

व्यञ्जनों का कलेऊ प्रातःकाल ही करते थे, किञ्चित बिलम्ब नहीं सह सकते थे, वे अब वन के कड़वे एवं कसैले रूखे फल कैसे खाते होंगे और वे फल भी कभी संध्या को एवं कभी वह भी नहीं मिलते होंगे। ऐसे कष्ट वे कैसे सहते होंगे ?) ॥ ३ ॥ यदि मैं जीवन धारण करती हूँ तो रात-दिन इसी प्रकार बिपत्ति सहनी पड़ती है और यदि प्राण त्याग देती हूँ तो फिर दर्शन पाने का पछतावा मन में रह ही जायगा (कि यदि मैं किसी प्रकार भी चौदह वर्ष जीती रह जाती तो वन से आने पर तो पुत्र के दर्शन होते ही)। हा ! वन चलते समय मैंने पुत्र श्रीराम का मुख आँखों भर कर देख नहीं पाई (यदि जीती रह गई तो आशा है कि ये नेत्र कभी तृप्त होंगे। अतः, विरहाग्नि सह कर जीवन धारण ही श्रेयस्कर है) ॥ ४ ॥ श्रीकौसल्याजी कहती हैं कि यह अत्यन्त दारुण दुस्सह दशा है, बहुत भाँति की बहुत विरह व्यथाएँ हैं। मेरे इस शोक से उत्पन्न रोग को अत्यन्त कृपालु श्रीरामजी के विना कौन दूर करे ? अर्थात् यह दुःख तो उनके लौट आने पर ही दूर होगा ॥ ५ ॥

विशेष—'जब-जब ··· तब-तब ···'—श्रीरामजी का निवासस्थल सूना देखते ही उनका विरह उद्दीप्त हो आता है। व्याकुलता आ जाती है और दिनोदिन यह दुःख बढ़ता ही जाता है कि मेरे पुत्र दिनोदिन अधिक क्षीण होते जाते होंगे। माता को यह दुःख असह्य है। आगे इन दुःखों के व्यष्टि भेद कहती हैं—

'सुमिरत बाल बिनोद···'—बाल-अवस्था में जिनकी आनन्दमय क्रीड़ाएँ थीं, उन सुन्दर सुखमय क्रीड़ाओं में मुनियों के मन हर जाते थे। ऐसे आनन्द-में पोषे हुए परम सुकुमार बालक वन के कष्ट कैसे सहते होंगे ? यथा—"मृत्यु-र्मम न विद्यते ॥ ५ ॥ योऽहं पावकसंकाशं पश्यामि पुरतः स्थितम्। विहाय वसने सूक्ष्मे तापसाच्छादमात्मजम् ॥ ६ ॥" (वाल्मी० २।३९); अर्थात् राजा दशरथ ने श्रीराम-वन-गमन पर कहा है कि मेरी मृत्यु नहीं हो रही है, जो महीन वस्त्र छोड़कर तपस्वियों के समान वस्त्र धारण किये हुए अग्नि के समान दीप्तिमान् (महान् तेजस्वी अतएव राज्य योग्य) अपने पुत्र को (इस दशा में) समक्ष देख रहा हूँ।

'को अब प्रात····'—इस क्रीड़ा का स्मरण कर इस समय के उसके अत्य-

न्त विपरीत दुःखमय अवस्था पर सोच रही हैं। कहाँ वह लाड़-प्यार और कहाँ यह कराल वनवास कष्ट !!! तथा—"यः सुखेनोपधानेषु शेते चन्दनरूषितः। बीज्यमानो महार्हाभिः स्त्रीभिर्मम सुतोत्तमः ॥ स नूनं क्वचिदेवाद्य वृक्षमूलमुपाश्रितः। काष्ठं वा यदि वाश्मानमुपधाय शयिष्यते ॥ उत्थास्यति च मेदिन्याः कृपणः पांसुगुण्ठितः। विनिःश्वसन्प्रस्रवणात्करेणूनामिवर्षभः ॥" (वाल्मी० २। ४२।१५-१७); अर्थात् राजा दशरथ ने कहा है कि जो मेरे पुत्र श्रीरामजी चन्दन से भूषित होकर और तकिया लगा कर सोते थे, और उत्तम स्त्रियाँ जिनको पंखा करती थीं। वे आज अवश्य ही किसी न किसी वृक्ष के नीचे होंगे और लकड़ी या पत्थर की तकिया बना कर सोते होंगे। वे प्रातःकाल धूल से लिपटे हुए दीन अवस्था में उठेंगे। जिस प्रकार झरने के पास से साँस छोड़ता हुआ हाथियों का दलपति उठता है।

'जीवौं तौ···मरौं तौ···'—जीवन सहा नहीं जाता और मरने के प्रति भी मन अपनी अग्रिम दर्शन-लालसा आगे कर रोकता है; यथा—"पावक-बिरह समीर-त्रास तनु तूल मिले तुम जारनिहारे। तिन्हहिं निदरि अपने हित कारन राखत नैन निपुन रखवारे ॥ जीवन कठिन, मरन की यह गति दुसह बिपति ब्रजनाथ निवारे। तुलसिदास यह दसा जानि जिय उचित होइ सो कहौ अलि प्यारे ॥" (कृष्ण गीतावली ५६)।

'चलत बिपिन···'—"जिस समय वन जाते समय रथ पर चढ़ कर श्रीरामजी चले थे। राजा दशरथ और श्रीकौसल्या आदि भी उन्हें देखने के लिये पीछे-पीछे दौड़े थे, परन्तु धर्मपाश में बँधे हुए श्रीरामजी ने इधर नहीं देखा और शीघ्र रथ चलाने को कहा कि मैं जितना ही ठहरूँगा, उतना ही अधिक विलाप बढ़ेगा।"—वाल्मी० २।४०।२९-४१। तथा माता ने वन चलते समय शोकाभिभूत नेत्रों से अश्रुपूर्ण होने के कारण पुत्र के मुख को भली-भाँति नहीं देख पाया था, यहाँ उसी का पश्चात्ताप करती हैं। भाव यह कि यही दर्श-लालसा ही मरने नहीं दे रही है; यथा—"गहि पद भरत मातु सब राखी। रही राम दरसन अभिलाखी ॥" (मा० अ० १६६)।

'यह दुसह दसा···दूरि करै को···'—तात्पर्य यह कि यह रोग तो श्रीरामजी जब अत्यन्त कृपा करके लौट आवें, तभी दूर हो सकता है; क्योंकि

उनके वियोग-जन्य शोक का परिणाम ही यह रोग है; यथा—"अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना। तुम्ह करुनाकर धरम धुरीना॥ अस बिचारि सोइ करेहु उपाई। सबहि जियत जेहि भेंटहु आई॥" (मा० अ० ५६)। तथा—"एहि कुरोग कर औषध नाहीं।" से "मिटइ कुजोग राम फिरि आए। बसइ अवध नहिं आन उपाए॥" (मा० अ० २११)।

[५५]

मेरो यह अभिलाष बिधाता।
कब पुरवै सखि सानुकूल ह्वै हरि सेवक-सुखदाता॥१॥
सीता सहित कुसल कोसलपुर आवत हैं सुत दोऊ।
श्रवन सुधा-सम बचन सखी कब आइ कहइ गो कोऊ?॥२॥
सुनि संदेस प्रेम-परिपूरन संभ्रम उठि धावौं गी।
बदन बिलोकि रोकि लोचनजल हरषि हिये लावौं गी॥३॥
जनकसुता कब सासु कहै मोहिं राम लखन कहैं मैया।
बाहु जोरि कब अजिर चलहिं गे स्याम-गौर दोउ भैया॥४॥
तुलसिदास यहि भाँति मनोरथ करत प्रीति अति बाढ़ी।
थकित भई उर आनि राम छबि मनहुँ चित्र लिखि काढ़ी॥५॥

अर्थ—"हे सखि! सेवकों को सुख देनेवाले विधाता श्रीहरि प्रसन्न होकर मेरी इस अभिलाषा को कब पूरी करेंगे?॥ १॥ (आगे उस अभिलाषा को प्रकट करती हैं—) हे सखि! मेरे पास आकर कोई कानों को अमृत के समान प्यारे लगनेवाले ये वचन कब कहेगा कि 'श्रीसीताजी के साथ आपके दोनों पुत्र श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी कुशलपूर्वक श्रीअवध को आ रहे हैं'॥ २॥ यह संदेश सुन प्रेम से परिपूर्ण होकर मैं आदरपूर्वक उठकर दौड़ूँगी और उनके मुख देखकर नेत्रों के प्रेमाश्रुओं को रोक हर्षित होकर हृदय से लगा लूँगी॥ ३॥ श्रीजनकजी की पुत्री कब मुझे 'सासुजी' कहेगी और श्रीराम-लक्ष्मण कब मुझे 'मैयाजी' कहकर पुकारेंगे? वे श्याम-गौर दोनों भाई कब बाँह से बाँह मिलाकर मेरे आँगन में चलेंगे?"॥ ४॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इस प्रकार के मनोरथ करते हुए उनके हृदय में अत्यन्त प्रीति बढ़ गई, इससे श्रीरामजी की छबि हृदय में लाकर वे मानों लिख कर प्रकट की हुई प्रतिमा हो गई हों॥५॥

विशेष—'मेरो यह अभिलाष'''— प्रिय के वियोग की एकादश दशाओं में प्रथम दशा 'अभिलाषा' है। प्यारे के मिलने की अनेक प्रकार की चित्त-चेष्टाएँ अभिलाषा कहाती हैं। इस पूरे पद में इसी दशा का वर्णन है।

यह संयोग विधाता के हाथ है; यथा—"हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस बिधि हाथ।" (मा० अ० १७१)। हरि भक्त श्रीहरि को ही अपना भाग्य-विधाता मानते हैं; यथा—"तौ भगवान सकल उर बासी। करिहि मोहिं रघुबर कै दासी॥ जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥" (मा० बा० २५८)। इसीसे विधाता श्रीहरि से ही पूरी करने की भावना कर रही हैं।

'सीता सहित'''—इनकी यह अभिलाषा इसी प्रकार पूरी हुई है; यथा—"रिपु रन जीति सुजस सुर गावत। सीता सहित अनुज प्रभु आवत॥ सुनत बचन बिसरे सब दूषा। तृषावंत जिमि पाइ पियूषा॥" (मा० उ० १)। तथा—"कौसल्यादि मातु सब, मन अनंद अस होइ। आयउ प्रभु श्री अनुज जुत, कहन चहत अस कोइ॥" (मा० उ० १)।

'सुनि संदेस प्रेम परिपूरन'''; यथा—"कौसल्यादि मातु सब धाई। निरखि बच्छ जनु धेनु लवाई॥...धावत भईं॥" (मा० उ० ५)।

'बदन बिलोकि'''; यथा—"सब रघुपति मुख कमल बिलोकहिं। मंगल जानि नयन जल रोकहिं॥ '''कौसल्या पुनि-पुनि रघुबीरहिं। चितवति कृपासिंधु रनधीरहिं॥" (मा० उ० ६)।

'जनकसुता कब'''; यथा—"अति प्रेम प्रभु सब मातु भेंटी बचन मृदु बहु बिधि कहे। गइ बिषम बिपति वियोग भव तिन्ह हरष सुख अगनित लहे॥" (मा० उ० ५)। "स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी। निरखहिं छबि जननी तृन तोरी॥" (मा० बा० १९७)।

'एहि भाँति मनोरथ'''चकित भई'''—यहाँ अभिलाषा करते-करते प्रीति अत्यन्त बढ़ गई, जड़ता दशा होकर फिर चित्र-सी रह गईं एवं सुध-बुध भूल गई, इसमें मूर्च्छा रूपी दशवीं दशा भी प्राप्त हो गई।

यहाँ उक्तविषया वस्तू-उत्प्रेक्षा-अलङ्कार है।

महाराजा दशरथ का शरीर त्याग

[५६]

सुन्यो जब फिरि सुमंत पुर आयो।
कहि है कहा प्रानपति की गति, नृपति बिकल उठि धायो॥ १॥
पाँय परत मंत्री अति ब्याकुल, नृप उठाय उर लायो।
दसरथ दसा देखि न कह्यो कछु हरि जो संदेस पठायो॥ २॥
बूझि न सकत कुसल प्रीतम की, हृदय यहै पछितायो।
साँचेहु सुत बियोग सुनिबे कहँ धिग बिधि मोहिं जिआयो॥ ३॥
'तुलसिदास' प्रभु जानि निठुर हौं न्याय नाथ बिसरायो।
हा! रघुपति कहि पर्यो अवनि, जनु जल ते मीन बिलगायो॥ ४॥

अर्थ—महाराजा श्रीदशरथजी ने जब सुना कि श्रीसुमंत्रजी लौटकर श्रीअवध-पुर आ गये, तब इस लालसा से कि 'यह मेरे प्राणनाथ श्रीरामजी की क्या दशा कहता है?, वे व्याकुल होकर उठ दौड़े॥ १॥ अत्यन्त व्याकुल होकर चरण पड़ते हुए मन्त्री को राजा ने उठा कर हृदय से लगा लिया और मन्त्रीजी ने भी महाराजा दशरथजी की दशा देख कर, जो सन्देश श्रीरामजी ने कहा था, उसके विषय में कुछ नहीं कहा॥ २॥ राजा दशरथ भी अपने प्रियतम पुत्र श्रीरामजी की कुशल नहीं पूछ सकते; क्योंकि उन्होंने अपने हृदय में मान रक्खा है कि सत्य ही पुत्र-वियोग सुनने के लिये विधाता ने मुझे जिला रक्खा है, (ऐसे जीवन को) धिक्कार है॥ ३॥ समर्थ स्वामी ने जो निष्ठुर जान कर मुझको भुला दिया है, वह न्याय (उचित) ही है। फिर 'हा! श्रीरघुनाथजी!' ऐसा कह कर वे पृथिवी पर गिर पड़े, मानों किसी ने मछली को जल से पृथक कर दिया हो॥ ४॥

विशेष—'सुन्यो जब फिरि··पाँय परत मंत्री···'; यथा—"देखि सचिव जय-जीव कहि, कीन्हेउ दंड प्रनाम। सुनत उठेउ व्याकुल नृपति, कहु सुमंत्र कहँ राम॥ भूप सुमंत्र लीन्ह उर लाई। बूड़त कछु अधार जनु पाई॥" (मा० अ० १४८); 'मंत्री अति ब्याकुल'; यथा—"राजा तु रजसा सूतं ध्वस्ताङ्गं समुपस्थितम्। अश्रुपूर्णमुखं दीनमुवाच परमार्तवत्॥" (वाल्मी० २।५८।४); अर्थात् राजा दशरथ अपने सामने आये हुए सूत से—जिनका शरीर धूल से लिपटा हुआ था,

आँसुओं से मुख भरा हुआ था और जो बहुत दुःखी थे—बहुत ही दुःखी के समान बोले।

'दसरथ दसा देखि···'—राजा दशरथ श्रीराम-वियोग में व्याकुल हैं और हरि अर्थात् संसार के क्लेश हर्त्ता श्रीरामजी ने जो संदेश सुमंत्रजी से कहलाया है, उसमें धर्म-रक्षणार्थ सत्य-वचन पालन की पुष्टि है; क्योंकि उसी में संसार का क्लेश-हरण होना है, परन्तु उसमें तो राजा को और दुःख ही होगा, मरण होगा, यह विचार कर प्रवीण मन्त्री ने कुछ नहीं कहा।

'बूझि न सकत कुसल···'—उन्हें वनवास देकर घोर कष्ट देनेवाला तो मैं ही हूँ, फिर कुशल किस प्रकार पूछूँ? श्रीरामजी नहीं लौटे तो अब तो सत्य ही पुत्र-वियोग हुआ। अभी तक आशा थी कि सुमंत्र मेरी आज्ञा कह और समझा कर लौटा लायेगा; परन्तु अब तो सत्य ही मुझे पुत्र-वियोग की दृढ़ता का ही सँदेश सुनना पड़ेगा। इस समय के पहले मैं मर गया होता तो अच्छा था, पर वह तो विधि के हाथ था। अब पुत्र-वियोग सुनने से मेरे इस जीवन को धिक्कार है। वा, विधाता ने इस समय तक मुझे जिलाया, उसके इस कर्म को धिक्कार है।

'प्रभु जानि निठुर····'—यद्यपि राजा ने सहसा भावी वश होकर कैकेयी के प्रति वर देने में सहसा श्रीराम-शपथ कर ली थी, यथा—"तेहि पर राम सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई॥" (मा० अ० २७)। इसी से वे वरदान को अन्यथा करने में असमर्थ हुए और श्रीराम-वनवास हुआ। जिससे लोकदृष्टि में राजा अपने को निष्ठुर मान रहे हैं। परन्तु वस्तुतः इस सत्य-रक्षण में भी राजा श्रीराम-कल्याण ही पर आरूढ़ हैं। राम-शपथ करके उस वर के प्रति अन्यथा करने में श्रीरामजी का ही अपमान करना है, तथा उसके प्रति श्रीरामजी का ही अकल्याण है। पर कार्पण्य भक्ति की दृष्टि से अपने को निष्ठुर मान रहे हैं। तथा अपने कष्ट पाने में ईश्वर श्रीरामजी को निर्दोष कह रहे हैं। भक्त का सबसे उत्तम गुण यही है कि वह अपने प्रति कष्ट पड़ने पर स्वामी को दोष न दे। राजा यहाँ पर श्रीरामजी में ऐश्वर्य मानकर विचार कर रहे हैं। भावी वश होकर भी जो राजा ने राम-शपथ की थी, वह भावी भी तो अपने पूर्व कर्म का ही परिणाम है, इस दृष्टि से वह दोष भी मेरा ही है। ऐसा मान कर ईश्वर को निर्दोष कह रहे हैं; यथा—"सुनहु राम तुम्ह कहँ मुनि कहहीं। राम चराचर

नायक अहहीं ॥" से "अति बिचित्र भगवंत गति, को जग जानै जोग ॥" (मा० अ० ७६–७७); तक इस प्रसंग में राजा ने ईश्वर रामजी पर दोष नहीं आने दिया, परन्तु अपने जानने में ही त्रुटि कहा है । तथा—"सखि सरोष प्रिय दोष बिचारत प्रेम पीन पन छीजै । खग मृग मीन सलभ सरसिज गति सुनि पाहनौ पसीजै ॥" (कृष्ण गीतावली ४५) ।

'हा ! रघुपति…'—'हा' कष्टसूचक पद है । श्रीरामजी तो रघुकुल की मर्यादा के रक्षक हैं । अतः उन्होंने मुझे कैकेयी से उऋण कर इस कुल के धर्म का रक्षण किया है । राजा ने दिव्य शरीर से कहा है; यथा—"तारितोऽहं त्वया पुत्र सुपुत्रेण महात्मना ।" (वाल्मी० ६।११९।१६); अर्थात् हे पुत्र ! तुम महात्मा पुत्र ने मुझे तार दिया । तथा–"अपानृतकथं पुत्र पितरं कर्तुमिच्छसि ।" (वाल्मी० २।३४।३८); अर्थात् हे पुत्र ! तुम अपने पिता को सत्यवादी ही देखना चाहते हो । श्रीरामजी ने स्वयं भी कहा है; यथा–"त्वामहं सत्यमिच्छामि नानृतं पुरुषर्षभ । प्रत्यक्षं तव सत्येन सुकृतेन च ते शपे ॥" (वाल्मी० २।३४।४८); अर्थात् मैं आपको सत्यवादी देखना चाहता हूँ, झूठा नहीं । हे पुरुषश्रेष्ठ ! मैं यह बात आपके सामने सत्य और धर्म तथा आपकी शपथ करके कहता हूँ ।

वाल्मी० २।१०७।५–१० में भी श्रीरामजी ने श्रीभरतजी से कहा है कि पिताजी माता कैकेयी के दो वरदान देने में ऋणी हुए हैं । एक की पूर्त्ति कर मैं उन्हें उऋण कर रहा हूँ । दूसरे को सत्य कर तुम भी उन्हें उऋण करो, इत्यादि कई उदाहरण हैं । परन्तु उन्हें इतना कष्ट देने का कारण तो मैं ही हूँ, इसी पर राजा ने 'हा' कहा है । ऐसा कह भूमि पर गिर पड़े । ऐसा जान पड़ता था मानो जल से मीन पृथक् कर दिया गया हो । जल से भिन्न मीन मरता ही है, वैसे राजा अब प्राण छोड़ेंगे । इससे यह उत्प्रेक्षा दी गई है ।

[५७]

मुएउ न मिटै गो मेरो मानसिक पछिताउ ।
नारि बस न बिचारि कीन्हों काज, सोचत राउ ॥ १ ॥
तिलक को बोल्यो, दियो बन, चौगुनो चित चाउ ।
हृदय दाड़िम ज्यों न बिहरयो समुझि सील सुभाउ ॥ २ ॥

सीय रघुबर लखन बिनु भय भभरि भग्यो आउ।
मोहिं बूझि न परत याते कवन कठिन कुघाउ॥ ३॥
सुनि सुमंत की आनि सुंदर सुवन सहित जिआउ।
'दास तुलसी' नतरु मोको मरन-अमिअ पिआउ॥ ४॥

अर्थ—महाराजा दशरथ सोचते हैं कि मैंने स्त्री के वश में होकर जो विचार कर कार्य नहीं किया, इसका मेरा मानसिक पछितावा मेरे मरने पर भी नहीं मिटेगा॥ १॥ मैंने (प्यारे पुत्र श्रीराम को) राज-तिलक देने के लिये बुलाया और वनवास दे दिया, फिर भी उनके चित्त में चौगुणा उत्साह बना रहा, उनका ऐसा शील-स्वभाव समझ कर मेरा हृदय अनार फल के समान विदीर्ण नहीं हो गया (इसका मुझे पछतावा है)॥२॥ श्रीसीताजी, श्रीरघुनाथजी और श्रीलक्ष्मणजी के बिना भय से घबरा कर मेरी आयु नहीं भगी। इस पर मुझे यह समझ नहीं पड़ता कि और कौन-सा कठिन कुत्सित घाव है (जिससे डर कर आयु इस देह से भगेगी)॥३॥ हे सुमंत्र! सुनो और सुन कर, या तो मेरे सुन्दर पुत्रों को यहाँ लाकर उनके साथ रखकर मुझे जिलाओ और नहीं तो मुझको मृत्यु रूपी अमृत ही पिलाओ॥ ४॥

विशेष—'मुएउ न मिटै गो···नारि बस न···'—कैकेयी के वश होकर राजा ने सहसा वर देने के लिये श्रीराम-शपथ कर ली थी, यह कार्य बिना विचारे सहसा कर डाला था। इस पर कैकेयीजी ने बहुत-से तीक्ष्ण वचन कहे, सब सहने पड़े, यह मुझे मरने पर भी नहीं भूलेगा; यथा—"कैकेय्या यानि चोक्तानि वाक्यानि वदतांवर। तव प्रव्राजनार्थानि स्थितानि हृदये मम॥ त्वां तु दृष्ट्वा कुशलिनं परिष्वज्य सलक्ष्मणम्। अद्य दुःखाद्विमुक्तोऽस्मि नीहारादिव भास्करः॥" (वाल्मी० ६।११६।१४–१५); अर्थात् [राजा दशरथ ने स्वर्ग से आकर लंका में श्रीरामजी से कहा है] तुम्हें वन भेजने के लिये कैकेयी ने जो बातें कही थीं, वे सब मेरे हृदय में आज भी बैठी हुई हैं। आज लक्ष्मणजी के साथ तुम्हें सकुशल पा और आलिंगन कर मैं उस दुःख से छूट गया, जैसे सूर्य कुहरे से निकल जाता है। तथा—"तोर कलंक मोर पछिताऊ। मुएहु न मिटिहि न जाइहि काऊ॥" (मा० अ० ३५)।

'नारिबस न बिचारि कीन्हों काज···'; यथा—"कैकेय्या विनियुक्तेन

पापाभिजनभावया । मया न मन्त्रकुशलैर्वृद्धैः सह समर्थितम् ॥ १८ ॥ न सुहृद्भिर्न चामात्यैर्मन्त्रयित्वा सनैगमैः मयायमर्थः । संमोहात्स्त्रीहेतोः सहसा कृतः ॥१९॥ भवितव्यतया नूनमिदं वा व्यसनं महत् । कुलस्यास्य विनाशाय प्राप्तं सूत यदृच्छया ॥" (वाल्मी० २।५९); अर्थात् राजा श्रीदशरथजी ने श्रीसुमंत्र-जी से कहा है कि पापी कुल एवं पापी देश में उत्पन्न तथा पाप-अभिप्राय वाली कैकेयी के कहने से मैंने मन्त्र देने में निपुण वृद्धों से सम्मति नहीं ले ली, उनसे विचार नहीं कर लिया, मंत्रियों एवं वेदज्ञों से सम्मति न ले ली, शीघ्र ही मैंने स्त्री के कहने से श्रीरामजी को वनवास देना निश्चित कर लिया । हे सुमंत्र ! भावीवश यह बहुत बड़ा दुःख इस कुल का नाश करने के लिये आया है । या, बिना कारण ही इस कुल का नाश करने के लिये यह संयोग आया है ।

'तिलक को बोल्यो, दियोवन ···हृदय दाड़िमि ज्यों ···'; यथा —"राज देन कहि बोलि नारिबस मैं कह्यो बन जान । आयसु सिर धरि चले हरषि हिय कानन भवन समान ॥ ऐसे सुत के बिरह अवधि लौं जौ राखौं यह प्रान । तौ मिटि जाइ प्रीति की परिमिति अजस सुनौं निज कान ॥···" (पद ५९)—यह देखिये । अनार का फल पक्व होने पर फट जाता है, वैसे इसके परिपाक पर राजा का हृदय भी वैसा ही विदीर्ण हो रहा है, तुरत ही शरीर त्याग करेंगे । तथा—"सुनि सीतापति सील-सुभाउ ।···कह्यो राज, बन दियो नारिबस, गरि गलानि गयो राउ ।" (वि १००); तथा—"राम रूप गुन सील सुभाऊ । सुमिरि सुमिरि उर सोचत राऊ ॥ राउ सुनाइ दीन्ह बनबासू । सुनि मन भयउ न हरष हरासू ॥ सो सुत बिछुरत गयउ न प्राना । को पापी बड़ मोहि समाना ॥" (मा० अ० १४८) ।

'चौगुनो चित चाउ'; यथा—"मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ । मिटा सोच जनि राखै राऊ ॥ नव गयंद रघुबीर मन, राज अलान समान । छूटि जानि बन गवन सुनि, उर अनंद अधिकान ॥" (मा० अ० ५०-५१) ।

'सोय-रघुबर-लखन बिनु ··मोहिं बूझत न परत ··'; यथा—"राम चले बन प्रान न जाहीं । केहि सुख लागि रहत तन माहीं ॥ एहि तें कवन व्यथा बलवाना । जो दुख पाइ तजहिं तनु प्राना ॥" (मा० अ० ८०) । यह कुघाव श्रीभरतजी को भी ऐसा ही समझ पड़ा है; यथा—"सुनि बन गवन

कीन्ह रघुनाथा। करि मुनि बेष लखन सिय साथा। बिनु पानहिन्ह पयादेहि पाए। संकर साखि रहेउँ एहि घाए॥" (मा० अ० २६१)।

'नतरु मो कहँ मरन अमिअ पिआउ'—राजा राम-रहित जीवन को विष मान उससे मृत्यु को अमृत के समान मानकर उसकी कांक्षा कर रहे हैं। इनकी यह कांक्षा सर्वउर प्रेरक भगवान् ने सुमंत्रजी के ही द्वारा उनकी मति भोरी करके पूरी की है; यथा—"कहु सिय राम लखन संदेसू।" (मा० अ० १४८), इस पर श्रीसुमंत्रजी ने श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी का संदेश ज्यों का त्यों कह दिया। श्रीजानकीजी का संदेशा कहते हुए वे व्याकुल हो जाने से और प्रकार कह गये; यथा—"कहि प्रनाम कछु कहन लिय, सिय भइ सिथिल सनेह। थकित बचन लोचन सजल, पुलक पल्लवित देह॥ तेहि अवसर रघुबर रुख पाई। केवट पारहि नाव चलाई॥ रघुकुल तिलक चले एहि भाँती। देखेउँ ठाढ़ कुलिस धरि छाती॥" (मा० अ० १५२)।

श्रीसुमंत्रजी गङ्गाजी के तट पर नाव के पास नहीं आये थे। श्रीजानकीजी से उन्होंने बातें बहुत पहले की थीं। नाव पर चढ़ते समय नहीं। श्रीजानकीजी ने जो कुछ कहा है, प्रसन्नता से ही कहा है, पर यहाँ उनका और भाँति वर्णन है। वाल्मी० २।५८।३४-३७ में भी लिखा है—"हे महाराज! तपस्विनी जानकी दुःख की साँसें ले रही थी और भूताविष्ट के समान वह निश्चेष्ट बैठी रही, कुछ भी नहीं बोली। वह राजपुत्री यशस्विनी है, उसने कभी दुःख देखा भी नहीं था, इससे दुःख पर वह रोती रही, उसने कुछ नहीं कहा। सूखे मुँह से वह पति श्रीरामजी की ओर देखती रही, मैं जा रहा हूँ, यह देखकर सीताजी ने आँसू गिराये। श्रीलछमण सेवित श्रीरामजी अश्रुपूर्ण मुख हो हाथ जोड़ खड़े रहे और रोती हुई श्रीसीता मुझे एवं मेरे रथ को देखती रही।" यद्यपि श्रीवाल्मीकीय रामायण में भी पहले यह दृश्य नहीं है।

इससे जान पड़ता है कि राजा की कांक्षा से सर्वान्तर्यामी ने सुमंत्र को विक्षिप्त करके ऐसा संदेश कहलाया है जिसे वे सह नहीं सकते। राजा ने सुमंत्रजी से कहा था कि "यदि दोनों भाई न भी लौटें तो इस-इस प्रकार समझा कर जानकीजी को लौटा लाना, वह अत्यन्त सुकुमारी है। नहीं तो जल बिना मछली की भाँति मैं न जीऊँगा।" (मा० अ० ९५-९६)। यहाँ ठीक वैसा ही

कहा गया है, जिसे राजा सुनकर नहीं जी सकते। यही हुआ भी राजा ने इस मृत्यु को अमृत के समान कहा है। यह भी उनका कहना सत्य ही है। इस मृत्यु से राजा यशस्वी हो कीर्त्ति द्वारा सदा के लिये संसार में विद्यमान हैं; यथा—"पितहु मरन कर मोहिं न सोकू ॥ सुकृत सुजस भरि भुवन सुहाए।" (मा० अ० २१०); "सोचनीय नहिं कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ ॥" (मा० अ० १७२)। दोहावली २२०-२२१ भी देखिये। राजा भी विह्वल हैं, इससे 'सुनु' के स्थान पर 'सुनि' कह रहे हैं।

[५८]

अवध बिलोकिहौं जीवत राम भद्र बिहीन।
कहा करिहैं आइ सानुज भरत धरम-धुरीन ॥१॥
राम-सोक-सनेह-संकुल, तनु बिकल, मन लीन।
टूटि तारो गगन-मग ज्यों होत छिन-छिन छीन ॥२॥
हृदय समुझि सनेह सादर प्रेम पावन मीन।
करी तुलसीदास दसरथ प्रीति-परिमिति पीन ॥३॥

शब्दार्थ—परिमिति=१ नाप, तौल, सीमा आदि, २ मर्यादा, इज्जत।

अर्थ—'मैं श्रीरामभद्र से रहित अयोध्या को देखकर भी जीता ही हूँ! (हा !!!)। छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी के साथ धर्म धुरीण श्रीभरतजी भी अब आकर क्या करेंगे? ॥१॥ इस प्रकार (सोचते हुए) श्रीरामजी के वियोग के शोक और स्नेह से पूर्ण महाराज दशरथ का शरीर व्याकुल है और मन विलीन होता जा रहा है, जैसे आकाश मार्ग में टूट कर तारा क्षण-क्षण में क्षीण होता है ॥२॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि महाराजा दशरथ ने अपने हृदय में मछली के पवित्र प्रेम को स्नेह एवं आदरपूर्वक समझ कर प्रीति की मर्यादा को ही पुष्ट किया; अर्थात् तन त्याग किया ॥३॥

विशेष—'अवध बिलोकिहौं···'—राजा को दृढ़ता थी कि मैं श्रीराम बिना नहीं जीऊँगा; यथा—"जिअइ मीन बरु बारि बिहीना। मनि बिनु फनिक जिअइ दुख दीना॥ कहउँ सुभाउ न छल मन माहीं। जीवन मोर राम बिनु नाहीं ॥···जीवन राम दरस आधीना॥" (मा० अ० ३२); किन्तु अभी तक मैं जीता ही हूँ, यह समझ कर ग्लानि कर रहे हैं। अभी तक श्रीसुमंत्रजी के

द्वारा लौटा लाने की आशा में थे, इससे जीते थे, अब वह आशा गई। एक दूसरी आशा भी है कि श्रीभरतजी धर्म धुरीण हैं। अतः, वे आकर कुछ सुधार करेंगे, इस पर कहते हैं—

'कहा करिहैं आइ...'—वे धर्म धुरीण हैं; यथा–"भरतहिं धर्म धुरंधर जानी।" (मा० अ० २५८); "जानउँ सदा भरत कुल दीपा। बार-बार मोहिं कहेउ महीपा॥" (मा० अ० २८२)। वे धर्मात्मा हैं। अतः, ज्येष्ठ भ्राता के रहते हुए कुल रीति के विरुद्ध राज्य न ग्रहण करेंगे और कैकेयी को डाँट-फटकार के ठीक करेंगे, पर श्रीरामजी को लौटाने में तो समर्थ नहीं हो सकते। श्रीरामजी ने भी कैकेयी के समक्ष प्रतिज्ञा कर ली है। अतः, जब वे मेरी ही दूसरी आज्ञा पर नहीं लौटे तो उन छोटे भाई की बात पर कैसे लौटेंगे? तथा उनके आने तक मैं जी भी तो नहीं सकता। मछली जल बिना कैसे जी सकती है? फिर मेरे मरने पर धर्मात्मा भरत आकर ही क्या करेंगे? मुझे तो पुनर्जीवन दे न सकेंगे।

कोई कोई यों भी भाव लेते हैं कि धर्मात्मा भरत आकर ही क्या कर लेंगे? परिस्थिति सुधार तो सकते नहीं। धर्मात्मा होने से उन्हें भी दुःख ही होगा, इससे वे न आवें तभी अच्छा।

'राम सोक सनेह संकुल...'—यहाँ यथासंख्यालंकार की रीति से अर्थ है। शरीर राम-शोक से पूर्ण होने से व्याकुल है और मन राम-स्नेह-पूर्ण होने से स्नेह में विलीन होता जाता है; जैसे टूटा हुआ तारा क्षण-क्षण में क्षीण होता हुआ आकाश मार्ग में ही विलीन होता जाता है, वैसे ही मन ने राम-स्नेह में विलीन होकर अपनी सत्ता खो दी; अर्थात् राजा ने राम-स्नेह में अपनपौ विलीन कर दिया; शरीर त्याग दिया। किस आधार पर ऐसा किया; इसे आगे मीन के सत्य प्रेम का आदर्श कहते हैं—

'हृदय समुझि सनेह सादर...'—'प्रेम पावन मीन'; यथा—"देउ आपने हाथ जल मीनहिं माहुर घोरि। तुलसी जियै जो बारि बिनु, तौ तु देहि कबि खोरि॥ मकर, उरग, दादुर, कमठ, जल जीवन जल गेह। तुलसी एकै मीन को, है साँचिलो सनेह॥" (दोहावली ३१७-३१८); भाव यह कि मीन अपने प्रियतम जल के बिना नहीं जी सकता। अतएव उसका उसमें सत्य प्रेम है, वैसे ही आदर्श पर चित्त देकर राजा ने प्रेम की मर्यादा को पुष्ट किया;

अर्थात् प्रेम को सत्य स्वरूप को दृढ़ किया, इससे शरीर त्याग किया। इसी पर कहा गया है; यथा—"बंदउँ अवध भुआल, सत्य प्रेम जेहि राम पद। बिछुरत दीन दयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥" (मा० बा० १६)।

राजा की इसी दशा का कुछ विशेष वर्णन अगले पद से भी करते हैं—

राग गौरी

करत राउ मन मन मों अनुमान।
सोक-बिकल, मुख बचन न आवै, बिछुरे कृपा-निधान ॥१॥
राज देन कहँ बोलि नारि-बस मैं जो कह्यौं बन जान।
आयसु सिर धरि चले हरषि हिय कानन भवन समान ॥२॥
ऐसे सुत के बिरह अवधि लौं जौं राखौं यह प्रान।
तौ मिटि जाइ प्रीति की परिमिति, अजस सुनउँ निज कान ॥३॥
'राम गये अजहुँ हौं जीवत', समुझत ही अकुलान।
तुलसिदास तनु तजि रघुपति हित कियो प्रेम परवान ॥४॥

अर्थ—राजा दशरथ शोक में व्याकुल हैं, उनके मुख से वचन नहीं निकलता। 'कृपानिधान श्रीरामजी मुझसे बिछड़ ही गये' इस दुर्घटना पर वे अपने मन में अनुमान करने लगे ॥१॥ 'मैंने ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामजी को राज्य देने के लिये कहा था, और फिर स्त्री के वश होकर जो उन्हें वन जाने के लिये कह दिया; अहो! उस आज्ञा को भी जिन्होंने हृदय से हर्षित होकर शिरोधार्य कर लिया और वन को घर के समान मानकर वहाँ चले गये ॥२॥ ऐसे पुत्र के विरह में यदि मैं चौदह वर्ष की अवधि तक प्राण रक्खूँ तो प्रीति की मर्यादा मिट जायगी और फिर अपने कानों से अपयश सुनना पड़ेगा' ॥३॥ 'श्रीरामजी वन को चले गये और मैं अभी तक जीता ही हूँ'—यह समझ कर उनका हृदय व्याकुल हो गया। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उन्होंने श्रीरघुनाथजी के लिये अपना शरीर त्याग कर उनमें अपने प्रेम को प्रमाणित (प्रमाण द्वारा सिद्ध) कर दिया ॥ ४ ॥

विशेष—'बिछुरे कृपा-निधान'—बिछुड़ने में निष्ठुरता नहीं कि मुझे तलफते हुए छोड़कर वे चले ही गये; प्रत्युत् कृपानिधानता का अनुभव करते हैं कि उन्होंने मुझ ऐसे स्त्रैण की विपरीत आज्ञा को भी इतना आदर दिया, मुझे

दुष्टा कैकेयी से उऋण किया, इतना महान् स्वतः सिद्ध अधिकार का त्याग किया; अन्यथा ज्येष्ठ पुत्र थे, उनका अधिकार स्वतः था और फिर मैंने उन्हें राज्य देने की सभा में कह भी दिया था। मेरा अधिकार रहा कहाँ कि फिर मैं वह राज्य कैकेयी को देता? यह तो कृपानिधान पुत्र श्रीरामजी ने अपनी ओर से राज्य त्याग कर मेरे वचन की रक्षा की है। ऐसे कृपानिधान पुत्र मुझसे बिछुड़ गये, यह विचार कर वे शोक से व्याकुल हो गये, शरीर शिथिल हो गया, मुख से वचन नहीं निकलता; क्योंकि कण्ठ गद्‌गद् हो गया है। और फिर मन से वे अनुमान कर रहे हैं—इस प्रकार यहाँ राजा के तन, मन और वचन की प्रीति कही गई है।

'राज देन कहँ बोलि····'—पहले मैंने उन्हें राज्य देने को कहा, सभा में घोषणा की और फिर स्त्री-वश होकर मैंने उन्हें वन जाने को कहा। यद्यपि राजा ने स्वयं मुख से नहीं कहा, परन्तु कैकेयीजी को वरदान दे ही दिया था, इनसे अधिकार पाकर उसने कहा था, वह भी राजा का ही कहना है।

वाल्मी० २।१४ में लिखा है कि "जब सुमंत्रजी राजा के पास गये और व्याकुल देख सहम गये, तब कैकेयीजी ने अपना कार्य सिद्ध करने के लिये उनसे कहा कि रामजी को शीघ्र यहाँ बुला लाओ। सुमंत्रजी ने कहा—देवि! बिना राजा की आज्ञा मैं कैसे श्रीरामजी को यहाँ लाऊँ? [क्योंकि राजा की पूर्व घोषणा के यह बात विरुद्ध थी; यथा—"राम कुभाँति सचिव सँग जाहीं। देखि लोग जहँ-तहँ बिलखाहीं॥" (मा० अ० ३८); कैकेयीजी चाहती थीं कि सभा में तो राजा रामजी को राज्य देने की घोषणा कर चुके हैं। अतः, मंत्री लोग राजा को व्याकुल देख, राज्य-तिलक गुरुजी से करवा देंगे। इससे यदि रामजी मेरे फँदे में आ जायँ और मैं उनसे भी पिता-वचन मानने की प्रतिज्ञा करा लूँ तो मेरा मनोरथ सिद्ध होगा, वही हुआ] इस पर राजा दशरथ ने भी मंत्रीजी से कहा है कि "मैं श्रीरामजी को देखना चाहता हूँ। शीघ्र लाओ"। अतः, राजा की इस आज्ञा को मंत्री ने राज्य देने के लिये ही बुलाना समझा था। अतः 'राज्य देने के लिये बुलाया' यहाँ यह भी अर्थ है।

'आयसु सिर धरि चले हरषि हिय'; यथा—"सकहु त आयसु धरहु सिर···" इस पर श्रीरामजी ने कहा है—"सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी।

जो पितु-मातु बचन अनुरागी ॥" से "जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा । प्रथम गनिय मोहिं मूढ़ समाजा ॥···देखु बिचारि मातु मनमाहीं ॥" (मा० अ० ४१) तक । तथा—"तद्ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकांक्षितम् । करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते ॥" (वाल्मी० २।१८।३०); अर्थात् श्रीरामजी ने कैकेयीजी से कहा है—देवि ! वह वचन कहो तो, जो राजा चाहते हैं, करूँगा, मैं ऐसी प्रतिज्ञा करता हूँ, 'राम दो बार नहीं बोलता' । इस पर कैकेयीजी ने सारा वृत्तान्त कहा और श्रीरामजी ने शिरोधार्य कर वनगमन प्रसन्नतापूर्वक किया ।

'चले हरषि हिय'; यथा—"मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ । मिटा सोच जनि राखइ राऊ ॥ नव गयंद रघुबीर मन, राज अलान समान । छूट जानि बन गमन सुनि, उर अनंद अधिकान ॥" (मा० अ० ५०-५१) । 'कानन भवन समान'—पिता की आज्ञा को गौरव देते हुए उसे आनन्दपूर्वक ही पालन किया है । इसी से दुःखमय वनवास को आनन्दमय माना है; यथा—"त्वं पौरजनवद्व्यालानयोध्यामिव पर्वतम् । मन्यस्व वनिते नित्यं सरयूवदिमांनदीम् ॥" (वाल्मी० २।९५।१५); अर्थात् श्रीरामजी ने श्रीसीताजी से श्रीचित्रकूट में कहा है कि तुम यहाँ के वनवासियों को अपने नगर (अवध) वासियों के समान समझो और इस चित्रकूट पर्वत को अयोध्या समझो तथा इस मंदाकिनी नदी को श्रीसरयूजी के समान ही समझो । तथा—"राम संग सिय रहति सुखारी ।··· अवध सहस सम बन प्रिय लागा ॥ परनकुटी प्रिय-प्रियतम संगा । प्रिय परिवार कुरंग बिहंगा ॥ सासु ससुर सम मुनितिय मुनिवर । असन अमिअ सम कंदमूल फर ॥" (मा० अ० १३९) ।

'ऐसे सुत के बिरह···'—ऐसे पुत्र के विरह में तो एक क्षण भी नहीं जीना चाहिये, यदि मैं चौदह वर्ष की अवधि तक प्राण रक्खूँ तो फिर प्रीति की मर्यादा ही मिट जायगी । सामान्य पुत्र भी पिता की प्रीति का पुतला कहा गया है; यथा—"प्रीतिमात्र पितुः पुत्रः सर्वं पुत्रस्य वै पिता ।" (महा० शान्ति० २६६।१८); फिर ऐसे पुत्र के विषय में तो कहना ही क्या है ? फिर भी मैं यदि जीता ही रहा तो प्रीति कहाँ रही ?; यथा—"जुग सम निमिष जाहिं रघुनंदन, बदन कमल बिनु देखे । जौं तनु रहै बरष बीते, बलि, कहा प्रीति इहि लेखे ?" (पद ४)— इसका विशेष भी देखिये ।

'अजस सुनउँ निज कान'; यथा—"गुरुः क्रियावान्वृद्धश्च राजा प्रेतः पितेति च। तातं न परिगर्हेऽहं दैवतं चेति संसदि ॥११॥ को हि धर्मार्थयोर्हीनमीदृशं कर्म किल्विषम्। स्त्रियः प्रियचिकीर्षुः सन्कुर्याद्धर्मज्ञ धर्मवित् ॥१२॥ अंतकाले हि भूतानि मुह्यन्तीति पुरा श्रुतिः। राज्ञैवं कुर्वता लोके प्रत्यक्षा सा श्रुतिः कृता ॥१३॥" (वाल्मी० २।१०६); अर्थात् श्रीरामजी ने श्री चित्रकूट में श्रीराम सभा में कहा है कि राजा दशरथ मेरे गुरु, यज्ञ आदि क्रिया करनेवाले और वृद्ध एवं पिता हैं फिर इस समय तो वे परलोकवासी भी हो गये हैं। मैं इस सभा में उनकी निन्दा तो नहीं करता, क्योंकि वे हमारे देवता हैं। स्त्री को प्रसन्न करने के लिये, इस प्रकार का पाप और निंदित कर्म, धर्म और अर्थ से हीन, कौन धर्मज्ञ पुरुष कर सकता है? अंतकाल में मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है, यह बात पुरानी श्रुति कहती है। इस कार्य से राजा ने उस श्रुति को सत्य कर दिया है। इस वचन में निन्दा के वाक्य छिपे हैं, यदि राजा प्रेम के वश हो प्राण न छोड़े होते तो इन्हीं वचनों से वे अपनी निन्दा सुनते।

राजा ने धर्म और प्रेम दोनों की मर्यादा एक साथ रक्खी है, यह आपका अद्भुत कर्म है; यथा—"भूप धरमव्रत सत्य सराहा। जेहि तनु परिहरि प्रेम निबाहा॥" (मा० अ० १७०)। दोहावली २१९-२२१ में राजा की इन दोनों निष्ठाओं की सराहना देखिये।

'राम गये अजहूँ हौं जीवत'—रामजी वन चले गये, उन्हें बिना देखे मैं कैसे जीता हूँ, यह जीवन तो धिक्कारमय है, यह समझ कर और उनके न देख पाने के शोक में राजा अकुला गये और प्राण त्याग दिये; यथा—"नहि पश्यामि धर्मज्ञं रामं सत्यपराक्रमम्। तस्यादर्शनजः शोकः सुतस्याप्रतिकर्मणः॥ उच्छोषयति वै प्राणान्वारिस्तोकमिवातपः।" (वाल्मी० २।६४।६७-६८); अर्थात् राजा दशरथ ने प्राण छोड़ते समय कहा है कि सत्य पराक्रम श्रीरामजी को नहीं देख रहा हूँ। पुत्र के कर्तव्य पालन में श्रीरामजी सर्वश्रेष्ठ हैं, उन्हें न देख सकने का शोक मेरे प्राणों को सुखा रहा है, जिस प्रकार थोड़े जल को धूप सुखा देती है।

'तनु तजि रघुपति हित' यथा—"यो मृतो मम शोकेन" (वाल्मी० २।१०३।६); अर्थात् श्रीरामजी ने कहा है कि पिताजी मेरे लिये शोक करते हुए

प्राण ही छोड़ दिये। इस कृत्य से आपने अपने प्रेम को प्रमाणित किया; अर्थात् जो पहले कैकेयीजी से कहा था—"जियै मीन बरु बारि-बिहीना। मनि बिनु फनिक जिऐ दुख दीना ॥ कहउँ सुभाउ न छल मन माहीं। जीवन मोर राम बिनु नाहीं ॥" (मा० अ० ३२)—इस अपने वचन की सत्यता सिद्ध की। उपर्युक्त 'ऐसे सुत के बिरह···' पर उद्धृत प्रसंग भी देखिये।

श्रीभरतजी के शुद्ध भाव

राग सोरठ

[६०]

ऐसे तैं क्यों कटु बचन कह्यो, री ?
'राम जाहु कानन' कठोर तेरो कैसे धौं हृदय रह्यो री ॥१॥
दिनकर-बंस, पिता दसरथ से, राम-लखन से भाई।
जननी ! तू जननी ? तो कहा कहौं, बिधि केहि खोरि न लाई ॥२॥
हौं लहिहौं सुख राजमातु ह्वै, सुत सिर छत्र धरैगो।
कुल कलंक मलमूल मनोरथ तव बिनु कौन करैगो ? ॥३॥
ऐहैं राम, सुखी सब ह्वै हैं, ईस अजस मेरो हरिहैं।
'तुलसिदास' मोको बड़ो सोच है तू जनम कौनि बिधि भरिहै ॥४॥

शब्दार्थ—खोरि=दोष, दूषण। भरिहै=बितइहै। जाहु=जायँ एवं जाओ।

अर्थ—[राजा दशरथ के शरीर त्याग हुआ, श्रीवसिष्ठजी ने दूत भेज कर कैकय देश (कश्मीर) से श्रीभरतजी को बुलाया, उन्होंने कैकेयीजी से ही सारी व्यवस्था सुनी। उस पर वे अपनी माता कैकेयीजी से कहते हैं-] अरी! 'श्रीरामजी वन जायँ' एवं 'श्रीरामजी तुम वन जाओ' ऐसे कठोर वचन तूने कैसे कहे ? अरी ! न जाने तेरा कैसा कठोर हृदय रहा है, (जो ऐसा कहते हुए फट नहीं गया) ॥१॥ मुझे सूर्यवंश ऐसा उत्तम वंश प्राप्त हुआ, श्रीदशरथजी ऐसे सत्य-संध पिता मिले और परम धर्मात्मा श्रीराम-लक्ष्मण ऐसे भाई प्राप्त हुए; परन्तु, अरी जननी ! मुझे उत्पन्न करनेवाली माता तू मिली ! तो मैं क्या कहूँ ? विधाता ने किसमें दूषण नहीं लगाये (; अर्थात् विधि की सृष्टि ही गुण-अवगुण मिश्रित है। अतः, दोष भी सब में आ सकते हैं, उसी नियम से यदि मुझमें

'यह दूषित सम्बन्ध है तो फिर क्या कहूँ ?) ॥२॥ 'मैं राजमाता होकर सुख पाऊँगी और मेरा बेटा शिर पर राजछत्र धारण करेगा' कुल के लिये कलङ्क-रूप और पापमय ऐसा मनोरथ तेरे विना और कौन करेगा ? ॥३॥ श्रीरामजी आयेंगे और सब कोई सुखी होंगे तथा ईश्वर मेरा अपयश हरण करेंगे। मुझे बड़ा भारी सोच तो इस बात का है कि तू किस प्रकार से अपना जन्म खपायेगी ? ॥४॥

विशेष—'ऐसे तैं क्यों ··· राम जाहु कानन···'; यथा—"जब तें कुमति कुमत जिय ठयऊ। खंड-खंड होइ हृदय न गयऊ॥ बर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥" मा० अ० १६१)। वाल्मी० २। ७३-७४ में श्रीभरतजी ने ऐसे बहुत वचन कहे हैं। 'राम'—श्रीरामजी प्राणी मात्र के प्रिय हैं; यथा—"ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी।" (मा० बा० २१५ ; तथा "जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं बिषम बिष तामस तीछी॥ तेइ रघुनंदन लखन सिय,···" (मा० अ० २६२)। ऐसे सर्व-प्रिय को तूने वन भेजा, तेरा कैसा कठोर हृदय रहा ? 'राम जाहु कानन'; यथा—"होत प्रात मुनि बेष धरि, जौं न राम बन जाहिं। मोर मरन राउर अजस, नृप समुझिय मन माहिं॥" (मा० अ० ३३)।

'दिनकर बंस, पिता···'; यथा—"हंस बंस दसरथ जनक, राम-लखन से भाइ। जननी तू जननी भई, बिधि सन कछु न बसाइ॥" (मा० अ० १६१); भाव यह कि यह सूर्यवंश हंसवत् विवेकी है, तदनुसार राजा दशरथ और श्री राम-लक्ष्मण परम विवेकी हुए, परन्तु मुझे उत्पन्न करनेवाली तू तो इस कुल के विरुद्ध स्वभाव वाली है। अतः, विधि ने तुझे इस कुल में क्यों संयोग लगाया ? यह उसका दोष है, मेरा उस पर वश चलता तो मैं इस पर उसे भी दंड देता। फिर यह समझ कर चुप हुए कि विधि का विधान ऐसा होता ही है तो फिर क्या कहा जाय; यथा—"बिधि करतब उलटे सब अहहीं॥ निपट निरं-कुश निठुर निसङ्कू। जेहि ससि कीन्ह सरुज सकलंकू॥ रूख कलपतरु सागर खारा। तेहि पठये बन राजकुमारा॥" (मा० अ० ११८)।

विधि का कर्त्तव्य यहाँ पर श्रीरामजी की लीला-विधि में उनकी इच्छा से है, यथा—"तब किछु कीन्ह राम रुख जानी।" (मा० अ० २१७)—यह बृहस्पति-जी ने कहा है। परन्तु श्रीभरतजी का यह कथन विषाद वश लोकरीति का है।

'हौं लहिहौं सुख...'—मैं राजमाता बनूँ और सौतों पर शासन करूँ, ऐसा पापमय तेरा मनोरथ है। यह मनोरथ कुल-कलङ्क है; यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥" (मो० अ० १५); तथा—"अस्मिन्कुले हि सर्वेषां ज्येष्ठो राज्येऽभिषिच्यते। अपरे भ्रातरस्तस्मिन्प्रवर्तन्ते समाहिताः॥२०॥...सततं राजपुत्रेषु ज्येष्ठो राजाभिषिच्यते। राज्ञामेतत्समं तत्स्यादिक्ष्वाकूणां विशेषतः॥२२॥" (वाल्मी० २।७३); अर्थात् श्रीभरतजी ने कैकेयीजी से कहा है कि इस कुल राज्यवंश में जो सबसे बड़ा होता है, उसी का अभिषेक होता है, शेष छोटे भाई उसके अधीन रहा करते हैं।...राज पुत्रों में जो सबसे बड़ा होता है, वही राजा बनाया जाता है, ऐसी नीति सभी राजा मानते हैं, इक्ष्वाकुवंश में तो यह रीति विशेष करके मानी जाती है। तेरे कारण यह कुल में कलङ्क आ रहा है (यदि वैसा हो)।

तेरे इस मनोरथ में पति का मरण, प्रभु श्रीराम आदि का वनवास और सभी माताओं को वैधव्य एवं पुत्र-विरह का दुःख है। अतएव यह पापमय है। ऐसा मनोरथ एकमात्र तू ही कर सकती है और नहीं।

'ऐहैं राम सुखी सब होइहैं...'; यथा—"निवर्तयिष्यामि वनाद् भ्रातरं स्वजनप्रियम्॥२६॥ निवर्तयित्वा रामं च तस्याहं दीप्ततेजसः। दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तरात्मना॥२७॥" (वाल्मी० २।७३); अर्थात् मैं स्वजन-प्रिय भाई श्रीरामजी को वन से लौटा लाऊँगा। मैं श्रीरामजी को लौटा लाऊँगा और उनका दास बन कर प्रसन्नता से रहूँगा। इससे सभी सुखी होंगे और ईश्वर मेरा अपयश भी हरण करेगा। पर तू कैसे अपना जन्म काटेगी? इसका ही बड़ा सोच मुझे है; क्योंकि—"राम-बिमुख थल नरक न लहहीं॥" (मा० अ० २५१)।

'ईस अजस मेरो हरिहै'—श्रीभरतजी को श्रीकौसल्याजी, श्रीवसिष्ठजी श्रीनिषादराजजी और श्रीलक्ष्मणजी आदि सभी ने खरा सिद्ध किया है। श्रीभरद्वाजजी और श्रीरामजी ने इनके भूरि-भूरि यश का गान किया है। इस प्रकार इनका अपयश प्रेरक ईश्वर ने दूर किया है। कैकेयीजी यद्यपि अपने कर्त्तव्य से लोगों की दृष्टि में बहुत ही गिर गई थीं, पर श्रीरामजी ने इन्हें भी अपने शुद्ध भाव से निर्दोष ही माना है और इनका जीवन उत्तम रीति का किया है। यह उनका आर्जव है।

[६१]

ताते हौं देत न दूषन तोहूँ।
राम-बिरोधी उर कठोर तें प्रगट कियो है बिधि मोहूँ ॥१॥
सुंदर सुखद सुसील सुधानिधि, जरनि जाइ जिहि जोये।
बिष बारुनी बंधु कहियत बिधु, नातो मिटत न धोये ॥२॥
होते जौं न सुजान-सिरोमनि राम सब के मन माहीं।
तौ तेरी करतूति, मातु ! सुनि, प्रीति-प्रतीति कहाँ हीं ? ॥३॥
मृदु मंजुल साँची-सनेह सुचि सुनत भरत-बर-बानी।
तुलसी 'साधु-साधु' सुर नर मुनि कहत प्रेम पहिचानी ॥४॥

शब्दार्थ— कहाँ हीं=कहाँ थी, ब्रजभाषा में 'हीं' का अर्थ 'थी' होता है।

अर्थ— तुझ राम-विरोधी के कठोर हृदय से विधाता ने जो मुझे भी पैदा किया है (इससे तेरे सम्बन्ध से मैं भी दोषी ही हूँ) इससे मैं तुझे दोष नहीं देता हूँ (समझ कर चुप हो गया हूँ) ॥१॥ यद्यपि अमृत का भाण्डार चन्द्रमा सुन्दर, सबको सुखदाता और सुशील है जिसके देखने मात्र से जलन दूर होती है। तथापि वह चन्द्रमा विष और वारुणी का भाई कहा जाता है; क्योंकि किसी का नाता धोने से नहीं मिटता (यह निश्चित है) ॥२॥ यदि सुजान-शिरोमणि श्रीरामजी सभी के मन में नहीं होते तो, हे माता ! तेरी इस करतूत को सुनकर जगत् में मेरी प्रीति और प्रतीति कहाँ थी ? (अर्थात् कब की मिट गई होती, पर सर्वान्तर्यामी श्रीरामजी ने दया करके मेरे हृदय के भाव को सबके मन में प्रकट कर रक्खा है, इससे लोग मेरा विश्वास कर मुझ में प्रीति रखते हैं और रक्खेंगे) ॥३॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि कोमल, मनोहर सत्य स्नेह युक्त और पवित्र श्रीभरतजी की श्रेष्ठवाणी सुनकर देवता, मनुष्य और मुनि इनका प्रेम पहचान कर 'साधु-साधु' कहने लगे ॥४॥

विशेष—'ताते हौं देत' 'राम बिरोधी' '; यथा—"राम-बिरोधी हृदय ते, प्रगट कीन्ह बिधि मोहिं। मो समान को पातकी, बादि कहउँ कछु तोहिं ॥" (मा० अ० १६२)। जो स्वयं दोषी होता है, वह दूसरों को दोष नहीं दे सकता, उसी दृष्टि से मैं तुझे भी दोष नहीं दे रहा हूँ; क्योंकि तेरे नाते से मैं भी दोषी हूँ; यथा—"ब्रह्महत्या सुरा पानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः। महान्ति पात-

कान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥" (मनु० ११।५४); अर्थात् इन चारों का संसर्गी भी वैसा ही महापापी है। 'बिधि मोहीं'—ब्रह्मा ने ऐसा संयोग कर दिया; अन्यथा ऐसा सम्बन्ध मुझे अभीष्ट नहीं था।

'सुंदर सुखद सुसील...'—देखने में सुन्दर है, अपनी किरणों से सबको सुख देता है और अपने सुन्दर शील-स्वभाव से भी यह सर्वप्रिय है; यथा—"विष्णु को सारो, सिंगार महेश को, सागर को सुत लच्छि को भाई। तारन को पति देवन को धन लोगन को है महासुखदाई।।" यह पद्यांश भी इसकी सर्व-प्रियता सूचक है। इसका नाम ही अमृत का भाण्डार है और इसे देखने पर जलन दूर होती है; यथा—"सरदातप निसि ससि अपहरई।" (मा०कि० १६); "बिष-बारुनी बंधु कहियत बिधु'; यथा—"बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही। (मा० बा० २४६)-यह रमा के बंधुत्व पर कहा गया है, चन्द्रमा भी इसी प्रकार विष-वारुणी का सहोदर भाई है। तथा—"चन्द्र त्वं विष-सोदरो हि गरलोऽतिष्टत्त्वयि प्रेमतः।" (सीता श्रृंगार चम्पू)। "जनम सिंधु पुनि बंधु बिष..." (मा० बा० २३७)। भाव यह कि जैसे चन्द्रमा के सहस्रों सद्गुण भी इन नातों को नहीं धो सके, वैसे ही नाता किसी का भी नहीं मिटता, चाहे और भलाई की बातें बहुत भी हों। धोना प्रमाणों से दूर करना है, तथा—"क्यों हौं आजु होत सुचि सपथनि ? कौन मानिहै साँची ?। महिमा मृगी कौन सुकृती की खल बच बिसिषन्ह बाँची ?॥" (पद ६२)। यहाँ चन्द्रमा के उदाहरण से नाता की पुष्टि कही गई है। अतः, 'निदर्शना अलंकार' है।

'होते जौं न सुजान-सिरोमनि...'; यथा—"जान सिरोमनि कोसल राऊ।" (मा० बा० २७); "स्वामि सुजान जानि सब ही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की।।" (मा० अ० ३१३); श्रीरामजी अपनी सुजानता से मेरे भावों को जानते हैं और वे ही सबके मन में हैं। वे ही सबसे प्रीति-प्रतीति करवा रहे हैं। यदि ऐसा न होता तो माता ! तुम्हारी करतूत से तो मैं कहीं का न रहता। 'सुनि' पद माता के प्रति सुनाने के अर्थ में भी है।

'मृदु मंजुल साँची-सनेह...'—सुनने में कोमल होने से श्रवण-प्रिय है, मंजुल होने से मनोहर है और सत्य-स्नेह युक्त है तथा निश्छल होने से पवित्र है, इस प्रकार की श्रेष्ठ वाणी से उनके हृदय के प्रेम को पहचान कर सुर आदि

'साधु साधु' इस वाक्य से उनके प्रेम की सराहना करने लगे; यथा—"कहि 'साधु-साधु' गाधि-सुवन सराहे राउ," (बा० ८४)।

[६२]

जो पै हौं मातु मते महँ ह्वै हौं।
तौ जननी! जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वैहौं? ॥१॥
क्यों हौं आजु होत सुचि सपथनि? कौन मानिहै साँची?।
महिमा मृगी कौन सुकृती की खल बचन बिसिष तें बाँची ॥२॥
गहि न जाति रसना काहू की कहो जाहि जोइ सूझै।
दीनबंधु कारुन्यसिंधु बिनु कौन हिये की बूझै? ॥३॥
तुलसी राम-बियोग बिषम-बिष-बिकल नारि-नर भारी।
भरत-सनेह-सुधा सींचे सब भए तेहि समय सुखारी ॥४॥

अर्थ—(श्रीभरतजी कहते हैं—) 'हे माता (श्रीकौसल्या) जी! यदि मैं अपनी माता कैकेयीजी के मत (निश्चित सिद्धांत) में सहमत हूँगा तो इस जगत् में अपने इस मुख की कालिमा (कलंकरूपी स्याही) कहाँ धोऊँगा? [भाव यह कि "राम-बिमुख थल नरक न लहहीं।" (मा० अ० २५१); इस नियम से मुझे कोई पास बैठने भी न देगा तो मैं अपनी शुद्धता किसी से कैसे प्रकट करूँगा?] ॥१॥ आज मैं इन शपथों के द्वारा कैसे शुद्ध हो सकता हूँ? कौन मेरी शुद्धता-परक बातों को सत्य मानेगा? जगत् में किस पुण्यवान् की महिमा रूपी मृगी दुष्टों के वचनरूपी बाणों से बच पाई है? (अर्थात किसी पुण्यात्मा की महिमा खलों के वचनों से बिना दूषण लगे नहीं बच पाई) ॥२॥ किसी की भी जीभ पकड़ी नहीं जा सकती, इससे जिसको जैसा समझ पड़ता हो, वह वैसा कहा करे। मेरे हृदय की भावना तो करुणासागर और दीनबंधु श्रीरामजी के बिना दूसरा कौन समझेगा?' ॥३॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीअयोध्याजी के स्त्री पुरुष श्रीराम-वियोगरूपी विषम विष से भारी व्याकुल थे, वे सब श्रीभरजी के स्नेहरूपी अमृत से सींचे गये, इससे उस समय सुखी हो गये ॥४॥

विशेष—'जो पैं हौं''तौ जननी!...' कोई कैकेयीजी के मत में श्रीभरतजी को कहते थे; यथा—"एक भरत कर संमत कहहीं।" (मा० अ० ४७); इस बात का अनुमान कर श्रीभरतजी अपनी शुद्धता कहते हैं कि मैं

कैकेयीजी के कर्त्तव्य में सहमत नहीं था। शपथों में भी यही कहा है—"जौं यह होइ मोर मत माता।", "जौं जननी मत मोर", "जौं जननी यह संमत मोरा", "जननी जौं यह जानउँ भेऊ" (मा० अ० १६६-१६७); कैकेयीजी राम-विमुख हैं। अतः श्रीभरतजी उनसे पृथक् रहने का अपना भाव प्रकट करते हैं। श्रीविभीषणजी ने रावण को समझाया, जब उसने राम-विमुखता नहीं छोड़ी, तब वे पृथक् हो गये।

'क्यों हौं आजु महिमा मृगी···'—शपथ के शब्द भी मैं अपने ही मुखों से कह रहा हूँ। अतः, इसकी सत्यता में भी सन्देह हो सकता है। जब कि संसार की यह रीति है कि भारी पुण्यात्मा की महिमा भी खलों से दूषित हुए बिना नहीं रह पाती तो मेरे विषय में क्या कहना है? मृगी को मारने में शिकारियों को स्वतः चाव रहता है, इसी प्रकार सुकृतियों की महिमा पर जैसे-तैसे छिद्र निकाल उसे वेधने में खलों को चाव रहता है; यथा—"भरदर बरसत कोस सत, बचै जे बूँद बराइ। तुलसी तेउ खल बचन सर, हये गये न पराइ॥" (दोहावली ४०२)।

अलङ्कार—रूपक।

'गहि न जाइ रसना···'—छिद्रान्वेषण कर दूषण लगाना खलों का सहज स्वभाव है तो अपरिहार्य बात को रोकना व्यर्थ है, वे कहा करें, उनसे मेरी कुछ हानि नहीं, जिनसे मेरा प्रयोजन है, वे तो 'दीनबंधु···' हैं। दीनबंधु हैं, इससे मेरी दीनता पर दृष्टि देंगे और करुणासागर हैं, इससे मेरी इस दीनता को दूर करने; अर्थात् मुझे सन्तोष देने में तत्पर होंगे; क्योंकि करुणा का यही कार्य है कि आश्रित का दुःख दूर कर उसे सुखी कर देना। वे सुजान-शिरोमणि हैं, ऊपर कहा गया। अतः, मेरे हृदय के भाव समझ कर मुझे शुद्धमान कर मेरा आदर करेंगे। ऐसा हुआ है; यथा—"तात जाय जिय करहु गलानी। ईस अधीन जीव गति जानी॥ तीनि काल तिभुवन मत मोरे। पुन्य सिलोक तात तर तोरे॥" से "कहौं सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥" (मा० अ० २६२-२६३) तक। यह श्रीरामजी ने ही कहा है।

'राम-बियोग बिषम बिष···'; यथा—"भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे। राम सनेह सुधा जनु पागे॥ लोग बियोग बिषम बिष दागे। मंत्र

सबीज सुनत जनु जागे ॥'' (मा० अ० १८३)। विष की व्याकुलता को अमृत शान्त करता है। इसी प्रकार श्रीभरतजी का स्नेह (राम-स्नेह) रूपी अमृत राम-विरह दाह को शान्त करनेवाला है; क्योंकि इनके स्नेह का तात्पर्य श्रीरामजी को लौटा लाने का है; यथा—''तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी ॥ जेहि सुनि बिनय मोहिं जन जानी। आवहिं बहुरि राम रजधानी ॥'' (मा० अ० १८२)। 'तेहि समय सुखारी'—उस समय ही सुखी हुए। आगे फिर वियोग-दुःख रहेगा; क्योंकि श्रीरामजी समझा भर देंगे। लौटना तो १४ वर्ष के पश्चात् ही होगा; यथा-''मिटिहि सोच होइहि हरष, पुनि परिनाम बिषाद।'' (मा० अ० २३४)—यह निषाद राज का शकुन विचार यथार्थ ही है।

अलंकार—रूपक।

[६३]

काहे को खोरि कैकइहि लावौं ?

धरहु धीर, बलि जाउँ, तात ! मोको आज बिधाता बावों ॥१॥
सुनिबे जोग बियोग राम को हौं न होउँ मेरे प्यारे।
सो मेरे नयननि आगे ते रघुपति बनहिं सिधारे ॥२॥
तुलसिदास समुझाइ भरत कहँ, आँसु पोंछि उर लाए।
उपजी प्रीति जानि प्रभु के हित, मनहुँ राम फिरि आए ॥३॥

अर्थ—(श्रीकौसल्याजी कहती हैं—) मैं कैकेयीजी को दोष क्यों लगाऊँ ? हे तात ! मैं बलिहारी जाती हूँ, तुम धैर्य धारण करो, मुझको आज दिन विधाता ही प्रतिकूल है (उसी ने कैकेयीजी की मति वैसी कर दी है इसकी पुष्टि में आगे अपना ही उदाहरण देती हैं—) ॥१॥ ऐ मेरे प्यारे पुत्र ! मैं तो श्रीरामजी का वियोग सुनने के भी योग्य नहीं थी; (अर्थात् राम वियोग सुनते ही मर जाने योग्य थी,) वही मैं हूँ और मेरे ही नेत्रों के समक्ष से श्रीरघुनाथजी वन को चले गये (और मैं जीती-जागती बैठी हूँ। यदि विधि-प्रतिकूलता न होती तो पिता प्राण छोड़ दें और माता बैठी रह जाय ! क्योंकि जीवन-मरण विधि के ही हाथ में है) ॥२॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि माताजी ने श्री

भरतजी को इस प्रकार समझा कर उनकी आँसू पोंछ कर उन्हें हृदय से लगा लिया। प्रभु श्रीरामजी के हित (सुहृद्) जानकर उनमें प्रीति उपज पड़ी (बढ़ने लगी), (उन्हें ऐसा सुख हुआ) मानो श्रीरामजी लौट आये ॥२॥

विशेष—'काहे को खोरि… विधाता बावों'; यथा—"अजहुँ बच्छ बलि धीरज धरहू। कुसमउ समुझि सोक परिहरहू ॥ जनि मानहु हिय हानि गलानी, काल क.म गति अघटित जानी ॥ काहुहि दोष देहु जनि ताता। भा मोहिं सब बिधि बाम बिधाता ॥ जो एतेहु दुख मोहिं जियावा। अजहुँ को जानै का तेहि भावा ॥" (मा० अ० १६४)। तथा—"बिधि बाम की करनी कठिन जेहि मातु कीन्ही बावरी।" (मा० अ० २००); सर्वज्ञ श्रीभरद्वाजजी ने कहा है; यथा—"तात कैकइहि दोष नहिं, गई गिरा मति धूति ॥" (मा० अ० २०६); श्रीराम जी ने कहा है "दोष देहिं जननिहिं जड़ तेई। जिन्ह गुरु साधु सभा नहिं सेई ॥" (मा० अ० २६२)।

'सुनिबे जोग…सो मेरे…'; यथा—"राम लखन सिय बनहिं सिधाए। गइउँ न संग न प्रान पठाए ॥ एहु सब भा इन्ह आखिन्ह आगे। तउ न तजा तनु जीव अभागे ॥ मोहिं न लाज निज नेह निहारी। राम सरिस सुत मैं महतारी ॥ जिऐ मरइ भल भूपति जाना। मोर हृदय सत कुलिस समाना ॥" (मा० अ० १६५); तथा पद ८५ भी देखिये। भाव यह कि जिस विमुख विधाता ने मुझे राम-वियोग देखते हुए मरने नहीं दिया, उसी ने कैकेयीजी की मति भी भोरी कर उससे वैसा कार्य करा लिया है। अतएव कैकेयीजी तो नियाम्य मात्र थीं, नियामक विधाता ही सब कुछ कर रहा है। इससे कैकेयीजी को दोष नहीं देना चाहिये।

आगे चल कर इन्हीं श्रीकौसल्याजी ने विधाता को भी दोष मुक्त कर दिया है; यथा—"कौसल्या कह दोष न काहू। करम बिबस दुख सुख छति लाहू ॥ कठिन करमगति जान बिधाता। जो सुभ-असुभ सकल फल दाता ॥ ईस रजाइ सीस सबही के। उतपति थिति लय बिषहु अमीके ॥ देबि मोह बस सोचिय बादी। बिधि प्रपंच अस अचल अनादी ॥" (मा० अ० २८१); यह इनके अलौकिक विवेक का निर्णय है। यहाँ विधि-वामता के व्याज से भरतजी को समझा रही हैं। इससे इतना ही कह रही है; यथा—"पग परि कीन्ह प्रबोध

बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी ॥" (मा० अ० २४३); ऐसा ही समझाने की रीति है।

'समुझाइ भरत कहँ....'—अपना प्रत्यक्ष उदाहरण देकर समझाया। इससे दैवगति प्रधान समझ कर श्रीभरतजी को कुछ सान्त्वना मिली। माता ने उनके आँसू पोछे और हृदय लगाया।

'उपजी प्रीति जानि....'—श्रीरामजी का हितैषी जान कर माता ने इन्हें श्रीरामजी के समान ही माना है; यथा—"सरल सुभाय माय हिय लाए। अति हित मनहुँ राम फिरि आए ॥" (मा० अ० १६४); अपने प्यारे का हितकारी भी वैसा ही प्यारा होता है। जैसे सुग्रीवादि को श्रीरामजी ने अपना हितैषी कह कर उनकी प्रशंसा की है, तब माता ने उन्हें भी वैसा ही प्रिय मान कर आशिष दी है; यथा—"आसिष दीन्हीं हरषि तुम्ह, प्रिय मम जिमि रघुनाथ ॥" (मा० उ० ८)—यहाँ तो भरतजी श्रीरामजी के तुल्य भाई हैं भी।

श्रीभरतजी की चित्रकूट-यात्रा

[६४]

मेरो अवध धौं कहहु, कहा है।
करहु राज रघुराज-चरन तजि, लै लटि लोग रहा है ॥१॥
धन्य मातु, हौं धन्य, लागि जेहि राज-समाज ढहा है।
तापर मोसों प्रभु करि चाहत सब बिनु दहन दहा है ॥२॥
राम सपथ, कोउ कछू कहै जनि, मैं दुख दुसह सहा है।
चित्रकूट चलिये सब मिलि, बलि, छमिए मोहिं हहा है ॥३॥
यों कहि भोर भरत गिरिवर को मारग बूझि गहा है।
सकल सराहत, एक भरत जग जनमि सुलाहु लहा है ॥४॥
जानहिं सिय-रघुनाथ भरत को सील-सनेह महा है।
कै 'तुलसी' जाको राम नाम सों प्रेम-नेम निबहा है ॥५॥

शब्दार्थ—लै लटि लोग रहा है=इसी धुन में लोग हैरान हो रहे हैं।

अर्थ—[श्रीभरतजी कहते हैं—] 'कहो तो भला, श्रीअवधपुर में मेरा क्या रक्खा है ? लोग इसी धुन में हैरान हो रहे हैं कि 'श्रीरघुनाथजी के चरणों

का त्याग कर राज्य करो' ॥१॥ मेरी माता धन्य है और (साथ ही) मैं भी धन्य हूँ कि जिसके लिये यह सारा राज-समाज ध्वस्त हो रहा है। उस पर भी, मुझ समान (पापी) को आप सब लोग राजा बना कर बिना अग्नि के ही जलना चाहते हैं ! ॥२॥ अतः, अब सब किसी के लिये श्रीरामजी की शपथ है, इस विषय में अब कोई कुछ न कहे, इस प्रकार की बातों से मैंने दुस्सह दुःख सहन किया है (अब अधिक सहने की शक्ति मुझमें नहीं है।) 'सब कोई मिलकर श्रीचित्रकूट चलिये' इस पर मैं बलिहारी जाता हूँ, इस धृष्टता पर मुझे क्षमा कीजिये। मैं आप लोगों से गिड़गिड़ा कर प्रार्थना करता हूँ" ॥३॥ ऐसा कहकर प्रातःकाल होते ही श्रीभरतजी ने गिरिश्रेष्ठ श्रीचित्रकूट का मार्ग पूछ कर उसे ग्रहण किया (प्रस्थान किया) है। इस पर सब कोई प्रशंसा करने लगे कि 'एक श्रीभरतजी ने ही संसार में जन्म लेकर जन्म लेने का सुन्दर लाभ प्राप्त किया है' ॥४॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीभरतजी के महान् शील (सद्वृत्ति) और स्नेह राम-स्नेह) को श्रीसीताजी और श्रीरघुनाथ ही जानते हैं और या तो वे भी जानते हैं जिनका श्रीराम नाम से प्रेम-नेम निबह गया है ॥५॥

विशेष—'मेरो अवध धौं···करहु राज'; यथा—"पितु सुर पुर सियराम बन, करन कहहु मोहिं राज। एहि ते जानहु मोर हित, कै आपन बड़ काज॥ हित हमार सियपति सेवकाई। सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई॥" (मा० अ० १७७); भाव यह कि मेरा सर्वस्व तो श्रीसीताराम की सेवा है, वह तो यहाँ अब रह नहीं गया, तो मैं यहाँ रह कर क्या करूँगा ? यथा—'न देहं न प्राणान्न च सुखमशेषाऽभिलषितं न चाऽऽत्मानं नाऽन्यत्किमपि तव शेषत्वविभवात्। बहिर्भूतं नाथ क्षणमपि सहे जातु शतधा विनाशं तत्सत्यं मधु मथन ! विज्ञापनमिदम्॥" (आलवन्दार स्तोत्र ६०); अर्थात् हे नाथ ! आपकी दासता के वैभव से बाहर होनेवाले न देह को, न प्राणों को और न सम्पूर्ण अभिलाषाओं एवं विषयों से होनेवाले सुखों को, आत्मा को एवं और जो कुछ भी क्यों न हो, इन सबको क्षण मात्र भी मैं नहीं सह सकता। आपके शेषत्व (सेवा) वैभव से विमुख जो है, वह सौ प्रकार से विनाश को प्राप्त हो, मैं यही चाहता हूँ ? हे मधुसूदन ! यह मेरा विज्ञापन सत्य है।

भाव यह कि जिससे राम-सेवा में सहयोग न हो, उससे भक्त का क्या

सम्बन्ध ? 'रघुराज' पद से सूचित करते हैं कि इस कुल की रीति से इस गद्दी के राजा श्रीरामजी ही हैं और मैं उनका चरण सेवक हूँ। उस अपने नियत धर्म को छोड़कर मुझे राज्य करने के लिये आप लोग एक स्वर से कह रहे हैं, यह मेरे लिये प्रतिकूल है। आगे इसे विशेष पुष्ट करते हैं—

'धन्य मातु, हौं धन्य ···'—जिस मेरी माता ने इस मेरे राज्य के लिये इस सारे राज-समाज को ध्वस्त कर दिया है, वही मेरी माता धन्य और मैं धन्य !! यही न ! भाव यह कि जिसके द्वारा और जिसके लिये इतने भारी-भारी अनर्थ हो गये। श्रीअवध का सारा राज-समाज विपत्ति-सागर में डूब गया, ऐसे लोग तो धिक्कार योग्य हैं। उस पर भी ऐसे ही को आप लोग राजा बनाना चाहते हैं, इससे तो आप लोग बिना आग ही जल जायँगे; यथा—"कहउँ साँच सब सुनि पतिआहू। चाहिअ धरमसील नरनाहू॥ मोहिं राज हठि देइहहु जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबहीं॥ मोहिं समान को पाप-निवासू। जेहि लगि सीयराम बनबासू॥ राय राम कहँ कानन दीन्हा। बिछुरत गमन अमरपुर कीन्हा॥ मैं सठ सब अनरथ कर हेतू।" (मा० अ० १७८); ऐसे मुझ पापी के राज्य में यहाँ की धर्मात्मा प्रजा जिसके प्रारब्ध में पाप रूपी अग्नि नहीं है, वह भी मेरे पापों से दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से भस्म होगी। अतः, आप लोग ऐसा उद्योग न करें।

'राम सपथ कोउ···चित्रकूट चलिहौं प्रभात ही···'—श्रीरामजी सबको परम प्रिय हैं; क्योंकि उन्हीं के विरह में सब दुखी हैं। अतः, उन्हीं की शपथ देकर राज्य देने की चरचा रोकते हैं कि यह सुनकर भी मुझे दुस्सह दुःख होता है। श्रीरामजी के बन जाने से ही ये सारे अनर्थ हुए हैं। अतः, उन्हीं के आने पर सब सुखी होंगे, इससे उन्हीं को प्रसन्न करके लाया जाय, इसलिये शीघ्र ही श्रीचित्रकूट चला जाय। आप लोगों की बातों को काट कर मैंने अपनी बात ऊपर की है, इसके लिये आप लोग मुझे क्षमा करें और आप लोगों के साथ चल कर मनाऊँ तो श्रीरामजी संकोच वश अवश्य लौटेंगे, इसलिये मैं आप लोगों से गिड़गिड़ा कर प्रार्थना करता हूँ। तथा—"एकहि आँक इहइ मन माहीं। प्रातकाल चलिहौं प्रभु पाहीं॥···तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयसु

आसिष देहु सुबानी ।। जेहि सुनि बिनय मोहिं जन जानी । आवहिं बहुरि राम रजधानी ।।" (मा० अ० १८२)।

'यों कहि भोर ...'—श्रीसुमन्त्रजी ने श्रीरामजी का विचार जाना था कि वे श्रीचित्रकूट की ओर गये हैं। गुह निषाद ने लौट कर उनसे कहा होगा; क्योंकि उनके सामने श्रीरामजी ने श्रीभरद्वाजजी से पूछा है और फिर उन्होंने श्रीचित्रकूट ही को जाने के लिये बतलाया है; यथा—"मधुमूलफलोपेतं चित्रकूटं व्रजेति ह ।।३८।।...गम्यतां भवतां शैलश्चित्रकूटः स विश्रुतः ।।४०।। ...उषित्वा रजनीं तत्र राजपुत्रावरिंदमौ । महर्षिमभिवाद्याथ जग्मतुस्तं गिरिं प्रति ।।१।।" (वाल्मी० २।५४-५५); अर्थात् महर्षि भरद्वाजजी ने श्रीचित्रकूट जाने की सम्मति दी और श्रीरामजी ने वहीं को प्रस्थान किया। आगे चल कर गुह को लौटा दिया है, उन्होंने आकर सारा समाचार श्रीसुमंत्रजी से कहा ही होगा।

'सकल सराहत...'—श्रीभरतजी ने सब छोड़कर एक श्रीराम-स्नेह ही को ग्रहण किया है; यथा—"तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू । धरे देह जनु राम-सनेहू ।।" (मा० अ० २०७); यह सर्वज्ञ भरद्वाजजी ने तीर्थराज में कहा है, तथा—"साधन सिद्धि राम पद नेहू । मोहिं लखि परत भरत मत एहू ।।" (मा० अ० २८८); यह सिद्ध ज्ञानी श्रीजनकजी का वचन है। तथा इसी प्रसंग पर लिखा है, यथा—"मातु सचिव गुरु पुर नर नारी । सकल सनेह बिकल भए भारी ।। भरतहि कहहिं सराहि सराही । राम प्रेम मूरति तनु आही ।।" (मा० अ० १८३), यही जगत् में जन्म लेने का फल एवं लाभ है, यथा—"पावन प्रेम राम चरन जनम लाभ परम ।" (वि० १३१), तथा-"मति रामहिं सों, गति रामहिं सों, रति राम सों, रामहि को बल है। सबकी न कहै तुलसी के मते इतनो जग जीवन को फल है ।।" (क० उ० ३७), तथा क० उ० ३३,३८ में यही कहा गया है। एवं-"धन्य भरत जीवन जग माहीं । सील सनेह सराहत जाहीं ।।" (मा० अ० १८४)।

'जानहिं सिय-रघुनाथ भरत को...'; यथा—"कबि कुल अगम भरत गुन गाथा । को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा ।।" (मा० अ० २३२)—यह देवताओं ने कहा है। तथा-"भरत सुभाउ न सुगम निगमहू ।" (मा०अ० २०३)।

'कै तुलसी जाको...'—श्रीरामनाम के उल्टे जप से वाल्मीकिजी ने श्री-

रामचरित के साथ कुछ श्रीभरतचरित भी लिखा है। फिर उन्होंने ही तुलसी रूप से सीधे रामनाम की आराधना से श्रीरामचरित के साथ श्रीभरतचरित का विशेष रीति से चित्रण किया है। अयोध्याकांड की रचना श्रीगोस्वामीजी ने विशेष नियमबद्ध-सी की है और पूर्ण सफल भी हुए हैं, क्योंकि यहाँ पर कहा हुआ रामनाम के प्रति प्रेम-नेम इन्हीं का निबहा है; यथा—"मारुति मन रुचि भरत की लखि लखन कही है। कलि कालहुँ नाथ नाम सों परतीति-प्रीति एक किंकर की निबही है। सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है॥" (वि० २७९)। अतः, इन्होंने यथार्थ भरतचरित लिखा है। श्रीगोस्वामीजी का श्रीमुख भी कथन है; यथा—"राम नाम को प्रभाउ, पाउ महिमा प्रताप, तुलसी से जग मानियत महामुनी सो॥" (क०उ० ७२); अर्थात् श्रीरामनाम-निष्ठा सेही आपने यह महत्त्व पाया है।

इन प्रमाणों से 'कै तुलसी···' इस पद का यों भी अर्थ लिया जा सकता है कि श्रीभरतजी के महान् शील और राम-स्नेह को एकमात्र श्रीसीतारामजी ही जानते हैं और या तो तुलसी जानता है, जिसका रामनाम से नेम-प्रेम निबह गया है। इसमें 'नाम-वैभव-कथन' है, आत्म-श्लाघा नहीं।

[६५]

भाई हौं अवध कहा रहि लैहौं।
राम-लखन-सिय-चरन बिलोकन कालि काननहि जैहौं॥१॥
जद्यपि मोते, कै कुमातु ते, ह्वै आई अति पोची।
सनमुख गये सरन राखहिंगे रघुपति परम सँकोची॥२॥
तुलसी यों कहि चले भोरही, लोग बिकल सँग लागे।
जनु बन जरत देखि दारुन दव निकसि बिहँग मृग भागे॥३॥

अर्थ—[श्रीअवधवासियों से श्रीभरतजी कहते हैं—] हे भाई! मैं श्री-अयोध्याजी में रहकर क्या लूँगा? मैं तो श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्री-सीताजी के चरण देखने के लिये कल ही वन को जाऊँगा॥१॥ यद्यपि मुझसे अथवा मेरी कुत्सित माता से अत्यन्त बुराई हो गई है; तथापि सम्मुख (शरण) जाने पर मुझे (श्रीरामजी) अपनी शरण में रक्खेंगे; क्योंकि श्रीरघुनाथजी परम सँकोची स्वभाववाले हैं॥२॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इस प्रकार कहकर

श्रीभरतजी प्रातःकाल होते ही (श्रीचित्रकूट को) चल दिये और व्याकुल श्री-अवधवासी लोग भी साथ लग गये, मानो भयंकर वनाग्नि से जलते हुए वन को देखकर उससे निकल कर वन के पक्षी और मृग भागे हों ।।३।।

विशेष—'भाई ! हौं···राम-लखन-सिय-चरन···'—'भाई' कहकर श्री-अवधवासियों को अपने अनुकूल करते हैं, क्योंकि इनकी सहायता लेते हुए मनाना है; यथा—"ए सेवक संतत अनन्यगति, ज्यों चातकहि एक गति घन की । यह बिचारि गवनहु पुनीत पुर, हरहु दुसह आरति परिजन की ।।" (पद ७१); अवध में रहकर क्या लूँगा ? इसका भाव उपर्युक्त पद ६४ के प्रथम चरण में लिखा गया है । श्रीलक्ष्मणजी श्रीभरतजी से छोटे हैं, फिर भी उनको श्रीराम-परिकर रूप में उन्हीं का अंग मानकर उनके भी चरण देखने की बात कही है; यथा—"सोक समाज राज केहि लेखे । लखन-राम-सिय बिनु पद देखे ।।" (मा० अ० १७७)। भगवान् को निष्ठा उनके भक्तों की निष्ठा के साथ ही होती है; यथा—"अर्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान्नार्चयन्ति ये । न ते विष्णुप्रसादस्य भाजना दांभिका जनाः ।।" (स्मृतिवचन-हरिदास); अर्थात् भक्तनिष्ठा बिना हरिभक्ति दम्भ कही गई है ।

'जद्यपि मोंते कै···'; यथा—"जद्यपि मैं अनभल अपराधी । भै मोहिं कारन सकल उपाधी ।। तदपि सरन सनमुख मोहिं देखी । छमि सब करिहहिं कृपा बिसेखी ।।" "जद्यपि जनम कुमातु तें, मैं सठ सदा सदोस । आपन जानि न त्यागिहहिं, मोहिं रघुबीर भरोस ।।" (मा० अ० १८२-१८३); परम संकोची स्वभाव से मेरी प्रार्थना पर मेरा आदर ही करेंगे, तिरस्कार न करेंगे । श्रीमुख वचन है; यथा—"सनमुख होइ जीव मोहिं जबहीं । जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं ।।" (मा० सुं० ४३) । तथा—"केवट, खग, सबरि सहज चरन कमल न रत । सनमुख तोहिं होत नाथ ! कुतरु सुफर फरत ।।" (वि० १३४); "सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा । बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा ।।" (मा० सुं० ३८)।

'लोग विकल सँग लागे । जनु बन जरत···'—लोग तो श्रीराम-विरह में व्याकुल थे ही, श्रीराम-दर्शन का यह उत्तम संयोग देख कर सभी साथ हो लिये; यथा—"चक्क चक्कि जिमि पुर नरनारी । चहत प्रात उर आरत भारी ।।··· नगर लोग सब सजि-सजि जाना । चित्रकूट कहँ कीन्ह पयाना ।।" (मा० अ०

१८६)। तथा—"चलत राम सब लोग अनाथा। बिकल लोग सब लागे साथा॥...नगर सफल बन गहवर भारी। खग मृग बिपुल सकल नरनारी॥ बिधि कैकई किरातिनि कीन्हीं। जेहि दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्हीं॥ सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी॥" (मा० अ० ८३)।

यहाँ 'उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा-अलङ्कार' है।

[६६]

सुक सों गहवर हिय कहै सारो।
बीर कीर! सिय-राम-लखन बिनु लागत जग अँधियारो ॥१॥
पापिनि चेरि अयानि रानि नृप हित अनहित न बिचारो।
कुलगुरु सचिव साधु सोचत बिधि को न बसाइ उजारो ॥२॥
अवलोके न चलत भरि लोचन नगर कोलाहल भारो।
सुने न बचन करुनाकर के जब पुर परिवार सँभारो ॥३॥
भैया भरत भावते के सँग बन सब लोग सिधारो।
हम पर पाइ पींजरन तरसत अधिक अभाग हमारो ॥४॥
सुनि खग कहत अंब मौंगी रहि समुझि प्रेम पथ न्यारो।
गए ते प्रभुहि पहुँचाय फिरे पुनि करत करम गुन गारो ॥५॥
जीवन जग जानकी-लखन को मरन महीप सँवारो।
'तुलसी' और प्रीति की चरचा करत कहा कछु चारो ॥६॥

शब्दार्थ—सारो=शारिका, मैना। वीर=भाई, भ्राता। मौंगी रहि=चुपचाप रह, मौन हो रह। गारो [सं० गौरव, प्रा० गारव]=१ गर्व, घमंड, अहंकार। २ महत्त्व का भाव, बड़प्पन, मान।

अर्थ—उस समय एक मैना (पक्षी) हृदय से व्याकुल होकर एक तोते से कहने लगी। भैया कीर! श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी के बिना तो मुझे सारा संसार अंधकारमय जान पड़ता है॥१॥ दासी मंथरा बड़ी पापिनी है, रानी कैकेयी बड़ी भारी मूर्खा है और फिर महाराजा दशरथ ने भी अपने हित-अनहित का विचार नहीं किया (इसी से इतना अनर्थ हो गया)। अब कुलगुरु श्रीवसिष्ठजी, मन्त्रिमंडल और साधु लोग सोच रहे हैं कि 'विधाता ने किसे बसा कर नहीं उजाड़ा?' अर्थात् वह सभी को बसा कर उजाड़ता है॥२॥

मैंने तो वन जाते समय उन्हें आँख भर देखा भी नहीं और जिस समय उन करुणा-निधान श्रीरघुनाथजी ने अपने नगर तथा परिवार के लोगों की सँभाल की थी, मैं उस समय के उनके वचन भी नहीं सुन पाई; क्योंकि नगर में भारी कोलाहल था ॥३॥ इस समय प्यारे भैया श्रीभरतजी के साथ सब लोग वन को जा रहे हैं और हम पक्ष पाकर भी पीजड़ों में तरस रहे हैं। अतः सबसे अधिक अभाग्य तो हमारा ही है ॥४॥ यह सुन कर वह पक्षी (तोता) कहने लगा—अरी मैया ! प्रेम का मार्ग इससे भिन्न ही है, ऐसा समझ कर चुपचाप रह। देख तो, जो उनके साथ गये थे, वे प्रभु श्रीरामजी को वन में पहुँचा कर लौट आये, अब कर्म के गुणों का गौरव (सिद्ध) कर रहे हैं; अर्थात् कह रहे हैं कि कर्म के अधीन ही जीवन है; अन्यथा हम लोग विरह में न जीते ॥५॥ इस समय संसार में जीवन तो श्रीजानकीजी और श्रीलक्ष्मणजी का ही (उत्तम) है और मरण की व्यवस्था महाराज श्रीदशरथजी ने सुधारा है। और कोई जो प्रीति की चर्चा कर रहे हैं (किया करें) क्या उन पर कुछ मेरा वश है ? भाव यह कि और किसी को तो प्रीति की चर्चा भी नहीं करनी चाहिये; क्योंकि सत्य प्रीति होती तो साथ रहते; अन्यथा वियोग पर प्राण छोड़ देते ॥६॥

विशेष—'सुक सों···'—मैना का हृदय व्याकुल हो उठा है; क्योंकि स्त्री में हृदय की प्रधानता होती है। शुक पुरुष है, इससे मस्तिष्क प्रधानता से इसने समझाया है। इस मैना की दृष्टि श्रीरामजी के साथ चली गई है, इससे इसे सारा जगत् अन्धकारमय दीख रहा है; यथा—"न त्वां पश्यामि कौसल्ये साधु मां पाणिना स्पृश। रामं मेऽनुगता दृष्टिरद्यापि न निवर्तते ॥" (वाल्मी० २।४२।३४); अर्थात् श्रीराम-वन गमन पर राजा दशरथ ने श्रीकौसल्याजी से कहा है कि मैं तुमको नहीं देख रहा हूँ, तुम ठीक से मुझे छुओ, मेरी दृष्टि श्रीरामजी के साथ चली गई, वह अभी भी नहीं लौटी।

'पापिनि चेरि···'—श्रीरामजी का वन देना पाप है, उसका मूल मंथरा है, इससे यही पापिनि है। इस पर कैकेयीजी बिना विचारे आरूढ़ हो गईं इससे वह अज्ञानी कही गईं और राजा ने भी हित-अनहित नहीं देखा, यह उनका दोष है; यथा—"बड़ कुघात करि पातकिनि, कहेसि कोप गृह जाहु। काज सँवारेहु सजग सब, सहसा जनि पतिआहु ॥" (मा० अ० २२); "रानी

मैं ज्ञानी अज्ञानी महा, पवि-पाहनहू ते कठोर हियो है। राजहु काज-अकाज न जान्यो। कह्यो तिय को जिन कान कान कियो है ॥" (कवित्त० अयो० २०)

'कुल गुरु सचिव साधु सोचत···'—सहसा ऐसी दुर्घटना हो गई, क्षण भर में कैकेयी की मति विरुद्ध हो गई, गुरुजी एवं मन्त्रीगण तथा साधु वर्ग कुछ न कर सके, इससे यह कृत्य विधाता का कहा गया है; यथा—"यदचिन्त्यं तु तद्दैवं भूतेष्वपि न हन्यते। व्यक्तं मयि च तस्यां च पतितो हि विपर्ययः॥२०॥ कश्च दैवेन सौमित्रे योद्धुमुत्सहते पुमान्। यस्य नु ग्रहणं किञ्चित्कर्मणोऽन्यत्र दृश्यते ॥२१॥ सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ। यस्य किञ्चित्तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत् ॥२२॥" (वाल्मी० २।२२); अर्थात् जिसके विषय में कुछ सोचा न जा सके, वह दैव है, उसका प्रभाव सभी प्राणियों पर पड़ता है, कोई उसका निवारण नहीं कर सकता। मेरे और कैकेयीजी के विषय में वह प्रकट हो गया है, उसी ने यह विरोध घटित कर दिया है। हे लक्ष्मण! दैव से कौन पुरुष लड़ सकता है, क्योंकि कर्मफल भोगों के अतिरिक्त उसका ज्ञान तो होता ही नहीं, वह प्रत्यक्ष नहीं है, प्रत्यक्ष है उसके कार्यों का फल भोग। सुख-दुःख भय-क्रोध, लाभ-हानि, उत्पत्ति-विनाश तथा इस प्रकार के और भी अज्ञात हेतुक जो कुछ होते हैं, निश्चय वे ही दैव के कार्य हैं। दैव-रचना संसार है, वह भी प्रलय-लीला के द्वारा दैव ही के द्वारा नष्ट होता है। अतः, वह सभी बने हुए पदार्थों का कभी नाश करता ही है। तथा—"बिधि गति बड़ि बिपरीत बिचित्रा॥ जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बाल केलि सम बिधि मति भोरी॥" (मा० अ० २८१)।

'अवलोके न चलत···'—इसे दर्शन से तृप्ति नहीं हुई, इससे अपने अतृप्त नेत्रों को भरने के लिये लालायित है; यथा—"धन्य बिहँग मृग कानन चारी। सफल जनम भये तुम्हहिं निहारी॥ हम सब धन्य सहित परिवारा। दीख दरस भरि नयन तुम्हारा॥" (मा० अ० १३५)।

'नगर कोलाहल भारो'—यह वाक्य खण्ड दीप देहली न्याय से पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों के साथ है। नगर के लोगों के रुदन का कोलाहल था। सबकी आँखों में आँसू भरे थे, सबकी दशा देखकर इस मैना के भी नेत्र अश्रुपूर्ण हो गये थे, इससे इसने नेत्र भर नहीं देख पाये।

'सुने न वचन करुनाकर के...'—पुरवासियों पर और परिवार के लोगों पर करुणा थी, इससे इन्हें सान्त्वना देने के लिये आपने मधुर वचनों से सबको समझाया है; यथा—"करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहिं पीर पराई॥ कहि सप्रेम मृदु बचन सुहाए। बहु बिधि राम लोग समुझाए॥ किए धरम उपदेस घनेरे।" (मा० अ० ८४)। लोगों के रोने के कोलाहल में उन वचनों को यह नहीं सुन पाई। अतः, इसके श्रवण तरस रहे हैं। यह उक्त वाक्य खण्ड का उत्तरार्द्ध के साथ भाव है।

'भैया भर भावते के संग...'—श्रीभरतजी ने श्रीरामजी को मनाकर लौटा लाने का निश्चय किया है, इससे वे सबके भावते हो गये हैं; यथा—"अवसि चलिय बन राम जहँ, भरत मंत्र भल कीन्ह। सोकसिंधु बूड़त सबहि, तुम्ह अवलंबन दीन्ह॥ भा सबके मन मोद न थोरा। जनु घन धुनि सुनि चातक मोरा॥ चलत प्रात लखि निरनउ नीके। भरत प्रान-प्रिय भे सबही के॥" (मा० अ० १८४)।

'हम पर पाइ पींजरन...'—यद्यपि हम पक्षी हैं, शीघ्र उड़ कर चले जा सकते थे, परन्तु अभाग्य से हम पींजरों में बन्द हैं, इससे हमारा तो अधिक अभाग्य है, हम तरस रहे हैं। 'हमारो' इस पद में बहुवचन के अनुसार यह भी भाव है कि मैं और तुम (तोता) दोनों अधिक अभागी हैं कि बिना पक्ष वाले जा रहे हैं और हम पक्षी होकर न जा पाये।

'सुनि खग कहत...'—प्रेम का मार्ग पृथक् ही है, साथ जाने में प्रेम की बड़ाई नहीं है प्रत्युत् प्रेम का निर्वाह होने में उसकी महत्ता है। इन लोगों ने वहाँ जाकर भी प्रेम-निर्वाह में सफलता नहीं पाई; क्योंकि न साथ ही रह सके और न उनके वियोग में प्राण ही त्याग कर सके, यथा—"राम लखन सिय बनहिं सिधाए। गइउँ न संग न प्रान पठाए॥" (मा० अ० १६५), इसका कारण कर्म-विवशता ही है, यथा—"जतन अनेक साथ हित कीन्हें। उचित उतर रघुनंदन दीन्हें॥ मेटि जाइ नहिं राम रजाई। कठिन करम गति कछु न बसाई॥" (मा० अ० ६८), "जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभ प्रिय-मिलन बियोगा॥ काल करम बस होहिं गोसाईं। बरबस राति-दिवस की नाईं॥" (मा० अ० १४९); कर्म के अनुसार विधाता का शासन

है, तदनुसार ही संसार में सबकी प्रवृत्ति है, यही कर्म के गुणों का गौरव है। लौट कर लोग झींखते हैं और कहते हैं कि क्या करूँ, कर्म-भोग समाप्ति बिना मृत्यु नहीं हो पाती, अन्यथा हम न जीते; तथा—"इतनी कही सो कही सीय ज्यों ही त्यों ही रही, प्रीति परी सही, बिधि सों न बसानि ॥" (सुं० ७); "निंदहिं आपु सराहहिं मीना। धिग जीवन रघुबीर-बिहीना ॥ जो पै प्रिय-बियोग बिधि कीन्हा। तौ कस मरन न माँगे दीन्हा ॥" (मा० अ० ८५)। तात्पर्य यह कि इन लोगों ने भी कर्म-वश होने से प्रीति की मर्यादा को नहीं पाया तो हम लोग यदि कर्म-वश पींजरों में पड़े हैं तो कौन बड़ी बात है ? इस प्रकार समझ कर चुपचाप रहो, प्रेम का मार्ग निराला ही है। जिनको प्रीति-मार्ग में सफलता मिली है, उनका वर्णन आगे करता है—

'जीवन जग जानकी-लखन को…'; यथा—"जीवन लाहु लखन भल पावा। सब तजि राम चरन मन लावा ॥" (मा० अ० १८१)। "जो हठि नाथ राखिहौ सो कहँ तौ सँग प्रान पठवौंगी। तुलसिदास प्रभु बिनु जीवत रहि क्यों फिरि बदन देखावौंगी ॥" (पद ६), यह श्रीजानकीजी का वचन है। पद ९ के 'प्राननाथ के साथ चली…' इसका विशेष भी इस विषय पर देखने योग्य है। 'मरन महीप सँवारो'; यथा—"राम बिरह दसरथ मरन, मुनि मन अगम सु मीचु। तुलसी मंगल मरन तरु, सुचि सनेह जल सींचु ॥ जीवन मरन सुनाम, जैसे दसरथ राय को। जियत खिलाये राम, राम बिरह तनु परिहरेउ ॥" (दोहावली २२०-२२१), तथा—"जिअत राम बिधु बदन निहारा। राम बिरह करि मरन सँवारा ॥" (मा० अ० ५५)।

'और प्रीति की चरचा करत कहा…'—इसी की पुष्टि पर अगला पद कहते हैं—

[६७]

कहै सुक, सुनहि सिखावन, सारो !
बिधि करतब बिपरीत बाम गति, राम-प्रेम-पथ न्यारो ॥१॥
को नर-नारि अवध खग-मृग, जेहि जीवन राम ते प्यारो।
बिद्यमान सबके गवने बन, बदन करम को कारो ॥२॥

अंब अनुज प्रिय सखा सुसेवक देखि बिषाद बिसारो।
पंछी परबस परे पींजरनि लेखो कौन हमारो ॥३॥
रही नृप की, बिगरी है सबकी, अब एक सँवार निहारो।
तुलसी-प्रभु निज चरन-पीठ-मिस भरत-प्रान रखवारो ॥४॥

अर्थ—तोता कहने लगा, अरी मैना! मेरी शिक्षा सुन। विधाता के विपरीत कर्तव्य से यह विषम दशा आ गई है; किन्तु श्रीरामजी के प्रेम का मार्ग तो इससे निराला ही है ॥१॥ भला, श्रीअयोध्याजी में ऐसा कौन पुरुष-स्त्री तथा पशु-पक्षी है जिसे अपना जीवन श्रीरामजी से अधिक प्यारा है? परन्तु सबके रहते हुए (सबके बिना मरे) श्रीरामजी वन को चले गये, इससे तो यह सिद्ध है कि कर्म का मुख काला (कलङ्कित) ही है ॥२॥ श्रीरामजी की माताएँ, छोटे भाइयों, प्यारे सखाओं और उनके अच्छे-अच्छे सेवकों को देखकर अपना दुःख भुला दो (क्योंकि जब इन सबका कर्म पर कुछ वश नहीं चला, कर्माधीन ये जीते ही रह गये हैं तो) हम-तुम तो पक्षी हैं (तिर्यग्योनि के होने से ज्ञान हीन हैं एवं प्रेम के विशेष अधिकारी नहीं हैं) और परवश पींजड़ों में पड़े हुए हैं, (इससे यदि हमसे कर्मवशता में प्रेम पथ का निर्वाह नहीं हो रहा है तो चिन्ता ही क्या?)। हमारी गिनती ही कौन है ॥३॥ एक राजा दशरथ की (बात एवं प्रेम-मर्यादा) रही है (क्योंकि उन्होंने श्रीराम-वियोग में प्राण ही त्याग दिया है) और सबकी बिगड़ गई है। देखो, अब एक सँवार (काम ठीक होने का विधान) बन गया है, जो (श्रीतुलसीदासजी कहते हैं) कि प्रभु श्रीरामजी अपने खड़ाऊँ के व्याज से श्रीभरतजी के प्राणों के रखवाले हो रहे हैं ॥४॥

विशेष—'बिधि करतब···'; यथा—"बिधि बाम की करनी कठिन जेहि मातु कीन्हीं बावरी।" (मा० अ० २००)। पद ६३ के प्रथम और द्वितीय चरण के विशेष भी देखिये।

'राम प्रेम-पथ न्यारो'—ऊपर पद का पाँचवाँ चरण देखिये।

'को नर-नारि अवध खग-मृग···'; यथा—"कोसलपुर बासी नर नारि बृद्ध अरु बाल। प्रानहु ते प्रिय लागत, सब कहँ राम कृपाल॥" (मा० बा० २०४); "हय गय कोटिन्ह केलि मृग, पुरपसु चातक मोर। पिक रथांग सुक-सारिका, सारस हंस चकोर॥ राम बियोग बिकल सब ठाढ़े। जहँ-तहँ मनहुँ

चित्र लिखि काढ़े ॥ नगर सफल बन गहबर भारी। खग मृग बिपुल सकल नर नारी ॥ बिधि कैकयी किरातिनि कीन्हीं। जेहि दव दुसह दसहु दिसि दीन्हीं ॥" (मा० बा० ८३)।

जब श्रीरामजी से अपना जीवन अधिक प्यारा नहीं था, तब तो उनके वियोग में जीवन नहीं रहना चाहता था, परन्तु कोई भी नहीं मरे, सब उपस्थित ही हैं, इसका कारण कर्म-परवशता एवं विधि-अधीनता है; यथा—"हानि-लाभ जीवन मरन, जस अपजस बिधि हाथ।" (मा० अ० १७१)। इससे तो सिद्ध है कि इस प्रेम-मर्याद-अपूर्णता में कलङ्की कर्म ही है, इससे कर्म का मुख काला ही है। उपर्युक्त पद के 'करत करम गुन गारो' इसका विशेष भी देखिये।

'अंब, अनुज, प्रियसखा, सुसेवक···'—'अंब' यथा--"सुनिबे जोग··· सो मेरे नयननि आगे ते···" (पद ६३)—इसका विशेष देखिये।

'अनुज'; यथा —"सुनि बन गवन कीन्ह रघुनाथा। करि मुनि बेष लखन सिय साथा ॥ बिनु पानहिन्ह पयादेहि पाएँ। संकर साखि रहेउँ एहि घाएँ॥" (मा० अ० २६१); अर्थात् कर्म-वश ही वियोग सह कर ये सब जीवित हैं। जब ज्ञान प्रधान मानव शरीर एवं अत्यन्त स्नेह के सम्बन्ध वालों की यह दशा है, कर्म परवशता है, तब हम पक्षियों की कर्मवशता पर क्या सोचना है ? हम तो अत्यन्त परवश पींजरों में पड़े ही हैं।

'रही नृप की, बिगरी है सब की'—राजा ने अपनी बात रख ली है; यथा—"जिअइ मरइ भल भूपति जाना।" (मा० अ० १६५)। सबकी बात बिगड़नी ऊपर लिखी गई है।

'अब एक सँवार···'—खड़ाऊँ देकर उसके द्वारा श्रीरामजी ने श्रीभरतजी के प्राणों की रक्षा की है; यथा—"चरन पीठ करुना-निधान के। जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के ॥ संपुट भरत सनेह रतन के। आखर जुग जनु जीव जतन के ॥ कुल कपाट कर कुसल करम के। बिमल नयन सेवा सुधरम के ॥ भरत मुदित अवलंब लहे ते। अस सुख जस सियराम रहे ते ॥" (मा० अ० ३१५); "तुलसिदास अनुजहि प्रबोधि प्रभु चरन पीठ निज दीन्हें। मनहुँ सबनि के प्रान-पाहरू भरत सीस धरि लीन्हें ॥" (पद ७५)।

भाव यह कि पहले राम-वियोग पर श्रीदशरथजी लोगों के प्राणाधार थे;

यथा—"नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। राम बियोग पयोधि अपारू॥ करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥ धीरज धरिअ त पाइअ पारू। नाहि त बूड़िहि सब परिवारू॥" (मा० अ० १५३); उनके तन-त्याग पर श्रीभरतजी थे; यथा—"परिजन प्रजा सचिव सब अंबा। तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा॥" (मा० अ० १७५)। इन श्रीभरतजी की प्राण रक्षा में सभी की प्राण-रक्षा होगी; अन्यथा विषम-वियोग में कोई न जीता इससे यही सँवार है; क्योंकि खड़ाऊँ की ओट से प्रभु ही सबके योग-क्षेम की, व्यवस्था करते थे; यथा—"अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते। एतेहि सर्व-लोकानां योगक्षेमं विधास्यतः॥" (वाल्मी० २।११२।२१); अर्थात् श्रीभरतजी ने (श्रीवसिष्ठजी की आज्ञा पर) श्रीरामजी से कहा है कि हे आर्य! आप इन दोनों स्वर्णभूषित खड़ाउओं पर आरूढ़ हो मुझे दे दें, इनसे ही सब लोकों का योग-क्षेम होगा।

[६८]

ता दिन सृंगवेर पुर आए।
रामसखा ते समाचार सुनि बारि बिलोचन छाए॥१॥
कुस-साथरी देखि रघुपति की हेतु अपनपौ जानी।
कहत कथा सिय-राम-लखन की बैठेहि रैनि बिहानी॥२॥
भोरहि भरद्वाज आश्रम ह्वै, करि निषादपति आगे।
चले जनु तक्यो तड़ाग तृषित गज घोर घाम के लागे॥३॥
बूझत 'चित्रकूट कहँ' जेहि-तेहि, मुनि बालकनि बतायो।
तुलसी मनहुँ फनिक मनि ढूँढ़त, निरखि हरषि हिय धायो॥४॥

अर्थ—उस दिन श्रीभरतजी शृङ्गवेर पुर पहुँचे। वहाँ श्रीरामजी के सखा गुह से प्रभु के समाचार सुनकर श्रीभरतजी के नेत्रों में आँसू भर आये॥१॥ श्रीरघुनाथजी की कुश साथरी देखकर और उनके उस दुःख में अपने को ही कारण समझकर श्रीरामजी, श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी की कथा कहते हुए बैठे-बैठे ही सारी रात बीत गई॥२॥ प्रातःकाल होते ही श्रीनिषादराज को आगे करके श्रीभरद्वाजजी के आश्रम हो (वहाँ एक रात निवास कर) वे इस प्रकार चले मानों घोर धूप के लगने पर प्यास से आतुर हाथी तड़ाग की ओर

तक कर चला हो ॥३॥ जिससे-तिससे पूछते हैं कि श्रीचित्रकूट गिरि कहाँ है ? तब मुनियों के बालकों ने बतलाया । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (देखकर) वे इस प्रकार हर्षित हृदय से दौड़े, मानों मणि ढूँढ़ता हुआ सर्प अपनी मणि को देखकर हर्षित हृदय से दौड़ा हो ॥४॥

विशेष—'राम सखा ते समाचार सुनि…'—श्रीराम-लक्ष्मण आदि जिस प्रकार शृङ्गवेर पुर में आये, वहाँ निवास किये और फिर जिस प्रकार वे श्रीचित्रकूट तक गये हैं, ये सब समाचार गुह ने सुनाये । प्रभु के वनवास की दुःखमय चर्चाओं को सुनकर उनके नेत्र आँसुओं से भर गये ।

'कुस-साथरी देखि…कहत कथा…'; यथा–"कुस साथरी निहारि सुहाई। कीन्ह प्रनाम प्रदच्छिन जाई ॥" से "धिग कैकई अमंगल मूला । भइसि प्रान प्रियतम प्रतिकूला ॥ मैं धिग-धिग अघ उदधि अभागी । सब उतपात भयेउ जेहि लागी ॥" (मा० अ० २००) तक ।

इसके अंतर्गत श्रीसीता राम-लक्ष्मण के अत्यन्त सुकुमार शरीरों से वन-दुःख-सहन करने की कथाएँ आ गई हैं, इसी प्रकार की कथाओं में सारी रात बीत गई । सोच करते हुए बैठे ही बैठे रात बीत गई ।

'भोरहि भरद्वाज आश्रम ह्वै…'—जब निषादराज से सुना कि प्रभु श्रीभरद्वाजाश्रम होकर गये हैं, तब प्रातःकाल ही उसी मार्ग होकर चले। विरह-अवस्था में मुनि की पहुनाई से बड़ा दुःख हुआ; यथा—"सुनि मुनि बचन भरत हिय सोचू । भयउ कुअवसर कठिन सकोचू ॥" से "संपति चकई भरत चक, मुनि आयसु खेलवार । तेहि निसि आश्रम पिंजरा, राखे भा भिनुसार ॥" (मा० अ० २१२–२१५) तक ।

उस भाव को उत्तरार्द्ध के 'घोर घाम के लागे' इस वाक्य से प्रकट किया गया है । यद्यपि श्रीभरद्वाजजी इनके वैराग्य का यश प्रकट करने के लिये ही एवं अपनी सिद्धियों को महाभागवत की सेवा में लगाने के लिये ही वैसा किया था, तथापि श्रीभरतजी को यह नहीं रुचा, इन्होंने सोचा कि शिष्य भरद्वाजजी ने ऐसा स्वागत किया है तो इनके गुरु श्रीवाल्मीकिजी न जाने क्या करें ? इससे वहाँ गये ही नहीं, सीधे श्रीचित्रकूट ही चले; यथा—"चले चित्रकूटहि चित दीन्हें ॥" (मा० अ० २१५); 'करि निषादपति आगे'; यथा—"कियेउ

निषादनाथ अगुआई ॥'' (मा० अ० २०२)। प्रभु-दर्शनार्थ तृषित हैं। अतः, रूप ही जल है। श्रीचित्रकूट तड़ाग है।

'बूझत'' जेहि-तेहि'''; यथा—''मिलहिं किरात कोल बनवासी। बैखानस बटु जती उदासी॥ करि प्रनाम पूछहिं जेहि तेही। केहि बन लखन राम बैदेही॥ ते प्रभु-समाचार सब कहहीं।'' (मा० अ० २२३)।

'मनहुँ फनिक मनि ढूँढ़त'''—यहाँ भरतजी साँप और प्रभु मणि हैं; तथा—''देखे भरत'''सानुज सखा समेत मगन मन। बिसरे हरष सोक सुख दुख गन॥ पाहि नाथ कहि पाहि गोसाइँ। भूतल परे लकुट की नाईं॥'' (मा० अ० २३४-२३५)।

तृतीय और चतुर्थ चरणों में 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा-अलंकार' है।

श्रीभरत-राम-मिलाप

राग केदारा

[६९]

बिलोके दूरि ते दोउ बीर।
उर आयत आजानु सुभग भुज स्यामल गौर सरीर॥१॥
सीस जटा सरसीरुह लोचन बने परिधन मुनि चीर।
निकट निषंग संग सिय सोभित करनि धुनत धनु तीर॥२॥
मन अगहुड़ तन पुलकि सिथिल भयो नलिन नयन भरे नीर।
गड़त गोड़ मानो सकुच पंक महँ कढ़त प्रेम बल धीर॥३॥
तुलसिदास दसा देखि भरत की उठि धाये अतिहि अधीर।
लिये उठाइ उर लाइ कृपानिधि बिरह जनित हरि पीर॥४॥

शब्दार्थ—वीर = भाई—हिं० श० सा०। धुनत = क्रीड़ावश धनुष की डोरी पर बाण मारते हैं। गोड़ = चरण।

अर्थ—श्रीभरतजी ने दोनों भाइयों (श्रीराम-लक्ष्मण) को दूर से ही देखा। उनके वक्षःस्थल विशाल (चौड़े) हैं, सुन्दर भुजाएँ जानु पर्यन्त लम्बी हैं और दोनों के श्याम तथा गौर शरीर हैं॥१॥ उनके शिरों पर जटाएँ हैं, कमल के समान नेत्र सुशोभित हैं और मुनिवस्त्र (वल्कल आदि) धोती आदि के रूप में

धारण किये हुए सुशोभित हैं तथा उनके पास ही तरकस रक्खे हुए हैं। उनके साथ में श्रीसीताजी शोभायमान हैं। वे हाथों से क्रीड़ावश धनुष की डोरी पर बाण मार रहे हैं ॥२॥ श्रीरामजी को देखकर श्रीभरतजी का मन तो आगे बढ़ने के लिये उत्सुक है, परन्तु प्रेम की पुलकावली से उनका शरीर शिथिल हो रहा है और उनके कमलवत नेत्र प्रेमाश्रुओं से भरे हुए हैं। उनके चरण मानो सङ्कोच रूपी कीचड़ में गड़े जाते हैं, फिर भी प्रेम बल से धैर्य धारण करने पर वे चरण उस कीचड़ से निकल आते हैं ॥३॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्री भरतजी की दशा देख कर कृपानिधान प्रभु श्रीरामजी अत्यन्त अधीर होकर उठ धाये, उन्होंने श्रीभरतजी को उठा लिया और फिर हृदय से लगा लिया, इस प्रकार इनकी अपने विरह से उत्पन्न पीड़ा दूर कर दी ॥४॥

विशेष—'बिलोके दूरि ते...करनि धुनत धनु तीर।'; यथा–"देखे भरत लखन प्रभु आगे।...सीस जटा कटि मुनिपट बाँधे।...बेदी पर मुनि साधु समाजू। सीय सहित राजत रघुराजू॥ ...कर कमलनि धनुसायक फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥" (मा० अ० २३४)।

'मन अगहुड़...गड़त गोड़ मानो सकुच पंक महँ...'; यथा–"सकुच सनेह सिथिल सब गाता॥ फेरति मनहुँ मातु कृत खोरी। चलत भगति बल धीरज धोरी॥ जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥ भरत दसा तेहि अवसर कैसी। जल प्रबाह जल अलि गति जैसी॥" (मा० अ० २३३); 'कढ़त प्रेम बल धीर'—श्रीरामजी प्रेम के वश हैं, वे अपने भक्त के अवगुण देखते ही नहीं, यह समझने पर संकोच दूर हो जाता है; यथा— "जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥ मोरे जिय भरोस दृढ़ सोई।" (मा० उ० १)।

'दसा देखि भरत की उठि धाये अतिहि अधीर।...'; यथा—"उठे राम सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥ बरबस लिये उठाइ उर, लाये कृपानिधान।" (मा० अ० २३९-२४०)।

कृपापूर्ण हृदय से मिलने पर विरह-व्यथा दूर हो गई। शकुन फल में निषादराज ने कहा ही था—"मिटिहि सोच होइहि हरष..." (मा० अ० २३४)

[७०]

भरत भए ठाढ़े कर जोरि।
ह्वै न सकत सामुहें सकुच-बस समुझि मातुकृत खोरि ॥१॥
फिरिहैं किधौं फिरन कहिहैं प्रभु कलपि कुटिलता मोरि।
हृदय सोच, जल भरे बिलोचन, नेह देह भइ भोरि ॥२॥
बनबासी, पुरलोग, महामुनि किए हैं काठ के-से कोरि।
दै दै श्रवन सुनिबे को जहँ-तहँ रहे प्रेम मन बोरि ॥३॥
तुलसी राम-सुभाव सुमिरि, उर धरि धीरजहि बहोरि।
बोले बचन बिनीत उचित हित करुना-रसहि निचोरि ॥४॥

अर्थ—श्रीभरतजी हाथ जोड़ कर खड़े हो गये। वे अपनी माता की की हुई बुराई को समझ कर सङ्कोचवश प्रभु के समक्ष हो नहीं सकते, (सामने नेत्र नहीं कर सकते) ॥१॥ उनके नेत्रों में जल भरा है, स्नेह से देह की सुधि भूली हुई है, वे हृदय में सोचते हैं—'न जाने प्रभु फिरेंगे या मेरी कुटिलाई का स्मरण कर मुझे ही लौट जाने को कहेंगे ?' ॥२॥ (श्रीभरतजी ने अपनी मुद्रा से) वनवासी, अवधपुरवासी और महामुनि—इन सबको काठ के गढ़ कर बनाए हुए-से कर दिया है। वे सब जहाँ-तहाँ प्रेम में मन को डुबा कर कान दे-देकर सुनने के लिये स्थिर हो रहे हैं (कि देखें, भरतजी किस प्रकार क्या कहते हैं ?) ॥३॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीभरतजी ने श्रीरामजी के स्वभाव का स्मरण कर और फिर हृदय में धैर्य धारण कर करुणा रस में डुबा कर बड़ी नम्रता से उचित और हितकर वचन कहा ॥४॥

विशेष—'ह्वै न सकत सामुहे…'—मेरी माता ने मेरे ही निमित्त श्रीरामजी का राज्य छीना है और इन्हें वनवास दिया है; यथा—"सुनत राम बन गौन। हेतु अपनपौ जानि जिय, थकित रहे धरि मौन ॥" (मा० अ० १६०); एवं "राम बिरोधी हृदय ते, प्रगट कीन्ह बिधि मोहिं। मो समान को पातकी, बादि कहउँ कछु तोहिं ॥" (मा० अ० १६२); मेरे निमित्त माता की ऐसी रुचि हुई। अतएव मेरा पूर्व कर्म कृतसम्बन्ध है, इससे मैं भी माता के पाप में भागी हूँ। ऐसा विचार कर लज्जित हैं, इससे सामने नहीं हो सकते।

'फिरिहैं किधौं…'—श्रीरामजी जन-अवगुन नहीं मानते, इसमें विशेष

दृढ़ता है, इससे पहले 'फिरिहैं' कहा है। यदि मातुकृत खोरि का स्मरण करेंगे तो उस कुटिलता पर मुझे तुरत लौटा देंगे; यथा—"समुझि मातु करतब सकुचाहीं। करत कुतरक कोटि मनमाहीं। राम लखन सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ॥ मातु मते महँ मानि मोहिं, जो कछु कहहिं सो थोर। अघ अवगुन छमि आदरहिं, समुझि आपनी ओर॥···अस मन गुनत चले मग जाता। सकुच सनेह सिथिल सब गाता॥" (मा० अ० २३३)।

'बन बासी पुर लोग···'—श्रीभरतजी की निष्ठा सुन एवं देख चुके हैं और इस समय की भी उनकी स्नेह-दशा देख रहे हैं, इससे सब इनके वचन सुनने के लिये स्तब्ध हो रहे हैं। इनका भाषण प्रेममय होगा यह विचार कर सब अपने मन प्रेम में डुबा कर सुनने के लिये उत्सुक हैं। तथा—"किमेष वाक्यं भरतोऽद्य राघवं प्रणम्य सत्कृत्य च साधु वक्ष्यति। इतीव तस्यार्यजनस्य तत्त्वतो बभूव कौतूहलमुत्तमं तदा॥" (वाल्मी० २।१०४।३१)। अर्थात् यह भरत श्रीरामजी को प्रणाम कर, तथा उनका सत्कार कर क्या कहेंगे, यही कौतुक उस एकत्र हुई समस्त जनता के मन में उत्पन्न हो रहा था।

'राम सुभाउ सुमिरि उर···'—राम स्वभाव स्मरण कर हृदय में धैर्य धारण किया; यथा—"मन अगहुड़···कढ़त प्रेम बल धीर" (पद ६९)—इसका विशेष देखिये।

'बोले बचन···'—वचन विनीत हैं, उचित (कहने योग्य) हैं और उनमें अपना तथा सबका हित सन्निहित है एवं करुण रस के निचोड़ हैं अर्थात् अत्यन्त आर्त्त होकर दीनतापूर्वक कहे जा रहे हैं—

[७१]

जानत हौ सब ही के मन की।
तदपि कृपालु! करौं बिनती सोइ, सादर सुनहु दीन हित जन की॥१॥
ए सेवक संतत अनन्य अति, ज्यों चातकहिं एक गति घन की।
यह बिचारि गवनहु पुनीत पुर, हरहु दुसह आरति परिजन की॥२॥
मेरो पुनि जीवन जानिय ऐसोइ, जिय जैसो अहि जासु गई मनि फन की।
मेटहु कुल कलंक कोसलपति, आज्ञा देहु नाथ मोहिं बन की॥३॥

मोको जोइ-जोइ लाइये लागइ सोइ-सोइ, जौं उतपति कुमातु ते या तन की।
'तुलसिदास' सब दोष दूरि करि प्रभु अब लाज करहु निज पन की ॥४॥

अर्थ—हे कृपालो ! यद्यपि आप सभी के मन की बात जानते हैं; तथापि मैं वही प्रार्थना करता हूँ। हे दीन-हितकारी ! मुझ जन की यह प्रार्थना आदर पूर्वक सुनिये ॥१॥ ये श्रीअवधवासी सब आपके निरन्तर अत्यन्त अनन्य गतिक सेवक हैं, जैसे पपीहे को एकमात्र मेघ का आश्रय रहता है। ऐसा विचार कर आप पवित्र (श्री अवध) पुर में पधारिये, इससे अपने परिजनों की दुस्सह विपत्ति का हरण कीजिये ॥२॥ मेरा जीवन भी आप अपने हृदय में इसी प्रकार जानिये, जैसे कोई साँप जीता हो, जिसके फण की मणि चली गई हो। हे कोसलपति ! (सुयोग्य बड़े भाई के रहते हुए छोटे भाई को राज्य दिये जाने के रूप में होने वाले) इस कुल (रघुकुल) के कलङ्क को मिटा दीजिये (प्रतिज्ञा पालन में) अपने बदले में हे नाथ ! मुझे वन जाने की आज्ञा दीजिये ॥३॥ मुझको तो जो-जो भी दोष लगाये जायँ; वही-वही लग सकते हैं। जो कि (क्योंकि) मेरे इस शरीर की उत्पत्ति कुमाता (कैकेयी) से हुई है। फिर भी, हे प्रभो ! आप मेरे सारे दोषों को दूर कर अब अपने (शरणागत पालकत्व रूप) विरुद की लज्जा रखिये ॥४॥

विशेष—'जानत हौं……तदपि……'—जिस बात को आप जानते हैं, उसी के लिये मैं प्रार्थना करूँगा; ऐसा कहने में 'गोप्तृत्व वरण' रूप शरणागति का भाव है। यद्यपि प्रभु सर्वज्ञ हैं तथापि आश्रित के वर माँगने एवं रक्षणार्थ प्रार्थना करने पर वे इसके मनोरथ पूर्ण करते हैं। 'कृपालु' और 'दीन-हित' सम्बोधन अपने प्रयोजन के अनुकूल दिये गये हैं कि कृपालुता से मेरे दोष न गिने जायँ और मुझे दीन जान कर मेरा हित करें। आगे अपना प्रयोजन कहते हैं—

'ए सेवक संतत अनन्य अति…'—इन अवधवासियों के एक आप ही आश्रय हैं, इनका दूसरे स्वामी से तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। यथा—"सब बिधि सब पुरलोग सुखारी। रामचंद्र मुखचंद्र निहारी॥" (मा० अ० १); "कोसलपुर बासी नर नारि बृद्ध अरु बाल। प्रानहु ते प्रिय लागत, सब कहँ रामकृपाल॥" (मा० अ० २०४); अनन्य अति; यथा—"मन क्रम बचन राम

पद सेवक । सपनेहु आन भरोस न देवक ॥" (मा० अर० ६)। यही बात उपमा से स्पष्ट करते हैं--

'ज्यों चातकहि एक गति घन की', यथा—"एक भरोसो, एक बल, एक आस विस्वास । एक राम-घनस्याम हित, चातक तुलसीदास ॥" से "एक अंग जो सनेहता, निसिदिन चातक नेह । तुलसी जासों हित लगै, वहि अहार, वहि देह ॥" (दोहावली २७७-३१२) तक । ऐसे भक्तों का पोषण करना ही उत्तम स्वामियों का धर्म है; यथा—"सेवक सुत पति मातु भरोसे । रहै असोच बनै प्रभु पोसे ॥" (मा० कि० २); तथा—"रामहिं सेवक परम पियारा ॥" (मा० अ० २१८); "तिन्ह ते पुनि मोहिं प्रिय निज दासा । जेहि गति मोरि न दूसरि आसा ॥ पुनि-पुनि सत्य कहौं तोहि पाहीं । मोहिं सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं ॥" (मा० उ० ८५) । यहाँ 'अनन्य अति' कह फिर 'ज्यों चातकहि एक गति घन की' ऐसा कह कर अनन्यगति सेवक के भाव प्रगट किये गये हैं ।

ऐसे सेवक जिस अवध पुर के हैं, वह परम पुनीत भी है । अतः, उसे भी सुशोभित कर उसके पुण्य का आदर कीजिये । तथा—"पावन पुरी रुचिर यह देसा ॥......अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ ।......अति प्रिय मोहिं इहाँ के बासी । मम धामदा पुरी सुखरासी ॥" (मा० उ० ३) ।

इन सब प्रमाणों के अनुसार श्रीभरतजी ने अपनी अपेक्षा सेवकों पर प्रभु का ममत्व एवं प्यार अधिक मानकर इनके लिये लौटने की प्रार्थना प्रथम की है । श्रीकौसल्याजी ने भी इसी हेतु को प्रधान कह कर लौटने का अनुरोध किया है; यथा—"अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना । तुम्ह करुनाकर धरम-धुरीना ॥ अस बिचारि सोइ करहु उपाई । सबहिं जियत जेहि भेंटहु आई ॥", "बेगि प्रजा दुख मेटब आई ।" (मा० अ० ५६,५७); इस नियम की पुष्टि में श्रीमुख वचन भी हैं; यथा—"तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई । मुख पर केहि बिधि करउँ बड़ाई ॥......अनुज राज संपति बैदेही । देह गेह परिवार सनेही ॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना ॥ मृषा न कहहुँ मोर यह बाना ॥ सबके प्रिय सेवक यह नीती । मोरे अधिक दास पर प्रीती ॥" (मा० उ० १५) । इसीसे यहाँ परिजनों को भी अनन्य गतिक सेवक कह कर उनकी आर्त्ति का हरण करने की प्रार्थना की है ।

'मेरो जीवन जानिय····'— साँप के जीवन का आधार उसके फण में रहनेवाली मणि है; यथा—"मनि लिये फनि जियै ब्याकुल बेहाल रे।" (वि० ६७)। "जथा पंख बिनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करिवर कर हीना॥" (मा० लं० ६०)। 'फन की' ऐसा कहने का भाव यह कि मणि सर्प शिरोभाग रूप फण पर रहती है, तभी वह सुखी रहता है; यथा—"फनिकन्हि जनु सिर-मनि उर गोई॥" (मा० बा० ३५७), उसी प्रकार आप मेरे शिर में अर्थात् स्वामी रूप में रहें तभी मेरा जीवन सुखमय हो सकेगा। सर्प अपने फण की मणि के प्रकाश में सभी काम करता है, उसके बिना वह अन्धा हो जाता है। वैसे ही मैं आपके स्वामी रूप में साथ रहने पर सब कुछ कर सकता हूँ, अन्यथा मुझे कुछ नहीं सूझेगा। यही आगे हुआ भी है। खड़ाऊँ को स्वामी रूप पाकर उनके ही प्रकाश में (आश्रित रह कर) इन्होंने चौदह वर्ष सभी राज्य कार्य किया है, पीछे साक्षात् श्रीरामजी के राजा होकर स्वामित्व करने पर भी श्रीभरतजी ने प्रजा-पालन का कार्य किया है (भाव यह कि आपके बिना मैं कुछ नहीं कर सकता, आपके आश्रित रहने पर ही मुझमें कुछ भी कार्यक्षमता है। आपके बिना मैं ब्याकुल और बिहाल होकर जी रहा हूँ।

'मेटहु कुल कलंक कोसल पति···'— रघुकुल की सुहावनी रीति यही है कि ज्येष्ठ स्वामी और छोटा भाई उसका सेवक होकर रहे; यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥" (मा० अ० १५); "जेहि पितु देइ सो पावै टीका॥" (मा० अ० १७४)—यह रीति तो है, पर सुहावनी नहीं है और फिर यहाँ तो पिता ने इसी अनरीति के राज्य दातृत्व पर प्राण ही छोड़ दिया है, इस रुधिर सने राज्य के प्रति तो कहना ही क्या है? यह तो इस कुल में कलंक रूप है ही। राजा दशरथ ने स्त्री कैकेयी के वश होकर ऐसा किया है, यह उन पर कलंक है, उनका कलंक भी कुल-कलंक ही है। यदि आप लौट चलेंगे तो यह कलंक दूर हो जायगा; अन्यथा आपका वनवास रहने पर यह कलंक नित्य कहने-सुनने में आता रहेगा। अतः, बना रहेगा; यथा—"साध्वर्थमभिसंधाय क्रोधान्मोहाच्च साहसात्। तातस्य यदतिक्रान्तं प्रत्याहरतु तद्भवान् ॥१४॥ पितुर्हि समतिक्रान्तं पुत्रो यः साधु मन्यते। तदपत्यं मतं लोके विपरीतमतोऽन्यथा ॥१५॥ तदपत्यं भवानस्तु मा भवान्दुष्कृतं पितुः। अति यत्त-

त्कृतं कर्म लोको धर्मविगर्हितम् ॥१६॥···अद्य तत्र भवन्तं च पितरं रक्ष किल्विषात् ॥३०॥" (वाल्मी० २।१०६); अर्थात् श्रीभरतजी ने श्रीचित्रकूट में श्रीरामजी से कहा है कि कैकेयी के क्रोध-भय से, अज्ञान से अथवा चित्त चाञ्चल्य से, उचित समझ कर जो पिताजी ने धर्म का अतिक्रम किया है, आप उसका संशोधन करें। जो पुत्र पिता की त्रुटियों का संशोधन करता है, वही पुत्र, पुत्र है। इसके विपरीत करनेवाला पुत्र अच्छा नहीं समझा जाता। आप पिता के उत्तम पुत्र बनें, पिता के पापों का समर्थन न करें। पिता ने जो यह कर्म किया है, यह धर्म और लोक से निन्दित है।···पूज्य पिता की भी पाप से रक्षा कीजिये। 'कोसलपति' इस सम्बोधन का भाव यह कि आप कोसला (अयोध्या) के स्वामी बनें, तभी यह कलंक दूर होगा।

'आज्ञा देहु नाथ मोहिं बन की'—उक्त बात पर यदि श्रीरामजी कहना चाहें कि मैंने भी तो माता कैकेयी के प्रति १४ वर्ष वनवास करने की प्रतिज्ञा कर ली है; यथा—"तद्ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकांक्षितम्। करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते ॥" (वाल्मी० २।१८।३०); अर्थात् श्रीरामजी ने कैकेयीजी से कहा है कि हे देवि! वह वचन कहें जो राजा चाहते हैं, मैं करूँगा, यह प्रतिज्ञा करता हूँ, राम दो बार नहीं बोलता; अर्थात् जो बोलता वही करता है, उसमें अन्यथा नहीं होने देता।

उस प्रतिज्ञा की रक्षार्थ श्रीभरतजी कहते हैं कि हे नाथ! आप मुझे उस वनवास प्रतिज्ञा की पूर्त्ति करने की आज्ञा दीजिये। मैं सेवक आपके हाथ-पाँव के समान हूँ, अंगभूत हूँ। अतः, मेरे द्वारा किया हुआ वनवास भी आपका ही माना जायगा; यथा—"अद्यप्रभृति भूमौ तु शयिष्येऽहं तृणेषु वा। फलमूलाशनो नित्यं जटाचीराणि धारयन् ॥२६॥ तस्याहमुत्तरं कालं निवत्स्यामि सुखं वने। तत्प्रतिश्रुतमार्यस्य नैव मिथ्या भविष्यति ॥२७॥ वसन्तं भ्रातुरर्थाय शत्रुघ्नो मानुवत्स्यति। लक्ष्मणेन सहायोध्यामार्यो मे पालयिष्यति ॥२८॥" (वाल्मी० २।८२); अर्थात् श्रृंगवेरपुर में श्रीभरतजी ने कहा है कि आर्य श्रीरामजी का शेष वनवास काल मुनिव्रत से मैं पूरा करूँगा, जिससे उनकी प्रतिज्ञा मिथ्या न हो, शत्रुघ्न मेरे साथ रहेंगे। यही भाव लेकर श्रीवसिष्ठजी ने भरतजी से कहा

है; यथा—"तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिअहि लखन सीय रघुराई॥" (मा० अ० २५५)।

'मोको जोइ-जोइ लाइये···'; यथा—"जद्यपि जनम कुमातु ते, मैं सठ सदा सदोस।" (मा० अ० १८३); "कैकइ जठर जनमि जग माहीं। यह मोहिं कहँ कछु अनुचित नाहीं॥" (मा० अ० १७९)।

'सब दोष दूर करि···'—कैकेयीजी ने अपने उदरसम्भूत मानकर मेरे लिये ही इतने अनर्थ कर डाले हैं। अतः, इन सब दोषों में मैं भागी हूँ। फिर भी आप अपने प्रण (विरुद) शरणागत वात्सल्य की लज्जा रखते हुए मेरे दोषों को अपने चित्त से दूर कर दीजिये, तभी मेरा कल्याण हो सकता है। 'प्रभु' पद यहाँ दोष पचाने के सामर्थ्य के प्रति आया है।

इस पद ३, ४ चरण के पूर्वार्द्ध में कुछ-कुछ वाक्य अधिक हो गये हैं, क्योंकि वक्ता श्रीभरतजी विह्वल हैं। फिर भी यह भरत-भारती है, अतः इसके वाक्यों में भावों की अगाधताएँ हैं। यथामति प्रकट किये गये हैं।

[७२]

तात ! बिचारो धौं, हौं क्यों आवौं।
तुम्ह सुचि, सुहृद, सुजान सकल बिधि, बहुत कहा कहि-कहि समुझावौं।
निज कर खाल खैंचि या तनु तें जौं पितु पग पानहीं करावौं।
होउँ न उरिन पिता दसरथ तें; कैसे ताको बचन मेंटि पति पावौं॥२॥
'तुलसिदास' जाको सुजस तिहूँ पुर क्यों तेहि कुलहि कालिमाँ लावौं ?
प्रभु रुख निरखि निरास भरत भये, जान्यो है सबहि भाँति बिधि बावौं।

शब्दार्थ—पति = प्रतिष्ठा। कालिमा = स्याही, कलंक।

अर्थ—(तब श्रीरामजी कहने लगे—) हे तात भरत ! तुम स्वयं विचार करो कि मैं क्यों (किस कारण से) वन आया हूँ ? भाव यह कि पिता दशरथजी ने कैकेयीजी को वरदान दिये थे, उनकी प्रतिज्ञा-पूर्ति करने के लिये मैं वन आया हूँ, उसकी पूर्ति हुए विना मैं कैसे लौट सकता हूँ ? तुम पवित्र हो, सुहृद हो और सब प्रकार से सुजान हो। अतः, तुम्हें मैं बहुत कह-कह कर क्या समझाऊँ ? (तुम स्वतः समझते ही होंगे)॥१॥ यदि मैं इस अपने शरीर से अपने ही हाथों से खाल खींच कर अपने पिता दशरथजी के चरणों की पनहीं बनवाऊँ

तो भी मैं अपने पिताजी से उऋण नहीं हो सकता, फिर उनका वचन मिटाकर (उनकी प्रतिज्ञा का निर्वाह न कर) संसार में कैसे प्रतिष्ठा पा सकता हूँ? ॥२॥ जिसका सुयश तीनों लोकों में फैला हुआ है, उस कुल में मैं कलंक लगाऊँ? भाव यह कि यह कुल सत्य प्रतिज्ञ है, पिताजी ने प्रतिज्ञा-रक्षार्थ ही शरीर त्याग दिया और मैं उन्हीं का पुत्र होकर १४ वर्ष के वनवास से भी मुँह मोड़ दूँ, यह कलंक की बात है। प्रभु श्रीरामजी का रुख देखकर श्रीभरत-जी उदास हो गये; उन्होंने जान लिया कि विधाता सभी प्रकार से हमारे प्रतिकूल है ॥३॥

विशेष—'तुम्ह सुचि…'—पवित्र हो, स्वार्थ-भावना से रहित हो, इससे स्वार्थ भाव त्याग कर परमार्थ-दृष्टि से विचार करोगे। सुहृद हो, इससे मेरे सब प्रकार सहायक एवं हितैषी हो और फिर सब प्रकार की व्यवस्थाओं का निर्णय करने में सुजान (प्रवीण) हो, इससे समझाने की आवश्यकता नहीं है; यथा- "सुहृद सुजान सुसाहिबहि, बहुत कहब बड़ि खोरि।" (मा० अ० ३००)।

'निज कर खाल…'—पनही बिना पिता की विशेष हानि नहीं; उसके लिये भी जो मैं अपने ही हाथों अपनी खाल खींचूँ और उससे उनकी पनहीं बनवाऊँ तो भी मैं उनसे उऋण नहीं हो सकता; यथा—"यन्मातापितरौ वृत्तं तनये कुरुतः सदा। न सुप्रतिकरं तत्तु मात्रा पित्रा च यत्कृतम् ॥९॥ यथाशक्ति-प्रदानेन स्वापनोच्छादनेन च। नित्यं प्रियवादेन तथा संवर्धनेन च ॥१०॥" (वाल्मी० २।१११); अर्थात् माता-पिता पुत्र के प्रति जो उत्तम व्यवहार करते हैं, उसका प्रतिकार नहीं किया जा सकता। माता-पिता ने जो किया है, उसके बदले की कोई वस्तु नहीं है। यथाशक्ति भोजन आदि देकर, सोने की उत्तम व्यवस्था कर, तेल आदि लगा कर, प्रिय वचन बोल कर तथा पालन करके पिता माता जो करते हैं, उसका प्रत्युपकार नहीं किया जा सकता। तथा—"यं माता-पितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम्। न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥" (मनु० २।२२७); अर्थात् सन्तानों की उत्पत्ति में माता-पिता को जो क्लेश सहना पड़ता है, सौ वर्षों (की सेवा) में भी वे (सन्तान) उससे निस्तार नहीं पा सकते। पद २ के 'तदपि हमहिं त्यागहु जनि…' इसका विशेष भी देखिये।

श्रीगोस्वामीजी ने प्रत्युपकार के लिये उच्च सीमा तक दिखाकर फिर भी

उसमें अपूर्णता ही कह कर महर्षि के कथन को और भी गौरवान्वित कर दिया है। ऐसे उपकर्त्ता के वचन मेटने पर मैं संसार में प्रतिष्ठाहीन एवं कृतघ्न होऊँगा। अतः, मैं उस वचन का त्याग नहीं कर सकता, यह भाव है।

'जाको सुजस तिहूँ पुर···'; यथा—"सोचनीय नहिं कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ॥ भयउ न अहइ न अब होनिहारा। भूप भरत जस पिता तुम्हारा॥ बिधि हरि हर सुरपति दिसिनाथा। बरनहिं सब दसरथ गुन गाथा॥" (मा० अ० १७२)।

'प्रभु रुख निरखि···'—प्रतिज्ञा-पालन में सामर्थ्यपूर्ण रुख है, इससे 'प्रभु' कहा गया है। 'सबहि भाँति···'—पहले ऐसी-ऐसी घटनाएँ विधि की वामता से होती गईं, वैसे ही यह मेरा प्रयास भी व्यर्थ हो रहा है।

[७३]

बहुरो भरत कह्यो कछु चाहैं।
सकुच सिंधु बोहित बिबेक करि बुधि बल बचन निबाहैं ॥१॥
छोटेहु ते छोह करि आए मैं सामुहें न हेरो।
एकहि बार आजु बिधि मेरो सील सनेह निबेरो ॥२॥
'तुलसी' जौं न बनै प्रभु तौ हौं आयसु पावौं।
घर फेरिए लखन लरिका हैं, नाथ साथ हौं आवौं ॥३॥

अर्थ—श्रीभरतजी फिर भी कुछ कहना चाहते हैं। अतः, वे संकोच रूपी सागर में विवेक को बड़ी नाव बना कर उस पर अपने वचन रूपी पथिक को बुद्धि रूपी केवट के बल से पार करना चाहते हैं ॥१॥ वे कहते हैं कि 'आप छोटेपन से ही मुझ पर स्नेह एवं कृपा करते आये हैं और मैंने भी आज तक कभी आपके सामने होकर देखा भी नहीं (बोलने की तो बात ही क्या)। किन्तु विधाता ने आज एक ही समय में एवं सारा शील तथा स्नेह छुड़ा दिया (इससे आर्त्तिवश सम्मुख हो कुछ कहना पड़ा; अन्यथा स्नेह एवं संकोचवश मैंने कभी सम्मुख बात नहीं की थी) ॥२॥ हे प्रभो! यदि घर लौटना उचित न समझ पड़ता हो तो श्रीलक्ष्मणजी अभी बालक हैं। अतः, ये घर भेज दिये जायँ और हे नाथ! मैं आपके साथ चलने की ही आज्ञा पाऊँ' ॥३॥

विशेष—'बहुरो भरत···'—एक बार प्रार्थना की थी, उस पर प्रभु का

रुख न लौटने का ही रहा, उस पर श्रीभरतजी अब फिर भी कुछ और प्रकार की प्रार्थना करना चाहते हैं ।

'सकुच सिंधु बोहित ···'—श्रीभरतजी बड़े संकोची हैं; यथा—"महूँ सनेह सँकोच बस, सनमुख कही न बैन।" (मा० अ० २६०)। समुद्रवत् अथाह संकोच उमड़ आया, इससे वचन कहने का साहस नहीं पड़ता था, तो विवेक रूपी बड़ी नाव का सहारा ले बुद्धि-बल से वचन कहने में प्रवृत्त हुए, अर्थात् बुद्धि-बल से बहुत विवेक के आधार पर कुछ बोल रहे हैं; यथा—"रघुबर बरन बिलोकि बर बारि समेत समाज। होत मगन बारिधि बिरह, चढ़े बिबेक जहाज ॥" (मा० अ० २२०)। यहाँ 'रूपक अलंकार' है ।

'छोटेहु ते छोह करि आए···'; यथा—"सिसुपन ते परिहरेउँ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू ॥ मैं प्रभु कृपा रीति जिय जोही। हारेहु खेल जितावहिं मोहीं ॥ महूँ सनेह सँकोच बस, सनमुख कही न बैन।" (मा० अ० २५९-२६०)।

'एकहि बार आज विधि···'—किसी पर विपरीत दशा धीरे-धीरे आती है, पर मुझ पर तो विधाता ने इस एक ही समय में नाना अवरेवों का समूह डाल दिया, जिनसे आर्त होकर मुझे शील-स्नेह का त्याग कर श्रीमान् के सम्मुख हो बातें करनी पड़ रही हैं। इस विधाता कृत कुसंयोगों से विवश होकर मुझे धृष्टता करनी पड़ रही है। अतः क्षमा हो; यथा–"आरति बस सनमुख भयेउँ, बिलग न मानब तात।" (मा० अ० ९७)।

'जो फिरिबो न बनै···'—यदि यह विचार हो कि पिता ने वरदान दिये फिर उनके समक्ष कैकेयीजी ने वनवास के वर को नहीं फिराया। अतः, सत्य धर्मनिष्ठ पिता के वचन को मैं ही पूर्ण करूँगा; क्योंकि मैंने भी तो माता के समक्ष प्रतिज्ञा कर चुका हूँ उस पर वह प्रसन्न हुई थीं। अतः, मैं अवश्य उस वचन की पूर्ति करूँगा। (वाल्मी० २।१०९।२४, २५ में इस भाव का प्रमाण है)। तो मेरी यही प्रार्थना मानी जाय कि श्रीलक्ष्मणजी बालक हैं। अतः, वे घर में रहें, मैं साथ चलूँ; यथा—"न तरु फेरिअहिं बंधु दोउ, नाथ चलउँ मैं साथ।" (मा० अ० २६८); श्रीकौसल्याजी ने भी श्रीभरत पर स्नेह प्रकट करते हुए श्रीसुनयनाजी के द्वारा ऐसी ही भावना श्रीजनकजी से प्रकट की थी,

यथा—"रखिअहिं लखन भरत गवनहिं बन। जौं यह मत मानै महीप मन॥ तौ भल जतन करब सुबिचारी। मोरे सोच भरत कर भारी॥ गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहे नीक मोहिं लागत नाहीं॥" (मा० अ० २८३; भाव यह कि श्रीभरत के वन साथ जाने में उन पर आया कलंक न रह जायगा और श्रीराम-सेवा के सुख का लाभ रहेगा; यथा—हित हमार सियपति सेवकाई।" (मा० अ० १७७)।

[७४]

रघुपति! मोहिं संग किन लीजै?
बार-बार 'पुर जाहु', नाथ! केहि कारन आयसु दीजै॥१॥
जद्यपि हौं अति अधम, कुटिलमति अपराधिनि को जायो।
प्रनतपाल कोमल-सुभाव जिय जानि, सरन तकि आयो॥२॥
जौं मेरे तजि चरन आन गति कहौं हृदय कछु राखी
तौ परिहरहु दयालु, दीनहित, प्रभु अभिअंतर-साखी॥३॥
ताते, नाथ! कहौं मैं पुनि-पुनि, प्रभु पितु, मातु, गोसाईं।
भजन हीन नर देह बृथा, खर-स्वान-फेरु की नाईं॥४॥
बंधु बचन सुनि श्रवन, नयन राजीव नीर भरि आए।
तुलसिदास प्रभु परम कृपा गहि बाँह भरत उर लाए॥५॥

अर्थ—[श्रीभरतजी कहते हैं—] हे श्रीरघुनाथजी! आप मुझे अपने साथ क्यों नहीं लेते? हे नाथ! बार-बार 'तुम श्रीअवधपुर जाओ' ऐसी आज्ञा किस कारण से देते हैं?॥१॥ यद्यपि मैं अत्यन्त अधम हूँ, क्योंकि कुटिल बुद्धि से अपराध करनेवाली कैकेयी के गर्भ से जन्म लेने वाला हूँ तथापि, हे प्रणत-पाल! मैं अपने हृदय में आपका कोमल स्वभाव जानकर आपकी शरण ताक कर आया हूँ॥२॥ यदि मेरे हृदय में आपके श्रीचरण छोड़कर अन्य किसी का सहारा हो और मैं हृदय में कुछ (दुराव) रखकर कहता होऊँ तो, हे दयालो! हे दीन हितकारी! आप मेरा त्याग करें, हे प्रभो! आप तो अभ्यन्तर के साक्षी हैं (अतः मेरे हृदय की व्यवस्था जानते ही हैं)॥३॥ इससे, हे नाथ! मैं बार-बार कहता हूँ (कि मुझे अपनी ही सेवा में रखिये), हे गो-स्वामी! मेरे माता, पिता और स्वामी आप ही हैं (अतः, मुझे आपका ही

भजन करना चाहिये), आपके भजन से रहित नर शरीर भी गधे, कुत्ते और श्रृगालों के शरीरों के समान व्यर्थ है ॥४॥ भाई भरतजी के वचन कानों से सुन कर श्रीरामजी के लालकमल के समान नेत्रों में जल भर आये। श्रीतुलसी-दासजी कहते हैं कि प्रभु श्रीरामजी ने परम कृपा करके श्रीभरतजी की बाँह पकड़ कर उन्हें हृदय से लगा लिया ॥५॥

विशेष—'बार-बार 'पुर जाहु', नाथ !...'—श्रीरामजी ने सहेतु वचनों के साथ कई बार श्रीअवधपुर जाने को ही कहा है; यथा—"यात्वा चावसतां पुरीम्।" (वाल्मी० २।१०५।३६); "अयोध्यां गच्छ भरत प्रकृतीरुपरञ्जय।... गच्छ त्वं पुरवरमद्य संप्रहृष्टः...," (वाल्मी० २।१०७।१५, १७), तथा—"पुरवर्यामितः क्षिप्रमयोध्यां याहि राघव।" (वाल्मी० २।१११।१८); इत्यादि। ऐसी आज्ञा बार-बार मेरे लिये किस कारण से देते हैं ? श्रीरामजी के कुछ न कहने पर आप अपने पक्ष (साथ रहने) के पोषण में प्रमाण देते हैं--

'जद्यपि हौं ...'—इसमें 'कुटिल मति' यह अपराधिनि कैकेयी का ही विशेषण है। उसके अपराध करने के प्रसंग में उसे बार-बार कुटिल कहा गया है; यथा--"लखहि न भूप कपट चतुराई।...बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली। ...कुमति अति जरई ...कुटिल भई उठि ठाढ़ी।...'' इत्यादि। श्रीभरतजी ने बुद्धि से कोई कुटिलता नहीं की। उपर्युक्त पद ७१ के 'मोको जोइ जोइ लाइये ...सब दोष दूर करि ...' इसके विशेष भी देखिये।

'प्रनतपाल कोमल सुभाव...'—इस चरण के पूर्वार्द्ध में अपना कार्पण्य कहा, यहाँ 'प्रनतपाल' कह कर अपनी 'आत्मनिक्षेप' शरणागति कहते हैं कि मैं आपको शरणागतपाल और कोमल स्वभाव जानकर आपकी शरणागति ताक कर (पूर्ण विश्वास पूर्वक निर्भर होकर) आया हूँ कि आप अपने कोमल स्वभाव से मेरी हार्दिक पीड़ा समझेंगे; यथा—"अति कोमल रघुबीर सुभाऊ। जद्यपि अखिल लोक कर राऊ॥ मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिही। उर अप-राध न एकउ धरिही॥" (मा० सुं० ५६)–यह शुक ने रावण से कहा है तथा—"करुनामय मृदु राम सुभाऊ।..." (मा० आ ३६); तथा—"करुना-मय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहि पीर पराई।" (मा० अ० ८४)। अतः, आप अपने कोमल स्वभाव से मेरी हार्दिक भावना पर दृष्टि दे मुझे शरण में

रख मेरा पालन करें। मेरे इस विश्वास को एवं अपने प्रणतपालकता के भाव को सफल करें। प्रणतपालकता; यथा—"बाँह पगार! द्वार तेरे ते सभय न काहू फिरि गए। तुलसी असरन-सरन स्वामि के बिरद् बिराजत नित नए॥" (सुं० ३२)।

जौं मेरे तजि चरन···तौ परिहरहु···'-शरणागत में परम अनन्यता एवं पूर्ण निर्भरता चाहिये; अन्यथा शरण्य उसकी चिन्ता नहीं करता—इस पर सुं० ४५ देखिये। यहाँ श्रीभरतजी ने अपने को अनन्यगतिक और पूर्ण निर्भर कह कर परम अविकारी प्रकट किया है और इस पर प्रभु के अन्तर्यामी स्वरूप की ही साक्षी रक्खी है। 'तौ परिहरहु···' यहाँ दयालु और दीन-हित कहकर अपनी दीनता पर दया करने की प्रार्थना प्रकट करके परिहरहु की बात कही है; क्योंकि दयालुता एवं दीनता पर ही निर्लिप्त प्रभु इसके शरण्य बनते हैं; अन्यथा उनका इस कार्य में क्या प्रयोजन है, दीन दयालु प्रभु दीन शरणागत का त्याग कभी नहीं करते हैं।

'ताते नाथ कहौं मैं···'—मैं यह जानता हूँ कि मेरे माता, पिता और स्वामी आप ही हैं, क्योंकि लौकिक माता-पिता एवं स्वामियों के नियामक आप ही हैं। अतः इन माता आदि के उपकारों के प्रति आपकी ही भक्ति करनी चाहिये। यथा—"गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥ जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निज गाई॥ मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥" (मा० अ० ७२); "पितु मातु गुरु स्वामी अपनपौ तिय तनय सेवक सखा प्रिय लगत जाके नेह सों बिनु हेतु हित नहिं तैं लखा॥" (वि० १३५) अर्थात् परमात्मा ही इन माता आदि के द्वारा पालन करता है, अपने को प्रकट नहीं करता; क्योंकि उसे प्रतिकार की चाह नहीं है। अतः, आप परमात्मा की ही भक्ति करनी चाहिये, इससे मैं इसी की प्रार्थना बार-बार करता हूँ। उचित वस्तु मुझे प्राप्त होनी ही चाहिये।

'भजन हीन नर देह बृथा···' अन्यत्र इसका भाव खोला गया है; यथा—"तुलसिदास हरिनाम सुधा तजि, सठ हठि पिअत बिषय बिष माँगी सूकर स्वान सृगाल सरिस जन, जनमत जगत जननि दुख लागी॥" (वि० १४०); "तिन्हते खर सूकर स्वान भले, जड़ता बस ते न कहैं कछु वै। तुलसी जेहि राम

सों नेह नहीं सो सही पसु पूँछ बिषान न द्वै ॥" (क० उ० ४०); इन्द्रियों से यदि हरिभजन नहीं किया जाता तो वे विषय रत रहती हैं। विषय में काम, क्रोध और लोभ वश होने पर जीव क्रमशः गधा, श्वान और शृगाल के समान रहते हैं। गधा बोझा ढोता है, पीटा भी जाता है, वह काम विषय में विशेष रत होता है। वैसे ही कामवश मनुष्य नाना परिवार के भरण-पोषण का बोझा ढोता रहता है और भाँति-भाँति के दैहिक दैविक एवं भौतिक दुःखों के दण्ड पाता है। तथा परस्त्रीगामी गर्मी-सुजाक आदि रोगों से तथा लोक-अपमान से भाँति-भाँति के दण्ड पाता है। कुत्ता बिना कारण भी भूँका करता है, टुकड़े के लिये द्वार द्वार अपमानित होता रहता है, वैसे क्रोधी सबसे वैर-विग्रह किया करता है और द्वार-द्वार पर स्वार्थ के लिये अपमानित होता रहता है। शृगाल जीविका के लिये लोगों के फल, ऊख एवं अन्न आदि छिपकर खा जाता है, वैसे ही लोभी छलपूर्वक चोरी से दूसरों के धन का अपहरण करते हैं। वे पीछे कुत्तों के द्वारा दण्ड पाते हैं, वैसे ये लोभी भी पुलिस आदि के द्वारा दण्ड पाते हैं।

हरि-भजन से हरि-प्राप्ति रूपी मोक्ष और कामादि से जन्म-मरण एवं नरक की प्राप्ति होती है; यथा--काम क्रोध मद लोभ सब, नाथ नरक के पंथ।" (मा० सुं० ३८); "त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥"(गीता १६।२१)। "भगति अबसहि बस करी।" (मा० अर० २५)। "मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥" (गीता ७।२३); तथा— "एहि तनु कर फल बिषय न भाई। स्वरगउ स्वल्प अंत दुखदाई॥ नर तनु पाइ बिषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥ ताहि कबहुँ भल कहइ कोई। गुंजा ग्रहइ परसमनि खोई (मा० सुं० ४३)।

'बंधु बचनन सुनि···'—श्रीभरतजी के वचन यथार्थ है। अतः, इनका प्रत्युत्तर न दे स्वीकार किया। कमल नेत्रों में जल भर सहानुभूति प्रकट की; तथा—"सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आए जल राजिव नयना॥ बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बूझिय बिपति की ताही॥" (मा० सुं० ३१)। प्रभु का वाना है; यथा—"राजिव नयन धरे धनु-सायक। भगत बिपति-भंजन सुखदायक॥" (मा० बा० १७); भक्त दुःख न हरण कर सकने पर राजीव नयन जल में डूबकर अपना लज्जित होना प्रकट करते हैं।

'प्रभु परम कृपा गहि बाँह···'—भातृ-स्नेह से बाँह पकड़ कर उन्हें हृदय से लगाया। परमार्थ पक्ष में बाँह पकड़ कर उनको शरण में ग्रहण किया। सुग्रीव शरणागति में उनकी बाँह पकड़ने में शरणागति कही गई है। हृदय में लगाकर उन्हें सतत हृदय में रखना (सदा स्मरण पथ में रखना) प्रकट किया।

पूर्वोक्त पद ४ में जैसे माता को युक्ति से सान्त्वना दी है, वैसे ही यहाँ श्रीभरतजी को भी आगे पद में पादुका देंगे, उससे उन्हें सीता-रामजी के रहने का-सा सुख रहेगा; यथा—"चरन पीठ करुनानिधान के।···अस सुख जस सिय राम रहे ते॥" (मा० अ० ३१५)। तथा वचन से भी सान्त्वना देंगे।

[७५]

काहे को मानत हानि हियो हौ ?
प्रीति-नीति-गुन-सील-धरम कहँ तुम अवलंब दिये हौ ॥१॥
तात जात जानिबे न ये दिन करि प्रमान पितु बानी।
ऐहौं बेगि धरहु धीरज उर कठिन कालगति जानी ॥२॥
तुलसिदास अनुजहिं प्रबोधि प्रभु चरनपीठ निज दीन्हें।
मनहुँ सबनि के प्रान-पाहरू भरत सीस धरि लीन्हें ॥३॥

अर्थ—(श्रीरामजी ने श्रीभरतजी से कहा हैं—) अपने हृदय में तुम ऐसी हानि (अभाव की ग्लानि) क्यों मानते हो ? तुम तो प्रीति, नीति, गुण, शील और धर्म आदि को सहारा दिये हुए हो; भाव यह कि तुम्हारा स्मरण करने पर इन प्रीति आदि की प्राप्ति औरों को हो जाती है, तुम ऐसे पुण्यश्लोक हो, फिर अपने में ऐसी न्यूनता क्यों मानते हो ? ॥१॥ हे तात ! (वियोग वाले १४ वर्ष के) ये दिन जाते हुए जान ही न पड़ेंगे (इतनी शीघ्रता में बीत जायँगे), मैं पिता के वचन (१४ वर्ष वनवास की आज्ञा) प्रमाणित (पूरे) करके शीघ्र आऊँगा। अतः, तुम काल की गति कठिन जानकर हृदय में धैर्य धारण करो ॥२॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि भाई को समझा कर प्रभु श्रीरामजी ने अपने खड़ाऊँ दिये। वे खड़ाऊँ मानों सभी के प्राणों के रक्षक हैं, ऐसा मानकर श्रीभरतजी ने इन्हें अपने शिर पर धारण कर लिया ॥३॥

विशेष—'काहे को मानत हानि···प्रीति-नीति'—श्रीभरतजी ने अपने कार्पण्य कथन में अपने को 'जद्यपि हौं अति अधम···' आदि कहा है, उसका

निराकरण करते हुए कहते हैं--'काहे को मानत···'। कहा भी है—"तुलसी राम कृपालु सों, कहि सुनाउ सब दोष। होइ दूबरी दीनता, परम पीन संतोष॥" (दोहावली ९६)। पुनः भरतजी ने ऊपर पद के चरण २, ३, ४ में अपनी शरणागति-स्वीकृति की प्रार्थना की है, उस पर कहते हैं कि मेरे यहाँ तुम्हारी शरणागति स्वीकृत ही है, इसी से तुम में सारे दिव्य गुण स्वतः आ गये हैं--'प्रीति, नीति···'। प्रमाण; यथा—"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥३०॥ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥३१॥" (गीता० ९); "महाराज रामादरयो धन्य सोई। गरुअ, गुनरासि, सर्वज्ञ, सुकृती, सूर, सीलनिधि, साधु तेहि सम न कोई॥" (वि० १०६); "जाको हरि दृढ़ करि अंग करयो। सोइ सुसील, पुनीत, बेदबिद, बिद्या-गुननि भरयो॥" (वि० २३९)।

प्रीति; यथा—"प्रणय प्रेम आसक्ति पुनि, लगन लाग अनुराग। नेह सहित सब प्रीति के, जानब अंग बिभाग॥" श्रीभरतजी में ये सब आठों प्रीति के अंग पूर्ण हैं; यथा—"मातु सचिव गुरु पुर नर नारी। सकल सनेह बिकल भये भारी॥ भरतहिं कहहिं सराहि सराही। राम-प्रेम-मूरति तनु आही॥" (मा० अ० १८३); "तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥" (मा० अ० २०७)–यह भरद्वाज-वचन है; तथा—"साधन सिद्धि रामपद नेहू। मोहिं लखि परत भरत मत एहू॥" (मा० अ० २८८)-यह श्रीजनकजी ने कहा है।

'नीति'; यथा—"साम, दान, अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह वेदा॥ नीति धरम के चरण सुहाए।" (मा० लं० ३७); तथा—"सान्त्वभेदप्रदानानां युद्धमुत्तरमुच्यते॥" (महा० शान्ति० १०२।२२); अर्थात् साम, भेद और दान के अनन्तर युद्ध करना चाहिये, इसमें चारों नीतियों का व्यावहारिक क्रम भी कहा गया है। श्रीभरतजी में नीति गुण की भी परिपूर्णता थी। चौदह वर्ष के शासनकाल में आपने दशगुणा कोष आदि बढ़ाया है और लङ्का पार चढ़ाई करने का भी आपने पूर्ण आयोजन किया था, पर श्रीरामजी जीत कर आ गये। पश्चात् श्रीराम-राज्य होने पर भी आप ही ने युवराज रूप में अनु-

पम रीति से प्रजा को सुखी किया है। यह वाल्मीकीय रामायणमें स्पष्ट कहा गया है।

'गुन सील'—गुण से यहाँ सभी सद्गुण समझना चाहिये। शील का अर्थ सद्वृत्ति, पवित्र आचरण आदि हैं; यथा—"शुचौतु चरिते शीलम" "शीलं (स्वभावे सद्वृत्ते)" (अमरकोष); तथा—"धर्मः सत्यं तथा वृत्तं बलं चैव तथाऽप्यहम्। शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः॥" "अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत्प्रशस्यते॥ यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम्। अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात्कथञ्चन॥" (महा० शान्ति० १२४।६२, ६६-६७)।

श्रीभरतजी इन गुणों और शील के अथाह सागर ही हैं; यथा—"भरत सील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई॥ कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे॥" (मा० अ० २८२); यह श्रीकौसल्याजी ने कहा है; तथा—"भरत चरित कीरति करतूती। धरम सील गुन बिमल बिभूती॥ समुझत सुनत सुखद सब काहू। सुचि सुरसरि रुचि निदरि सुधाहू॥ निरवधि गुन निरुपम पुरुष, भरत भरत सम जानि।" (मा० अ० २८७-२८८)। यह श्रीजनकजी ने कहा है। "भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूति॥ बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं।" (मा० अ० ३२४)—यह श्रीगोस्वामीजी ने कहा है—इन तीनों प्रकरणों में आदि के सागरवत् सात गुणों की भाँति ही सात ही सात गुण वर्णित हैं, क्योंकि सागर सात प्रसिद्ध हैं।

'धर्म'—श्रीभरतजी में सभी प्रकार के सद्धर्म पूर्ण हैं; यथा—"भरतहिं धरम धुरंधर जानी। निज सेवक तन मानस बानी॥" (मा० अ० २५८), "तात भरत तुम्ह धरम धुरीना।" (मा० अ० ३०३)। तथा ऊपर सप्त-सागरवत् गुणों में भी धर्म कहा गया है।

'तात! जात जानिबे न ए दिन...'—भाव यह कि मेरे प्रेम में निमग्न रहने पर तुम्हें विरह व्यथा जान ही न पड़ेगी; यथा—"बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बूझिय बिपत्ति कि ताही॥" (मा० सुं० ३१); तथा—"मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही॥" (मा०

अ० २७४); पूर्वोक्त पद ४ में अन्तिम चरण का विशेष भी देखिये, वहाँ इसी प्रकार श्रीकौसल्याजी के प्रति कहा गया है।

'कठिन काल गति जानी।'; यथा—"न कालस्य प्रियः कश्चिन्न द्वेष्यः कुरुसत्तम। न मध्यस्थः क्वचित्कालः सर्वंकालः प्रकर्षति॥ कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः। कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः॥" (महा० स्त्री पर्व २।२३-२४), तथा—"भृकुटि बिलास भयंकर काला।" (मा० लं० १४), अर्थात् जीवों के कर्मानुसार उनके फल देने की ईश्वर की इच्छा काल है, इसी से इसका उल्लंघन करना कठिन कहा गया है।

'अनुजहि प्रबोधि ··· मनहुँ सबनि के प्रान पाहरू ···'; यथा—"बंधु प्रबोध कीन्ह बहु भाँती। बिनु अधार मन तोष न साँती॥·········प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हीं। सादर भरत सीस धरि लीन्हीं॥ चरन पीठ करुना निधान के। जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के॥" (मा० अ० ३१५); श्रीभरतजी का सूक्ष्म विचार यह भी था कि यदि मैं एक दिन के लिये भी राज्य-सिंहासन पर बैठूँगा तो वह मेरा उच्छिष्ट राज्य श्रीरामजी के योग्य न रहेगा। वाल्मी० २।६१।११-१६ में श्रीकौसल्याजी ने भी ऐसा ही कहा है कि भरतजी के भोगे हुए राज्य को उनसे बड़े श्रीरामजी नहीं ग्रहण करेंगे। इसलिये श्रीभरतजी राज्य-सिंहासनासीन होने के लिये कुछ आधार चाहते थे। इस पर श्रीवसिष्ठजी ने कहा; यथा—"एते प्रयच्छ संहृष्टः पादुके हेमभूषिते। अयोध्यायां महाप्राज्ञ योगक्षेमकरो भव॥१२॥ एवमुक्तो वसिष्ठेन राघवः प्राङ्मुखः स्थितः। पादुके हेमविकृते मम राज्याय ते ददौ॥ (वाल्मी० २।११३।१२-१३); अर्थात् हे रामजी ! प्रसन्नतापूर्वक सुवर्णभूषित यह पादुका भरतजी को दो और इसके द्वारा महाप्राज्ञ ! तुम अयोध्याजी में योगक्षेम करो। श्रीवसिष्ठजी के ऐसा कहने पर पूर्वमुख बैठे हुए श्रीरामजी ने यह स्वर्णभूषित पादुका मुझे राज्य के लिये दी है। यह श्रीभरतजी ने लौटते समय भरद्वाजजी से कहा है। तथा—"अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते। एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः॥ सोऽधिरुह्य नरव्याघ्रः पादुके व्यवमुच्य च। प्रायच्छत्सुमहातेजा भरताय महात्मने॥" (वाल्मी० २।११२।२१-२२), अर्थात् श्रीभरतजी ने श्रीरामजी से कहा कि हे आर्य ! स्वर्णभूषित यह खडाऊँ आप चरणों में पहनें, ये ही सब लोक

का योगक्षेम करेंगे। श्रीरामजी ने खड़ाऊँ पहन ली और फिर उतार कर महात्मा भरतजी को दे दी।

यह पादुका देने का रहस्य है और इस प्रकार इनसे सब की रक्षा होती थी।

अलंकार—उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा (अंतिम चरण में)।

[७६]

बिनती भरत करत कर जोरे।
दीनबंधु ! दीनता दीन की कबहुँ परै जिनि भोरे ॥ १ ॥
तुम्ह-से तुम्हहि नाथ मोको, मोसे जन तुमको बहुतेरे।
इहै जानि पहिचानि प्रीति छमिबे अघ औगुन मेरे ॥ २ ॥
यों कहि सीय-राम-पायनि परि लखन लाइ उर लीन्हें।
पुलक सरीर, नीर भरि लोचन, कहत प्रेम-पन कीन्हें ॥ ३ ॥
तुलसी बीते अवधि प्रथम दिन जो रघुबीर न ऐहौ।
तौ प्रभु-चरन-सरोज-सपथ जीवत परिजनहि न पैहौ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—छमिबे = क्षमा कीजियेगा। परिजन = १ आश्रित या पोष्य वर्ग, परिवार। २ सदा साथ रहने वाले सेवक—हिं० श० सा०।

अर्थ—(चलते समय) श्रीभरतजी हाथ जोड़कर विनती करते हैं कि हे दीनबन्धु ! इस दीन की दीनता कभी भूल में न पड़ जाय ॥१॥ हे नाथ ! मेरे लिये आपके समान एक आप ही हैं किन्तु आपके लिये तो मेरे जैसे भक्त बहुत हैं। यही जानकर और मेरी प्रीति पहचान कर मेरे पाप और दोष क्षमा कीजियेगा ॥२॥ इस प्रकार कह कर और श्रीसीताजी तथा श्रीरामजी के चरणों पड़ (प्रणाम) कर एवं श्रीलछमणजी को हृदय से लगा लिया। तब वे शरीर से पुलकित हो नेत्रों में जल भर प्रेम की प्रतिज्ञा करके कहने लगे ॥ ३ ॥ श्री-तुलसीदासजी कहते हैं (वह प्रतिज्ञा यह थी) कि हे श्रीरघुनाथजी ! वन-वास की अवधि समाप्त हो जाने पर आप यदि श्रीअवध में पहले ही दिन न आ जायँगे तो, हे प्रभो ! आपके चरणकमलों की शपथ करके कहता हूँ। आप अपने इस परिजन को जीता हुआ नहीं पाएँगे ॥ ४ ॥

विशेष—'बिनती भरत करत' 'दीनबंधु दीनता' ' जीव की दीनता

भगवान् के दृष्टिपथ में रहने पर वे इस पर निरन्तर दया रखते हैं; यथा—"जब लगि मैं न दीन दयालु तैं···" (वि० ११३)। इससे श्रीभरतजी इसकी प्रार्थना करते हैं इसके अनुसार श्रीरामजी इनका बराबर स्मरण रखते थे, यह स्पष्ट कहा गया है; यथा—"भरत सरिस को राम सनेही। जग जप राम राम जप जेही॥" (मा० अ० २१७); तथा—"निश्चितैव हि मे बुद्धिर्वनवासे दृढ़व्रता। भरतस्नेहसंतप्ता बालिशी क्रियते पुनः॥" (वाल्मी० ३।१६।३८); अर्थात् श्री रामजी ने श्रीलक्ष्मणजी से कहा है कि मेरी बुद्धि वनवास में दृढ़ है, मैं वन में रहना चाहता हूँ, फिर भी भरत-स्नेह से व्याकुल होकर वह कभी-कभी जड़-सी एवं चंचल हो जाती है और भरत से मिलने को प्रेरित करती है।

'तुम्ह से तुम्हहि नाथ मोको····'; यथा—"तोहि बिनु मोहिं कबहूँ न कोऊ चहै गो॥ बचन करम हिये कहौं राम! सौंह किये, तुलसी पै नाथ के निबाहेई निबाहैगो॥ (वि० २५९); "तोसो तुही तुलसी को आरति-हरन।" (वि० २५७), "बिदित तिलोक तिहुँ काल न दयालु दूजो, आरत-प्रनतपाल को है प्रभु बिन॥" (वि० २५३)।

'यहै जानि···'—अनन्य आश्रित जानकर; तथा—"सेवक-सुत पति-मातु भरोसे। रहै असोच बनै प्रभु पोसे॥" (मा० कि० २)। यदि प्रीतिपूर्वक कोई अनन्य शरण होता है तो प्रभु उसके पाप एवं अवगुण नहीं देखते; क्षमा कर देते हैं; यथा—"जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भै मोहिं कारन सकल उपाधी॥ तदपि सरन सनमुख मोहिं देखी। छमि सब करिहैं कृपा बिसेषी॥" (मा० अ० १८२)।

'तुलसी बीते अवधि···'; यथा—"चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम॥ २५॥ न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्॥ तथेति च प्रतिज्ञाय तं परिष्वज्य सादरम्॥" (वाल्मी० २।११२); अर्थात् हे रघूत्तम! चौदह वर्ष पूर्ण होने पर पहले दिन यदि मैं आपको न देखूँगा तो अग्नि प्रवेश कर जाऊँगा, इस पर श्रीरामजी ने वैसा ही करने की प्रतिज्ञा की और उनका आलिंगन किया।

इसी प्रतिज्ञा का स्मरण कर श्रीरामजी ने कहा है—"जो जैहौं बीते अवधि जियत न पावउँ बीर।" (मा० लं० ११६)।

[५७]

अवसि हौं आयसु पाइ रहौं गो।
जनमि कैकयी-कोखि, कृपानिधि ! क्यों कछु चपरि कहौं गो ॥१॥
'भरत भूप, सिय-राम-लखन बन', सुनि सानंद सहौं गो।
पुर परिजन अवलोकि मातु सब सुख-संतोष लहौं गो ॥२॥
प्रभु जानत, जेहि भाँति अवधि लौं बचन पालि निबहौं गो।
आगे की बिनती तुलसी तब, जब फिरि चरन गहौं गो ॥३॥

अर्थ—अवश्य मैं आज्ञा पाकर श्रीअयोध्या में ही रहूँगा, हे कृपानिधि! कैकेयी की कोख में जन्म लेकर भला, कैसे कुछ चावपूर्वक कहूँगा ? ॥१॥ 'भरतजी राजा हुए हैं (और इसी के सम्बन्ध से) श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी वन में रहते हैं' यह सुनकर आनन्दपूर्वक सहूँगा तथा नगर, कुटुम्ब के लोग और समस्त माताओं को देखकर सुख एवं सन्तोष पाऊँगा ॥२॥ जिस प्रकार मैं वनवास की अवधि पर्यन्त आपकी आज्ञा का पालन करता हुआ निर्वाह करूँगा, यह तो, हे प्रभो! आप जानते ही हैं। अब आगे की प्रार्थना उसी समय करूँगा, जब पुनः इन चरणों को ग्रहण करूँगा ॥३॥

विशेष—'अवसि हौं ··· जनमि कैकयी कोखि ···'—श्रीभरतजी अपने प्रारब्ध पर खीझते हैं जिससे इनका कैकेयीजी की कोख से जन्म हुआ है। उस पर दृष्टि देने से कुछ कहने का साहस भी नहीं हो सकता।

'भरत भूप ···'—भाव यह कि यह कटूक्ति असह्य है, पर कर्मवश सहनी पड़ेगी। 'पुर परिजन ···'; यथा—"देखि न जाहिं बिकल महतारी। जरहिं दुसह जर पुर नर नारी॥ महीं सकल अनरथ कर मूला। सो सुनि समुझि सहेउँ सब सूला॥" (मा० अ० २६१)। भाव यह कि इन्हें देख-देख कर तो दुःख और असन्तोष ही रहेगा।

'प्रभु जानत ···'—भाव यह कि आप अंतर्यामी हैं। अतः, आगे की मेरी दशा भी जानते ही हैं; यथा—"अंतरजामी राम सिय ···" (मा० अ० २५६); यह इन्हीं भरतजी का वचन है। 'आगे की बिनती'—लौटने पर राज्य-सिंहासन पर विराजमान कराने की प्रार्थना है, यह तो मैं लौट कर दर्शन पाने पर कहूँगा। यदि सकुशल जीता रह गया तो वह सौभाग्य प्राप्त होगा।

[७८]

प्रभु सों मैं ढीठो बहुत दई है।
कीबी छमा, नाथ! आरति ते कही कुजुगुति नई है ॥१॥
यों कहि बार-बार पायनि परि पाँवरि पुलकि लई है।
अपनो अदिन देखि हौं डरपत जेहि बिष बेलि बई है ॥२॥
आये सदा सुधारि गोसाईं, जन ते बिगरि गई है।
थके बचन पैरत सनेह-सरि, परयो मानो घोर घई है ॥३॥
चित्रकूट तेहि समय सबनि की बुद्धि बिषाद हई है।
तुलसी राम-भरत के बिछुरत सिला सप्रेम भई है ॥४॥

शब्दार्थ--घई = गँभीर भँवर, पानी का चक्कर। हई (हनी) = नष्ट हुई।

अर्थ—इस समय, हे प्रभो! आपसे मैंने बहुत ढिठाई की है। हे नाथ! आर्त्तिवश मैंने नयी-नयी कुयुक्तियाँ कही हैं, क्षमा कीजियेगा ॥१॥ श्रीभरतजी ने ऐसा कह कर बार-बार चरणों में पड़ (प्रणाम) कर पुलकित हो खड़ाऊँ ले लिया और कहा—'मैं अपना दुर्दिन देखकर डरता हूँ, जिस दुर्दिन ने विष की लता बोयी है ॥२॥ हे गोसाईं! जब-जब दासों से कुछ बिगड़ा हुआ है, तब-तब आप ही सदा से उसका सुधार करते आये हैं' ऐसा कहते हुए वचन स्थगित हो गये, मानों स्नेह रूपी नदी में तैरते हुए भयंकर गम्भीर भँवर में पड़ गये हों ॥३॥ उस समय श्रीचित्रकूट में सभी की बुद्धियाँ विषाद में मारी गईं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामजी और श्रीभरतजी के वियोग में उस समय वहाँ की शिलाएँ भी प्रेम से द्रवीभूत हो गई हैं ॥४॥

विशेष—'प्रभु सों मैं ढीठो ...'; यथा—"राम रजाइ मेटि मनमाहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं ॥ सो मैं सब विधि कीन्ह ढिठाई। प्रभु मानी सनेह सेवकाई ॥" (मा० अ० २६७)।

'आरति ते कही कुजुगुति नई है'—स्वामी की ओर से जो बातें नहीं थीं, उन्हें नई-नई युक्तियों से आरोपण कर अपना कार्पण्य कहा था, जिन्हें भाँति-भाँति से समझा कर स्वामी को निराकरण करना पड़ा है; यथा—"अपडर डरेउँ न सोच समूले। रविहि न दोष देव दिसि भूले ॥" (मा० अ० २६६)। ये ही सब नयी-नयी कुयुक्तियाँ हैं। इनके विषय में क्षमा चाहते हैं। तथा आर्ति-

वश हो लौटाने में स्वार्थ समझ कर भी भाँति-भाँति के उत्तर प्रत्युत्तर की कुयुक्तियाँ क्षमा की जायँ; यथा—"कहउँ बचन सब स्वारथ हेतू। रहत न आरत के चित चेतू॥ उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥ अस मैं अवगुन उदधि अगाधू। स्वामि सनेह सराहत साधू॥" (मा० अ० २६८)।

'बार-बार पायन परि'—इसमें प्रेम की अधिकता है; यथा—"अंगद हृदय प्रेम नहिं थोरा। फिरि-फिरि चितव राम की ओरा॥ बार-बार कर दंड प्रनामा। मन अस रहन कहहिं मोहिं रामा॥" (मा० उ० १८)।

'अपनो अदिन देखि...'—जिस दुर्दिन ने ऐसे-ऐसे अनर्थ कर डाले, उससे अब भी डर लग रहा है। दुर्दिन ने बिष बेलि बो दिया, धोखे में उसका फल खा राजा दशरथ ने शरीर त्याग दिया, औरों को उसकी झार मात्र लगी, वे सब विपत्ति ग्रस्त हो रहे हैं।

भगवान् श्रीरामजी के समक्ष प्रपन्न होकर भरतजी अपने दुर्दिन से डरते हुए उससे रक्षा माँगते हैं। श्रीरामजी अब इनकी उससे अवश्य रक्षा करेंगे; यथा—"जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रान की नाई॥" (मा० सुं० ४३)।

'आए सदा सुधारि गोसाईं...'; यथा-"बाँह पगार! द्वार तेरे ते सभय न काहू फिरि गये। तुलसी असरन-सरन स्वामि के बिरद बिराजत नित नये॥" (सुं० ३२); "गई बहोर, ओर निर्बाहक, साजक बिगरे साज के। सबरी-सुखद, गीध गतिदायक। समन सोक कपिराज के॥" (सुं० २९)।

'चित्रकूट तेहि समय ...राम-भरत के बिछुरत ...'; यथा-"भेंटत भुज भरि भाय भरत सो।" से "तेउ बिलोकि रघुबर-भरत प्रीति अनूप अपार। भए मगन मन तन बचन, सहित बिराग बिचार॥ जहाँ जनक गुरु गतिमति भोरी। प्राकृत प्रीति कहत बड़ि खोरी॥ बरनत रघुबर भरत बियोगू। सुनि कठोर कबि जानिहि लोगू॥" (मा०अ० ३१६-३१७)। शिला से विशेष तात्पर्य शिलावत् कठोर हृदय वाले कोल-किरात आदि एवं परम ज्ञानी भी द्रवीभूत हो गये, जैसे कि ऊपर जनकजी एवं वसिष्ठजी आदि की विह्वलता उद्धृत की गई है।

अलङ्कार—ललित (चरण २,४ में)। तथा 'रूपक से पुष्ट उक्तविषया-वस्तूत्प्रेक्षा' (तृतीयपाद में)।

श्रीभरतजी की दिनचर्या

[७६]

जब ते चित्रकूट ते आए।
नंदिग्राम खनि अवनि, डासि कुस, परनकुटी करि छाए ॥ १ ॥
अजिन बसन, फल असन, जटा धरे रहत अवधि चित दीन्हें।
प्रभु-पद-प्रेम-नेम-व्रत निरखत मुनिन्ह नमित मुख कीन्हें ॥ २ ॥
सिंहासन पर पूजि पादुका बारहिं बार जोहारे।
प्रभु-अनुराग माँगि आयसु पुरजन सब काज सँवारे ॥ ३ ॥
तुलसी ज्यों-ज्यों घटत तेज तनु, त्यों-त्यों प्रीति अधिकाई।
भए, न हैं, न होहिं गे कबहूँ भुवन भरत से भाई ॥ ४ ॥

अर्थ—श्रीभरतजी जब से श्रीचित्रकूट से लौट कर आये हैं, तब से श्रीनन्दिग्राम में भूमि खोदकर और उसमें कुश (की साथरी) बिछाकर, वहाँ पर्णकुटी का निर्माण कर रहने लगे हैं ॥१॥ इस समय ये अजीर्ण (बलकल एवं मृगचर्म आदि) वस्त्र धारण करते हैं, फलाहार करते हैं और जटा धारण किये हुए हैं तथा सदा अवधि (१४ वर्ष वनवास की समाप्ति) पर चित्त लगाये रहते हैं। इनका प्रभु श्रीरामजी के चरणों में प्रेम, नियम एवं व्रत ऐसा है कि उन्हें देखते ही मुनियों ने (लज्जित होकर) शिर नीचा कर लिया है ॥ २ ॥ प्रभु की पादुकाओं को राज्य-सिंहासन पर (पधरा कर और) पूज कर इन्होंने बार-बार उनको जोहार (प्रणाम) किया है। प्रभु (चरण-पादुका) से अनुरागपूर्वक आज्ञा माँग माँग कर पुरवासियों के सब कार्य सँभालते हैं ॥३॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जैसे-जैसे शरीर का तेज (सारभाग, तत्त्व) घटता जाता है, वैसे वैसे प्रीति अधिक होती जाती है। अतः, श्रीभरतजी के समान भाई जगत में न हुए हैं, न हैं और न कभी होंगे ॥ ४ ॥

विशेष—'जब ते···नंदिग्राम···अजिन बसन····'; यथा-"नंदिगाँव करि परनकुटीरा। कीन्ह निवास धरमधुर धीरा॥ जटाजूट सिर मुनिपट धारी। महि खनि कुस साथरी सँवारी॥ असन बसन बासन व्रत नेमा। करत कठिन रिषि धरम सप्रेमा॥" (मा० अ० ३२३)। अवधि ही जीवनाधार है; यथा-"रहा एक दिन अवधि अधारा॥" (मा उ० १); "अवधि अंबु प्रिय परिजन

मीना।" (मा० अ० ५६); इससे उसी पर चित्त है, उसीके दिन गिनते रहते हैं। तथा-"ध्रुव बिस्वास अवधि राका-सी। स्वामि सुरति सुर बीथि बिकासी॥" (मा० अ० ३२४); अर्थात् विश्वासपूर्वक अवधि के अवशिष्ट काल के प्रति प्रभु पर भाँति भाँति की वृत्तियों से चित्त लगाये रहते हैं।

'प्रभु-पद-प्रेम-नेम-व्रत ⋯'; यथा-"नित नव राम प्रेम पन पीना। बढ़त धरम दल मन न मलीना॥ जिमि जल निघटत सरद प्रकासे। बिलसत बेतस बनज बिकासे॥ सम दम संजम नियम उपासा। नखत भरत हिय बिमल अकासा॥ ध्रुव बिस्वास अवधि राका-सी। स्वामि सुरति सुर बीथि बिकासी॥ राम प्रेम बिधु अचल अदोखा। सहित समाज सोह नित चोखा॥", "मुनि ब्रत नेम साधु सकुचाहीं। देखि दसा मुनिराज लजाहीं॥" (मा० अ० ३२४-३२५)। नेम (नियम); यथा—"शौचसन्तोष तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।" (यो०सू० २।३२); त्रिकाल स्नानादि शौच, एक बार स्वल्प भोजन आदि सन्तोष, जल, अग्नि एवं शीत सहन तप, मंत्र जप निष्ठा आदि स्वाध्याय तथा ईश्वर-निष्ठा-यह सब करते हैं। व्रत अनन्यता एवं चान्द्रायणादि।

मुनिगण लज्जित होते हैं कि ये राजकुमार हैं, परम सुकुमार एवं अल्प-वयस्क हैं, फिर भी इतना त्याग कर ऐसे-ऐसे कष्टसाध्य साधन कर रहे हैं, जो हम लोगों से भी असाध्य हैं।

'सिंहासन पर पूजि पादुका⋯'; यथा -"सुनि सिख पाइ असीस बड़ि, गनक बोलि दिन साधि। सिंघासन प्रभु पादुका, बैठारे निरुपाधि॥" "नित पूजत प्रभु पाँवरी, प्रीति न हृदय समाति। माँगि-माँगि आयसु करत, राज-काज बहुभाँति॥" (मा० अ० ३२३;३२५); "सिंहासन सुभग राम-चरन-पीठ धरत। चालत सब राज काज आयसु अनुसरत॥" (पद ८०)। 'बारहिं बार जोहारे'-राजा होने पर उसके सभी जोहार करते हैं, क्षत्रियों में प्रणाम को जोहार कहा जाता है। तथा -"सादर सिंघासन बैठारी। तिलक सारि अस्तुति अनुसारी॥ जोरि पानि सब ही सिर नाए।" (मा० लं० १०५); इससे श्रीभरत-जी ने अधिक प्रेम से बार-बार जोहार किया है। पादुका को प्रभु का रूप मान कर उसमें प्रभु का-सा अनुराग करते हैं; यथा—"पादुका नृप सचिव⋯" (वि० ३९)।

'ज्यों-ज्यों घटत तेज तनु···'–श्रीभरतजी घर में रह कर भी तपस्या करते हैं; यथा–"भरत भवन बसि तप तनु कसहीं।" (मा० अ० ३२५); इससे इनका तेज बढ़ता ही है; यथा–"बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।" (मा० उ० ८९); इस कारण से तेज से कोई-कोई बल का लेते हैं, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि भरतजी का बल भी नहीं घटा, आगे श्रीहनुमान् ऐसे वीर को आपने थोथे बाण से मार गिराया है। इससे मैंने यहाँ पर तेज का अर्थ शरीर का 'सार भाग एवं तत्त्व' अर्थ किया है। हिन्दी शब्दसागर में 'सार भाग एवं तत्त्व' भी तेज का अर्थ है। यही यहाँ संगत है; यथा–"देह दिनहुँ दिन दूबरि होई।" (मा० अ० ३२४)।

'भए, न हैं, न होहिं गे'; यथा–"न सर्वे भ्रातरस्तात भवन्ति भरतोपमाः।" (वाल्मी० ६।१८।१५); अर्थात् श्रीरामजी ने सुग्रीवजी से कहा है कि सब भाई श्रीभरतजी के समान नहीं होते।

राग रामकली

[८०]

राखी भगति भली, भलाई भली भली भाँति भरत।
स्वारथ - परमारथ - पथी जय-जय जग करत॥ १॥
जो व्रत मुनिवरनि कठिन मानस आचरत।
सो व्रत लिये चातक ज्यों सुनत पाप हरत॥ २॥
सिंहासन सुभग राम - चरन - पीठ धरत।
चालत सब राजकाज आयसु अनुसरत॥ ३॥
आपु अवध, विपिन बंधु, सोच-जरनि जरत।
तुलसी सम-बिषम, सुगम-अगम लखि न परत॥ ४॥

अर्थ––श्रीभरतजी ने भली-भाँति भली भक्ति और भली भलाई की रक्षा की है। इससे संसार के स्वार्थ और परमार्थ दोनों मार्ग वाले इनका जय-जयकार करते हैं॥१॥ जो (अनन्यता का) व्रत बड़े-बड़े मुनियों को मन से आचरण करने में कठिन जान पड़ता है, उस व्रत को आप (भरतजी) ने चातक के समान ले (धारण कर) रक्खा है, जिसका श्रवण करने पर पाप निवृत होता है॥ २॥ आप श्रीरामजी की चरणपादुका को सुन्दर सिंहासन पर पधराते हैं और उनकी

आज्ञा का अनुसरण करते हुए सब राज्य कार्य का सञ्चालन करते हैं ।। ३ ।। आप श्रीअवध में हैं और भाई श्रीरामजी वन में हैं, इससे आप चिन्तारूपी ज्वाला में जलते रहते हैं । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि सम विषम और सुगम-अगम कुछ देखने (समझने) में नहीं आता ।। ४ ।।

विशेष—'राखी भगति भली···'—'भगति भली' परमार्थ है, और 'भलाई भली' स्वार्थ है, दोनों 'भली' विशेषण पृथक् पृथक् देकर दोनों पक्षों में आपकी परिपूर्णता दिखलाई गई है, इन दोनों मार्गों की आपने भली-भाँति रक्षा की है । लोक में आपने सब के साथ भलप्पन रखते हुए उत्तम भक्ति मार्ग का अनुसरण किया है, इसीसे स्वार्थ और परमार्थ मार्ग वाले इनके आचरण पर कृत्य-कृत्य हो जय-जय कार कर रहे हैं; तथा—"राम नाम अनुराग ही जिय जो रतिआतो । स्वारथ-परमारथ पथी तोहिं सब पतिआतो ॥" (वि० १५१) ।

'जो व्रत मुनिवरनि कठिन···'; यथा—"प्रभु-पद-प्रेम-नेम-व्रत···" (पद ७९)—इसका विशेष देखिये ।

'सो व्रत लिये जातक ज्यों···'; यथा—"खड्गधाराव्रत प्रथमरेखा प्रगट शुद्धमति जुवतिवत् ·प्रेमपागी ॥" (वि० ३९)—यह श्रीभरतजी के गुण-कथन में कहा गया है । त्रिवेणी में अपनी निष्ठा कहते हुए श्रीभरतजी ने ही कहा है; यथा—"जलद जनम भरि सुरति बिसारउ । जाचत जल पबि पाहन डारउ ॥ चातक रटनि घटे घटि जाई । बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई ॥" (मा० अ० २०४) ।

'सिंहासन सुभग पीठ···'—ऊपर पद का तृतीय चरण देखिये ।

'आपु अवध, बिपिन बंधु···'; यथा—"लखन राम सिय कानन बसहीं । भरत भवन बसि तप तन कसहीं ॥ दोउ दिसि समुझि कहत सब लोगू । सब बिधि भरत सराहन जोगू ॥" (मा० अ० ३२५); 'सोच जरनि जरत'; यथा—"बैठे देखि कुसासन, जटा मुकुट कृस गात । राम राम रघुपति जपत, स्रवत नयन जल जात ॥" (मा० उ० १) । मेरे कारण ही भाई वन में हैं इसके सोच में जला करते हैं ।

'सम बिषम, सुगम-अगम···'—यद्यपि देखने में श्रीभरतजी सम और सुगम स्थल श्रीअवध में हैं तथा श्रीरामजी विषम और अगम स्थल वन में हैं ।

पर यह 'लखि न परत' अर्थात् विचारने पर इसका निश्चय नहीं होता; क्योंकि भरतजी यद्यपि सम-सुगम में हैं, परन्तु शोच की ज्वाला में जलते हैं, इससे ये विषम और अगम ही परिस्थिति में हैं और शोच रहित होने से श्रीरामजी सम-सुगम ही में हैं। दोनों ओर की परिस्थितियाँ भी देखने में कुछ और तथा वास्तव में कुछ और ही हैं।

आगे पद में श्रीभरतजी की विलक्षण परिस्थिति पर कुछ कहते हैं—

[८१]

मोहिं भावति, कहि आवति नहिं भरत जू की रहनि।
सजल नयन सिथिल बयन प्रभु-गुन-गन कहनि ॥१॥
असन - बसन - अयन - सयन धरम गरुअ गहनि।
दिन-दिन पन-प्रेम-नेम निरुपधि निरबहनि ॥२॥
सीता - रघुनाथ - लखन - बिरह - पीर सहनि।
'तुलसी' तजि उभय लोक राम - चरन - चहनि ॥३॥

अर्थ—श्रीभरतजी की रहन (रहने की क्रिया) मुझे प्रिय लगती है, परन्तु वह कहने में (यथार्थ) नहीं आती—'इनके नेत्रों का सदा अश्रुपूर्ण रहना और इनका प्रेम पूर्ण शिथिल वाणी से प्रभु श्रीरामजी के गुण गणों का कथन किया करना ॥१॥ कन्दमूल फल आदि भोजन करना, मुनिवस्त्र वल्कल आदि पहनना, नंदिग्राम में पर्णकुटी बना और उसमें भूमि खोद कर उसमें रहना एवं कुश-तृण आदि की शय्या रखनी तथा गरुअधर्म (सेवा धर्म) का ग्रहण किये रहना एवं दिनोदिन (उत्तरोत्तर अधिक) प्रेम की प्रतिज्ञा का नियमपूर्वक निर्विघ्न निर्वाह करना ॥२॥ श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्री-लक्ष्मणजी की विरह पीड़ा का सहन करना तथा (श्रीतुलसीदासजी कहते है कि) दोनों लोक (इहलोक और परलोक के स्वार्थ परमार्थ सुख) का त्याग कर केवल श्रीराम चरण (में अनुराग) चाहना' ॥३॥

विशेष—'मोहिं भावति, कहि आवति नहिं…'; यथा—''कहि न सकति गुन रुचि अधिकाई। मति गति बाल-बचन की नाई॥ भरत बिमल जस बिमल बिधु, सुमति चकोर कुमारि। उदित बिमल जन हृदय नभ, एकटक रही निहारि॥ भरत सुभाउ न सुगम निगम हूँ।'' (मा० अ० ३०३); तथा—

"भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती ॥ बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेस गनेस गिरा गम नाहीं ॥" (मा० अ० ३२४)।

'सजल नयन सिथिल बयन'; यथा—"पुलकगात हिय सिय रघुबीरू। जीह नाम जप लोचन नीरू ॥" (मा० अ० ३२५); तथा—"राम राम रघुपति जपत, स्रवत नयन जलजात ॥...जासु बिरह सोचहु दिन राती। रटहु निरंतर गुन गन पाँती ॥" (मा० उ० १)।

'असन-बसन-अयन-सयन'—पद ७१ के 'मेटहु कुल कुलंक...' इसके विशेष में इनके प्रमाण लिखे गये हैं। 'धरम गरुअ गहनि'; यथा—"हर गिरि ते गुरु सेवक धरमू ॥" (मा० अ० २५२); "आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवा धरम कठिन जग जाना ॥ स्वामि धरम स्वारथहि बिरोधू। बैर अंध प्रेमहिं न प्रबोधू ॥" (मा० अ० २९२); "हित हमार सियपति-सेवकाई।" (मा० अ० १७७); "सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई ॥ अग्या सम न सुसाहिब सेवा।" (मा० अ० ३००)।

'दिन-दिन पन-प्रेम-नेम...'; यथा—"नित नव राम प्रेम पन पीना। बढ़त धरम दल मन न मलीना ॥ जिमि जल निघटत सरद प्रकासे। बिलसत बेतस बनज बिकासे ॥" (मा० अ० ३२४)।

'सीता-रघुनाथ-लखन-बिरह-पीर सहनि।'; यथा—"राम लखन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि बेष फिरत बन-बन ही ॥ अजित बसन, फल असन महि सयन डासि कुस पात। बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरषा बात। एहि दुख दाह दहइ दिन छाती। भूख न बासर नींद न राती ॥ एहि कुरोग कर औषध नाहीं ॥" (मा० अ० २११)। "बीते अवधि रहहिं जो प्राना। अधम कौन जग मोहिं समाना ॥ राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।" (मा० उ० १)।

'तजि उभय लोक राम चरन चहनि'; यथा—"परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे ॥ साधन सिद्धि राम-पग नेहू ॥ मोहिं लखि परत भरत मत एहू ॥" (मा० अ० २८८)—यह श्रीजनकजी ने कहा है। त्रिवेणी की धार में खड़े होकर श्रीभरतजी ने स्वयं भी कहा है, यथा—"अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउँ निरबान। जनम-जनम रति

रामपद, यह बरदान न आन ॥ जानहु राम कुटिल करि मोहीं । लोग कहउ गुरु साहिब द्रोही ॥ सीता-राम-चरन रति मोरे । अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरे॥ जलद जनम भरि सुरति बिसारउ । जाचत जल पबि पाहन डारउ ॥ चातक रटनि घटें घटि जाई । बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई ॥ कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहे । तिमि प्रियतम पद नेम निबाहे ॥" (मा० अ० २०४)।

[८२]

जानी हैं संकर-हनुमान-लखन-भरत राम-भगति।
कहत सुगम, करत अगम, सुनत मीठी लगति ॥१॥
लहत सकृत, चहत सकल, जुग-जुग जगमगति।
राम-प्रेम-पथ ते कबहुँ डोलति नहिं डगति ॥२॥
रिधि सिधि, बिधि चारि सुगति जा बिनु गति अगति।
तुलसी तेहि सन्मुख बिनु बिषय ठगिनि ठगति ॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी की भक्ति को तो (यथार्थ में) श्रीशिवजी, श्रीहनुमानूजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीभरतजी ने ही जाना है। वह कहने में तो सुगम है, परन्तु करने में बड़ी ही दुर्गम जान पड़ती है और सुनने में बड़ी मीठी लगती है ॥१॥ उसे चाहते तो सब कोई हैं, परन्तु पाता कोई एक (विरला) ही है फिर भी यह युग-युग में जगमगाती ही रहती है। यह (नवधा) भक्ति श्री-राम-प्रेम मार्ग से कभी बिलग नहीं होती और न कभी डगमगाती ही है (सदा लक्ष्य में अटल रहती है) ॥२॥ जिस (उस राम) भक्ति के बिना ऋद्धि-सिद्धियाँ एवं चारो प्रकार की (सायुज्य, सारूप्य, सालोक्य एवं सामीप्य) मुक्तियाँ भी गति (मोक्ष) रूपिणी होती हुई भी अगति (दुर्गति) ही हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उस भक्ति की सम्मुखता के बिना विषय (स्पृहा) रूपिणी ठगिनी ठगती ही रहती है ॥३॥

विशेष—"जानी है संकर···राम भगति ।'—इन सबने किस प्रकार से श्रीरामभक्ति को जाना है, यह रहस्य इस पद से समझना चाहिये; यथा—"राम ! रावरो सुभाउ, गुन, सील, महिमा-प्रभाउ, जान्यो हर, हनूमान, लखन, भरत। जिन्हके हिये-सुथरु राम-प्रेम-सुरतरु, लसत सरस सुख फूलत फरत ॥ १ ॥ आप माने स्वामी कै सखा सुभाइ भाइ, पति, ते सनेह-सावधान रहत डरत।

साहिब-सेवक-रीति, प्रीति-परिमिति, नीति, नेम को निबाह एक टेक न टरत ॥" (वि० २५१); अर्थात् यों तो हर आदि चारो इन स्वभाव आदि चारो के ज्ञाता हैं, फिर भी इनमें विपरीत यथासंख्यालङ्कार की रीति से देखने पर एक-एक में एक-एक ज्ञान की विशेषता है। विपरीत यथासंख्य; यथा--"कृतजुग त्रेता द्वापर, पूजा मख अरु जोग।" (मा० उ० १०२); इस रीति से यहाँ भरतजी स्वभाव के ज्ञाता हैं, श्रीलक्ष्मणजी गुण के, श्रीहनुमान्‌जी शील के और श्रीशिवजी महिमा प्रभाव के ज्ञाता हैं। भरतजी का स्वभाव ज्ञातृत्व; यथा—"मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ।" (मा० अ० २६०)। श्रीरामचरितमानस के अधिक स्थलों पर श्रीरामजी के स्वभाव, बानि एवं रीति आदि कह कर इन्होंने ही विशेष रूप से कहा है।

श्रीलक्षक्ष्मणजी में गुण ज्ञातृत्व; यथा—"कहत राम गुन भा भिनुसारा॥" (मा० अ० ९३); अर्थात् निषादराज से रात भर गुण कहते ही रह गये। इन्होंने कहा भी है; यथा—"नाथ सुहृद सुठि सरल चित, सील सनेह निधान।" (मा० अ० २२७)—भाव यह कि आपके इन गुणों को मैं ही जानता हूँ, श्रीभरतजी यदि जानते होते तो क्यों···। तथा—"गायक जानकी नाथ गुनगन के।" (वि० ३७)—यह इन्हीं की स्तुति में है।

श्रीहनुमान्‌जी का शील ज्ञातृत्व; यथा—"कहँ हम पसु साखामृग चंचल बात कहौं मैं बिद्यमान की। कहँ हरि सिव-अज पूज्य ज्ञान-घन नहिं बिसरति वह लगनि कान की॥" (सुं० ११); अर्थात् इतने बड़े प्रभु का एक पशु के कान में लग कर बातें करने में शील गुण की पराकाष्ठा है। 'बात कहौं मैं' अर्थात् इस शील गुण को मैं ही विशेष जानता हूँ।

श्रीशङ्करजी का महिमा-प्रभाव ज्ञातृत्व; यथा-"हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होंहिं मैं जाना॥" (मा० बा० १८४); श्रीरामचरितमानस के कैलास-प्रकरण आदि में इन्होंने अमित महिमा कही है।

जो श्रीरामजी के इन स्वभाव आदि को जानता है, वह इनकी भक्ति ही करता है; यथा—"उमा राम सुभाउ जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥" (मा० सुं० ३३); "यो मामेवसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्व-विद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥" (गीता १५।१९)। तथा—"सुनि सीता-

पति सील सुभाउ। मोद न मन तन पुलक नयन जल सो नर खेह-खर-खाउ॥...समुझि-समुझि गुन ग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ। तुलसिदास अनयास रामपद पाइहै प्रेम पसाउ॥" (वि० १००); परम उपासक भुशुंडी जी स्वभाव पर ही मुग्ध हैं; यथा—"अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥" (मा०उ० १२३); तथा—"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो: हरि॥" (भाग० १।७।१०); अर्थात् आत्माराम और जीवन्मुक्त मुनिगण भी श्रीहरि की भक्ति करते हैं, क्योंकि हरि में गुण ही ऐसे हैं (कि उनसे बिना भक्ति किये रहा नहीं जाता)।

इन चारों की भक्ति निष्ठा उक्त पद में ही आगे—'जिन्हके हिये सुथल राम प्रेम सुरतरु...' इस चरण में कही गई है।

चारो की भक्ति निष्ठा के पृथक्-पृथक् प्रमाण—

शङ्कर-निष्ठा; यथा—"संकर हृदय भगति भूतल पर प्रेम अछयवट राजै।" (उ० १५), "तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती॥" (मा० बा० १०७), इत्यादि।

हनुमान-निष्ठा, यथा—"हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी॥ गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार-बार प्रभु निज मुख गाई॥" (मा उ० ४९)।

लक्ष्मणजी की निष्ठा, यथा—"चातक चतुर राम स्याम घनके।" (वि० २७); ये क्षणभर भी श्रीराम-वियोग नहीं सह सकते; यथा—"मीन दीन जनु जल ते काढ़े।" (मा० अ० ६९), तथा—"न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव। मुहूर्त्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ" (वाल्मी० २।५३।३१); "बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥" (मा० बा० १९७)।

श्रीभरतजी की निष्ठा, यथा—"भरतहिं कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही॥" (मा०अ० १८३); "तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥" (मा० अ० २०७); इत्यादि।

'कहत सुगम करत अगम...'; यथा—"रघुपति! भगति करत कठिनाई।

कहत सुगम करनी अपार जानइ सोइ जेहि बनि आई ॥" (वि० १६७); कहत सुगम, यथा—"कहहु भगति पथ कवत प्रयासा । जोग न मख जप तप उपवासा ॥" (मा० उ० ४५); तथा—"कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरेरुपासने स्वे हृदि छिद्रवत्सतः ।" (भाग० ७।७।३८); अर्थात् प्रह्लादजी ने असुर बालकों से कहा है कि अपने हृदय में ही आकाश के समान अवस्थित परमात्मा की उपासना में विशेष प्रयास ही क्या है ?

'करत अगम'; यथा—"जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई ।" (मा० अर० ५); तथा—"ये कल्पकोटिसततं जप होम योगैर्ध्यानैः समाधिभिरहो रतब्रह्मज्ञानात् । ते देवि धन्यमनुजा हृदि वाह्यशुद्धा भक्तिस्तदा भवति तेष्वपि रामपादौ ॥" (महा रामायण); एवं—"राम भगति मनि······ सो मनि जदपि प्रगट जग अहई । राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई ॥ सुगम उपाय पाइबे केरे । " (मा० उ० ११९); अर्थात् साधन साध्य भक्ति बड़े श्रम से एवं अनेक जन्मों के अभ्यास से प्राप्त होती है और कृपा साध्य भी ईश्वर की अनुकूलता पर निर्भर है, यह इसमें कठिनता है ।

'सुनत मीठी लगति'; यथा—"नाथ तवानन ससि स्रवत, कथा सुधा रघुबीर । श्रवन पुटन्हि मन पान करि, नहिं अघात मतिधीर ॥ ······ बिषइन्ह कहँ पुनि हरिगुन ग्रामा । श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा ॥" (मा० उ० ५२) ।

'लहत सकृत, चहत सकल'; यथा—"कहुँ-कहुँ वृष्टि सारदी थोरी । कोउ यक पाव भगति जिमि मोरी ॥" (मा० कि० १५) । इस पर शंका होती कि यह लुप्त हो जाती होगी, उस पर साथ ही कहा है कि यह युग-युग में जगमगाती रहती है —सतयुग में श्रीप्रह्लादजी, मनुजी और ध्रुव आदि तथा त्रेता में पृथु, हरिश्चन्द्र और अम्बरीष, शबरी एवं विभीषण आदि एवं द्वापर में भीष्म, पांडव एवं मोरध्वज आदि तथा कलियुग में श्रीरामानुज, श्रीरामानन्द, श्रीतुलसीदास और श्रीयुगलानन्यशरण (अयोध्या) आदि की भक्ति-निष्ठा जगमगा रही है ।

'राम-प्रेम-पथ ते कबहुँ ···'—नवधा, प्रेम लक्षणा और परा ये भक्ति के भेद हैं । नवधा भी प्रेमपूर्वक ही की जाती है, परन्तु उसका तात्पर्य शुद्ध प्रेम लक्षणा भक्ति की प्राप्ति है फिर वही गाढ़ स्मृति होने पर पराभक्ति के रूप में परिणत हो जाती है । नवधा भी व्यर्थ नहीं होती; यथा—"कौन्तेय प्रतिजानी-

हि न मे भक्तः प्रणश्यति ।" (गीता ९।३१); "तातें नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहँगबर ॥" (मा० उ० ७८); इसी को 'डोलति नहिं डगति' इस वाक्य खंड से कहा है।

'रिधि सिधि, विधि चारि सुगति...'—ऋद्धि-सिद्धियों को पाकर यदि इनसे प्राप्त विभव भक्ति में लगता जाय, तब तो आगे सद्गति हो होती है। जैसे भरद्वाजजी ने अपनी ऋद्धि सिद्धियों को परम भागवत भरतजी की सेवा में लगाकर कृतार्थ किया है। अन्यथा यदि उन्हें भोग में लगाया गया तो फिर नरक प्राप्ति रूप दुर्गति होती है। मुक्तियों की भी शोभा एवं स्थिरता भक्ति से ही रहती है; यथा—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (मा० अ० २७६); "जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहि राम प्रेम परधानू ॥" (मा० उ० २९०); "राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआई ॥ जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करइ उपाई ॥ तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि-भगति बिहाई ॥" (मा० उ० ११८)।

'तेहि सन्मुख बिनु विषय ठगनि ठगति'; अर्थात् भक्ति न करने से इन्द्रियाँ विषयों में ही लगेंगी; क्योंकि ये चुप एवं स्थिर नहीं रह सकतीं; यथा-"न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।" (गीता ३।५); अर्थात् कोई पुरुष क्षण भर भी बिना कर्म किये नहीं रहता। वैषयिक कर्मों में रागद्वेष रूप डाकुओं का आक्रमण होता ही है; यथा—"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥" (गीता ३।३४); अर्थात् इन्द्रिय-इन्द्रिय के विषय में जो राग द्वेष स्थित हैं, उनके वश में नहीं होना चाहिये, क्योंकि ये दोनों इस (पुरुष) के बटमार हैं।

इससे भक्ति बिना रहने पर विषय द्वारा ठगा जाना कहा गया है।

श्रीकौसल्याजी की विरह वेदना

राग गौरी

[८३]

कैकई करी धौं चतुराई कौन ?
राम लखन सिय बनहि पठाए, पति पठए सुर भौन ॥१॥

कहा भलो धौं भयो भरत को लगे तरुन तन दौन।
पुरबासिन्ह के नयन नीर बिनु कबहुँ तो देखति हौं न ।।२।।
कौसल्या दिन-राति बिसूरति बैठि मनहिं मन मौन।
'तुलसी' उचित न होइ रोइबो प्रान गए सँग जौन ।।३।।

अर्थ – [श्रीकौसल्याजी विचारती हैं –] 'कैकेयीजी ने न जाने कौन चतुराई की है ? श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजी को वन भेज दिया और पति (राजा) को देवलोक पहुँचा दिया (जिससे स्वयं भी विधवा हुईं) ॥ १ ॥ इसमें भरतजी का न जाने कौन भला हुआ ? उनके तो तरुण शरीर में विरह रूपी दावाग्नि लगी हुई है। इसके अतिरिक्त पुरवासियों के नेत्र भी मैं कभी आँसू बिना नहीं देखती' ॥ २ ॥ इस प्रकार चुपचाप बैठी हुई श्रीकौसल्याजी दिन रात मन ही मन खेद करती हैं और यह भी सोचती है कि जो हमारे प्राण श्रीरामजी के साथ नहीं चले गये तो अब रोना उचित नहीं है (क्योंकि सुन कर लोग धिक्कारेंगे कि यह झूठा ही खेद प्रकट करती है, सत्य प्रेम होता तो क्या जीती ही रहती ?) ॥ ३ ॥

विशेष—'कैकई करी धौं…राम लखन सिय…'—भाव यह कि इसने भारी मूर्खता ही की है, इसी के उदाहरण आगे देती हैं—

'राम लखन सिय…पति पठये…'; यथा—"लखन राम सिय कहँ बन दीन्हा। पठइ अमरपुर पति हित कीन्हा॥ लीन्ह बिधवपन अपजस आपू। दीन्हेउ प्रजहि सोक संतापू॥ मोहिं दीन्ह सुख सुजस सुराजू। कीन्ह कैकई सब कर काजू॥" (मा० अ० १७९)—यह श्रीभरतजी की उक्ति यहाँ भी कही गई है। इन सभी के देन-लेन में उसकी मूर्खता ही है।

'कहा भलो धौं…पुरवासिन्ह के नयन…'—उसने अपने पुत्र भरतजी की ही भलाई के लिये यह सब अनर्थ किया, परन्तु भरतजी का भला तो कुछ भी न हुआ, प्रत्युत सुख भोगने की तरुणावस्था में उन्हें विरह-अग्नि में जलना एवं कठिन तपस्या करना पड़ रहा है। प्रजा पालने के लिये राज्य लिया जाता है, इसने राज्य लेकर वह भी नहीं किया, सब पुरवासी दिन रात रोया ही करते हैं।

'कौसल्या दिन रात बिसूरति…'—मन ही मन यह सब सोचती हैं,

क्योंकि कहने में इससे कुछ लाभ नहीं है। अब कुछ हो नहीं सकता। भावी होकर ही रही।

'उचित न होइ रोइबो…'; यथा—"राम लखन सिय बनहिं सिधाए। गइउँ न संग न प्रान पठाए॥ यह सब भा इन्ह आँखिन्ह आगे। तउ न तजा तन जीव अभागे॥ मोहिं न लाज निज नेह निहारी।" (मा० अ० १६६)।

[८४]

हाथ मींजिबो हाथ रह्यो।
लगी न संग चित्रकूटहु ते, ह्याँ कहा जात बह्यो॥ १॥
पति सुरपुर, सिय-राम-लखन बन, मुनि व्रत भरत गह्यो।
हौं रहि घर मसान-पावक ज्यों मरिबोइ मृतक दह्यो॥ २॥
मेरोइ हियो कठोर करिबे कहँ बिधि कहुँ कुलिस लह्यो।
'तुलसी' बन पहुँचाइ फिरी सुत, क्यों कछु परत कह्यो ?॥ ३॥

अर्थ—[श्रीकौसल्याजी मन में सोचती हैं—] हाथ मींजना ही मेरे हाथ में रह गया है; क्योंकि श्रीचित्रकूट से भी मैं श्रीरामजी के साथ न लग गई, मेरे बिना यहाँ क्या बहा जाता था ? (जिसका सँभाल करने के लिये मैं यहाँ आई)॥ १॥ पतिदेव (महाराज दशरथ) देवलोक (स्वर्ग) पधार गये, श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी वन को चले गये और श्रीभरतजी ने मुनिव्रत ग्रहण कर लिया है। मैं ही एक घर में श्मशान की अग्नि की भाँति रह गयी हूँ, यहाँ रहती हुई मैंने तो मृत्यु रूप मृतक को ही जला डाला है (अतः, अब मुझे मृत्यु भी नहीं हो रही है)॥ २॥ मेरा ही हृदय कठोर करने (बनाने) के लिये विधाता ने कहाँ से बज्र प्राप्त किया है, उसी से मैं पुत्र को वन पहुँचा कर (सकुशल) लौट आई, तब कैसे कुछ भी कहा जा सकता है ?॥ ३॥

विशेष—'हाथ मींजिबो…'—'हाथ मलना' यह बहुत पछताने के अर्थ में मुहावरा है। श्रीकौसल्याजी कहती हैं कि मेरे हाथ में पछताने के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया, ऐसी दीन दशा आ गई।

'लगी न संग चित्रकूटहु ते'—पहले तो पतिदेव जीवित थे, उनको दुखी छोड़ कर पुत्र के साथ जाना उचित न था, यह कह कर श्रीरामजी ने

समझा कर रोका था। श्रीचित्रकूट जाने पर तो वह हेतु भी नहीं रह गया था। फिर यहाँ आने में मेरा क्या प्रयोजन था ? मेरे बिना कुछ नहीं बिगड़ता था।

'पति सुर पुर···'—पति सुख नहीं ही रहा, श्रीराम-लक्ष्मण-सीता के वन जाने पर यहाँ पुत्र के देखने का भी सुख नहीं रहा, यदि कहा जाय कि पुत्र श्रीरामजी के परम भक्त एवं पुत्र भी श्रीभरतजी हैं, इन्हीं का पोषण करती हुई सन्तोष ग्रहण करूँ, वह भी आधार नहीं रहा, भरतजी भी तो मुनिव्रत धारण कर कठिन तपस्या करते हुए नन्दिग्राम में रहते हैं। उनका कष्ट सहन करना भी तो नहीं देखा जाता।

'हौं रहि घर मसान-पावक ज्यों···'—मैं अकेली घर में श्मशान की अग्नि के समान बैठी रहती हूँ। वह अशुभ होती है, वैसे मैं भी अशुभ विधवा रूप में रहती हूँ। वह अग्नि शव जलाती है, वैसे मैंने अपनी मृत्यु रूपी शव को ही जला डाला है, इससे अब इतने दुःखों पर भी मृत्यु क्यों कर हो ?

यहाँ 'रूपक से पुष्ट पूर्णोपमा अलङ्कार' है।

सम्बन्ध—ऐसे भारी-भारी दुःखों पर भी मेरा हृदय क्यों नहीं फटता ? इस भाव की पुष्टि पर आगे कहती हैं—

'मेरोइ हियो कठोर करिबे कहँ···'—सृष्टि में वज्र का और चाहे जो कार्य रहा हो, परन्तु माता उन कारणों को न मान कर यही अनुमान करती है कि मेरा ही हृदय कठोर बनाने के लिये विधाता ने कहीं से कठोर वज्र ऊपर किया है, वज्र का और दूसरा प्रयोजन नहीं था।

'बन पहुँचाइ फिरि सुत···'—वन जाकर वहाँ के कष्टों का अनुभव कर वैसे कष्ट में पुत्र को पहुँचा एवं भेज कर फिर भी मैं जीती ही लौट आई तो फिर प्रीति का तो नाश ही हो गया, प्रीति के विषय में मैं क्यों कुछ कह सकती हूँ ?

वास्तव में जिस घटना के प्रति पिता ने प्राण छोड़ दिया, उसी को प्रत्यक्ष देख माता कैसे जी सकती थीं ? परन्तु इन्हें तो पूर्वजन्म से ही अलौकिक विवेक प्राप्त था, उसी से ये जीती हैं; यथा—"रामहिं राय कह्यो बन जाना। कीन्ह आपु प्रिय प्रेम प्रवाना॥ हम अब बन ते बनहि पठाई। प्रमुदित फिरब बिबेक बड़ाई॥" (मा० अ० २९१); अर्थात् श्रीजनकजी ने भी विवेक ही के आधार पर जीवन रह जाने पर अपने को धिक्कार दिया है।

राग सोरठ

[८५]

हौं तो समुझि रह अपनो सो।
राम लखन सिय को सुख मो कहँ भयो, सखी ! सपनो सो ॥ १ ॥
जिन्ह के बिरह बिषाद बटाउन्ह खग-मृग जीव दुखारी।
मोहिं कहा सजनी समुझावति, हौं तिन्ह की महतारी ॥ २ ॥
भरत-दसा सुनि, सुमिरि भूप गति, देखि दीन पुरबासी।
तुलसी 'राम' कहत हौं सकुचति ह्वै है जग उपहासी ॥३॥

अर्थ—हे सखि ! मैं तो अपनी-सी (अपनी ही निर्मित-सी, पक्की) बात समझ रही हूँ। (वह यह कि) श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी का सुख मेरे लिये स्वप्न के समान हो गया है ॥१॥ जिनके विरह में बटोहियों को विषाद है और मार्ग के भी खग-मृग आदि जीव दुखी हो रहे हैं। तब, हे सखी! मुझे तुम क्या समझाती हो ? (कि धैर्य धारण करो आदि) मैं तो उनकी माता हूँ (तब मुझे कैसे धैर्य हो सकता है ?) ॥२॥ श्रीभरतजी की दशा सुन कर, राजा दशरथ की गति का स्मरण कर और पुरवासियों को दीन दशा में देख कर मैं 'राम' यह नाम (मातृ-स्वर में लाघव युक्त, जिससे अपना मातृभाव प्रकट होता है।) कहते हुए सकुचा जाती हूँ कि जगत् में मेरा उपहास होगा (कि दूर-दूर के सम्बन्धियों की ये दशाएँ हैं और यह माता होकर जीती ही है। अरे ! यह कैसी वज्र हृदया है !)

विशेष—'अपनो-सो'—अपनी निर्मित बात जिस अर्थ में होती है, उसी अर्थ में रहती है, उसमें नमक-मिर्ची मिला कर और प्रकार दिखलाने का किसी को अवकाश नहीं रहता, उसी प्रकार यहाँ कौसल्याजी कहती हैं कि मेरे शोच करने के कारण ऐसे स्पष्ट हैं कि उन्हें और प्रकार करके समझाने बुझाने का उनमें अवकाश ही नहीं है। आगे उन बातों का स्पष्टीकरण करती हैं—

'राम लखन सिय को सुख मो कहँ...'—स्वप्न में आई हुई वस्तु जाग कर समझने में नहीं रह जाती, उसी प्रकार मेरी दृष्टि में श्रीराम आदि की सुख व्यवस्था नहीं रह गई। वे वन में क्लेश ही भोग रहे हैं। प्रिय सन्तानों का सुख

ही माता के लिये जीवनाधार होता है। जब वह रह ही नहीं गया तो फिर मुझे सन्तोष कैसे हो सकता है। धैर्य कैसे हो सकता है? अरी! देख तो—

'जिन्ह के बिरह बिषाद बटाउन्ह···'—मार्ग के लोगों का क्षणिक संबंध होता है, वे भी जिन मेरे पुत्रों के विरह में दुखी होते हैं; यथा—"पथिक पयादे जात पंकज से पाय है। मारग कठिन, कुस कंटक निकाय हैं ॥१॥ सखी भूखे प्यासे पै चलत चित चाय हैं।······मग लोग देखत करत हाय-हाय हैं। बन इनको तो बाम विधि कै बनाय हैं ॥५॥" (पद २८)। 'खग मृग जीव दुखारी'; यथा—"हय गय कोटिन्ह केलि मृग, पुर पसु चातक मोर। पिक रथाङ्ग सुक-सारिका, सारस हंस चकोर ॥ राम बियोग बिकल सब ठाढ़े। जहँ तहँ मनहुँ चित्र लिख काढ़े ॥" (मा० अ० ८३)।

'मोहिं कहा···हौं तिनकी महतारी'—कहाँ दूर जांगल देश के बटोही और कहाँ वे जंगल के खग-मृग? देश भेद है, योनि भेद है; फिर भी वे विरह में दुखी हैं और मैं उनकी माता हूँ, वे मेरे कोख से उत्पन्न हैं, मेरे वात्सल्य में पले हैं, मैं ऐसी वज्र हृदया हूँ, जीती-जागती बैठी हूँ, फिर भी तुम समझाने चली हो, किस प्रकार मैं समझूँ और धैर्य करूँ?

'भरत दसा सुनि, सुमिरि भूप गति··'—भरतजी भाई हैं, फिर भी वे राज्य छोड़ तपोव्रत से जाकर नन्दिग्राम में बैठे हैं, उनकी विरह में तप्त होने की दशा सुनती हूँ। राजा ने विरह में तड़प-तड़प कर प्राण त्याग किया है, यह सामने की घटना है। अतः, इसका स्मरण करती हूँ। पुरवासियों की दीन दशा देखती हूँ। इन सब से भी मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह जब विचारती हूँ, तब मुझे अपने मातृभाव के अनुसार प्यार के स्वर में 'राम' ऐसा लाघव युक्त नाम कह मातृत्व व्यक्त करने में मुझे लज्जा लगती है।

माता-पिता अपने प्यारे दुलारे पुत्र-पुत्री को लघु नाम से पुकारते हैं। कहीं तो दूसरा नाम 'मन्नू', 'लाला' आदि और कहीं रक्खे हुए नाम ही को लाघव रूप में बना लेते हैं, जैसे लक्ष्मणजी का लखन, सीताजी का सिया आदि नाम हैं। वैसे ही और लोग तो श्रीरामजी एवं और-और बड़े विशेषण युक्त नाम कहते थे, पर माता 'राम' मात्र ही कहती थीं। यहाँ उस प्रकार के कथन पर

लज्जित होती हैं कि मुझ में मातृ-स्नेह झूठा ही सिद्ध हो गया है। यह नाता प्रकट करने पर लोग धिक्कार दे हँसी करेंगे।

अपने स्नेह की झुठाई को अपनी दृष्टि से माता ने स्पष्ट कहा है; यथा— "पूत परम प्रिय तुम्ह सब ही के। प्रान प्रान के जीवन जी के॥ ते तुम्ह कहहु मातु बन जाऊँ॥ मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊँ॥ यह बिचारि नहिं करउँ हठ, झूठ सनेह बढ़ाइ। मानि मातु कर नात बलि, सुरति बिसरि जनि जाइ॥" (मा० अ० ५५-५६)।

[८६]

आली ! हौं इन्हहिं बुझावौं कैसे ?।
लेत हिये भरि-भरि पति के हित, मातु हेतु सुत जैसे॥ १॥
बार-बार हिहिनात हेरि उत, जो बोलै कोउ द्वारे।
अंग लगाइ लिए बारे ते करुनामय सुत प्यारे॥ २॥
लोचन सजल, सदा सोवत-से, खान-पान बिसराए।
चितवत चौंकि नाम सुनि सोचत राम-सुरति उर आए॥ ३॥
'तुलसी' प्रभु के बिरह बधिक हठि राजहंस से जोरे।
ऐसेहुँ दुखित देखि हौं जीवति राम-लखन के घोरे॥ ४॥

अर्थ—[श्रीकौसल्याजी कहती हैं—] 'हे सखी ! मैं इन घोड़ों को कैसे समझाऊँ ? देखो, जैसे माता के लिये पुत्र प्रीति करता है, वैसे ही इन घोड़ों के हृदय में बार-बार अपने-अपने स्वामी श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी के प्रति प्रीति उम-ड़उमड़ आती है॥ १॥ यदि कोई द्वार पर बोलता है तो ये उसी ओर देख कर बार-बार हिनहिनाने लगते हैं (यह समझ कर कि मेरे स्वामी श्रीराम-लक्ष्मण ही तो नहीं हैं) क्योंकि मेरे करुणामय प्यारे उन पुत्रों ने इन्हें बचपन से अपने अङ्गों से लगा (हिला-मिला) रक्खा है॥ २॥ इन घोड़ों के नेत्र सदा आँसू से भरे रहते हैं और खान-पान भूले हुए सदा सोते हुए-से रहते हैं। श्रीराम-लक्ष्मण के नाम सुन कर चौंक कर उसी ओर देखने लगते हैं और नाम सुन कर उनकी स्मृति हृदय में आ जाने पर शोच करने लगते हैं॥ ३॥ श्रीराम-लक्ष्मण के ये घोड़े राजहंसों के जोड़े के समान हैं। प्रभु

श्रीरामजी के विरह रूप वधिक ने हठ कर के इन्हें दुःखित कर रक्खा है । हाय ! इन्हें ऐसे दुःखित देख कर भी मैं जीती ही हूँ ?'

विशेष--'लेत हिये भरि भरि...'—हित का अर्थ यहाँ प्रीति है, स्वामि-विषयक प्रीति बार-बार उमड़ती है, तब हृदय भर-भर जाता है । माता जैसे बच्चे पर प्रीति रखती है । वैसे ही श्रीराम-लक्ष्मण इन पर प्रीति रखते थे, इसी से उनमें इन घोड़ों का मातृ-भाव का स्नेह है ।

'बार-बार हिहिनात...'—करुणा दृष्टि से स्वामी ने इन्हें पाला है, इस से ये उनकी संभावना पर हिनहिना कर उन्हें अपने पास बुलाना चाहते हैं । ये उनके करुण दृष्टि के कर-स्पर्श आदि भाव के इच्छुक हैं ।

'लोचन सजल...'—यह इनकी चिन्ताग्रस्त दशा है ।

'चितवत चौंकि नाम सुनि...'; यथा--"चरफराहिं मग चलहिं न घोरे । बन मृग मनहुँ आनि रथ जोरे ॥ अढुकि परहिं फिरि हेरहिं पीछे । राम बियोगि बिकल दुख तीछे ॥ जो कह राम लखन बैदेही । हिंकरि हिंकरि हित हेरहिं तेही ॥ बाजि बिरह गति कहि किमि जाती । बिनु मनि फनिक बिकल जेहि भाँती ॥" (मा० अ० १४२) ।

'प्रभु के बिरह...'—जैसे प्रभु पद परम समर्थका वाचक है, वैसे उनका विरह भी वैसा ही समर्थ है, इससे इसने वधिक हो राजहंस के जोड़े के समान इन दोनों घोड़ों को दुःखित कर रक्खा है ।

राजहंस विवेक और चाल में प्रशंसित होता है, वैसे इन घोड़ों में चाल उत्तम है, इससे श्रीराम-लक्ष्मण ने इन्हें रक्खा एवं पाला था तथा इनमें विवेक भी उत्तम है, इससे ये राम-विरह में दुःख माने हुए हैं ।

'देखि हौं जीवति...'--तिर्यग्योनि के पशु में ऐसा भाव है, विरह में व्याकुलता है । मैं ज्ञान प्रधान मानव शरीर में और फिर उनकी माता हूँ, फिर ऐसी शून्य हृदया हूँ कि ऐसे पुत्र के विरह में भी जीती हूँ, यह बड़ी लज्जा की बात है ।

[८७]

राघौ ! एक बार फिरि आवौ ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने, बहुरो बनहिं सिधावो ॥१॥

जे पय प्याइ पोषि कर पंकज बार-बार चुचुकारे।
क्यों जीवहिं मेरे राम लाड़िले ते अब निपट बिसारे ॥२॥
भरत सैगुनी सार करत हैं अति प्रिय जानि तिहारे।
तदपि दिनहुँ दिन होत झाँवरे मनहुँ कमल हिम मारे ॥३॥
सुनहुँ पथिक जो राम मिलहिं बन कहियो मातु सँदेसो।
'तुलसी' मोहिं और सबहिन ते इन्ह को बड़ो अँदेसो ॥४॥

अर्थ—हे राघव ! तुम एक बार वन से लौट कर आ जाओ। अपने इन श्रेष्ठ घोड़ों को देख फिर (चाहे) वन को ही चले जाना ॥१॥ (क्योंकि) जिन घोड़ों का तुमने दूध पिला कर अपने हस्त कमलों से पोषण किया है और इन्हें बार-बार चुचकारा है। ऐ मेरे लाड़िले श्रीराम ! भला, ये नितान्त भुला देने पर अब कैसे जीवित रहेंगे ? ॥२। यद्यपि तुम्हारे अत्यन्त प्यारे जान कर श्रीभरतजी सौगुणा इनका पालन-पोषण करते रहते हैं तथापि ये दिनों दिन अधिक मलिन होते जाते हैं मानों पाला के मारे हुए कमल हों (ऐसे जान पड़ते हैं) ॥३॥ ऐ पथिको ! सुनो, यदि तुम्हें वन में कहीं श्रीराम मिल जायँ तो उनसे माता का यह सँदेश कहना कि मुझ को और सबसे अधिक इन घोड़ों की ही बड़ी चिन्ता है ॥४॥

विशेष—'राघव ! एक बार ··ये बर बाजि····'—विरह की विह्वलता में माता इस प्रकार मानों प्रत्यक्ष सुनने के लिये कहती हैं।

'जे पय प्याइ···क्यों जीवहिं···'—एक बार आकर दर्शन दे दोगे तो इन्हें आधार हो जायगा, अन्यथा नितान्त बिसारने पर तो ये मर ही जायँगे।

'भरत सै गुनी···'—श्रीरामजी को आश्रित एवं सेवक अत्यन्त प्यारे हैं, इससे भरतजी आपकी अपेक्षा इनकी सौगुणी सेवा करते हैं, पर ये दिनों-दिन अधिक मलिन ही होते जाते हैं। प्रमाण—"रामहिं सेवक परम पियारा ॥ मानत सुख सेवक सेवकाई।" (मा० अ० २१८), "सीतापति सेवक सेवकाई। कामधेनु सम सरिस सोहाई ॥" (मा० अ० २६५), ऐसा मान कर श्रीभरतजी इनकी सौगुणी सेवा करते हैं।

'सुनहु पथिक !···'—विरह-व्याकुली में माता को इतना सँभाल नहीं है कि श्रीरामजी चित्रकूट से भी आगे हैं और ये यहाँ के पथिक क्या वहाँ तक जायँगे?

श्रीराम वनवास के समाचार

राग केदारा

[८८]

काहू सो काहू समाचार ऐसे पाए।
चित्रकूट ते राम लखन सिय सुनियत अनत सिधाए ॥ १ ॥
सैल, सरित, निर्झर, बन, मुनिथल देखि-देखि सब आए।
कहत सुनत सुमिरत सुखदायक, मानस सुगम सुहाए ॥ २ ॥
बड़ि अवलंब बाम बिधि बिघटित बिषम बिषाद बढ़ाए।
सिरस-सुमन-सुकुमार मनोहर बालक बिंधि चढ़ाए ॥ ३ ॥
अवध सकल नर नारि बिकल अति, अकनि बचन अनभाए।
तुलसी राम बियोग सोग बस समुझत नहिं समुझाए ॥ ४ ॥

अर्थ--किसी से किसी ने ऐसे समाचार पाये हैं कि सुना जाता है कि श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी श्रीचित्रकूट से अन्यत्र चले गये ॥१॥ (वे कहते थे कि) हम (श्रीचित्रकूट के) कामदगिरि आदि पहाड़, पयस्विनी आदि नदी, झरने विविध विभाग वाले वन और मुनियों के स्थल सब देख-देख कर आये हैं। (ये शैल आदि ऐसे रमणीक हैं कि) कहने सुनने और स्मरण करने में सुखदायक हैं तथा मन को भी सुगम एवं सुहावने हैं (इससे वहाँ स्वाभाविक मन रम जाता है, फिर भी श्रीराम-लक्ष्मण वहाँ से चले ही गये) ॥२॥ (यह सुनकर और लोग कहने लगे कि वहाँ रहने पर) हम सबको बड़ा सहारा था (किसी-किसी व्याज से जाकर दर्शन कर आते) परन्तु प्रतिकूल विधाता ने वह भी तोड़ दिया और यह विषम दुःख बढ़ा दिया कि सिरसा के फूल के समान सुकुमार और मनोहर बालकों को विन्ध्यगिरि के शिखरों पर चढ़ाया है (क्योंकि चित्रकूट से दक्षिण ही दण्डकारण्य की ओर गये होंगे, उधर जाने में पहाड़ों की चढ़ाइयाँ अधिक पड़ती हैं) ॥३॥ ऐसे अप्रिय वचन सुनकर श्रीअवध के स्त्री-पुरुष सब अत्यन्त व्याकुल हो गये। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वे सब श्रीराम-वियोग में ऐसे शोकवश हो गये हैं कि समझाने पर कुछ समझते ही नहीं।

विशेष—काहू सों काहू ''—यह 'उड़ती खबर' अर्थात् बाजारू खबर

है किसी पथिक से सुनने में आई है। सम्भवतः अवध के लोग किसी व्याज से श्रीरामजी के दर्शनार्थ छिपकर जाते थे, उन्होंने ही श्रीचित्रकूट के शैल आदि सभी स्थल खोज-खोजकर पता लगा आए हैं। डर से अपने को प्रकट नहीं करते कि लोगों के आने-जाने पर ही श्रीराम आदि चित्रकूट से चले गये, ऐसा मान कर श्रीभरतजी आदि अप्रसन्न होंगे।

श्रीरामजी के चित्रकूट से अन्यत्र जाने का यह भी कारण है; यथा—"न तत्रारोचयद्वासं कारणैर्बहुभिस्तदा॥" (वाल्मी० २।११७।१); इन बहुत कारणों में एक यह कारण भी हो सकता है कि अवध-मिथिला के लोग देख गये हैं। अतः, किसी-किसी व्याज से यहाँ आया करेंगे। भीड़ रहेगी, एवं व्यवहार बढ़ेगा, कैकेयीजी ने 'तापस बेष बिसेष उदासी' वृत्ति से रहने का वरदान माँगा था। अतः, श्रीरामजी वहाँ से अन्यत्र चले गये।

प्रयाग में त्रिवेणी के पुण्य स्थल में रहने के लिये कहने पर भरद्वाजजी से श्रीरामजी ने अस्वीकृति में यही कारण कहा है; यथा—"भगवन्नित आसन्नः पौरजानपदो जनः। सुदर्शमिह मां प्रेक्ष्य मन्येऽहमिममाश्रमम्॥२४॥ आगमिष्यति वैदेहीं मां चापि प्रेक्षको जनः। अनेन कारणेनाहमिह वासं न रोचये॥२५॥" (वाल्मी० २।५४); अर्थात् श्रीरामजी ने कहा—भगवन्! यहाँ से पुरवासी एवं राज्यवासी पास ही हैं, यहाँ वे सुगमता से मुझे देख सकते हैं। अतएव इस आश्रम में वे मुझको और सीताजी को देखने आया करेंगे, इसीसे मैं यहाँ रहना नहीं चाहता। प्रयाग से चित्रकूट भी बहुत दूर नहीं है, इसी से यह शंका यहाँ भी संगत है।

'चित्रकूट ते…अनत सिधाए'—वाल्मी० २।११७।१-४ से यह स्पष्ट होता है कि श्रीभरतजी के लौटने पर थोड़े ही दिनों में श्रीरामजी चित्रकूट से आगे चले गये हैं। श्रीगोस्वामीजी ने श्रीचित्रकूट में वसन्त और वर्षा ऋतुओं का विशेष वर्णन इसी ग्रन्थ में किया है। इससे इनके कल्प में कुछ विशेष काल तक श्रीरामजी का श्रीचित्रकूट-निवास सिद्ध होता है।

'बिंधि चढ़ाए'—श्रीचित्रकूट से आगे दक्षिण बहुत दूर तक विन्ध्याचल ही के शिखर हैं। चित्रकूट अनुसूया-आश्रम से आगे दण्डकारण्य का विभाग है। उधर चलने में प्रथम पहाड़ों की चढ़ाई अधिक पड़ती है। टिकरिया से आगे

शरभंगाश्रम के बीच में बड़े-बड़े पहाड़ों की चढ़ाई पड़ती है। दण्डक वन में सर्वत्र लगभग १० वर्ष श्रीरामजी ने निवास किया है, ऐसा वाल्मी० ३।११। २४-२७ मेंलिखा है।

'समुझत नहिं समुझाए'—बहुत समय पर निश्चित समाचार न मिलने पर सम्भवतः लोगों को समझाने एवं धैर्य देने के लिये श्रीभरतजी ने सखा निषादराज से कोल-किरातों द्वारा श्रीराम आदि का पता लगाने के लिये संकेत किया होगा, इस पर निषादराज ने शोध लगाकर पत्रिका लिख भेजी है, आगे के पद में उसका वर्णन है।

[८६]

सुनी मैं, सखि ! मगल चाह सुहाई।
सुभ पत्रिका निषादराज की आजु भरत पहँ आई॥ १॥
कुँअर सो कुसल-छेम अलि-तेहि पल कुलगुरु कहँ पहुँचाई।
गुरु कृपाल संभ्रम पुर घर-घर सादर सबहि सुनाई॥ २॥
बधि बिराध सुर-साधु सुखी करि, रिषि-सिख-आसिष पाई।
कुंभज-सिष्य समेत संग सिय, मुदित चले दोउ भाई॥ ३॥
रेवा बिंधि बीच सुपास थल बसे हैं परनगृह छाई।
पंथ-कथा रघुनाथ पथिक की तुलसिदास सुनि गाई॥ ४॥

शब्दार्थ—चाह = खबर, समाचार। संभ्रम = हर्ष से त्वरा के साथ। रेवा = १ नर्मदा नदी, ...रीवाँ राज्य, बघेलखंड—हिं० श० सा०।

अर्थ—हे सखि ! मैंने एक मङ्गलमय और सुहावना समाचार सुना है। आज श्रीनिषादराज की शुभ पत्रिका श्रीभरतजी के पास आई है॥१॥ हे सखि ! कुँवर श्रीभरतजी ने वह कुशल-क्षेम-पत्रिका उसी क्षण कुल-गुरु श्रीवशिष्ठजी के पास पहुँचा दी है। कृपालु श्रीगुरु महाराज ने उसे आदर पूर्वक हर्षित हो शीघ्र नगर में घर-घर सबको वह समाचार सुना दिया॥२॥ (उस पत्रिका में लिखा है कि) दोनों भाई विराध राक्षस का वध कर उससे देवताओं और साधुओं को सुखी कर तथा ऋषियों की शिक्षा एवं आशिष पाकर अगस्त्य ऋषि के शिष्य श्रीसुतीक्ष्णजी के साथ संग में श्रीजानकीजी को लिये हुए आनन्द पूर्वक आगे चले गये॥३॥ इस समय वे नर्मदा नदी एवं विन्ध्यगिरि के बीच में सुपास

(सुखमय) स्थल पर पर्णशाला छाकर उसमें निवास कर रहे हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इस प्रकार उस सखी ने सुनकर पथिक श्रीरघुनाथजी की मार्ग कथा का गान किया है ॥४॥

विशेष—'कुँअर सो····गुरु कृपाल···'—श्रीभरतजी नंदिग्राम में रहते हैं। दक्षिण से निषादराज के दूत पहले वहीं पहुँचे हैं तब श्रीभरतजी ने पढ़कर वह पत्रिका श्रीगुरुजी के पास श्रीअवध पहुँचा दी है।

'बधि बिराध···'—विराध वध; यथा–"मिला असुर बिराध मग जाता। आवत ही रघुबीर निपाता ॥ तुरतहि रुचिर रूप तेहि पावा। देखि दुखी निज धाम पठावा ॥" (मा० अर० ६); वाल्मी० ३।३-४ में विराध-वध विस्तृत रूप में है। राक्षस-वध से देवगण सुखी होते ही हैं। साधु भी दुष्ट राक्षस-वध से सुखी हुए, साथ ही यहीं पर साधुओं ने श्रीरामजी की शरणागति की है—वाल्मी० ३।६।१६-२० देखिये, तथा वहीं पर श्रीरामजी ने राक्षसवध की प्रतिज्ञा कर साधुओं और देवताओं को भी उससे सुखी किया है।

'रिषि-सिख-आसिष पाई'—ऋषियों ने राक्षस-वध आदि के लिये प्रार्थना की है, श्रीरामजी ने उसे शिक्षा की भाँति मानकर तदनुसार किया है। माधुर्य दृष्टि से ऋषियों ने ठौर-ठौर पर आशीर्वाद भी दिये हैं।

'कुंभज सिष्य समेत···'—यह कथा मा० अर० ९–११ में है।

'संग सिय'—यह पद पृथक् करके लिखा गया है; क्योंकि वाल्मी० ३। १३।२–४,१३ में श्रीरामजी के साथ श्रीजानकीजी को चलते देखकर श्रीअगस्त्यजी ने कहा है कि ये थकावट से दुःखी हो रही हैं, विश्रामार्थ उत्कंठित हैं, अत्यन्त सुकुमारी हैं। अतः, इनकी प्रसन्नता के लिये यहाँ निवास कीजिये। फिर कुछ ध्यान कर उन्होंने पञ्चवटी में रहने के लिये कहा है। वही बात यहाँ भी अगले चरण में पर्णगृह रचकर रहने को उसी स्थल के प्रति कहा जा रहा है।

'रेवा बिंधि बीच सुपास थल····'—पञ्चवटी तक विन्ध्याचल पहाड़ ही है। अतः, नर्मदा नदी से आगे पञ्चवटी स्थल का यहाँ तात्पर्य है। 'सुपास थल'; यथा —"अतश्च त्वामहं ब्रूमि गच्छ पञ्चवटीमिति। स हि रम्यो वनोद्देशो मैथिली तत्र रंस्यते ॥१७॥ स देशः श्लाघनीयश्च नातिदूरे च राघव। गोदावर्याः समीपे च मैथिली तत्र रंस्यते ॥१८॥ प्राज्यमूलफलैश्चैव नानाद्विजगणैर्युतः।

विविक्तश्च महाबाहो पुण्यो रम्यस्तथैव च ॥१६॥" (वाल्मी० ३।१३); अर्थात् अगस्त्यजी ने श्रीरामजी से कहा है कि आप पंचवटी जायँ। वह स्थान बड़ा ही रमणीय है, जानकीजी वहाँ प्रसन्न होंगी। वह स्थल प्रशंसनीय है और समीप ही है। गोदावरी नदी के पास है, इससे श्रीजानकीजी वहाँ प्रसन्न होंगी। वहाँ बहुत अधिक फल-मूल हैं, अनेक प्रकार के पक्षी हैं। वह स्थान बड़ा ही एकान्त और पवित्र तथा रमणीय है।

'बसे हैं परनगृह छाई'—श्रीचित्रकूट में देवगण ने कोल-किरात रूप में आकर पर्णकुटी का निर्माण किया है। किष्किन्धा में भी प्रथम ही से देवों ने रुचिर गिरि गुहा बना रक्खी थी। परन्तु यहाँ पर स्वयं पर्णगृह छाकर रहना कहा गया है। इसमें एक कारण तो यही है कि यहाँ पास ही खरदूषण आदि रहते हैं, इससे देवगण भय से नहीं आये। दूसरा यह भी कारण है कि इसी पर्णशाला से श्रीसीताजी का हरण होगा, अतः अपयश होने के भय से भी देवगण पर्णशाला बनाने नहीं आये।

वाल्मी० ३।१५ में लिखा है कि श्रीरामजी ने स्वयं अच्छा स्थल चुनकर श्रीलक्ष्मणजी से कहा, तब उन्होंने बड़ी रमणीय पर्णकुटी प्रस्तुत कर दी।

'सुनि गाई'—यहाँ सखी का दूसरी सखी से कथन है। कथन करनेवाली सखी ने गुरुजी के द्वारा घर-घर समाचार भेजे जाने पर जैसा सुना था, वैसा ही कहा। (उसी की परम्परा से प्राप्त गुरुजनों से सुनकर श्रीतुलसीदासजी ने भी गाया है—यह भी ध्वनित भाव है)।

अरण्यकाण्ड

वन-विहार

राग मलार

[१]

देखे राम-पथिक नाचत मुदित मोर।
मानत मनहुँ सतड़ित ललित घन, धनु सुरधनु, गजरनि टँकोर ॥१॥
कँपै कलाप बर बरहि फिरावत, गावत कल कोकिल-किसोर।
जहँ-जहँ प्रभु बिचरत, तहँ तहँ सुख, दंडकबन कौतुक न थोर ॥२॥

सघन छाँह-तम रुचिर रजनि भ्रम, बदन-चंद चितवत-चकोर।
तुलसी मुनि खग-मृगनि सराहत, भये हैं सुकृत सब इन्ह की ओर ॥३॥

शब्दार्थ—कंपै = कँपाकर। कलाप=मोर की पूँछ। बरहि = मोर।

अर्थ—पथिक श्रीरामजी को देख कर आनन्दित होकर मयूर नाचते हैं, मानो वे उन (श्रीसीतारामजी) को बिजली के साथ मनोहर मेघ मानते हैं और श्रीरामजी के धनुष को इन्द्र धनुष तथा उनके धनुष के टंकोर को मेघ का गर्जना मान लेते हैं ॥ १ ॥ अच्छे-अच्छे मयूर अपनी पूँछ को कँपा कर उसे फिराते हुए (फैला कर) नाचते हैं, उनके साथ युवक कोयल सुन्दर मधुर स्वर से गान करते हैं। प्रभु श्रीरामजी जहाँ जहाँ विचरते हैं, वहाँ-वहाँ आनन्द ही होता है, इस प्रकार दण्डकवन में थोड़ा कौतुक नहीं है ॥ २ ॥ सघन वृक्षों की छाया के अन्धकार में सुन्दर उजाली रात का भ्रम होने पर प्रभु के मुख को चन्द्रमा मान कर चकोर उसी ओर चितवने लगता है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यह सब देख कर मुनि लोग इन पक्षियों और मृगों की सराहना करते हैं कि समस्त पुण्य इनकी ही ओर हो रहे हैं ॥ ३ ॥

विशेष—'देखे राम पथिक···मानत मनहुँ···'—यहाँ मोरों को मेघ की भ्रान्ति हो गई है। श्रीरामजी का श्याम शरीर श्याम मेघ के समान है, साथ में श्रीजानकी तड़ित वर्णा हैं, वे ही उस मनोहर मेघ के साथ बिजली हैं। अथवा, यहाँ केवल श्रीरामजी का ही नाम आया है। अत: उनका पीताम्बर ही बिजली के समान चमक रहा है। धनुष ही इन्द्र धनुष और धनुष के प्रत्यञ्चा से शब्द होता है, वही मेघ गर्जन के समान है। भ्रम से इन्हें मेघ मान कर मोर नाचता है।

'कँपै कलाप···'—मेघ मान कर अनुरक्त होकर, ये मोर पूँछ कँपा कर, फैला कर उसे फिराते हुए नाचते हैं, कोयल भी मेघ ही के भ्रम में मधुर स्वर में कूँजते हैं, मानो नर्तक के साथ के गायक गा रहे हैं; यथा—"अलिगन गावत नाचत मोरा।" (मा० अर० २३५); इसी प्रकार दण्डकवन में जहाँ-जहाँ प्रभु विचरते हैं, सर्वत्र बहुत कौतुक खग-मृगों का देखने में आता है। प्रभु विचरण से दण्डकवन का शाप छूट गया है, इससे भी सब ओर भाँति-भाँति के उत्सवों की अनुभूतियाँ हो रही हैं।

'सघन छाँह तम....'; यथा—"नील सघन पल्लव फल लाला। अबिरल छाँह सुखद सब काला॥ मानहुँ तिमिर अरुनमय रासी। बिरची बिधि सँकेलि सुखमा-सी॥" (मा० अ० २३६)। इसमें चकोर को सुन्दर चाँदनी रात का भ्रम हो जाता है। साथ ही जब वह प्रभु के मुख को देखता है तो पूर्ण चन्द्रमा मान कर वह इनकी ही ओर एकटक देखने लगता है।

'तुलसी मुनि....'—मुनिगण इन खग-मृगों के भाग्य की सराहना करते हैं कि इन्हें श्रीरामजी के तात्त्विक स्वरूप का ज्ञान नहीं है तो भी अपने विषय के द्वारा ही इनकी श्रीराम में भक्तिनिष्ठा बन गई है। विषयानुराग में ही इन्हें रामानुराग प्राप्त हो गया है, यही समस्त सुकृतों का फल है; यथा—"बेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू॥" (मा० बा० २६)। अतः, इन्हें समस्त सुकृत का फल प्राप्त हो गया है। इससे समस्त सुकृतों का इनकी ओर हो जाना कहा है।

इस पद में मोर, कोयल और चकोर के प्रसंगों में 'भ्रान्ति अलंकार' है। आगे पद में मृगों में भी ऐसी ही भ्रान्ति कहते हैं, इसमें पक्षी मात्र के ही उदाहरण कहे गये हैं, मृगों का प्रसंग आगे के पद में कहते हैं—

राग कल्याण

[२]

सुभग सरासन सायक जोरे।
खेलत राम फिरत मृगया बन, बसति सो मृदु मूरति मन मोरे॥१॥
पीत बसन कटि, चारु चारि सर, चलत कोटि नट सो तृन तोरे।
स्यामल तनु श्रम कन राजत, ज्यों नव घन सुधा-सरोवर खोरे॥२॥
ललित कंध, बर भुज, बिसाल उर, लेहिं कंठ-रेखैं चित चोरे।
अवलोकत मुख देत परम सुख, लेत सरद-ससि की छबि छोरे॥३॥
जटा मुकुट सिर, सारस-नयननि गौंहैं तकत सुभौंह सकोरे।
सोभा अमित समाति न कानन, उमँगि चली चहुँ दिसि मिति फोरे॥४॥
चितवत चकित कुरंग-कुरंगिनि, सब भये मगन मदन के भोरे।
तुलसिदास प्रभु बान न मोचत सहज सुभाय प्रेम बस थोरे॥५॥

शब्दार्थ—तृन तोरे=तृण तोड़ना, किसी सुन्दर वस्तु को देखकर उसे नजर लगने से बचाने के लिये उपाय करना। सारस=कमल। गौं=घात।

अर्थ—श्रीरामजी अपने सुन्दर धनुष पर बाण चढ़ाये हुए वन में आखेट (शिकार) खेलते फिरते हैं, वह कोमलमूर्त्ति मेरे मन में निवास करती है ॥१॥ उनकी कटि में पीताम्बर और सुन्दर चार बाण हैं। ऐसी सुन्दर द्रुत गति से चलते हैं कि उस पर मोहित होकर करोड़ों नट (नृत्यकार) तिनका तोड़ते हैं (कि इनकी इस मनोहर चाल पर किसी की नज़र न लग जाय। सुन्दर श्याम शरीर पर पसीने की बूँदें ऐसी सुशोभित होती हैं जैसे नवीन मेघ अमृत के सरोवर में स्नान किए हो ॥२॥ उनके मनोहर कन्धे, सुन्दर श्रेष्ठ भुजाएँ, चौड़ी छाती और कण्ठ की रेखाएँ तो चित्त को चुराये लेती हैं। उनका मुख देखते ही परम सुख देता है, वह शरद् ऋतु के चन्द्रमा की छवि को छीने लेता है ॥३॥ उनके शिर पर जटाओं का मुकुट है और वे अपने कमलवत् नेत्रों से सुन्दर भौंहों को सिकोड़ कर घात (निशाना) ताक रहे हैं, उस समय की शोभा अपार है, वह वन में नहीं समाती, इससे वह मर्यादा छोड़ मानों उमड़कर चारो दिशाओं में फैल चली हो ॥४॥ उस समय चकित होकर मृग और मृगी उन्हीं की ओर देख रहे हैं, मानों वे सब श्रीरामजी को कामदेव समझ कर मोहित हो निमग्न हो गये हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इससे प्रभु श्रीरामजी बाण नहीं छोड़ रहे हैं, क्योंकि उनका यह स्वभाव है कि वे थोड़े भी प्रेम से वश में हो जाते हैं ॥ ५ ॥

विशेष—'सुभग सरासन… खेलत राम…पीतबसन….'; यथा—"प्रेम सों पीछे तिरीछे प्रियाहि चितै चित दै, चले लै चित चोरे। स्याम सरीर पसेऊ लसै, हुलसै तुलसी छबि सो मन मोरे॥ लोचन लोल चलैं भृकुटी, कल काम-कमानहु सो तृन तोरे। राजत राम कुरंग के संग, निषंग कसे, धनु सों सर जोरे॥ सर चारिक चारु बनाइ कसे कटि, पानि सरासन सायक लै। बन खेलत राम फिरैं मृगया, तुलसी छबि सो बरनै किमि कै?॥ अवलोकि अलौकिक रूप मृगी-मृग चौंकि चकैं चितवैं चित दै। न डगैं, न भगैं जिय जानि सिलीमुख पंच धरे रतिनायक है॥" (क० अ० २६–२७) इनके भावों का मिलान कीजिये।

'सायक जोरे।''चारु चारि सर'—चार बाण तरकश में कसे हुए और

एक बाण धनुष पर चढ़ाये हुए हैं, इससे पञ्चबाण (काम) की भ्रान्ति आगे 'मदन के भोरे' इस पद पर कही गई है। तदनुसार ही 'पीत बसन कटि' यह वाक्य खण्ड भी है; यथा—"पीताम्बरधरःस्रग्वी साक्षान्मनमथमन्मथः ॥" (भाग० १०।३२।२); अर्थात् रास करने के समय श्रीकृष्ण भगवान् पीताम्बर धारण किए और माला पहने हुए साक्षात्कामदेव के भी मन का मन्थन करने वाले थे।

'चलत कोटि नट सो तृन तोरे'—कोटि नट बराबरी क्या करेंगे, वे तो मोहित होकर इनकी शोभा रक्षा करने के लिये तृण तोड़ टोटका करने लगते हैं।

यहाँ 'तृतीय प्रतीप अलङ्कार' है।

'स्यामल तनु…'—यहाँ 'स्यामल तनु' उपमेय है 'नवघन' उपमान है तथा 'श्रमकन' उपमेय और 'सुधा सरोवर खोरे' यह उपमान है, 'राजत' धर्म और 'ज्यों' यह वाचक है। अतः, 'पूर्णोपमा अलङ्कार' है।

'लेत सरद ससि की छवि छोरे'—यहाँ 'पचम प्रतीप अलङ्कार' है।

'चहुँ दिसि मिति फोरे'--चारों ओर के दर्शक तुरत ही निमग्न हो जाते हैं, यही शोभा का मर्यादोल्लंघन है।

'चितवत चकित…' उपर्युक्त पद के अनुसार यहाँ भी वही 'भ्रान्ति अलङ्कार' है। इन मृगों की भाग्य-सराहना ऊपर पद में आ चुकी है।

'प्रभु बान न मोचत…'--यद्यपि आप 'प्रभु' अर्थात् परम समर्थ हैं तथापि वे प्रेम के वश हो गये हैं, इससे बाण नहीं छोड़ते; यथा--"भगति अवसहि बस करी" (मा० अर० २५'; तथा—"मैं कछु कहउँ एक बल मोरे। तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे॥" (मा० बा० ३४१)। भ्रम से किए हुए प्रेम को भी प्रभु सत्य मानकर वश हो जाते हैं, यहाँ यह स्पष्ट है।

मारीच-बध

राग सोरठ

[३]

बैठे हैं राम-लखन अरु सीता।
पंचबटी बर परनकुटी तर, कहैं कछु कथा पुनीता ॥ १ ॥
कपट-कुरंग कनक-मनिमय लखि पिय सों कहति हँसि बाला।
पाए पालिबे जोग मंजु मृग, मारेहु मंजुल छाला ॥ २ ॥

प्रिया बचन सुनि बिहँसि प्रेमबस गवहिं चाप-सर लीन्हें।
चल्यो सो भाजि, फिरि-फिरि हेरत मुनि मख रखवारे चीन्हें ॥३॥
सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम हरिन के पाछे।
धावनि, नवनि, बिलोकनि, बिथकनि बसै तुलसी उर आछे ॥४॥

अर्थ – श्रीपञ्चवटी में श्रेष्ठ एवं सुन्दर पर्णकुटी के भीतर श्रीरामजी, श्री-लक्ष्मणजी और श्रीसीताजी बैठे हुए हैं और कुछ पवित्र कथा कह रहे हैं ॥१॥ उसी समय एक स्वर्ण-मणिमय कपट-मृग को देख कर बाला श्रीजानकीजी हँस कर अपने पति श्रीरामजी से कहने लगीं कि 'यह मनोहर मृग यदि पकड़ने से प्राप्त हो जाय तो पालने के योग्य है और यदि मारने पर प्राप्त हो तो इसकी छाला बड़ी सुन्दर होगी' ॥२॥ प्रिया श्रीजानकीजी के वचन सुन कर हँस कर (श्रीरामजी ने) उनके प्रेमवश हो धीरे (चुपके) से धनुष और बाण लिया। वह मृग फिर-फिर कर इनकी ओर देखता हुआ भाग चला; क्योंकि उसने पह-चान लिया कि ये वही हैं, जिन्हें ने विश्वामित्र मुनि के यज्ञ की रक्षा की थी (अतः, इस बार इन से बचना कठिन है) ॥३॥ सोने के मृग के पीछे पीछे श्रीरामजी की मधुर और मनोहर मूर्ति सुशोभित हो रही है। उस समय का उनका दौड़ना, झुकना, देखना और थक कर खड़ा हो जाना आदि इस तुलसी-दास के हृदय में अच्छे लगते हैं और निवास किये हुए हैं ॥४॥

विशेष—'बैठे हैं···पंचबटी बर···'—ज्ञान-वैराग्य भक्ति आदि की पवित्र कथाएँ कहते हैं; यथा—"एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे छल हीना ॥" से "एहि बिधि गए कछुक दिन बीती। कहत बिराग ज्ञान गुन नीती ॥" (मा० अर० १३-१६) तक।

'कपट कुरंग कनक मनिमय लखि···पाए···'; यथा—"तब मारीच कपट मृग भयऊ ॥ अति बिचित्र कछु बरनि न जाई। कनक देह मनि रचित बनाई ॥ सीता परम रुचिर मृग देखा। अंग-अंग सुमनोहर बेषा ॥ सुनहुँ देव रघुबीर कृपाला। एहि मृग कर अति सुंदर छाला ॥ सत्यसंध प्रभु बध करि एही। आनहु चर्म कहति बैदेही ॥" (मा० अर २६); तथा—"यदि ग्रहण-मभ्येति जीवन्नेव मृगस्तव। आश्चर्यभूतं भवति विस्मयं जनयिष्यति ॥१६॥··· जीवन्न यदि तेऽभ्येति ग्रहणं मृगसत्तमः। अजिनं नरशार्दूल रुचिरं तु भविष्य-

ति ॥१९॥ निहतस्यास्य सत्त्वस्य जाम्बूनदमयत्वचि । शष्पबृस्यां विनीतायामिच्छाम्यहमुपासितुम् ॥२०॥" (वाल्मी० ३।४३); अर्थात् यदि यह मृग जीता हुआ ही पकड़ लिया जाय तब तो बड़ा आश्चर्य है, यह बहुतों को विस्मित करेगा ।...यदि यह जीता न पकड़ने में आए तो भी इसका चर्म बड़ा ही सुंदर होगा । इस मरे हुए मृग की स्वर्णमयी त्वचा को घास की चटाई पर बिछा कर मैं आपके साथ बैठूँगी ।

'प्रिया बचन सुनि...चल्यो भाजि...'; यथा—"पंचवटी बर पर्नकुटी तर बैठे हैं राम सुभाय सुहाए । ..देखि मृगा मृगनैनी कहे प्रिय बैन, ते प्रीतम के मन भाए । हेम कुरंग के संग सरासन सायक लै रघुनायक धाए ॥" (क० अर० १); "प्रभुहि बिलोकि चला मृग भाजी । धाए राम सरासन साजी ॥" (मा० अर० २६)।

'सोहत मधुर मनोहर मूरति...'; यथा—"निगम नेति सिव ध्यान न पावा । माया मृग पाछे सो धावा ॥" (मा० अर० २६); तथा—"मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥" (भाग० ११।५।३४); अर्थात् प्राणप्रिया की इच्छापूर्त्ति के लिये जो मायामृग के पीछे दौड़नेवाले हैं, उन महापुरुष की मैं वन्दना करता हूँ ।

'धावनि, नवनि...'—इन धावनि आदि क्रियाओं के उदाहरण आगे पाँचवें पद में हैं ।

राग कल्याण

[४]

कर सर-धनु, कटि रुचिर निषंग ।
प्रिया-प्रीति-प्रेरित बन-बीथिन्ह बिचरत कपट-कनक-मृग संग ॥१॥
भुज बिसाल, कमनीय कंध उर, स्रम-सीकर सोहैं साँवरे अंग ।
मनो मुकुता मनि मरकत-गिरि पर लसत ललित रबि-किरनि प्रसंग ।।२।।
नलिन नयन, सिर जटा मुकुट, बिच सुमनमाल मानो सिव-सिर गंग ।
तुलसिदास ऐसो मूरति की बलि, छबि बिलोकि लाजैं अमित अनंग ।३।

अर्थ—श्रीरामजी के हाथों में बाण और धनुष हैं तथा उनकी कटि में सुन्दर तर्कश सुशोभित है । वे प्रिया श्रीजानकीजी की प्रीति से प्रेरित होकर

वन की गलियों में कपटमय स्वर्णमृग के साथ विचर रहे हैं ॥ १ ॥ उनकी भुजाएँ विशाल हैं, कन्धे और वक्षःस्थल मनोहर हैं तथा उनके श्याम-शरीर पर पसीने की बूँदे शोभायमान हैं मानो मरकत मणि के पहाड़ पर मनोहर सूर्य किरणों का संग पाकर मुक्ताएँ और मणियाँ सुशोभित होती हैं ॥२॥ उनके कमल के समान नेत्र हैं, शिर पर जटाओं का मुकुट है, उस जटा के बीच में फूलों की माला है, वह ऐसी जान पड़ती है मानो श्रीशिवजी के शिर पर गंगाजी हों। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जिनकी छवि पर असंख्य कामदेव लज्जित होते हैं, उनकी ऐसी मूर्त्ति पर मैं बलिहारी जाता हूँ ॥३॥

विशेष—'प्रिया-प्रीति-प्रेरित'''—इसके उदाहरण ऊपर पद में आ गये हैं।

'मनो मुकुता मनि'''—मरकत मणि का पहाड़ श्याम शरीर है और उस पर पसीने की बूँदें मुक्ता-मणि हैं। सूर्य किरण पड़ने पर पहाड़ पर मुक्ता-मणि अधिक शोभित होती है। यहाँ श्रीरामजी के शरीर में कान्ति है; उससे उन पसीने की बूँदों पर भी कान्ति आ गई है, इससे वे अधिक कान्तियुक्त हैं। यहाँ 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।

'सिर जटा मुकुट'''—शिवजी की जटा में आकर गंगाजी बहुत काल तक रह गईं, उस समय जैसे गङ्गाजी की धवल धारा से शिवजी की जटा सुशोभित होती थी, वैसे श्वेत फूलों की माला से वेष्टित होने से श्रीरामजी की जटा सुशोभित हो रही है। यहाँ भी 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।

'ऐसी मूरति''''—जिस मूर्त्ति में इतना अधिक सौन्दर्य है, उस पर मुग्ध होकर तुलसीदास भी बलिहारी जाता है। इसमें 'द्वितीय प्रतीपालंकार' है।

राग केदारा

[५]

राघव भावति मोहिं बिपिन की बीथिन्ह धावनि।
अरुन-कंज-बरन चरन सोक-हरन, अंकुस-कुलिस-केतु-अंकित अवनि ॥१॥
सुंदर स्यामल अंग, बसन पीत सुरंग, कटि निषंग परिकर मिरवनि।
कनक कुरंग संग साजे कर सर चाप, राजिव नयन इत उत चितवनि ॥२॥
सोहत सिर मुकुट जटा-पटल,निकर, सुमन-लता सहित रची बनवनि।

तैसेइ स्रम-सीकर रुचिर राजत मुख,तैसिए ललित भृकुटिन्ह की नवनि ॥३॥
देखत खग निकर, मृग-रवनिन्ह जुत, थकित बिसारि जहाँ-तहाँ की भवनि ।
हरि-दरसन-फल पायो है ज्ञान बिमल,जाँचत भगति मुनि चाहत जवनि ॥४॥
जिन्हके मन मगन भए हैं रस सगुन, तिन्हके लेखे अगुन-मुकुति कवनि ।
श्रवन-सुखकरनि,भव-सरिता-तरनि,गावत तुलसिदास कीरति पवनि ॥५॥

शब्दार्थ— मिरवनि (मेरवनि, मेलवनि)=मिलाना, संयोग कराना । भँवनि= भ्रमण, घूमना । पवनि (पावनि)=पवित्र ।

अर्थ— राघव श्रीरामजी का वन की गलियों (पगदंडियों) में दौड़ना मुझे प्रिय लगता है । उनके लाल कमल के रंगवाले शोकहारी चरणों के अंकुश, वज्र और ध्वजा आदि चिह्नों से अङ्कित पृथिवी (मुझे भाती है) ॥१॥ उनका सुन्दर श्याम शरीर पर सुन्दर रंग का पीताम्बर धारण करना, कटि में तर्कश और फेंटा बाँधना, कपट मृग के साथ हाथ में धनुष-वाण साजे हुए दौड़ना और अपने लाल कमलवत् नेत्रों से इधर-उधर देखना (मुझे भाता है) ॥२॥ उनके शिर पर जटा समूह का मुकुट सुशोभित हो रहा है, उस जटा के बीच-बीच में पुष्प समूह उनकी लताओं के साथ रचे गये हैं; उनकी बनावट तथा उसी प्रकार मुख पर सुन्दर पसीने की बूँदें सुशोभित हैं एवं वैसी ही मनोहर उनकी भौहों का झुकाव भी है (यह छटा मुझे भाती है) ॥३॥ उस समय वहाँ के पक्षियों के समूह एवं मृगियों के साथ मृग प्रभु की सुन्दरता देखते हुए स्थगित हो जाते हैं तथा जहाँ-तहाँ का भ्रमण करना छोड़ देते हैं। भगवान् श्रीरामजी के दर्शनों के फल स्वरूप में इन्हें निर्मल ज्ञान प्राप्त हो गया है, इससे ये सब अब उस (अहैतुकी) भक्ति की याचना कर रहे हैं जिसकी याचना मुनि किया करते हैं ॥४॥ क्योंकि जिनके मन सगुण भगवान् के अनुराग में निमग्न हो गये हैं, उनके विचार में निर्गुण मत की मुक्ति कौन वस्तु है ? अर्थात् कुछ नहीं । यह तुलसीदास तो श्रवण सुखदायिनी और संसार-सरिता का पार करनेवाली प्रभु की पवित्र कीर्त्ति का ही गान करता है ॥५॥

विशेष—'राघव भावति····'—इस चरण में 'राघव' पद को किसी-किसी ने सम्बोधन माना है, परन्तु आगे के प्रसंगों से यहाँ सम्बोधन संगत नहीं है ।

अतः, अवरेब काव्य की रीति से यह 'राघव' पद का 'मोहिं' के पश्चात् और 'विपिन' से पहले ग्रहण करना उचित है।

'अरुन-कंज-बरन···'—अत्यन्त सुकुमार चरणों से कँटीले वन के मार्गों में दौड़ना और उनके अंकुश आदि पद चिन्हों से भूमि का अंकित होना भक्तों के ध्यान का आकर्षक है; यथा—"ध्वज कुलिस अंकुस कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे। पद कंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे॥" (मा० उ० १२); तथा—"स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डककण्टकैः। स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात ततः॥" (भाग० ९।११।१९); अर्थात् तत्पश्चात् दण्डक वन के काँटे-कंकण आदि जिनमें गड़े थे, उन कल्याणकारी चरणों को अपने भक्तों के हृदयों में स्थापित कर (श्रीरामजी) परमधाम को प्राप्त हुए। एवं—"हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहुँ पारस पायउ रंका॥" (मा० अ० २३७); "प्रभु पद अंकित अवनि बिसेषी। आयेसु होइ त आवउँ देखी॥" (मा०अ०२०७)।

'सोहत सिर मुकुट···निकर सुमन···'; यथा—"सिरनि जटा मुकुट मंजुल सुमन जुत···" (अ० २०); "जटा मुकुट बिच नूतन पात।" (अ० १५)। 'तैसेइ स्रम सीकर···'; यथा—"स्यामल तनु स्रम कन राजत ज्यों नव घन सुधा-सरोवर खोरे॥" (पद २)।

'देखत खग निकर, मृग-रवनिन्ह जुत···'; यथा—"अवनि कुरंग, बिहँग द्रुम डारन रूप निहारत पलक न प्रेरत। मगन न डरत निरखि कर कमलन्हि सुभग सरासन सायक फेरत॥" (अ० १४)—इसका विशेष भी देखिये।

'हरि दरसन फल···'—भगवान् के दर्शन से जीव को निर्मल ज्ञान मिलता है, उससे यह अपने सहज स्वरूप का साक्षात्कार करता है, तदनुसार भक्ति-निष्ठा ही होती है; यथा—"मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥" (मा० अर० ३५); तथा—"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥" (मुण्डक० २।२।८); अर्थात् उस समस्त कारणों से परे ब्रह्म के देखने पर हृदय की रागादि गाँठें टूट जाती हैं, सर्व संशय निवृत्त हो जाते हैं और उसके कर्म नष्ट हो जाते हैं।

भगवान् के दर्शन से निर्मल होने पर यह अपने को ईश्वरांश एवं ईश्वर का शेष (सेवक) रूप में साक्षात्कार कर उसकी भक्ति ही करता है और उस भक्ति की विशेष निष्ठा की याचना करता है ।

यहाँ यह विशेषता है कि खग-मृगों को भी निर्मल ज्ञान प्राप्त हो गया है, इससे ये भक्ति याञ्छा करते हैं; तथा—"जड़ चेतन मग जीव घनेरे । जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे ॥ ते सब भये परम पद जोगू।" (मा० अ० २१६); 'जाँचत भगति सुनि'''; यथा—"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे । कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥" (भाग० १।७।१०); अर्थात् आत्माराम और जीवन्मुक्त मुनिजन होते हैं वे भी श्रीहरि में अहैतुकी भक्ति किया करते हैं क्योंकि श्रीहरि में गुण ही ऐसे हैं ।

'जिन्हके मन मगन भए हैं रस सगुन'''; यथा—"ब्रह्मानंद हृदय, दरस सुख लोयननि अनुभए उभय सरस राम जाने हैं।" (बा० ६१); तथा—"सुख के निधान पाये, हिय के पिधान लाये, ठग के-से लाडू खाये, प्रेम मधु छाके हैं। स्वारथ-रहित परमारथी कहावत हे, भे सनेह-बिवस बिदेहता बिबाके हैं ॥" (बा० ६४)—इनके विशेष देखिये ।

'श्रवन सुख करनि, भव सरिता तरनि '''; यथा—"भवसागर चह पार जो पावा । राम कथा ताकहँ दृढ़ नावा ॥ बिषइन्ह कहँ पुनि हरि गुन ग्रामा । श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा ॥ श्रवनवंत अस को जग माहीं । जाहि न रघुपति चरित सोहाहीं ॥" तथा—"नाथ ! तवानन ससि स्रवत, कथा सुधा रघुबीर । स्रवन पुटन्हि मन पान करि, नहिं अघात मति धीर ॥" (मा० उ० ५२); एवं—"निज संदेह मोह भ्रम हरनी । करउँ कथा भव सरिता तरनी ॥" (मा० बा० ३०); इत्यादि । 'कीरति पर्वानि' यथा—"अति पावनि कीरति बिस्तारिहहिं । गाइ-गाइ भव-निधि नर तरिहहिं ॥" (मा०लं०६५)।

राग-सोरठ

[६]

रघुबर दूरि जाइ मृग मार्‍यो ।
लखन पुकारि, राम हरुए कहि, मारतहुँ बैर सँभार्‍यो ॥१॥
सुनहु तात ! कोउ तुम्हहिं पुकारत प्राननाथ की नाईं ।

कह्यो लखन, हत्यौ हरिन, कोपि सिय हठि पठये बरिश्राई ॥२॥
बंधु बिलोकि कहत तुलसी-प्रभु "भाई! भली न कीन्हीं।
मेरे जान जानकी काहू खल छल करि हरि लीन्हीं" ॥३॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी ने दूर जाकर उस मृग (मारीच) का वध किया। उसने 'हा लक्ष्मण !' ऐसा पुकार (बलपूर्वक उच्च स्वर में कह) कर धीरे से 'राम' यह नाम कहा; इस प्रकार उसने मरने के समय भी अपने पुराने वैर का स्मरण रक्खा ॥१॥ [वह सुनकर श्रीसीताजी ने कहा—] "हे तात लक्ष्मण! सुनो, प्राणनाथ (श्रीरामजी) के समान कोई तुम्हें पुकार रहा है"। तब श्रीलक्ष्मणजी ने कहा—'वही हिरण मारा गया है'। यह सुन कुपित होकर श्रीसीताजी ने उन्हें हठपूर्वक बलात् भेज दिया ॥२॥ वहाँ भाई श्रीलक्ष्मणजी को आते हुए देख कर तुलसीदास के प्रभु श्रीरामजी ने कहा—"भाई! तुमने अच्छा नहीं किया। मेरे विचार से तो किसी दुष्ट ने छल करके श्रीजानकीजी का हरण कर लिया है" ॥३॥

विशेष—'रघुबर दूरि जाइ मृग मारयो लखन पुकारि…'; यथा—"प्रगटत दुरत करत छल भूरी। एहि बिधि प्रभुहि गयउ लै दूरी॥ तब तकि राम कठिन सर मारा। धरनि परेउ करि घोर पुकारा॥ लछिमन कर प्रथमहिं लै नामा। पाछे सुमिरेसि मन महँ रामा॥ प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा। सुमिरेसि राम समेत सनेहा॥" (मा० अर० २६); तथा—"स प्राप्तकालमाज्ञाय चकार च ततः स्वनम्। सदृशं राघवस्येव हा सीते लक्ष्मणेति च॥" (वाल्मी० ३।४४।१६); उस मारीच ने उसी समय निश्चय करके श्रीरामजी के समान स्वर में 'हा सीते ! हा लक्ष्मण !!' ऐसा कहा।

'मरतहु बैर सँभारयो'–मारीच का श्रीरामजी से पहले वैर था, इधर बीच में श्रीरामजी में भीतर से उसका प्रेम हो गया था; यथा—"चला राम पद प्रेम अभंगा॥" से "फिरि-फिरि प्रभुहि बिलोकिहौं, धन्य न मोसम आन॥" (मा० अर० २६); "जब मारीच ने रावण को मना किया कि श्रीरामजी से वैर मत करो। तब उसने इसे मारने की धमकी दी। उस पर इसने सोचा कि यदि इसकी आज्ञा न मानूँगा तो यह मुझे तुरत मार डालेगा, मैं इसका बदला न ले सकूँगा। अच्छा होगा कि मैं मरूँ तो साथ ही इसका कुल और सेना के साथ

नाश हो, यह बात इसकी यह आज्ञा मानने पर होगी।"—वाल्मी० ३।४१। इसीसे मारीच ने मरते समय रावण से वैर सधाने के लिये उसके कथनानुसार ही लछमणजी का नाम उच्च स्वर में और श्रीरामजी का नाम धीरे से मन में कहा है कि जिससे-सीता हरण अवश्य हो और रावण का कुल समेत नाश हो। साथ ही कवि का कहना है कि मरते समय भी इसने मानो श्रीरामजी के प्रति पुराने वैर का स्मरण कर ऐसा किया है, इससे श्रीरामजी, श्रीसीताजी और लक्ष्मणजी भी अत्यन्त दुःख पायेंगे, यह भी ध्वनि से भाव निकलता है। वस्तुतः मारीच के हृदय में मरते समय श्रीरामजी के प्रति वैर बुद्धि नहीं थी।

'प्राननाथ की नाईं'—ऊपर 'लखन पुकारि' मात्र कहा था, यहाँ यह भी सूचित किया कि वह श्रीरामजी के-से स्वर में बोला था।

'कोपि सिय हठि पठये बरिआई'–क्रोध होने से विचार नहीं रह गया, हठ करके बलात् भेजा; अन्यथा श्रीलछमणजी नहीं जाते थे। स्वामी की आज्ञा पर अटल थे। 'कोपि', 'हठि' और 'बरिआई' में क्रमशः श्रीजानकीजी के मन, वचन और कर्म के भाव हैं। श्रीलछमणजी श्रीराम-पुरुषार्थ के ज्ञाता हैं, उन्हें कदापि यह भ्रम नहीं हो सकता था कि रामजी पर संकट है। अतः, यहाँ हरि-प्रेरणा की भी प्रवृत्ति हुई है; यथा—"लछिमन बिहँसि कहा सुनु माता॥ भृकुटि-बिलास सृष्टि लय होई। सपनेहु संकट परइ कि सोई॥ मरम बचन जब सीता बोला। हरिप्रेरित लछिमन मन डोला॥" (मा० अर० २७)। मर्म वचन वाल्मी० ३।४५ में हैं। उन्हें यहाँ 'कोपि', 'हठि' और 'बरिआई' पदों से सूचित कर दिया है।

'बंधु बिलोकि कहत⋯मेरे जान⋯'; यथा—"रघुपति अनुजहि आवत देखी। बाहिज चिंता कीन्हि बिसेषी॥ जनकसुता परिहरेहु अकेली। आयहु तात बचन मम पेली॥ निसिचर निकर फिरहिं बन माहीं। मम मन सीता आश्रम नाहीं॥" (मा० अर० २९); तथा—"अहो लछमण गर्ह्यं ते कृतं यत्त्वं विहाय ताम्॥ सीतामिहागतः सौम्य कच्चित्स्वस्ति भवेदिति।⋯मनश्च मे दीनमिहाप्रहृष्टं चक्षुश्च सव्यं कुरुते विकारम्। असंशयं लछमण नास्ति सीता हृता मृता वा पथि वर्तते वा॥" (वाल्मी० ३।५७।१७,१८,२३); अर्थात् श्रीरामजी ने कहा—लछमण! तुमने यह बहुत बुरा किया, जो सीताजी को छोड़ कर यहाँ आए।

क्या कल्याण होगा ?··· मेरा मन बहुत ही अप्रसन्न और दुखी है। बाईं आँख फड़क रही है। लक्ष्मण! निस्संदेह सीता नहीं है। कोई उसे हर ले गया या वह मारी गई अथवा उसे कोई हरे लिये जा रहा है।

'काहू खल छल करि हरि लीन्हीं'—"श्रीरामजी ने लक्ष्मणजी से कहा है कि खर के मारे जाने से राक्षस क्रुद्ध हैं, उन क्रूर राक्षसों को बदला लेने का अवसर मिल गया। उन क्रूरों ने अवश्य ही सीता को मारा होगा। बाण से मारे जाने पर उस राक्षस ने मेरे स्वर में तुम्हें पुकारा है, उसी समय मैंने समझा कि राक्षसों ने छल किया है···" (वाल्मी० ३।५।५८)।

सीता-हरण

[७]

आरत बचन कहति बैदेही।
बिलपति भूरि बिसूरि 'दूरि गये मृग सँग परम सनेही' ॥ १ ॥
कहे कटु बचन, रेख नाँघी मैं, तात! छमा सो कीजै!
देखि बधिक-बस राज मरालिनि, लखन लाल! छिनि लीजै ॥२॥
बन देवनि सिय कहन कहति यों, छल करि नीच हरी हौं।
गोमर-कर सुरधेनु, नाथ! ज्यों, त्यों पर हाथ परी हौं ॥३॥
तुलसिदास रघुनाथ-नाम-धुनि अकनि गीध धुकि धायो।
"पुत्रि पुत्रि! जनि डरहि, जैहै नीचु मीचु हौं आयो" ॥४॥

अर्थ—[श्रीलक्ष्मणजी के चले जाने पर यति वेष से आकर रावण ने श्रीसीताजी का हरण किया, उस समय] श्रीजानकीजी आर्त्तवचन कहने लगीं। बहुत चिन्ता कर विलाप करती हुई कहती हैं—'हा! परम स्नेही स्वामी मृग के साथ दूर चले गये' (इसी से मेरे आर्त्तवचन वे नहीं सुन पाते हैं) ॥ १ ॥ "मैंने तुम्हें कटु वचन कहे और तुम्हारी खींची हुई रेखा भी मैंने नाँघी है, सो, हे तात! क्षमा कीजिये और, हे लखनलालजी! राज-हंसिनी को वधिक के वश में पड़ी हुई के समान मुझे देखकर छीन लीजिये" ॥ २ ॥ वन देवताओं को श्रीसीताजी इस प्रकार कहने के लिये कहती हैं—"नीच के द्वारा मैं छल करके हरी गई हूँ। हे नाथ जैसे कसाई के हाथ में कामधेनु पड़ी हो, वैसे मैं शत्रु के हाथ में पड़ गई हूँ ॥ ३ ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरघुनाथजी के नाम

की ध्वनि सुनकर गृध्रराज जटायुजी वेग से झपटते हुए दौड़े और बोले—"हे पुत्रि ! हे पुत्रि ! मत डरो, इस नीच का मृत्यु रूप मैं आ गया। अतः यह नीच अब जाने नहीं पावेगा" ॥ ४ ॥

विशेष—'आरत बचन कहति बैदेही।'; यथा—"हा जगदेक बीर रघुराया। केहि अपराध बिसारेहु दाया॥ आरति हरन सरन सुखदायक। हा रघुकुल सरोज दिन नायक। हा लछिमन तुम्हार नहिं दोषा। सो फल पायेउँ कीन्हेउँ रोषा॥ बिबिध बिलाप करति बैदेही। भूरि कृपा प्रभु दूरि सनेही॥ बिपति मोरि को प्रभुहि सुनावा। पुरोडास चह रासभ खावा॥" (मा० अर० २८) 'बैदेही'—इस समय देह-सुधि भी नहीं है।

'बिलपति भूरि बिसूरि...'-बहुत चिन्ता कर विलाप करती हुई भी कहती हैं कि स्वामी तो परम-स्नेही हैं; परन्तु वे समीप नहीं हैं। मृग के साथ दूर चले गये हैं; अन्यथा वे तो भूरिकृपा वाले हैं, अवश्य रक्षा करते। 'प्रभु' हैं; अर्थात् रक्षा में पूर्ण समर्थ हैं; यथा—बिबिध बिलाप..." यह ऊपर चौपाई उद्धृत है।

'कहे कटु बचन...'-प्रभु तो दूर गये हैं, पर श्रीलक्ष्मणजी समीप होंगे, इससे उनसे कहती हैं। हंसिनी को वधिक वश देख सभी दया करते हैं, वैसे दया कर मेरी रक्षा कीजिये। कटु वचन कहा और फिर रेखोल्लंघन भी किया, यह भागवतापराध हुआ है, इसके लिये क्षमा याचना करती हैं। इस अपराध के क्षमा कराने का आपने और भी प्रयास किया है; यथा—"जेहि बिधि मोहिं दुख दुसह सहाए। लछिमन कहँ कटु बचन कहाए॥" (मा० लं० ९८); "नाथ जुगल लोचन भरि बारी। बचन कहे कछु जनक कुमारी॥ अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना। दीनबंधु प्रनतारति हरना॥" (मा० सुं० ३०); इतने प्रयास पर भी इस अपराध पर आपने १२ महीना कठिन पतिवियोग एवं कारागार वास का दुःख झेलने की लीला की है; इस लीला से आपने भागवतापराधँ की करालता दिखाई है और भी—

(क) विभीषणजी को लात मारकर रावण ने भागवतापराध किया है, उसके प्रतिफल रूप में वह कुल समेत नष्ट हुआ है।

(ख) श्रीहनुमान्‌जी के प्रति लंकावालों ने लात मार-मार कर भागवतापराध किये हैं; इससे उनके घर-बार जले हैं, वे भी बहुत जल मरे हैं।

(ग) श्रीअम्बरीषजी का अपराध दुर्वासाजी ने किया है, उसका प्रतिफल प्रसिद्ध ही है।

(घ) भक्त प्रह्लादजी के प्रति हिरण्यकशिपु ने अपराध करके वैसा फल पाया है, यह भी बहुत प्रसिद्ध है।

'बन-देवनि सिय…'—श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीजानकी-रक्षार्थ रेखा खींची थी और फिर वन देवों को भी सौंपा था। रेखा तो स्वयं नाँघ कर निकल आई थीं। वन देवता गण रावण को देख डर कर भागने लगे थे। हरण के समय उनसे भी श्रीजानकी ने सँदेश कहने मात्र की प्रार्थना की है, क्योंकि वे तो स्वयं डर गये हैं तो रक्षा क्या करेंगे; यथा—"तं दृष्ट्वा गिरिशृङ्गाभं तीक्ष्णदंष्ट्रं महाभुजम्। प्राद्रवन्मृत्युसंकाशं भयार्ता वनदेवताः॥" (वाल्मी० ३।४९।१८); अर्थात् पर्वत शृङ्ग के समान ऊँचा, लम्बे हाथों और लम्बे दाँतोंवाले मृत्यु के समान रावण को देखकर वनदेव डर कर भागने लगे थे। तथा—"दैवतानि च यान्यस्मिन्वने विविधपादपे। नमस्करोम्यहं तेभ्यो भर्तुः शंसत मां हृताम्॥" (वाल्मी० ३।४९।३२); अर्थात् इस अनेक वृक्षवाले वन में जितने देवता रहते हैं, उन सबको मैं प्रणाम करती हूँ, वे शीघ्र ही मेरे हरी जाने की बात श्रीरामजी से कहें।

इन देवों ने संदेश कहा है, आगे पद ११ में कहा गया है, वहीं देखिये।

'गोमर कर सुरधेनु…'—कसाई के हाथ से गाय छुड़ाने में जो सुनता है, वही दौड़ता है। अतः, देवों का तो साहस ही नहीं पड़ा, परन्तु जिसने छुड़ाने का साहस किया है; दौड़ा है और रक्षार्थ युद्ध किया है, उसको आगे कहते हैं—

'रघुनाथ नाम धुनि अकनि गीध…'—वाल्मी० ३।४९।३६-४० में लिखा है कि गृध्र जटायु को एक वृक्ष पर बैठे देखकर श्रीजानकीजी ने उन्हें केवल श्रीरामजी से सँदेश कहने को कहा है कि तुम इससे स्वयं नहीं रोक सकते। पुनः वाल्मी० ३।५०।१ में लिखा है कि जटायुजी कुछ निद्रा में थे, श्रीसीताजी के शब्दों से जग पड़े और उन्होंने रावण को और इन श्रीसीताजी को देखा। तथा वाल्मी० ३।४९।२१ में यह भी लिखा है कि हरी जाने पर श्रीसीताजी

'राम राम' ऐसा कहती एवं पुकारती जाती थीं। वही ध्वनि यहाँ सुनकर गृध्रराज का वेग से दौड़ना कहा गया है।

'पुत्रि पुत्रि जनि डरहि…'; यथा--"सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा। करिहौं जातुधान कर नासा॥" (मा० अर० २८)। जटायुजी राजा दशरथ के सखा थे और यहाँ श्रीजानकी-रक्षण का भार भी इन्होंने ले रक्खा था, इससे अपना कर्तव्य-पालन करते हुए वैसे वात्सल्य से आश्वासन दे रहे हैं; यथा— "सोऽहं वाससहायस्ते भविष्यामि यदीच्छसि। सीतां च तात रक्षिष्ये त्वयि याते स लक्ष्मणे ॥३४॥ ···स तत्र सीतां परिदाय मैथिलीं सहैव तेनातिबलेन पक्षिणा। जगाम तां पञ्चवटी···॥३६॥" (वाल्मी० ३।१४); अर्थात् जटायुजी ने श्रीरामजी से कहा था कि मैं यहाँ के निवास में सहाय रहूँगा, तुम और लक्ष्मणजी के जाने पर मैं सीताजी की रक्षा करूँगा।···श्रीरामजी ने रक्षा के लिये उस पक्षी को नियुक्त भी किया और उसके साथ वहाँ पञ्चवटी में रहने लगे थे।

'नीचु मीचु हौं आयो'–इसमें 'नीच' पद को किसी-किसी ने रावण का सम्बोधन भी माना है। 'न जैहै नीच'–इसका भाव यह कि जानकीजी ने कहा है– 'छल करि नीच हरी हौं' उस पर आश्वासन में कहते हैं कि यह नीच नहीं जाने पायेगा। पुनः साथ ही जटायुजी इसी 'नीच' पद को सम्बोधन कर रावण से भी कहते हैं कि अरे नीच! तेरा मृत्यु रूप मैं आ गया; यथा—"युद्ध्यस्व यदि शूरोऽसि मुहूर्त्तं तिष्ठ रावण। शयिष्यसे हतो भूमौ यथा पूर्वं खरस्तथा॥" (वाल्मी० ३।५०।२३); अर्थात् रावण, यदि शूर है तो युद्ध कर एक मूहूर्त्त में खर की भाँति पृथिवी पर सोओगे।

'गीध धुकि धायो'; यथा—"धावा क्रोधवंत खग कैसे। छूटे पबि पर्वत कहँ जैसे॥" (मा० अर० २८)।

अलङ्कार—ललित (द्वितीय चरण में) और पूर्णोपमा (तृतीय चरण में)।

जटायु की शूरता

[८]

फिरत न बारहिं बार प्रचारयो।
चपरि चोंच-चंगुल हय हति, रथ खंड-खंड करि डारयो॥१॥

बिरथ बिकल कियो, छीन लीन्हि सिय, घन-घायनि अकुलान्यौ।
तब असि काढ़ि, काटि पर, पाँवर लै प्रभु-प्रिया परान्यौ ॥२॥
रामकाज खगराज आजु लर्यो, जियत न जानकि त्यागी।
तुलसिदास सुर-सिद्ध सराहत, धन्य बिहँग बड़भागी ॥३॥

अर्थ—श्रीजटायुजी ने रावण को बार-बार ललकारा, परन्तु वह लौटता नहीं था (श्रीजानकीजी को लिये हुए भागा ही जाता था)। तब श्रीजटायुजी ने बड़ी फुरती से अपनी चोंचों एवं चंगुलों से रावण के रथ के घोड़ों को मार डाला और फिर उसके रथ को टुकड़े-टुकड़े कर डाला ॥१॥ उसे रथ-रहित और व्याकुल कर दिया तथा श्रीजानकीजी को भी छीन लिया। जब वह बहुत घावों से व्याकुल हो गया, तब उस अधम ने तलवार निकाल कर उसके जटायुजी के पक्ष काट डाले और वह प्रभु श्रीरामजी की प्रिया श्रीसीताजी को लेकर चल दिया ॥२॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यह देखकर देवता और सिद्ध सराहना करने लगे—'रामजी के कार्य के लिये आज पक्षिराज जटायु ने युद्ध किया है, जीते जी इसने श्रीजानकीजी को नहीं छोड़ा, यह पक्षी बड़ा भाग्यवान् है, धन्य है' ॥३॥

विशेष—'फिरत न…'—बार-बार कहने पर एवं धिक्कार, ललकार पर भी वह पीछे फिर कर देखता नहीं था। वह आकाश मार्ग से तेजी में जा रहा था, जटायुजी ने भी वैसी तेजी से उड़ते हुए उसका पीछा किया था, इसी व्याज से वह और कुछ दूर निकल गया, यहाँ लड़ने पर उसे लक्ष्मणजी का डर था कि कहीं समीप ही होंगे तो आ धमकेंगे, तब मेरे प्राणों के लाले पड़ेंगे।

'चपरि चोंच…'; यथा—"काञ्चनोरश्छदान्दिव्यान्पिशाचवदनान्खरान्। तांश्चास्य जवसम्पन्नाञ्जघान समरे बली ॥ १५ ॥ अथ त्रिवेणुसम्पन्नं कामगं पावकार्चिषम्। मणिसोपानचित्राङ्गं बभञ्ज च महारथम् ॥ १६ ॥" (वाल्मी० ३।५१); अर्थात् बली जटायु ने पिशाच मुख वाले और सोने के कवच धारण करने वाले अत्यन्त वेगवान दिव्य खरोंकी भी मार डाला। तथा अग्नि के समान प्रकाश मान मणि और सोने से चित्रित इच्छानुसार चलने वाले तथा युगन्धर युक्त रावण के रथ को तोड़ डाला। यहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया है कि यह सब काम चंगुल और चोंच के द्वारा किये गये हैं।

'बिरथ बिकल कियो…'; यथा—"धरि कच बिरथ कीन्ह महि गिरा।

सीत ह राखि गीध पुनि फिरा ॥ चोचन्ह मारि बिदारेसि देही । दंड एक भइ मुरुछा तेही ॥" (मा० अर० २८); तथा—"स भग्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ।···दृष्ट्वा निपतितं भूमौ रावणं भग्नवाहनम् । साधुसाध्विति भूतानि गृध्रराजमपूजयन् ॥" (वाल्मी० ३।५१।१९-२०); अर्थात् धनुष और रथ टूट जाने से, सारथी और घोड़ों के मारे जाने से···वाहनरहित रावण को भूमि पर गिरा देख कर सभी प्राणियों ने जटायु की प्रशंसा की ।

'घन घायन्हि अकुलान्यो । तब असि काढ़ि···'; यथा—"चोंचन्ह मारि बिदारेसि देही । दंड एक भइ मुरछा तेही ॥ तब सक्रोध निसिचर खिसियाना । काढ़ेसि परम कराल कृपाना ॥ काटेसि पंख परा खग धरनी । सुमिरि राम करि अद्भुत करनी ॥" (मा० अर० २८); रावण जब अपमानित होता है और बस नहीं चलता, तब इसी कृपाण (तलवार) को निकालता है; यथा—"सीता तैं मम कृत अपमाना । कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना ॥···चन्द्रहास हरु मम परितापं ।" (मा० सुं० ९); वैसे ही यहाँ भी यह जटायुजी से अपमानित हुआ । तब उसी शिवजी की दी हुई दिव्य खड्ग का प्रयोग किया है; क्योंकि और शस्त्र सभी नष्ट हो चुके थे; यथा—"गच्छन्तं खड्गशेषं च प्रनष्टहतसाधनम् ॥" (वाल्मीं० ३।५१।२२); जब अपने बल से नहीं जीता, तब शिवजी की वरदानी तलवार से मार कर इनके पक्ष ही काट डाला । पक्षी पर दिव्यास्त्र चला कर पक्ष काटने पर कि यह तड़प-तड़प कर मरे तथा परस्त्री लेकर भागने पर इसे यहाँ 'पामर' कहा गया है ।

'राम काज खगराज···'; यथा—"समर मरन पुनि सुरसरि तीरा । राम-काज छनभंग सरीरा ॥···बड़े भाग अस पाइय मीचू ॥" (मा० अ० १८९); जीते जी शक्ति रहते भर श्रीजानकजी को नहीं जाने दिया ।

'सुर-सिद्ध सराहत···'—देवता और सिद्ध सत्यवादी होते हैं । अतः इन की प्रशंसा का बड़ा महत्त्व है श्रीरामजी की प्रिया की रक्षा में प्राण दिया । अतः इसका श्रीराम में बड़ा स्नेह है । मनुष्य के लिये भी यह कार्य दुर्गम है, इसने तो पक्षी होकर किया है; यथा—"मनुज देह सुर साधु सराहत सो सनेह सिय पी के ।" (वि० १७५); तथा—"प्रभुहि बिलोकत गोद गत, सियहित घायल नीच । तुलसी पाई गीधपति, मुकुति मनोहर मीच ॥ २२२ ॥

बिरत, करमरत, भगत, मुनि, सिद्ध, ऊँच अरु नीचु। तुलसी सकल सिहात सुनि, गीधराज की मीचु ॥ २२३ ॥ मुए, मरत, मरिहैं सकल, घरी पहर के बीच। लही न काहू आजु लौं, गीधराज की मीच ॥ २२४ ॥ मुये मुकुत, जीवत मुकुत, मुकुत मुकुत हू बीच। तुलसी सबही ते अधिक, गीधराज की मीच ॥२२५॥ रघुबर बिकल बिहंग लखि, सो बिलोकि दोउ बीर। सिय सुधि कहि सिय राम कहि, देह तजी मति धीर ॥२२६॥" (दोहावली)।

श्रीरामजी की विरह-वेदना

राग गौरी

[६]

हेम को हरिन हनि फिरे रघुकुल-मनि
लखन ललित कर लिए मृगछाल।
आश्रम आवत चले, सगुन न भए भले,
फरके बाम बाहु लोचन बिसाल ॥१॥
सरित जल मलिन, सरनि सूखे नलिन,
अलि न गुंजत, कल कूजैं न मराल।
कोलिनि-कोल-किरात जहाँ तहाँ बिलखात,
बन न बिलोकि जात खग-मृग-माल ॥२॥
तरु जे जानकी लाए, ज्याये हरि-करि-कपि,
हेरैं न हुँकरि, झरैं फल न रसाल।
जे सुक-सारिका पाले, मातु ज्यों ललकि लाले,
तेऊ न पढ़त, न पढ़ावैं मुनि बाल ॥३॥
समुझि-सहमे सुठि, प्रिया तौ न आई उठि
तुलसी बिबरन परन-तृन-साल।
औरे सो सब समाजु, कुसल न देखौं आजु
गहबर हिय कहैं कोसलपाल ॥४॥

अर्थ—सोने का मृग मार कर रघुकुल शिरोमणि श्रीरामजी लौटे। श्री लक्ष्मणजी उसकी मनोहर मृगछाला को हाथ में लिये हुए थे। आश्रम को

चले आते समय अच्छे शकुन नहीं हुए; प्रत्युत बाईं विशाल भुजा और बायाँ विशाल नेत्र फड़कने लगे थे ॥१॥ नदी का जल मैला हो गया, सरोवरों में कमल सूख गये, वहाँ न भ्रमर गुंजार करते थे और न हंस मनोहर शब्दों से कूजते ही थे। किरात, कोल और कोलिनि जहाँ तहाँ रो रहे थे। वन में पक्षि-समूह और मृग-समूह तो देखे नहीं जाते थे ॥२॥ जिन वृक्षों को श्रीजानकीजी ने लगाया था, वे रसीले फल नहीं झड़ते (गिराते) थे तथा जिन सिंह, हाथी और वानरों को उन्होंने जिलाया (पाला-पोषा) था, वे हुंकार भर कर इधर की ओर देखते नहीं थे। उन्होंने जिन तोतों तथा सारिकाओं को पाला था और उन्हें माता के समान चावपूर्वक लालन किया था, वे भी नहीं पढ़ते थे और न मुनि बालक उन्हें पढ़ाते ही थे ॥३॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि पर्ण तृण-शाला कान्तिहीन हो रही है और प्राण-प्रिया भी तो उठ कर बाहर नहीं आई, इस पर अमंगल की आशंका समझ कर (श्रीरामजी) अत्यन्त डर गये। कोशलपाल श्रीरामजी व्याकुल हृदय से कहने लगे—"आज तो सारा समाज और ही प्रकार का (उदासीन एवं विवर्ण-सा) हो रहा है, इससे मुझे कुशल तो नहीं ही समझ पड़ती" ॥४॥

विशेष—'हेम को हरिन हनि ... लखन ललित ...'—सोने का मृग जब मारा गया, तब प्राण छोड़ने के पहिले ही वह राक्षस शरीर हो गया था; यथा—"प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा।" (मा० अर० २६)। वाल्मी० ३।४४।२७ में तो यह भी स्पष्ट लिखा है कि उसके राक्षस हो जाने और मर जाने पर श्रीरामजी दूसरा मृग मार कर और उसका मांस लेकर बड़ी त्वरा से जनस्थान की ओर चले (पर वहाँ मृगचर्म न लाने की भी बात नहीं है)।

परन्तु श्रीरामचरितमानस में कहा गया है—"सत्यसंध प्रभु बध करि एही। आनहु चरम कहति बैदेही ॥" (मा० अर० २६); अर्थात् आप 'सत्य-संध' हैं। अतः, राक्षस-वध की प्रतिज्ञा पूरी करना है, तथा इस चर्म लाने की मेरी इच्छा पूरी करने की यह प्रतिज्ञा भी सत्य कीजिये। यदि यह मृग वास्त-विक नहीं भी हो, जैसा कि श्रीलक्ष्मणजी ने उसी समय (वाल्मी० ३।४३।५-८ में) स्पष्ट कहा है। तब भी आप 'प्रभु' हैं; अर्थात् सब कुछ करने में समर्थ हैं। अतः इसका 'आनहु चर्म' यह वैदेहीजी ने कहा था।

श्रीरामजी ने अपनी सत्यसंधता एवं प्रभुता से उस सोने के हिरण का हो चर्म लाकर श्रीलक्ष्मणजी को दिया था, वही वे यहाँ 'ललित मृग छाल' हेम के हिरण का लिये हुए हैं।

इसी मृगचर्म के कारण श्रीसीताजी का हरण हुआ है। अतः, इसे देखने पर स्वामी के हृदय में विरह विशेष उद्दीप्त होगा, यह विचार कर श्रीलक्ष्मणजी इसे छिपा कर रक्खा था। जब सेतु बँध जाने पर सुबेल पर प्रभु पहुँच गये, तब शीघ्र शत्रु का वध कराने के विचार से श्रीलक्ष्मणजी ने वहाँ पर इसी मृग चर्म को बिछा दिया है—"तापर रुचिर मृदुल मृग छाला। तेहि आसन आसीन कृपाला ॥" (मा० लं० १०); यह वही मृगछाला है; यथा—"सीता परम रुचिर मृग देखा। अंग-अंग सुमनोहर बेषा ॥···एहि मृग कर अति सुंदर छाला ॥ सत्यसंध प्रभु बध करि एही। आनहु चर्म कहति बैदेही ॥" (मा० अर० २६)। इस पर विविध रहस्यों के साथ प्रभु ने रावण के छत्र-मुकुट एवं मन्दोदरी के ताटंक गिरा कर उसके वध की प्रतीति तुरत करा दी है।

इस 'रुचिर मृदुल मृगछाला' की रामायण भर में अन्यत्र कहीं भी चर्चा नहीं है। श्रीहरिहर प्रसादजी ने इसी प्रसंग पर एक हनुमन्नाटक का श्लोक भी लिखा है—'भूमौ विस्तारितायां त्वचि कनकमृगस्थाङ्गशेषं निधाय।' इसमें भी सुबेल पर्वत की उक्त झाँकी में वहाँ भी मारीच के ही स्वर्ण मृगचर्म का बिछाया जाना लिखा है।

'रघुकुल मनि'—यह कुल सत्यप्रतिज्ञ है, तदनुसार आपने चर्म लाने की असम्भव-प्रतिज्ञा भी सत्य की है, इस पर ग्रन्थकार ने इस कुल में आपको श्रेष्ठ एवं भूषण रूप कहा है।

'फरके बाम बाहु लोचन बिसाल'—पहले कहा गया कि शकुन अच्छे नहीं हुए, फिर होनेवाले अपशकुनों में बाईं भुजा एवं बाएँ नेत्र का फड़कना कहा। इनका तात्पर्य यह कि बाम भाग को सुशोभित करनेवाली प्रिया का वियोग होगा, इससे ये अंग तड़प रहे हैं। इन्हीं प्रियाजी की संयोग सम्भावना पर दाहिने नेत्र और बाहु फड़के थे; यथा—"फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता।" (मा० बा० २३०); उसका भाव यह था कि वाम अंग भूषित हो रहा है, हम

दाहिने तो वञ्चित ही रहेंगे, इस अभाव पर वे तड़पने लगे थे। बराबर में एक को अधिक विभव प्राप्त होने पर दूसरे को स्पर्धा होती ही है।

यों तो पुरुषों के बाएँ अंगों का फड़कना अशुभ और दाहिने का शुभ माना जाता है। तथा—"अशुभान्येव भूयिष्ठं यथा प्रादुर्भवन्ति मे ॥१९॥" "चक्षुश्च सव्यं कुरुते विकारम् ॥२३॥" (वाल्मी० ३।५७); यह इसी प्रसंग पर कहा गया है।

'सरित जल मलिन···'—श्रीजानकीजी के वियोग में जड़-चेतन सभी दुखी हैं; यथा—"श्रीहत सर सरिता बन बागा। नगर बिसेषि भयावन लागा॥ खग मृग हय गय जाहिं न जोए। राम बियोग कुयोग बिगोए॥" (मा० अ० १५७); "बागन्ह बिटप बेलि कुँभिलाहीं। सरित सरोवर देखि न जाहीं॥" (मा० अ० ८२)।

'कोलिनि कोल···'—श्रीजानकीजी के विरह में कोलिन को प्रथम कहा; क्योंकि स्त्रीत्व सम्बन्ध से उन्हें अधिक दुःख है।

'तरु जे जानकी लाए····'—श्रीराम-जानकी सब की आत्मा हैं, इससे इनके वियोग में सभी दुःखी हो गये हैं; यथा—"न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।" (बृह० २।४।५); अर्थात् याज्ञवल्क्य ने कहा—अरी मैत्रेयी! सब के लिये सब प्यारे नहीं होते, आत्मा के ही लिये सब प्यारे होते हैं; तथा—"एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।" (बृह० ४।३।३२); अर्थात् इस आनन्द की मात्रा से अन्य प्राणी जीते हैं।

यहाँ जड़-चेतन सभी दुखी हो गये हैं। वृक्ष आदि जड़ और सिंह आदि चेतन भी आत्मा के दुःख में दुखी हैं।

'जे सुक सारिका···'—ये शुक आदि एवं मुनिबाल भी दुखी हैं।

'प्रिया तौ न आई उठि'; क्योंकि नित्य बाहर से आने पर प्रियाजी देखते ही उठ कर बाहर आ जाती थीं।

'कोसलपाल'—कोशला (अयोध्या) के पालक चक्रवर्ती पृथिवी भर का पालन करते हैं, मैं अपनी प्राणप्रिया का भी पालन नहीं कर सका, हा! मैं भी कोशलपाल कहाता हूँ!

[१०]

आश्रम निरखि भूले, द्रुम न फले न फूले,
अलि-खग-मृग मानो कबहुँ न हे।
मुनि न मुनि-बधूटी, उजरी परन कुटी,
पंचबटी पहिचानि ठाढ़ेइ रहे ॥१॥
उठी न सलिल लिये, प्रेम प्रमुदित हिए,
प्रिया न पुलकि प्रिय बचन कहे।
पल्लव-सालन हेरी, प्रानबल्लभा न टेरी,
बिरह बिथकि लखि लखन गहे ॥२॥
देखे रघुपति-गति बिबुध बिकल अति,
तुलसी गहन बिनु दहन दहे।
अनुज दियो भरोसो, तौ लौं है सोच खरो-सो,
सिय-समाचार प्रभु जौ लौं न लहे ॥३॥

शब्दार्थ—हे = थे (ब्रजभाषा)। गहन=वन । दहन=अग्नि । खर=तृण।

अर्थ—श्रीरामजी अपने आश्रम को देखकर भी भूल गये; क्योंकि वहाँ के वृक्ष न फले हुए हैं और न फूले हुए हैं तथा भ्रमर, पक्षी और मृग तो मानों वहाँ कभी थे ही नहीं (वहाँ ऐसी शून्यता एवं उदासीनता छा गई है); वहाँ न तो कोई मुनि हैं और न मुनि की स्त्री ही हैं। उजड़ी हुई पर्णकुटी पड़ी है, पञ्चवटी को पहचान कर प्रभु खड़े ही रह गये ॥१॥ वे कहते हैं—'प्रेम से आनन्दित हृदय होकर आज मेरी प्राणप्यारी जल लेकर नहीं उठी और न शरीर से पुलकित होकर उसने प्यारे वचन ही कहे हैं तथा (और दिनों की भाँति) पर्णशाला के झरोखों से देखकर मेरी प्राणवल्लभा ने मुझे पुकारा भी नहीं।' ऐसा कह कर प्रभु विरह में शिथिल हो गये। (कहीं गिर न पड़ें) ऐसा देख कर श्रीलक्ष्मणजी ने उन्हें पकड़ लिया ॥२॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्री रघुनाथजी की ऐसी दशा देखकर देवता अत्यन्त व्याकुल हो गये और वन (के विभाग) अग्नि के विना ही जले-से देख पड़ने लगे। तब भाई श्रीलचमणजी ने भरोसा देते हुए कहा—'हे प्रभो! यह तृण के समान भी शोच तभी तक है जब तक श्रीसीताजी का समाचार नहीं प्राप्त होता' ॥३॥

विशेष—'आश्रम निरखि भूले···'—भूलना कहकर साथ ही उसके कारण कहने लगे—'द्रुम न···'। आज यह सब विपरीत व्यवस्था देखकर चकित एवं स्तब्ध से खड़े ही रह गये, अवाक् रह गये, अरे ! यह क्या हो गया ?

'उठी न सलिल लिये···'—नित्य यह सब बर्त्ताव वे करती थीं। अतः आज उनका अभाव खटक रहा है। 'पल्लव-सालन'—इसका अर्थ पर्णशाला से (पर्णशाल के झरोखों से)। 'बिरह बिथकि'; यथा—"सब रनिवास बिथकि रहि गयऊ। तब धरि धीर सुमित्रा कहेऊ ॥" (मा० अ० २८३); तथा—"बिथकनि बसै तुलसि उर आछे।" (पद २); "थकित बिसारि जहाँ-तहाँ की भँवनि।" (पद ५)।

'गहन बिनु दहन दहे···'; यथा—"हाट बाट नहिं जाइ निहारी। जनु पुर दहुँ दिसि लागि दवारी ॥" (मा० अ० १५८)।

'अनुज दियो भरोसो···'; यथा—"लछिमन समुझाए बहु भाँती।" (मा० अर० २९); "एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं। कालहु जीति निमिष महँ आनौं। कतहुँ रहउ जौं जीवित होई। तात ! जतन करि आनउँ सोई ॥" (मा० कि० १७)। 'प्रभु'—आप परम समर्थ हैं। अतः, अपने सामर्थ्य को समझ कर धैर्य करें, उद्योग करके आप सब कुछ कर सकते हैं, आपत्काल में धैर्य और उद्योग से ही वह आपत्काल जीता जाता है।

'खरो सो' यह सोच तो तृण के बराबर थोड़ा-सा एवं थोड़े समय का है। यथा—"शोकं विसृज्याद्य धृतिं भजस्व सोत्साहता चास्तु विमार्गणेऽस्याः। उत्साहवन्तो हि नरा न लोके सीदन्ति कर्मस्वतिदुष्करेषु ॥" (वाल्मी० ३।६३। १९); अर्थात् श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीरामजी को इसी विरह पर समझाते हुए कहा है—'आप शोक छोड़ें, धैर्य धारण करें, श्रीसीताजी को ढूँढ़ने के लिये उत्साह लावें, बड़े कठोर कामों में भी उत्साही मनुष्य दुःखी नहीं होते।

राग सोरठ

[११]

जबहिं सिय-सुधि सब सुरनि सुनाई।
भए सुनि सजग, बिरह-सरि पैरत थके थाह-सी पाई ॥१॥
कसि तूनीर तीर धनु धर धुर धीर बीर दोउ भाई।

पंचबटी गोदहि प्रनाम करि कुटी दाहिनी लाई ॥२॥
चले बूझत बन बेलि बिटप खग मृग अलि अवलि सुहाई।
प्रभु की दसा सो समौ कहिबे को कबि उर आह न आई! ॥३॥
रटनि अकनि पहिचानि गीध फिरे करुनामय रघुराई।
तुलसी रामहिं पिया बिसरि गइ, सुमिरि सनेह-सगाई ॥४॥

अर्थ—जिस समय देवताओं ने श्रीसीताजी का सारा सामाचार सुनाया सुनकर उसी समय श्रीरामजी सावधान हो गये। वे विरहरूपी नदी में तैरते हुए थक गये थे, उसमें थाह (सहारा)-सी पा गये॥ १॥ धैर्यवानों में धुरंधर और वीर दोनों भाई तर्कश कस कर एवं बाण और धनुष धारण कर पञ्चवटी स्थल तथा गोदावरी नदी को प्रणाम कर और पर्णकुटी की प्रदक्षिणा कर वन के वृक्ष, लता, पक्षी, मृग और सुहावनी भ्रमर की पंक्तियों से पूछते हुए आगे चले। प्रभु की उस समय की वह दशा कहने के लिये (आदि) कवि (वाल्मीकिजी) के हृदय में 'आह' (कराहना, दुःख या क्लेस सूचक शब्द) भी नहीं आई! (उनसे कैसे कहा गया है? आश्चर्य की बात है, भाव यह कि मुझसे तो वह अत्यन्त करुण-प्रसंग कहा नहीं जाता)॥ २-३॥ इतने में श्रीराम नाम की रटन सुन गृध्रराज जटायु को पहचान करुणामय श्रीरघुनाथजी लौट पड़े। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि गृध्रराज के स्नेह-सम्बन्ध का स्मरण आने से श्रीरामजी को अपनी प्राणप्रियाजी (जिनके विरह में आप व्याकुल थे) भी भूल गईं॥ ४॥

विशेष—'जबहि सिय सुधि…'—ऊपर पद ७ में श्रीजानकीजी ने वन देवों से सँदेश कहने को कहा था, तदनुसार उन देवों ने समाचार कहा। तब कुछ सान्त्वना हुई, फिर खोजते हुए दक्षिण दिशा में गए सम्भवतः देवों ने रावण द्वारा हरण और उन्हें दक्षिण दिशा में ले जाना मात्र कहा था। आगे खोजने पर जटायु से शेष बात जानेंगे। वाल्मी० ३।६४।१७-२२ में मृगों के संकेत से द्वारा ये बातें जानी गई हैं। सम्भवतः देवों ने रावण के भय से साक्षात् रूप से न कह कर मृगों के द्वारा संकेत से ही कहा है। पद ७ के विशेष में देवों से कहने के लिये श्रीजानकीजी के वचन उद्धृत हैं, तदनुसार देवों ने ही मृगों के द्वारा जनाया है, ऐसा सम्भव है। यहाँ श्रीगोस्वामीजी ने उसे स्पष्ट कहा ही है।

'बिरह सरि पैरत थके थाह-सी पाई।'—अभी तक कुछ निश्चित नहीं था कि सीताजी कहाँ हैं, अब जाना गया कि वे हरी गई हैं और दक्षिण दिशा को आकाशमार्ग से गई हैं, इससे जीवित रहने का पता मिला, अब उपाय करने पर मिल सकती हैं, यह आशा हो गई। यही बिरह नदी में तैरते हुए थाह पाने का भाव है। आगे उपायारूढ़ होना कहते हैं।

'पंचबटी गोदहि···'—इस स्थल को महत्त्व दिया; अन्यथा इस स्थल से सीता-हरण होना मान कर लोग इससे घृणा करते। लीला नित्य है, दिव्य है। अतः, इसके सभी उपकरण नित्य वन्द्य हैं। अब उद्यम करके सीताजी की प्राप्ति करने का निश्चय कर वीरता से चल रहे हैं।

'चले बूझत··प्रभु की दसा···'; यथा-"पूछत चले लता तरु पाँती॥" से "एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी। मनहुँ महा बिरही अतिकामी॥" (मा० अर० २९) तक। वाल्मी० ३।६०-६६ इन छः सर्गों में महर्षिजी ने नाना प्रकार के विरह-विलाप का वर्णन किया है। ग्रन्थकार का यहाँ उसी वर्णन पर कथन है कि महर्षि ने आश्चर्य किया है। उन्हें 'आह' भी नहीं आई।

'रटनि अकनि पाहिचानि···'; यथा—"आगे परा गीधपति देखा। सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा॥" (मा० अर० २९); अर्थात् श्रीरामजी खोजते हुए कुछ आगे बढ़ गये। तब जटायुजी का राम नाम रटना सुना और लौट पड़े, इनकी दशा देखकर आपने इन पर बड़ी करुणा की, इससे 'करुना कर' कहा गया है; यथा—"कर सरोज सिर परसेउ, कृपासिंधु रघुबीर। निरखि राम छबि धाम मुख, बिगत भई सब पीर॥" (मा० अर० ३०); "कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ। दीन दयाल दुसह दुख हरेऊ॥" (मा० उ० ८२)।

'रामहिं प्रिया बिसरि गइ, सुमिरि···'—श्रीरामजी में ही ऐसी प्रीति-रीति जानने की विशेषता है; यथा—"जानत प्रीति-रीति रघुराई। नाते सब हाते करि राखत, राम सनेह-सगाई॥ नेह निबाहि देह तजि दसरथ, कीरति अचल चलाई। ऐसेहु पितु ते अधिक गीध पर ममता गुन गरुआई॥····तुलसी राम सनेह सील लखि, जो न भगति उर आई। तौ तोहिं जनमि जाय जननी जड़ तनु-तरुनता गँवाई॥" (वि० १६४); तथा-"अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना। मृषा न कहउँ

मोर यह बाना ॥ सबके प्रिय सेवक यह नीती । मोरे अधिक दास पर प्रीती ॥' (मा० उ० १५) ।

प्रिया के विरह में इतनी व्याकुली थी, पर आश्रित दुःख देखते ही भूल गये । जटायुजी का शोच ऊपर होकर उस शोक को दबा दिया । स्नेह सम्बन्ध का श्रीरामजी के यहाँ ऐसा आदर है; तथा--"सीताहरणजं दुःखं न मे सौम्य तथागतम् । यथा विनाशो गृध्रस्य मत्कृते च परंतप ॥" (वाल्मी० ३ ६८।२५); अर्थात् हे सौम्य लक्ष्मण ! इस समय सीताजी के हरण का वैसा दुःख मुझे नहीं है, जैसा अपने कारण इस गृध्र के मरने का है ।

जटायुजी और श्रीरामजी का समागम

[१२]

मेरे एकौ हाथ न लागी ।
गयो वपु बीति बादि कानन, ज्यों कलपलता दव दागी ॥१॥
दसरथ सों न प्रेम प्रतिपाल्यो, हुतो जो सकल जग साखी ।
बरबस हरत निसाचर पति सों हठि न जानकी राखी ॥२॥
मरत न मैं रघुबीर बिलोके तापस बेष बनाए ।
चाहत चलन प्रान पाँवर बिनु सिय-सुधि प्रभुहि सुनाए ॥३॥
बार-बार कर मींजि सीस धुनि गीधराज पछिताई ।
तुलसी प्रभु कृपालु तेहि अवसर आइ गए दोउ भाई ॥४॥

अर्थ—[श्रीजटायुजी मन में पश्चात्ताप करते हैं—] "हा ! मेरे हाथ एक बात भी नहीं लगी; जैसे कल्पलता वन में (किसी के काम न आकर) दावाग्नि में जल जाय, वैसे ही मेरा शरीर भी व्यर्थ ही समाप्त हो गया ॥१॥ महाराजा दशरथजी से मेरा प्रेम था, सारा जगत् इस बात का साक्षी है; किन्तु मैं उसका निर्वाह नहीं कर सका; क्योंकि जिस समय राक्षसराज रावण श्रीजानकीजी को बरबस हरे हुए लिये जाता था, मैं हठपूर्वक उनकी रक्षा नहीं कर सका ॥२॥ इस समय मरने के अवसर पर भी मैं तपस्वी वेष बनाये हुए रघुवीर श्रीरामजी को देख नहीं सका; अब प्रभु श्रीरामजी को श्रीसीताजी का समाचार सुनाये विना ही मेरे पामर प्राण इस देह से चलना चाहते हैं" ॥३॥ श्रीतुलसीदासजी

कहते हैं कि गृध्रराज जटायुजी बार-बार हाथ मींज-मींज कर और मत्था पीट पीट कर पछताते थे, उसी अवसर पर कृपालु प्रभु श्रीरामजी दोनों भाई आ गये ।।४।।

विशेष—'गयो बपु बीति बादि···'-कल्पलता अपने आश्रित की कामना पूरी करती है; किन्तु जैसे वह किसी के काम में न आकर वनाग्नि में जल कर व्यर्थ हो जाय, वैसे ही मेरी देह व्यर्थ ही वन में रहती हुई बीत गई। तात्पर्य यहि कि मैंने आश्रित जानकीजी की रक्षार्थ-सुधि प्रभु से न कह पाई। प्रभु परम समर्थ हैं, वे अवश्य रक्षा करते। जटायुजी ने श्रीजानकीजी की रक्षा का भार लिया था—ऊपर पद ७ के अंतिम चरण का विशेष देखिये। वाल्मी० ३। ४९।३८-४० में श्रीजानकीजी ने जटायुजी से हरण समय कहा था—"आर्य जटायु ! पापी राक्षसराज अनाथ के समान निर्दयता से मुझे हर कर लिये जा रहा है ।।३८।। तुम इस क्रूर राक्षस को रोक नहीं सकते, क्योंकि यह बलवान् और बहुतों को जीतनेवाला तथा पापी एवं शस्त्रधारी है ।।३९। मेरे हरी जाने का यह सब समाचार तुम श्रीराम-लक्ष्मण से कह देना ।।४०।।" गृध्रराज सीता-हरण सह नहीं सके, इससे उससे लड़ने लग गये थे। उससे जीते भी नहीं और न सँदेश ही कह पाते हैं, इसी पर पछताते हैं कि मेरे हाथ में एक भी बात न रह गई—न युद्ध में सफलता मिली और न सँदेश ही कह पा रहा हूँ। संक्षेप में कह कर आगे इसी का विस्तार करते हैं।

'दसरथ सों न ···'—पद्मपुराण में कथा है कि शनैश्चर पर चढ़ाई करने पर जटायुजी ने राजा दशरथ की सहायता की है। तभी से उनसे इनकी मैत्री चली आती है। उसी मैत्री की बात कह कर मैं (जटायुजी) ने श्रीरामजी को भरोसा दिया था कि आप दोनों भाइयों के यहाँ से कहीं चले जाने पर मैं जानकीजी की रक्षा करूँगा। श्रीरामजी दोनों भाई उसी मेरी मैत्री पर निर्भर रह कर निश्चिन्त थे, पर मुझसे कुछ न हो सका। बरबस अर्थात् बलात् कष्ट देता हुआ रावण श्रीजानकीजी को हरे लिये जाता था, पर मैं नहीं बचा सका। हठ कर रोक नहीं सका।

अब मैं साक्षी जगत् के समक्ष कौन मुँह दिखाऊँगा। भ्रष्ट प्रतिज्ञ हो अप-यश का पात्र बनूँगा, हा ! इस बात में तो मैं कर्त्तव्य में हारा। आगे भाग्य में भी अपना पराजय कहते हैं—

'मरत न मैं···चाहत चलन···'—रघुबीर पञ्चवीरता से पूर्ण हैं, वे तपस्वी वेष में हैं। मरते समय भी उन्हें देख पाता, तो मैं उक्त कृतघ्नता से बच जाता और उनके दर्शन के साथ प्राण त्याग कर परलोक भी बना लेता, पर क्या करूँ ? भाग्य भी धोखा ही दे रहा है, जिससे सीता-समाचार प्रभु को बिना सुनाये ही नीच प्राण इस देह से चलना चाहते हैं, भाव यह कि वे 'प्रभु' एवं 'रघुवीर' हैं। अतः, सुन पाते तो अवश्य पापी रावण का वध करने का एवं श्रीजानकीजी के छुड़ाने का भरोसा दे मुझे कृतार्थ करते; यथा—"तजि जानकिहि कुसल गृह जाहू। नाहिंत अस होइहि बहु बाहू ॥ राम रोष पावक अति घोरा। होइहि सकल सलभ कुल तोरा ॥" (मा० अर० २८)-यह इन्हीं का वचन है।

'बार-बार कर मींजि सीस धुनि···'-हाथ मींजना उपाय की असफलता पर और शिर (ललाट) पीटना भाग्य की विपरीतता पर है, इन्हीं दो बातों पर ऊपर पछताना लिखा जा चुका है। उपसंहार में भी स्पष्ट कर दिया है।

'प्रभु कृपालु···'—समर्थ हैं। अतः, रावण-वध कर जटायुजी के मनोरथ सफल करेंगे और कृपालु हैं, अतः जटायुजी पर बड़ी कृपा करेंगे। पितावत् मान कर इनकी क्रिया करेंगे, परलोक भी बनावेंगे। इस प्रकार इनके लोक-परलोक दोनों बनेंगे।

नाटक का एक प्राचीन श्लोक टीकाकारों ने उद्धृत किया है—

"न मैत्री निर्व्यूढा दशरथनृपे राज्यविषया न वैदेही त्राता हठहरणतोराक्षस-पतेः। न रामस्यास्येन्दुर्नयनविषयोभूत्सुकृतिनो जटायोर्जन्मेदं वितथमभवद्भाग्य-रहितम् ॥" इस श्लोक के अधिकांश से यह पद मिलता है।

[१३]

राघौ गीध गोद करि लीन्हों।
नयन-सरोज सनेह-सलिल सुचि मनहुँ अरघजल दीन्हों ॥१॥
सुनहु, लखन ! खगपतिहि मिले बन मैं पितु-मरन न जान्यौ।
सहि न सक्यो सो कठिन बिधाता, बड़ो पच्छु आजु भान्यो ॥२॥
बहु बिधि राम कह्यो तनु राखन, परम धीर नहिं डोल्यो।
रोकि प्रेम, अवलोकि बदन बिधु, बचन मनोहर बोल्यो ॥३॥

तुलसी प्रभु झूठे जीवन लगि समय न धोखो लैहौं।
जाको नाम मरत मुनि दुरलभ तुमहिं कहाँ पुनि पैहौं ? ॥४॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी ने गृध्र जटायुजी को गोद में उठा लिया और अपने नेत्रकमलों के स्नेहवाले पवित्र जल (प्रेमाश्रु) से मानों उसे अर्द्धजल दिया ॥१॥ पुनः कहने लगे, हे लक्ष्मण ! सुनो, यहाँ वन में पक्षिराजजी के मिलने पर मुझे पिता का मरना जान ही नहीं पड़ा (क्योंकि आप पिताजी के सखा होने से उन्हीं के समान मेरा लाड़-प्यार करते आये हैं) किन्तु कठिन ब्रह्मा उसे सह नहीं सका, इससे उसने मेरे बड़े पक्ष का आज हनन कर दिया ॥२॥ श्रीरामजी ने बहुत प्रकार से शरीर रखना कहा, परन्तु श्रीजटायुजी परम धैर्यवान् होने से अपने निश्चित सिद्धान्त से चलायमान नहीं हुए। वे अपने बढ़ते हुए प्रेम को रोक कर और श्रीरामजी का मुखचन्द्र देख कर मनोहर वचन बोले ॥३॥ 'हे तुलसीदास के प्रभो ! मैं झूठे (सांसारिक) जीवन के लिये इस प्राप्त समय पर धोखा नहीं लगाऊँगा; भला, जिनका नाम मरते समय मुनियों को भी दुर्लभ है, उन आपको फिर मैं कहाँ पाऊँगा ? (कि आपके सम्मुख रहते मैं प्राण छोड़ूँ) ॥४॥

विशेष—'नयन सरोज सनेह-सलिल...'—मरणासन्न मनुष्य का आधा शरीर गङ्गा आदि की धारा में रखकर आधा बाहर रखने की क्रिया को अर्द्धजल देना कहा जाता है। उस समय उस मनुष्य से हरि नाम कहलाते हुए कुछ पवित्र जल उसके मुख में दिया जाता है। इसका भाव यह है कि वह उत्तम स्थल में एवं गंगाजल में तथा हरि नाम लेता हुआ शरीर त्याग करे, जिससे उसकी बहुत उत्तम गति हो।

यहाँ गृध्रराज मरणासन्न हैं और करुणामय श्रीरामजी उनकी दशा पर अत्यन्त करुण भाव से रो रहे हैं, इससे इतने आँसू चल रहे हैं कि मानों वे गृध्रराज को अर्द्धजल दे रहे हैं। 'सनेह-सलिल सुचि' यह स्नेह जल परम पवित्र है। अतः, गंगाजल से कहीं बढ़कर है; क्योंकि वह तो चरणामृत ही है और यह नयनामृत है। यहाँ 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षालंकार' है।

'सुनहु लखन...'—पहले बहुत रोये हैं। अब उनके गुण-कथन करते हैं। स्वजनों के प्रति रोने में उनके गुण कहे जाते हैं। 'बड़ो पच्छ'—वात्सल्यनिष्ठ

पितावत् प्यार रखने वाले जटायु का मरना ही अपने बड़े पक्ष की हानि है। अब ऐसा प्यार करनेवाला कोई न रहा।

'बहु बिधि राम कह्यो तनु राखन···'—आगे पद १५ में कहने की विधियाँ देखिए। 'परम धीर नहिं डोल्यो'—श्रीरामजी ने जीवन के प्रलोभन में यह भी कहा है—'देखिय आप सुवन सेवा सुख मोहिं पितु को सुख दीजै।' यह बड़ा भारी लाभ दिखाया है. इसी के लिये राजा दशरथ ने प्राण छोड़ा है। परन्तु गृध्रराज अपने निश्चित किये हुए पक्ष में दृढ़ हैं, वे परम उत्तम मृत्यु की प्राप्ति चाहते हैं, वही आगे कहते हैं—

'रोकि प्रेम, अवलोकि बदन बिधु···'—प्रभु के वचन सुनकर प्रेम बढ़ने लगा था कि कुछ काल रहकर वात्सल्य का सुख लूँ और इनका प्रेम रक्खूँ, परन्तु फिर विवेक करके उस प्रेम को रोक लिया और अपनी वात्सल्यनिष्ठा के अनुसार पुत्र के मुखचन्द्र का अवलोकन किया; यथा—"जननिन्ह सादर बदन निहारे।" (मा० बा० ३५७); तथा—"निरखि बदन कहि भूप रजाई।" (मा० अ० ३८); इसमें माता-पिता अपने को कृतार्थ मानते हैं; यथा—"आजु सुफल जग जनम हमारा। देखि तात बिधु बदन तुम्हारा॥" (मा०बा० ३५६)। फिर मनोहर प्रिय वचनों से अपना अभीष्ट कहते हैं—

'तुलसी-प्रभु झूठे जीवन लगि···'—'तुलसी-प्रभु' ऐसा मानकर अर्थ करने से भविष्य का अपना सम्बन्ध पुष्ट कराने में 'भाविक-अलङ्कार' है। यों तो 'तुलसी' पद कवि वाचक है, उसे पृथक् करके भी अर्थ करने में वही भाव आता है। सांसारिक जीवन झूठा है, इसमें नाना प्रकार की भूख-प्यास, मानापमान आदि प्रिय-अप्रिय के सम्बन्ध रहते ही हैं और फिर मृत्यु की आशंका नित्य ही रहती है, तब यह जीना भी झूठा ही है, मरने के ही समान है। इस समय पर प्राप्त अवसर के अनुसार यदि आपके समक्ष शरीर छूटता है तो साक्षात् साकेत की प्राप्ति होती है और आप के नित्य परिकरों में रहकर सच्चा जीवन रहेगा, वह नित्य रहेगा। सुखमय रहेगा। किसी प्रकार के दुःख उसमें न रहेंगे। इससे मैं आज धोखे में न पड़ूँगा। आप का नाम मात्र ही अंत में आ जाने से सद्गति होती है, मेरे पास तो आप स्वयं विराजमान हैं और गोद

में लिये हुए बैठे हैं। इस मेरे भाग्य का क्या कहना है? अतः मैं सांसारिक जीवन अब नहीं चाहता।

प्रमाण—"जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमौ मुकुत होइ श्रुति गावा॥ सो मम लोचन गोचर आगे। राखउँ देह नाथ केहि खाँगे॥" (मा० अर० ३०); "अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥" (गीता ८।५); तथा—"मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मनः संसिद्धिं परमां गताः॥ ... मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥" (गीता ८।१५,१६)।

इस मृत्यु की दुर्लभता पूर्वोक्त पद ८ के अंतिम विशेष में एवं आगे के पद १४, १५, १६ में भी देखिये।

[१४]

नीके कै जानत राम हियो हौं।
प्रनतपाल, सेवक-कृपाल-चित, पितु पटतरहि दियो हौं॥१॥
त्रिजगजोनि-गत गीध जनम भरि खाइ कुजंतु जियो हौं।
महाराज सुकृती-समाज सब-ऊपर आजु कियो हौं॥२॥
श्रवन बचन, मुख नाम, रूप चख, राम उछंग लियो हौं।
'तुलसी' मो समान बड़भागी को कहि सकै बियो हौं॥३॥

अर्थ—हे श्रीरामजी! मैं अपने हृदय में भली-भाँति आपको जानता हूँ; आप शरणागत पालक और अपने सेवकों पर सदा कृपालु चित्त रहते हैं, इसी स्वभाव से आपने मुझे अपने पिता की समता दी है॥ १॥ मैं तिर्यग्योनि में प्राप्त गृध्र हूँ, जन्म भर मैंने कुत्सित जन्तुओं को खाकर जीवन धारण किया है। फिर भी, हे महाराज! आपने आज मुझे समस्त पुण्यात्माओं के समाज में सब से ऊपर कर दिया है!॥२॥ मैं आज कानों से श्रीरामजी के वचन सुनता हूँ, मुख से उनका नाम लेता हूँ, नेत्रों से रूप देखता हूँ और फिर श्रीरामजी ने स्वयं भी मुझे अपनी गोद में ले रक्खा है। फिर कहिये तो भला, दूसरा ऐसा कौन है जो अपने को मेरे समान बड़भागी कह सकता है?॥३॥

विशेष—'प्रनतपाल सेवक-कृपाल...'; यथा—"प्रनतपाल रघुवंस मनि..." (मा० लं० २०); "रामहिं सेवक परम पियारा।..." (मा० अ०

२१८); "राजा दशरथः श्रीमान्यथा मम महायशाः । पूजनीयश्च मान्यश्च तथायं पतगेश्वरः ॥" (वाल्मी० ३।६८।२६) ।

'त्रिजगजोनि गत···'; यथा—"गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्हीं जो जाचत जोगी ॥" (मा० अर० ३२); "बिहँग जोनि आमिष अहार पर गीध कौन ब्रत धारी । जनक समान क्रिया ताकी निज कर सब बात सँवारी ॥" (वि० १६६); सुकृती-समाज में राजा दशरथ का नाम प्रथम है; यथा"–सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भयउ न है कोउ होनेउ नाहीं॥ तुम्ह ते अधिक पुन्य बड़ काके । राजन राम सरिस सुत जाके ॥" (मा० बा० २९३); उनसे भी जटायुजी को अधिक महत्त्व दिया है—पद ८ के 'सुर सिद्ध सराहत···' इसका विशेष देखिये ।

'स्रवन बचन, मुख नाम···'—कानों से वचन सुनते हैं, यहीं के श्रीरामजी के वचन पद १२, १५, १६ में हैं । तथा—"प्रभुहि बिलोकत गोदगत, ···रघुबर बिकल बिहंग लखि, सो बिलोकि दोउ बीर, सिय सुधि कहि, सिय राम कहि, देह तजी मति धीर ॥" (दोहावली २२२,२२६) ।

'मो समान बड़भागी···'; यथा—"तुलसिदास सुर सिद्ध सराहत धन्य बिहँग बड़भागी ॥" (पद ८)—इसका विशेष भी देखिये ।

[१५]

मेरे जान, तात ! कछू दिन जीजै ।
देखिये आपु सुवन-सेवा-सुख, मोहिं पितु को सुख दीजै ॥१॥
दिव्य-देह, इच्छा-जीवन जग बिधि मनाइ माँगि लीजै ।
हरि-हर सुजस सुनाइ, दरस दै लोग कृतारथ कीजै ॥२॥
देखि बदन, सुनि बचन-अमिअ, तन रामनयन जल भीजै ।
बोल्यो बिहँग बिहँसि 'रघुबर ! बलि, कहौं सुभाय, पतीजै ॥३॥
मेरे मरिबे सम न चारि फल, होहिं तौ, क्यों न कहीजै ?'
तुलसी प्रभु दियो उतरु मौन हीं, परी मानो प्रेम सहीजै ॥४॥

अर्थ—[श्रीरामजी कहते हैं—] हे तात ! मेरे विचार से तो आप अभी कुछ दिन और जीवन धारण कीजिये । आप इस अपने पुत्र की सेवाका सुख देखिये (अनुभव कीजिये) और मुझे पिता का सुख दीजिये ॥१॥ (आगे

जीवन-विधि कहते हैं—) विधाता को मनाय (प्रसन्न कर) के उनसे दिव्य शरीर और जगत् में इच्छा जीवन माँग लीजिये तथा लोगों को श्रीविष्णु भगवान् और शिव भगवान् के सुयश सुनाकर एवं दर्शन देकर कृतार्थ कीजिये ॥२॥ श्रीरामजी का मुखारविन्द देख, उनके अमृत समान वचन सुन और अपना शरीर श्रीरामजी के नेत्रों के जल प्रेमाश्रुओं से भीगता हुआ जान वह पक्षी जटायु हँसकर बोला, हे रघुनाथजी ! बलिहारी, मैं अपने स्वभाव से ही कहता हूँ, विश्वास कीजिये ॥३॥ मेरे मरने के समान तो चारों फल (की प्राप्ति) भी नहीं हैं, यदि हों तो क्यों न कहा जाय ?" श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि प्रभु श्रीरामजी ने मौन रूप में ही उत्तर दिया, उससे मानों श्रीजटायुजी के प्रेम पक्ष पर सही पड़ गई; अर्थात् श्रीराम ऐसे वक्ता निरुत्तर हो गये, 'मौनं सम्मति लक्षणम्' इस न्याय से प्रेम पक्ष की जीत हुई ॥४॥

विशेष—'मेरे जान, तात !···'—'मेरे जान' इस पद में त्रैसी आज्ञा नहीं, किन्तु अपनी एक उठी हुई इच्छा कहते हैं। उसका हेतु आगे कहते हैं—

'देखिये आप···'—अभी यहाँ रहते हुए मुझे थोड़े ही दिन हुए, मैंने आपकी कुछ सेवा नहीं कर पाई, आप इसका भी अनुभव कर लेते, यह मेरी अभिलाषा है।

'मोहिं पितु को सुख दीजै'; यथा—"पुरा वेच्य सुवृत्तं मां पिता यान्याह सान्त्वयन् । वाक्यानि तानि श्रोष्यामि कुतः कर्णसुखान्यहम् ॥" (वाल्मी० २। १०३।१३); अर्थात् श्रीरामजी अपने पिता दशरथजी से प्राप्त होने वाले सुखों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि पहले मैं उनकी कही हुई बातों पर चलता था, यह देखकर पिता मुझे सुखदाई वचन कहते थे, अब उन वचनों को कहाँ सुनूँगा ? ऐसे ही और भी पिता के द्वारा प्राप्त होने वाले लाड़-प्यार के सुख यहाँ युक्त हैं।

'दिव्य देह, इच्छा जीवन जग···'—यदि जटायुजी कहें कि मुझे अब इस गृध्र देह से जिसमें भी नाना घाव आदि हैं, उच्चाट हो गया है, यह तो दुःखमय है। उस पर कहते हैं कि आपने परोपकार में देह लगा दिया है। अतः, विधाता तुम्हारे ऊपर प्रसन्न है, वह मना कर माँगने से आपको दिव्य देह (देवताओं का-सा शरीर) दे देगा। उस देह से जीवन आपकी इच्छा पर

निर्भर रहेगा, जब तक चाहेंगे, धरातल पर रहेंगे। जैसे भीष्म को इच्छा जीवन का वरदान प्राप्त था; यथा—"यश्च दत्तो वरो मह्यं पित्रा तेन महात्मना ॥ १०७॥ छन्दतो मृत्युरित्येवं तस्य चाऽस्तु वरस्तथा। धारयिष्ये ततः प्राणानुत्सर्गे नियते सति ॥१०८॥" (महा० भीष्म० ११९)। तथा—"पित्रा ह्युक्तः प्रसन्नेन नाऽकामस्त्वं मरिष्यसि ॥" (महा०उद्योग० ५५।४८) इत्यादि।

'हरि-हर सुजस सुनाइ ···'—वृद्धों के द्वारा कथा सुनने का सर्वश्रेष्ठ महत्त्व है; क्योंकि वे बहुत देश-काल से अनुभूत अनुभव भी कहते हैं; तथा—"अनधीत्य च शास्त्राणि वृद्धाननुपसेव्य च। न शक्यमीदृशं वक्तुं यदुवाच हरीश्वरः ॥" (वाल्मी० ६।१८।८); अर्थात् सुग्रीव की कही हुई उत्तम नीति की सराहना करते हुए श्रीरामजी ने कहा है कि इन्होंने वृद्धों की सेवा कर शास्त्रों का अध्ययन किया है। वृद्धों के दर्शन का भी बड़ा महत्त्व होता ही है।

'देखि बदन···'—पिता-माता सदा सन्तान का मुख देखने में आनन्द मानते हैं—पद १२ के 'अवलोकि बदन बिधु' इसका विशेष देखिये।

'बोल्यो बिहँग बिहँसि···'—नेत्र दर्शन से, श्रवण वचनामृत से और तन प्रेमाश्रुओं से भीग कर कृतार्थ हो रहे हैं, यह समझ कर पक्षी मारे आनन्द के हँसता हुआ कहता है। 'बलि'-यह वात्सल्य-निष्ठा की रीति है।

'मेरे मरिबे सम न चारि फल····' इस पर दोहावली २२२–२२६, पद के 'सिद्धान्त-तिलक' देखिये।

[१६]

मेरो सुनियो, तात ! सँदेसो।
सीय-हरन जनि कहेहु पिता सों, ह्वै हैं अधिक अँदेसो ॥ १ ॥
रावरे पुन्य-प्रताप-अनल महँ अलप दिननि रिपु दहिहैं।
कुलसमेत सुरसभा दसानन समाचार सब कहिहैं ॥ २ ॥
सुनि प्रभु-बचन, आनि उर मूरति, चरन कमल सिर नाई।
चल्यो नभ सुनत राम-कल-कीरति, अरु निज भाग बड़ाई ॥ ३ ॥
पितु ज्यों गीध-क्रिया करि रघुपति अपने धाम पठायो।
ऐसे प्रभु बिसारि तुलसी सठ तू चाहत सुख पायो ॥ ४ ॥

अर्थ—हे तात ! मेरा यह सँदेशा सुनिये। श्रीपिताजी से श्रीसीताजी का हरण मत कहियेगा; क्योंकि यह सुनकर उन्हें अधिक चिन्ता हो जायगी ॥१॥ आपके पुण्य-प्रताप रूपी अग्नि में थोड़े ही दिनों में शत्रु भस्म हो जायगा। तब अपने कुल के साथ वह दसमुखों वाला रावण देवताओं की सभा में स्वयं सब समाचार कहेगा ॥२॥ प्रभु श्रीरामजी के वचन सुन, उनकी मूर्ति हृदय में रख कर और उनके चरण कमलों में शिर नवा (प्रणाम) कर आकाश मार्ग में श्रीरामजी की सुन्दर कीर्ति और अपने भाग्य की बड़ाई सुनता हुआ वह (परम धाम के लिये) चला ॥३॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरघुनाथजी ने अपने हाथों से उस गृध्रराज की क्रिया की और उसे अपने धाम भेजा, ऐसे प्रभु को भुलाकर, अरे शठ (मन) ! तू सुख पाना चाहता है ! ॥४॥

'सीय हरन रावरे पुन्य' 'कुल समेत ''; यथा—"सीताहरन तात ! जनि कहहु पिता सन जाइ। जो मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ॥" (मा० अर० ३१); भाव यह कि आप अर्चिरादि मार्ग से जायँगे तो मार्ग में इन्द्रलोक पड़ेगा, वहाँ सखा इन्द्र के साथ सम्भवतः पिता श्रीदशरथजी आपके मैत्रीसम्बन्ध से मिलेंगे तो यह सीय-हरण न कहियेगा, बस, आपके ही पुण्य से थोड़े ही दिनों में वह रावण भी उसी मार्ग से कुल समेत जायगा, तो वह मेरे प्रतिकार का प्रतिरूप होगा और फिर वह अपने दसों मुखों से कहेगा– 'दसानन समाचार सब कहिहैं' इस वाक्य खंड में यह ध्वनित है। 'रावरे पुन्य···'—सन्तान का श्रेय माता-पिता के पुण्य से होता है; यथा—"तुम्हरे अनुग्रह तात कानन जात सब सुख पाइहौं।" (मा० अ० १५०)।

श्रीरामजी की इस प्रतिज्ञा से गृध्रराज के वचन सत्य होंगे; यथा—"राम रोष पावक अति घोरा। होइहि सकल सलभ कुल तोरा॥" (मा० अ० २८)। अतः, उनके सन्तोष के लिये भी ये वचन कहे गये हैं।

'सुनि प्रभु बचन, आनि उर मूरति,···' प्रभु' अर्थात् परम समर्थ श्रीरामजी अवश्य वैसा करेंगे; इस दृढ़ता से सन्तुष्ट हो गया। "आनि उर मूरति'—क्योंकि इसी के लिये लालायित थे; यथा—"मरत न मैं रघुबीर बिलोके तापस बेष बनाए।" (पद १२)। परधाम यात्रा के उपलक्ष में प्रणाम किया है।

'चल्यो नभ सुनत···'—यहीं से इन्हें चतुर्भुज रूप मिल गया, इससे इनकी प्रत्यक्ष यात्रा पर सर्वत्र बड़ाई होती गई। 'राम कल कीरति'; यथा—"कोमल चित अति दीन दयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥ गीध अधम खग आमिष-भोगी। गति दीन्हीं जो जाचत जोगी॥" (मा० अर० ३२); "सुनि संपाति बंधु कै करनी। रघुपति महिमा बहु बिधि बरनी॥" (मा० कि० २६)। 'निज भाग बड़ाई'—पद ८ के अंतिम चरण में उद्धृत प्रमाण देखिये।

'पितु ज्यों गीध क्रिया करि···'; यथा—"गीध गयो हरि धाम। तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्हीं राम॥" (मा० अर० ३२); इस क्रिया में भी हरिधाम जाने को कहा है—वाल्मी० ३।६८।२६-३८ में पितावत् मान विधिवत् क्रिया करना कहा गया है, वहीं से देखना चाहिये। 'अपने धाम पठायो'; यथा—"या गतिर्यज्ञशीलानामाहिताग्नेश्च या गतिः। अपरावर्त्तिनां या च या च भूमिप्रदायिनाम् ॥२९॥ मया त्वं समनुज्ञातो गच्छ लोकाननुत्तमान्। गृध्रराज महासत्त्व संस्कृतश्च मया व्रज ॥३०॥" (वाल्मी० ३।६८); अर्थात् यज्ञ करनेवालों, अग्निहोत्रियों, युद्ध में सन्मुख लड़नेवालों और भूमिदान वालों को जो गति प्राप्त होती है, तुम मेरी आज्ञा से उन्हीं लोकों को जाओ। मैं तुम्हारा संस्कार करता हूँ, इससे तुम (उन्हीं लोकों को) जाओ। तथा—"दसरथ ते दसगुन भगति सहित तासु कृत। सोचत बंधु समेत प्रभु, कृपासिंधु रघुराज॥" (दोहावली २२७)।

'ऐसे प्रभु बिसारि···'; यथा—"सुनहुँ उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥" (मा० अ० ३२); "अस प्रभु सुनि न भजहिं मम त्यागी। नर मतिमंद ते परम अभागी॥" (मा० लं० ४३)। ऐसे सरल स्वभाव और कृपालु प्रभु को भी भुला कर सुख चाहना तो निरी शठता ही है, भला, सुकृत से इसे कैसे मिल सकेगा, वह तो अत्यन्त दुष्कर है।

सम्बन्ध—गृध्रराज की प्रेमपूर्ण कथा कह कर आगे शबरीजी के आतिथ्य एवं अगाध प्रेम का प्रसंग कहते हैं, बीच में कबंध की सद्गति का प्रसंग इस ग्रन्थमें छोड़ दिया गया है, क्योंकि उसमें प्रेमोत्कर्ष का प्रसंग वैसा नहीं है—

शबरी का आतिथ्य

राग सूहो

[१७]

सबरी सोइ उठी, फरकत बाम बिलोचन बाहु।
सगुन सुहावने सूचत मुनि-मन-अगम उछाहु॥
छन्द—मुनि-अगम उर आनंद, लोचन सजल, तनु पुलकावली।
तृन-पर्नसाल बनाइ, जल भरि कलस, फल चाहन चली॥
मंजुल मनोरथ करति, सुमिरति बिप्र-बर-बानो भली।
ज्यों कल्पबेलि सकेलि सुकृत सुफूल-फूली सुख-फली॥१॥

अर्थ—[एक दिन] प्रातःकाल श्रीशबरीजी सोकर उठी हैं, उसी समय से उनकी बाईं आँख और बाँई भुजा फड़कने लगे हैं। और भी सुहावने शकुन हो रहे हैं, वे सूचित कर रहे हैं कि उसके यहाँ मुनियों के मन को भी अगम प्रतीत होने वाला उत्साह होगा। मेरे यहाँ मुनियों के मन को भी अगम लगने वाला उत्साह होगा, यह समझ कर उसके हृदय में आनन्द है, नेत्रों में प्रेमाश्रु पूर्ण हैं और शरीर में पुलकावली हो आई है। वह अपनी पर्ण-तृण-शाला को बना (लीप-पोत) कर और कलश में जल भर कर फल ले आने के लिये चली। उसके मन में सुन्दर मनोरथ हो रहे हैं, इस पर वह ब्राह्मण श्रेष्ठ मतङ्ग ऋषि की श्रेष्ठ वाणी का स्मरण करती है। जैसे कोई कल्पलता सुन्दर फूलों से फूल कर फिर फलती है, वैसे ही वह वाणी पहले एकत्रित सुकृत रूपी सुन्दर फूलों से फूली है, अब सुख रूपी फल से फल रही है॥१॥

विशेष—'सबरी सोइ उठी'...'श्रीशबरीजी श्रीमतंग ऋषि की शिष्या थीं। बहुत काल से मतङ्ग-आश्रम में रहती थीं। श्रीमतङ्गजी परधाम जाने लगे, तब शबरीजी ने भी परधाम जाने की इच्छा प्रकट की। तब गुरुजी ने कहा कि तुम यहीं रहो। तुम्हारे आश्रम पर परंब्रह्म श्रीरामजी पधारेंगे। तुम कंद-मूल-फलों से उनका आतिथ्य कर कृतार्थ होगी। तब शबरीजी नित्य उस समय की प्रतीक्षा में रहा करती थीं। जिस दिन श्रीरामजी का आगमन होने को था, उस दिन के प्रातःकाल की बात यहाँ कही जा रही है।

सोकर उठने पर ही शबरी के बाएँ नेत्र और बाहु फड़कने लगे। स्त्री के लिये इन अंगों का फड़कना शुभ शकुन है। और भी शुभ शकुन हो रहे हैं, जिनसे वह श्रीरामजी के आगमन का ही अनुमान कर विचारती है कि यह संयोग तो मुनियों के मन को भी अगम है, इससे उसे बड़े भारी उत्साह की आशा हो गई है। अत्यन्त प्रेम एवं हृदय के आनन्द से उसके शरीर में पुलकावली छा गई है। पहले वह अपनी पर्ण-तृण-शाला को झाड़-बहार कर एवं लीप-पोत कर शुद्ध एवं रम्य बनाती हैं; यथा—"अपश्यतां ततस्तत्र शबर्या रम्यमाश्रमम्॥" (वाल्मी० ३।७४।४); यह आश्रम मतङ्ग ऋषि के आश्रम में ही था; यथा—"तेषां गतानामद्यापि दृश्यते परिचारिणी। श्रमणी शबरी नाम काकुत्स्थ चिरजीविनी॥" (वाल्मी० ३।७३।२६); अर्थात् वे ऋषि मतङ्गजी आदि तो चले गये। पर उनकी सेवा करने वाली शबरी नाम की संन्यासिनी, जो दीर्घजीविनी है, वह आज भी वहाँ है—यह कबन्ध ने कहा है।

'सुमिरत बिप्र बर बानी भली'—वाल्मी० ३।७४ में श्रीरामजी के पूछने पर शबरीजी ने स्वयं उस वाणी को प्रसंगतः कहा है—"आज आप के दर्शन से मैंने तपस्या की सिद्धि पाई। आज मेरा जन्म सफल हुआ और गुरुओं की सेवा सफल हुई। आज मेरी तपस्या सफल हुई, आप की पूजा से मुझे स्वर्ग (परधाम) प्राप्त होगा। आप की कृपा दृष्टि पड़ने पर मैं अक्षय लोक जाऊँगी। जिन ऋषियों की मैं सेवा करती थी, वे आपके श्रीचित्रकूट आने पर अत्यन्त प्रकाशमान विमानों पर चढ़ कर यहाँ से परधाम को चले गये। धर्मज्ञ उन ऋषियों ने मुझ से कहा था—श्रीरामजी तुम्हारे इस परम पवित्र आश्रम में आवेंगे। श्रीलचमणजी के साथ तुम उनका अतिथि-सत्कार करना, उनके दर्शन से तुम अक्षय लोकों में जाओगी"। उन महात्माओं ने मुझ से ऐसा ही कहा था। हे पुरुषश्रेष्ठ! मैंने अनेक प्रकार के फल संचित कर रक्खे हैं। वे फल इसी पंपातट वाले वन के हैं, आप के लिये ही एकत्र किये हुए हैं।

मुनि वाणी से इन्हें परंब्रह्म जान कर यह मंजुल मनोरथ करती हैं कि मैंने ऋषियों की सेवा की, उसी से समस्त पुण्यों का फल प्राप्त हुआ। उन ऋषियों ने श्रेष्ठ वाणी कही थी, उससे अभी तक जो मैंने विविध भाँति की

भक्ति की थी, वही उस वाणी रूपी कल्पलता में सुन्दर फूलों का फूलना है; उस वाणी ने ही समस्त सुकृतों की फल रूपिणी भक्ति उत्पन्न की है। आज उन पुष्पों में प्रभु-प्राप्ति का सुख रूप फल भी लग रहा है।

यहाँ 'पूर्णोपमा-अलङ्कार' है ('ज्यों कल्पवेलि…' में)।

प्रान - प्रिय पाहुने ऐहैं राम - लखन मेरे आजु।
जानत जन-जियकी मृदु चित राम गरीब-निवाज॥
मृदु चित गरीब-निवाज आजु बिराजिहैं गृह आइकै।
ब्रह्मादि संकर गौरि पूजित पूजिहौं अब जाइ कै॥
लहि नाथ हौं रघुनाथ बानो पतित-पावन पाइ कै।
दुहुँ ओर लाहु अघाइ तुलसी तीसरेहु गुन गाइ कै॥२॥

अर्थ—[वह विचारती है—] आज मेरे प्राणप्यारे पाहुन श्रीराम-लक्ष्मण मेरे यहाँ आवेंगे! वे तो बड़े कोमल चित्त और दीन दयालु हैं तथा अपने दासों के हृदय की बातें (रुचि, लालसा एवं रहनि आदि) जानते हैं। वे कोमल चित्त वाले दीन दयालु आज मेरे घर में आकर विराजमान होंगे। मैं ब्रह्माजी, शङ्करजी और पार्वतीजी आदि से पूजित भगवान् श्रीरामजी को जाकर पूजूँगी!। मैं अपना स्वामी पाकर परिपूर्ण लाभ पाऊँगी और श्रीरघुनाथजी पतित-पावन बाना पाकर परिपूर्ण लाभ पायेंगे, इसी प्रकार दोनों ओर परिपूर्ण लाभ होंगे। तीसरा तुलसीदास भी (इन दोनों के) गुण गाकर परिपूर्ण लाभ पा कृतार्थ होगा॥ २॥

विशेष—'प्रान-प्रिय पाहुने…'—ऊपर 'मंजुल मनोरथ करति' यथा—"ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।" (मा० बा० २१५); तथा—"राम प्रान-प्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सब ही के॥ पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानियहि राम के नाते॥" (मा० अ० ७३)। तथा—"तरु जे जानकी ज्याये…" (पद ९)—इसके विशेष में उद्धृत श्रुति प्रमाण भी देखें।

'जानत जान-जिय की…'; यथा—"जानत हौ सब ही के मन की।" (अ० ७१)'; "स्वामि सुजान जानि सब ही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की। प्रनतपाल पालिहि सब काहू।" (मा० अ० ३१३); "कोमल चित अति दीन-दयाला। कारन चित रघुनाथ कृपाला॥" (मा० अर० ३२)।

'मृदु चित…'—अपने चित्त की कोमलता एवं दीनदयालुता से ही मेरे घर आकर विराजेंगे; अन्यथा उनके यहाँ पधारने योग्य मेरे वैसे सुकृत कहाँ?

'ब्रह्मादि संकर गौरि पूजित…'; यथा—"मनोज वैरि वंदितं अजादि देव सेवितं…" (मा० अर० ३); "ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं" (मा० सुं० मंगला०); "सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥" (मा० लं० २१); "सिव अज पूज्य चरन रघुराई।" (मा० उ० १२२); "देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका॥ बंदत चरन करत प्रभु सेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा॥ सती बिधात्री इंदिरा, देखीं अमित अनूप। जेहि-जेहि बेष अजादि सुर, तेहि-तेहि तनु अनुरूप॥" (मा० बा० ५३–५४)। इतने बड़े महत्त्वशाली प्रभु की पूजा मैं करूँगी। मेरा अहो भाग्य है !

'लहि नाथ हौं…'—मुझे कोई न पूछता था, उस अनाथ को सर्वोपरि स्वामी मिलेंगे, इससे मैं अपने अभीष्ट लाभ से अघा जाऊँगी। श्रीरामजी को मेरे समान पतित कहीं नहीं मिलता। अतः, यहाँ आकर मुझे पावन कर वे 'पतित-पावन' यह बड़ा भारी बाना (विरुद) पाकर अघा जायँगे; यथा—"जासु पतित-पावन बड़ बाना। गावहिं कवि श्रुति संत पुराना॥" (मा० उ० १२९); "मैं हरि पतित-पावन सुने। मैं पतित तुम पतित-पावन दोउ बानक बने॥" (वि० १६०)। तीसरा तुलसीदास भी इन दोनों के गुण गाकर अघा कर कृतकृत्य होगा। यदि यह वाक्य खण्ड शबरीजी का ही माना जाय तो यहाँ 'भाविक अलंकार' है।

'लहि नाथ हौं…'—इस चरण में 'अन्योन्य-अलङ्कार' है, क्योंकि यहाँ एक ही क्रिया में दो ओर का परस्पर उपकार कथन किया गया है।

दोना रुचिर रचे पूरन कंद-मूल, फल - फूल।
अनुपम अमियहु ते, अंब अवलोकत अनुकूल॥
अनुकूल अंबक अंब ज्यों निज डिंभ हित सब आनि कै।
सुंदर सनेह सुधा सहस जनु सरस राखे सानि कै॥
छन भवन, छन बाहेर, बिलोकति पंथ भू पर पानि कै।
दोउ भाइ आये सबरिका के पेम-पन पहिचानि कै॥३॥

अर्थ--श्रीशबरीजी ने कन्द, मूल, फल और फूल से अपने रचे हुए सुन्दर दोनों को परिपूर्ण किया। वे कन्द-मूल आदि अमृत से भी अधिक स्वादिष्ट होने से अनुपम और नेत्रों से देखने में सुन्दर हैं। जैसे माता अपने बच्चे के लिये (अच्छी-अच्छी वस्तुएँ) सब ला-लाकर रखती है, वैसे ही उसने वे नेत्र-प्रिय और सुन्दर कन्द आदि श्रीरामजी के लिये लाकर मानों अमृत से भी सहस्रों गुने अधिक स्वादिष्ट स्नेह रस से सान कर रक्खे। वह क्षण भर के लिये घर के भीतर चली जाती है और फिर क्षण भर में ही घर से बाहर आ अपनी भौंहों पर हाथ करके प्रभु का मार्ग देखती है; अर्थात् अत्यन्त वृद्धा होने से उसकी भौंहें आखों के ऊपर लटक आईं थीं। अतः हाथों से उन्हें ऊपर उठा कर देखती थीं! उसी समय दोनों भाई श्रीराम-लक्ष्मणजी उस शबरी के प्रेम एवं उसमें अटल निश्चय को जान कर उसके यहाँ आ गये ॥ ३ ॥

विशेष—'दोना रुचिर रचे....'—वन में रहने से वह दोने बहुत सुन्दर बनाती थी, उन्हें कन्द आदि से परिपूर्ण करके रक्खा। उस समय ग्रीष्म ऋतु थी, क्योंकि उसी समय आगे हनुमानूजी ने भेंट होने पर कहा है--"सहत दुसह बन आतप बाता ॥" (मा० कि० १)। अतः, फलों में विशेष आम का समय था--"कंद मूल फल सुरस अति" (मा० अर० ३४); इसमें ध्वनि से अत्यन्त स्वादिष्ट रस वाला रसाल (आम) फल लक्षित किया गया है। शबरीजी के यहाँ बेर फल दिये जाने की बड़ी ख्याति है। उसका भी ग्रहण--"सब तरु फरे राम हित लागी। रितु अरु कुरितु कालगति त्यागी ॥" (मा० लं० ४); इस प्रमाण के अनुकूल परिस्थिति मानने पर किया जा सकता है। फल कई प्रकार के थे, उनमें और भी लिये जा सकते हैं। कन्द-सकरकन्द आदि, मूल सुथनी आदि और जो कोई फल खाने योग्य होते हैं; तथा--"कंद-मूल फल-फूल हम देहिं लेहु करि छोह ॥" (मा० अ० २१२)। कन्द आदि सब रसीले (परम स्वादिष्ट) हैं।

'अंब ज्यों...'—शबरीजी का श्रीरामजी में वात्सल्य भाव था। माता का पुत्र को खिलाने में बड़ा स्नेह रहता है। श्रीरामजी ने भी वैसा ही बर्त्ताव रक्खा है; यथा--"सो जननि ज्यों आदरी सानुज राम भूखे भाय के ॥ ४ ॥

'''तेहि मातु ज्यों रघुनाथ अपने हाथ जल-अंजलि दई ॥ ८ ॥'' यह इसी पद में आगे कहा गया है ।

'सुंदर सनेह सुधा सहस''''—स्नेह ही अमृत है, शबरी का उन फलों का संचय करने में अत्यन्त प्रेम था । यही उन्हें अमृत से सहस्र गुने स्वादिष्ट बनाना था; यथा—''तुलसी जौ लौं जगत की, सुधा माधुरी मीठि । तौ लौं सुधा सहस्र सम, राम भगति सुठि सीठि ॥'' (दोहावली ८३); तथा—''रामहिं केवल प्रेम पियारा । जानि लेहु जो जाननिहारा ॥'' (मा०अ०१३६)।

इस चरण में 'रूपक से पुष्ट उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा-अलङ्कार' है ।

'छन भवन, छन बाहर'''—बार-बार घर जाने का भाव यह कि जो फल आदि रक्खे हैं उन्हें कोई जन्तु नष्ट न कर दे । 'भू पर पानि कै'—'भू' पद में यहाँ 'भ्रू' का अर्थ है । जैसे कहीं-कहीं 'द्रोहाई' पद के स्थान पर 'दोहाई' के प्रयोग हैं एवं 'प्रेम' का 'पेम' आदि । शबरीजी बड़ी आयु की वृद्धा थीं, यह ऊपर प्रथम चरण के विशेष में लिखे हुए ''श्रमणी शबरी नाम काकुत्स्थ चिरजीविनी ।'' यह वाल्मी० ३।७३।२६ के प्रमाण से स्पष्ट है, इससे इनकी भौंहें आखों के ऊपर लटक पड़ी थीं । अतः, उन्हें हाथ से उठा कर दूर की वस्तु देखती थीं । यों भी लोग आखों के ऊपर भाग में हथेली रख कर देखते हैं, तब दूर की वस्तु कुछ विशेष दीखती है ।

श्रीहरिहर प्रसादजी ने 'भूपरि पानि कै' पाठ माना है और 'भूमि पर हाथ दै के राह देखति है' ऐसा भी अर्थ किया है ।

'दोउ भाइ आए'''—श्रीरामजी प्रेम से अप्रकट रहने पर भी प्रकट हो जाते हैं, यहाँ तो प्रकट रूप में पास ही थे । अतः, उसके प्रेम की अटल-स्थिति पर आ गये; यथा—''हरि व्यापक सर्वत्र समाना । प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना ॥'' (मा० बा० १८४) । यहाँ यद्यपि और भी बड़े-बड़े मुनि थे, परन्तु शबरी के विशेष प्रेम-प्रण पर श्रीरामजी इसी के यहाँ आए ।

स्रवन सुनत चली, आवत देखि लखन - रघुराउ ।
सिथिल सनेह कहै, 'है सपनो बिधि, कै धौं सतिभाउ' ॥
सतिभाउ कै सपनो ? निहारि कुमार कोसलराय के ।
गहे चरन जे अघ-हरन नत-जन-बचन-मानस-काय के ॥

लघु-भाग-भाजन उदधि उमग्यो लाभ-सुख चित चाय कै।
सो जननि ज्यों आदरी सानुज राम भूखे भाय के ॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी का आगमन कानों से सुन कर आगे चली, तब वह श्रीरघुनाथजी और श्रीलक्ष्मणजी को आते हुए देख कर स्नेह में शिथिल हो (मन ही मन) कहने लगी—'हे विधाता! यह स्वप्न की बात है या सत्य घटना ही है?' 'यह स्वप्न है या सत्य घटना' वह इसी उधेड़बुन में थी कि कोशलराज के राजकुमार श्रीराम-लक्ष्मण को उसने देखा और उनके उन चरणों को ग्रहण कर प्रणाम किया, जो शरणागत जनों के पापों का हरण करने वाले हैं। उसका भाग्य रूपी पात्र तो छोटा है और सुख रूपी लाभ समुद्रवत् उमड़ पड़ा, यह समझ कर वह अपने चित्त में उत्कण्ठा करने लगी। श्रीरामजी तो भाव के भूखे हैं। अतः, आपने अपने भाई के साथ उसे माता के समान मान कर उसका आदर किया ॥ ४ ॥

विशेष—'स्रवन सुनत चली···'—आते हुए श्रीरामजी का समाचार किसी ने कहा, उससे सुन कर वह आगे बढ़कर लेने के लिये चली। तब तक आते हुए दोनों भाइयों को उसने देख भी लिया, परन्तु अब भी उसे प्रतीत नहीं हो रही है कि क्या प्रभु सत्य ही मेरे यहाँ आवेंगे? स्नेह में शिथिल होकर वह इसी उधेड़ बुन में थी कि दोनों भाई पास ही आ गये, तब चरण-ग्रहण कर प्रणाम किया; यथा—"सबरी देखि राम गृह आए।···सरसिज लोचन बाहु बिसाला। जटा मुकुट सिर उर बनमाला॥ स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई॥" (मा० अर० ३३)। उस समय वह इन चरणों के महत्त्व का स्मरण अपनी अपेक्षा के अनुसार करने लगी—"जे अघ हरन नत-जन-बचन-मानस-काय के'; यथा—"सनमुख होइ जीव मोहिं जब ही। जनम कोटि अघ नासहिं तब हीं॥" (मा० सुं० ४३); अर्थात् मेरे जन्म-जन्मान्तर के मन, वचन, कर्म से किये हुए पाप भी आज दूर हो गये; यथा—"कबहिं देखाइहौ हरि चरन। समन सकल कलेस कलिमल सकल मंगल करन॥···गंग जनक···बिप्र तिय नृग बधिक के दुख दोष दारिद दरन॥···सकृत उर आनत जिन्हहिं जन होत तारन तरन॥" (वि०२१८)। 'लघु भाग-भाजन···'—भाव यह कि इतने बड़े सुख रूप लाभ के योग्य मेरा

भाग्य कभी हो ही नहीं सकता। यह तो श्रीरामजी की निरहेतुकी कृपा है। यह समझ कर वह चित्त से अत्यन्त उत्कंठा करने लगी। आगे 'प्रेम-पट पाँवड़े...' से इसका प्रसंग चलेगा।

'सो जननि ज्यों···'—ग्रन्थकार श्रीरामजी की ओर का बर्त्ताव कहने लग गये। यहाँ 'पूर्णोपमालङ्कार' है। 'है सपना कैधौं···' इसमें 'संदेहालंकार' है।

प्रेम-पट पाँवड़े देत, सु अरघ बिलोचन बारि।
आश्रम लै दिये आसन कंज-पायँ पखारि॥
पद कंज जात पखारि पूजे पंथ स्रम बिरहित भये।
फल-फूल अंकुर-मूल धरे सुधारि भरि दोना नये॥
प्रभु खात पुलकित गात, स्वाद सराहि आदर जनु जये।
फल चारिहूँ फल चारि दहि पर चारि फल सबरी दये॥५॥

अर्थ—शबरीजी ने प्रेम रूप वस्त्र के पाँवड़े बिछाती और नेत्र-जल से अर्घ देती हुई श्रीरामजी को अपने आश्रम पर ले आकर आसन दिया और फिर उनके चरण-कमल प्रक्षालन किये। चरण कमल प्रक्षालन कर उनका पूजन किया; इससे श्रीरामजी का मार्गश्रम जाता रहा। तत्पश्चात् उन्होंने फल, फूल, अंकुर और मूल नये-नये दोनों में भर-भर कर एवं सजा-सजा कर प्रभु के सम्मुख रक्खे। प्रभु श्रीरामजी उन फलों की प्रशंसा करते हुए और शरीर से पुलकित उन फलों को खाने लगे। इस प्रकार मानों उनमें आदर भाव उत्पन्न करते थे। श्रीशबरीजी के दिये हुए चार फलों (कंद, मूल, फल और फूल—इन चार प्रकार के फलों) से चारो फलों (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) को जला कर और ललकार कर शबरीजी को श्रीरामजी ने फल दिये; अर्थात् उसे चारो फलों से कहीं बढ़ कर फल दिये॥ ५॥

विशेष—'प्रेम-पट पाँवड़े देत···'—पाँवड़े और अर्घ्य की उसे सुध ही नहीं रही। अत्यन्त प्रेम में विह्वल है, प्रभु ने उसके प्रेम को विविध वस्त्रों के पाँवड़े से कहीं अधिक माना और उसके प्रेमाश्रुओं को अर्घ्य से कहीं अधिक माना है।

'प्रभु खात पुलकित गात···'—फल आदि खाते हुए वचन से उनकी [प्रशं]सा करते हुए एवं उनके स्वाद सराहते हुए शरीर से पुलकित हो जाते हैं,

इस प्रकार मानों उसके अतिथि-सत्कार को आदर देते हैं; यथा—"कंद मूल फल सुरस अति, दिये राम कहँ आनि। प्रेम सहित प्रभु खाए, बारंबार बखानि॥" (मा० अर० ३४); "प्रभु सराहि फल खात।" (रामाज्ञा प्रश्न ३।५।३)। इन फलों का स्वाद प्रभु पीछे भी नहीं भूले थे; प्रत्युत् पहुनाई के स्थलों पर सर्वत्र इसी की सराहना करते थे; यथा—"घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे, जब जहँ भइ पहुनाई। तब तहँ कहे सबरी के फलन की रुचि माधुरी न पाई॥" (वि० १६४)।

'आदर जनु जए'—मनुस्मृति २।५४-५५ में लिखा है कि जो अन्न भोजन करे, उसे आदर दे, इससे बल और तेज बढ़ता है। तदनुसार मर्यादा-पुरुषोत्तम यहाँ फलाहार को सराह कर उसे आदर देते हैं। किसी-किसी का यह भी मत है कि भोजन मौन किया जाय तथा भोजन की प्रशंसा न करे। उसका समाधान भी वे करते हैं कि यहाँ प्रेम प्रधान है, इससे इसमें नियम बन्धन नहीं है। तथा सराहनेवाले 'प्रभु' हैं; अर्थात् परम समर्थ हैं। अतः, उन्हें दोष नहीं है; यथा—"समरथ कहँ नहिं दोष गोसाईं। रवि पावक सुरसरि नाईं॥" (मा० अ० ६८)।

'फल चारिहू फल चारि दहि...'—'फल चारिहू'—यहाँ फल पद में उपर्युक्त कंद, मूल एवं फूल भी जानना चाहिये; क्योंकि ये चार प्रकार स्पष्ट कहे जा चुके हैं और फलाहार में ये परिगणित भी होते हैं। कोई-कोई 'चारिहू' पद में भोजन के चारो भेदों का भी अर्थ लेते हैं—बेर आदि भक्ष्य, शरीफा (सीताफल) आदि भोज्य, आम आदि चोष्य और नारिकेल-रस आदि पेय।

शवरीजी को माता मान कर प्रभु ने सद्गति दी है—ऊपर चरण ३ के 'अंब ज्यों...' इसके विशेष में प्रमाण लिखे गये। तत्क्रतु न्याय से मोक्षावस्था में भी प्रभु पुत्रवत् ही उसके सदा कनौड़े रहेंगे, यही चारो फलों एवं उनमें परिगणित सामान्य मोक्ष से भी इनकी गति में बड़ी विशेषता है; यथा—"जोगि बृंद दुर्लभ गति जोई। तो कहँ आजु सुलभ भइ सोई॥ मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥" (मा० अर० ३५)। इसी भाव का वर माँगने पर मनुजी को भी चतुर कहा गया है; यथा—"जो बर नाथ चतुर नृप माँगा।" (मा० बा० १४९)।

सुमन बरषि हरषे सुर, मुनि मुदित सराहि सिहात।
केहि रुचि केहि छुधा सानुज माँगि-माँगि प्रभु खात!॥
प्रभु खात माँगत, देति सबरी, राम भोगी जाग के।
पुलकत प्रसंसत सिद्ध सिव सनकादि भाजन भाग के॥
बालक सुमित्रा कौसिला के पाहुने फल-साग के।
सुनि समुझि तुलसी जानु रामहिं बस अमल अनुराग के॥६॥

अर्थ—उस समय फूल बरसा कर देवगण हर्षित हो रहे हैं और मु गण आनन्दित हो श्रीशबरीजी की प्रशंसा करते हुए सिहाते हैं (वैसा भ पाने के लिये ललचाते हैं) कि 'आज किस रुचि और किस क्षुधा से भ श्रीलक्ष्मणजी के साथ प्रभु श्रीरामजी माँग-माँग कर फल खा रहे हैं! प्रभु श्री रामजी तो बड़े-बड़े यज्ञों के भोक्ता हैं, वे आज फल खाते हैं और फिर माँग हैं तथा श्रीशबरीजी देती हैं'। यद्यपि श्रीशिवजी, सनकादि एवं सिद्धग बड़े भाग्यशाली हैं तथापि ये सब श्रीशबरी के अहो भाग्य की प्रशंसा कर हुए पुलकित हो जाते हैं। (वे कहते हैं—) अहा! माता श्रीकौसल्याजी औ श्रीसुमित्राजी के पुत्र (जो भाँति-भाँति के स्वादिष्ट व्यञ्जनों के पाने वाले हैं आज फल और शाक के पाहुन हो रहे हैं (शबरीजी के प्रेम प्रदत्त फल-शा में आतिथ्य के सुख का अनुभव कर रहे हैं)। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यह सुन और समझ कर जान लीजिये कि श्रीरामजी निर्मल अनुराग के ह वश हैं॥ ६॥

विशेष—'सुमन बरषि···'—प्रभु के सौलभ्य पर ये सब हर्षित हैं।

'केहि रुचि···'—न जाने कहाँ से आज इतनी रुचि और इतनी भूख आ गई है?

'भोगी जाग के'—यद्यपि यज्ञ के विधान में निपुण पवित्र मुनि एवं यजमान के द्वारा वेद मंत्रों से दिये जाने पर बड़ी कठिनाई से श्रीरामजी यज्ञ के भाग ग्रहण करते हैं, वे ही आज स्पृश्य जाति की भीलनी के फल स्वयं माँग-माँग कर खा रहे हैं और शबरी स्वयं देती जाती है, यह भी नहीं है कि किसी पंडित के द्वारा दे रही हो।

'पुलकत प्रसंसत··'—इन्हें अपने भाग्य का गर्व था, वह चूर्ण हो गया।

आज इसके भाग्य की प्रशंसा करते अघाते नहीं हैं, शरीर से पुलकित हो जाते हैं। कहते हैं कि यह कैसा आश्चर्य है कि जिन्हें माता कौसल्याजी और सुमित्राजी ने बड़े लाड़ से विविध व्यञ्जनों द्वारा पाला है; यथा—"अष्टसिद्धि नव निद्धि भूति भूति सब भूपति भवन कमाहिं। समउ समाज राज दसरथ को लोकप सकल सिहाहिं ॥" (बा० २)—इसका विशेष भी देखिये। वे भी आज केवल प्रेमवश होकर फल-शाक में आतिथ्य के सुख का अनुभव कर रहे हैं।

'सुनि समुझि ···'; यथा—"रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननिहारा ॥" (मा० अ० १३६); "उमा जोग जप दान तप, नाना मख ब्रत नेम। राम कृपा नहिं करहिं तसि, जसि निष्केवल प्रेम ॥" (मा० उ० ११७)।

रघुबर अँचइ उठे, सबरी करि प्रनाम कर जोरि।
हौं बलि-बलि गई, पुरई मंजु मनोरथ मोरि ॥
पुरई मनोरथ स्वारथहु परमारथहुँ पूरन करी।
अघ-अवगुनन्हि की कोठरी करि कृपा मुद-मंगल भरी ॥
तापस-किरातिनि-कोल मृदु मूरति मनोहर मन धरी।
सिर नाइ आयसु पाइ गवने परम-निधि पाले परी ॥७॥

अर्थ—[भोजन कर चुकने पर] श्रीरघुनाथजी आचमन करके उठे, तब श्रीशबरीजी ने प्रणाम कर और फिर हाथ जोड़ कर कहा—"मैं बलि-बलि जाती हूँ, आज आपने मेरे सुन्दर मनोरथ की पूर्त्ति की। आपने मेरा मनोरथ पूरा किया और इसीमें मेरा स्वार्थ तथा परमार्थ भी पूरा कर दिया। मैं तो पापों और अवगुणों की कोठरी थी, आपने कृपा करके मुझे आनन्द और मङ्गल से भर दिया।" उस समय वहाँ के तपस्वी, किरातिनी और कोल आदि ने श्रीरामजी की कोमल और मनोहर मूर्त्ति हृदय में धारण की और उन्हें शिर नवा एवं उनकी आज्ञा पा, श्रीरामभक्ति रूपिणी परम निधि प्राप्त कर वे अपने-अपने घरों को गये ॥ ७ ॥

विशेष—'हौं बलि-बलि गई···'—मातृ भाव से वह श्रीरामजी के परम-उपकार पर बार-बार निछावर होती है। 'मंजु-मनोरथ' वही जो मतङ्ग ऋषि ने कहा था कि तुम्हारी कुटी पर श्रीरामजी आवेंगे और तुम्हारे फल-मूल का

आतिथ्य ग्रहण करेंगे, यह ऊपर प्रथम चरण में लिखा गया। उसी की पू
यहाँ श्रीरामजी ने की है।

'पुरई मनोरथ, स्वारथहु···'—उसी मनोरथपूर्त्ति में मेरा स्वार्थ सि
हुआ, आप मेरे अतिथि हुए, लोक में मुझे यश मिला और परमार्थ भी सि
हुआ, आप के आतिथ्य से मैं सद्गति पा गई—ऊपर ५ वें चरण के 'फ
चारिहू···'—इसका विशेष देखिये।

'अघ अवगुननि की कोठरी करि कृपा····'; यथा—"छलिन की छों
सो निगोड़ी छोटी जाति-पाँति, कीन्हीं लीन आपु में सु नारी भोड़े भील की॥
(क० उ० १८); "अधम जाति सबरी जोषित जड़ लोक-बेद ते न्यारी। जा
प्रीति दै दरस कृपा निधि सोउ रघुनाथ उधारी॥" (वि० १६६); "प्रकृ
मलिन कुजाति सबरी सकल अवगुन खानि। खात ताके दिये फल अति रु
बखानि-बखानि॥" (वि० २१५)। अब नित्य धाम में यह सदा आन
मङ्गलमय रहेगी।

'तापस किरातिनि कोल···'—ये सब प्रभु की मृदु मूर्त्ति में मुग्ध हो
गये। अतः, यह मूर्त्ति इनके हृदयों में जम गई। अब स्थिर भक्ति होती रहेगी
इससे जीवन भर आनन्द मङ्गलमय रहेंगे, अन्त में परधाम जा सदा के लि
आनन्दमय हो जायँगे, यही इन्हें परमनिधि का मिलना है, श्रीरामजी की
मृदुमूर्त्ति का ध्यान ही यहाँ परमनिधि की प्राप्ति है।

इन तापस आदि को श्रीरामजी ने आज्ञा दे विदा कर दिया; क्योंकि शबरी
जी का योगाग्नि से शरीर त्याग करना एवं परधाम जाना यह रहस्यात्मक
चरित है, इससे सर्वसाधारण के समक्ष नहीं कराया।

सिय-सुधि सब कही नख-सिख निरखि-निरखि दोउ भाइ।
दै दै प्रदच्छिना करत प्रनाम, न प्रेम अघाइ॥
अति प्रीति मानस राखि रामहिं, राम-धामहिं सो गई।
तेहि मातु ज्यों रघुनाथ अपने हाथ जल-अंजलि दई॥
तुलसी-भनिति, सबरी-प्रनति, रघुबर प्रकृति करुनामई।
गावत, सुनत, समुझत भगति हिय होइ प्रभु-पद नित नई॥८॥

अर्थ—श्रीशबरीजी ने श्रीसीताजी का सारा समाचार कहा। फिर दोनों

भाइयों के नख-सिख सौन्दर्य देख-देख कर वह बार-बार प्रदक्षिणा कर प्रणाम करती हुई प्रेम से अघाती नहीं थी। अत्यन्त प्रीतिपूर्वक श्रीरामजी को हृदय में रख कर वह श्रीरामजी के धाम (साकेत लोक) को गई। उसे माता के समान मान कर श्रीरघुनाथजी ने अपने हाथों से जलाञ्जलि दी। श्रीतुलसीदासजी की कविता गाने से, श्रीशबरीजी की नम्रता एवं विनती सुनने से और श्रीरघुनाथजी का इस प्रसंग का करुणामय स्वभाव हृदय में समझने से प्रभु श्रीरामजी के चरणों में नित्य नई भक्ति होती है ॥८॥

विशेष—'सिय सुधि सब कही'; यथा—"जनकसुता कै सुधि भामिनी। जानहि कहु करिवर-गामिनी ॥ पंपा सरहिं जाहु रघुराई। तहँ होइहि सुग्रीव मिताई ॥ सो सब कहिहि देव रघुबीरा ॥ जानत हूँ पूछत मतिधीरा ॥" (मा० अर० ३५)।

'नख-सिख निरखि-निरखि···'—प्रेमातिशय से बार-बार देखती हुई, दोनों भाइयों की रूप माधुरी से वह तृप्त नहीं होती थी; यथा—"दरसन तृपिति न आजु लगि, प्रेम पियासे नैन ॥" (मा० अ० २६०)। "चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु-सतरूपा ॥" (मा० बा० १४७); बार-बार प्रदक्षिणा एवं प्रणाम करना भी अत्यन्त प्रेम से ही है; यथा—"अंगद हृदय प्रेम नहिं थोरा। फिरि चितव राम की ओरा ॥ बार-बार कर दंड प्रनामा।" (मा० उ० १८); "देखि रामछबि अति अनुरागीं। प्रेम बिबस पुनि-पुनि पद लागीं ॥" (मा० बा० ३३५); "यह सुधि पाइ नगर नर नारी। चले बिलोकन आरत भारी ॥ परदखिना करि करहिं प्रनामा।" (मा० अ० २०१)।

'अति प्रेम मानस राखि···'; यथा—"बार-बार प्रभु-पद सिर नाई। प्रेम सहित सब कथा सुनाई ॥ कहि कथा सकल बिलोकि हरि मुख हृदय पद पंकज धरे। तजि जोग पावक देह हरिपद लीन भइ जहँ नहिं फिरे ॥" (मा० अर० ३५)। योगाग्नि से शरीर त्याग करते समय अभीष्ट का ध्यान किया जाता है; यथा—"तजिहौं तुरत देह तेहि हेतू। उर धरि चंद्रमौलि बृषकेतू ॥ अस कहि जोग अगिनि तनु जारा।" (मा० बा० ६३); वैसे ही यहाँ

शबरीजी प्रीतिपूर्वक श्रीरामजी का मुख देख (वात्सल्य भाव से) उन्हें ह्रदा में रख कर योगाग्नि से शरीर त्याग कर परधाम गईं ।

'तेहि मातु ज्यों····'—प्रभु भक्त की भावना के अनुसार ही उसके सा वर्तते हैं; यथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।" (गीता ४ ११); वैसे ही शबरीजी की भावना के अनुसार उन्हें माता के समान ही मा कर जलाञ्जलि दी है । गृध्रराज के शरीर का दाह किया था, इससे वहाँ पू विधि से श्राद्ध किया था, श्रीशबरीजी ने योगाग्नि से शरीर स्वयं जला दिय था, तब भी श्राद्ध का ही अंगभूत जलाञ्जलि दे मर्यादा रक्खी है; यथा-"गी सबरी को, कहो करिहै सराध को ?" (वि० १८०) ।

'तुलसी भनिति····'—इसमें यथासंख्यालंकार की रीति से 'तुलसी भनिति', 'सबरी प्रनति' और 'रघुबर प्रकृति···' के साथ क्रमशः गावत, सुनत और समुझत को लगाना चाहिये । 'नित नई' क्योंकि श्रीरामजी भक्तों के नित्य नवीन छटा से ही देख पड़ते हैं; यथा-"नित नइ प्रीति राम पद पंकज सब के जिन्हहिं नमत सिव मुनि अज ॥" (मा० उ० १४) । 'तुलसी भनिति'-इसमें कई हेतुओं से यह महत्त्व है—(क) "भनिति मोरि सिव कृपा बिभाती ससि समाज मिलि मनहुँ सुराती ॥ जे येहि कथहि सनेह समेता । कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता ॥ होइहहिं राम चरन अनुरागी ।" (मा० बा० १४) (ख) "तस कहि हौं हिय हरि के प्रेरे ।" (मा० बा० ३०); तथा गुरु-निष्ठा से एवं रामनाम-निष्ठा से दिव्य प्रतिभा द्वारा निष्पन्न होने से, इत्यादि, इनके उदाहरण विस्तार भय से नहीं लिखे गये ।

किष्किन्धाकाण्ड

ऋष्यमूक पर श्रीराम-विरह

राग केदारा

[१]

भूषन-बसन बिलोकत सिय के ।
प्रेम-बिबस मन, कंपु पुलक तनु, नीरज नयन नीर भरे पिय के ॥१॥

सकुचत कहत, सुमिरि उर उमँगत, सील-सनेह-सुगुनगन तिय के।
स्वामि-दसा लखि लखन-सखा-कपि, पिघले हैं आँच माठ मानो घिय के ॥२॥
सोचत हानि मानि मन, गुनि-गुनि, गये निघटि फल सकल सुकिय के।
बरने जामवंत तेहि अवसर, बचन बिवेक बीर रस बिय के ॥३॥
धीर बीर सुनि समुझि परस्पर, बल-उपाय उघटत निज हिय के।
तुलसिदास यह समउ कहे तें कबि लागत निपट निठुर जड़ जिय के ॥४॥

अर्थ—[ऋष्यमूक पर्वत पर श्रीरामजी और श्रीसुग्रीवजी से मित्रता हुई। श्रीसुग्रीवजी ने श्रीसीताजी के वस्त्राभूषण लाकर दिये, जिन्हें रावण से हरी जाने के समय उन्होंने गिरा दिये थे।] श्रीरामजी श्रीसीताजी के भूषणों और वस्त्रों को देखने लगे, उस समय उनका मन प्रेम के विशेष वश हो गया, उनके शरीर में कम्प और पुलकावली छा गई तथा उन श्रीसीताजी के स्वामी श्रीरामजी के कमल समान नेत्र प्रेमाश्रु से भर गये ॥१॥ श्रीसीताजी के शील, स्नेह और शुभगुणगणों को कहने में तो वे सकुचाते हैं, परन्तु स्मरण करने पर उनका हृदय उमड़ आता है। स्वामी श्रीरामजी की यह दशा देखकर श्रीलक्ष्मणजी, सखा श्रीसुग्रीवजी और समस्त वानरगण ऐसे द्रवीभूत हो गये मानों (अग्नि का संयोग होने पर) घी के मटके द्रवीभूत होकर चूने लगते हों ॥२॥ श्रीसीताजी का हरण होने से अपनी बड़ी भारी हानि मानकर और मन में उसे समझ-समझ कर शोक करते हुए कहते हैं कि हमारे समस्त सुकृतों के फल समाप्त हो गये! उस समय पर श्रीजाम्बवान्‌जी ने वीर रस के बीज रूप और विवेकमय वचन वर्णन किये ॥३॥ सभी धैर्यवान् और वीर हैं। अतः, सुनकर और समझ कर परस्पर अपने-अपने हृदय के बल और उपाय प्रकट किये। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इस समय की परिस्थिति का वर्णन करने से कवि नितान्त निष्ठुर और जड़ हृदय के जान पड़ते हैं ॥४॥

विशेष—'भूषन बसन बिलोकत···प्रेम-बिबस···'; यथा—"माँगा राम तुरत तेहि दीन्हा। पट उर लाइ सोच अति कीन्हा॥" (मा० कि० ४); तथा—"उस वस्त्र और गहनों को लेकर श्रीरामजी रोने लगे। आँसू से उनका मुखमंडल छिप गया, जिस प्रकार कुहरे से चन्द्रमंडल छिप जाता है ॥१६॥ श्रीसीताजी के स्नेह से निकले हुए आँसू से श्रीरामजी भीग गये। हा प्रिये!

ऐसा कह कर रोते हुए पृथिवी पर गिर पड़े, उनका धैर्य जाता रहा ॥१७॥ उस श्रेष्ठ अलङ्कार को कई बार हृदय में लगा कर बिल के क्रुद्ध सर्प के समान वे बराबर निःश्वास लेने लगे ॥१८॥ श्रीरामजी का अश्रु-वेग रुका नहीं, पास में बैठे हुए श्रीलक्ष्मणजी से वे दीनता पूर्वक विलाप करते हुए बोले। लक्ष्मण! देखो, हरण के समय श्रीसीताजी ने यह चादर और शरीर के गहने फेंके थे॥ १९-२०॥ श्रीसीताजी ने अवश्य ही इन गहनों को घासवाली भूमि पर फेंका था, यह बात इन गहनों को देखने से मालूम होती है ॥२१॥ श्रीरामजी के ऐसा कहने पर श्रीलक्ष्मणजी बोले—मैं केयूरों (बिजायठों) और कुण्डलों को तो नहीं जानता ॥२२॥ प्रतिदिन चरण-वन्दन करने के कारण केवल नूपुरों को ही जानता हूँ (कि ये नूपुर तो हमारी स्वामिनी के ही हैं) ॥२३॥" (वाल्मी० ४।६); इस उद्धृत प्रसंग में प्रेमवश होने की बातें हैं।

'सकुचत कहत···सील-सनेह···'—श्रीजानकीजी के शील-स्नेह और गुणगण; यथा—"तुलसी सुसील-सनेह लखि निज किंकरी करि मानवी।" (मा० मा० ३३५) यह श्रीसुनयनाजी ने कहा है। तथा—"मैं पुनि पुत्रवधू प्रिय पाई। रूप रासि गुन सील सुहाई॥" (मा० अ० ५८)। यह श्रीकौसल्या-जी ने कहा है। "रूप सील ब्रत नेम पुनीता।" (मा० अर० २९)। यह श्री-रामजी ने कहा है तथा—"प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख सनेह सोभा गुन खानी।" (मा० बा० २३४); इत्यादि।

'स्वामि दसा लखि···'—यहाँ श्रीलक्ष्मण आदि की सहानुभूति कही गई है। यहाँ 'उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा-अलङ्कार' है।

'सोचत हानि मानि···'—श्रीसीता-हरण पर अपने समस्त पुण्यों का समाप्त होना मान रहे हैं, यहाँ प्रारब्ध की प्रबलता दिखा रहे हैं कि इस भोग के बराबर सारे पुण्य भी नहीं हो सके; क्योंकि वे पुण्य इस हानि को न रोक सके तथा न इसकी पूर्त्ति ही कर सकते हैं।

बरने जामवंत····'—जाम्बवान्‌जी देश-काल एवं परिस्थिति के ज्ञाता प्रवीण मंत्री हैं, इससे स्वामी को करुणारस में निमग्न देख कर उससे निकलने का उपाय कर रहे हैं। वीर रस से करुण की शान्ति होती है; यथा—"प्रभु प्रलाप सुनि कान, भए ब्रिकल बानर निकर। आइ गएउ हनुमान जनु करुना

महँ बीर रस ॥" (मा० लं० ६१); तथा—"कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा। तजहु सोच मन आनहु धीरा ॥ सब प्रकार करिहौं सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई ॥" (मा० कि० ६१)। ये वचन इसी अवसर के हैं। विवेक से वियोग आदि दुःखों की क्षणिकता कही और वीर रस उद्दीपक वचनों से धैर्य दे कार्यारूढ़ किया, वही आगे कहते हैं।

'धीर बीर सुनि समुझि....'—जाम्बवान् के वचनों से प्रथम धैर्य धारण किये, फिर अपनी-अपनी वीरता के अनुसार प्रयत्न के विधान कहने लगे।

'यह समय कहे ते...'—इस समय के विरह का वर्णन कुछ महर्षिजी (आदि कवि) ने किया है। ऊपर कुछ उद्धृत किया गया है। हृदय की निष्ठुरता यह कि स्वामी की ऐसी दीन दशा का अनुभव करते उन्हें स्वामी पर दया भी नहीं आई, मानों उनका हृदय जड़-सा है। तथा—"प्रभु की दसा सो समौ कहिबे को कवि उर आह न आई।" (अर० ११)। श्रीगोस्वामीजी का कहने का भाव यह कि मुझसे तो यह दशा नहीं कही जाती।

श्रीसीता-शोध का प्रयत्न

[७]

प्रभु कपि-नायक बोलि कह्यो है।
बरषा गई, सरद आई, अब लौं नहिं सिय सोध लह्यो है ॥१॥
जा कारन तजि लोक लाज तनु राखि बियोग सह्यो है।
ताको तो कपिराज आजु लगि कछु न काज निबह्यो है ॥२॥
सुनि सुग्रीव सभीत नमित-मुख उतर न देन चह्यो है।
आइ गये हरि-जूथ देखि उर पूरि प्रमोद रह्यो है ॥३॥
पठये बदि-बदि अवधि दसहुँ दिसि चले बल सबनि गह्यो है।
तुलसी सिय लगि भव दधिनिधि मानों फिरि हरि चहत मह्यो है ॥४॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी ने वानरराज श्रीसुग्रीवजी को बुलाकर कहा है कि वर्षा ऋतु बीत गई और शरद् ऋतु आ गई, परन्तु अब तक श्रीसीताजी के ढूँढने की व्यवस्था कुछ नहीं प्राप्त हुई ॥ १ ॥ जिसके लिये लोक लज्जा छोड़ कर और शरीर को जीवित रख कर मैंने यह वियोग-दुःख सहन किया है। उसका तो,

हे कपिराज ! आज तक कुछ कार्य्य नहीं सम्पन्न हुआ ॥ २ ॥ यह सुन श्री श्रीसुग्रीवजी भयभीत हो गये, उन्होंने (अपनी असावधानता की लज्जा से) अपना मुख नीचा कर लिया और उत्तर देना नहीं चाहा कि इतने ही में वानरों के समूह आ गये, यह देख कर (श्रीसुग्रीवजी आदि) सभी के हृदयों में परिपूर्ण आनन्द छा गया ॥ ३ ॥ श्रीसुग्रीवजी ने उन सब वानरों को लौटने की अवधि निश्चित कर दसो दिशाओं में भेजा, वे सब उपयुक्त बल धारण कर चले । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो श्रीजानकीजी के लिये भगवान् फिर से संसार रूप दधि-समुद्र का मंथन करना चाहते हैं ॥ ४ ॥

विशेष—'प्रभु कपि नायक' 'बरषा गई'''—प्रभु परम समर्थ हैं, फिर भी राजनीति रक्षा के लिये वानरराज से बुला कर कहते हैं; यथा—"जद्यपि प्रभु जानत सब बाता । राजनीति राखत सुर त्राता ॥" (मा० कि० २२); 'बरषा गई'''; यथा—"बरषा गत निर्मल रितु आई । सुधि न तात सीता कै पाई ॥" (मा० कि० १७) ।

'जा कारन तजि लोक लाज'''—मेरी भार्या को मुझसे धोखा देकर राक्षस हर ले गया और मैं उसका प्रतिकार न कर जीवन धारण करता हूँ, यह बड़ी लज्जा की बात है । मैं इस आशा पर जीता था कि समय पाकर तब शत्रु का पता लगा, उसका वध कर अपनी मर्यादा-रक्षा करूँगा, इसी लिये विरह सह कर भी मैं जीता रहा । 'आजु लगि'—वर्षा भर ही असमय था, समय आ जाने पर इस शरद् ऋतु में भी अभी तक कुछ कार्य नहीं हुआ ।

'सुनि सुग्रीव सभीत'''—इन्होंने वर्षा के पश्चात् कार्य करने की प्रतिज्ञा की थी, वह समय बीत गया, इससे सभीत हैं और कार्य का कुछ अंश भी अभी नहीं हुआ, इससे लज्जित हैं, जिस मुख से प्रतिज्ञा की थी, वह मुख सम्मुख कैसे करें ? निषेधात्मक उत्तर देने से उत्तर न देना ही ठीक है, ऐसा विचार कर चुप रहे ।

'आइ गए हरि जूथ'''—ये यूथ वे हैं, जिन्हें श्रीसुग्रीवजी ने १५ दिन के भीतर बुलाया था; यथा—"अब सोइ जतन करहु मन लाई । जेहि बिधि

सीता कै सुधि पाई ॥ एहि बिधि होत बतकही, आए बानर जूथ। नाना बरन सकल दिसि, देखिय कीस बरूथ ॥" (मा० कि० २१)।

'पठए बदि-बदि अवधि···'; यथा—"कह सुग्रीव सबहि समुझाई ॥ राम काज अरु मोर निहोरा। बानर जूथ जाहु चहुँ ओरा ॥ जनकसुता कहँ खोजहु जाई। मास दिवस महँ आयहु भाई ॥ अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाए। आवइ बनहि सो मोहिं मराए ॥ बचन सुनत सब बानर, जहँ-तहँ चले तुरंत। तब सुग्रीव बोलाए, अंगद नल हनुमंत ॥ सुनहु नील अंगद हनुमाना। जामवंत मतिधीर सुजाना ॥ सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू। सीता सुधि पूँछेहु सब काहू ॥···चले सकल···" (मा० कि० २२-२३)। वाल्मी० ४।४० में लिखा है कि सुग्रीवजी ने विनत वानर यूथप को पूर्व की ओर, सुषेण को पच्छिम की ओर, शतबलि को उत्तर की ओर तथा अङ्गद आदि श्रेष्ठ वीरों को दक्षिण की ओर भेजा है, क्योंकि उधर ही रावण की लङ्का नगरी है।

'बल सबन्हि गह्यो है'—अपने-अपने पराक्रम का स्मरण कर सन्नद्ध हो-होकर कार्य में प्रतिज्ञापूर्वक सभी ने यात्रा की है।

'सिय लगि भव दधि-निधि···'—पहले लक्ष्मीजी एवं रत्नों के लिये क्षीर-समुद्र मथा गया था। अब श्रीजानकीजी के लिये मानो फिर वैसे ही पुरुषार्थ से संसार रूप दधि-समुद्र मथा जायगा। दही मथ कर घी निकाला जाता है, वैसे ही संसार भर मथ कर मैथिलीजी प्रकट की जायँगी। दूध से दही होता है, वैसे क्रम से पहले दूध (क्षीर समुद्र) मथा गया, अब दही। वहाँ देवता और दैत्य मथने वाले थे, यहाँ वानर और भालू हैं। वहाँ भगवान् मन्दराचल के आधार थे, वैसे ही यहाँ भी श्रीरामजी ही इन सब की श्रद्धा एवं निष्ठा के आधार हैं। वहाँ हरि विष्णु भगवान् थे, यहाँ श्रीरामजी हैं—"रामाख्यमीशं हरिम्" (मा० बा० मं० श्लोक)। सारे संसार की भूमि खोजते हुए मथ डालेंगे।

यहाँ 'रूपक से पुष्ट उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा' अलङ्कार है।

———

सुन्दरकाण्ड

श्रीसीताजी से हनुमान्‌जी की भेंट

राग केदारा

[१]

रजायसु राम को जब पायो।
गाल मेलि मुद्रिका मुदित मन पवनपूत सिर नायो ॥१॥
भालुनाथ नल नील साथ चले, बली बालि को जायो।
फरकि सुअंग भये सगुन, कहत मानो मग मुद-मंगल छायो ॥२॥
देखि बिबर, सुधि पाइ गीध सों, सबनि अपनो बल मायो।
सुमिरि राम, तकि तरकि तोयनिधि, लंक लूक-सो आयो ॥३॥
खोजत घर-घर जनु दरिद्र-मन फिरत लागि धन धायो।
तुलसी सिय बिलोकि पुलक्यो तन भूरि भाग भयो भायो ॥४॥

अर्थ—जिस समय श्रीरामजी की आज्ञा मिली, उस समय पवनदेव के पुत्र श्रीहनुमान्‌जी ने (श्रीरामजी की दी हुई) मुद्रिका अपने गाल में डाल कर प्रसन्न मन से उन्हें शिर नवा कर प्रणाम किया ॥ १ ॥ उनके साथ श्रीजाम्बवान्‌जी, श्रीनलजी, श्रीनीलजी और बलवान् बाली के पुत्र श्रीअङ्गदजी चले। इन सबके शुभ अङ्ग फड़क कर ऐसे शुभ शकुन हुए मानों वे कह रहे हों कि तुम सब का मार्ग आनन्द और मङ्गल से छाया हुआ है ॥ २ ॥ जाते हुए मार्ग में उन्होंने एक भारी बिल में प्रवेश किया, वहाँ देख भाल कर (बाहर आने पर) गृध्र सम्पाती से श्रीसीताजी का समाचार (लंका की अशोक-वाटिका में रहने का) पाकर सभी ने अपने-अपने बल को तौला (अनुमान किया)। [जब पार जाने में कोई समर्थ न हुआ] तब श्रीहनूमान्‌जी श्रीरामजी का स्मरण कर, समुद्र की ओर ताक कर और उछल कर लंकापुरी में आकाश में जाती उल्का की भाँति आ गये ॥ वे घर-घर खोजते हुए इस प्रकार दौड़ने लगे मानों किसी कंगाल का मन धन के लिये दौड़ता फिरता हो। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि अन्त में श्रीसीताजी को देख कर उनका शरीर पुलकित हो गया, अपना मन भाया होने से उन्होंने अपने को बड़ा भाग्यवान् समझा ॥४॥

विशेष—'रजायसु राम को ''गाल मेलि ''; यथा—"पाछे पवन-तनय सिर नावा । जानि काज प्रभु निकट बोलावा ॥ परसा सीस सरोरुह पानी । कर मुद्रिका दीन्हि जन जानी ॥ बहु प्रकार सीतहि समुझायहु । कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयहु ॥ हनुमत जनम सुफल करि माना । चलेउ हृदय धरि कृपा-निधाना ॥" (मा० कि० २२); तथा—"जान-सिरोमनि जानि जिय, कपि बल-बुद्धि-निधान ॥ दीन्हि मुद्रिका मुदित प्रभु, पाइ मुदित हनुमान ॥६॥ '''नाथ हाथ माथे धरेउ, प्रभु मुंदरी मुँह मेलि । चलेउ सुमिरि सारंग धर, आनिहि सिद्धि सकेलि ॥१॥ संग नील नल कुमुद गद, जामवंत जुबराज । चले रामपद नाइ सिर, सगुन सुमंगल साज ॥२॥" (रामाज्ञा० ३।६-७) । 'मुदित मन'—क्योंकि श्रीरामजी ने स्वयं इन्हें आज्ञा दी और फिर इनके शिर पर हाथ फेरा है, इससे इन्होंने अपने को कृतार्थ माना है कि मुझसे कार्य करा कर मुझे ही यश देंगे, सभी बाधाओं से रक्षा भी करेंगे; यथा—"सीतल सुखद छाँह जेहि कर की, मेटति पाप, ताप, माया । निसि बासर तेहि कर सरोज की चाहत तुलसिदास छाया ॥" (वि० १३८); ऐसे कर से मेरा शिर-स्पर्श किया है, तब मुझे क्या चिन्ता है ?

'भालुनाथ ''—श्रीजाम्बवान्‌जी प्रवीण मंत्री हैं और परम समर्थ अंगद-जी युवराज दल-संचालक हैं । अतः, दल-बल में भी पूर्णता है ।

'फरकि सुअँग भये सगुन ''—इन सबके दाहिने शुभ अंग फड़कने लगे, इनका फल मार्ग का मुद-मंगलमय होना है; यथा—"फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता ॥" (मा० बा० २३०); तथा मा० बा० ३०२ में होनेवाली शुभ-शकुनावली भी मार्ग का मुद-मंगलमय कहनेवाली है ।

यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षालंकार' है ।

'देखि बिबर, सुधि पाइ''''; यथा—"आगे कै हनुमंतहिं लीन्हा । पैठे बिबर-बिलंब न कीन्हा ॥" से "मूँदहु नयन बिबर तजि जाहू । पैहहु सीतहि जनि पछिताहू ॥ नयन मूँदि पुनि देखहिं बीरा । ठाढ़े सकल सिंधु के तीरा ॥" (मा० कि० २३–२४) तक । संपाती से सुधि मिली; यथा—"गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका । तहँ रह रावन सहज असंका ॥ तहँ असोक उपवन जहँ रहई । सीता बैठि सोच रत अहई ॥ मैं देखउँ तुम्ह नाहीं, गीधहिं दृष्टि अपार । '''जो

नाँघइ सत जोजन सागर । करइ सो राम काज मति आगर ॥···राम हृदय धरि करहु उपाई ॥" (मा० कि० २८–२९) ।

'सबनि अपनो बल भायो'; यथा—"निज निज बल सब काहू भाखा। पार जाइ कर संसय राखा ॥ जरठ भयउँ अब कहइ रिछेसा ।···अंगद कहइ जाउँ मैं पारा । जिय संसय कछु फिरती बारा ॥" (मा० कि० २८–२९); तथा—"जब अंगदादिन की मति-गति मंद भई, पवन के पूत को न कूदबे को पलुगो ॥" (क० कि० १) ।

'सुमिरि राम तकि तरकि···'; यथा—"सिंधु तीर एक भूधर सुंदर। कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर ॥ बार-बार रघुबीर सँभारी । तरकेउ पवन तनय बल भारी ॥ जेहि गिरि चरन देइ हनुमंता । चलेउ सो गा पाताल तुरंगा ॥ जिमि अमोघ रघुपति कर बाना । एही भाँति चला हनुमाना ॥" (मा० सुं० १) । 'लूक-सों'—आकाश की उल्का आकाश मार्ग से चलती है और चमकती रहती है, वैसे ही श्रीहनुमान्‌जी तेजोमय शरीर से अत्यन्त वेग से जा रहे हैं। इतना ही इस उपमा का तात्पर्य है । उल्का आगे क्षीण भी होती है, वह अंश यहाँ नहीं है, क्योंकि 'जिमि अमोघ···' यह भी ऊपर उद्‌धृत है । पुनः उल्का उत्पात सूचक है, वैसे हनुमान्‌जी भी वहाँ उत्पात ही करेंगे ।

'खोजत घर-घर···'—दरिद्र-मन अणु स्वरूप वैसे हनुमान्‌जी भी मशक समान रूप में हैं । पुनः दरिद्र के मन की भाँति अन्यन्त चाव से खोज रहे हैं।

यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षाअलंकार' है ।

'सिय बिलोकि पुलक्यो तन···'; यथा—"देखी जानकी जब जाइ। परम धीर समीर सुत के प्रेम उर न समाइ ॥" (पद २); तथा—"तां क्षामां सुविभक्ताङ्गी विनाभरणशोभिनीम् । प्रहर्षमतुलं लेभे मारुतिः प्रेक्ष्य मैथिलीम् ॥ हर्षजानि च सोऽश्रूणि तां दृष्ट्वा मदिरेक्षणाम् । मुमोच हनुमांस्तत्र नमश्चक्रे च राघवम् ॥" (वाल्मी० ५।१७।३०–३१); अर्थात् बिना भूषण शोभनेवाली कृश श्रीसीताजी को देख कर श्रीहनुमान्‌जी बहुत प्रसन्न हुए । वे हर्ष के आँसू बहाये और श्रीरामजी को उन्होंने प्रणाम किया ।

[२]

देखी जानकी जब जाइ।
परम धीर समीर सुत के प्रेम उर न समाइ ॥१॥

कृस सरीर सुभाय सोभित, लगी उड़ि-उड़ि धूलि ।
मनहुँ मनसिज मोहनी-मनि गयो भोरे भूलि ॥२॥
रटति निसि-बासर निरंतर राम राजिव नैन ।
जात निकट न बिरहिनी-अरि अकनि ताते बैन ॥३॥
नाथ के गुन गाथ कहि कपि दई मुँदरी डारि ।
कथा सुनि उठि लई करबर, रुचिर नाम निहारि ॥४॥
हृदय हरष-बिषाद अति पति-मुद्रिका पहिचानि ।
दास तुलसी दसा सो केहि भाँति कहै बखानि ? ॥५॥

अर्थ—परम धैर्यवान् पवन नन्दन श्रीहनुमान्‌जी ने वहाँ (लङ्का में) जाकर जब श्रीजानकीजी को देखा तब उनके हृदय में प्रेम नहीं समाता था (प्रेमाश्रुओं के द्वारा वह मानों बाहर निकला पड़ता था) ॥१॥ उनका दुबला-पतला शरीर स्वाभाविक सुशोभित था, उस पर जो उड़-उड़ कर धूल लग गई थी, वह ऐसी जान पड़ती थी, मानों कामदेव की मोहनी-मणि हो और उसे वह धोखे में भूल गया हो ॥२॥ वे रात-दिन निरन्तर 'राम' 'राजिव नयन' इन नामों का रटन किया करती थीं । विरहाग्नि से सन्तप्त उनके वचनों को सुनकर विरहिनी स्त्रियों का शत्रु (शीतल-मन्द-सुगंधयुक्त) वायु समीप नहीं जाता था (कि कहीं इनकी विरहाग्नि से भस्म न हो जाऊँ) ॥३॥ स्वामी श्रीरामजी के गुणों की कथा कह कर वानर श्रीहनुमान्‌जी ने मुद्रिका गिरा दी । कथा सुन श्रीसीताजी ने उठ कर उस मुद्रिका को अपने श्रेष्ठ हाथ में लिया तो उसमें उन्होंने मनोहर 'राम' यह नाम देखा ॥४॥ अपने पति की मुद्रिका पहचान कर उनके हृदय में अत्यन्त हर्ष और अत्यन्त विषाद भी हुआ । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वह दशा मैं किस प्रकार से बखान कर (व्याख्यान रूप में, विस्तृत रूप में) कह सकता हूँ ॥५॥

विशेष—'देखी जानकी···परम धीर···'—श्रीहनुमान्‌जी यद्यपि परम धैर्यवान् हैं, तथापि इनकी दशा देखकर वे अधीर हो गये, उनके करुणा से अश्रुपात होने लग गये; यथा—"कृस तनु सीस जटा एक बेनी । जपति हृदय रघुपति गुन श्रेनी ॥ निज पद नयन दिये मन, राम चरन महँ लीन । परम दुखी भा पवन सुत, देखि जानकी दीन ॥" (मा० सुं० ८); श्रीजानकीजी की

परम अनन्य पति-निष्ठा एवं श्रीराम-भक्ति पर इन्हें प्रेम (करुणात्मक) होना कहा गया, शोक नहीं।

'कृस सरीर सुभाय सोभित···'—देह की कान्ति धूल में आ गई है। इससे वह कान्तियुक्त मणि के समान दीखती है। सुन्दर शरीर के सम्बन्ध से वह कामदेव की मोहनी-मणि-सी दीखती है, इसमें 'तद्गुण-अलङ्कार' है। कामदेव की मणि यहाँ कैसे आई? इस पर कहते हैं, वह अपनी पत्नी रति के साथ यहाँ आया, इनकी शोभा देख विह्वल दशा में अपनी मणि भूलकर धोखे में चला गया, ऐसा जान पड़ता है, यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षाअलंकार' है।

'रटति निसि बासर···'—यहाँ श्रीजानकीजी का 'राजिव नयन' विशेषण के साथ 'राम' नाम का जपना कहा गया है। इससे अपने नाम-जप का लक्ष्य दुःख-निवारण का प्रकट किया है; यथा—"राजिव नयन धरे धनु-सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥" (मा० बा० १७)। "सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आये जल राजिव नयना॥ बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहुँ बूझिय बिपति कि ताही॥" (मा० सुं० ३१); "देखी राम सकल कपि सैना। चितइ कृपा करि राजिव नैना॥ राम कृपा बल पाइ कपिंदा। भए पच्छ जुत मनहुँ गिरिंदा॥" (मा० सुं० ३४); तथा—"जेहि बिधि कपट कुरंग सँग, धाइ चले श्रीराम। सोइ छबि सीता राखि उर, रटति रहति हरि नाम॥" (मा० अर० २९)। "रामेति रामेति सदैव बुद्ध्या विचिन्त्य वाचा ब्रुवती तमेव। तस्यानुरूपं च कथां तदर्थमेवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि॥" (वाल्मी० ५।३२।११); अर्थात् श्रीसीताजी कहती हैं कि मैं श्रीरामजी को सोचा करती हूँ और मुँह से भी 'राम-राम' ऐसा कहा करती हूँ, इसीसे अपने विचारों के अनुरूप यह कथा सुन रही हूँ और देख रही हूँ।

'जात निकट न बिरहिनी-अरि···'—इसी दशा का वर्णन श्रीहनुमान्जी ने श्रीरामजी के पास पहुँचने पर किया है, वहाँ भाव स्पष्ट हो गया है; यथा—"जेहि बाटिका बसति, तहँ खग-मृग तजि-तजि भजे पुरातन भौन। स्वास समीर भेंट भइ भोरेहु, तेहि मग पगु न धरयो तिहुँ पौन॥" (पद २०)।

'नाथ के गुनगाथ कहि···'—श्रीरामचरितमानस में मुद्रिका गिरा देने के पीछे श्रीराम गुण गाथ कहना लिखा है, परन्तु वाल्मी० ५।३१ में पहले

कथा कहना है और फिर वाल्मी० ५।३६।२-३ में मुद्रिका देना लिखा गया है। तदनुसार ही यहाँ एवं श्रीरामाज्ञाप्रश्न में लिखा है। अतः, यह कल्पभेद है; यथा—"तुलसी प्रभु गुनगन बरनि, आपनि बात जनाइ। कुसल खेम सुग्रीव पुर, राम-लखन दोउ भाइ ॥ सुरुष जानकी जानि कपि, कहे सकल संकेत। दीन्हि मुद्रिका, लीन्हि सिय, प्रीति-प्रतीति समेत ॥ पाइ नाथ कर मुद्रिका, सिय हिय हरष-बिषाद।" (रामाज्ञा० ५।२।७ तथा ५।३।१-२)।

'हृदय हरष-बिषाद अति…'; यथा—"चकित चितव मुँदरी पहिचानी। हरष-बिषाद हृदय अकुलानी ॥ जीति को सकइ अजय रघुराई। माया ते असि रचि नहिं जाई ॥ सीता मन बिचार कर नाना।" (मा० सुं० १२); अर्थात् पति की वस्तु-प्राप्ति पर अति हर्ष है और यह आई कैसे? क्या पति का कोई अनिष्ट तो नहीं हुआ, इत्यादि तर्क से अत्यन्त विषाद भी हुआ।

'केहि भाँति कहै बखानि'—कोई एक दशा स्थिर नहीं रह पाती, हर्ष और विषाद दोनों की समान प्रबलता है, इससे कहते नहीं बनती।

राग सोरठ

[३]

बोलि, बलि, मूँदरी! सानुज कुसल कोसलपालु।
अमिअ-बचन सुनाइ मेटहि बिरह-ज्वाला-जालु ॥१॥
कहत हित अपमान मैं कियो, होत हिय सोइ सालु।
रोष छमि सुधि करत कबहूँ ललित लछिमन लालु? ॥२॥
परस्पर पति-देवरहि का होति चरचा चालु।
देबि! कहु केहि हेतु बोले बिपुल बानर-भालु ॥३॥
सील-निधि समरथ सुसाहिब दीनबंधु दयालु।
दास तुलसी प्रभुहि काहू न कह्यौ मेरो हालु ॥४॥

अर्थ = [श्रीजानकीजी बोलीं—] ऐ मुद्रिके! मैं तेरी बलिहारी जाती हूँ, बता तो, क्या अपने छोटे भाई के साथ अवधनाथ (श्रीरामजी) कुशल से हैं? अपने अमृतवत् प्रिय वचन सुनाकर मेरे हृदय की विरहाग्नि के समूह भावों को मिटा दे ॥१॥ हित कहते हुए जो मैंने श्रीलक्ष्मणजी का अपमान किया है, वही समझकर मेरे हृदय में खेद होता है। उसका क्रोध क्षमा कर क्या कभी ललित

लखन लाल मेरी सुधि करते हैं ? ॥२॥ पतिदेव और देवरजी में परस्पर क्या चरचा होती है, वह प्रसंग कहो ! और, हे देवि ! यह भी कहो कि किस काम के लिये उन्होंने बहुत-से वानरों और भालुओं को बुलाकर एकत्र किया है ? ॥३॥ (मैं तो यह समझ रही हूँ—) प्रभु शील-निधान हैं, समर्थ हैं, उत्तम स्वामी हैं, दीनबन्धु और दयालु हैं, परन्तु उन प्रभु से अभी तक मेरा यह समाचार किसी ने कहा ही नहीं (इसी से मेरे दुःख-निवृत्ति में विलम्ब हुआ है) ॥४॥

विशेष—'बोलि, बलि, मूँदरी···'—भगवान् के भूषण वस्त्र भी शुद्ध जीव ही हैं। सायुज्य मुक्त जीवों के दो भेद हैं—१ परिकर, २ परिच्छद। परिकर दास-दासी आदि और परिच्छद भूषण-वस्त्र आदि हैं। अतः, ये बोलते भी हैं। इसी से मुद्रिका से यहाँ श्रीजानकीजी बात कर रही हैं। इस प्रिय सँदेश कहने के लिये बलिहारी जाती हैं। 'कोसल पालु' इस विशेषण से कहने का भाव यह कि वे तो अयोध्याजी की समस्त प्रजा का पालन करनेवाले हैं, अतः, मुझ अपनी प्रिया का पालन भी करेंगे ही, पर उनकी कुशल चाहिये। प्रिय का कुशल समाचार ही अमृतवत् वचन है। प्रिय के विषय में एवं उनके कुशल होने में जो भाँति-भाँति के तर्क होकर विरह में दुःखद होते रहते हैं, वे तर्क कुशल सुनकर मिट जायँगे।

'कहत हित अपमान मैं कियो···'—श्रीलछमणजी मेरे हित की बात कहते थे, मैंने उसमें अन्यथा कल्पना कर उन्हें कटु वचन कहकर उनका अपमान किया है, उसका पश्चात्ताप होता है। उस पर उन्हें क्रोध हो आया था क्या उसे क्षमा कर वे मेरी सुधि करते हैं ? तथा—"कहे कटु बचन, रेख नाँघी मैं, तात ! छमा सो कीजै। देखि बधिक-बस राज मरालिनि, लखन लाल ! छिनि लीजै॥" (अर० ७)—इसका विशेष भी देखिये।

'कहु केहि हेतु···'—श्रीहनुमान्जी ने उपर्युक्त 'नाथ के गुन गाथ कहि' इस प्रसंग में श्रीरामजी का वानर-भालू बटोरना भी कहा था, उसी पर यह प्रश्न है। तथा—"नर बानरहिं संग कहु कैसे। कही कथा भइ संगति जैसे॥" (मा० सुं० १२)।

'सीलनिधि समरथ···'—शील-निधान हैं, इससे मेरे दोषों पर घृणा न करेंगे। सुसाहिब हैं। अतः, मुझ आश्रित की सार-सँभाल करेंगे। दीनबन्धु हैं,

अतः मेरी दीन दशा में सहायता करेंगे। दयालु हैं, अतः निर्हेतु भाव से मेरा पालन करेंगे।

'प्रभुहिं काहु न कह्यो…'; यथा—"जौं रघुबीर होति सुधि पाई। करते नहिं बिलंब रघुराई॥ राम बान रबि उएँ जानकी। तम बरूथ कहँ जातुधान की॥" (मा० सुं० १५); 'प्रभुहि'—वे परम समर्थ हैं; यथा—"उर आनहु रघुपति प्रभुताई। सुनि मम बचन तजहु कदराई॥ निसिचर निकर पतंग सम, रघुपति बान कृसानु। जननी हृदय धीर धरु, जरे निसाचर जानु॥" (मा० सुं० १५)।

[४]

सदल सलखन हैं कुसल कृपालु कोसलराउ।
सील-सदन सनेह-सागर सहज सरल सुभाउ॥१॥
नींद-भूख न देवरहि, परिहरे को पछिताउ।
धीर धुर रघुबीर को नहिं सपनेहूँ चित चाउ॥२॥
सोध बिनु, अनुरोध रितु के, बोध बिहित उपाउ।
करत हैं सोइ समय साधन, फलति बनत बनाउ॥३॥
पठै कपि दिसि दसहुँ जे प्रभु काज कुटिल न काउ।
बोलि लियो हनुमान करि सनमान, जानि समाउ॥४॥
दई हौं संकेत कहि, कुसलात सियहि सुनाउ।
देखि दुर्ग, बिसेपि जानकि, जानि रिपु-गति आउ॥५॥
कियो सीय प्रबोध मुँदरी, दियो कपिहि लखाउ।
पाइ अवसर नाइ सिर तुलसीस-गुनगन गाउ॥६॥

अर्थ—[सुनकर मुद्रिका बोली—] कृपालु कोसलनाथ श्रीरामजी अपनी सेना और श्रीलक्ष्मणजी के साथ कुशलपूर्वक हैं। वे शील के घर और स्नेह के सागर हैं तथा उनका स्वाभाविक ही सीधा स्वाभाव है॥१॥ आपके देवर श्रीलक्ष्मणजी को तो न (रात में) नींद आती है और न (दिन में) भूख लगती है; उन्हें तो (दिन-रात) तुम्हें छोड़कर चले जाने का ही पछतावा रहता है तथा धैर्यवानों में धुरंधर श्रीरघुनाथजी को (तुम्हारे विना) स्वप्न में

भी चित्त में उत्साह एवं आनन्द नहीं है ॥२॥ वर्षा ऋतु के अनुरोध से तुम्हारी खोज न हो सकने के कारण (वे अभी तक कुछ नहीं कर सके थे)। जो ज्ञान पूर्वक विहित (विधिवत्) उपाय करते हैं, वही समयानुसार किया हुआ साधन सफल होता है तथा समय के अनुरोध से ही उसकी बनावट भी सम्पन्न हो जाती है ॥३॥ [अतः, समय उपयुक्त पाकर ही) स्वामी श्रीरामजी ने ऐसे वानरों को दसो दिशाओं में (शोध के लिये) भेजा है जो स्वामी के कार्य में कभी कुटिलता नहीं करते। पुनः इन श्रीहनुमानूजी को स्वामी ने बुला लिया और इनका सम्मान किया है। इस कार्य करने की योग्यता इनमें जानकर ही स्वामी ने मुझ (मुद्रिका) को दिया तथा कुछ संकेत (अभिज्ञान) की बात भी कही है। एवं कहा है कि श्रीसीताजी को मेरा कुशल सुनाना, लंका के कोट को देख तथा विशेष कर श्रीजानकीजी को देखकर एवं शत्रु की गति जानकर तुम चले आना ॥४-५॥ इस प्रकार उस मुद्रिका ने श्रीजानकीजी को समझाया और श्रीहनुमानजी का परिचय भी करा दिया। तब अवसर पाकर और श्रीजानकीजी को शिर नवा प्रणाम कर तुलसीदास के ईश्वर श्रीहनुमानूजी अपने कर्त्तव्य परक (तुलसीश) श्रीरामजी के गुण गण गाने पर उद्यत हुए (वह आगे पद से कहते हैं) ॥६॥

विशेष—'सील-सदन सनेह-सागर···'—शील के स्थान हैं, इससे आपकी किसी भी त्रुटि पर उनका चित्त नहीं है, प्रत्युत् आपके प्रति परम आदर है और स्नेह के सागर हैं, इससे आप पर उनका अत्यन्त स्नेह है। सहज सरल स्वभाव हैं, इससे उनके हृदय में कोई दुख का भाव नहीं है।

'नींद-भूख न···'—आप उनसे दोष क्षमा कराती हैं, पर वे तो स्वतः अपनी ही चूक पर पछताते रहते हैं कि मैं तो श्रीराम-प्रभाव जानता था। उन पर संकट नहीं आ सकता। अतः, व्याकुल होकर उनके कहने पर भी मैं दूर क्यों चला आया तथा वहीं पास ही क्यों न छिप कर रह गया। श्रीरामजी ने भी लक्ष्मणजी से कहा है—"राक्षसों को नष्ट करने में मैं समर्थ हूँ, यह जानकर भी तुम सीताजी के क्रोध भरे वचनों के कारण आश्रम से निकल आये ॥२२॥ सीताजी को तुम छोड़ आये, इससे मैं तुम पर प्रसन्न नहीं हूँ क्योंकि क्रुद्ध स्त्री के कठोर वचन सुनकर तुम यहाँ चले आये ॥२३॥ तुमने यह

नीति-विरुद्ध काम किया, जो सीताजी के द्वारा प्रेरित होने से क्रोध में आकर तुमने मेरी आज्ञा नहीं मानी ॥२४॥" (वाल्मी० ३।५९) ।

'धीर-धुर रघुबीर को····'--यद्यपि श्रीरघुनाथजी धीर धुरंधर हैं, तथापि तुम्हारे विना उन्हें स्वप्न में भी आनन्द नहीं है । यह बात आगे के 'संकेत कहि' इस वाक्य के विशेष में उनके ही वचनों से स्पष्ट होगी ।

'सोधु बिनु··करत हैं···'; यथा—"समरथ कोउ न राम सों, तीय-हरन अपराधु । समयहि साधे काज सब, समय सराहहिं साधु ॥" (दोहावली ४४८); तथा "सकल साज समाज साधक समउ कहै सब कोइ ।" (पद ५) । वाल्मी० ४।२७।२९-४८ में श्रीलछमणजी ने विरही श्रीरामजी को समझाते हुए बार-बार कहा है कि यह वर्षा ऋतु है, शरद आने दीजिये, तभी खोज का उपयुक्त समय होगा ।

'पठै कपि दिसि दसहु··'—दसो दिशाओं को भेजते समय उन वानरों के गुण श्रीसुग्रीवजी ने श्रीरामजी से कहा है; यथा—"पृथिव्यम्बुचरा राम नाना नगनिवासिनः । कोट्योघाश्च इमे प्राप्ता वानरास्तव किङ्कराः ॥ ५ ॥ निदेशवर्तिनः सर्वे सर्वे गुरुहिते स्थिताः । अभिप्रेतमनुष्ठातुं तव शक्ष्यन्त्यरिन्दम् ॥ ६ ॥" (वाल्मी० ४।४०); अर्थात् ये पृथिवी और जल में चलने वाले अनेक पर्वतों के रहने वाले, करोड़ों से ऊपर आये हुए वानर आपके अधीन हैं, सेवक हैं । स्वामी का हित साधन करेंगे । ये आपके मनोरथ सिद्ध करने में समर्थ हैं ।

'बोलि लियो हनुमान···'—इसके उदाहरण—"रजायसु राम को···" (पद १)—इसके विशेष में लिखे गये हैं । वाल्मी० ४।४४ में भी श्रीसुग्रीव जी और श्रीरामजी ने हनुमान्‌जी से ही कार्य-सिद्धि का निश्चय किया है ।

'दई हौं, सकेत कहि···'—यही गुप्त सन्देश भी मुद्रिका की भाँति वाचकी सहिदानी रूप में कहा गया है; यथा—"कहेउ राम बियोग तव सीता । मो कहँ सकल भए बिपरीता ॥" से "सो मन सदा रहत तोहि पाहीं । जानु प्रीतिरस एतनेहिं माहीं ॥" (मा० सुं० १४); यह सन्देश श्रीरामजी ने हनुमान्‌जी के कान में लगकर गुप्त कहा था; यथा—"सत्य बचन सुनु मातु जानकी ।··नहिं बिसरति वह लगनि कान की ॥" (पद ११); इसी से

ग्रन्थकार ने श्रीरामजी का कहना गुप्त ही रक्खा है, हनुमान्‌जी उसे प्रकट कर कहने लगे, तब लिखा है। इसी प्रकार वाल्मीकीय रामायण में जयन्त की कथा अभिज्ञान रूप में ही कही गई है। वह अरण्यकाण्ड का चरित होते हुए भी प्रकट करने के अवसर पर ही सुन्दरकाण्ड में कही गई है।

'देखि दुर्ग…'—रावण का कोट देखने के लिये आज्ञा हुई थी, इसी से लौटने पर श्रीहनुमानजी ने दुर्ग की व्यवस्था कही है। वाल्मी० ६।३ में देखने योग्य है। श्रीजानकीजी की परिस्थिति जानने के लिये श्रीहनुमान्‌जी प्रथम गुप्त रूप ले गये थे। उन्होंने अशोक वृक्ष पर रह कर सब देखा है। वैसा ही आकर कहा भी है।

'जानि रिपु गति आउ'—शत्रु की गति जानने के लिये ही हनुमान्‌जी ने अशोक वन उजाड़ कर रावण से लड़ कर एवं बातें करके उसका बल एवं अभिप्राय देखा है; यथा—"इहैव तावत्कृतनिश्चयो ह्यहं व्रजेयमद्य प्लवगेश्वरालयम्। परात्म संमर्दविशेषतत्त्ववित्ततः कृतं स्यान्मम भर्तृशासनम्॥ ७॥…. ततः समासाद्य रणे दशाननं समन्त्रिवर्गं सबलं सयायिनम्। हृदि स्थितं तस्यमतं बलं च सुखेन मत्वाहमितः पुनर्व्रजे॥ ८॥" (वाल्मी० ५।४१।७; अर्थात् अशोक वन ध्वंस के पहले हनुमान्‌जी विचारने लगे कि यहीं से शत्रु के विध्वंस करने के विषय में पूरी-पूरी जानकारी तथा तत्सम्बन्धी उपायों का निश्चय करके यदि मैं श्रीसुग्रीवजी के पास जाऊँ तो मेरे द्वारा स्वामी की आज्ञा का यथार्थ पालन होगा। (अतः रावण से बलात् युद्ध छेड़ना चाहिये) उस युद्ध में ही मंत्री, सेना और अनुयायियों के साथ दशानन को पाकर, उसके हृदय का अभिप्राय तथा उसका बल जान कर मैं यहाँ से चलूँ।

'कियो सीय प्रबोध…'—मुद्रिका ने ही हनुमान्‌जी का परिचय दिया। तब श्रीहनुमान् में उनका पूर्ण विश्वास हुआ। 'तुलसीस' यहाँ प्र स तो श्रीहनुमान के अर्थ में है। इन्होंने आगे अपने कर्त्तव्य परक गुण-गण कहे भी है। फिर श्रीरामजी के प्रति भी ध्वनि से लग सकता है, क्योंकि गुण-गण आगे श्रीरामजी के कहे गये हैं।

[५]

सुवन समीर को धीर धुरीन बीर बड़ोइ।
देखि गति सिय-मुद्रिका की बाल ज्यों दियो रोइ॥१॥

अकनि कटु बानी कुटिल की क्रोध-बिंध्य बढ़ोइ।
सकुचि सम भयो ईस-आयसु-कलसभव जिय जोइ ॥२॥
बुद्धि - बल, साहस - पराक्रम, अछत राखे गोइ।
सकल साज-समाज साधक समउ, कहै सब कोइ ॥३॥
उतरि तरु ते नमत पद सकुचात सोचत सोइ।
चुके अवसर मनहुँ सुजनहिं सुजन सनमुख होइ ॥४॥
कहे वचन बिनीत प्रीति-प्रतीति नीति निचोइ।
सीय सुनि हनुमान जान्यो भली भाँति भलोइ ॥५॥
देवि ! बिनु करतूति कहिबो जानिहैं लघु लोइ।
कहौं गो मुख की समर सरि कालि कारिख धोइ ॥६॥
करत कछू न बनत, हरि हिय हरष-सोक समोइ।
कहत मन तुलसीस लंका करहुँ सघन घमोइ ॥७॥

शब्दार्थ—समोइ=समान ही, भींगा, तर। घमोइ = कटीले पत्तों का एक पौधा, सत्यानाशी, भँडभाँड़। तथा—"बेनु मूल सुत भयहु घमोई।" (मा० लं० ६)। यह सत्यानाशी खँडहरों में होता है। घर का सत्यानाश होने पर उसमें इसकी उत्पत्ति होती है, इससे ऐसा नाम है।

अर्थ—वायु के पुत्र श्रीहनुमान्‌जी यथार्थ धीर-धुरंधर और बड़े भारी वीर थे; तथापि श्रीसीताजी और मुद्रिका की दशा देख कर उन्होंने बालक के समान रो दिया ॥ १ ॥ कुटिल रावण की कटु वाणी सुन कर उनका क्रोध विन्ध्याचल के समान बढ़ने लगा था, परन्तु ईश्वर श्रीरामजी की आज्ञा रूप अगस्त्यजी को हृदय से देख (विचार) कर वह संकुचित होकर सम-अवस्था में (चौरस) रह गया ॥ २ ॥ इन्होंने बुद्धि, बल, साहस और पराक्रम आदि उपयुक्त गुणों के रहते हुए भी इन्हें छिपा रक्खा था; क्योंकि 'समस्त साज-समाज का सिद्ध करने वाला समय है, ऐसा सब कोई कहा करते हैं ॥ ३ ॥ श्रीहनुमान्‌जी ने वृक्ष से उतर कर श्रीजानकीजी के चरणों में नमस्कार किया, वे सकुचाते हुए सोचने लगे जैसे अवसर चूकने पर एक सज्जन एक सज्जन के सम्मुख होता है ॥ ४ ॥ उस समय श्रीहनुमान्‌जी ने प्रीति, प्रतीति और नीति के निचोड़ रूप वचन बड़ी नम्रता से बोले। यह सुनकर श्रीजानकीजी ने श्रीहनुमान्‌जी को

भली-भाँति अच्छा सज्जन ही समझा ॥ ५ ॥ श्रीहनुमानूजी ने कहा—"हे देवि! कुछ कर्त्तव्य किये बिना केवल उसका कथन करने को लोग तुच्छ जानेंगे, इससे मैं कल अपने मुख की कालिमा युद्ध रूपी नदी में धो कर ही कुछ कहूँगा ॥६॥ कुछ करते नहीं बनता। श्रीहनुमानूजी के हृदय में हर्ष और शोक समान ही हैं। (अन्त में) तुलसीदास के स्वामी श्रीहनुमानूजी मन में कहने लगे— 'बस, लंका को सघन सत्यानाशी का वन बना दूँ' ॥ ७ ॥

विशेष—'सुवन समीर को···'; यथा—"पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिज्ञान निधाना ॥" (मा० कि० २९)।

'देखि गति···'—श्रीजानकीजी की और मुद्रिका की वार्ता में ऐसी करुणा आई कि हनुमान् अधीर एवं असमर्थ बालक की भाँति रोने लग गये।

'अकनि कटु बानी···'—श्रीहनुमानूजी अशोक वृत्त पर ही—जिस समय दुष्ट रावण ने श्रीसीताजी से बातें करते हुए कटु वाणी कही थी, उस पर इनका क्रोध बढ़ा था, परन्तु स्वामी की आज्ञा केवल सीताजी का समाचार ही लाने की है, उन्हें लाने की नहीं; यथा—"एतना करहु तात तुम्ह जाई। सीतहि देखि कहहु सुधि आई ॥" (मा० कि० २९); तथा—"बहु प्रकार सीतहि समुझायेहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु ॥" (मा० कि० २२)।

विन्ध्याचल और अगस्त्यजी

"लोमशजी ने युधिष्ठिरजी से कहा है कि सूर्य सुमेरु की प्रदक्षिणा किया करते हैं। एक समय विन्ध्य ने कहा कि मेरी प्रदक्षिणा किया कीजिये। सूर्य ने कहा कि मेरे लिये जो मार्ग सदा से विहित है उसी पर मैं चलता हूँ। अन्यथा कैसे करूँ? इस पर विन्ध्य को भारी क्रोध हुआ, तब उसने सूर्य और चन्द्रमा का मार्ग रोकने की इच्छा की। देवताओं ने उसे बहुत रोका, पर उसने नहीं माना। तब देवताओं ने श्रीअगस्त्यजी के आगे दुखड़ा रोया और कहा कि आप ही इसे रोकने में समर्थ हैं।

अगस्त्यजी अपनी स्त्री के साथ विन्ध्याचल के समीप गये। विन्ध्याचल भी मुनि के दर्शनों के लिये आये। अगस्त्यजी ने विन्ध्य से कहा कि हे पर्वत श्रेष्ठ! हम किसी कार्य से दक्षिण दिशा को जाना चाहते हैं, इसलिये तुम हमें मार्ग दो और जब तक हम उधर से न लौटकर आवें, तुम हमारा मार्ग देखना। मेरे

आने पर फिर इच्छानुसार बढ़ना। इस प्रकार विन्ध्य से प्रतिज्ञा करा कर मुनि गये और अब तक उधर से लौटे ही नहीं। विन्ध्य का बढ़ना रुक गया।"—महा० वन० १०४।

'बुद्धि बल साहस पराक्रम अछत···'; यथा—"पक्षयोर्यद्बलं तस्य भुजवीर्यबलं तव। विक्रमश्चापि तेजश्च न ते तेनापहीयते ॥६॥ बलं बुद्धिश्च तेजश्च सत्त्वं च हरिपुंगव। विशिष्टं सर्वभूतेषु किमात्मानं न सज्जसे ॥७॥" (वाल्मी० ४।६६); अर्थात् श्रीहनुमानजी की भुजाओं में गरुड़जी के पक्षौ से अधिक बल है तथा पराक्रम एवं तेज में भी ये गरुड़जी से कम नहीं हैं। इनमें बुद्धि, बल, तेज और पराक्रम सभी प्राणियों से अधिक है। तथा—"पराक्रमोत्साहमतिप्रतापसौशील्यमाधुर्यनयानयैश्च। गाम्भीर्यचातुर्य सुवीर्यधैर्यैर्हनूमतः कोऽप्यधिकोऽस्ति लोके ॥" (वाल्मी० ७।३६।४३); अर्थात् पराक्रम, उत्साह, बुद्धि, प्रताप, सुशीलता, कोमलता, न्याय-अन्याय का ज्ञान, गम्भीरता, चतुरता, बल और धैर्य में हनुमान्‌जी के समान लोक में और कौन है ?।

'सकल साज-समाज···'—समयानुसार ही कार्य में सिद्धि होती है, इस पर कुछ उदाहरण पद ४ के 'सोधु विनु···' इसके विशेष में देखिये।

'उतरि तरु ते···चुके अवसर···'—माता के प्रति रावण ने वैसे कटु वचन कहे थे और मैंने उसका प्रतिकार कुछ नहीं किया, इसका संकोच है। वह भी समय पर करेंगे, वही आगे नीति-प्रीति आदि के वचनों से समझाते हैं। इस पर श्रीसीता ने इन्हें उत्तम सत्पुरुष ही माना है।

'देवि ! विनु करतूति···'—पहले वचन मात्र से समझाया है, किन्तु कुछ कर्तृत्व विना उसका महत्त्व नहीं है। इसलिये यहाँ करतूत करके सन्तोष देने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं। इसी प्रतिज्ञा के अनुसार आगे अशोक वन उजाड़, युद्ध कर और नगर जला कर अपना यहाँ का कलङ्क धोयेंगे। हनुमान्‌जी उत्तम पुरुष हैं। अतः, कर्त्तव्य द्वारा ही पूर्ण सन्तोष देंगे।

'करत कछु नहिं बनत···'—श्रीसीताजी मिल गईं और इनकी वृत्ति सन्तोषजनक है, इनका पातिव्रत्य आदि देख कर अत्यन्त हर्ष है और रावण द्वारा अपमानित एवं पीड़ित देख कर शोक है। अन्त में निश्चित यही हुआ कि

इस लंका को उजाड़ कर यहाँ के घरों को खँडहर बना इनमें सत्यानाशी पैदा कर दूँगा, तब माता के अपमान का बदला लेने का मेरा मनोरथ पूरा होगा।

राग केदारा

[६]

हौं रघुबंस मनि को दूत।
मातु मानु प्रतीति जानकि! जानि मारुतपूत ॥ १ ॥
मैं सुनी बातैं असैली जे कही निसिचर नीच।
क्यों न मारै गाल बैठो काल-डाढ़नि बीच ॥ २ ॥
निदरि अरि रघुबीर-बल लै जाउँ जौं हठि आजु।
डरौं आयसु-भंग ते, अरु बिगरिहै सुरकाजु ॥ ३ ॥
बाँधि बारिधि साधि रिपु दिन चारि में दोउ बीर।
मिलहिंगे कपि-भालु दल सँग जननि उर धरु धीर ॥ ४ ॥
चित्रकूट कथा कुसल कहि सीस नायो कीस।
सुखद सेवक नाथ को लखि दई अचल असीस ॥ ५ ॥
भये सीतल श्रवन तन मन सुने बचन पियूख।
दास तुलसी रही नयननि दरसही की भूख ॥ ६ ॥

अर्थ—हे माता श्रीजानकीजी! आप विश्वास मानें, मैं रघुवंश शिरोमणि श्रीरामजी का दूत हूँ और मुझे पवन देव का पुत्र जानिये ॥ १ ॥ नीच राक्षस रावण ने जो शैली विरुद्ध (अनुचित) बातें कही हैं, मैंने उन्हें सुन ली हैं। वह काल की डाढ़ों के बीच में तो बैठा ही है। अतः, इस प्रकार गाल क्यों न बजावे? (भाव यह कि मरणासन्न लोगों की बुद्धि नष्ट हो जाती है, इससे वे अविचार की बातें बकने लगते हैं।) ॥ २ ॥ श्रीरघुनाथजी के ही बल पर यदि मैं शत्रु का निरादर (पराजित) कर आज ही हठ करके आपको ले जाऊँ तो स्वामी की आज्ञा भङ्ग होगी, इससे डरता हूँ और फिर इस प्रकार ले जाने पर देवताओं का कार्य भी बिगड़ जायगा ॥ ३ ॥ समुद्र बाँध कर और शत्रु को वश में कर वानर-भालू की सेना के साथ चार (थोड़े) ही दिनों में दोनों भाई श्रीराम लक्ष्मण आकर मिलेंगे। अतः, हे माता! हृदय में धैर्य धारण कीजिये ॥ ४ ॥ श्रीजानकीजी ने श्रीचित्रकूट की कथा (जयन्त-प्रकरण) और अपनी कुशल कही, तब श्रीहनुमान्‌जी ने (आश्वासन दे) शिर नवा प्रणाम

किया। अपने स्वामी श्रीरामजी का अनुकूल प्रिय सेवक जान कर माता ने अटल (असोच) आशीर्वाद दिया ॥ ५ ॥ श्रीहनुमान्जी के अमृतवत् वचन सुनकर श्रीसीताजी के श्रवण, शरीर और मन शीतल हुए (विरह सन्ताप दूर हुए)। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीजानकीजी के नेत्रों में प्रभु के दर्शनों की ही भूख रह गई ॥ ६ ॥

विशेष --'हौं रघुबंसमनि को दूत···'—यद्यपि मुद्रिका ने परिचय करा दिया है, फिर भी यहाँ प्रतीति कराते हैं; क्योंकि वाल्मीकीय रामायण में कई बार हनुमान्जी को प्रतीति कराना पड़ा है। बार-बार उन्हें रावण के वेषान्तर से आने का भ्रम हो जाता था। तथा एक ही घटना को भिन्न-भिन्न रीति से कई पदों में कहा है, यह भी हो सकता है।

'मैं सुनी बातें···क्यों न मारे गाल···'; यथा—"मरन काल बिधि मति हरि लीन्हीं ॥" (मा० अ० १६१); तथा—"काल दंड गहि काहु न मारा। हरइ धरम बल बुद्धि बिचारा ॥ निकट काल जेहि आवइ साँई। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाँई ॥" (मा० लं० ३६)। इसी से वह मृत्युकाल में आये हुए सन्निपात वाले की भाँति अंड-बंड बक रहा है।

भगवान् श्रीरामजी ने रावण आदि समस्त राक्षसों के वध की प्रतिज्ञा कर रक्खी है। सत्य संकल्प ईश्वर की प्रतिज्ञा से रावण सपरिवार काल की दाढ़ों में आ बैठा है। जैसे कि द्रौपदीजी की शरणागति पर ही उसके विरोधियों का वध करने का भगवान् का संकल्प हो चुका था, तभी से कौरवादि काल की दाढ़ों में बैठे थे; यही अर्जुन ने देखा है; यथा—"अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः···वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।" (गीता ११। २६-२७); उसी प्रसंग में भगवान् ने अपने उस रूप को काल कहा भी है; यथा—"कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो···" (गीता ११।३२)। उसी प्रकार श्रीहनुमान्जी का यह कथन परमार्थ दृष्टि से यथार्थ ही है।

'निदरि अरि···डरौं आयसु भंग ते···'—श्रीहनुमान्जी अपनी वीरता प्रभु से ही मानते हैं; यथा—"सुनु माता साखामृग, नहिं बल बुद्धि बिसाल। प्रभु प्रताप ते गरुड़हि, खाइ परम लघु ब्याल ॥" (मा० सुं० १६); उसी दृष्टि से यहाँ भी श्रीराम-बल से रावणादि को वश में करने की बात कह रहे

हैं। किन्तु ऐसा करने में कई दोष है, वह भी साथ ही कहते हैं कि श्रीरामजी ने वैसी आज्ञा नहीं दी है; क्योंकि उनकी स्त्री हरी गई, उसे दूसरा कोई ला दे, इसमें उनका अपमान है। वे अपने मर्याद-रक्षण में स्वयं परम समर्थ हैं। ऐसा ही श्रीजाम्बवन्‌जी ने कहा है—"हम लोगों को दक्षिण दिशा में श्रीसीताजी को खोजने की ही आज्ञा मिली है। श्रीसीताजी को लाने की नहीं। यदि हम लोग रावण को जीत कर सीताजी को लावें भी तो इसे श्रीरामजी स्वीकार न करेंगे? श्रीरामजी ने अपने कुल का परिचय देते हुए सब कपियों के समक्ष सीता के कारण रावण को स्वयं जीतने की प्रतिज्ञा की है। उसे वे असत्य कैसे करेंगे? अतएव हम लोगों का किया कार्य यह व्यर्थ होगा। श्रीरामजी इससे प्रसन्न न होंगे।"—वाल्मी० ५।६०।१५-१८। तथा—"जौं न राम अपमानहि डरऊँ। तोहिं देखत अस कौतुक करऊँ॥ तोहिं पटकि महि, सेन हति, चौपट करि तव गाँव। तव जुवतिन्ह समेत सठ, जनकसुतहिं लै जाऊँ॥" (मा०लं०३०)

'बिगरिहै सुरकाज'—ब्रह्माजी का वरदान है कि भगवान्‌ ही के हाथ रावण आदि का वध हो तथा पृथिवी का भार हरण हो। वह सब उन्हीं के नियत विधान से होना चाहिये। यदि मैं आपको लेकर चला जाऊँ तो रावण आदि परिवार और सेना के साथ न मरेंगे। यह देव-कार्य में बाधा पड़ेगी, इसका भी मुझे डर है। तथा—"अबहिं मातु मैं जाउँ लेवाई। प्रभु आयसु नहि राम दोहाई॥" (मा० सुं० १५)।

'बाँधि बारिधि···'—यहाँ चार दिन अल्प दिनों के अर्थ में कहा गया है; यथा—"कछुक दिवस जननी धरु धीरा। कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा॥ निसिचर मारि तोहिं लै जइहहिं।" (मा० सुं० १५); तथा—"दिवस छ सात जात जानिबे न, मातु धरु धीर, अरि अन्त की अवधि रही थोरि कै। बारिधि बँधाइ सेतु ऐहैं भानुकुल केतु, सानुज कुसल कपि-कटक बटोरि कै॥" (क० सुं० २७); "तौ लौं, मातु! आपु नीके रहिबो। जौ लौं हौं ल्यावौं रघुबीरहि, दिन दस और दुसह दुख सहिबो॥" (पद १४); इस एक ही प्रसंग में कहे हुए इन 'कछुक दिवस' 'दिवस छ सात' और 'दिन दस' का एक ही अर्थ है—'थोड़े दिन'।

यद्यपि यहाँ के चार दिन का अर्थ श्रीबैजनाथजी ने १ महीना किया है कि

१ महीने में सातो दिन चार-चार बार आते हैं। अतः, एक महीना का तात्पर्य है, वही नियत अवधि रावण ने रख दी है; यथा—"मास दिवस महँ नाथ न आवा। तौ पुनि मोहिं जियत नहिं पावा।" (मा० सुं० २६)। तथापि उक्त सभी वचनों की सार्थकता भी होनी चाहिये, वह अल्प दिन परक अर्थ में ही है।

'चित्रकूट कथा कुसल कहि···'—श्रीचित्रकूट के जयन्त-प्रसंग की कथा कहने का यह प्रसंग वाल्मी० ५।३८ में तथा—"तात सक्रसुत कथा सुनायहु। बान-प्रताप प्रभुहि समुझायहु॥" (मा० सुं० २६); इसमें श्रीजानकी ने ही कहा है। तदनुसार यहाँ मैंने अर्थ किया है। तात्पर्य यह कि जब श्रीहनुमान्‌जी ने सहेतुक बातों से धैर्य कराया, तब श्रीजानकीजी ने श्रीरामजी को उनका बाण-प्रताप समझाने के लिये श्रीसीताजी ने जयंत-कथा कही कि जिससे शीघ्रता से आवें और फिर उनसे कहने के लिये ही अपनी कुशल भी कही। तत्पश्चात् हनुमान्‌जी ने प्रणाम किया कि अब मुझे जाने की आज्ञा हो। इस पर श्रीजानकी जी ने दर्शन की बड़ी इच्छा कही और फिर कुछ आगे की बातें छेड़ कर हनुमान्‌जी को कुछ और रोका है।

इस अर्थ में 'कहि' अपूर्ण क्रिया में थोड़ी-सी अड़चन है कि यह वचन हनुमान्‌जी ने ही कह कर शिर नवाया है। विकल्प से यह भाव भी इस प्रकार ले सकते हैं कि जब श्रीजानकीजी ने सहिदानी रूप में गुप्त जयन्त कथा कही, तब उसी कथा के अंश से उन्हें हनुमान्‌जी ने समझाया था कि माता जब कौए मात्र पर जानते ही स्वामी ने ब्रह्मास्त्र चला कर आपके विरोधी को वैसा दण्ड दिया है, तब भला, इस राक्षस को वे कैसे क्षमा करेंगे? अतः, आप धैर्य रक्खें और इन्होंने भी उधर की श्रीरामजी की कुशल कही, तब शिर नवाया। 'कहि' क्रिया का श्रीरामचरितमानस के नियम से पूर्ण-अपूर्ण दोनों क्रियाओं के अर्थ हो सकते हैं। यथा—"कहि निज कथा सुनहु सब बीरा।" (मा० कि० २७)। इसमें पूर्ण क्रिया का ही अर्थ है।

'सुखद सेवक नाथ को लखि···'; यथा—"आसिष दीन्ह राम प्रिय जाना। होहु तात बल-सील-निधाना॥ अजर-अमर गुन निधि सुत होहू। करहु बहुत रघुनायक छोहू॥·····आसिष तव अमोघ बिख्याता॥" (मा० सुं० १७)। यही राम-प्रिय जानकर अचल आशिष देना है।

'भये सीतल श्रवन तन मन...'—श्रीहनुमान्‌जी के वचनों से श्रवण आदि शीतल हुए; यथा—"मन संतोष सुनत कपि बानी। भगति प्रताप तेज बल सानी॥" (मा० सुं० १६)। यहाँ श्रीहनुमान्‌जी के 'बचन पियूख' से श्रीजानकीजी के श्रवण को तुष्टि (तृप्ति), शरीर को पुष्टि और मन को अमरत्व प्राप्त हुए कि अब स्वामी अवश्य मेरा महीने की अवधि के भीतर ही उद्धार कर देंगे। अतः मेरा जीवन रहेगा। इस प्रकार वचन में अमृत के तुष्टि, पुष्टि और अमरत्व ये तीनों गुण हैं। 'बचन पियूख' इसमें 'रूपक अलंकार' है।

'रही नयननि दरस ही की भूख'—इसी पर हनुमान्‌जी ने आकर श्रीरामजी से कहा है—"अतिहि अधिक दरसन की आरति।..." (पद १६) यह पूरा पद देखने योग्य है। तथा—"नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा॥ बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माहिं सरीरा॥ नयन स्रवहिं जल निज हित लागी। जरै न पाव देह बिरहागी॥" (मा० सुं० ३०)।

[७]

तात! तोहू सों कहत होति हिये गलानि।
मन को प्रथम पन समुझि अछत तनु
लखि नई गति भई मति मलानि॥१॥
पिय को बचन परिहर्‌यो जिय के भरोसे,
सँग चली बन बड़ो लाभ जानि।
प्रीतम-बिरह तौ सनेह-सरबस, सुत!
औसर को चूकिबो सरिस न हानि॥२॥
आरज-सुवन के तो दया दुवनहुँ पर,
मोहिं सोच मोतें सब बिधि नसानि।
आपनी भलाई भलो कियो नाथ सब ही को,
मेरेहि अदिन बस बिसरी बानि॥३॥
नेम तौ पपीहा ही के, प्रेम प्यारी मीन ही के,
तुलसी कही है नीके हृदय आनि।
इतनी कही सो कही सीय ज्यों ही त्यों ही रही,
प्रीति परी सही, बिधि सों न बसानि॥४॥

अर्थ—हे तात ! तुमसे भी कहते हुए मेरे हृदय में ग्लानि होती है। मेरे मन का पहले जो प्रण था (कि मैं पति के विना नहीं जीऊँगी) उसे समझकर और फिर शरीर को विद्यमान समझकर तथा अब की अपनी इस नई गति को देखकर मेरी बुद्धि मलिन (अत्यन्त ग्लानियुक्त) हो गई ॥ १ ॥ मैंने अपने हृदय की दृढ़ता के भरोसे पर पति के वचन का त्याग किया था और वन में साथ आने में बड़ा लाभ जानकर ही मैं साथ चली हूँ। (यहाँ आने पर) जो प्रीतम का विरह हुआ है, यह तो, हे पुत्र ! स्नेह का सर्वस्व है (क्योंकि वियोग-विप्रलम्भ-शृंगार स्नेह को विशेष पुष्ट करता है); परन्तु अवसर चूक जाने के समान कोई हानि भी नहीं है (भाव यह कि अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वियोग होते ही मुझे शरीर त्याग देना था, वह नहीं हुआ, यह मुझ से बड़ी चूक हुई है, इसी भारी हानि की मुझे भारी ग्लानि है)॥ २ ॥ आर्यपुत्र (स्वामी) के (हृदय में) तो शत्रु पर भी दया ही रहती है, परन्तु मुझे सोच इस बात का है कि मुझ से सब विधि ही बिगड़ गई। स्वामी ने तो अपनी भलाई से सभी का भला किया है। मेरे ही दुर्दिनों के कारण उन्हें अपनी बानि ('सहज बानि सेवक-सुखदायक' यह) भूली हुई है (नहीं तो क्या इतने दिनों तक मेरा यह दुःख रह जाता ?) ॥ ३ ॥ नियम का निर्वाह करना तो एक चातक के (पाले पड़ा) है और प्रेम का निर्वाह करना प्यारी मछली ही के (भाग्य में) है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीसीताजी ने भलीभाँति इन बातों को हृदय में लाकर (समझ-बूझ कर) कहा है। बस, इतनी बात कहीं सो कहीं, फिर वे ज्यों की त्यों ही (जड़वत्) रह गईं। उनकी प्रीति तो सही (सच्ची) पड़ गई, परन्तु विधाता से उनका वश नहीं चला (वश चलता तो मृत्यु हो ही जाती)॥ ४ ॥

विशेष—'तात ! तोहूँ सों…'—तुम मेरे परम सुहृद हो, मेरे दुःख में सहानुभूति रखते हो। अत, हृदय मिला हुआ है, ऐसे तुमसे भी अपनी अत्यन्त हीनता कहने में ग्लानि आती है कि यह सुन कर क्या कहेगा ? वही आगे कहती हैं—

'मन को प्रथम पन…'—वनयात्रा समय मैंने अपना प्रण प्रकट किया था; यथा—"अस कहि सीय बिकल भइ भारी। बचन बियोग न सकी सँभारी॥

देखि दसा रघुपति जिय जाना । हठि राखे नहिं राखिहि प्राना ॥" (मा० अ० ६७) । तथा—"न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव। मुहूर्त्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ ॥" (वाल्मी० २।५३।३१); अर्थात् श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीरामजी से कहा है कि मैं और श्रीसीताजी आपके बिना जल के बिना मछली के समान नहीं जी सकते । इन दोनों प्रमाणों के अनुसार स्वामी और श्रीलक्ष्मणजी मेरे मन के प्रथम प्रण के साक्षी हैं।

वन-यात्रा समय का वचन है; यथा —"जो हठि नाथ राखिहौ मोकहँ तौ सँग प्रान पठावौंगी । तुलसिदास प्रभु-बिनु जीवत रहि क्यों फिर बदन देखावौंगी ? ॥" (अ० ६)—यह भी प्रथम प्रण ही है।

'लखि नई गति····'—कहाँ तो मैं वियोग में एक मुहूर्त्त नहीं जी सकती थी और कहाँ विषम-वियोग में भी वही मैं ११ महीना तक जीती ही बैठी हूँ ! मेरी गति में ऐसा परिवर्तन क्यों हो गया ? इसकी मुझे भारी ग्लानि है इससे बुद्धि मलिन हो रही है।

'प्रिय को बचन परिहर्यो···'—स्वामी के वचन अ० ५ में देखिये। घर में ही रहने के लिये कहा गया है। तथा—"आपन मोर नीक जो चहहू। बचन हमार मानि गृह रहहू ॥······कहउँ सुभाय सपथ सत मोही। सुमुखि मातुहित राखउँ तोही ॥···रहहु भवन अस हृदय बिचारी।" (मा० अ० ६०-६२); प्रभु के संयोग का सुख ही बड़ा लाभ है, ऐसा जानकर मैं साथ चली थी—"नाथ ! सकल सुख साथ तिहारे।" से "रहिहौं मुदित दिवस जिमि कोकी ॥" (मा० अ० ६४-६५) तक देखिये।

'प्रीतम बिरह तौ सनेह सरबस···'; यथा —"नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये । यथाधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥२०॥ एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः। मया परोक्षं भजता तिरोहितं मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः ॥२१॥" (भाग० १०।३२); अर्थात् हे सखियो ! मैं यद्यपि भजनेवालों को भी नहीं भजता; तथापि मैं इन चारों में (आत्माराम, आप्त काम, कृतघ्न और गुरुद्रोही—इनमें) नहीं हूँ । प्रत्युत् महा दयालु और परम सुहृद हूँ। मैं जिनको नहीं भजता इसीलिये वे निरन्तर मेरा ध्यान किया करते हैं। देखो, जैसे कोई निर्धन पुरुष

धन पाकर फिर उसे गँवा देता है तो उसका मन सब समय उसी धन में लगा रहता है। हे गोपियो! वैसे ही तुमने भी मेरे लिये धर्म का न ध्यान करके सब बन्धु-बान्धवों का त्याग कर मेरा भजन किया है। तुम्हारा ध्यान मेरी ओर अटल हो जाय; केवल इसीलिये मैं छिप गया था, सत्य पूछो तो मैं छिपे हुए तुम्हें भज रहा था, तुम्हारी कोई दशा मुझसे छिपी नहीं है। मैं तो तुम्हारे पास ही था, इसलिये, प्रियतमाओं! तुम अपने प्रिय मुझ पर कोप न करो।

इसका तात्पर्य यह कि भगवान् अपने प्रिय भक्तों को भी विरह के संयोग कर उनके स्नेह को पुष्ट करते हैं। अतः, वियोग-दशा स्नेह को पुष्ट करनेवाली होने से स्नेह का सर्वस्व है। यहाँ श्रीसीताजी ने वियोग-दशा की लीला से स्नेह पुष्ट होना दिखाया है। भगवान् ने गोपियों को बहुत समयों का वियोग कर उनके स्नेह का पोषण किया है तथा परम प्यारे श्रीभरतजी को भी १४ वर्ष के कठिन वियोग का संयोग कर उनके स्नेह को पुष्ट किया है। श्रीभरद्वाजजी ने स्पष्ट कहा भी है; यथा—"तुम्ह कहँ भरत कलंक यह, हम सब कहँ उपदेस। राम-भगति-रस सिद्धि हित, भा यह समउ गनेस॥" (मा० अ० २०८)। तथा आगे पद में 'करुना-निधान…' इसका भाव देखिये।

'अवसर को चूकिबो सरिस न हानि'; यथा—"सोच सुमंत्र बिकल दुख दीना। धिग जीवन रघुबीर-बिहीना॥ रहिहि न अंतहु अधम सरीरू। जसु न लहेउ बिछुरत रघुबीरू॥ भए अजस-अघ-भाजन प्राना। कौन हेतु नहिं करत पयाना॥ अहह मंद मन अवसर चूका। अजहुँ न हृदय होत दुइ टूका॥" (मा० अ० १४३)।

'आरज-सुवन के तो…'—आर्यपुत्र, उस समय पति के लिये सम्बोधन था। भाव यह कि स्वामी तो शत्रु पर भी दया ही रखते हैं; यथा—"अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा।" (मा० अ० १८२); "उमा राम मृदु चित करुना-कर। बैर भाव सुमिरत मोहि निसिचर॥ देहिं परम गति सो जिय जानी। अस कृपाल को कहहु भवानी॥" (मा० लं० ४४)।

'मोहि सोच मोते सब बिधि नसानि'—प्रथम स्वामी की आज्ञा न मानकर साथ हठपूर्वक आई, मृग पर मोहित हो स्वामी से उसके लाने के लिये

आग्रह किया, फिर श्रीलक्ष्मणजी को कटु वचन कहा, रेखोल्लंघन किया और फिर वियोग में भी जीती ही बैठी हूँ, ये सभी विधियाँ मुझसे बिगड़ गई है; यथा—"जेहि कृत कपट कनक मृग झूठा। अजहुँ सो दैव मोहिं पर रूठा॥ जेहि बिधि मोहिं दुख दुसह सहाए। लछिमन कहँ कटु बचन कहाए॥.....ऐसे हु दुख जो राख मम प्राना।" (मा० लं० ९८)।

'आपनी भलाई भलो...'; यथा—"राम भलाई आपनी भल कियो न काको। जुग-जुग जानकिनाथ को जग जागत साको॥" (वि० १५२)—यह पूरा पद देखिये। सभी की भलाई करते हैं, उस रीति से मुझ आश्रित की भी भलाई करते ही, परन्तु मेरे दुर्दिन बाधक हो रहे हैं। इससे स्वामी को अपनी सहजबानि भूल गई है; यथा—"कोमलचित कृपाल रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई॥ सहज बानि सेवक सुखदायक। कबहुँक सुरति करत रघु-नायक॥" (मा० सुं० १३)।

'नेम तो पपीहा ही के'—चातक के नियम-निर्वाह की व्यवस्था दोहावली २७७-३१२ इन छत्तीस दोहों में कही गई है। 'प्रेम प्यारो मीन ही के'; यथा—"देउ आपने हाथ जल, मीनहि माहुर घोरि। तुलसी जियै जो बारि बिनु, तौ तु देहि कबि खोरि॥३१७॥ मकर, उरग, दादुर, कमठ, जल जीवन जल गेह। तुलसी एकै मीन को, है साँचिलो सनेह॥३१८॥" (दोहावली)। इन दोनों जाति के पक्षियों के नेम और प्रेम को जब भला-भाँति हृदय में विचारा तो यह आया—हाय! मैं तिर्यग्योनि के इन कीड़ों से भी गई-बीती हो गई। बस, उसी समय वाक् बन्द हो गई, देह जड़वत् रह गई, चित्र लिखी-सी रह गई। प्रीति की सत्यता तो आपमें प्रामाणिक हो गई। वियोग में मरने की-सी दशा हो गई, परन्तु मरण की व्यवस्था अपने हाथ नहीं है, ब्रह्माजी के हाथ है; यथा—"हानि-लाभ जीवन मरन, जस अपजस बिधि हाथ।" (मा० अ० १७१); इससे मृत्यु नहीं हुई। तथा—"जो पै प्रिय-बियोग बिधि कीन्हा। तौ कस मरन न माँगे दीन्हा॥" (मा० अ० ८५)। ऊपर मछली के दृष्टांत से वियोग में प्राण छोड़ने में प्रीति की सत्यता कही गई है, तदनुसार यहाँ भी सत्यता कही गई है।

[८]

मातु ! काहे को कहति अति बचन दीन ?।
तब की तुही जानति, अब की हौं ही कहत,
सब के जिय की जानत प्रभु प्रवीन ॥१॥
ऐसे तो सोचहिं न्याय-निठुर-नायक-रत
सलभ, खग, कुरंग, कमल, मीन।
करुना-निधान को तो ज्यों-ज्यों तनु छीन भयो,
त्यों-त्यों मन भयो तेरे प्रेम पीन ॥२॥
सिय को सनेह, रघुबर की दसा सुमिरि
पवनपूत देखि भयो प्रीति - लीन।
तुलसी जन को जननिहूँ प्रबोध कियो,
"समुझि तात! जग बिधि-अधीन" ॥३॥

अर्थ—[श्रीहनुमान्‌जी बोले—] हे माता ! आप अत्यन्त दीन वचन क्यों कह रही हैं ? पहले समय के अपने स्वामी के प्रीत्यात्मक बर्त्तावों को तो आप ही जानती हैं और इस समय की उनकी आपके प्रति परम-प्रीत्यात्मक-भावनाएँ मैं ही कह रहा हूँ और फिर प्रभु तो स्वयं प्रवीण हैं। अतः, सब के हृदय की भावनाएँ वे स्वतः जानते ही हैं (अतः आपके हृदय के अनुसार बर्तेंगे ही) ॥१॥ इस प्रकार से शोच तो उचित बात निर्वाह में निष्ठुर नायक में रत रहनेवाले शलभ, पपीहा, मृग, कमल और मीन आदि किया करते हैं (आपके स्वामी तो उचित बर्त्ताव में निष्ठुर नहीं हैं, प्रत्युत्) वे स्वामी श्रीरामजी करुणा के सागर हैं। अतः, आपके विरह में जैसे-जैसे उनका शरीर क्षीण होता गया है, वैसे-वैसे उनका मन तुम्हारे प्रेम में अधिक पुष्ट होता गया है ॥२॥ ऐसा कहते हुए श्रीहनुमान्‌जी यहाँ का श्रीसीताजी का स्नेह और वहाँ श्रीरामजी की विरह दशा का स्मरण कर—इन दोनों की प्रीति में निमग्न हो गये। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यह देख कर माता श्रीजानकीजी ने भी भक्त को समझाकर ढाढ़स दिया—"हे तात ! जगत् विधाता के अधीन है, ऐसा समझो" ॥३॥

विशेष—'मातु ! काहे को···'—ऊपर पद में माता ने अपने में अत्यन्त दीनता की बातें कही हैं। इस पद में श्रीहनुमान्‌जी उनका निराकरण करते हैं—

'सब के जिय की जानत प्रभु-प्रबीन'; यथा—"स्वामि सुजान जान सब ही की। रुचि लालसा रहति जन जी की॥" (मा० अ० ३१३)।

'ऐसे तो सोचहि···'—निष्ठुर नायकों की निष्ठुरता और उनके आश्रितों का दुःखी होकर सोच करना इन दो पदों से समझिये; यथा—"ऐसे हौं हु जानति भृंग। नाहिनै काहू लह्यो सुख प्रीति करि इक अंग॥ कौन भीर जो नीरदहि जेहि लागि रटत बिहंग? मीन जल बिनु तलफि तनु तजै, सलिल सहज असंग॥ पीर कछू न मनिहि जाके बिरह बिकल बिहंग। व्याध-बिसिप बिलोकि नहिं कलगान-लुबुध कुरंग॥ स्याम-घन, गुन-बारि, छबि-मनि, मुरलि-तान तरंग। लग्यो मन बहु भाँति तुलसी होइ क्यों रस भंग?॥" "ऊधो! प्रीति कर निरमोहियन सों को न भयो दुख दीन?। सुनत समुझत कहत हम सब भईं अति अप्रबीन॥ अहि कुरंग पतंग पंकज चारु चातक मीन। बैठि इनकी पाँति अब सुख चहत मन मतिहीन॥ निठुरता अरु नेह की गति कठिन परति कही न। दास तुलसी सोच नित निज प्रेम जानि मलीन॥" (कृष्ण-गीतावली ५४-५५); शलभ (फतिंगा) का नायक दीपशिखा एवं अग्नि, खग पपीहा का मेघ, मृग का व्याधगान और कमल का सूर्य तथा मीन का जल है।

'करुना-निधान को···'—आपके स्वामी तो निष्ठुर नहीं हैं, प्रत्युत करुणानिधान हैं। श्रीसीताजी ने स्वामी के प्रति 'करुणा-निधान' यह सम्बोधन नियत कर रक्खा है, हनुमान्‌जी इसे बार-बार कहकर उनके हृदय में प्रतीति भी कराते हैं कि मैं प्रभु का अतरंग ही भक्त हूँ। आपके विरह में उनका शरीर क्षीण होता जा रहा है और उस विरह से पोषित होकर आपके सम्बन्ध का उनका प्रेम पुष्ट होता जा रहा है। ऊपर पद में 'प्रीतम विरह तौ सनेह सरबस' इसका प्रसंग भी देखिये।

'सिय को सनेह, रघुबर की दसा···'—अपने प्रियतम के दुःख एवं सुख वैसे ही अपने को भी अनुभूत होते हैं। इस नियम से श्रीहनुमान्‌जी इन दोनों की प्रीति में लीन हो गये। जैसे ऊपर पद के अन्त में श्रीसीताजी की दशा लिखी जा चुकी है। 'जननि हूँ' इस पद से सिद्ध है कि ऊपर पद में हनुमान्‌जी ने माता को प्रबोध किया था कि आपकी प्रीति तो सही पड़ ही

गई, पर विधाता मृत्यु नहीं होने दिया तो आपका वश ही क्या ? वैसे यहाँ हनुमान्जी की भी दशा हुई तब माता ने इन्हें समझाया कि पुत्र ! जगत् ही की व्यवस्था विधाता के अधीन है, इसी नियम से हम, श्रीस्वामी और तुम सभी हैं। अतः, वह जो सहाता है, वह सहना ही चाहिये। (लीला के अनुरोध से अपने दोनों में विधि-अधीनता कही है।) वाल्मीकीय में वन-यात्रा समय श्रीलक्ष्मणजी के कैकेयी आदि पर क्रुद्ध होने पर श्रीरामजी ने उन्हें इसी प्रकार जगत् की विधि-अधीनता कह कर समझाया है। तथा—"कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ-असुभ सकल फल दाता॥ ईस रजाइ सीस सब ही के। उतपति थिति लय बिषहु अमी के॥" (मा० अ० २८१)।

राग जैत श्री

[६]

कहु, कपि ! कब रघुनाथ कृपा करि, हरिहैं निज बियोग-संभव दुख।
राजिव-नयन, मयन-अनेक-छबि, रबिकुल-कुमुद-सुखद, मयंक-मुख ॥१॥
बिरह-अनल सहाय समीर-निज, तनु जरिबे कहुँ रहि न कछू सक।
अति बल जल बरसत दोउ लोचन, दिन अरु रैन रहत एकहिं तक ॥२॥
सुदृढ़ ज्ञान अवलंबि सुनहु सुत राखति प्रान बिचारि दहन मत।
सगुन रूप, लीला - बिलास - सुख सुमिरत करत रहत अंतरगत ॥३॥
सुनु हनुमंत ! अनंत-बंधु करुना - सुभाव सुसील कोमल अति।
'तुलसिदास' यहि त्रास जानि जिय, बरु दुख सहौं प्रगट कहि न सकति॥४॥

अर्थ—(श्रीजानकीजी ने कहा—) हे कपि श्रीहनुमान्जी ! कहो, क्या कभी कमल नयन, अनेकों कामदेवों की-सी छवि वाले और सूर्यकुल रूप कुमुद वन को सुख देने वाले चन्द्रमा के समान मुख वाले श्रीरघुनाथजी कृपा करके अपने वियोग से होनेवाले दुःख का हरण करेंगे (अपना दर्शन करायेंगे) ? ॥ १॥ अपनी श्वास रूप वायु की सहायता से प्रदीप्त विरहानल से शरीर जलने के विषय में कुछ भी सन्देह नहीं था; परन्तु (दर्शनार्थी) मेरे दोनों नेत्र बड़े वेग से जल बरसाया करते हैं, ये दिन और रात एकताक (बराबर) लगे रहते हैं (जल ही बरसाया करते हैं, इसी से शरीर नहीं जलने पाता) ॥ २ ॥ और, हे पुत्र ! सुनो, मैं तो श्रेष्ठ दृढ़ ज्ञान का आश्रय लेकर शरीर जलाने के मत पर

विचार करके प्राणों को रखती हूँ (श्रीरामजी आश्रित का त्याग नहीं करते, प्रत्युत् उसके भावानुसार वर्तते हैं। मेरे शुद्ध भाव के प्रति वे अवश्य मेरी रक्षा करेंगे)। तथा मैं उनके सगुण रूप और उस रूप के लीला-विलास पर सुखों का स्मरण करती हुई उन्हें हृदय में रखती रही हूँ ॥ ३ ॥ हे हनुमान् ! सुनो, श्रीलक्ष्मणजी के बड़े भाई श्रीरामजी बड़े करुण स्वभाव, सुशील और अत्यन्त कोमल हैं ? मेरा दुःख सुनकर वे अत्यन्त दुःखी हो जायँगे, इस डर को हृदय में जान कर मैं यद्यपि दुःख सहती हूँ, पर प्रकट में अपने दुःखों को कह नहीं सकती ॥ ४ ॥

विशेष—'कहु कपि··राजिव नयन···'—उन्हें मेरे बिना कोई हानि नहीं है, पर कृपा करके मेरा दुःख हरेंगे ? दुःख भी उन्हीं के वियोग का है, वह उनके दर्शन ही से दूर होगा। वे राजीव-नयन हैं। अत', करुणामय दृष्टि से मेरी विपत्ति का भंजन कर सुख देंगे ? अपनी अनेक कामदेवों की छवि से मुझे सुख देंगे ? सूर्य कुल की मर्याद-रक्षा कर उस कुल को प्रफुल्ल करेंगे ? अर्थात् मेरा हरण होने से कुल-मर्याद में हानि है, मेरा उद्धार करने एवं शत्रु को दण्ड देने से कुल की मर्याद-रक्षा होगी। चन्द्र-मुख दिखा मुझे आह्लादित करेंगे ?

'बिरह अनल···'—अग्नि वायु से बढ़ती है, वैसे आह भरी श्वासों से यह विरह बढ़ा करता है, तब आँखें झड़ी लगा इन्हें बुझाया करती हैं; यथा—"पावक-बिरह समीर-स्वास तनु-तूल मिले तुम्ह जारनिहारे। तिन्हहिं निदरि अपने हित कारन राखत नयन निपुन रखवारे ॥" (कृष्ण-गीतावली ५६); तथा—"बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माँझ सरीरा॥ नयन स्रवहिं जल निज-हित लागी, जरइ न पाव देह बिरहागी ॥" (मा० सुं० ३०)।

'सुदृढ़ ज्ञान अवलंबि····'—श्रीरामजी शरणागत का त्याग कभी नहीं करते; यथा—"बिरुदावली बिलोकिये तिन्ह में कोउ हौं हौं। तुलसी प्रभु को परिहर्‍यो सरनागत सोहौं ॥" (वि० १५०); "सरन गए प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा ॥" (मा० सुं० ३८)। प्रत्युत् उसके भावानुसार वर्तते हैं; यथा—"तुलसी प्रभु सुभाउ सुरतरु-सों ज्यों दरपन मुख कान्ति ॥" (वि० २३३); तथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥" (गीता ४।११); इत्यादि।

'सगुन रूप, लीला-बिलास-सुख ...'; यथा—"अगुन अलेप अमान एकरस। राम सगुन भए भगत प्रेम बस॥ राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद-पुरान साधु सुर साखी॥" (मा० अ० २१८); भाव यह कि श्रीरामजी भक्त प्रेमवश ही भक्त-भावानुसार रूप ग्रहण उस भक्त की रुचि पूरी किया करते हैं, तद्वत् लीला-विहार में सुख मानते हैं। वैसे ही मेरी रुचि पूर्त्ति की लीला में जो कष्ट झेलने पड़ रहे हैं; इसमें भी वे सुख ही मानेंगे।

'सुनु हनुमंत! अनन्त बंधु...'; यथा—"करुनामय मृदु राम सुभाऊ।" (मा० अ० ३९); "करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइयहि पीर पराई॥" (मा०अ० ८४); "अति कोमल रघुबीर सुभाऊ। जद्यपि अखिल लोक कर राऊ॥ मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिही। उर अपराध न एकउ धरिही॥" (मा० सुं० ५६)। आगे पद १५ के 'कहन चह्यो सँदेस...' इसका प्रसंग भी देखिये।

'येहि त्रास जानि जिय...'—वाल्मी० ५।३६।४१–४६ में श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीरामजी की विरह-दशा कही है कि आप (श्रीसीताजी) के बिना वे बड़े दुखी हैं। आप ही की चिन्ता में निमग्न हैं, आदि। इस पर श्रीजी ने कहा है; यथा—"अमृतं विषसंपृक्तं त्वया वानर भाषितम्। यच्च नान्यमना रामो यच्च शोक परायणः॥" (वाल्मी० ५।३७।२); अर्थात् हे वानर! तुम्हारे ये वचन विष मिले हुए अमृत के समान हैं कि श्रीरामजी तुम्हारा सदा चिन्तन किया करते हैं और वे शोकरत हैं।

यहाँ भी श्रीजी का वही तात्पर्य है कि मैं अपना पूर्ण दुःख खोल कर इससे नहीं कह सकती कि स्वामी परम कोमल स्वभाव के हैं, वे सुन कर अत्यन्त दुःखी हो जायँगे। करुण स्वभाव हैं, इससे मेरे दुःख पर दुःखी हो मेरे सुख का उपाय करेंगे। सुशील हैं, इससे मेरे दोषों को न देख कर मेरा आदर ही करेंगे और अत्यन्त कोमल हैं, इससे मेरे दुःख को सुनते ही द्रवीभूत हो मेरे उद्धार पर तत्पर होंगे; ये इन विशेषणों के भाव हैं।

राग केदारा

[१०]

कबहुँ, कपि! राघव आवहिंगे?
मेरे नयन चकोर प्रीति बस राकाससि मुख दिखरावहिंगे॥१॥

मधुप, मराल, मोर, चातक ह्वै लोचन बहु प्रकार धावहिं गे।
अंग अंग छबि भिन्न-भिन्न सुख निरखि-निरखि तहँ-तहँ छावहिं गे।२।
बिरह-अगिनि जरि रही लता ज्यों, कृपादृष्टि जल पलुहावहिं गे?
निज बियोग दुख जानि दयानिधि मधुर बचन कहि समुझावहिं गे।३।
लोकपाल, सुर, नाग, मनुज सब परे बंदि कब मुकुतावहिं गे?
रावन-बध रघुनाथ-बिमल-जस नारदादि मुनि जन गावहिं गे।४।
यह अभिलाष रैनि दिन मेरे, राज बिभीषन कब पावहिं गे?
'तुलसिदास' प्रभु मोह जनित भ्रम, भेद बुद्धि कब बिसरावहिं गे?।५।

अर्थ—हे कपि हनुमानजी! क्या कभी श्रीरघुनाथजी आवेंगे? प्रीतिवश चकोर हुए मेरे नेत्रों को क्या पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान अपना मुख दिखलायेंगे?॥१॥ मेरे नेत्र भ्रमर, हंस, मोर और चातक होकर अनेक प्रकार से दौड़ेंगे और उनके अंग-अंग की छबि देख-देखकर भिन्न-भिन्न सुख अनुभव करते हुए वहाँ-वहाँ छा जायँगे॥२॥ मैं उनके विरह रूप अग्नि में लता की भाँति जल रही हूँ, क्या कृपादृष्टि रूप जल की वर्षा कर मुझे हरी-भरी करेंगे। तथा वे दयासागर अपने वियोग जन्य मेरे दुःख को जानकर क्या मुझे मधुर वचन कह कर समझायेंगे?॥३॥ इन्द्र आदि लोकपाल, देवगण, नाग और मनुष्य सब जो रावण के बंदी गृह में पड़े हुए हैं, उन्हें कब मुक्त करेंगे? जिससे रावण-वध और श्रीरामजी के निर्मल यश नारद आदि मुनिजन गान करेंगे॥४॥ मेरे हृदय में रात-दिन यह अभिलाषा बनी ही रहती है कि श्रीविभीषणजी कब (इस लंकापुरी का) राज्य पायेंगे। तथा मोहवश मुझे जो (मारीच के बनावटी वेष में सोने के मृग का) भ्रम हुआ और जो मैंने (श्रीलक्ष्मणजी के विषय में) भेद बुद्धि की, मेरे इन दोषों को प्रभु कब भुला देंगे?॥५॥

विशेष—'कबहुँ कपि…'—यहाँ अपने भावी कल्याण का पूर्वानुराग करती हैं। 'प्रीति बस नयन चकोर'; यथा—"अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥" (मा० बा० २३१)। चकोर पूर्ण चन्द्र की अमृतमय किरणों का पान करता है, वैसे ही मेरे नेत्र उनकी छवि का पान करेंगे; यथा—"मुनि समूह महँ बैठे, सनमुख सबकी ओर। सरद इंदु तन चितवत, मानहुँ निकर चकोर॥" (मा० अर० १२)।

'मधुप, मराल, मोर, चातक ह्वै····'—भ्रमर रूप से मेरे नेत्र उनके 'नव कंज लोचन कंज मुख कर कंज पद कंजारुनं' में निवास कर कमल के रस, कोमलता, सुगंध और पराग के समान विविध सुख पायेंगे। हंस होकर नाभि-सर में बिहार करते हुए श्रमविन्दुओं को मुक्ताओं के समान देखेंगे। मोर होकर प्रभु के मेघवत् श्याम सरीर और साथ ही बिजली के समान पीताम्बर देख नाँचेंगे तथा उनकी गम्भीर वाणी को मेघ-गर्जन के समान सुन आनंदित होंगे और पपीहा होकर श्याम शरीर रूप मेघ में अनन्य-निष्ठा का सुख प्राप्त करेंगे।

'बिरह अगिनि···'—अग्नि में जलती हुई लता पर प्रायः लोग कृपा करते ही हैं, वैसे ही स्वामी मुझ पर कृपादृष्टि रूपी जल से मुझे प्रफुल्ल करेंगे। प्रफुल्ल करने का प्रकार साथ ही कहती हैं—

'निज बियोग···'—दया करके मीठे-मीठे वचनों से कह-कह कर मुझे समझाएँगें। मेरे दुःखों को जानकर उन पर अपनी सहानुभूति प्रकट करेंगे।

'लोकपाल, सुर, नाग···'—इन सबके मुक्त होने पर कहा गया है; यथा—"दसमुख-बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाए नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर-नाग-नर-सुमुखि सनाहैं॥" (उ० १३)। "रावन नाम जगत जस जाना। लोकप जाके बंदीखाना॥" (मा० लं० ८६); इत्यादि।

'रावन बध रघुनाथ बिमल जस···'—रावण-बध में उधर से भाँति-भाँति की मायायों के प्रति भी श्रीरामजी ने सरल ही युद्ध किया है, इससे इनका यश निर्मल है। नारदजी देवर्षि हैं। अतः, उनकी वाणी बड़ी प्रामाणिक है, इससे उनके द्वारा गाये जाने का बड़ा भारी महत्त्व है; तथा—"कपिसेन संग सँहारि निसिचर राम सीतहिं आनिहैं। त्रैलोक पावन सुजस सुर मुनि नारदादि बखानिहैं॥" (मा० कि० २६)।

'यह अभिलाष···राज-बिभीषन···'; यथा—"सो दिन सोने को कहु कब ऐहै।·····कनकपुरी भयो भूप बिभीषन बिबुध-समाज बिलोकन धैहै॥२॥" (पद ५०)।

'प्रभु मोह जनित भ्रम···'—मैं मोहित हो गई, इससे मुझे मारीच के कपटा वेष में सोने के मृग का भ्रम हो गया था। जिसके परिणाम में यह सब

कष्ट भोग रही हूँ। तथा श्रीलक्ष्मणजी के हित कहते हुए भी मैंने उनमें भेद बुद्धि की, आपके अनन्य परिकर अतएव आपके अंगभूत न मानकर उन्हें आपके विरोधी आदि कहकर दुःख दिया, जिस भागवतापराध की करालता से आपकी कृपादृष्टि से मैं अभी तक वञ्चित हूँ। मेरे इन दोनों दोषों को आप कब कृपा करके भुला देंगे ? भाव यह कि जब तक मेरे इन दोषों को प्रभु नहीं भुलाते, तभी तक मेरा कल्याण होने में बिलम्ब है।

[११]

सत्य बचन सुनु मातु जानकी !
जन के दुख रघुनाथ दुखित अति, सहज प्रकृति करुना-निधान की ॥१॥
तुव बियोग संभव दारुन दुख बिसरि गई महिमा सुबान की।
न तु कहु कहँ रघुपति-सायक-रवि, तम-अनीक कहँ जातुधान की ॥२॥
कहँ हम पसु साखामृग चंचल, बात कहौं मैं बिद्यमान की।
कहँ हरि सिव-अज-पूज्य ज्ञानघन, नहिं बिसरति वह लगनि कान की ॥३॥
तुव दरसन सँदेस सुनि हरि को बहुत भई अवलंब प्रान की।
तुलसिदास गुन सुमिरि राम के प्रेम मगन, नहिं सुधि अपान की ॥४॥

अर्थ—[श्रीहनुमान्‌जी ने कहा—] हे माता श्रीजानकीजी ! मेरे सत्य वचन सुनिये। श्रीरघुनाथजी अपने भक्त के दुःख में अत्यन्त दुःखी हो जाया करते हैं, उन करुणासागर की यह स्वाभाविक बानि है ॥१॥ आपके वियोग से उत्पन्न होने वाले दुःखों के कारण अपने सुन्दर वाणों की महिमा उन्हें विस्मृत हो गई है; नहीं तो कहो तो भला, 'कहाँ श्रीरघुनाथजी के बाण रूप सूर्य और कहाँ राक्षसों की सेना रूप अन्धकार ?' ॥२॥ मैं इस समय की उपस्थित (अपने विषय में घटित); बात कहता हूँ—'कहाँ हम पशु, वानर और अत्यन्त चंचल तथा कहाँ शिवजी और ब्रह्माजी के भी पूज्य ज्ञानघन भक्तक्लेशहारी भगवान् श्रीरामजी ? परन्तु (मुझसे आपका गुप्त सँदेश कहते हुए) मेरे कानों में लग कर मुझसे बातें करनी (यह उनकी परम सुशीलता) मुझे नहीं भूलती ॥३॥ तुम्हारा दर्शन होने से और यह सँदेशा सुन कर भक्तक्लेशहारी श्रीरामजी के प्राणों के लिये अब बहुत बड़ा सहारा मिल गया (ऐसा मैं मानता हूँ)।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामजी के गुणों का स्मरण कर श्रीहनुमान्जी प्रेम में निमग्न हो गये, उन्हें अपनी सुधि नहीं रह गई ॥४॥

विशेष—'जन के दुःख'; यथा—"सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥ जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥" (मा० अ० २१७); "तव दुख दुखी सुकृपानिकेता॥" (मा० सुं० १३)। आश्रित से दुःख में दुःखी होना और फिर उसके दुःख दूर करने में तत्पर होना करुण गुण है, इस गुण का कार्य कह कर तब 'करुनानिधान' यह विशेषण कहा गया है।

'तुव बियोग-संभव...'—श्रीजानकीजी के विरह से होने वाला दारुण दुःख; यथा—"कहेउ राम बियोग तव सीता। मो कहँ सकल भये बिपरीता॥ नवतरु किसलय मनहुँ कृसानू। कालनिसा सम निसि ससि भानू॥ कुबलय बिपिन कुंत बन सरिसा। बारिद तपत तेल जनु बरिसा॥ जे हित रहे करत ते पीरा। उरग स्वास सम त्रिविध समीरा॥ कहेहू ते कछु दुख घटि होई। काहि कहौं यह जान न कोई॥" (मा० सुं० १४)। "आपमें श्रीरामजी का हृदय इतना निमग्न रहता है कि वे अपने शरीर पर चढ़े हुए डाँस, मच्छड़, कीड़े-मकोड़े आदि को हटाने की चेष्टा नहीं करते और इसीसे वे व्याकुल हो गये हैं, सदा आपका ही ध्यान किया करते हैं, आपके ही लिये शोकमग्न रहा करते हैं और कुछ सोचते ही नहीं। उन्हें नींद नहीं आती, कभी-कभी सो जाते हैं तो सीता-सीता कहते हुए उठ खड़े होते हैं। फल-पुष्प आदि स्त्रियों की रुचि की वस्तुएँ जब देखते हैं, तब आपका ही स्मरण करके 'हा प्रिये, हा प्रिये' ऐसा कहने लगते हैं। देवि, वे सदा दुःखी हैं, सदा 'सीता-सीता कहा करते हैं, आपको पाने के लिये ही वे महात्मा प्रयत्न कर रहे हैं और व्रत धारण किये हुए हैं।" (वाल्मी० ५।३६।४२-४६)। इस प्रकार के शोक की विह्वलता में स्मृति भूल जाती है; यथा—"सोक बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा॥" (मा० अ० २७५)। आगे 'सुबान की महिमा' का कुछ लक्ष्य कराते हैं—

'कहँ रघुपति-सायक-रबि....'; यथा—"राम बान रबि उएँ जानकी। तम बरूथ कहँ जातुधान की॥" (मा० सुं० १५): राम बाण सूर्य के उदय होने

के प्रथम ही अंधकार रूप राक्षस-सेना नष्ट ही समझो, जैसे सूर्योदय के पूर्व ही तम भाग जाता है। श्रीरामजी को इसमें श्रम न होगा।

'कहँ हम पसु....'—यहाँ श्रीरामजी की सुशीलता का वर्णन है कि इतने बड़े होते हुए मेरे ऐसे अयोग्य का भी कितना आदर है ? यहाँ अपनी वानर जाति का स्वभाव लेकर अपना कार्पण्य कहा है। कान में लग कर बातें करना बराबरी में होता है। यहाँ तो बड़ा अन्तर है। 'हरि सिव अज पूज्य'; यथा—"सिव अज पूज्य चरन रघुराई। मोपर कृपा परम मृदुलाई॥ अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥" (मा० उ० १२३)। "प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आपु समान। तुलसी कहूँ न राम से, साहिब सील-निधान॥" (मा० बा० २९)।

'तुव दरसन, संदेस सुनि...'—'हरि' विशेषण क्लेश-हरण-परक है, इससे सूचित करते हैं कि श्रीरामजी आपका क्लेश हरण करने के लिये ही व्याकुल हैं। अब आपके दर्शन हो गये, जैसे ही मैं आपका यह दर्शन कह कर फिर आपका सँदेशा भी कहूँगा, वे तुरत प्रयत्न कर आपको सुखी कर सुखी हो जायँगे। यही उनके प्राणों का अवलंब होना है।

'गुन सुमिरि राम के...'—उपर्युक्त सुशीलता एवं आश्रित वत्सलता के गुणों का स्मरण कर श्रीहनुमानजी प्रेम में देह सुधि भूल गये। यह देखने पर उन गुणों में श्रीमहारानीजी की भी वैसी ही प्रीति-प्रतीति होगी, यह इस विह्वलता से लाभ है।

श्रीहनुमान-रावण-संवाद

राग कान्हरा

[१२]

रावन ! जौ पै राम रन रोषे।
को सहि सकै सुरासुर समरथ, बिसिष काल, दसननि ते चोषे॥ १॥
तप बल, भुज बल, कै सनेह-बल सिव-बिरंचि नीकी बिधि तोषे।
सो फल राज-समाज-सुवन जन, आपु न नासु आपने पोषे॥ २॥
तुला पिनाक, साहु नृप, त्रिभुवन भट बटोरि सब के बल जोषे।

परसुराम से सूर सिरोमनि पल में भये खेत के धोखे ॥ ३ ॥
कालि की बात बालि की सुधि करि समुझि हिताहित खोलि झरोखे।
कह्यो कुमंत्रिन को न मानिए, बड़ी हानि, जिय जानि त्रिदोखे ॥ ४ ॥
जासु प्रसाद जनमि जग पुरषनि सागर सृजे, खने अरु सोखे।
तुलसिदास सो स्वामि न सूझ्यो, नयन बीस मंदिर के-से मोखे ॥५॥

अर्थ—[रावण सभा में पहुँचने पर श्रीहनुमानजी कहते हैं—] रावण! यदि श्रीरामजी युद्ध में कुपित हो गये तो देवताओं और दैत्यों में कौन ऐसा समर्थ है जो उन काल के दाँतों के समान तीक्ष्ण उनके बाणों को सह सकता है? ॥१॥ अपनी तपस्या के बल से, भुजाओं के बल से अथवा स्नेह के बल से श्रीशिवजी और श्रीब्रह्माजी को आपने भली भाँति सन्तुष्ट कर लिया है, उसके फलस्वरूप में आपको यह राज-समाज, पुत्र-समूह एवं भृत्य-समूह प्राप्त-हुए हैं, इन अपने पोषे हुए सभी समुदायों का नाश स्वयं न कीजिये ॥२॥ देखिये, राजा जनक रूप साहु ने तीनों लोकों के योद्धाओं को एकत्रित कर उन सब के बलों को शिव धनुष पिनाक रूप तराजू पर भली भाँति तौल लिया है। परशुराम सरीखे शूरों में शिरोमणि भी जिनके समक्ष एक पल भर में खेत के धोखे-से बन गये ॥३॥ अभी थोड़े दिन ही की बात है, वाली की गति का स्मरण करके अपने हृदय रूप झरोखे के मोह-अभिमान आदि परदों को खोल कर अपने हित अनहित का विचार कर लो। इन अपने कुमंत्रियों का कहना न मानिये; अन्यथा हृदय से जान कर त्रिदोषग्रस्त बनने पर बड़ी भारी हानि होगी। ॥४॥ जिनकी ही कृपा से पूर्व के पुरुषों ने जगत् में जन्म लेकर समुद्र को रचा है, खोदा है और शोषण किया है। ऐसा (जगत्प्रसिद्ध) स्वामी भी आपको नहीं पहचान में आया तो आपके बीसो नेत्र (मुख रूप) मंदिर के झरोखों के ही समान हैं ॥५॥

विशेष—'को सहि सकै...'; यथा—"कश्च लक्ष्मणमुक्तानां रामकोपानुवर्तिनाम्। शराणामग्रतः स्थातुं शक्तो देवासुरेष्वपि ॥" (वाल्मी० ५.५१।१६) अर्थात् श्रीरामजी के क्रोध के अधीन श्रीलक्ष्मणजी के छोड़े बाणों के सामने देवता और असुरों में भी कौन ठहर सकता है? यह श्रीहनुमानजी ने ही रावण से कहा है।

'तप बल भुज बल कै सनेह बल···'—शिव-ब्रह्माजी के समक्ष रावण ने तपस्या की है। पुनः अपने हाथों से ही मस्तक काट-काट कर इसने हवन किये हैं। उसने भुजबल से कैलास उठा कर शिवजी को प्रसन्न किया है और वह शिवजी में स्नेह भी करता था, उनकी अर्चामूर्त्ति की पूजा कर उनके समक्ष नृत्य भी करता था। इन्हीं उपायों से इसने महान् ऐश्वर्य प्राप्त किये हैं, राज्य-समाज एवं पुत्र सेना, आदि भी पाये हैं। इस प्रकार कष्ट से प्राप्त ऐश्वर्य का तुम स्वयं कुमति से नष्ट न करो; तथा—"तपः संतापलब्धस्ते सोऽयं धर्म-परिग्रहः। न स नाशयितुं न्याय्य आत्मप्राणपरिग्रहः॥" (वाल्मी० ५।५१।२५); अर्थात् तप के द्वारा जो तुमने यह ऐश्वर्य और लम्बी आयु पायी है, उसका विनाश करना उचित नहीं है। अपने पोषे हुए को स्वयं नष्ट करना भारी क्रूरता है।

'तुला पिनाक साहु नृप···'; यथा—"भूप सहसदस एकहि बारा। लगे उठावन टरइ न टारा॥" (मा० बा० २५०); तथा—"सीय स्वयंबर भूप अनेका। सिमटे सुभट एक ते एका॥ संभु सरासन काहु न टारा।" से "तहाँ राम रघुबंस मनि, सुनिय महा महिपाल। भंजेउ चाप प्रयास बिनु, जिमि गज पंकज नाल॥" (मा० बा० २९२); तक। अर्थात् तीनों लोकों के वीर पिनाक पर हलके हो गये, एक श्रीरामजी ही भारी सिद्ध हुए।

'परसुराम से सूर सिरोमनि···'; यथा—"सुनि सरोष भृगुनायक आए। बहुत भाँति तिन्ह आँखि देखाए। देखि राम बल निज धनु दीन्हा। करि बहु बिनय गवन बन कीन्हा॥" (मा० बा० २९२); "बिस्व जयी भृगुनायक से बिनु हाथ भये हनि हाथ हजारी॥" (क० लं० ५); खेत के धोखे की भाँति आश्चर्य बल देख कर वे अवाक् हो गये। कुछ बोल नहीं सके।

'कालि की बात बालि की···'—यहाँ पर 'कालि' अत्यन्त निकटवर्ती भूतकाल का बोधक है; तथा—"बालि दलि कालिह जलजान पाषान किय, कंत! भगवंत तैं तउ न चीन्हें।" (क० लं० १९); "सो नर क्यों दसकंध, बालि बध्यो जेहि एक सर, बीसहु लोचन अंध, धिग तव जनम कुजाति जड़॥" (मा०लं०३३); अर्थात् एक ही बाण से वाली का मारना पूर्ण ईश्वरता का सूचक है। रावण स्वयं जिस वाली से हारा था, उसकी काँख में था, उसे जिसने एक बाण से मार डाला है, उसे बीसों आखों से क्यों नहीं देखता है? 'खोलि

झरोखे'—अभिमान, मद एवं मोह आदि के आवरण रहने पर यथार्थ बोध नहीं होता; यथा—"मूढ़ तोहिं अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना ॥" (मा० कि० ८); "मैं तैं मोर मूढ़ता त्यागू। महामोह निसि सूतत जागू ॥" (मा० लं० ५५)। 'हिताहित'—श्रीरामजी से साम करने में हित है और वैर में अहित है—क० लं १२,२८ देखिये।

'कह्यो कुमंत्रिन को'''; यथा—"कहहिं सचिव सठ ठकुर सोहाती। नाथ न पूर आव एहि भाँती ॥" (मा० लं० ८); उपर्युक्त परशुराम एवं वाली आदि की कथाओं से हृदय में तो जान ही गये हो कि श्रीरामजी नर मात्र नहीं हैं, ईश्वर हैं, फिर भी जो ऊपर से सन्निपात-ग्रस्त की नाईं अंड-बंड बक रहे हो, इससे बड़ी हानि होगी; यथा—"एहि बिधि बेगि सुभट सब धावहु। खाहु भालु कपि जहँ-तहँ पावहु ॥ मर्कट हीन करहु महि जाई। जियत धरहु तापस दोउ भाई ॥" रावण के ऐसा कहने पर श्रीअंगदजी ने कहा है—"सन्य-पात जल्पसि दुर्बादा। भएसि कालबस खल मनुजादा ॥" (मा० लं० ३२); वैसा ही प्रसंग यहाँ भी है।

'जासु प्रसाद जनमि जग'''—राजा प्रियव्रत ने सागर को रचा है, राजा सगर के पुत्रों ने इसे खोदकर बढ़ाया है और श्रीअगस्त्यजी ने शोषण किया है, इन लोगों ने श्रीराम कृपा से ही यह महत्त्व पाया है; यथा—"कलस जोनि जिय जानेउ नाम प्रताप। कौतुक सागर सोखेउ करि जिय जाप ॥" (बरवै रा० ५५)। इसी प्रकार प्रियव्रत एवं सगर पुत्रों के विषय में भी जानना चाहिये; यथा—"यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ-त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥" (गीता १०।४१)।

'सो स्वामि न सूझ्यो'''—इतना स्पष्ट अपरिमेय महत्त्व भी जो नहीं समझ पड़ा तो तेरे बीसो नेत्र मन्दिर के झरोखों के समान केवल छिद्र मात्र हैं। यहाँ रावण के शिर मंदिर और उसके नेत्र झरोखों के समान हैं भाव यह कि बीस नेत्रों से भी तू अन्धा ही है।

राग मारू

[१३]

जोहौं प्रभु-आयसु लै चलतो।

तौ येहि रिस तोहिं सहित दसानन जातुधान दल दलतो ॥ १ ॥
रावन सो रसराज सुभट रस सहित लंक खल खलतो ।
करि पुट पाक नाक नायक हित घने-घने घर घलतो ॥ २ ॥
बड़े समान लाज-भाजन भयो, बड़ो काज बिनु छल तो ।
लंकनाथ ! रघुनाथ बैर तरु आजु फैलि फूलि फलतो ॥ ३ ॥
काल-करम, दिगपाल, सकल जग-जाल जासु करतल तो ।
ता रिपु सों पर-भूमि रारि रन जीवन मरन सुथल तो ॥ ४ ॥
देखी मैं दसकंठ ! सभा सब, मोतें कोउ न सबल तो ।
'तुलसी' अरि उर आनि ऐक अब एती गलानि न गलतो ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—रसराज=पारा । खल खलतो=खरल में डालकर घोट डालता। बिनु छल तो = बिना विशेष उपाय के था (होता) । ऐक=अन्दाजा; यथा— "सकहिं न खेइ ऐक नहिं आवा।" (मा० अ० २७५); नाव के मार्ग का निश्चय करने को केवट लोग ऐकना कहते हैं ।

अर्थ—[श्रीहनुमान्‌जी रावण से कहते हैं—] हे रावण ! यदि मैं प्रभु श्रीरामजी से आज्ञा लेकर चला होता तो इस क्रोध पर तुम्हारे साथ सारी राक्षस-सेना का संहार कर डालता ॥ १ ॥ मैं रावण रूप पारे को अन्य योद्धा रूप हरताल-गंधक आदि रसों के साथ लङ्का नगरी रूपी खरल में घोटता। पुनः पुटपाक (मुँहबंद बर्तन में दवा रखकर उसे गड्ढे के भीतर पकाने का विधान) करके स्वर्ग के स्वामी इन्द्र के (महारोग रूप राक्षसगण का नाश करने के) लिये बहुत-बहुत राक्षसों के घरों का नाश करता ॥ २ ॥ (बिना प्रभु आज्ञा लिये आज) मैं इस बड़े समाज में (वचन मात्र से अपनी वीरता कथन से) लज्जा का पात्र हुआ । (अन्यथा) बड़ा भारी कार्य बिना विशेष उपाय के ही होता । हे लङ्कपति रावण ! श्रीरघुनाथजी का वैर रूप वृक्ष आज फैल-फूल कर फलता ॥ ३ ॥ जिन श्रीरघुनाथजी के हाथ में काल, कर्म, इन्द्र आदि दिक्पाल और समस्त जगत् का समुदाय हैं उनके शत्रु रावण से उसी शत्रु के देश में यदि युद्ध में लड़ाई होती तो मेरे जीवन और मरण दोनों ही के उत्तम स्थल थे ॥ ४ ॥ हे दशानन ! मैंने तुम्हारी सारी सभा देख ली है, मुझसे अधिक बलवान् इसमें कोई भी नहीं है। (यदि मैं स्वामी से आज्ञा लेकर

आया होता तो) शत्रु का अन्दाजा हृदय में लाकर अब इतनी ग्लानि से न गलता (ग्लानि न सहता) ॥ ५ ॥

विशेष—'जौं हौं प्रभु-आयसु···तौ एहि रिस···'—प्रभु ने इतनी ही आज्ञा दी थी—"बहु प्रकार सीतहिं समुझायहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु ॥" (मा० कि० २२); जाम्बवान् ने यही कहा है—"एतना करहु तात तुम्ह जाई। सीतहि देखि कहहु सुधि आई ॥···" (मा० कि० २९)। तथा—"अबहि मातु मैं जाउँ लेवाई। प्रभु आयसु नहिं राम दोहाई।।" (मा० सुं० १५), आयसु-भङ्ग का बड़ा भय है; यथा—"आयसु-भंग ते जौ न डरौं सब मींजि सभासद सोनित खोरौं। बालि को बालक तौ तुलसी दसहू मुख के रन में रद तोरौं ॥" (क० लं० १४)। 'तोहि सहित दसानन···'; यथा—"सहित सहाय रावनहिं मारी। आनउँ इहाँ त्रिकूट उपारी ॥" (मा० कि० २९)—ऐसा बल श्रीमुख से ही कहा गया है।

'रावन सो रसराज···करि पुट पाक··'; यथा—"रावन सो राज-रोग बाढ़त विराट उर, दिन-दिन बिकल सकल सुख राँक सो। नाना उपचार करि हारे सुर सिद्ध मुनि, होत न बिसोक ओत पावे न मनाक सो ॥ राम की रजाय ते रसाइनी समीरसून उतरि पयोधिपार सोधि सरवांक सो। जातुधान बुट, पुट-पाक लंक जातरूप, रतन जतन जारि कियो है मृगांक सो।।" (क० सुं० २५)।

ऊपर राक्षसों के साथ रावण का दमन करना कहा गया, उसीको रूपक के द्वारा समझाते हैं। पारे का मारना कठिन है, वैसे ही बहुत से वरदानों के कारण रावण का मारना भी कठिन है। पारा पहले गंधक एवं हरताल आदि रसों के साथ खरल में घोटा जाता है। उसी प्रकार मैं पहले तुम्हें राक्षस-योद्धाओं के साथ युद्ध करते हुए घोटता। फिर पारा पुटपाक-विधान से फूँका जाता है। वैसे विविध युद्धोपाय रूपी ओषधियों के साथ अपने तेज-प्रताप रूपी अग्नि में तुम्हें पुटपाक कर भस्म बना देता और इस ओषधि से इन्द्र आदि लोकपालों को नीरोग करता, अनेक रोग रूप अनेक राक्षसों का नाश करता। इन्हें तुम्हारी अधीनता से पृथक् करता। इस प्रक्रिया में तुम्हारे राक्षस-योद्धाओं के बहुत-बहुत घरोंका नाश करता।

'बड़े समाज लाज-भाजन···'—शूर युद्ध में करणी करके ही अपनी

वीरता प्रकट करते हैं, वचन से नहीं कहते। यदि कहते हैं तो उन्हें लज्जित होना होता है; यथा—"सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आपु। विद्यमान रन पाइ रिपु, कायर कथहिं प्रतापु ॥" (मा० बा० २७४); "कह अंगद सलज्ज जग माहीं। रावन तोहि समान कोउ नाहीं॥ लाजवंत तव सहज सुभाऊ। निज गुन निज मुख कहसि न काऊ॥" (मा० लं० २८); इस प्रसंग में व्यङ्गय से श्रीअङ्गदजी ने रावणको निर्लज्ज कहा है। वैसे ही श्रीहनुमान्‌जी प्रसंगवश कही हुई अपनी स्वाभाविक वीरता पर बड़े समाज में स्वयं लज्जित हो रहे हैं। 'बड़ो काज बिनु छल तो'—युद्ध में दाँव-पेंच के रूप में शत्रु को धोखा दे नष्ट करने को छलरूपी युक्ति कहते हैं। जब सरल-युद्ध से काम नहीं सरता तब छल से युद्ध किया जाता है। यहाँ श्रीहनुमान्‌जी सरल युद्ध में ही रावण-विजय रूपी बड़े कार्य का करना कहते हैं। महा० वन० १५० में श्रीहनुमान्‌जी ने ही भीमसेन से कहा है कि मैं ही रावण को मार सकता था, पर इससे श्रीरामजी की कीर्ति नष्ट हो जाती।

'रघुनाथ बैर तरु···'—उपद्रव होना और वृक्ष का फैलना, शत्रु वर्ग का हाय-हाय करके पछताना फूलना और सत्रु का नष्ट होना फलना है। ऐसा नहीं किया, वचन मात्र से कहा, इससे लजित हो रहा हूँ।

'काल करम दिगपाल सकल जग···'; यथा—"तासु बिरोध न कीजिय नाथा। काल करम जिव जाके हाथा॥" (मा० लं० ५)। यह मन्दोदरी ने रावण से ही कहा है। तथा—"माया जीव काल के, करम के, सुभाय के, करैया राम, वेद कहैं साँचो मन गुनिये॥" (हनु० बाहुक ४४); "करम काल सुभाव गुन दोष जीव जग माया तें सो सभय भौंह चकित चहति।" (वि० २४६)। मा० लं० १४–१५ के विराट-वर्णन में दिकपाल एवं समस्त जगत् की प्रवृत्ति श्रीरामजी के हाथ में स्पष्ट है। तथा—"बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलिकाला॥ अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई॥ करि बिचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबही के॥" (मा० अ० २५३)।

'ता रिपु सों पर भूमि···'—काल-कर्म आदि के नियामक होने से श्रीरामजी चराचर जगत् की आत्मा हैं। अतः, उनसे बैर करनेवाला चराचर

द्रोही है। इससे उसे दण्ड देने का चराचर में सभी को अजिकार है एवं विश्व-द्रोही के वध पर भारी यश की प्राप्ति है। कहा भी है—"जगदातमा प्रानपति रामा। तासु बिमुख किमि लह बिश्रामा ॥" (मा० लं० ३३); "सरन गए प्रभु ताहु न त्यागां। बिस्वद्रोहकृत अघ जेहि लागा ॥" (मा० सुं० ३८); "विस्व द्रोह रत यह खल कामी। निज अघ गयउ कुमारग गामी ॥" (मा० लं० १०८)। "पर भूमि"—शत्रु के देश में ही जाकर उसे पराजित करने में भारी वीरता का यश होता है।

'देखी मैं दसकंठ सभा…'—वीर लोग तेज, प्रताप और रूप देखकर बल का अनुमान कर लेते हैं; यथा—"सुचि, सुजान नृप कहहिं हमहिं अस सूझइ। तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ ॥" (जानकी मंगल ३६)। इसी दृष्टि से श्रीसुग्रीवजी ने दूर से ही देख कर श्रीराम-लक्ष्मण को बल-रूप-निधान जाना है, यथा—"तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा। आवत देखि अतुल बल सीवाँ ॥ अति सभीत कह सुनु हनुमाना। पुरुष जुगल बल रूप निधाना ॥" (मा० कि० १)। यहाँ श्रीहनुमानूजी ने रावण-समाज में किसी को भी अपने से अधिक बलवान् नहीं पाया।

'अरि उर आनि ऐक…'—शत्रु को मारने की पर्याप्त शक्ति रहते हुए भी मैं ग्लानि सहता हूँ; क्योंकि प्रभु-आज्ञा नहीं ले लिया था; अन्यथा सबको मार कर कृतार्थ होकर जाता। वाल्मी० ५।५६।७ में कहा भी गया है कि ये अकेले ही रावण आदि सबको मार सकते थे।

श्रीसीताजी को आश्वासन

[१४]

तौ लौं, मातु ! आपु नीके रहिबो।
जौ लौं हौं ल्यावौं रघुबीरहि दिन दस और दुसह दुख सहिबो ॥१॥
सोखि कै, खेत कै, बाँधि सेतु करि उतरिबो उदधि, न बोहित चहिबो।
प्रबल दनुज-दल दलि पल आध में, जीवत दुरित दसानन गहिबो ॥२॥
बैरि बृंद - बिधवा - बनितन को देखिबो बारि - बिलोचन बहिबो।
सानुज सैन ससेत स्वामि पद निरखि परम मुद-मंगल लहिबो ॥३॥

लंकदाह उर आनि मानिबो साँच राम - सेवक को कहिबो।
तुलसी-प्रभु को सुर सुजस गाइहैं, मिटि जैहैं सबको सोच दव दहिबो॥४॥

अर्थ—[विदा होते समय श्रीहनुमान्‌जी श्रीसीताजी से कहते हैं—] हे माता ! जब तक मैं श्रीरघुनाथजी को ले आऊँ, तब तक आप यहाँ कुशलपूर्वक रहें, बस, दस दिन (थोड़े ही दिन) आपको यह दुसह दुःख और सहना है ॥ १ ॥ समुद्र को सोखकर, समथल कर अथवा पुल बाँधकर उतर आऊँगा, जहाज की आवश्यकता नहीं पड़ेगी । प्रबल दानवों की सेना को आधे पल में (अत्यन्त अल्पकाल में) नष्ट कर पाप रूप रावण को जीता ही पकड़ लूँगा (भाव यह कि वह डरकर भागने भी नहीं पायेगा) ॥ २ ॥ शत्रु समूह की विधवा स्त्रियों के नेत्रों से अश्रुजल बहता देखोगी और भाई श्रीलक्ष्मणजी तथा सेना के साथ अपने स्वामी के चरण कमल देखकर परम आनन्द और मङ्गल प्राप्त करोगी ॥३॥ लङ्कदाह को हृदय में लाकर इस राम-सेवक (हनुमान्) का कहना सत्य मानना । तुलसीदास के प्रभु श्रीरामजी का सुयश देवतागण गायेंगे और सबका शोचरूपी दावाग्नि में जलना मिट जायगा ॥४॥

विशेष—'दिन दस और···'; यथा—"दिवस छ-सात जात जानिबे न, मातु धरु धीर, अरि अंत की अवधि रही थोरि कै । बारिधि बँधाय सेतु ऐहैं भानुकुल केतु, सानुज कुसल कपि कटक बटोरि कै ॥" (क० सुं० २७); "कछुक दिवस जननी धरु धीरा । कपिन्ह सहित ऐहैं रघुबीरा ॥ निसिचर मारि तोहि लै जैहहिं ।" (मा० सुं० १५)। 'रघुबीरा'—वीरता के साथ योद्धा वानरों की सेना के साथ ।

'सोखि कै, खेत कै···'—'सोखि कै'; यथा—"सक सर एक सोखि सत सागर ।" (मा०सुं०५५); "सोखिअ सिंधु करिअ मन रोसा ॥" (मा०सुं०५०); तथा "लछिमन बान सरासन आनू । सोखउँ बारिधि बिसिख कृसानू ॥··· संधानेउ प्रभु बिसिख कराला । उठी उदधि उर अंतर ज्वाला ॥ मकर उरग झख गन अकुलाने । जरत जंतु जलनिधि जब जाने ॥" (मा० सुं० ५७) । ये प्रसंग इसके समर्थक हैं । 'खेत कै'—यह समथल करने के अर्थ में मुहावरा है—हिन्दी शब्दसागर । 'बाँधि सेतु करि'—यही अन्तिम वचन आगे चरितार्थ हुआ है । भाव यह कि मैं रघुवीर-सेना के साथ सागर सोख सकता हूँ, इसे पाट

कर खेत के समान समथल भी कर सकता हूँ और यह नहीं तो सेतु तो अवश्य ही बाँध सकता हूँ, जहाज द्वारा उतरने की निकृष्ट उपाय तो नहीं ही करना पड़ेगा; क्योंकि उसमें बहुत विलम्ब लग सकता है।

'प्रबल दनुज दल···'—अत्यन्त अल्प समय में प्रबल दैत्य दल कैसे मारा जायगा ? यथा—"निसिचर निकर पतंग सम, रघुपति बान कृसानु। जननी हृदय धीर धरु, जरे निसाचर जानु॥ ···रामबान रवि उये जानकी। तम बरूथ कहँ जातुधान की॥" (मा० सुं० १५)।

'लंक दाह उर आनि···'—यह काम आपके सामने का है। श्रीराम प्रताप का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि एक छोटे से वानर ने त्रिलोक विजयी रावण के देखते हुए उसे ललकार कर उसके सोने के नगर को राख कर दिया, वह कुछ न कर सका। जब और सब बड़े-बड़े वानर आवेंगे तो फिर कहना ही क्या है। 'साँच राम सेवक को कहिबो'; यथा–"सेवक बचन सत्य सब जाने।" (मा० अ० २३४)।

'तुलसी-प्रभु'—यहाँ भाविक-अलङ्कार है। श्रीहनुमान्‌जी के मुख से कवि ने अपना भविष्य का सम्बन्ध कहलाया है। 'सुर सुजस गाइहैं'; यथा –"रिपु रन जीति सुजस सुर गावत।" (मा० उ० १); "कपि सेन संग सँघारि निसिचर राम सीतहिं आनिहैं। त्रैलोक पावन सुजस सुरमुनि नारदादि बखानिहैं॥ जो सुनत गावत कहत समुझत परमपद नर पावई।" (मा०कि०३०)।

'मिटि जैहैं सबको सोच दव दहिवो'; यथा—"दसमुख-बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर नाग नर सुमुखि सनाहैं॥" (उ० १३); "ऐसे सोक में तिलोक कै बिसोक पल ही में, सबही को तुलसी को साहिब सरन भो॥" (क० लं० ५६)।

श्रीहनुमान्‌जी की बिदाई

[१५]

कपि के चलत सिय को मन गहबरि आयो।
पुलक सिथिल भयो सरीर, नीर नयनन्हि छायो॥१॥
कहन चह्यो सँदेस, नहिं कह्यो, पिय के जिय की जानि हृदय दुसह दुख दुरायो।

देखि दसा व्याकुल हरीस, ग्रीषम के पथिक ज्यों धरनि तरनि-तायो ॥२॥
मीच ते नीच लगी अमरता,छल को न बल को निरखि थल परुष प्रेम पायो।
कै प्रबोध मातु प्रीति सों मन असीस दीन्हीं ह्वै है तिहारोई भायो ॥३॥
करुना-कोप-लाज-भय भर्‌यो कियो गौन, मौन ही चरन कमल सीस नायो
यह सनेह-सरबस समौ, तुलसी रसना रूखी, ताही ते परत गायो ॥४॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जी के चलते समय श्रीसीताजी का हृदय करुणा से भर आया, उनका शरीर पुलकावली से शिथिल हो गया और आँखों में आँसू छा गया ॥१॥ उन्होंने सँदेशा कहना चाहा परन्तु नहीं कहा, अपने स्वामी के हृदय की व्यवस्था जानकर अपने दुस्सह दुःख को हृदय में छिपा लिया। उनकी यह दशा देखकर कपिराज श्रीहनुमान्‌जी व्याकुल हो गये, जैसे ग्रीष्मऋतु की प्रचण्ड सूर्य-किरणों से सन्तप्त पृथिवी पर चलनेवाला पथिक व्याकुल हो जाता है ॥२॥ उन्हें अपनी अमरता मृत्यु से भी अधिक दुःखदायिनी जान पड़ी, वहाँ छल तथा बल-प्रयोग का स्थल नहीं देख पड़ा, इससे उन्हें अपना प्रेम बहुत कठोर एवं दारुण जान पड़ा। उस समय श्रीजानकीजी ने अपने मातृ-स्नेह से उन्हें समझाया और मन से आशीर्वाद दिया कि तुम्हारा ही मनभाया होगा ॥३॥ श्रीहनुमान्‌जी ने करुणा, क्रोध, लज्जा और भय से भरे हुए वहाँ से प्रस्थान किया और चुपचाप श्रीजानकीजी के चरण कमलों में शिर नवाया। इस तुलसीदास की जिह्वा रूक्ष है, इसीसे इसने इस स्नेहसर्वस्वसमय का गान किया है (; अन्यथा सरसता होती तो यह मुग्ध हो जाती) ॥४॥

विशेष—'कपि के चलत ···पुलक सिथिल ···'—इन दो चरणों में मन और तन की प्रेम दशा में विह्वलता कही गई। आगे साथ ही वचन की मुग्धता भी है। श्रीहनुमान्‌जी संत हैं। अतः, इनका वियोग श्रीसीताजी को अत्यन्त दुःखद लगा; यथा—"बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं।" (मा० बा० ४);

'कहन चह्यो सँदेस···'—स्वामी का हृदय अत्यन्त कोमल है और मुझमें उनका अत्यन्त स्नेह है। अतः मेरा दुस्सह दुःख सुनकर वे व्याकुल हो जायँगे, ऐसा विचार कर अपने दुस्सह दुःख को हृदय में ही छिपा लिया; यथा—"सुनु हनुमंत अनंत बंधु···तुलसिदास यहि त्रास···" (पद ९)—इसका विशेष देखिये।

'देखि दसा व्याकुल हरीस…'—यहाँ श्रीजानकीजी के हृदय का विरह ग्रीष्म का सूर्य है। श्रीहनुमान्‌जी की बुद्धि रूपी भूमि उससे अत्यन्त सन्तप्त हो गई है। उस पर ग्रीष्म के पथिक की भाँति प्रेम पथिक श्रीहनुमान्‌जी का मन व्याकुल है।

'नीच ते नीच लगी अमरता…'—वाल्मी० ७।३६ में विश्वकर्मा ने वर दिया है—"चिरजीवी भविष्यति" और ब्रह्माजी ने भी कहा था—"दीर्घायुश्च महात्मा च ब्रह्मा तं प्राब्रवीद्वचः।" इस प्रकार श्रीहनुमान्‌जी को अमरता प्राप्त है। वह इन्हें मृत्यु से भी दुःखदायिनी लगी; क्योंकि अपने प्रिय के दुःख में प्राण त्याग कर देने में प्रेम की सत्यता रहती है, जैसे राजा दशरथ ने पुत्र श्रीरामजी के वनयात्रा पर प्राण त्याग कर प्रेम को प्रामाणिक किया है—अ० ५९ देखिये। यहाँ प्रेम सत्य करने में प्राण त्याग छल-बल से भी नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्मा का वरदान है। अतः, यहाँ अपने प्रेम को अत्यन्त कठोर ही पाया ('यदि तन न छूटा तो व्यर्थ प्रेम है')।

'कै प्रबोध मातु-प्रीति सों…'—पूर्वोक्त पद ८ के 'जन को जननीहूँ प्रबोध कियो…' इसका विशेष देखिये। मन से आशीर्वाद दिया—'ह्वै है…' —श्रीहनुमान्‌जी के मन का भाया; यथा—"कहत मन तुलसीस लंका करउँ सघन घमोइ।" (पद ५)—इसका विशेष देखिये। वही हुआ, माता को दुःख देने वाले रावण का तो सर्वनाश हुआ ही है।

'करुना कोप…'—श्रीजानकीजी की दशा पर करुणा है, रावण की कुटिलता एवं कुत्सित व्यवहार पर क्रोध, अपने प्रेम को परुष पाने की तथा प्रभु आज्ञा बिना शत्रु से बदला न ले पाने की लज्जा और प्रभु आज्ञा बिना लंक-दाह आदि का भय, इनसे भरे हुए चुपचाप प्रणाम कर चल दिये।

'यह सनेह-सरबस समौ…'—यदि सरस भाव युक्त रसना होती तो इस समय की दशा पर निमग्न हो निष्क्रिय हो जाती; तथा—"कबहुँ समुझि बन गवन राम को रहि चकि चित्र लिखी-सी। तुलसिदास वह समय कहे तो लागति प्रीति सिरकी-सी॥" (अ० ५२)।

श्रीहनुमान्‌जी का आगमन

राग बसन्त

[१६]

रघुपति ! देखो आयो-आयो हनूमंत। लंकेस-नगर खेल्यो बसंत॥
श्रीरामराजहित सुदिन सोधि। साथी प्रबोधि लांघ्यो पयोधि॥१॥
सिय पाय पूजि आसिषा पाइ। फल अमिय सरिस खाये अघाइ।
कानन दलि होरी रचि बनाइ। हठि तेल बसन बालधि बँधाइ॥२॥
दिये ढोल चले सँग लोग लागि। बर जोर दई चहुँ ओर आगि।
आखत आहुति किए जातुधान। लखि लपट भभरि भागे बिमान॥३॥
नभ तल कौतुक लंका बिलाप। परिनाम पचहिं पातकी पाप।
हनुमान - हाँक सुनि बरषि फूल। सुर बार - बार बरनहिं लँगूल॥४॥
भरि भुवन सकल कल्यान धूम। पुर जारि बारिनिधि बोरि लूम।
जानकी तोषि पोषेउ प्रताप। जय पवन सुवन दलि दुवन-दाप॥५॥
नाचहिं, कूदहिं कपि करि बिनोद। पीवत मधु मधुवन मगन मोद।
यों कहत लखन गहे पाय आय। मनि सहित मुदित भेंट्यो उठाय॥६॥
लगे सजन सैन भयो हिये हुलास। जय-जय जस गावत तुलसिदास।

अर्थ—[श्रीलक्ष्मणजी कहने लगे--] हे रघुनाथजी ! देखिये, श्रीहनुमान्‌जी आ गये, आ गये ! इन्होंने लंकाधिपति रावण के नगर में फाग खेला है। राजा श्रीरामजी के लिये सुन्दर दिन शोध कर और अङ्गदादि साथियों को समझा कर समुद्र लाँघ गये ॥१॥ वहाँ (रावण की अशोक-वाटिका में) श्रीसीताजी के चरणों की पूजा कर उनका आशीर्वाद प्राप्त कर इन्होंने अमृत के समान स्वादिष्ट फलों को अघाकर खाया है। फिर उस अशोक वन को ध्वंस (उजाड़) कर वहाँ इन्होंने भली भाँति होली की रचना की है; अपनी पूँछ में हठात् तेल-वस्त्र बँधाया है ॥२॥ ढोल बजाते हुए लोग साथ में लग चले, चारों ओर बल पूर्वक आग लगा दी गई। तब इन्होंने राक्षसों को अक्षत और आहुति किया, उस लगी हुई अग्नि की लपट देखकर घबराकर देवों के विमान भाग चले॥३॥ आकाश भाग में तो देवगण कौतुक देख रहे हैं और लंका नगरी में विलाप होता था, पापी राक्षस अपने पापों के फल पाते हुए अत्यन्त दुःख पाते थे।

श्रीहनुमान्‌जी की गर्जना सुनकर देवगण फूल वर्षा कर बार-बार इनकी पूँछ का वर्णन करते थे ।। ४ ।। इस प्रकार इन्होंने समस्त भुवनों में कल्याण की धूम मचा दी और लंकपुर जलाकर समुद्र में अपनी पूँछ डुबाई (डुबाकर बुझाई) । श्रीजानकीजी को सन्तुष्ट कर आपने (श्रीरामजी के) प्रताप का पोषण किया है । अतः, शत्रु का गर्व चूर्ण करने वाले श्रीपवननन्दन की जय हो ।।५।। ऐसा कह कर वानर नाचते कूदते हुए क्रीड़ा कर रहे हैं और आनन्द में निमग्न होकर मधुवन में मधु पी रहे हैं । श्रीलक्ष्मणजी ऐसा कह ही रहे थे कि उसी समय श्रीसुग्रीवजी एवं चूड़ामणि लिये हुए श्रीहनुमान्‌जी आदि वानरों ने आकर श्रीरामजी के चरण-ग्रहण कर प्रणाम किया चूड़ामणि के साथ उन्हें उठाकर श्रीरामजी ने आनन्दित होकर आलिङ्गन किया ।।६।। सबके हृदय में बड़ा उल्लास हुआ, श्रीतुलसीदासजी जय-जयकार करते हुए यश गा रहे हैं ।।७।।

विशेष—'रघुपति ! देखो···'—श्रीलक्ष्मणजी ने इन सत्य घटनाओं को कैसे जाना है—

(क) सर्वज्ञता से जाना है—श्रीहरिहर प्रसाद [भाव यह कि श्रीलक्ष्मणजी का चित्त एकाग्र होकर उधर लगा था । अतः, ध्यान द्वारा जान गये थे; यथा—"तब संकर देखेउ धरि ध्याना । सती जो कीन्ह चरित सब जाना ॥" (मा० बा० ५५)] ।

(ख) श्रीलक्ष्मणजी किष्किन्धा नगर गये, वहाँ समाचार पा प्रथम ही आकर कहने लगे—श्रीवैजनाथजी । (यह अनुमान किया गया है, यद्यपि इसका कोई प्रमाण नहीं है तथापि व्यावहारिक दृष्टि से हो सकता है, किसी कार्यवश उधर गये हों) ।

'लंकेस नगर····'—रावण के देखते हुए उसे ललकार कर उसका नगर जला दिया, वह कुछ कर नहीं सका; यथा—"कहु कपि रावनपालित लंका । केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका ॥" (मा० सुं० ३२); "देखत तुम्हहि नगर जेहि जारा ।" (मा० लं० ५५) । वसन्त खेलना यहाँ क्रीड़ात्मक रीति से लङ्कदाह के प्रति कहा गया है ।

'श्रीराम राज हित'—आधुनिक प्रतियों में 'श्रीराम काज हित' ऐसा पाठ

है। पर अर्थ में विशेष भेद नहीं है। तथा--"राम काज लगि तव अवतारा।"

'सोधि'—पहले यात्रा के प्रति मन में विषाद था, अनशन व्रत में बैठे थे। तत्पश्चात् जब यात्रा के प्रति मन में उत्साह हुआ; यथा--"होइहि काज मोहिं हरष बिसेषी।" (मा० सुं० १)। तब सुदिन जानकर चल दिये, यही सुदिन शोधन करना है। 'साथी प्रबोधि'; यथा--"तब लगि मोहिं परिखेहु तुम्ह भाई। सहि दुख कंद मूल फल खाई॥ जब लगि आवउँ सीतहि देखी। होइहि काज मोहिं हरष बिसेखी॥" (मा० सुं० १)। 'लाँघ्यो पयोधि' यथा--"बार-बार रघुबीर सँभारी। तरकेउ पवनतनय बल भारी॥ जेहि गिरि चरन देइ हनुमंता। चलेउ सो गा पाताल तुरंता॥ जिमि अमोघ रघुपति कर बाना। एही भाँति चलेउ हनुमाना॥" (मा० सुं० १)।

'सिय पाय पूजि'—यहाँ चरण पूजना विशेष वन्दना के ही तात्पर्य में है। वन्दना करके उन्हें आश्वासन देकर प्रसन्न करना उनकी पूजा है। तथा—"तुलसी बिलोकि महा साहस प्रसन्न भई देवी सिय सारिखी दियो है बरदान सो॥" (क० सुं० २८)।

'आसिषा पाइ'; यथा--"आसिष दीन्हि राम प्रिय जाना। होहु तात बल-सील-निधाना। अजर-अमर गुननिधि सुत होहू। करहु बहुत रघुनायक छोहू॥" (मा० सुं० १६)।

'फल अमिअ सरिस खाए अघाइ'; यथा--"रघुपति चरन हृदय धरि, तात मधुर फल खाहु॥ चलेउ नाइ सिर पैठेउ बागा। फल खायेसि तरु तोरइ लागा॥" (मा० सुं० १७)।

'कानन दलि होरी...'—अशोक वन उजाड़ कर तब उसी व्याज से ब्रह्मास्त्र में अपने को स्वतः बँधाकर समस्त लङ्का जलाने के लिये आपने भली-भाँति होली की रचना की। हठात् पूँछे बढ़ा-बढ़ाकर विशेष तेल और वस्त्र लपटवाया है; यथा—"रहा न नगर बसन घृत तेला। बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला॥" (मा० सुं० २४); अर्थात् श्रीहनुमानजी क्रीड़ा रूप में इतनी पूँछ बढ़ाई है कि समस्त नगर का वस्त्र, घृत और तेल समाप्त कर दिया है। भाव

यह की जितना ही अधिक घृत तेल आदि रहेंगे, उतना ही नगर जलाने में सुभीता होगा ।

'दिये ढोल···'—ढोल बजाकर सबको साथ चलने की सूचना दी, तब सब लोग आ-आकर साथ हो लिये, यह भाव 'दिये ढोल' पद का है । यह न समझ कर आधुनिक प्रतियों में 'लिये ढोल' पाठ कर दिया गया है । तथा--"बाजहिं ढोल देहिं सब तारी । नगर फेरि पुनि पूँछ प्रजारी ।।" (मा०सुं०२४) ।

'आखत आहुति किये···'—होली की प्रचण्ड अग्नि को तृप्त करने के लिये उसमें अक्षत और आहुतियाँ दी जाती हैं, वैसे यहाँ श्रीहनुमानजी ने राक्षसों को उसी अग्नि में झोंक-झोंककर जलाया है; यथा --"हाट बाट हाटक पिघिलि चल्यो घी सो घनो, कनक-कराही लंक तलफति ताय सों । नाना पकवान जातुधान बलवान सब, पागि-पागि ढेरी कीन्ही भली-भाँति भाय सों ।।" पाहुने कृसानु पवमान सों परोसो, हनुमान सनमानि कै जेंवाये चित चाय सों ।।' (क० सुं० २४ ; "जातुधान बुट, पुटपाक लंक जातरूप रतन जतन करि कियो है मृगांक सो ।।" (क० सुं० २५) ?

'लखि लपट सभरि···'—लपटें इतने वेग से ऊपर उठीं कि आकाश में स्थित देवों के विमान घबरा कर भग चले ।

'नभ तल कौतुक'—रावण देवों को बन्दीखाने में डाल रक्खा था, इससे उसकी दुर्दशा पर देवगण आकाशतल में कौतुक देख प्रसन्न होते हैं ।

'लंका बिलाप । परिनाम···'—पापी राक्षसों को उनके पापों का फल मिल रहा है, इसी से विलाप कर रहे हैं—विलाप प्रसंग क० सुं० १०-१६ में देखने योग्य है ।

'हनुमान हाँक सुनि···'—हाँक; यथा—"अट्टहास करि गर्जा, कपि बढ़ि लाग अकास ।।" (मा० सुं० २५); "दई हाँक हनुमान ।" (लं० ६) । हाँक देकर लंका जला रहे हैं । रावण कुछ प्रतिकार नहीं कर पाता । अतः, इनकी विजय पर देवगण फूल वर्षा करते हैं ।

'बार-बार बरनहिं लँगूल'; यथा—"बालधी बिसाल बिकराल ज्वाला-जाल मानों, लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है । कैधौं व्योम बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु, बीर रस बीर तरवारि-सी उघारी है ।। तुलसी सुरेस-चाप, कै

कैधौं दामिनी कलाप, कैधौं चली मेरु तें कृसानु-सरि भारी है। देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं "कानन उजारयो अब नगर प्रजारी है" ॥" (क० सुं० ५); "बालधी बढ़न लागी, ठौर-ठौर दीन्हीं आगि, बिधि की दवारि कैधौं कोटि सत सूर हैं।" (क० सुं० ३)।

'भरि भुवन सकल कल्यान धूम'; यथा—"करत बिसोक लोक कोकनद, कोक-कपि, कहै जामवंत आयो-आयो हनुमान सो ॥" (क० सुं० २८)। 'बारि निधि बोरि लूम'; यथा—"उलटि पलटि लंका सब जारी। कूदि परा पुनि सिंधु मँझारी ॥ पूँछ बुझाइ खोइ श्रम धरि लघु रूप बहोरि। जनकसुता के आगे, ठाढ़ भयो कर जोरि ॥" (मा० सुं० २६)।

'जय पवन सुवन....'—यह कवि का कथन भी हो सकता है, परन्तु जो आगे के प्रसंग के साथ विशेष संगत है, वही अर्थ किया गया है।

'नाचहिं कूदहिं कपि करि बिनोद'; यथा—"जै जै जानकीस, जै जै लखन कपीस, कहि कूदैं कपि कौतुकी, नचत रेत-रेत हैं। अंगद मयंद नल नील बल-सील महा, बालधी फिरावैं, मुख नाना गति लेत हैं ॥" (क० सुं० २९)।

'पीवत मधु मधुवन मगन मोद'; यथा—"तब मधुबन भीतर सब आए। अंगद समंत मधुफल खाए ॥" (मा० सुं० २७); तथा—"कह्यो जुबराज बोलि बानर समाज "आजु खाहु फल" सुनि पेलि पैठे मधुबन में।" (क० सुं० ३१)।

'मनि सहित...'—श्रीहनुमान्जी से चूड़ामड़ि पाकर उसे हृदय से लगाया और फिर उसके लाने वाले श्रीहनुमानजी को भी हृदय से लगाया; यथा—"चलत मोहिं चूड़ामनि दीन्हीं। रघुपति हृदय लाइ सोइ लीन्ही ॥.... कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा ?।" (मा० सुं० ३०, ३२)। "फटिक सिला बैठे दोउ भाई। परे सकल कपि चरनन्हि जाई ॥ प्रीति सहित सब भेंटे रघुपति करुना सींव।.....सुनत कृपानिधि मन अति भाए। पुनि हनुमान हरषि हिय लाए ॥" (मा० सुं० २८)।

'लगे सजन सेन, भयो हिय हुलास।'—वानर सेना की लङ्का यात्रा का उल्लास आगे पद २२ में देखिये। तथा—"सुनि प्रमुदित रघुबंस मनि, सानुज सेन समेत। चले सकल मंगल सगुन, बिजय सिद्धि कहि देत ॥" (रामाज्ञा प्रश्न ५।५।४)।

श्रीजानकीजी का समाचार-कथन

राग जयतश्री

[१७]

सुनहुँ राम-बिश्रामधाम हरि ! जनकसुता अति बिपति जैसे सहति ।
'हे सौमित्रि-बंधु करुनानिधि !' मन महँ रटति, प्रगट नहिं कहति ॥१॥
निज पद जलज बिलोक सोकरत नयननिबारि रहत न एक छन ।
मनहुँ नील नीरज ससि-संभव रबि-बियोग दोउ स्रवत सुधाकन ॥२॥
बहु राछसी सहित तरु के तर तुम्हरे बिरह निज जनम बिगोवति ।
मनहुँ दुष्ट इंद्रिय संकट महँ बुद्धि बिबेक-उदय मग जोवति ॥३॥
सुनि कपि बचन बिचारि हृदय हरि अनपायनी सदा सो एक मन ।
तुलसिदास दुख-सुखातीत हरि सोच करत मानहुँ प्राकृत जन ॥४॥

अर्थ—[श्रीहनुमान्‌जी श्रीरामजी से कहते हैं—] आश्रितों को विश्राम देनेवाले एवं क्लेश हरण करनेवाले हे श्रीरामजी ! सुनिये; श्रीजनक नन्दिनीजी जिस प्रकार अत्यन्त विपत्ति सहती रहती हैं। वे अपनी विरह व्यथा प्रत्यक्ष में किसी से नहीं कहतीं, मन ही मन 'हे करुणासागर ! हे सौमित्रि बन्धो !!' ऐसा रटा करती हैं ॥१॥ वे शोक-परायण रहती हुई अपने चरण कमलों की ही ओर देखा करती हैं, उनकी आखों में एक क्षण भी आँसू नहीं ठहरते; अर्थात् हर क्षण आँसुओं की झड़ी लगी रहती है मानों चन्द्रमा में प्रकट हुए दो नील कमल हों और वे दोनों सूर्य के वियोग में अमृत कण टपकाते रहते हों ॥२॥ आपके वियोग में बहुत-सी राक्षसियों के साथ वृक्ष के नीचे बैठी हुई वे अपना जीवन बिता रही हैं मानों दुष्ट इन्द्रियों के संकट में पड़ी हुई बुद्धि विवेक उदय होने का मार्ग देख रही हो ॥३॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वानर श्रीहनुमान्‌जी के वचन सुनकर भक्तों का क्लेश हरण करनेवाले भगवान् श्रीरामजी ने हृदय में विचार किया कि श्रीजानकीजी अपने मन से सदा मुझ में अनपायिनी भक्ति रखती हैं। (फिर भी वे मेरे ही विरह में दुःख पा रही हैं, मैं उनका दुःख दूर न कर सका यह सोचकर) सुख-दुःख से परे भक्त क्लेश हर्त्ता श्रीरामजी शोच कर रहे हैं मानों कोई प्राकृत मनुष्य शोच रहा हो ॥४॥

विशेष—'बिश्राम धाम हरि'; यथा-"रामः परबलामर्दी युगान्ताग्निरिवोत्थितः। निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परागतिः॥१९॥ आर्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैकभाजनम्।···" (वाल्मी० ४।१५); अर्थात् तारा ने वाली से कहा है कि श्रीरामजी शत्रु सेना का नाश करने में उठी हुई प्रलय की अग्नि के समान है। वे साधुओं के आश्रयदाता तथा पीड़ितों के रक्षक हैं। वे दुखियों के आश्रय स्थान और यश के भाजन हैं। तथा—"त्रैलोक्यतिलक गुन गहन राम। कह तुलसिदास बिश्रामधाम॥" (वि० ६४); "हे हरि! कस न हरहु भ्रम भारी।" (वि० १२०)।

'जनकसुता'—कहने का भाव यह कि ऐसा कहने पर श्रीरामजी को श्रीजनकजी ने रक्षा करने की भावना से सौंपा था, उसमें मेरी ओर से त्रुटि हो रही है, यह चित्त में आवेगा। 'अति बिपति'; यथा—"सीता कै अति-बिपति बिसाला। बिनहि कहे भलि दीन दयाला॥" (मा० सुं० ३०)।

'हे सौमित्रि बंधु करुनाकर'—श्रीजानकीजी ने परम भागवत श्रीलक्ष्मणजी को कटु वचन कहकर भागवतापराध किया है; श्रीरामजी इस पर बहुत क्रुद्ध होते हैं; यथा—"जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥" (मा०अ०२१७)। इसलिये पहले 'सौमित्रि-बंधु' कहकर श्रीलक्ष्मणजी को सब पर स्वभाव से ही मित्र भाव रखनेवाली सुमित्रा माता का पुत्र कह कर उनको अपने ऊपर मित्र भाव करने का अनुरोध कर उनके बन्धुत्व से उनकी सहायता से श्रीरामजी से अपने ऊपर करुणा करने की भावना की है। इसका बार-बार मन में निरन्तर रटन करती हैं। श्रीलक्ष्मणजी के प्रति क्षमापन के भाव से ही कहा है—"अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना। दीनबंधु प्रनतारति हरना॥" (मा० सुं० ३०)।

मन में ही रटती हैं, प्रकट नहीं कहतीं; यथा—"कहइ न निज अपराध बिचारी॥" (मा० बा० ६०)। अथवा अत्यन्त-वियोग-व्यथा से बोल नहीं सकतीं, वा राक्षसियों के भय से एवं पति-विरह की बात लज्जा से भी प्रकट नहीं कहतीं।

'निज पद जलज बिलोक··'—यह 'शिर नीचे करना' शोकरत होने की मुद्रा है। तथा—निज पद नयन दिये मन राम चरन महँ लीन। परम

दुखी भा पवनसुत, देखि जानकी दीन ।।" (मा० सुं० ८); "नित निजपद-कमल निहारे ।।" (पद १८)

'नयननि बारि····'; यथा—"नयन स्रवहिं जल निज हित लागी । जरइ न पाव देह बिरहागी ।।" (मा० सुं० ३०)। हर क्षण अश्रुपात पर उत्प्रेक्षा करते हैं—यहाँ दोनों नेत्र श्याम कमल हैं, मुख राशि, रवि श्रीरामजी और आँसू के बूँद अमृत कण हैं। कमल जल से उत्पन्न होते हैं, वैसे रसाधिपति चन्द्रमा के समान मुख मंडल से नेत्र उत्पन्न हैं। सूर्य के वियोग में कमल दुखी होता है, वैसे ही श्रीरामदर्शन बिना नेत्र दुखी हैं। जैसे कमल दल से जल की बूँदें स्रवती हैं, वैसे नेत्र कमलों से आँसू गिरते हैं। राम-विरह के आँसू अमृत कण के समान प्रेमातिशय से मोक्ष रूप अमरत्व देनेवाले हैं, इससे अमृत कण कहे गये हैं। यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है।

'मनहु दुष्ट इंद्रिय संकट···'—यहाँ 'बहु राछसी' दुष्ट इन्द्रिय हैं, इन इन्द्रियों की विषय-चेष्टाओं की सकल्पें उन राक्षसियों के क्रूर रूप दिखा कर डरा-डरा कर संकट देने के समान हैं। इनके बीच में पड़ी हुई सदसद्विवेकिनी बुद्धि के समान श्रीसीताजी हैं। वह इन्द्रिय-विषय-संकल्पों से पीड़ित बुद्धि के विवेक उदय रूप श्रीरामजी के प्राप्त होने की बाट जोह रही हैं। यहाँ भी 'उक्तविषया-वस्तूत्प्रेक्षा' है।

'सुनि कपि बचन···'; यथा—"सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आए जल राजिव नयना ।। बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बूझिय बिपति कि ताही ।।" (मा० सुं० ३१)। मन, वचन, कर्म से अनुरक्त रहना ही अनपायिनी भक्ति है; तथा—"मन क्रम बचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी ।।" (मा० सुं० ३०)।

'दुखसुखातीत हरि सोच करत···'; यथा—"बिस्मय हरष रहित रघुराऊ ।" (मा० अ० ११)। 'हरि' क्लेश हरता हैं, फिर भी सोच करते हैं, क्योंकि लीला-विधि के अनुरोध से भक्त के दुःख में दुखी होना है, तथा—"जदपि अकाम तदपि भगवाना। भगत-बिरह-दुख दुखित सुजाना ।। (मा० बा० ७५)। "तब दुख दुखी सुकृपानिकेता ।।" (मा० सुं० १३)।

'सोच करत···'; यथा—"पट उर लाइ सोच अति कीन्हा ।।" (मा०

कि० ४); "क्षणं वीर न जीवेयं विना तामसितेक्षणाम् ।" (वाल्मी०५।६६।१०);
'सुख अयना' हैं फिर भी भक्त-दुःख से दुखी हो गये हैं ।

राग केदारा

[१८]

रघुकुल तिलक ! बियोग तिहारे ।
मैं देखी जब जाइ जानकी मनहुँ बिरह मूरति मन मारे ॥१॥
चित्र से नयन अरु गढ़े से चरन कर मढ़े से श्रवन नहिं सुनति पुकारे ।
रसना रटति नाम, कर सिर चिर रहै, नित निज-पद-कमल निहारे ॥२॥
दरसन आस लालसा मन महँ राखे प्रभु-ध्यान प्रान-रखवारे ।
'तुलसिदास' पूजति त्रिजटा नीके रावरे गुन गन सुमन सँवारे ॥३॥

अर्थ—हे रघुकुल श्रेष्ठ श्रीरामजी ! जब मैंने जाकर श्रीजानकीजी को देखा है तब वे आपके वियोग में ऐसी दुखी जान पड़ती थी मानो विरह की मूर्त्ति मन मारे हुए (उदास) बैठी हो ॥ १ ॥ उनके नेत्र चित्र के नेत्र की भाँति (निश्चल) थे, हाथ और पाँव गढ़े हुए से जान पड़ते थे तथा श्रवण मढ़े हुए से थे, इससे वे पुकारने पर भी नहीं सुन पाती थीं । वे जिह्वा से आपका नाम ('राम-राम'-ऐसा) रटती थीं, उनका हाथ बहुत समय तक शिर पर रहता था और वे नित्य (निरन्तर) अपने चरण कमल की ओर ही देखा करती थीं ॥ २ ॥ उनके मन में आपके दर्शनों की ही अभिलाषा है, इससे उन्होंने हे प्रभो ! आप के ध्यान को अपने प्राणों की रखवाली में रक्खा है । त्रिजटा राक्षसी (उनकी उस विरहमूर्त्ति की) भली-भाँति पूजा किया करती है और आप के ही गुण-गण रूपी पुष्पों को सँवार-सँवार कर (चढ़ाया करती है) ॥३॥

विशेष—'रघुकुल तिलक....'—रघुवंशी सभी आश्रित वत्सल होते आए हैं । आप तो उनमें श्रेष्ठ हैं । अतः, आश्रित श्रीजानकीजी की रक्षा शीघ्र कीजिये, इस भाव पर यह विशेषण दिया गया है ।

'मनहुँ बिरह मूरति . . .'—एक तो विरह की मूर्त्ति स्वतः अत्यन्त दीन दशा में रहती है, वह भी यदि मन मारे उदास भाव में बैठी हो तो कहना ही क्या है ।

'चित्र से नैन . .'—चित्र के नेत्र अचल होते हैं, वैसे ही नेत्रों में पलकें

नहीं पड़तीं। चरण और कर अचल हो रहे हैं, चेष्टा रहित हो गये हैं। कान मानों राँगा आदि से मढ़ दिये गये हैं। अतः; धीरे से कहे हुए शब्दों की कौन कहे, पुकारने पर, जोर से बोलने पर भी नहीं सुनती हैं।

'रसना रटति नाम'...'; यथा—"रटति रहति हरि नाम।" (मा० अर० २९); तथा—"जपति हृदय रघुपति गुन श्रेनी।" (मा० सुं० ७)।

'कर सिर चिर रहै'—यह शोच करने की मुद्रा है; यथा—"माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन। तनु धरि सोच लाग जनु सोचन॥" (मा० अ० २८)। 'नित निज पद कमल निहारे'; यथा—"निज पद नयन दिए मन राम चरन महँ लीन। परम दुखी भा पवन सुत, देखि जानकी दीन॥" (मा० सुं० ८); मन को ध्यान से बाहर ले जाने में नेत्र प्रधान हैं, इसलिये नेत्रों को अपने ही चरणों में लगाये हुई हैं। इससे यहाँ पहले नेत्र का संयत करना कहकर तब साथ ही मनका भी संयत करना लिखा गया है। मन में ध्यान के विषय श्रीरामजी हैं, पर नेत्र के विषय प्रत्यक्ष नहीं हैं, इससे इन्हें अपने चरणों में लगाकर श्रीरामजी के ही चरणों की रेखाओं को देख रही हैं; क्योंकि जो-जो चिह्न श्रीजानकीजी के वाम पद में हैं, वे ही श्रीरामजी के दाहिने में और जो इनके दाहिने चरण में हैं, वे उनके वाम में हैं।

'दरसन आस लालसा मन महँ....'; यथा—"नाम पाहरू दिवस-निसि, ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित जाहि प्रान केहि बाट॥" (मा० सुं० ३०)। प्रभु-ध्यान को प्राण रक्षक रूप में रक्खे हुए हैं कि प्राण रहने पर कभी तो दर्शन होंगे।

'पूजिति त्रिजटा नीके'...'—मूर्त्ति की पूजा होती है, वैसे इस विरह मूर्त्ति की भी पूजा हो रही है। त्रिजटा राक्षसी आपके गुण-गण रूप पुष्पों को सँवार-सँवार कर उनसे पूजा किया करती है; भाव यह कि आप के शौर्य, प्रताप, तेज एवं आश्रित वत्सलता आदि गुण-गण सुनाकर त्रिजटा उन्हें प्रसन्न किया करती है; यथा—"कह त्रिजटा सुनु राजकुमारी।" से "अस कहि बहुत भाँति समुझाई। पुनि त्रिजटा निज भवन सिधाई॥" (मा० लं० ९८-९९) तक। आगे पद ४८–५१ में त्रिजटा के समझाने की रीतियाँ देखने योग्य हैं।

अलंकार—सांग रूपक और प्रथम चरण में उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा भी है।

[१९]

अतिहि अधिक दरसन की आरति ।
राम-बियोग असोक-बिटपतर सीय निमेष कलप सम टारति ॥१॥
बार-बार बर बारिज लोचन भरि-भरि बरत बारि उर ढारति ।
मनहुँ बिरह के सद्य घाय हियें लखि तकि-तकि धरि धीर ततारति ॥२॥
तुलसिदास जद्यपि निसिबासर छिन-छिन प्रभु मूरतिहि निहारति ।
मिटति न दुसह ताप तउ तनु की यह बिचारि अंतरगति हारति ॥३॥

शब्दार्थ—ततारना=गरम जल से धोना । तरेरा देकर धोना । बरत=तप्त ।

अर्थ—श्रीजानकीजी आपके दर्शन के लिये अत्यन्त अधिक आर्त्त हैं । हे श्रीरामजी ! आपके वियोग में अशोक वृक्ष के नीचे श्रीसीताजी एक-एक निमेष को कल्प बीतने की भाँति बिताती हैं ॥ १ ॥ वे अपने श्रेष्ठ कमल के समान नेत्रों में (विरह से) संतप्त जल भर-भर कर बार-बार अपने हृदय पर डालती हैं; मानो हृदय में विरह के तात्कालिक घाव देख-देखकर वे उन्हें तक-तक कर और धैर्य धारण कर गरम पानी की धारा (तरेरा) देती हैं ॥ २ ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यद्यपि वे रात-दिन, हे प्रभो ! आपकी मूर्ति को ही क्षण-क्षण देखा करती हैं तो भी उनके शरीर की दुस्सह जलन नहीं मिटती, यह विचार कर उनकी हृदय-गति हार जाती है; अर्थात् बुद्धि उपाय से हार जाती है ॥ ३ ॥

विशेष—'अतिहि अधिक दरसन··'; यथा—"कबहुँ नयन मम सीतल ताता । होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता ॥" (मा० सुं० १३); "बिरह अगिनि तनु तूल सरीरा । स्वास जरइ छन माहिं सरीरा ॥ नयन स्रवहिं जल निज हित लागी । जरइ न पाव देह बिरहागी ॥ सीता कै अति बिपति बिसाला । बिनहि कहें भलि दीनदयाला ॥" "निमिष–निमिष करुनानिधि, जाहिं कलप सम बीति ।" (मा० सुं० ३०–३१) ।

'बार-बार बर···मनहुँ बिरह के···'—विरह से आँसू तप्त हैं; उनकी धारा हृदय पर पड़ती है, उसी पर उत्प्रेक्षा की गई है । घाव पर गर्म जल से धोने पर कुछ आराम मिलता है, वैसे ही विरह में आँसू गिरने पर कुछ जलन

कम होती है। आँख से ही आँसुओं की बूँदे गिरती हैं, यही आँखों से तक-तक कर गर्म जल डालना है।

'जद्यपि निसिबासर...'; यथा—"नाम पाहरू दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित, प्रान जाहिं केहि बाट (मा० सुं० ३०)।

'मिटति न दुसह...'—ध्यान के दर्शन में प्रत्यक्ष का-सा सुख नहीं; इससे नेत्रों को सन्तोष नहीं होता। तथा—"लगेइ रहत मेरे नैननि आगे राम लखन अरु सीता। तदपि न मिटत दाह या उर को बिधि जो भयो बिपरीता॥" (अ० ५३)।

[२०]

तुम्हारे बिरह भई गति जौन।
चित दै सुनहु, राम करुनानिधि! जानौं कछु, पै सकौं कहि हौं न ॥१॥
लोचन-नीर कृपन के धन ज्यों रहत निरंतर लोचन-कोन।
'हा' धुनि-खगी लाज-पिंजरी महँ राखि हिये बड़े बधिक हठि मौन ॥२॥
जेहि बाटिका बसति तहँ खग मृग तजि-तजि भजे पुरातन भौन।
स्वास-समीर भेंट भइ भोरेहुँ, तेहि मग पग न धरयो तिहुँ पौन ॥३॥
'तुलसिदास' प्रभु दसा सीय की मुख करि कहत होति अति गौन।
दीजै दरस, दूरि कीजै दुख, हौ तुम आरत-आरति-दौन ॥४॥

अर्थ—हे करुणा-निधान श्रीरामजी! आपके विरह में श्रीजानकीजी की जो गति हुई है, उसे आप चित्त देकर सुनें। उसको मैं कुछ जानता तो हूँ, पर कह नहीं सकता ॥१॥ उनके नेत्रों का जल कृपण के धन के समान निरन्तर नेत्रों के कोनों में ही रहता है। मौन रूप बड़े भारी व्याध ने 'हा' ध्वनि रूप पक्षिणी को हठात् लज्जा रूप पिंजड़े में रख कर हृदय में ही बन्द रक्खा है ॥२॥ वे जिस वाटिका में रहती हैं, वहाँ के पशु और पक्षी (उनकी विरह भरी गर्म वायु ही से सन्तप्त होकर) अपने पुराने घरों को छोड़-छोड़ कर भग गये हैं। उनकी स्वास-वायु से यदि कहीं, भूल से भेंट हो गई तो फिर उस मार्ग में शीतल, मंद और सुगन्धित वायु ने पैर नहीं रक्खा ॥३॥ हे प्रभो! श्रीजानकीजी की दशा मुख के द्वारा कहने में तो अत्यन्त गौण हुई जाती है। आप उन्हें

दर्शन देकर उनके दुःख दूर करें; क्योंकि आप दुखियों के दुःख दूर करने वाले हैं ॥ ४ ॥

विशेष—'चित दै सुनहुँ राम करुनानिधि'—विरह दशा को अवर्ण्य कहा और साथ ही करुणा उद्दीप्त करा चित देकर सुनना भी कहा है कि करुण चित्त से शीघ्र दुःख दूर करने में प्रवृत्त हों।

'लोचन नीर···'; यथा—"लोचन जल रह लोचन कोना। जैसे परम कृपन कर सोना॥" (मा० बा० २५८); नेत्रों में आँसू सदा रहता है। 'हा धुनि'—लज्जा एवं मौन व्रत के कारण प्रकट नहीं होती—यहाँ रूपक अलंकार है।

'जेहि बाटिका बसति···'—भाव यह कि उनकी विरहाग्नि से वहाँ के पशु-पक्षी भी सन्तप्त होकर भग गये। पुराने घरों में ममत्व अधिक होता है, फिर भी उन्होंने छोड़ दिया, परन्तु विरह की तप्त स्वासों को नहीं सह सके। त्रिविध वायु उनकी विरहाग्नि से सदा डरता ही रहता है, कहीं धोखे से यदि उससे भेंट हो गई तो फिर वह ऐसा तप्त हो गया कि फिर उसने इनकी ओर पैर रखने का साहस नहीं किया।

'मुख करि कहत होति अति गौन'—मुख और उसमें स्थित रसना परिमित है। अतः, इनसे कही हुई बातें भी परिमित ही होंगी, श्रीजानकीजी की विरह दशा का अपरिमेयत्व नहीं रहेगा, इससे मुख से कथन से गौण होना कहा है। लोग समझेंगे, इतना ही तो है, इससे गौणत्व आना कहा गया है। तथा—"यह सनेह सर्वस समौ, तुलसी रसना रूखी, ताही ते परत गायो।" (पद १५) इसका विशेष भी देखिये।

'दीजै दरस···आरति दौन'—वे दर्शनार्थ आर्त्त हैं। आप आर्त्तिनाशक हैं। अतः, अपनी इस विरुद को चरितार्थ करते हुए उनका दुःख दूर कीजिये, अपना दर्शन कराइये। 'आरत-आरति-दौन'; यथा—"जौं प्रभु दीनदयालु कहावा। आरति हरन बेद जस गावा॥" (मा० बा० ५८); "आरति हरन सरन समरथ···" (पद २६)।

[२१]

कपि के सुनि कल कोमल बैन।

प्रेम पुलकि सब गात सिथिल भए, भरे सलिल सरसीरुह नैन॥ १॥

सिय-बियोग-सागर नागर मन बूड़न लग्यो सहित चित-चैन ।
लही नाव पवनज प्रसन्नता, बरबस तहाँ गह्यो गुन मैन ॥ २ ॥
सकत न बूझि कुसल, बूझे बिनु गिरा बिपुल ब्याकुल उर-ऐन ।
ज्यों कुलीन सुचि सुमति बियोगिनि सनमुख सहै बिरह सर पैन ॥ ३ ॥
धरि-धरि धीर बीर कोसलपति किये जतन सके उतरु न दैन ।
तुलसीदास प्रभु सखा-अनुज-सों सयनहि कह्यो, चलहु सजि सैन ॥ ४ ॥

अर्थ—वानर श्रीहनुमानूजी के सुन्दर और कोमल वचन सुन कर श्रीरामजी का सारा शरीर शिथिल हो गया तथा प्रेम की पुलकावली छा गई और उनके कमलवत् नेत्रों में अश्रुजल भर आये ॥१॥ श्रीजानकीजी के वियोग रूपी समुद्र में श्रीरामजी का रूप चतुर तैराक अपने चित्त के आनन्द के साथ डूबने लगा; उसी समय श्रीहनुमानजी की प्रसन्नता रूप नाव का सहारा प्राप्त हो गया, वहाँ पर (उस तैराक मन ने) कामदेव रूप रस्सी को हठात् पकड़ लिया (इससे डूबने से बच गया) ॥२॥ श्रीरामजी श्रीजानकी की कुशल पूछ नहीं सकते (; क्योंकि उनकी अत्यन्त आर्त्त दशा सुन कर प्रेम से गला भर आया है) परन्तु बिना कुशल पूछे वाणी हृदय-स्थल में अत्यन्त व्याकुल हो रही है। जैसे अच्छे कुल की पवित्र एवं सुन्दर बुद्धि वाली विरहिनी स्त्री सामने पड़ कर विरह के तीक्ष्ण बाण सहती है ॥३॥ धीर-बीर कोसलेन्द्र श्रीरामजी ने बार-बार धैर्य धारण कर बहुत यत्न किया, परन्तु वे उत्तर नहीं दे सके। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि प्रभु (परम समर्थ) श्रीरामजी ने सखा श्रीसुग्रीवजी और छोटे भाई श्रीलक्ष्मणजी से संकेत में ही कहा कि सेना सजा कर (शीघ्र) चलिये ॥४॥

विशेष—'कपिके…'—ऊपर पद १७-२० इन चार पदों में श्रीहनुमानजी के सुन्दर कोमल वचन कहे गये हैं। साथ ही उसका प्रभाव कहा गया है कि उससे श्रोता श्रीरामजी का शरीर, मन और वचन प्रेम में निमग्न हो गये हैं। पहले चरण में तन, दूसरे में मन और तीसरे में वचन की दशाएँ कही गई हैं।

'प्रेम पुलकि…'—इसमें तन की दशाएँ हैं—पुलक, शिथिलता और प्रेमाश्रु।

'सिय-बियोग-सागर…'—कैसा भी चतुर तैराक हो, पर अथाह सागर का पार करना तो उसके प्रति असंभव ही रहता है, वैसे ही प्रथम श्रीरामजी का मन उस सागर में डूबने ही लगा; यथा—"चिरं जीवतु वैदेही यदि मासं धरि-

ष्यति । क्षणं वीर न जीवेयं विना तामसितेक्षणाम् ॥'' (वाल्मी० ५।६६।१०), अर्थात् श्रीजानकीजी यदि एक मास जियेंगी तो वे बहुत जियेंगी, मैं तो उन श्याम-नयनी के विना क्षण भर भी अब नहीं जी सकता ।

इस पर श्रीहनुमानजी की प्रसन्नता देख कर धैर्य हुआ कि इन्होंने शत्रु का अन्दाजा ले लिया है । अतः; अवश्य शीघ्र ही हम शत्रु को जीत कर प्रियाजी को प्राप्त करेंगे । श्रीहनुमानजी ने स्पष्ट भी कहा है; यथा—"केतिक बात प्रभु जातुधान की । रिपुहि जीति आनिबी जानकी ॥'' (मा० सुं० ३१) । यह समझने पर मन से जायमान अभिलाषा रूप कामदेव को सफलता का भरोसा हुआ, यही नाव पर से फेंकी हुई रस्सी का पकड़ पाना है; अर्थात् हनुमानजी की प्रसन्नता मानों कह रही है कि आपको श्रीसीताजी शीघ्र ही मिलेंगी । 'बरबस'— स्वाभाविक तो यह था कि स्वामी को व्याकुल देख हनुमानजी भी वैसे ही हो जाते, पर वे प्रसन्न हैं, स्वामी को दिखा रहे हैं कि मुझे शोक नहीं, प्रत्युत विजय श्री की प्रसन्नता है, यही हठात् प्रभु की अभिलाषा को सफलता दिखाना है।

'सकत न बूझि....'—यहाँ चरण में वाणी की प्रेम-निमग्नता कही गई है । श्रीरामजी की वाणी यहाँ 'सुचि सुमति बियोगिनि' है । वह विरह के पैने शरों को सहती हुई व्याकुल हो गई, इससे कुशल पूछने में भी वह असमर्थ हो रही है ।

'धरि धरि धीर...'—कई बार धैर्य धरने पर भी आप बोल नहीं सके इससे संकेत से ही प्रस्थान की आज्ञा दी । इसमें विरह-व्यथा की अगाधता कही गई है कि जिसमें धीर-वीर कोशलपति भी निमग्न हो गये हैं ।

श्रीरामजी की लंका यात्रा

राग मारु

[२२]

जब रघुबीर पयानो कीन्हों ।
छुभित सिंधु, डगमगत महीधर, सजि सारँग कर लीन्हों ॥१॥
सुनि कठोर टंकोर घोर अति चौंके बिधि-त्रिपुरारि ।
जटा पटल ते चली सुरसरी सकत न संभु सँभारि ॥२॥

भए बिकल दिगपाल सकल, भय भरे भुवन दस चारि।
खर भर लंक, ससंक दसानन, गर्भ स्रवहिं अरिनारि ॥३॥
कटकटात भट भालु, बिकट मर्कट करि केहरिनाद।
कूदत करि रघुनाथ सपथ उपरी—उपरा बदि बाद ॥४॥
गिरि-तरु-धर, नख मुख कराल, रद कालहु करत बिषाद।
चले दस दिसि रिस भरि 'धरु-धरु' कहि, 'को बराक मनुजाद' ॥५॥
पवन पंगु, पावक-पतंग-ससि दुरि गए, थके बिमान।
जाचत सुर निमेष, सुरनायक नयन भार अकुलान ॥६॥
गए पूरि सर धूरि, भूरि भय अग थल जलधि समान।
नभ निसान, हनुमान-हाँक सुनि समुझत कोउ न अपान ॥७॥
दिग्गज-कमठ-कोल-सहसानन धरत धरनि धरि धीर।
बारहिं बार अमरषत, करषत, करकैं परीं सरीर ॥८॥
चली चमूँ, चहुँ ओर सोर, कछु बनै न बरनत भीर।
किलकिलात, कसमसत, कोलाहल होत नीरनिधि-तीर ॥९॥
जातुधानपति जानि कालबस मिले बिभीषन आइ।
सरनागत-पालक कृपालु कियो तिलक लियो अपनाइ ॥१०॥
कौतुक ही बारिधि बँधाइ उतरे सुबेल-तट आइ।
तुलसिदास गढ़ देखि फिरे कपि, प्रभु-आगमन सुनाइ ॥११॥

शब्दार्थ—बराक = बेचारे, अधम। अग=पहाड़।

अर्थ—जिस समय श्रीरघुनाथजी ने प्रस्थान किया, उस समय समुद्र क्षुभित हो गया और पहाड़ डगमगाने लगे तथा जब श्रीरामजी ने अपना सारंग धनुष हाथ में लिया ॥१॥ तब उसका अत्यन्त भयङ्कर और कठोर टङ्कार सुनकर श्रीब्रह्माजी और श्रीशिवजी चौंक उठे, श्रीशिवजी के जटासमूह से श्रीगङ्गाजी बह चलीं, वे उन्हें सँभाल नहीं सकते थे ॥२॥ समस्त दिक्पाल व्याकुल हो गये तथा चौदहो भुवनों के लोग भय से भर गये, लङ्का में खलबली मच गई, शङ्का से रावण के कान खड़े हो गये तथा शत्रु राक्षसों की स्त्रियाँ गर्भ गिराने लगीं ॥३॥ भालू योद्धा क्रोध से दाँत कटकटाते हैं और भयंकर वानर सिंहनाद करके सब 'कौन अधिक ऊपर जा सकता है ?' ऐसा वाद कर श्रीरघुनाथजी की शपथ करके

कूदते हैं ॥४॥ वे सब पहाड़ और वृक्ष आयुध रूप में धारण किये हुए हैं, उनके भयङ्कर नख और मुख तथा दाँत देखकर काल भी भय से विषाद करता है। 'धरो-धरो' तथा 'ये अधम राक्षस हैं ही क्या ?' ऐसा कहकर वे सब क्रोध से भरे हुए दसो दिशाओं को आवृत करते हुए चले ॥५॥ (इस अपार सेना के चलने पर इतनी धूल उड़ी कि) वायु की गति रुक गई, वह पङ्गु-सा हो गया तथा अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा छिप गये एवं देवों के विमान भी जहाँ के तहाँ स्थगित हो गये। (आँखों में धूल भरने के कारण घबराकर) देव गण पलक मारने की गति-प्राप्ति की याचना करने लगे (क्योंकि देवों की पलकें बन्द नहीं होतीं) और सहस्राक्ष इन्द्र तो (उसके सहस्रों नेत्रों में धूल भर जाने से) नेत्रों के भार से व्याकुल हो गया ॥६॥ सरोवर उस धूलि से भर कर पूर्ण हो गये और बहुत-से पहाड़ों के स्थल समुद्र के समान हो गये (वीरों के चरणों की चपेटों से पहाड़ पृथिवी में समा गये और उनके ऊपर जल निकल कर भर गया, इससे वे स्थल समुद्रवत् दीखने लगे)। आकाश में देवों के नगाड़े बज रहे हैं और इधर भूमितल पर श्रीहनुमान्‌जी की गर्जना का कोलाहल हो रहा है, यह सुनकर कोई अपने आपे को भी नहीं समझ रहे हैं ॥७॥ दिग्गज, कच्छप, वाराह और सहस्र मुखवाले शेषजी धैर्य धारण कर पृथिवी को धारण करते हैं। फिर भी भार न सह सकने के कारण बार-बार अपने तिरस्कार पर क्रुद्ध होते हैं, शरीरों को खींच-तान कर सीधी करते हैं; क्योंकि अधिक बोझ सहने से उनकी हड्डियाँ कड़क उठी हैं ॥८॥ सेना चली, चारों ओर कोलाहल छा गया, उस भीड़ का कुछ भी वर्णन नहीं किया जा सकता। चलते हुए सब किलकिलाते हैं; एक दूसरे के साथ देह मिल जाने से कसमसाते हुए चलते हैं, इस प्रकार कोलाहल करते हुए सब समुद्र के किनारे जा उतरे ॥९॥ उसी समय (उधर) राक्षसराज रावण को कालवश जान श्रीविभीषणजी आकर मिले। इधर शरणागत पालक कृपालु श्रीरामजी ने उन्हें अपना लिया और लङ्केशपद पर उनका अभिषेक कर दिया ॥१०॥ फिर कौतुक से ही समुद्र पर पुल बाँधकर प्रभु श्रीरामजी सुबेल पर्वत के पास जाकर ठहर गये। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वानर गण रावण का कोट देख और अपने प्रभु का आगमन गर्जना के द्वारा सूचित कर लौट आये ॥११॥

बिशेष—'छुभित सिंधु, डगमगत महीधर'; यथा--"चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खर भरे।" (मा० सुं० ३४)।

'सुनि कठोर टंकोर ···भए बिकल···'—इन दो चरणों में सारंग धनुष के टंकोर ध्वनि का महत्त्व कहा गया हैं। पिनाक धनुष टूटने पर भी ऐसा ही कहा गया है; यथा—"घोर धुनि सुनि सिव की समाधि टरी है।" (बा०९०); "भयो कठिन कोदंड-कोलाहल प्रलय-पयोद समान। चौंके सिव, बिरंचि, दिसि-नायक रहे मूँदि कर कान॥" (बा० ८८); न जाने क्या होनेवाला है, यह समझकर दिक्पाल एवं चौदहो भुवनों के लोग भयभीत हुए।

'रघुनाथ सपथ'—शपथ कर अपने वाद को प्रमाणित कर दिखाते हैं।

'कालहु करत बिषाद'—काल; यथा—"अंड कटाह अमित लयकारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी॥ तुम्हहिं न व्यापत काल अतिकराल कारन कवन।" (मा० उ० ९३-९४); ऐसा काल भी भय से विषाद करता है।

'पवन पंगु···गए पूरि सर धूरि'—इस प्रसंग में सेना चलने पर उड़ी हुई धूल का महत्त्व कहा गया है। अधिक धूल उड़ने पर पवन की गति मंद पड़ जाती है; यथा—"रज मग परी···मरुत उड़ाव प्रथम तेहि भरई (मा० उ० १०५)। धूल पड़ने पर अग्नि की द्युति भी नहीं रह जाती तथा सूर्य चन्द्र के प्रकाश भी नहीं दीखते। विमानों की गति रुकना भी स्वाभाविक है।

'जाचत सुर निमेष'—देवताओं की पलकें बन्द नहीं होतीं; यथा—"साऽपश्यद्विबुधान्सर्वानस्वेदान्स्तब्धलोचनान्। हृषितस्रग्रजोहीनान्स्थितान-स्पृशतः क्षितिम्॥" (महा० वन० ५७।२६); अर्थात् दमयन्ती ने देवताओं को पसीना रहित, पलक-चालन से रहित, न मुर्झानेवाली माला वाले, छाया रहित और पृथिवी को न स्पर्श करने वाले देखा।

'अग थल जलधि समान'; यथा—"तुलसी रसातल को निकसि सलिल आयो, कोल कलमल्यो, अहि कमठ को बल गो। चारिहू चरन के चपेट चाँपे चिपिटि गो, उचके उचकि चारि अंगुल अचल गो॥" (क० कि० १)—इसमें पहाड़ के नीचे धँस जाने पर ऊपर जल निकल आना कहा गया है।

'दिग्गज कमठ कोल···बारहिं बार···'; यथा—"सहि सक न भार

उदार अहिपति बार-बारहिं मोहई। गह दसन पुनि-पुनि कमठ पृष्ठ...''
(मा० सु० ३४)।

'चली चमू...कोलाहल होत नीर निधि तीर।'; यथा—''एहि बिधि जाइ कृपानिधि, उतरे सागर तीर। जहँ-तहँ लागे खान फल, भालु बिपुल कपि बीर॥'' (मा० सु० ३५)।

'जातुधानपति जानि काल-बस...'; यथा—''राम सत्य संकल्प प्रभु सभा कालबस तोरि। मैं रघुबीर सरन अब, जाउँ देहु जनि खोरि॥'' (मा० सु० ४१)।

'कियो तिलक लियो अपनाइ'; यथा—''बोलि लंकेस कहि अंक भरि भेंटि प्रभु, तिलक दियो दीन-दुख-दोष-दारिद-दरन॥'' (पद ४३)।

'कौतुक ही बारिधि बँधाइ...'; यथा—''कौतुक एक भालु कपि करहू॥'' से ''कंदुक इव नल नील ते लेहीं।'' (मा० लं० १) तक इस प्रकार उपक्रम और उपसंहार में कौतुक रूप में ही सेतु बँधना कहा गया है। तथा—''कौतुक ही पायोधि बँधायो।'' (मा० लं० ५)—यह मंदोदरी ने कहा है।

'उतरे सुबेल तट जाइ...'; यथा—''इहाँ सुबेल सैल रघुबीरा। उतरे सेन सहित अति भीरा॥'' (मा० लं० १०)।

'प्रभु आगमन सुनाइ'—रावण के कोट के पास जाकर वहाँ अपनी गर्जना से प्रभु का आगमन सूचित कर दिया। गर्जना; यथा—''जयति राम जय लछिमन जय कपीस सुग्रीव। गर्जहिं सिंह नाद कपि भालु महाबल सींव॥'' (मा० लं ३९)। अभी केवल कोट देखकर ही लौट आये; क्योंकि अभी युद्ध के लिये स्वामी की आज्ञा नहीं है। अंगद-दौत्य के पश्चात् युद्ध होगा।

रावण की मंत्रणा

राग आसावरी

[२३]

आए देखि दूत, सुनि सोच सठ-मन में।
बाहेर बजावै गाल, भालु-कपि कालबस,
मोसे बीर सों चहत जीत्यो रारि रन में॥ १॥

राम छाम, लरिका लखन, बालि बालकहि,
घालि को गनत रीछ जल ज्यों न घन में ।
काज को न कपिराज, कायर कपि-समाज,
मेरे अनुमान हनुमान हरिगन में ॥ २ ॥
समय सयानी रानी मृदुबानी कहै, पिय !
पावक न होइ जातुधान बेनु बन में ।
तुलसी जानकी दिये, स्वामी सों सनेह किये
कुसल, नतरु सब ह्वै है छार छन में ॥ ३ ॥

अर्थ—रावण के दूतों ने देख आकर सूचना दी (कि श्रीरामजी वानर सेना के साथ समुद्र तट पर आ उतरे) यह सुन कर मूर्ख रावण के मन में तो शोच हुआ, परन्तु बाहर से वह गाल बजाने लगा—"भालू और वानर काल वश हैं, इसी से युद्ध में मुझ-सरीखे वीर से लड़ कर जीतना चाहते हैं ॥ १ ॥ उनमें (सर्व प्रधान) श्रीरामजी तो (श्रीसीताजी के वियोग में) दुर्बल हो रहे हैं, श्रीलक्ष्मणजी अभी लड़के ही है; वाली का बालक अङ्गद भी बालक ही है और ऋक्ष जाम्बवान् जिस प्रकार मेघ में जल न हो, उस प्रकार (निस्सार) है । अतः, वह घलुआ के समान कुछ नहीं है, उसे कौन गिनता है ? । वानर-राज सुग्रीव कुछ काम का नहीं है और सारा वानर समाज कादर है । हाँ, मेरे अनुमान में उन वानर समूह में एक हनूमान ही (शूर वीर) है ॥ २ ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उसी समय उस रावण की चतुर स्त्री रानी मन्दो-दरी कोमल वाणी से कहने लगी कि हे प्रिय ! आप इस राक्षस कुल रूप बाँस के वन में अग्नि न हों । श्रीजानकीजी को देने और स्वामी श्रीरामजी से स्नेह करने पर ही कुशल है, नहीं तो एक क्षण में ही सब (राक्षस-समाज) नष्ट हो जायगा ॥ ३ ॥

विशेष—'राम छाम'; यथा—"तव प्रभु नारि बिरह बल हीना ।" (मा० लं० २२); 'घालि को गनत रीछ...'; यथा—"जामवंत मंत्री अति बूढ़ा । सो कि होइ अब समरा रूढ़ा ॥" (मा० लं० २२); 'काज को न कपिराज'; यथा—"महाबली बालि दलि, कायर सुकंठ कपि सखा किये, महाराज हो न काहू काम को ।" (क० उ० १४) ।

'मेरे अनुमान हनुमान···'; यथा—"है कपि एक महाबलसीला॥ आवा प्रथम नगर जेहि जारा।" (मा० लं० २२)।

'समय सयानी···'—रानी का सयान पन यह है कि जब रावण ने हनुमानूजी की प्रशंसा की; इनकी शूरता पर भयभीत जान पड़ा, तब उसने उनके स्वामी की भक्ति कर उनसे अपना कल्याण कराना कहा है; यथा—"हैं दससीस मनुज रघुनायक। जाके हनूमान से पायक॥" (मा० लं० ६१); "अंगद हनुमत अनुचर जाके। रन बाँकुरे बीर अति बाँके॥ तेहि कहँ पिय पुनि-पुनि नर कहहू। मुधा मान ममता मद बहहू॥" (मा० लं० २६)।

'पावक न होहि···'; यथा—"धिग मोहिं भयउँ बेनु बन आगी।" (मा० अ० १६३)। बाँस के वन में आपस के संघर्ष से आग लग जाती है और सारा वन जल जाता है, वैसे सीता-हरण रूप अपने ही अपराध से तुम्हारा सारा कुल नष्ट होगा।

'जानकी दिये···'; यथा—"की तजि मान अनुज इव, प्रभु पद पंकज भृंग। होहि कि राम सरानल खल कुल सहित पतंग॥" (मा० सुं० ५६)।

'सोच सठ मन में। बाहेर बजावै गाल···'; यथा—"सुनत सभय मन मुख मुसुकाई। कहत दसानन सबहि सुनाई॥ भूमि परा कर गहत अकासा। लघु तापस कर बाग बिलासा॥" (मा० सुं० ५६)।

[२४]

आपनी आपनी भाँति सब काहू कही है।
मंदोदरी, महोदर, मालिवान महामति,
राजनीति-पाहुँचि जहाँ लौं जाकी रही॥ १॥
महामद-अंध दसकंध न करत कान,
मीचु बस नीच हठि कुगहनि गही है।
हँसि कहै सचिव 'सयाने मोसों यों कहत,
चहत मेरु उड़न बड़ी बयारि बही है॥ २॥
भालु, नर, बानर अहार निसिचरनि को,
सोऊ नृप-बालकनि माँगी धारि लही है।
देखो 'कालकौतुक, 'पिपीलकनि पंख लागे,

भाग मेरे लोगनि के भई चित-चही है ॥ ३ ॥
'तोसो न तिलोक आजु साहस समाज-साज,
महाराज ! आयसु भो जोई सोई सही है' ।
तुलसी प्रनाम कै विभीषन विनती करै,
'ख्याल बेधे ताल, कपि केलि लंका दही है' ॥४॥

अर्थ—मन्दोदरी, महोदर और महान् बुद्धिमान् माल्यवान आदि सभी ने जिसकी जहाँ तक राजनीति में पहुँच थी, अपनी-अपनी रीति से रावण के प्रति बहुत कुछ कहा ॥ १ ॥ परन्तु महान् मद में अंधा होने के कारण दसानन रावण कुछ कान नहीं करता था, मृत्यु वश होने के कारण उस नीच ने हठ पूर्वक कुत्सित वृत्ति ही ग्रहण कर रक्खी थी। वह मंत्रियों से हँस कर कहने लगा—'अहो ! मेरे चतुर मंत्रीगण ऐसा कहते हैं कि बड़ी तेज हवा बह रही है, इससे सुमेरु पर्वत उड़ जाना चाहता है ! ॥२॥ अरे ! रीछ, मनुष्य और वानर तो राक्षसों के आहार हैं, उस पर भी उन राजा के लड़कों ने माँगी हुई सेना पाई है। काल का खेल तो देखो, 'चींटियों के पक्ष लग गये' अरे ? मेरे लोगों के भाग्य से ही यह इनके चित्त की चाही हुई बात हुई है ॥ ३ ॥ (यह सुन कर भय से मंत्रियों ने ठकुरसोहाती कहा—) 'हे महाराज ! आज तीनों लोकों में साहस एवं समाज-साज में आपके समान कोई नहीं है, आपकी जो आज्ञा हुई है, वही ठीक है।' श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (सभा की यह व्यवस्था देख कर) श्रीविभीषणजी प्रार्थना करने लगे—भगवान् श्रीरामजी ने क्रीड़ा में ही सात तालवृक्षों का भेदन किया है और उनके भेजे हुए एक वानर ने ही क्रीड़ा पूर्वक लङ्का का दहन किया है (क्या वे मनुष्य मात्र हैं और हम सब उनका आहार कर सकते हैं ?) ॥४॥

विशेष—'मन्दोदरी, महोदर···'—मन्दोदरी का राजनीति-दृष्टि से समझाना रामायण में चार बार है। यहाँ के कथन से महोदर का भी समझाना सिद्ध है। माल्यवान् ने रामायण में श्रीविभीषणजी के समझाने में सहयोग दिया है और पीछे ला०लं० ४६-४७ में इसने स्वतंत्र रूप से भी समझाया है।

'महामद अंध दसकंध न···'—जिसमें विद्या, बल एवं सेना आदि का मद रहता है, वह किसी का उपदेश नहीं सुनता; यथा—"जदपि कही कपि

अति हित बानी । भगति बिबेक बिरति नय सानी ॥ बोला बिहँसि महा अभिमानी । मिला हमहिं कपि गुरु बड़ ज्ञानी ॥ मृत्यु निकट आई खल तोहीं । लागेसि अधम सिखावन मोहीं ॥" (मा० सुं० २३) अभिमान से ही तारा का हितोपदेश वाली ने नहीं माना; यथा—"गहि कर चरन नारि समझावा ।" से "अस कहि चला महा अभिमानी ।" (मा० कि० ६–७) तक ।

'माचु बस नीच…'; यथा—"अहह कंत कृत राम बिरोधा । काल बिबस मन उपज न बोधा ॥ काल दंड गहि काहु न मारा । हरइ धरम बल बुद्धि बिचारा ॥ निकट काल जेहि आवत साँईं । तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं ॥" (मा० लं० ३५) । 'कुगहनि'—उसने कपट मृग भेज कर परीक्षा ली, उसमें श्रीरामजी को मनुष्य निश्चित कर लिया, तब से इसने ऐसी कुत्सित हठ पकड़ रक्खी है कि इसे लोगों से प्रायः १९ बार समझाया, पर इसने अपनी भ्रमात्मक ग्रहण की हुई हठ को नहीं छोड़ा, सर्वनाश भले ही हो गया।

'चहत मेरु उड़न…'—भाव यह कि जैसे हवा से सुमेरु नहीं उड़ सकता वैसे श्रीरामजी के वेग से मैं चलायमान नहीं हो सकता । इस उक्ति की पुष्टि में आगे कहता है—'चहत मेरु…'—यह लोकोक्ति है ।

'भालु नर बानर अहार…'; यथा—"जौं आवइ मरकट कटकाई । जियहिं बिचारे निसिचर खाई ॥" (मा०सुं० ३६); तथा—"कहहु कवन भय करिय बिचारा । नर कपि भालु अहार हमारा ॥" (मा० लं० ७) ।

'सोऊ नृप बालकनि…'—सुग्रीव से मैत्री कर उनकी सेना लेकर आये हैं; यही माँगी हुई सेना है । भाव यह कि अपनी सेना पर बल रहता है। मँगनी की सेना जब चाहे चल दे, उसका कौन भरोसा ? युद्ध संकट में धोखा दे सकती है ।

'देखो काल कौतुक…'—काल किसी निमित्त से ही सबको मारता है, वैसे ही इन वानरों और भालुओं का काल आया है, इसी से चढ़ कर आ रहे हैं । जैसे जिन चीटियों का काल आ जाता है, उनके पक्ष जम आते हैं और फिर उड़-उड़ कर वे दीपकों में जल मरते हैं, वैसे ही ये कपि-भालू हमारे तेज-प्रताप में जल मरेंगे ! चीटियाँ दीपक के पास स्वयं उड़ कर जाती हैं

और जलती है, वैसे ये मेरे पास स्वयं चढ़ाई करके आते हैं और वैसे ही मेरे तेज में जल जायँगे।

'पिपीलकनि पंख लागे' यह लोकोक्ति (मुहावरा) है।

'भाग मेरे लोगनि के...'—उपर्युक्त 'भालु नर बानर...' का प्रसंग देखिये।

'तोसों न तिलोक...'—रावण ऐसा ही कथन सुनना चाहता है, वैसे ही भय से उसके मंत्री कह रहे हैं; यथा—"जितेहु सुरासुर तब श्रम नाहीं। नर बानर केहि लेखे माहीं॥ सचिव बैद गुरु तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आस। राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगि ही नास॥ सोइ रावन कहँ बनी सहाई। अस्तुति करहिं सुनाइ सुनाई॥" (मा० सुं० ३७)। तथा—"कहहिं सचिव सुनु निसिचर नाहा।" से "कहहिं सचिव सठ ठकुर सोहाती।" (मा० लं० ८)।

'ख्याल बेधे ताल...'—सप्त ताल बेध कर बाली को सूचित कर दिया है कि मैं तेरा वध कर सकता हूँ, यह सब सुन समझ कर तारा ने वाली को समझाया है, परन्तु उसने नहीं माना तो नष्ट हुआ है। वैसे एक वानर ने क्रीड़ा पूर्वक तुम्हारे देखते हुए ललकार कर लंका को जला दिया है और तुम कुछ नहीं कर सके। यह देख कर मुझे भी श्रीरामजी के तेज-प्रताप का परिचय हो गया है कि तुम नहीं मानोगे तो वाली के समान नष्ट होगे। इससे मैं तुम्हें समझाता हूँ। यथा—"लंक दाह देखे न उछाह रह्यो काहुन को, कहैं सब सचिव पुकारि पाँव रोपि हैं। बाँचिहैं न पाछे त्रिपुरारि हू मुरारिहू के, को है रन रारि को जौं कोसलेस कोपि हैं?" (मा० लं० १)। तथा—"समुझि तुलसीस कपि कर्म घर-घर घैरु, बिकल सुनि सकल पाथोधि बाँध्यो। बसत गढ़ लंक लंकेस-नायक अछत लंक नहिं खात कोउ भात राँध्यो॥" (क० लं० ४)।

यहाँ 'दृष्टान्त-अलङ्कार' है।

[२५]

दूसरो न देखतु साहिब सम रामै।
बेदऊ पुरान, कबि-कोबिद बिरत-रत,
जाको जस सुनत, गावत गुन-ग्रामै॥१॥

माया-जीव, जग जल, सुभाउ, करम-काल,
सब को सासक, सब मैं, सब जामैं।
बिधि-से करनिहार, हरि-से पालनिहार,
हर-से हरनिहार जपैं जाकै नामैं ॥२॥
सोई नर बेष जानि, जन की बिनती मानि,
मतो नाथ सोई, जातें भलो परिनामैं।
सुभट-सिरोमनि कुठार पानि सारिखे हू
लखी औ लखाई, इहाँ किए सुभ सामैं ॥३॥
बचन-बिभूषन बिभीषन-बचन सुनि
लागे दुख दूषन-से दाहिनेउ बामैं।
तुलसी हुमुकि हिये हन्यो लात, 'भले तात',
चल्यो सुरतरु ताकि तजि घोर घामैं ॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी के समान दूसरा कोई स्वामी देख नहीं पड़ता, वेद, पुराण, कवि और पंडित तथा वैराग्यवान् एवं संसारासक्त—सभी जिनका यश सुनते और गुण समूह का गान करते रहते हैं ॥१॥ जो माया, जीव, जगज्जाल, स्वभाव, कर्म और काल, इन सब का शासक है, जो सबमें व्याप्त है एवं सब जिसमें स्थित हैं। ब्रह्मा-सरीखे सृष्टि कर्त्ता, विष्णु-सरीखे पालन कर्त्ता और शिव-सरीखे संहार कर्त्ता भी जिनके नाम का जप करते रहते हैं ॥२॥ उन्हीं परमेश्वर को मनुष्य वेष में अवतरित हुआ जान कर और मुझ अपने सेवक की प्रार्थना मान कर, हे नाथ! वही मन्त्रणा कीजिये, जिसमें परिणाम में भलाई हो। देखिये, सुभटों में शिरोमणि श्रीपरशुराम सरीखे वीर ने देखा और दिखाया है कि ऐसे अवसर पर एवं ऐसे प्रभु के साथ साम नीति (सन्धि) करने में ही कल्याण है ॥३॥ वाणी को भी विभूषित करने वाले श्रीविभीषणजी के इन वचनों को सुनकर रावण को अनुकूल वचन भी प्रतिकूल, दुःखमय तथा दूषित जान पड़े। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि रावण ने हुमक कर श्रीविभीषणजी की छाती में लात मारी, तब श्रीविभीषणजी ने कहा—"हे तात! आपने भले ही मुझे मारा है (परन्तु राम-भजन से ही आपका हित होगा)" ऐसा कह कर

श्रीविभीषणजी रावण रूप घोरघाम (संतापदाता) का त्याग कर कल्पवृक्ष रूप (शीतल कर्त्ता) श्रीरामजी की शरण तक कर चले ॥४॥

विशेष—'दूसरो न देखतु साहिब…'; यथा—"ईसन के ईस, महाराजन के महाराज, देवन के देव, देव! प्रान हूँ के प्रान हौ। कालहू के काल, महाभूतन के महाभूत, कर्महू के कर्म, निदानहू के निदान हौ॥ निगम को अगम, सुगम तुलसीहू से को, एते मान सीलसिंधु करुना-निधान हौ। महिमा अपार, काहू बोल को न पारापार, बड़ी साहिबी में नाथ बड़े सावधान हौ॥" (क० उ० १२६); तथा—"जेहि समान अतिसय नहिं कोई।" (मा० अर० ५)।

'बेदऊ पुरान, कबि-कोविद…'—वेद; यथा—"बंदउँ चारिउ बेद; भव बारिधि बोहित सरिस। जिन्हहिं न सपनेहुँ खेद, बरनत रघुबर बिसद जस॥" (मा० बा० १४); वेदों ने स्वयं मा० उ० १२ में लम्बी स्तुति करते हुए राज्यासीन श्रीरामजी से कहा है-"हम तव सगुन जस नित गावहीं।" 'पुरान'; यथा—"यस्यामलं नृपसदः सु यशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्। तं नाकपालवसुपालकिरीटजुष्टपादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये॥" (भाग० ६।११। २१); अर्थात् जिनकी पापनाशिनी और दिग्गजों से आवरण वस्त्र की भाँति उपमा को प्राप्त दिगन्तव्यापिनी निर्मल कीर्ति का कीर्तन अब भी (दूसरा कृष्णा-वतार हो जाने पर भी) ऋषिगणों के द्वारा बड़े-बड़े राजाओं की सभाओं में होता है और देवगण एवं राजा लोग अपने किरीटों (मुकुटों) से जिनके चरणों की सेवा करते हैं, उन्हीं श्रीरघुनाथजी के हम शरण हैं।

'कवि'—आदि कवि श्रीवाल्मीकिजी ने अपनी रामायण में श्रीरघुनाथजी का ही यश गाया है, यह बहुत ही प्रसिद्ध है।

'कोविद'—इन वेदों, पुराणों एवं इतिहासों के भाष्यकार कोविद हैं, ये सब भी यश गान एवं श्रवण करते ही रहते हैं।

'विरत'—श्रीशिवजी परम विरक्त हैं; यथा—"वैराग्याम्बुज भास्करं…" (मा० अर० मं० श्लोक); इन्होंने श्रीरामचरितमानस का ही गान किया है।

'रत'; यथा—"विषयिन्ह कहँ पुनि हरि गुन ग्रामा। श्रवनसुखद अरु मन अभिरामा॥" (मा० उ० ५२); इत्यादि।

'माया, जीव, जगजाल…'—माया, जीव, कर्म, काल और स्वभाव के प्रवर्तक एवं शासक श्रीरामजी हैं, इनके विशेष विवरण मेरे श्रीहनुमान बाहुक ४४ के तिलक में लिखे गये हैं वहीं देखिये। तथा—"बिधि हरिहर ससि रवि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला॥ अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई॥ करि बिचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबही के॥" (मा० अ० २५३); तथा—"करम काल सुभाउ गुन दोष जीव जग माया ते सों सभय भौंह चकित चहति।" (वि० २४६); "काल करम गुन सुभाउ सबके सीस तपत। राम नाम महिमा की चरचौ चले चपत॥" (वि० १३०)।

'सब मैं, सब जामैं'; यथा—"यस्यात्मा शरीरम्" (माध्यन्दिनी ५।७।२२ तथा बृह० ३।७।२२ एवं श० प० ब्रा० १४।६।६।५।३०); इस श्रुति में आत्मा का अर्थ जीव है। तथा—"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥" (गीता ९।४); अर्थात् मुझ अव्यक्तमूर्ति से यह सारा जगत व्याप्त है। सारे भूत मुझ में स्थित हैं और मैं उनमें स्थित नहीं हूँ (अर्थात् उनसे निर्लिप्त हूँ)। बृह० ३।७।३ में भी पृथिवी आदि सभी तत्त्वों को भगवान् का शरीर लिखा गया है।

'बिधि-से करनिहार…'—इन त्रिदेवों की स्थिति एवं प्रवृत्ति श्रीसीता-नाथ के ही अधीन है, इससे ये इनके नाम का जप करते हैं; यथा—"हरिहरहि हरता बिधिहि बिधिता श्रियहि श्रियता जेहि दई। सो जानकीपति मधुर मूरति, मोदमय मंगलमयी॥" (वि० १३५); "जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥" (मा० सुं० २०)।

'सोइ नर बेष जानि'; यथा—"तात! राम नहिं नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला॥ ब्रह्म अनामय अज भगवंता। व्यापक अजित अनादि अनंता॥" (मा० सुं० ३८); यह इसी प्रसंग पर विभीषणजी ने ही कहा है।

'सुभट सिरोमनि कुठारपानि…'; यथा—"बिस्वजयी भृगुनायक से बिनु हाथ भये हनि हाथ हजारी।" "सहसभुज-मत्त-गजराज-रनकेसरी परसुधर गर्व जेहि देखि बीता॥" (क० लं० ५,१७); तथा क० लं० २५-२६ भी देखिये। श्रीपरशुरामजी ने ही श्रीराम-प्रभाव ठीक से देखा है, इसीसे तुरत शत्रु

सौंप कर शरण हो गये हैं, ऐसे ही श्रीराम-प्रभाव जान कर सब को उपायाभिमान छोड़ कर श्रीरामजी की शरण होना चाहिये। ऐसा अपने कर्तव्य से उन्होंने सबको लखाया है। अतः, श्रीरामजी से सन्धि ही करने में कल्याण है।

'बचन बिभूषन···'—ये बचन वाणी को सुशोभित करने वाले हैं; यथा—"बोले बचन बिगत सब दूषन। मृदु मंजुल जनु बाग बिभूषन॥" (मा० अ० ४०)। श्रीविभीषणजी के इसी प्रसंग पर इन वचनों की सराहना अन्यत्र भी है; यथा—"तात अनुज तव नीति-बिभूषन। सोइ उर धरहु जो कहत बिभीषन॥" "बुध पुरान श्रुति संमत बानी। कही बिभीषन नीति बखानी॥" (मा० सुं० ३९-४०)।

'लगे दुख दुषन से···'; यथा—"रिपु उत्कर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ है कोऊ॥" "जियसि सदा सठ मोर जियावा। रिपु कर पच्छ मूढ़ तोहि भावा॥" (मा० सुं० ३९·४०)।

'दुमुखि लात हन्यो···'; यथा—"अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा। अनुज गहे पद बारहिं बारा॥···तुम्ह पितु सरिस भलेहि मोहिं मारा। राम भजे हित नाथ तुम्हारा॥" (मा० सुं० ४०)।

'चल्यो सुरतरु ताकि'; यथा—"दूरि ते दीनबंधु देखे, जनु देत अभय बरदान हैं॥ सील सहस हिमवान, तेज सत कोटि भानुहू के भानु हैं। भगतनि को हित कोटि मातु-पितु, अरिन्ह को कोटि कृसानु हैं॥···" (पद ३५); तथा—"देव! देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ॥ जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समनि सब सोक। माँगत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच॥" (मा० अ० २६७)।

'तजि घोर घामैं'; यथा—"रावन क्रोध अनल निज स्वास समीर प्रचंड। जरत बिभीषन राखेउ, दीन्हेंउ राज अखंड॥" (मा० सुं० ४९)।

श्रीविभीषणजी की शरणागति

[२६]

जाय माय पायँ परि कथा सो सुनाई है।
समाधान करति बिभीषन को बार-बार,
'कहा भयो तात! लात मारे, बड़ो भाई है॥१॥

साहिब, पितु समान, जातुधान को तिलक,
ताके अपमान तेरी बड़िऐ बड़ाई है।'
गरत गलानि जानि, सनमान सिख देति,
'रोष किये दोष, सहे समुझे भलाई है ॥२॥
इहाँ ते बिमुख भये, राम की सरन गये
भलो, नेकु लोक राखे निपट निकाई है।'
मातु-पग सीस नाइ, तुलसी असीस पाइ
चले भले सगुन कहत मन भाई है ॥३॥

अर्थ—श्रीविभीषणजी ने अपनी माता के पास जा उसके चरणों पर गिर कर प्रणाम किया और वह (हित कहते हुए रावण द्वारा अपमानित होने की) सारी कथा सुना दी। माता श्रीविभीषणजी को बार-बार समाधान करने लगीं— 'हे तात! यदि उसने लात मारी ही है तो तुम्हारा इसमें क्या हुआ? वह तुम्हारा बड़ा भाई है (अतः, पिता के समान मान्य है) ॥१॥ वह स्वामी (राजा) होने से भी पिता के समान है और फिर समस्त राक्षसकुल का तिलक (श्रेष्ठ) है (इससे भी वह पितावत् मान्य है)। अतः, उसके अपमान करने में भी तेरी बड़ी ही बड़ाई है।' (इस पर भी) ग्लानि में गलता ही देख कर इनका सम्मान कर फिर शिक्षा देने लगी—'(हे तात! इस समय) क्रोध करने में दोष है, सह कर समझौता कर लेने में ही भलाई है ॥ २ ॥ यहाँ से विमुख होने और श्रीरामजी की शरण जाने पर भला है, थोड़ा लोकमर्यादा को छोड़कर नितान्त (सब प्रकार) भलाई ही है (अभी जाने पर लोग कहेंगे कि शत्रु-संकट के समय भाई का त्याग कर शत्रु से मिल गये, बड़े भाई के जन्म भर के कृत्य पर लात मार कृतघ्नता की है)।' श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीविभीषणजी माता के चरणों में शिर नवा और उससे आशीर्वाद पाकर चल दिये, मार्ग में अच्छे-अच्छे शकुन होकर इनको मनभाया होने का भाव प्रकट कर रहे हैं ॥३॥

विशेष—'जाय माय पाय परि···'—इन तीन (२६, २७, २८ वें) पदों के प्रसंग श्रीरामचरितमानस और श्रीमद्वाल्मीकीय में नहीं कहे गये हैं, यहाँ से लेकर उनमें मिलाये भी जा सकते हैं; अन्यथा कल्पभेद के हैं।

श्रीविभीषणजी की माता अनुकूल थी, इसने विश्रवा मुनि से इन हरिभक्त

पुत्र को वर माँग कर पाया था। अतः, यह इनको अभीष्ट पथ पर दृढ़ ही करेगी जैसे श्रीलक्ष्मणजी को सुमित्राजी ने दृढ़ किया था। ऐसा जान कर इन्होंने माता से पूछा है, माता ने पहले इन्हें सामान्य धर्म के साथ हरि-भक्ति करने को कहा, पर इनकी विशेष धर्म पर ही निष्ठा देखकर फिर वैसा ही समझाया है।

'कहा भयो तात!…'—पिता के द्वारा दंडित पुत्र अपमानित नहीं समझा जाता। वैसा माता ने कहा। परन्तु विभीषणजी ने उसे धर्मच्युत मान लिया है, इससे ये उसे पितावत् गौरव न देकर अपने को अपमानित मान कर ग्लानि कर रहे हैं; यथा—"ज्येष्ठो मान्यः पितृ समो न च धर्मपथेस्थितः। इदं हि परुषं वाक्यं न क्षमाम्यग्रजस्य ते॥" (वाल्मी० ६।१६।१९); मनुस्मृति ६।१०८-११० में लिखा है कि यदि ज्येष्ठ भाई पितृवत् बर्ताव रक्खे, तभी वह पिता तुल्य है; अन्यथा भाई के समान समकक्ष ही माना जाय।

'नेकु लोक राखे'—इसका समाधान कराने के लिये आगे पदों में कुबेरजी के यहाँ जायँगे और वहाँ शिवजी के द्वारा समाधान होगा।

'सहे समुझे'—अभी का अपमान सह लो और फिर उसे समझा कर मार्ग पर लाने का प्रयत्न करो, इसीमें भलाई है। यहाँ तक सामान्य धर्म के साथ प्रपत्ति करने की शिक्षा देती है। माता है। अतः उसकी रावण के कल्याण पर भी दृष्टि है।

'मातु-पग सीस नाइ….'—श्रीविभीषणजी ने निश्चित कर लिया है कि मैंने उसे पुलस्त्य मुनि का उपदेश कहा और अपनी ओर से समझाने की पूरी चेष्टा कर ली, अब वह मानने का नहीं है। ऐसा विचार कर चल दिये।

'सगुन कहत…'; यथा—"सगुन कहइ अस बिग्रह नाहीं॥" (मा० अ० १९१); वैसे ही यहाँ भी कहना फल सूचित करने के अर्थ में है।

[२७]

भाई को-सो करौं; डरौं कठिन कुफेरैं।
सुकृत-संकट परयो, जात गलानिन्ह गरयो,
'कृपानिधि को मिलौं पै मिलि के कुबेरैं'॥१॥
जाइ गहे पाय, धाइ धनद उठाइ भेंट्यो,
समाचार पाइ पोच सोचत सुमेरैं।

तहँई मिले महेस, दयो हित-उपदेस,
"राम की सरन जाहि, सुदिन न हेरै ॥२॥
जाको नाम कुंभज कलेस-सिंधु सोखिबे को,
मेरो कह्यो मानि, तात ! बाँधै जिनि बेरै।"
तुलसी मुदित चले, पाए हैं सगुन भले,
रंक लूटिबे को मानों मनिगन-ढेरै ॥३॥

शब्दार्थ--सुकृत-संकट=धर्म संकट । बेरै (बेरा)=समय, बेला ।

अर्थ--'भाई कुबेर का-सा (उनके विचारानुसार कार्य) करूँ' (तो अच्छा होगा) क्योंकि इस समय मैं बड़े भारी कुफेर (बुरीं उलझन) को डरता हूँ, मैं धर्मसंकट में पड़ा हूँ, इससे ग्लानि मैं गला जाता हूँ। अतः, कृपानिधान श्रीरामजी से मिलूँ; परन्तु पहले श्रीकुवेरजी से मिल कर ॥१॥ श्रीविभीषणजी ने जाकर श्रीकुवेरजी के चरण ग्रहण कर प्रणाम किया; दौड़ कर धन देने वाले कुवेरजी ने उठा कर इनसे भेंट की (अङ्क भर कर मिले) बुरा समाचार पाकर श्रीकुवेरजी सुमेरु पर्वत पर सोच करने लगे । वहाँ ही श्रीशिवजी मिल गये, उन्होंने श्रीविभीषणजी को हित का उपदेश दिया – "तुम श्रीरामजी की शरण में जाओ । सुदिन की प्रतीक्षा मत करो ॥२॥ जिसका नाम ही क्लेश-सागर का शोषण करने में श्रीअगस्त्यजी के समान है । मेरा कहना मान कर, हे तात ! (उनकी शरण जाने के लिये) तुम बेला का बन्धान न करो (यात्रा न विचारो-तुरत चल दो)।" श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (श्रीशिवजी का उपदेश सुन कर) श्रीविभीषणजी प्रसन्न होकर चल दिये । उन्होंने मार्ग में जाते हुए अच्छे अच्छे सगुन पाये । (इससे वे और प्रसन्न हो इस प्रकार चले) मानों कोई कंगाल मणि समूह का ढेर लूटने के लिये जाता हो ॥३॥

विशेष—'भाई को-सो करौं…'—माता ने अनुमति तो दी, पर इसने लोकापवाद का कुछ भय दिखा दिया । अब इन्हें श्रीकुवेरजी का भरोसा है कि वे भाई हैं और सात्विक विचार के हैं । अतः, उनसे मिल लूँ, यद्यपि श्रीरामजी कृपा के सागर हैं । अतः, उनकी शरण में जाना मुझे अवश्य है । परन्तु इस कठिन कुफेर एवं धर्मसंकट की ग्लानि दूर करके जाऊँ तो अच्छा होगा ।

'जाइ गहे पाय…'—कुवेरजी बड़े भाई हैं । अतः, उनके समीप पहुँच

कुछ दूर से ही उनके चरण-ग्रहण की भावना से दण्ड-प्रणाम किया। कुबेरजी दौड़ कर उठा लिये और फिर अङ्क भर कर भेंट की। कुशल-प्रश्न पर श्रीविभीषणजी ने लङ्का की वर्त्तमान व्यवस्था कह सुनाई। हमारे कुल का अब नाश होगा, यह बुरा समाचार पाकर वे वहीं सुमेरु पर्वत पर चिन्ता करने लगे।

'तहँई मिले महेस···'—श्रीशिवजी श्रीकुबेरजी के मित्र हैं। अतः, उनके यहाँ प्रायः आया-जाया करते हैं, यथा—"जात रहेउँ कुबेर-गृह···" (मा० उ० ६०)। कुबेरजी के साथ बैठे हुए श्रीशिवजी ने भी यह सब समाचार सुना, तब उन्होंने इनके हित का उपदेश दिया।

'राम की सरन जाहि···'—यहाँ श्रीशिवजी ने शरणागति में काल-बन्धन का निराकरण किया है। शरणागति के मर्मज्ञ श्रीहनुमानूजी ने भी ऐसा ही कहा है। 'अदेशकाले सम्प्राप्तः" इस जाम्बवानूजी की उक्ति का खण्डन करते हुए हनुमानूजी ने कहा है—"एष देशश्च कालश्च···" (वाल्मी० ६।१७)—इस वचन से सूचित किया है कि जिस समय में और जिस देश में जब शरणागति की वृत्ति जाग्रत हो, तुरत शरण हो जाना चाहिये; क्योंकि चञ्चल मन में शुभ-वासना विशेष काल तक सम्भवतः न रहे, इसीसे कहा है—"बेगि बिलंब न कीजिये, लीजिय उपदेस। बीजमंत्र जपिये सोई, जो जपत महेस॥" (वि० १०८)।

'जाको नाम कुंभज···'; यथा—"दोष-दुरित-दुख-दारिद-दाहक नाम। सकल सुमंगलदायक तुलसी राम॥५८॥" "संकट-सोच-बिमोचन, मंगलगेह। तुलसी राम नाम पर करिय सनेह॥४७॥" (बरवै रा०)। यहाँ 'पूर्णोपमालङ्कार' है। जब नाम में ऐसा सामर्थ्य है, तब रूप के सामर्थ्य का क्या कहना है? उनके पास जाने पर सभी कल्याण स्वतः हो जायँगे। तथा—"तदेव लग्नं सुदिनं तदेव ताराबलं चन्द्रबलं तदेव। विद्याबलं दैवबलं तदेव सीतापतेर्नाम यदा स्मरामि॥" (महोदधि—श्रीवैजनाथजी)। 'रंक लूटिबे को मानो···'—इसमें 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा' है।

राग केदारा

[२८]

संकर सिख आसिष पाइ कै।
चले मनहिं मन कहत बिभीषन सीस महेसहि नाइ कै॥१॥

गए सोच, भए सगुन, सुमंगल दसदिसि देत देखाइ कै।
सजल नयन, सानंद हृदय तनु प्रेम पुलक अधिकाइ कै ॥२॥
अंतहु भाय भलो भाई को, कियो अनभलो सनाइ कै।
भइ कुबरे की लात, विधाता राखी बात बनाइ कै ॥३॥
नाहित क्यों कुबेर घर मिलि हर हित कहते चित लाइ कै।
जो सुनि सरन राम ताके मैं निज बामता बिहाइ कै ॥४॥
अनायास अनुकूल सूलधर मग मुदमूल जनाइ कै।
कृपासिंधु सनमानि, जानि जन दीन लियो अपनाइ कै ॥५॥
स्वारथ परमारथ करतलगत स्रम-पथ गयो सिराइ कै।
सपनें कै सौतुक सुख ससि सुर सीचत देत निराइ कै ॥६॥
गुरु गौरीस, साँइ सीता पति, हित हनुमानहिं जाइ कै।
मिलिहौं, मोहिं कहा कीबे अब, अभिमत-अवधि अघाइ कै ॥७॥
मरतो कहाँ जाइ, को जानै, लटि लालची ललाइ कै।
'तुलसिदास' भजि हौं, रघुबीरहिं अभय-निसान बजाइ कै ॥८॥

शब्दार्थ—कुबरे की लात = ऐसी लात जिससे कुबड़ी पीठ सीधी हो जाय; अर्थात् किसी के अनहित करने पर अपनी बात बन जाय, इस अर्थ में यह लोकोक्ति है। सौतुख (सौंतुख-सम्मुख) = सामने, आँखों के आगे, प्रत्यक्ष—हि० शा० सा०। ससि = शस्य, खेती बारी। अंतहु = निदान।

अर्थ—श्रीशिवजी की शिक्षा और आशीर्वाद पाकर श्रीविभीषणजी उन्हें शिर नवा मन ही मन यह कहते हुए चले ॥१॥ कि मेरे शोक निवृत्त हो गये; क्योंकि मेरी यात्रा में शुभ शकुन हुए और दसो दिशाओं में सुन्दर मङ्गल-मय निमित्त दिखाई दे रहे हैं। यह समझ कर उनके नेत्र प्रेमाश्रुओं से भर गये, हृदय में आनन्द भर गया और शरीर में प्रेम की पुलकावली अधिक-अधिक बढ़ने लगी ॥२॥ (वे मन में कहते हैं–) निदान (आखिर) भाई को भाई अच्छा ही होता है, यद्यपि उस (भाई रावण) ने मेरा अनहित विचार कर ही (मेरा अप-मान) किया था तथापि उसी में विधाता ने मेरी बात बना कर रक्खी थी, जिससे (रावण की लात मेरे लिये तो) कूबर की लात हो गई (मेरी बात बन गई, भग-वान् की शरणागति करने का संयोग लग गया) ॥३॥ नहीं तो भला, कुबेरजी

के घर आकर श्रीशिवजी क्यों मिलते और चित्त लगा कर वे मेरा हित क्यों कहते ? जिसे सुन कर और अपनी कुटिलता छोड़ कर मैंने श्रीरामजी की शरण ताकी है ॥४॥ अनायास ही शूलपाणि श्रीशिवजी प्रसन्न हो गये, इससे उन कृपा-सागर ने आनन्दमूलक मार्ग समझा कर मेरा सम्मान किया है और मुझे अपना दीन सेवक जान कर अपना लिया है ॥५॥ अब तो स्वार्थ और परमार्थ सब मेरे हाथ में आ गये, मेरा श्रम मार्ग अब समाप्त हो गया। यह सपना है या प्रत्यक्ष है जो मेरे सुख रूप खेती को देवतागण सींचते हैं और निरा कर सम्पन्न कर देते हैं ॥६॥ श्रीशिवजी गुरु रूप में प्राप्त हो गये, इससे अब मैं स्वामी सीतापति श्रीरामजी और हितकारी श्रीहनुमान्जी से जाकर मिलूँगा। अब मुझे क्या करना रह गया ? मुझे अभिलाषा की सीमा अघाकर (परिपूर्ण रूप में) मिल गई (मैं कृतार्थ हो गया) ॥७॥ कौन जानता था कि मैं विषयलोलुप विषय-लालसा में क्षीण होकर ललचा-ललचा कर भटकता हुआ न जाने कहाँ जाकर मरता। अब तो मैं निर्भयता का नगाड़ा बजाकर श्रीरघुनाथजी का भजन करूँगा।

विशेष—'संकर सिख आसिष…'—शङ्कर का अर्थ कल्याणकर भी होता है। अतः, यह शिव-वाचक होते हुए 'सिख-आसिष' का विशेषण भी है। इससे कल्याण कर शिक्षा एवं आसिष यह भी भाव है।

'अंतहु भाय भलो…'—लोक में प्रसिद्ध है—"होहिं कुठाय सुबंधु सहाए। ओडियहिं हाथ असनिहु के घाए॥" (मा० अ० ३०५)। इस नियम से अंत में मेरा भाई रावण भी मेरा हित ही हुआ। भले ही उसने मेरा अनहित विचार कर लात मारी है, परन्तु विधाता ने ऐसा संयोग बना रक्खा था कि उसकी लात मुझे 'कूबर की लात' हो गई। आगे विधाता की बनाई हुई बात का कुछ और अंश कहते हैं—

'नाहित क्यों कुबेर घर…'—विधाता के संयोग से ही उसी समय शिवजी के वहाँ आने का संयोग हुआ और फिर उनके चित्त में मेरा हित कहने की रुचि भी आ गई।

'जो सुनि राम सरन ताके…'—जीव ईश्वर का अंश है। अतः, इसे सब अवस्था में अपने अंशी के लिये ही रहना चाहिये, पर मैं उनसे विमुख होकर इन्द्रियों से विषयलोलुप हो गया था। सहसा रावण से अपमानित होने

पर भी धर्मसंकट एवं कुफेर में पड़ गया था, इस वामता को छोड़ कर शिवजी के उपदेश से ही मैं अब निर्भर होकर श्रीराम-शरण चल रहा हूँ।

'अनायास अनुकूल सूलधर ···'—यद्यपि शिवजी दुराराध्य हैं; यथा—"दुराराध्य पै अहहिं महेसू।" (मा० बा० ६६)। पर मेरे लिये तो उक्त विधि-संयोग से अनायास ही प्रसन्न हो गये। ऐसे प्रसन्न हुए कि उन्होंने मुझे आनन्द मूलक मार्ग बतलाया, सम्मान किया और मुझमें अपनपौ मान कर मुझे अपना बना लिया, मुझमें इस कृपा के योग्य कुछ न था, उन्होंने मुझे अपना दीन सेवक ही मान कर अपनाया है।

'स्वारथ-परमारथ करत लगत'—शरणागति में भगवान् ही उपाय और फल भी हो जाते हैं; यथा—"उपायत्वमुपेयत्वमीश स्यैव यद्भवेत्। शरणागतिरित्युक्ता शास्त्रमानाद्विवेकिभिः॥" (रहस्यत्रय-हरिदास कृत); अर्थात ईश्वर को ही उपाय और फल रूप में मानने को शास्त्र प्रमाण से विवेकियों ने शरणागति कही है। उपाय रूप में ईश्वर का भजन करता हुआ यह लोक में सुखी रहता है और परलोक में भी तत्क्रतुन्याय से यह उन्हीं की सेवा में रहता हुआ आनन्दोपभोग करता है; यथा "सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता।" (तैत्त० २।१); अर्थात् वह मुक्तात्मा ब्रह्म के साथ-साथ (परिकर एवं परिच्छद रूप से) सब कामनाओं का भोग करता है। अतः, फल भी यही (हरि-सेवा ही) है। इस प्रकार इस शरणागति में स्वार्थ और परमार्थ करतलगत हो जाते हैं।

'स्रमपथ गयो सिराइ कै'—स्वार्थ-परमार्थ के लिये ही सभी आश्रमों के श्रम की आवश्यकता होती है, वह सब समाप्त हो गया। अतः अब मैं कृतार्थ हो गया। शिव उपदेशानुसार मेरे शरण होते ही श्रीरामजी मेरे उपाय-उपेय हो जायँगे। ऐसा न कह कर 'हो गये' ऐसा कहते हैं, भाव यह कि शरण होने के दृढ़ संकल्प पर ही प्रभु इसे अपना लेते हैं। यही कारण है कि विभीषणजी के मार्ग में आगे श्रीसुग्रीव आदि बाधक होंगे। उनसे शास्त्रार्थ करने का कार्य प्रभु ही करेंगे। अतः, अभी से ही उपाय हो गये हैं।

'सपने कै सौतुख ··'—यह आश्चर्य घटना सत्य-सी नहीं जान पड़ती। अतः कहते हैं कि क्या यह स्वप्न है कि प्रत्यक्ष ही है।

'सुख ससि सुर···'—यहाँ इस सुख को देवों में प्रधान महादेव ने प्रस्तुत किया है, इसी को कहते हैं कि श्रीराम-अनुकूलता से ही उनके शरीर रूप महादेव ने उनकी ही प्रेरणा से सींचा है; अपने उपदेश से शरणागति को दृढ़ कर बढ़ाया है और निराया है, कुफेर और धर्मसंकट को समझा कर निकाल दिया है। अब मेरी सुख की खेती लहलहा कर सम्पन्न हो रही है, प्रपत्ति सम्पन्न हो रही है।

'गुरु गौरीस'—यहाँ तक श्रीशिवजी का गुरुत्व कह कर गुरु रूप में उनकी प्राप्ति कह कर आगे के वचनों से अपने को कृतार्थ होना कहा है।

'साँइ सीतापति, हित···'—स्वामी को सीतापति कह कर श्रीसीताजी के पुरुषकारत्व का भी स्मरण किया है जो उन्होंने लंका में स्थित हो इनकी स्त्री एवं कन्या को अपनी सेवा में रख कर अपना लिया है, इसीसे श्रीरामजी अपने सखा से शास्त्रार्थ कर इन्हें ग्रहण करेंगे। श्रीहनुमान्जी ने गुप्त रीति से लङ्का में मिल कर इन्हें श्रीरामजी का गुण-स्वभाव आदि कह कर और अपने कर्त्तव्य से श्रीरामजी का प्रताप दिखा इन्हें शरणागति के लिये विश्वास दिलाया है, यहाँ उस हित का स्मरण कर रहे हैं।

'मोहि कहा कीबे अब···'—हरि-शरणागत होकर जीव कृतार्थ हो जाता है। इसके उपाय-उपेय श्रीहरि ही हो जाते हैं। बस, इसके लिये कुछ कर्त्तव्य रह ही नहीं जाता। लोक-परलोक की पूर्णतया सिद्धि ही इसके अभिलाषा की सीमा की पूर्ण प्राप्ति है, यह ऊपर भी समझाया गया है।

'मरतो कहाँ जाइ···'—विषय-वश हो जीव भव की चौरासी में भ्रमण करता रहता है, उसी दुर्गति का स्मरण करते हैं।

'भजिहौं रघुबीरहि अभय····'—शरण होने पर श्रीरामजी जीव को सब से अभय कर देते हैं; यथा—"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥" (वाल्मी० ६।१८।३३); अर्थात् श्रीरामजी ने तीर्थपति समुद्र के तट पर असंख्य भक्त वानरों के समाज में प्रतिज्ञा-पूर्वक कहा है कि जो मेरी शरण में आकर एक बार ही 'मैं आपका हूँ' इस प्रकार (आत्मसमर्पण) की याचना करता है। उसे सभी प्राणियों से एवं उस प्रकार के सभी प्राणियों के लिये मैं अभय देता हूँ।

श्रीरामजी की इस सनातनी प्रतिज्ञा के भाव को समझ कर कहते हैं कि डंके की चोप पर मैं निर्भय हो कर श्रीरघुनाथजी का भजन करूँगा। 'तवास्मि' इस प्रतिज्ञा का चरितार्थ करता हुआ उनका भजन करूँगा और लोक-परलोक से निर्भय रहूँगा।

[२९]

पद-पदुम गरीब-निवाज के।
देखिहौं जाइ पाइ लोचनफल हित सुर-साधु-समाज के ॥१॥
गई बहोर, ओर निरबाहक, साजक बिगरे साज के।
सबरी-सुखद, गीध-गतिदायक, समन सोक कपिराज के ॥२॥
आरति-हरन सरन समरथ सब दिन अपने की लाज के।
तुलसी 'पाहि' कहत नत-पालक मोहुँ-से निपट निकाज के ॥३॥

अर्थ—(श्रीविभीषणजी जाते हुए मनोरथ करते हैं, अहा!) 'जो साधुओं और देवताओं के समाज का हित करने वाले हैं, उन गरीब-निवाज (दीन-बन्धु) श्रीरामजी के चरण कमलों को जाकर देखूँगा और नेत्रों का फल पाऊँगा ॥१॥ वे भगवान् अपने आश्रितों की गई हुई वस्तु को पुनः देने अथवा बिगड़े हुए काम को बनाने वाले और अन्त तक रक्षा करने वाले तथा बिगड़े हुए साज को पुनः सम्पन्न कर देने वाले हैं। वे शबरीजी को सुख देने वाले, गृध्रराज जटायुजी को सद्गति देने वाले और वानरराज श्रीसुग्रीवजी के शोक का नाश करने वाले हैं ॥२॥ वे आश्रित की विपत्ति का हरण करने वाले और शरण-रक्षण में समर्थ तथा सब दिन अपने आश्रित की लज्जा रखने में समर्थ हैं।' श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि 'रक्षा कीजिये' ऐसा कहने पर तो वे मुझ सरीखे नितान्त निकम्मे शरणागत का भी पालन करने वाले हैं ॥३॥

विशेष—'गरीब-निवाज'; यथा—"मनि-मानिक महँगो कियो, सहँगो जल तृन नाज। तुलसी एते जानिये, राम गरीब-निवाज ॥" "तुलसी जाने सुनि समुझि, कृपासिंधु रघुराज। महँगे मनिकंचन किये, सौंघे जग जल नाज ॥" (दोहावली ५७३, १४८); आगे गरीब-निवाजी के उदाहरण भी देंगे।

'पाइ लोचन फल'; यथा—"देखिहौं जाइ चरन जलजाता। अरुन मृदुल सेवक सुखदाता ॥" (मा० सुं७ ४१); "होइहैं सुफल आजु मम लोचन।

देखि बदन पंकज भव-मोचन ॥" (मा० अर० ६); "राम चरन बारिज जब देखउँ । तब निज जनम सफल करि लेखउँ ॥" (मा० उ० १०६)।

'हित सुर-साधु-समाज के'; यथा—"बिप्र धेनु सुर संत हित, लीन्ह मनुज अवतार।" (मा० बा० १६२)।

'गई-बहोर'; यथा—"गई बहोर गरीब-निवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू ॥" (मा० बा० १२); 'ओर निर्वाहक'—जैसे सुग्रीवजी की मैत्री में प्रतिज्ञा के प्रतिकूल करने पर भी सुग्रीव की मैत्री का अन्त तक निर्वाह ही किया है। दंड देने पर उद्यत श्रीलक्ष्मणजी को रोका है। 'साजक...'—सुग्रीवजी के बिगड़े हुए साज को फिर भी सजाया है तथा उनकी गई हुई प्रभुता को भी लौटा दिया है, यह तात्कालिक उदाहरण है।

'सबरी सुखद' गीध-गतिदायक...'—शबरीजी को माता मान कर उनके यहाँ भोजन करके अत्यन्त सुख दिया है। माता के हृदय में पुत्र को भोजन कराने में ही सुख होता है। तथा—"सबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्ह रघुनाथ।" (मा० बा० २४)। 'समन सोक कपिराज के'; यथा—"बालि त्रास ब्याकुल दिनराती। तन बहु ब्रन चिंता जर छाती ॥ सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ। अति कृपाल रघुबीर सुभाऊ ॥" (मा० कि० ११); "सोक-श्रम-सींव सुग्रीव आरति हरन।" (पद ४३)।

'आरति-हरन'; यथा—"आरति-हरन शरन-सुखदायक।" (मा० अर० २८); 'सरन समरथ'; यथा—"सरन को समरथ तुलसिहु ताके हैं।" (बा० ६२)। 'समरथ' यह पद दीप देहली रूप से दोनों ओर है। अतः, अपने का लाज रक्षण में भी समर्थ हैं, यह अर्थ किया गया है।

'तुलसी पाहि...'—यदि 'तुलसी' इस पद को कवि-वाचक मान कर पृथक् कर दिया जाय तो यह भी विभीषणजी का वचन हो जाता है और ऐसा होना उपयुक्त भी है। आगे ने 'पाहि' कह कर रक्षण याचना करेंगे भी; यथा—"त्राहि-त्राहि आरति-हरन सरन सुखद रघुबीर। (मा० सुं० ४५); "राखिये मोहिं सौमित्रि-सेवित चरन।......'दास तुलसी सदय हृदय रघुबंश मनि, पाहि कहे क़ाहि कीन्हों न तारन-तरन ॥" (पद ४३)। 'मोहुँ से निपट निकाज के';

यथा—"सब बिधि हीन अति जड़ मति जाकहँ कतहुँ न ठाउँ। आए सरन भजौं, न तजौं तेहि, यह जानत रिषिराउ ॥" (पद ४५)।

आधुनिक प्रतियों में 'सबरी सुखद...' इस पंक्ति के नीचे—

"नाहिन मोहिं और कतहूँ कछु, जैसे काग जहाज के।
आयो सरन सुखद पद पंकज चौंथे रावन बाज के॥"

ये पंक्तियाँ भी हैं, पर प्राचीन भागवतदासजी एवं हरिहरप्रसादजी की प्रतियों में नहीं हैं। अतः क्षेपक हैं। इनकी रचना भी उपयुक्त नहीं जँचती।

[३०]

महाराज राम पहँ जाउँगो।
सुख-स्वारथ परिहरि करिहौं सोइ, ज्यों साहिबहि सुहाउँगो ॥१॥
सरनागत सुनि बेगि बोलि हैं, हौं निपटहि सकुचाउँगो।
राम गरीब-निवाज निवाजि हैं, जानिहैं ठाकुर-ठाउँ गो ॥२॥
धरिहैं नाथ हाथ माथे, एहि ते केहि लाभ अघाउँगो?
सपनो-सो अपनो न कछू लखि लघु लालच न लोभाउँगो ॥३॥
कहि हौं, बलि, रोटिहा रावरो, बिनु मोलही बिकाउँगो।
'तुलसी' पट ऊतरे ओढ़िहौं, उबरी जूठनि खाउँगो ॥४॥

अर्थ—'मैं महाराज श्रीरामजी के पास जाऊँगा। वहाँ मैं सुख और स्वार्थ त्याग कर वही करूँगा, जिस प्रकार स्वामी को मैं अच्छा लगूँ ॥१॥ मुझे अपनी शरण में आया हुआ सुन कर वे शीघ्र ही बुलावेंगे और मैं (अपने को उनके शत्रु का भाई समझ कर) अत्यन्त सकुचाऊँगा; परन्तु गरीब-निवाज श्रीरामजी मुझ पर कृपा करेंगे। अतः, मुझे स्वामी-रहित (अनाथ) और स्थान-रहित (स्थान भ्रष्ट एवं अनिकेत तथा ठौर-ठिकाना-रहित) जानेंगे ॥२॥ वे नाथ (स्वामी) होकर मेरे शिर पर हाथ रक्खेंगे! इससे बढ़ कर और कौन लाभ होगा जिससे मैं अघाऊँगा? सांसारिक सभी पदार्थ स्वप्न की-सी सम्पत्ति के समान हैं। अतः, इनमें कुछ भी अपना न समझ कर इनकी तुच्छ लालचों में न लुभाऊँगा' ॥३॥ मैं कहूँगा—'मैं आपकी बलिहारी जाता हूँ' मैं आपका केवल भोजन पर रहने वाला दास हूँ, विना मूल्य पर ही मैं आपके हाथ बिकाऊँगा, आपका उतरा हुआ वस्त्र ही ओढ़ूँगा और आपके बचे हुए जूठन ही खाऊँगा ॥४॥

विशेष—'महाराज राम पहँ...'—यहाँ इस पद में 'आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः' इस शरणागति के अंग की भावना की गई है।

'सुख-स्वारथ परिहरि....'; यथा—"सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई। ये सब राम भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥" (मा० कि० ६); "सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥" (मा० अ० ३००)। "सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥" (मा० उ० ७०); 'ज्यों साहिबहिं सुहाउँगो'; यथा—"दीजै सोइ आयसु तुलसी प्रभु जेहि तुम्हरे मन भावउँ॥" (लं० ८); तथा—"पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू॥" (मा० बा० ३३३)।

'सरनागत सुनि बेगि बोलिहैं'—आगे ऐसा ही कहा गया है; यथा—"तुलसी, 'बोलिये बेगि', लखन सों भइ महराज रजाइ है।" (पद ३४)। 'हौं निपटहि सकुचाऊँगो'—सकुचाने के कारण इसी प्रसंग में अन्यत्र कहे गये हैं; यथा—"नाथ दसानन कर मैं भ्राता। निसिचर बंस जनम सुरत्राता॥ सहज पापप्रिय तामस देहा। जथा उलूकहिं तम पर नेहा॥ श्रवन सुजस सुनि आयेउँ..." (मा० सुं० ४४-४५); तथा—"तुम्हरे रिपु को अनुज बिभीषन, बंस निसाचर जायो। सुनि गुन सील सुभाउ नाथ को मैं चरननि चित लायो॥" (पद ४४)।

'राम.....जानिहैं ठाकुर-ठाउँगो'—यहाँ गरीब-निवाज श्रीरामजी का कृपा करना यही है जो वे मुझे अनाथ समझ कर मेरे नाथ होंगे और ठौर-ठिकाना रहित जान कर अपने यहाँ ठौर देंगे, यही आगे साथ ही कहते हैं—

'धरिहैं नाथ हाथ माथे'—'नाथ' यह विशेषण अनाथ के नाथ होने पर दिया गया है और शिर पर हाथ रखने में अपना आश्रय देने एवं रक्षकत्व के भाव हैं, इसमें ठौर देना भी हो गया है।

'एहि ते केहि लाभ...'—श्रीरामजी अपना करकमल शिर पर रख कर अपना आश्रित बना लें, इससे बढ़ कर और कोई लाभ ही नहीं है। यथा—"कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ। दीन दयाल सकल दुख हरेऊ॥ कीन्ह राम मोहिं बिगत बिमोहा। सेवक सुखद कृपा संदोहा।" (मा० उ० ८२.)। तथा—"कबहुँ सो कर-सरोज रघुनायक। धरिहौं नाथ सीस मेरे......सीतल

सुखद छाँह जेहि कर की, मेटति पाप, ताप, माया। निसिबासर तेहि कर-सरोज की, चाहत तुलसीदास छाया ॥" (वि० १३८)।

'सपनो-सो, अपनो न कछू'; यथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि-भजन जगत सब सपना ॥" (मा० अर० ३८); तथा - "मोह निसा सब सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा ॥ एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी ॥ जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा ॥ होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा ॥ सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू ॥" (मा० अ० ९२)। परमार्थ का ज्ञान होने पर विषय-स्पृहा स्वतः निवृत्त हो जाती है—दोहावली २५३-२५४ देखिये।

'रोटिहा रावरो''पट ऊतरे ओढ़ि हौं'''—इससे प्रभु-शेषत्व वृत्ति की अभिलाषा है; यथा—"प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहै नित नासा ॥ तुम्हहिं निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं ॥" (मा० अ० १२८)। शेषत्व = स्वामी का भोग्यभूत होकर रहना, यहाँ तक इन दो पदों में 'आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः' की भावना कही गई।

[३१]

आइ सचिव बिभीषन के कही।
कृपासिंधु दसकंध बंधु लघु चरन-सरन आयो सही ॥ १ ॥
बिषम बिषाद बारिनिधि बूड़त थाह कपीस-कथा लही।
गये दुख दोष देखि पद पंकज अब न साध एकौ रही ॥ २ ॥
सिथिल सनेह सराहत नख सिख नीकि निकाई निरबही।
तुलसी मुदित दूत भयो, मानहुँ अमिअ-लाहु माँगत मही ॥ ३ ॥

अर्थ—[सागर इस पार वानर सेना के पास पहुँचने पर] श्रीविभीषणजी के मन्त्री ने आकर श्रीरामजी से कहा—"हे कृपासागर ! रावण का छोटा भाई विभीषण निष्कपट भाव से आपके चरणों की शरण में आया है ॥ १ ॥ वह तीक्ष्ण विषाद रूप सागर में डूब रहा था, उसी समय उसे श्रीसुग्रीवजी की कथा रूप थाह मिल गई (कि श्रीरामजी ने वाली के भय से प्रपन्न सुग्रीवजी की रक्षा की है तो रावण भय से मेरी भी रक्षा करेंगे)। अब आपके

चरण कमलों का दर्शन करके उसके सभी दुःख और दोष निवृत्त हो गये। अब उसकी एक भी कामना पूरी होने को नहीं रह गई ॥ २ ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वह स्नेह में शिथिल होकर सराहना करता है कि नख से शिखा तक शरीर की सुन्दरता एकरस निबह गई है। वह दूत ऐसा आनन्दित हुआ मानों उसे मट्ठा माँगते हुए अमृत मिल गया हो ॥ ३ ॥

विशेष—'आइ सचिव...'—श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण और श्रीराम-चरितमानस में श्रीविभीषणजी ने स्वयं आकाश में स्थित होकर कहा है एवं सुग्रीवजी के द्वारा कहलाया है; परन्तु यहाँ मन्त्री को भेज कर उसके द्वारा कहलाना कहा गया है, यह कल्पभेद की कथा हो सकती है। 'आयो सहीं'; यथा—"कहो, क्यों न बिभीषन की बनै ?। गयो छाँड़ि छल सरन राम की, जो फल चारि चार्यो जनै ॥" (पद ४०)। 'दसकंध्र बंधु लघु'—इसमें उपर्युक्त पद के 'हौं लिपटहि सकुचाउँ गो' इसपर उद्धृत प्रसंग देखिये। आगे अपने आने का हेतुभूत विरुद कहता है—

'विषम विषाद बारिनिधि बूड़त...'; यथा—"नाहिन भजिबे जोग बियो। श्रीरघुबीर समान आन प्रभु पूरन कृपा हियो ।|...बालि त्रास बारिधि बूड़त कपि केहि गहि बाँह लियो ? ॥" (पद ४६); तथा—"सुजस सुनि श्रवन हौं नाथ ! आयो सरन। उपल-केवट-गीध सबरी-संसृति-समन, सोक-श्रम-सींव सुग्रीव आरति हरन ॥" (पद ४३)।

'गये दुख दोष देखि पद पंकज'; यथा—"जब ते प्रभु पद पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे ॥" (मा० अ० २५०); तथा—"बोलि लंकेस कहि अंक भरि भेंटि प्रभु तिलक दियो दीन दुख दोष दारिद दरन ॥" (पद ४३); "कबहुँ देखाइहौ हरि चरन।...बिप्रतिय नृग बधिक के दुख-दोष दारिद दरन।" (वि० २१८)। चरण-दर्शन से भव-भय का दुःख मिटा क्योंकि श्रीरामजी केसभी अंग भव-भय-मोचन हैं; यथा—"पाथोद गात, सरोज मुख, राजीव आयत लोचनं। नित नौमि राम कृपालु बाहु बिसाल, भव-भय मोचनम् ॥" (मा० अर० ३१); और प्रभु-पद-विमुखता का दोष मिटा; क्योंकि प्रभु-दर्शन से इनमें अनन्य भक्ति हो गई; यथा—"देव ! देखि तब बालक दोऊ। अब न आँखि तर आवत कोऊ ॥" (मा० बा० २९२)।

'अब न साध एकौ रही'; यथा—"लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हारे दरस आस सब पूजी॥" (मा० अ० १०६); तथा—"ज्ञात्वा देवं···केवल आप्तकामः।" (श्वेता० १।११)।

'नख-सिख नीकि निकाई निरबही'; यथा—"नख-सिख सुंदर बंधु दोउ सोभा सकल सुदेस।" (मा० बा० २१९)। "कुँवर सुंदर साँवरो···नख-सिख अंग-अंग निबाहु।" (बा० ६७)।

'अमिअ लाहु माँगत सही'—यहाँ उत्प्रेक्षा से पुष्ट ललित अलंकार है। यहाँ संदेश-श्रवण की यांचा मट्ठा की यांचा है और प्रभु-सुन्दरता अमृत की प्राप्ति के समान है, क्योंकि अब भव-भय मिटा, यह नित्य अमरत्व मिला।

[३२]

बिनती सुनि प्रभु प्रमुदित भये।
रीछराज, कपिराज, नील, नल बोलि बालिनन्दन लये॥१॥
बूझिये कहा? रजाइ पाइ नय धरम सहित ऊतर दये।
बली बंधु ताको जेहि बिमोह-बस बयर-बीज बरबस बये॥२॥
बाँह-पगार! द्वार तेरे तें सभय न कबहूँ फिरि गये।
'तुलसी' असरन-सरन स्वामि के बिरुद बिराजत नित नये॥३॥

अर्थ—श्रीविभीषणजी के मन्त्री की प्रार्थना सुन कर प्रभु श्रीरामजी परम प्रसन्न हुए। तब उन्होंने श्रीजाम्बवान्जी, श्रीसुग्रीवजी, श्रीनीलजी और श्रीनल जी तथा वाली पुत्र श्रीअङ्गदजी को बुला लिया॥१॥ [उनसे पूछा-] 'इस सम्बन्ध में आप लोग क्या समझते हैं?' प्रभु की इस प्रकार की आज्ञा पाकर उन लोगों ने नीति और धर्म के साथ उत्तर दिये कि यह (सशस्त्र चार मन्त्रियों के साथ) स्वयं बलवान् है और यह उसका भाई है जिसने विशेष मोहवश होकर हठात् बैर का बीज बोया है (अतः, इस पर सहसा विश्वास न कर इससे सतर्क रहना ही चाहिये—यह नीति के साथ का उत्तर है)॥२॥ तथा हे बाँह पगार (अपनी भुजा रूप दीवार की आड़ में आश्रित की रक्षा करने वाले)! आपके द्वार पर आकर वहाँ से कोई भयभीत लौट कर (असफल होकर) नहीं गये। हे अशरण शरण! हे स्वामी! इस प्रकार के आपके नित्य नये विरुद विराजमान हैं (यह धर्म के साथ का उत्तर है)॥३॥

विशेष –'बिनती सुनि प्रभु···'—शरण-रक्षण में समर्थ हैं, इससे 'प्रभु' कहा गया है, इसी से उत्साह पूर्वक प्रसन्न हुए हैं।

'रीछराज, कपिराज···'—वाल्मी० ६।१७ में भी श्रीरामजी ने इसी प्रकार मन्त्रियों से विचार किया है। वहाँ के शरभ और मयंद के स्थान पर यहाँ 'नील-नल' हैं। श्रीहनुमान्‌जी का नाम यहाँ नहीं है, परन्तु उनका विषय अंतिम चरण में है।

'बली, बंधु ताको जेहि···' इसमें श्रीसुग्रीवजी से लेकर श्रीअङ्गद तक के मत आ गये। इन लोगों ने वाल्मीकीय में भी नीति के अनुसार ही उत्तर दिये हैं। 'बिमोह बस'—रावण ने मृग-परीक्षा में श्रीरामजी को मनुष्य मात्र मान लिया, यही इसका विशेष मोहवश होना है, स्वस्वरूप में भ्रम को मोह और ईश्वर में मोह होने को महामोह एवं विशेष मोह कहते हैं। कपट वेष कर छल से सीता-हरण कर उसने हठात् बैर का बीज बोया है, तब पीछे भी वह छल एवं विश्वासघात से हानि कर सकता है। अतः, नीति की दृष्टि से तो इस पर सहसा विश्वास नहीं ही करना चाहिये।

'बाँह पगार ! द्वार तेरे ते···'—शरण-रक्षण धर्म बहुत विशेष धर्म है, श्रीरामजी इसमें आरूढ़ हैं। अतः, इन्हें बाँह-पगार कहा गया है। आपके द्वार से कभी कोई सभीत विमुख नहीं गये। आप अशरण शरण हैं, स्वामी हैं, ये विरुद आपके नित्य नये विराजमान हैं—इन कथनों में वहाँ के हनुमान्‌जी के समर्थन एवं उनके आधार पर कहे हुए स्वामी के 'मित्रभावेन सम्प्राप्तं···' से लेकर 'सकृदेव प्रपन्नाय···' तक के भाव हैं। वहाँ भी पीछे श्रीसुग्रीवजी ने स्वामी के इस शरण्य गुण की प्रशंसा ही की है। 'असरन-सरन' अर्थात् जिसका शरण्य (रक्षक) कोई न हो, उसकी रक्षा करने वाले; यथा-"रावन रिपुहि राखि रघुबर बिनु को त्रिभुवन पति पाइहै।" (पद ३४)।

'स्वामि'—आश्रित का सम्यक् प्रकार से रक्षण-पालन करने वाला स्वामी एवं ठाकुर है। तथा—"सीव न चाँपि सको कोऊ तब जब हते राम कन्हाई। अब तुलसी गिरिधर बिनु गोकुल कौन करिहि ठकुराई ?" (कृष्ण गी० ३२); "साँसति करि पुनि करहिं पसाऊ। नाथ ! प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ॥" (मा० बा० ८८)। 'सभय न काहू फिरि गये'; यथा—"अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येदद्-

व्रतं मम।" (वाल्मी० ६।१८।३३); तथा—"जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रान की नाई॥" (मा० सुं० ४३)।

'नित नये'—शरणागति धर्म सर्व काल में निर्बाध चला आता है। इसी से इस कलिकाल में भी बहुत लोगों का कल्याण हो रहा है।

[३३]

हिय बिहँसि कहत हनुमान सों।
सुमति साधु सुचि सुहृद बिभीषन बूझि परत अनुमान सों॥१॥
'हौं बलि जाउँ, और को जानै?' कही कपि कृपा-निधान सों।
छली न होइ स्वामि सनमुख ज्यों तिमिर सातहयजान सों॥२॥
खोटो खरो सभीत पालिये सो सनेह सनमान सों।
'तुलसी' प्रभु कीबो जो भलो सोइ बूझि सरासन-बान सों॥३॥

अर्थ—स्वामी श्रीरामजी हृदय में निहँस कर श्रीहनुमान्जी से कहने लगे कि मुझे अनुमान से समझ पड़ता है कि श्रीविभीषणजी सुन्दर बुद्धि वाले, साधु पवित्र और सुहृद ही हैं॥१॥ तब वानर श्रीहनुमान्जी ने कृपानिधान श्रीरामजी से कहा—'मैं आपकी बलिहारी जाऊँ आपके अतिरिक्त इस विषय में और कौन जान सकता है? छली व्यक्ति स्वामी के सामने उसी प्रकार नहीं हो सकता, जिस प्रकार अंधकार सात घोड़ों के रथ वाले सूर्य के सामने नहीं आ सकता॥२॥ यह शरणागत विभीषण चाहे खरा हो और चाहे खोटा हो, यदि भयभीत होकर शरण में आया है तो इसका स्नेह और सम्मान से पालन ही करना चाहिये और, हे प्रभो! आपको तो अपने धनुष और बाण से ही पूछ कर जो करना है, वही अच्छा है (क्योंकि आप परम समर्थ हैं, फिर कोई भी खरा हो और चाहे खोटा हो, आपका क्या कर सकता है?)' ॥३॥

विशेष—'हिय बिहँसि कहत हनुमान सों'—वाल्मी० ६।१७।६२-६४ में श्रीहनुमान्जी ने श्रीविभीषणजी के विषय में अपना अनुमान कहा है—"जैसा यह बोल रहा है, उससे इसके दुष्ट भाव होने का लक्ष्य नहीं होता, इसका मुख प्रसन्न है, इससे इसके विषय में मुझे सन्देह नहीं है। मन में कपट रखने वाला निःशङ्क और प्रफुल्ल होकर, पास नहीं आ सकता। इसके वचन भी दूषित नहीं हैं, इससे मुझे इसके विषय में संदेह नहीं है। भीतर के भाव के अनुसार ही

मनुष्य की आकृति हो जाती है, यदि कोई आकार छिपाना चाहे तो नहीं छिपा सकता। आकार ही मनुष्य के भीतर के भाव को प्रकट कर देता है।"

यहाँ श्रीरामजी भी अपने अनुमान से उसी का समर्थन करते हैं और सुमति आदि विशेषणों का भी उसमें विशेष अनुमान है कि यह सुमति है, इससे इसने रावण को समझाया है, साधु है; इसके उसके हित करने में अपमान भी सहा है। शुचिता एवं सुहृद होने के भाव इसकी आकृति से प्रकाशित हो रहे हैं।

'हौं बलि जाउँ...'—अपने पक्ष समर्थन एवं शरण्य-धर्म-रक्षण पर श्री-हनुमान्‌जी बलिहार हो रहे हैं और स्वामी में कृपा निधानता कह रहे हैं। 'और को जानै ?' इसमें स्वामी की सुजानता प्रकट कर रहे हैं।

'छली न होइ स्वामि सनमुख...'—स्वामी के लक्षण ऊपर पद में कहे गये, ऐसे निग्रह और अनुग्रह करने में समर्थ स्वामी के सामने छली नहीं जा सकता, क्योंकि उसे भय रहता है कि मेरे हृदय का कपट आकृति से प्रकट हो ही जायगा तो स्वामी कड़ा दण्ड देंगे। हृदय का कपट आकृति में आ ही जाता है, यह ऊपर वाल्मीकीय रामायण के प्रमाण से कहा गया है। जैसे अन्धकार सूर्य के समक्ष होते ही नष्ट हो जाता है, वैसे छली स्वामी के सामने जाते ही कराल दण्ड से नष्ट हो जाता है। तथा—"जो पै दुष्ट हृदय सोइ होई। मोरे सनमुख आव कि सोई॥" (मा० सुं० ४३)।

'खोटो खरो सभीत पालिये...'—सभीत शरणागत के दोष और गुण पर ध्यान नहीं दिया जाता; यथा—"मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथंचन। दोषो यद्यपि तस्य स्यात्सतामेतदगर्हितम्॥" (वाल्मी० ६।१८।३); अर्थात् यदि यह मित्र भाव से (विश्वासपूर्वक) सम्यक् प्रकार से (शरणागति के षडाङ्गों के साथ) प्राप्त हुआ है तो मैं इसका त्याग कभी नहीं कर सकता। सम्भव है, इसमें दोष हों, परन्तु दोषी शरणागत का ग्रहण करना भी सज्जनों की दृष्टि में निन्दित नहीं है। तथा—"जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रान की नाईं॥" (मा० सुं० ४३)।

'प्रभु कीबो...बूझि सरासन-बान सों।'—भाव यह कि आप धनुर्बाण से परम समर्थ हैं। अतः, कोई भी खोटा-खरा आपका कुछ बिगाड़ नहीं सकता, तब आपको इसमें शङ्का ही क्या है ?; यथा—"स दुष्टो वाप्यदुष्टो वा किमेष

रजनीचरः । सूक्ष्मप्यहितं कर्त्तुं मम शक्तः कथंचन ॥ पिशाचान्दानवान्यक्षान्पृथि-व्यां चैव राक्षसान् । अङ्गुल्यग्रेण तान्हन्यामिच्छन्हरिगणेश्वर ॥" (वाल्मी० ६। १८।२२-२३)। अर्थात् दुष्ट हो या साधु, क्या यह राक्षस मेरा थोड़ा भी अन-हित कर सकता है ? सारे संसार के पिशाच, दानव, यक्ष और राक्षसमात्र को मैं अँगुली के अग्र भाग से इच्छा करने पर मार सकता हूँ। तथा—"भेद लेन पठवा दससीसा । तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा ॥ जग महँ सखा निसाचर जेते । लछिमन हनहिं निमिष महँ तेते ॥" (मा० सुं० ४३)।

इन भावों को लेकर हनुमानूजी कहते हैं कि आप प्रभु हैं। अतः, औरों से न पूछ कर अपने धनुर्बाण के बल पर इसे ग्रहण कर सकते हैं, उसी में भला होगा । हम लोगों से पूछना तो हमें आदर देना है ।

[३४]

साँचे हूँ बिभीषन आइहै ?

बूझत बिहँसि कृपालु, लखन सुनि कहत सकुचि सिर नाइ है ॥१॥
ऐहै कहा, नाथ ! आयो ह्याँ, क्यों कहि जाति बनाइ है ।
रावन-रिपुहि राखि रघुबर बिनु को त्रिभुवन पति पाइ है ॥२॥
प्रभु प्रसन्न, सब सभा सराहति, दूत बचन मन भाइ है ।
तुलसी, 'बोलिये बेगि', लखन सों भइ महराज रजाइ है ॥३॥

अर्थ—कृपालु श्रीरामजी बिहँस कर पूछते हैं 'क्या सत्य ही विभीषण मेरे यहाँ आयेगा ?' यह सुन कर शिर नवा कर सकुचाते हुए श्रीलक्ष्मणजी ने कहा ॥१॥ हे नाथ ! आवेगा क्या, वह यहाँ आ गया है। आपके समक्ष यह बात बना कर (असत्य) कैसे कही जा सकती है ? रावण के शत्रु को अपने पास रख कर श्रीरघुनाथजी के अतिरिक्त तीनों लोकों में ऐसा कौन है जो प्रतिष्ठा (गौरव एवं सकुशल स्थिति) पा सकता है ॥२॥ यह सुन कर प्रभु श्रीरामजी प्रसन्न हैं, सब सभा सराहना कर रही है। ये वचन श्रीविभीषणजी के भेजे हुए दूत के मन भाये हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उसी समय श्रीमहाराज श्रीराम जी ने श्रीलक्ष्मणजी को आज्ञा दी कि…'(शरणागत-श्रीविभीषणजी को) शीघ्र बुला लाइये' ॥३॥

विशेष—'साँचेहू बिभीषन आइ है?'—"मित्रभावेन सम्प्राप्तम्...." (वाल्मी० ६।१८।३); महर्षिजी के इस 'सम्प्राप्तम्' पर आचार्यों ने कहा है कि यदि एक अंग शरणागति के साथ आता, तब भी मेरे लिये आनन्दकर होता, यह तो सम्यक् प्रकार से प्राप्त है, प्रपत्ति के छहों अङ्गों के साथ आया है। अतः यह मुझे भाग्य से प्राप्त हुआ है। उसी प्रकार इस पद में स्वामी के हृदय की प्रपन्न-ग्रहण पर अत्यन्त अभिलाषा कही गई है। कहा भी है—"जासु कृपा नहिं कृपा अघाती॥" (मा० बा० २७); 'बूझत बिहँसि कृपालु' इस वाक्य से यहाँ कृपा-व्यापार की सराहना की गई है।

'क्यों कहि जात बनाइ है'—'साँचेहू' पद के प्रति लक्ष्मणजी कहते हैं कि आपके समक्ष कोई बना कर असत्य कैसे कह सकता है? वह तो सत्य ही आया है। आगे उसके यहाँ आने का कारण कहा है—

'रावन-रिपुहि राखि...'—रावण त्रिलोक-विजयी है। अतः, उसके शत्रु इस विभीषण को तीनों लोकों का कोई भी व्यक्ति क्या रख कर अपनी मान मर्यादा के साथ ठहर सकता है? ऐसी स्थिति में आपकी शरणागति के अतिरिक्त उसे ठौर ही कहाँ था, जहाँ वह जाता। श्रीलक्ष्मणजी ने सूचित किया कि आप ही एक तीनों लोकों में 'अशरण्य-शरण्य' हैं; अर्थात् जिसका शरण्य कोई कहीं न हो उसे भी अपनी शरण में रख कर उसकी रक्षा कर सकते हैं। ऐसा विचार कर ही तो वह यहाँ आया है।

'प्रभु प्रसन्न...'—श्रीलक्ष्मणजी के वचन सुन कर प्रभु प्रसन्न हैं कि अच्छा-प्रपत्ति के षडङ्ग पूर्ण प्रपन्न आया है और सारी सभा प्रभु के इस 'अशरण्य शरण्य' विरुद की एवं श्रीलक्ष्मणजी की इस उक्ति की सराहना कर रही है दूत के आनन्द का कहना ही क्या? उसका तो मनभाया ही हुआ है।

'बोलिये बेगि'—यहाँ मंत्रणा में कुछ विलम्ब हो गया, इससे प्रभु विचारते हैं कि इसमें तो द्वार पर ठहरे हुए प्रपन्न की अवहेलना हो रही है, इससे कहा कि 'शीघ्र बुला लाइये'। श्रीलक्ष्मणजी के प्रति आज्ञा हुई; क्योंकि वह रावण का छोटा भाई है तो उसे लेने के लिये मेरे छोटे भाई ही जायँ, यह प्रपन्न का आदर है; यथा—"केहि दिवान दिन दीन को आदर अनुराग बिसेखि॥" (वि० १९१)।

[३५]

चले लेन लखन-हनुमान हैं।

मिले मुदित बूझि कुशल परस्पर, सकुचत करि सनमान हैं ॥१॥
भयउ रजायसु, पाउँ धारिये, बोलत कृपा-निधान हैं।
दूरि ते दीनबंधु देखे, जनु देत अभय-बरदान हैं ॥२॥
सील सहस हिमभानु, तेज सतकोटि भानु हूँ के भानु हैं।
भगतनि को हित कोटि मातु-पितु, अरिन्ह को कोटि कृसानु हैं ॥३॥
जन गुन रज,गिरि गनि, सकुचत निज गुन गिरि रज परमानु हैं।
बाँह-पगार, बोल को अबिचल, बेद करत गुनगान हैं ॥४॥
चारु चाप-तूनीर तामरस-करनि सुधारत बान हैं।
चरचा चलति बिभीषन की, सोइ सुनत सुचित दै कान हैं ॥५॥
हरषत सुर, बरषत प्रसून सुभ सगुन कहत कल्यान हैं।
तुलसी ते कृतकृत्य, जे सुमिरत समय सुहावनो ध्यान हैं ॥६॥

अर्थ—श्रीविभीषणजी को लेने के लिये श्रीलचमणजी और श्रीहनुमानजी चले। वहाँ प्रसन्नतापूर्वक मिले, परस्पर कुशल पूछ कर सम्मान करने पर सकुचते हैं ॥१॥ इन्होंने कहा—'कृपानिधान श्रीरामजी बुला रहे हैं। अतः, पधारिये।' श्रीविभीषणजी ने दूर से ही देखा तो दीनबन्धु श्रीरामजी ऐसे देख पड़े, मानों अभय होने का वरदान दे रहे हों ॥२॥ शील में वे सहस्रों चन्द्रमाओं के समान और तेज में तो वे सौ करोड़ सूर्यों के भी सूर्य तथा भक्तों के लिये वे करोड़ों माता-पिता के समान एवं शत्रुओं को (भस्म करने में) करोड़ों अग्नियों के समान हैं ॥३॥ वे अपने भक्तों के धूल कण के बराबर गुण को भी पहाड़ के समान मानते हैं और भक्तों के प्रति वर्ते हुए अपने पहाड़ के समान गुण को धूल के समान अल्प मान कर सकुचाते रहते हैं (कि मैंने इसके प्रति कुछ नहीं किया)। आश्रित रक्षण में आप 'बाँह पगार' हैं और सत्य प्रतिज्ञ हैं—ऐसा कह कर वेद उनके गुणों का गान करते हैं ॥४॥ आप सुन्दर धनुष और तर्कश धारण किये हुए हैं तथा करकमलों से बाण सुधार रहे हैं। श्रीविभीषणजी की चर्चा चल रही है, उसे एकाग्र चित्त से कान लगा कर सुन रहे हैं ॥५॥ देवगण हर्षित होकर फूलों की वर्षा कर रहे हैं और शुभ शकुन कल्याण की सूचना दे

रहे हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वे लोग कृतकृत्य हैं जो उस समय के उस सुहावने ध्यान का स्मरण करते हैं ॥६॥

विशेष—'चले लेन लखन हनुमान हैं'—श्रीरामचरित-मानस और श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में श्रीलक्ष्मणजी का लेने के लिये जाना नहीं लिखा गया है। पर यहाँ स्पष्ट लिखा है, यह कल्पभेद चरित है। श्रीरामजी की ओर से उनके छोटे भाई हैं और श्रीसुग्रीवजी की ओर से उनके प्रधान मंत्री श्रीहनुमानूजी हैं; क्योंकि श्रीविभीषणजी रावण के भाई होते हुए प्रधान मंत्री भी थे। इसी से नीति पूछने में सब मंत्रियों से पूछ कर पीछे उसने इनसे पूछा था। रावण ने श्रीहनुमानूजी को वध की आज्ञा दे दी थी, प्रधान मंत्री विभीषणजी ने रोका था और अन्त में इनका ही मत रह गया था।

'मिले मुदित बूझि...'—'परस्पर' पद कुशल पूछने और सकुचाने के साथ दीप देहली रूप से है। परस्पर कुशल पूछते हैं। श्रीलक्ष्मणजी और श्री-हनुमानूजी सम्मान करके इससे सकुचा रहे हैं कि जैसा चाहिये, वैसा सम्मान हमारी ओर से नहीं हो पाया और श्रीविभीषणजी इधर के किये हुए विशेष सम्मान से सकुचते हैं कि मैं इतने सम्मान के योग्य नहीं हूँ, पर सब अधिकता ही हो रही है।

'भयउ रजायसु....'—यह इधर से श्रीलक्ष्मण आदि ने कहा है। 'बोलत कृपानिधान हैं' इसका भाव यह है कि आपको बुलाने में प्रभु की बड़ी कृपा है। अपने मंत्रियों से शास्त्रार्थ कर आपको शीघ्र पराने की आज्ञा है।

'दूरि तें दीनबंधु देखे...'; यथा—"दूरिहि ते देखे दोउ भ्राता। नयनानंद दान के दाता॥" (मा० सुं० ४४)। दूर से आपकी मुद्रा देखने में ऐसी लगती है मानो दीनों को अभय-वरदान दे रहे हैं कि यदि दीन हो तो निर्भय होकर मेरी शरण में आ जाओ, मैं सब से अभय देने वाला हूँ। भगवान् की प्रतिज्ञा है—'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम' श्रीविभीषणजी इस सनातनी प्रतिज्ञा का स्मरण करते आ रहे हैं, उनके भावानुसार प्रभु उन्हें वैसे ही देख पड़े; यथा—"जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥" (मा० बा० २४०); तथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥" (गीता ४।११)।

'सील सहस हिमभानु…'; यथा—"काम से रूप, प्रताप दिनेस से, सोम से सील, गनेस से माने।" (क० उ० ४३); "रबि सत कोटि प्रकास। ससि सत कोटि सुसीतल…" (मा० उ० ९१)। 'तेज सत…'—इसमें 'तेज और प्रताप दोनों के भाव हैं। सूर्य में असह्य तेज और प्रताप दोनों ही होते हैं। गीता ११।२२ में तेज देखिये। प्रताप; यथा—"जब ते राम प्रताप खगेसा। उदित भयेउ अति प्रबल दिनेसा॥" (मा० उ० ३०)।

यहाँ शील देख कर श्रीविभीषणजी को भरोसा होता है कि मेरे पापों से घृणा न कर मेरा आदर करेंगे और तेज प्रताप से उन्हें भरोसा होता है कि इनकी शरण होने से रावण का भय नहीं है, वह तो इनके समक्ष भस्म हो जायगा। यहाँ 'चतुर्थ प्रतीपालङ्कार' है।

'भगतनि को हित…'—माता-पिता स्वतः सन्तान के कल्याण में रत रहते हैं, वैसे प्रभु भक्तों के हित में सदा रत रहते हैं; यथा—"हरि भगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्ट देव इव सब सुख दाता॥" (मा० बा० २४१)।

'अरिन्ह को कोटि कृसानु हैं'; यथा—"रामः परबलामर्दी युगान्ताग्निरिवोत्थितः।" (वाल्मी० ४।१५।१९); अर्थात् श्रीरामजी शत्रु सेना का नाश करने में उठी हुई प्रलय की अग्नि के समान हैं। तथा—"सकल सुरासुर जुरहि जुझारा। रामहिं समर न जीतनिहारा॥" (मा० अ० १८८) "धूमकेतु सत कोटि सम, दुराधरष भगवंत॥" (मा० उ० ९१)।

यहाँ 'विशेष' से पुष्ट 'प्रतीप का चौथा भेद' अलङ्कार है।

'जन गुन रज…'; यथा—"जन गुन अलप गनत सुमेरु करि…" (वि० २०६); "मेरु से दोष दूरि करि जन के रेनु से गुन उर आने।" (वि० २३६); "गुन गहि अघ अवगुन हरे…" (वि० १०७)। तथा—"किञ्चित्करोत्युर्वपि यत् स्वदत्तं सुहृत्कृतं फल्ग्वपि भूरिकारी।" (भाग० १०।८१।३५); अर्थात् सुदामा जी मन में कहते हैं कि भगवान् भक्तों के दिये हुए अति तुच्छ उपहार को भी अत्यन्त अधिक मानते हैं और अपने अत्यन्त अधिक दान को भी स्वल्प ही समझते हैं। "जो संपति सिव रावनहिं, दीन्हि दिये दस माथ। सोइ संपदा बिभीषनहिं, सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥" (मा० सुं० ४९)।

'बाँह पगार'; यथा—"बाँह-पगार! द्वार तेरे ते सभय न काहू फिरि गये।"

(पद ३२) इसका विशेष भी देखिये। 'बोल को अविचल'; यथा—"सत्य-संध दृढ़ ब्रत रघुराई।" (मा० अ० ८१)। "रामो द्विर्नाभिभाषते।" (वाल्मी० २।१८।३०)।

'तामरस करनि सुधारत बान हैं'—यह आनन्दमयी क्रीड़ा है; यथा—"कर कमलनि धनु सायक फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥" (मा० अ० २३८), "दुहुँ कर कमल सुधारत बाना।" (मा० लं० १०)। यहाँ 'रूपकालङ्कार' है।

'चरचा चलति...'—भक्त की चरचा सुनने में प्रीति है; यथा—"सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ॥" (वि० १००)।

'हरषत सुर...'—देवों को अब रावण-वध का भरोसा हो रहा है, इससे प्रसन्न हो रहे हैं और फूल वर्षा कर रहे हैं। यहाँ की इनकी राज्य-तिलक पर भी अपार पुष्प वृष्टि हुई है। किन्तु रावण-वध पर जब राज्य-तिलक हुई है, वहाँ फूल वर्षा नहीं की गई, क्योंकि वहाँ तो देवों की स्वार्थ-सिद्धि की बात नहीं थी।

'ते कृतकृत्य...'—क्योंकि यह ध्यान प्रणत-भय-मोचन है। तथा—"एहि विधि कृपा रूप गुन धाम राम आसीन। धन्य ते नर एहि ध्यान जे रहत सदा लय लीन॥" (मा० लं० ११)।

[३६]

रामहिं करत प्रनाम निहारि कै।
उठे उमँगि आनन्द-प्रेम-परिपूरन बिरद बिचारि कै॥१॥
भयो बिदेह बिभीषन उत, इत प्रभु अपनपौ बिसारि कै।
भली भाँति भावते भरत-ज्यों भेंट्यो भुजा पसारि कै॥२॥
सादर सबहि मिलाइ समाजहि निपट निकट बैठारि कै।
बूझत कुसल-छेम सप्रेम अपनाइ भरोसो भारि कै॥३॥
नाथ! कुसल-कल्यान-सुमंगल बिधि सुख सकल सुधारि कै।
देत लेत जे नाम रावरो, बिनय करत मुख चारि कै॥४॥
जो मूरति सपने न बिलोकत मुनि-महेस मन मारि कै।
तुलसी तेहि हौं लियो अंक भरि, कहत कछू न सँवारि कै॥५॥

अर्थ—श्रीरामजी को श्रीविभीषणजी प्रणाम करने लगे, यह देख कर प्रभु

श्रीरामजी आनन्द और प्रेम से परिपूर्ण हो अपने प्रणत-पालकत्व आदि विरुद को विचार उमँग कर उठे ॥१॥ उस समय उधर से श्रीविभीषणजी विदेह हो गये और इधर से प्रभु श्रीरामजी ने अपनपौ भुला दिया तथा प्यारे भरतजी के समान मान कर उनसे भुजा फैला कर भली-भाँति भेंट की ॥२॥ फिर श्रीरामजी ने आदर पूर्वक अपने सारे समाज से मिला कर और उन्हें अत्यन्त समीप बैठा कर एवं सप्रेम अपनाकर तथा उसे पूर्ण भरोसा देकर कुशल-क्षेम पूछने लगे ॥३॥ श्रीविभीषणजी ने कहा—'हे नाथ! जो आपका नाम जपते हैं उन्हें भी श्रीब्रह्माजी सब प्रकार से कुशल, कल्याण और सुन्दर मङ्गल तथा सब प्रकार के सुख सुधार कर देते हैं और फिर अपने चारो मुखों से उससे प्रार्थना भी करते हैं (मैं तो साक्षात् आपके पास ही बैठा हूँ, तब मेरे कुशल-मङ्गल के विषय में क्या कहना है?) ॥४॥ मुनि एवं श्रीमहादेवजी मन को जीत कर भी जिस मूर्ति को स्वप्न में भी नहीं देख पाते; उसी ने मुझे गोद में भर कर भेंटा है (तब मेरे सौभाग्य का वर्णन कौन कर सकता है?), इसमें मैं कुछ बना कर (असत्य) नहीं कह रहा हूँ ॥५॥

विशेष—'उठे उमँगि···'; यथा—"अस कहि करत दंडवत देखा। तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा॥ दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदय लगावा॥ अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी।" (मा० सुं० ४५)।

'भयो बिदेह बिभीषन···'—दोनों ओर स्नेह से बिदेहता हुई; यथा—"मंजुल मूरति मंगलमई। भयो बिसोक बिलोकि बिभीषन, नेह देह-सुधि-सींव गई॥" (पद २८)। यहाँ 'भावते भरत ज्यों' कहा गया है, वहाँ भी दोनों ओर विदेहता ऐसी ही है; यथा—"मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कवि कुल अगम करम मन बानी॥ परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥···अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरिहर को॥" (मा० अ० १४१); "ऐसे राम दीन-हितकारी।···रिपु को अनुज बिभीषन निसिचर, कौन भजन अधिकारी। सरन गये आगे होइ लीन्हें भेंट्यो भुजा पसारी॥" (वि० १६६)। "रजनिचर अरु रिपु बिभीषन सरन आयो जानि। भरत ज्यों उठि ताहि भेंटत देह-दसा भुलानि॥" (वि० २१५)।

'निपट निकट बैठारि कै। बूझत कुसल···'; यथा—"अनुज सहित

मिलि ढिग बैठारी। बोले बचन भगत भय हारी॥ कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा॥ खल मण्डली बसहु दिनराती। सखा धरम निबहै केहि भाँती॥" (मा० सुं० ४५); अति समीप बैठाने में अत्यन्त आदर है; यथा—"अति आदर समीप बैठारी। बोले बिहँसि कृपाल खरारी॥" (मा० लं० ३७)। 'सप्रेम अपनाइ'–प्रपन्न 'तवास्मि' की याचना करता है। अतः, स्वामी के सप्रेम अपनाने में उस याञ्चा की सफलता है।

'भरोसो भारि कै'—अपनी प्रतिज्ञा का भाव समझा कर भारी भरोसा दिया; यथा—"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥" (वाल्मी० ६।१८।३३)।

'नाथ! कुसल ··देत लेत जे नाम रावरो···'; यथा—"हरन अमंगल अघ अखिल करन सकल कल्यान। राम नाम नित कहत हर गावत बेद पुरान ॥३५॥···राम नाम रति, राम गति, राम नाम बिस्वास। सुमिरत सुभ मंगल कुसल, दुहुँ दिसि तुलसीदास॥३९॥" (दोहावली)। "तुलसी सुमिरत राम सुलभ फल चारि। बेद पुरान पुकारत, कहत पुरारि॥" (बरवै रा० ५६); "राम नाम कामतरु देत फल चारि रे। कहत पुरान, बेद, पंडित, पुरारि रे॥" (वि० ६७)। नाम के आराधित होने पर नामी (रूप) ही अभीष्ट सिद्धि करता है। जब नाम का ऐसा महत्त्व है, तब साक्षात् रूप की प्राप्ति का तो कहना ही क्या?

'जो मूरति सपने···'; यथा—"निगम नेति सिव अंत न पावा।" (मा० बा० २०२); मन को चञ्चल करने वाला काम है, शिवजी कामारि हैं और मुनिगण भी साधन से काम को जीतते हैं। अतः ये मन को मार कर अपने वश रखनेवाले हैं। परन्तु हरि-कृपा बिना स्वप्न में भी नहीं देख पाते।

'तेहि हौं लिये अंक भरि'; यथा—"जासु रूप मुनि ध्यान न आवा। तेहि प्रभु हरषि हृदय मोहिं अति लावा॥ अहो भाग्य मम अमित अति, राम कृपा सुख पुंज। देखेउँ नयन बिरंचि सिव सेव्य जुगल पद कंज॥" (मा० सुं० ४६-४७); यह इसी प्रसंग पर इन्हीं का वचन है।

[३७]

करुनाकर की करुना भई।

मिटी मीचु, लहि लंक, संक गइ, काहू सों न खुनिस-खई ॥१॥

दसमुख तज्यो दूध माखी ज्यों, आपु काढ़ि साढ़ी लई।
भव-भूषन सोइ कियो बिभीषन मुद-मंगल-महिमा मई ॥२॥
बिधि-हरि-हर, मुनि-सिद्ध सराहत, मुदित देव दुंदुभी दई।
बारहि बार सुमन बरषत, हिय हरषत कहि जय-जय जई ॥३॥
कौसिक-सिला-जनक-संकट हरि भृगुपति की टारी टई।
खग-मृग, सबर-निसाचर, सब की पूँजी बिनु बाढ़ी सई ॥४॥
जुग-जुग कोटि-कोटि करतब करनी न कछू बरनी नई।
राम-भजन महिमा हुलसी हिय तुलसी हू की बनि गई ॥५॥

शब्दार्थ—खुनिस (खुनस, खिन्न-मनस्)=क्रोध करना। खई (सं० क्षयी)=१ क्षय, २ लड़ाई, ३ तकरार, झगड़ा। टई (टही=ताल, घात)= प्रयोजन निकालने की घात, प्रयोजन सिद्धि का ढंग, जोड़-तोड़। सई= वृद्धि, बढ़ती।

अर्थ—जब करुणाकर श्रीरामजी की करुणा हुई तब श्रीविभीषणजी का मृत्यु भय मिटा, लङ्का के राज्य की प्राप्ति हुई और रावण की शङ्का जाती रही, इन लाभों के लिये उन्हें किसी से क्रोध एवं झगड़ा भी नहीं करना पड़ा ॥१॥ जिस विभीषणजी को रावण ने दूध की मक्खी के समान निकाल फेंका था और आप श्रीविभीषणजी ने मलाई (सार रूप लङ्का की विभूति और राक्षसों की आयु) निकाल ली थी। उसी विभीषणजी को श्रीरामजी ने संसार का भूषण बना मुद, मङ्गल और महिमामय कर दिया ॥२॥ ब्रह्मा, विष्णु और महेश तथा मुनि और सिद्ध श्रीविभीषण पर प्रभु की भक्त-वत्सलता की सराहना करते हैं। देवगण आनन्दित होकर नगाड़े बजाते हैं और बार-बार जय-जय-जय कहते हैं ॥३॥ श्रीरामजी, श्रीअहल्याजी और श्रीजनकजी के संकट दूर किये और श्रीपरशुरामजी की लड़ाई करने की घात को (बातों-बातों से ही) टाल दिया (खून-खराबी नहीं होने दी, प्रत्युत् उसी व्याज से उनका भविष्य का परम कल्याण किया, वे शम-दम एवं समता के धनी हो तपस्या करने चले गये।) तथा पक्षी (जटायु), मृग (मारीच एवं वानर-भालू आदि) कोल-किरात एवं शबरीजी तथा निशाचर (विभीषणजी) इन सबकी बिना पूँजी के ही बढ़ती का है ॥४॥ इसी प्रकार युग-युग में प्रभु श्रीरामजी के करोड़ों-करोड़ों कर्तव्य

हैं, यहाँ उनकी कुछ नयी करणी नहीं कही गई। ऐसे प्रभु श्रीरामजी के भजन की महिमा का हृदय में उल्लास हुआ, इससे इस तुलसीदास की भी बात बन गई है ॥ ५ ॥

विशेष—'करुनाकर की करुना भई।'—श्रीरामजी करुणानिधान हैं, उनकी करुणा इस प्रसंग में विभीषणजी पर हुई है, उसका कार्य साथ ही कहते हैं—

'मिटी मीचु, लहि लंक…'—मृत्यु मिट गई, कल्प भर राज्य कर रहे हैं, अन्त में परधाम जायँगे, जहाँ से मृत्युमय संसार में नहीं आवेंगे; यथा—"करेहु कल्प भर राज्य तुम्ह, मोहिं सुमिरेहु मन माहिं। पुनि मम धाम पाइहहु, जहाँ संत सब जाहिं॥" (मा० लं० ११६)।

'लहि लंक'; यथा—"जो संपति सिव रावनहिं, दीन्हि दिये दसमाथ। सोइ संपदा बिभीषनहिं, सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥" (मा० सुं० ४९)

'संक गइ'; "भजिहौं रघुबीरहिं अभय निसान बजाइ कै।" (पद ८८)—इसका विशेष देखिये। लोक में रावण आदि का भय मिट गया। रावण के शक्ति छोड़ने पर श्रीरामजी ने इनके रक्षार्थ स्वयं उसका सहन किया है—मा० लं० ९३ में यह प्रसंग है।

'दसमुख तज्यो…';—दूध श्वेत होता है। अतः, काली मक्खी दूर से ही भिन्न दिखती है। वैसे ही ये धार्मिक प्रकृति के थे, वहाँ राक्षसों से भिन्न दिखते थे, इससे अपने प्रतिकूल कहकर रावण ने इन्हें अपमानित कर निकाल दिया। दूध से निकाल कर मक्खी फेंक दी जाती है, वैसे ही इनके अपमानित होने के साथ लङ्का के निवासियों की आयु और विभूति सभी चली गई; यथा—"अस कहि चला बिभीषन जब हीं। आयु हीन भये सब तब हीं॥ साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी॥ रावन जबहिं बिभीषन त्यागा। भयेउ बिभव बिनु तबहिं अभागा॥" (मा० सुं० ४१)। आप (श्रीविभीषणजी ने) अपने क्षमा-गुण से वहाँ की सारी विभूति साथ लेते गये। कहा भी है; यथा—"क्षमासारा हि साधवः।" (वि० पु० १।१।२०); अर्थात् साधुओं का धन तो सदा क्षमा ही है।

'भव-भूषन सोइ कियो…'—यहाँ श्रीरामजी का कर्त्तव्य कहा जाता है

कि श्रीविभीषणजी स्वयं तर गये औरों को भी अपने आदर्श से तार रहे हैं; यही इनका भव-भूषण होना है; यथा—"रातिचर जाति आरति सब भाँति गत कियो सो कल्यान-भाजन सुमंगल करन। दास तुलसी सदय हृदय रघुबंसमनि पाहि कहे काहि कीन्हों न तारन-तरन॥" (पद ४३); द्वादश महाभागवतों में श्रीविभीषणजी का नाम है। इनका स्मरण कर संसार के सभी लोग कल्याण-भाजन होते हैं और मुदमङ्गल एवं महिमा पाते हैं, यही इनकी 'मुद-मंगल-महिमामयी' कीर्ति है।

'बिधि हरि-हर···'—दिव्य दृष्टि से इन सबने इनकी उक्त महिमा-प्राप्ति को जान लिया है, इसी पर हर्ष प्रकट करते हैं।

'कौसिक सिला जनक···'—औरों पर भी भाँति-भाँति की कृपा की है, इसका उदाहरण दिया है; तथा—"राम भलाई आपनी भल कियो न काको। ······कौसिक गरत तुषार ज्यों तकि तेज तिया को। प्रभु अनहित हित को दियो फल कोप कृपा को॥ हर्यो पाप आप जाइ कै संताप सिला को सोच मगन काढ़्यो सही साहिब मिथिला को॥ रोष रासि भृगुपति धनी अहमिति ममता को। चितवत भाजन करि लियो उपसम समता को॥" (वि० १५२); इस उद्धृत प्रसंग में यहाँ के भाव आ गये हैं।

'खग मृग सबर···'—इन सब ने सुकृत के बिना ही बढ़ती पाई है, यही पूँजी के बिना बढ़ती होना है; यथा—"उपल, केवट, कीस, भालु, निसिचर, सबरि, गीध सम-दम-दया-दान-हीने। नाम लिये राम किये परम पावन सकल, नर तरत तिनके गुनगान कीने॥" (वि० १०६)।

'जुग-जुग कोटि-कोटि करतब···'—सतयुग में प्रह्लाद आदि पर कृपा की है। त्रेता के उदाहरण ऊपर आ ही गये हैं। द्वापर में श्रीकृष्ण रूप से अधमोद्धारण के कोटि-कोटि कर्त्तव्य हैं और कलियुग में आचार्यों के द्वारा अपने मन्त्र एवं नाम द्वारा अपनी आराधना करा जगत् का कल्याण कर रहे हैं, इसी में एक उदाहरण अपना प्रत्यक्ष का साथ ही देते हैं—

'राम भजन महिमा···'; यथा—"जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदास हूँ। पायो परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥" (मा० उ० १२९)।

[३८]

मंजुल मूरति मंगलमई ।
भयो बिसोक बिलोकि बिभीषन नेह देह सुधि सींव गई ॥१॥
उठि दाहिनी ओर ते सनमुख सुखद माँगि बैठक लई ।
नख-सिख निरखि-निरखि सुख पावत भावत कछु कछुऔ भई ॥२॥
बार कोटि सिर काटि साटि लटि रावन संकर पै लई ।
सोइ लंका लखि अतिथि अनवसर राम तृनासन ज्यों दई ॥३॥
प्रीति प्रतीति रीति सोभा सरि थाहत जहँ जहँ तहँ घई ।
बाहु बली बानैत बोल को बीर बिस्व बिजई नई ॥४॥
को दयालु दूसरो दुनी जेहि जरनि दीन हिय की हई ।
तुलसी काको नाम जपत जग जगती जामति बिनु बई ॥५॥

शब्दार्थ—साटि = ऊख (हरिहरप्रसाद और वैजनाथजी)। लटि=क्षीण हो, दुर्बल हो। घई (सं० गम्भीर) = १ गम्भीर भँवर, पानी का चक्कर, २ अथाह। नई (नयी)=नीतिवान। हई (हनी)=नष्ट किया।

अर्थ— श्रीरामजी की मनोहर और मङ्गलमयी मूर्त्ति देखकर श्रीविभीषणजी शोक-रहित हो गये और उसके स्नेह में वे अपनी देह-स्मृति की सीमा का उल्लंघन कर गये ॥१॥ फिर दाहिनी ओर से उठकर उन्होंने स्वामी के सुखप्रद बैठक माँग ली। सामने से श्रीरामजी को नख से शिखा तक देख-देख कर आनन्दित हो रहे हैं। शरण आने में श्रीविभीषणजी की भावना कुछ थी किन्तु श्रीरामजी के पास आने पर यहाँ कुछ और ही हो गयी ! ॥२॥ (वही आगे कहते हैं—) जिस लङ्का को करोड़ों बार ऊख की भाँति शिर काट-काट कर अत्यन्त कष्ट सहने से क्षीण होकर रावण ने श्रीशिवजी से प्राप्त किया था, उसी लङ्का को श्रीरामजी ने श्रीविभीषणजी को अतिथि समझकर अनवसर में भी तृणासन के समान (सकुचते हुए कुछ नहीं देना समझकर) दिया है (ऐसी उदारता है) ॥३॥ श्रीरामजी प्रीति, प्रतीति, रीति और शोभा की नदी के समान है, श्रीविभीषणजी जहाँ-जहाँ (जिस-जिस गुण की) थाह लेते हैं, वहाँ-वहाँ गम्भीर भँवर ही पाते हैं (अर्थात् उन-उन गुणों का थाह न पाकर उनमें डूब (निमग्न हो) जाते हैं]। श्रीरामजी भुजाओं के बलवान्, प्रतिज्ञा के शूरवीर, विश्व-विजयी

वीर और न्यायवान् हैं ॥४॥ संसार में ऐसा दयालु दूसरा कौन है जिसने दीनों की हृदयों की जलन को नष्ट किया हो ? श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इस संसार में श्रीरामजी के अतिरिक्त किसका नाम जपने पर बिना बोई पृथिवी जमती है ? ॥ ५ ॥

विशेष—'मंजुल मूरति मंगलमई'; यथा—"सहज मनोहर मूरति दोऊ।" (मा० बा० २४२); "मंगलमूरति लोचन भरि-भरि। हरषहिं निरखि दंडवत करि-करि ॥" (मा० अ० २४८)। 'भयो बिसोक'; यथा—"दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत" (अ० ५३)।

'नेह देह-सुधि सींव गई'—पहले कहा गया था—"भयो बिदेह बिभीषन उत···" (पद ३६); यहाँ उससे भी अधिक विदेहता कहते हैं कि उसकी सीमा का भी उल्लंघन कर गये।

'उठि दाहिनी ओर ते···'—अपने छोटे भाई श्रीलक्ष्मणजी के समान इन्हें सम्मान देते हुए दाहिनी ओर बैठाया था; यथा—"लखन दाहिनी ओर।" (दोहावली १) सामने ले नख-शिख छबि देखने का सुख प्राप्त होगा, यह विचार कर वैसे बैठक के लिये प्रार्थना की। नख-शिख-छबि देखने का सुख यथा—"नख-सिख बाल बिलोकि बिप्र तनु पुलक, नयन जल छायो। लै लै गोद कमल कर निरखत, उर प्रमोद अनमायो ॥" (बा० १७)।

'भावत कछु कछुऐ भई'; यथा—"हिय ही और, और कीन्हीं बिधि, रामकृपा औरइ ठनी ॥" (पद २९); मैं यहाँ रक्षार्थ भावना लेकर आया था किन्तु श्रीराम-कृपा ने और ही कर दिया, अपना कर लंकेश पद का कैंकर्य दिया, यही आगे कहते हैं--

'बार कोटि सिर काटि, साटि लटि···'--रावण ने आदरपूर्वक शिर काट-काट कर शिवजी को चढ़ाया था; यथा—"सादर सिव कहँ सीस चढ़ाये। एक-एक के कोटिन्ह पाये ॥" (मा० लं० ९३); उसी को यहाँ ऊख काटने के रूपक से कहते हैं कि ऊख काटी जाती है तो उसकी पेड़ी से फिर ऊख जम आती है, वैसे ही उसके शिर फिर जम आते थे। शिर काटने में बार-बार के कष्टों से शरीर क्षीण हो गया था, तब कहीं उसे लंका का ऐश्वर्य प्राप्त हुआ था।

'सोइ लंका लखि अतिथि अनवसर··'; यथा--"जो संपति सिव

रावनहि, दीन्हि दिये दसमाथ। सोइ संपदा बिभीषनहिं, सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥" (मा० सुं० ४९)। वि० १६२ में भी ऐसा ही कहा गया है।

'लखि अतिथि अनवसर....'; यथा—"नगर कुबेर को सुमेरु की बराबरी, बिरंचि बुद्धि को बिलास लंक निर्मान भो। ईसहिं चढ़ाय सीस बीसबाहु बीर तहाँ, रावन सो राजा रज तेज को निधान भो॥ तुलसी त्रिलोक की समृद्धि सौंज संपदा सकेलि चाकि राखी रासि, जाँगर जहान भो। तीसरे उपास बनबास सिंधुपास सो समाज महाराज जू को एक दिन दान भो॥" (क० सुं० ३२)। अतिथि को कुशासनी देने में जैसे कुछ देने का गौरव नहीं समझा जाता, वैसे श्रीरामजी ने इतने बड़े दान को अनवसर पर भी कुछ नहीं गिना, ऐसे आप उदार हैं। 'सकुचि'; यथा—"लंक जरी जोहे जिय सोच सो बिभीपन को'...", (क० उ० २२)।

'प्रीति प्रतीति...'—प्रीति; यथा—"प्रणय प्रेम आसक्ति पुनि, लगन लाग अनुराग। नेह सहित सब प्रीति के, जानब अंग बिभाग॥" तथा—"ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यं वक्ति च पृच्छति। भुंक्ते भोजयते चैव षडविधं प्रीति-लक्षणम्॥" (भगवद्गुण दर्पणं); "जानत प्रीति-रीति रघुराई।..." (वि० १६४)—यह पूरा पद एवं वि० १८३ भी देखिये। "नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥" (मा० अ० २५३)। 'प्रतीति'; यथा—"जद्यपि जनम कुमातु ते, मैं सठ सदा सदोस। आपन जानि न त्यागिहैं, मोहिं रघुबीर भरोस॥" (मा० अ० १८३); तथा—"मोहिं सब भाँति भरोस तुम्हारा॥" (मा० अ० ३०४)। 'रीति'; यथा—"एहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई।" (वि० १६५)। 'सोभा'; यथा—"सोभा सींव सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजाभ सरीरा॥" (मा० बा० २३२)। "प्रभु सोभा सुख जानइ नयना। किमि कहि सकहिं तिन्हहिं नहिं बयना॥" (मा० उ० ८७)।

'बाहु बली'—इन्हीं बली बाहुओं से धनुर्भंग किया है और बलशालि वाली का वध किया है। सत्य-प्रतिज्ञता के उदाहरण पद ३५ में देखिए। विश्व-विजयी परशुराम को पराजित करने में विश्वविजयी वीरता है।

'नई'—नीति ज्ञातृत्व के उदाहरण ऊपर लिखे गए।

'को दयालु दूसरो'…'—वि० ७८, १५४ देखिए।

'काको नाम जपत'; यथा—"पतित पावन राम नाम सों न दूसरो। सुमिरि सुभूमि भयो तुलसी सो ऊसरो॥" (वि० ६९); तथा ऊपर पद ३७ के 'खग मृग सबर…' इसका विशेष देखिए। रूप के दर्शन का भी ऐसा हो महत्त्व अ० ३२ के 'जोते बिनु, बोए बिनु…' इस चरण में कहा गया है। यहाँ 'ललित अलंकार' है। क्योंकि बुद्धि में दिव्य गुण उपजने का प्रतिबिंब 'जगती जामति…' इससे कहा गया है।

[३६]

सब भाँति बिभीषन की बनी।
किया कृपालु अभय कालहु ते, गइ संसृति-साँसति घनी ॥१॥
सखा लखन हनुमान, संभु गुरु, धनी राम कोसलधनी।
हिय ही और, और कीन्हीं बिधि, राम कृपा औरइ ठनी ॥२॥
कलुष-कलंक-कलेस-कोस भयो जो पद पाइ रावन रनी।
सोइ पद पाइ बिभीषन भो भव-भूषन दलि दूषन-अनी ॥३॥
बाँह पगार, उदार-सिरोमनि, नत पालक, पावन पनी।
सुमन बरषि रघुबर-गुन बरनत, हरषि देव दुंदुभी हनी ॥४॥
रंक-निवाज रंक राजा किये, गए गरब गरि-गरि गनी।
राम प्रनाम महा महिमा खनि सकल सुमंगल मनि जनी ॥५॥
होय भलो ऐसे ही अजहुँ गये राम-सरन परिहरि मनी।
भुजा उठाइ, साखि संकर करि, कसम खाइ तुलसी भनी ॥६॥

शब्दार्थ—मनी (सं० मान, वा फ़ा०)=अभिमान। गनी=धनवान।

अर्थ—सब प्रकार से श्रीविभीषणजी की बात बन गई। कृपालु श्रीरामजी ने उन्हें काल से भी अभय कर दिया, इससे उनकी संसार में जन्म-मरण की बड़ी भारी साँसत निवृत्त हो गई ॥१॥ उन्हें श्रीलक्ष्मणजी और श्रीहनुमान्‌जी-सरीखे सखा, श्रीशिवजी-सरीखे गुरु और कोशलेश श्रीरामजी-सरीखे स्वामी प्राप्त हो गये। उनके हृदय में पहले कुछ और था (कि रावण को समझाकर उसे हरिभक्त बना उसका कल्याण करें) किन्तु विधाता ने कुछ और ही कर दिया (कि रावण ने उसे अपना शत्रु मान अपमान कर निकाल दिया) फिर श्री-

रामकृपा से और ही बात छिड़ गई (कि वे श्रीराम-शरण हुए और उन्होंने कृपा कर उन्हें लंकेश बना दिया) ॥२॥ जिस पद को पाकर रणवीर रावण पाप, कलंक और दुःख का कोष बना, उसी पद को पाकर श्रीविभीषणजी दूषणों की श्रेणियों का नाश कर संसार के भूषण (सुशोभित करने वाले) हो गये ॥३॥ श्रीरामजी बाँह-पगार, उदार-शिरोमणि, शरणागत-पालक और पवित्र प्रतिज्ञा करने वाले हैं, ऐसा कह कर देवतागण श्रीरामजी के गुणों का वर्णन करते हैं और फूल बरसा कर हर्षित हो नगारे बजाते हैं ॥४॥ दरिद्र पर कृपा करने वाले श्रीरामजी ने दरिद्र श्रीविभीषणजी को राजा कर दिया, इससे (शरणागति से भिन्न) अन्य ज्ञान-योग आदि धन के धनी अपने गर्व में गल गये (उनका मान मर्दन हो गया)। ऐसा क्यों न हो, श्रीरामजी को किया हुआ प्रणाम महा महिमा की खान है, इसने समस्त सुमंगल रूप मणि उत्पन्न कर दिया है ॥५॥ यदि कोई अभिमान छोड़कर श्रीरामजी की शरण जाय तो आज दिन भी उसका ऐसा ही भला हो सकता है, यह बात तुलसीदास ने श्रीशिवजी को साक्षी कर और भुजा उठा कर शपथ कर के कही है (अतः, यह ध्रुव सत्य है) ॥६॥

विशेष—'सब भाँति''क्रियो कृपालु अभय'''—पहले सब भाँति से बनना कह कर फिर उसे ही 'कियो कृपालु'' इस चरण से सिद्ध किया गया है। श्रीरामजी ने कृपा कर काल से भी अभय किया है और स्वधाम-प्राप्ति भी कह दी है, इससे इनकी संसृति-साँसत भी निवृत्त कर दी है—पद ३७ के 'मिटी मीचु''' इसका विशेष देखिए। यहाँ 'बिकस्वर-अलंकार' है। 'सखा लखन-हनुमान'; यथा—"चले लेन लखन-हनुमान हैं।" (पद ३५); 'संभु गुरु'—पद २७–२८ देखिए। 'धनी राम'''—पद ३६–३८ में श्रीरामजी का शरण्य हो इनका धनी होना कहा गया।

'कलुष-कलंक-कलेस कोस भयो'''–रावण ने युद्ध करके यक्षों को भगाकर लङ्का के राज्य की प्राप्ति की है। उसके लिये पहले भी तपस्या आदि के क्लेश सहने पड़े हैं, फिर अंत में राज्यमद से ही उसने सीता-हरण कर क्लेश उठाये हैं। राज्यमद से ही उसने देव-यक्ष-गंधर्व-नर आदि की कन्याओं को बाहुबल से जीतकर व्याह किया है तथा परस्त्री-हरण का पाप भी किया है

और कलङ्की हुआ है। यथा—"देव-जच्छ-गंधर्व-नर-निन्नर-नाग-कुमारि। जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुंदर बर नारि॥" (मा० बा० १८२); तथा—"नृप अभिमान मोह बस किंबा। हरि आनेहु सीता जगदंबा॥" (मा० लं० १९); "कामी पुनि कि रहहिं अकलंका।" (मा० उ० १११)।

'सोइ पद पाइ···'—पद ३७ के 'भव-भूषन सोइ···' इसका विशेष देखिये। तथा—"बोलि, 'लंकेस' कहि; अंक भरि भेंटि प्रभु, तिलक दियो दीन दुख दोष दारिद-दर·। ॥" (पद ४३)।

'बाँह पगार····'—पद ३२ में देखिये। 'उदार-सिरोमनि'—वि० १६२ देखिये। 'नत-पालक'; यथा—"तुलसी 'पाहि' कहत नत-पालक···" (पद २६)—इसका विशेष भी देखिये। 'पावन पनी'—निःस्वार्थ भाव से आश्रित-रक्षण-प्रतिज्ञा ही पवित्र प्रण है—"दूरि ते दीनबंधु देखे···" (पद ३५)—इसका विशेष देखिये।

'रंक निवाज···'—प्रपत्ति में मद-अभिमान-रहित होना है, इस प्रकार रङ्क होने पर प्रभु इसे अपना लेते हैं, अपना अंग मान लेते हैं, तब यह भी राजा हो जाता है, फिर इसके सौभाग्य को देखकर बड़े-बड़े ज्ञानियों और योगियों का सौभाग्य चूर्ण हो जाता है। यह प्रपत्ति हाथ जोड़ने एवं प्रणाम करने के रूप में की जाती है, इससे इसके इस रूप की महिमा आगे कहते हैं-

'राम प्रनाम महामहिमा···'—प्रणाम एवं नमस्कार का अर्थ शरणागति होता है; यथा—"गच्छध्वमेनं शरणं शरण्यं कौरवर्षभाः॥ एवमुक्तस्तु ते पार्था यमौ च पुरुषर्षभौ। द्रौपद्या सहिताः सर्वे नमश्चक्रुर्जनार्दनम्॥" (महा० वन० १८९।५७-५८); अर्थात् मार्कण्डेय मुनि ने युधिष्ठर आदि पाण्डवों से कहा है कि आप लोग इन भगवान् कृष्ण की शरण में प्राप्त हों, इस वचन पर श्री-द्रौपदीजी के साथ पाँचों पांडवों ने भगवान् कृष्ण को नमस्कार किया है। इस पर भगवान् ने इन्हें सान्त्वना दी है और फिर महाभारत करा इन्हें सुयश दे सुखी किया है।

इस प्रसंग में 'शरणं गच्छध्वं' इसके प्रति 'नमश्चक्रुः' ऐसा कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि 'नमः' का अर्थ 'शरणागति' होता है। इस शरणागति की महामहिमा; यथा—"अतसीपुष्पसङ्काशं पीतवाससमच्युतम्। ये नमस्यन्ति

गोविन्दं न तेषां विद्यते भयम् ॥ एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधाव-भृथेन तुल्यः । दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्ण प्रणामी न पुनर्भवाय ॥" (महा० शान्ति० ४७।९०-९१): अर्थात् भगवान् को नमस्कार (रूप प्रपत्ति) करने वालों को कहीं भी भय नहीं है । एक बार के भी नमस्कार मात्र से जन्म-मरण का महान् भय दूर हो जाता है । अभियुक्तों ने भी कहा है; यथा—"त्वदंघ्रिमुद्दिश्य कदापि केनचिद्यथा तथा वापि सकृत्कृतोऽञ्जलिः । तदैव मुष्णात्यशुभान्यशेषतः शुभानि पुष्णाति न जातु हीयते ॥" (आलवन्दार स्तोत्र २८); अर्थात् हे प्रभो ! आपके चरणों के समक्ष किसी ने कभी जैसे-तैसे भी एक बार हाथ जोड़ लिया तो उसी समय उसके सारे अशुभ नष्ट हो जाते हैं और उसे शुभों का पोषण होने लगता है। फिर उसका कभी ह्रास नहीं होता । तथा—"सकृत प्रनाम प्रनत-जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ ।" (वि० १००); एवं आगे पद ४१-४२ में भी इस प्रणाम की महिमा कही गई है ।

इस प्रणाम की महिमा रूप खान से विभीषणजी के लिये समस्त सुमङ्गल रूप मणि उत्पन्न हुई है । यह खान अब भी है, यही आगे कहते हैं—

'होय भलो ऐसे ही अजहुँ...'—अभिमान छोड़ने में सब प्रकार के अभिमानों के अतिरिक्त उपायाभिमान मुख्य है । अन्य उपायों का त्याग कर एकमात्र प्रभु को उपाय रूप में वरण करना शरण होना है । पूर्व द्रौपदी आदि ने विभवरूप के समक्ष शरणागति की है । आज दिन उन्हीं भगवान् के अर्चा रूप के समक्ष परम्परा द्वारा आये हुए उनके मन्त्रादि पञ्च संस्कारों के द्वारा शरणागति होती है । इसी की महिमा श्रीगोस्वामीजी कह रहे हैं कि श्रीविभी-षणजी परमार्थ पक्ष में जीवरूप कहे गये हैं; यथा—"जीव भवदंघ्रि सेवक बिभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता ॥" (वि० ५८); अतः, यह शरणागति आदर्श है । इसके अनुसार अभिमान छोड़कर आज दिन भी शरणा-गति करने से ऐसा ही भला सबका हो सकता है (इस प्रपत्ति के विशेष रहस्य मेरे 'प्रपत्ति रहस्य' ग्रन्थ में देखिये) इसकी पुष्टि में शपथ करते हैं ।

'भुजा उठाइ...'—भुजा उठाकर प्रतिज्ञा की जाती है कि सब देख ले और सुन ले, यह अब अन्यथा न होगी; यथा—"भुज उठाइ पन कीन्ह ।" (मा० अर० ९); तथा—"पन बिदेह कर कहहिं हम, भुजा उठाइ बिसाल ।"

(मा० बा० २४९) इत्यादि। 'साखि संकर करि'—शिवजी मर्याद-भंग का कठोर दंड देते हैं, जैसे कि आपने अपने अनन्य भक्त शूद्रतन में भुशुंडी को कड़ा दण्ड दिया है, इसी से मर्याद-निबन्ध पर प्रतिज्ञा पुष्टि में शिवजी की साक्षी दी जाती है कि यदि मैं अन्यथा कहता होऊँ तो शिवजी जानें; अर्थात् दंड दें। तथा—"कहउँ सुभाउ सत्य शिव साखी।" (मा० अ० २६३); "सत्य कहउँ करि संकर साखी॥" (मा० अ० ३०)। "संकर साखि रहेउँ एहि घाए॥" (मा० अ० २६१) इत्यादि। 'कसम खाइ…'—कहा गया है—"मुनि समाज अरु तीरथ राजू। साँचिउ सपथ अघाइ अकाजू॥" (मा० अ० २१०); यहाँ तो शिवजी को साक्षी कर उनके समक्ष सपथ की जा रही है। अतः, इसका बड़ा महत्त्व है।

इस प्रकार शपथ करके ग्रन्थकार ने सबको शरण होकर अपना कल्याण बनाने को कहा है। इस पर भी यदि विश्वास न हो तो वह मनुष्य ही नहीं है।

[४०]

कहो, क्यों न बिभीषन की बनै ?
गयो छाँड़ि छल सरन राम की, जो फल चारि चारयो जनै॥१॥
मंगलमूल प्रनाम जासु जग, मूल अमंगल के खनै।
तेहि रघुनाथ हाथ माथे दियो, को ताकी महिमा भनै॥२॥
नाम-प्रताप पतित-पावन किये, जे न अघाने अघ अनै।
कोउ उलटो, कोउ सूधो जपि भए राजहंस बायस-तनै॥३॥
हुतो ललात कृसगात खात खरि मोद पाइ कोदो कनै।
सो तुलसी चातक भयो जाचत राम स्यामसुंदर घनै॥४॥

अर्थ—कहो, श्रीविभीषणजी की बात क्यों न बने? वे छल त्याग कर उन श्रीरामजी की शरण गये थे, जो चारो प्रकार के (आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी) भक्तों को चारो फल (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) देने वाले हैं॥१॥ जिनको किया हुआ प्रणाम संसार में मंगल का मूल है और अमङ्गल के कारणों को निकाल फेंकने वाला है। उन्हीं श्रीरघुनाथजी ने जिसके शिर पर हाथ रक्खा है तो कौन उस विभीषण की महिमा का वर्णन कर सकता है?॥२॥ उनके नाम के प्रताप ने उन पतितों को पावन कर दिया है, जिन्होंने पाप और अन्याय

करने में कभी तृप्ति नहीं मानी है। उनमें किसी ने उल्टे और किसी ने सीधे नाम का जप किया है, इसी से वे कौए शरीर से भी राजहंस हो गये हैं ॥३॥ (औरों की बातें तो पहले की हैं, इस समय भी) यह तुलसीदास तृष्णा से दुर्बल शरीर होकर खली (निस्सार विषय-भोग) खाता हुआ द्वार-द्वार पर टुकड़े-टुकड़े (नाना प्रकार के अल्प-अल्प विषयों) के लिये ललचाता फिरता था, इसे (स्वर्ग-सुख रूप) कोदव के कणों की प्राप्ति पर भी आनन्द होता था, वही अब (नाम-प्रसाद से) पपीहा (के समान अनन्य श्रीराम-भक्त) होकर मेघरूप श्याम-सुन्दर श्रीरामजी से याञ्चा करता है ॥४॥

विशेष—'गयो छाँड़ि छल सरन'—महा विश्वास पूर्वक सब ओर से आशा भरोसा छोड़कर अनन्यभाव से शरणागति की जाती है; यथा—"अनन्य-साध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्। तदेकोपायता याञ्चा प्रपत्तिः शरणागतिः ॥" (भरताचार्य); अर्थात् संसार से डरे हुए जीव की अन्य साधनों से अपना अभीष्ट सिद्ध होता हुआ न देखकर—एक श्रीरामजी (आप) ही मेरे उपाय हैं, इस प्रकार महा विश्वासपूर्वक उनसे याचना करनी—शरणागति एवं प्रपत्ति है।

प्रपन्न यदि श्रीरामजी के अतिरिक्त अन्य से आशा भरोसा करता है तो यही इसका स्वामी के साथ छल है। इसे स्वामी में विश्वास होता तो दूसरों के पास यह क्यों जाता? ऐसे कपटी प्रपन्न का भार श्रीरामजी नहीं लेते; यथा—"मोर दास कहाइ नर आसा। करै तो कहहु कहाँ बिस्वासा ॥" (मा० उ० ४५); "पुनि-पुनि भुजा उठाइ कहत हौं सकल सभा पतिआउ। नहिं कोऊ प्रिय मोहिं दास सम कपट-प्रीति बहि जाउ ॥" (पद ४५)। "सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई ॥" (मा० अ० ३००)। "जिन्हके हौं हित सब प्रकार चित नाहिंन और उपाउ।" (पद ४५)।

श्रीविभीषणजी छल को छोड़ कर शरण हुए हैं; यथा—"भवन्तं सर्वभूतानां शरण्यं शरणं गतः ॥ परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च। भवद्गतं हि मे राज्यं जीवितं च सुखानि च ॥" (वाल्मी० ६।१९।५-६); अर्थात् आप सब प्राणियों को शरण देने वाले हैं, मैं आपकी शरण में आया हूँ। मैंने लङ्का को, मित्रों को और धनों को छोड़ दिया है। अब तो मेरा राज्य, जीवन और सुख आपके ही चरणों में है।

'जो फल चारि···'; यथा—"कामधेनु हरि नाम, कामतरु राम। तुलसी सुलभ चारिफल सुमिरत राम ॥" (बरवै रा० ६२)।

'मंगलमूल प्रनाम जासु···'—ऊपर पद 'राम प्रनाम महामहिमा···' इसका विशेष देखिये।

'तेहि रघुनाथ···'—माथे पर हाथ देना अभय देने एवं अपनाने की मुद्रा है; यथा—"कर पंकज सिर परसि अभय कियो जन पर हेतु देखायो।" (पद ४४)। शिर पर हाथ रखने के विशेष भाव वि० १३८ में देखिये। तदनुसार श्रीहनुमान्‌जी ने लाभ उठाया भी है; यथा—"परसा सीस सरोरुह पानी।" (मा० कि० २२)। इससे हनुमान्‌जी के पाप, ताप और माया के विघ्न नष्ट हुए हैं, और उन्हें विजय, यश एवं प्रभु प्रसन्नता प्राप्त हुई है। श्रीरामजी अपनाकर जब इसे अपना अंग बना लेते हैं, तब उनकी ही महिमा इसकी महिमा हो जाती है। यथा—"जाको हरि दृढ़ करि अंग कर्‌यो। सोइ सुसील, पुनीत, बेद बिद, बिद्या गुननि भर्‌यो ॥···" (वि० २३९)। इसी से इसकी महिमा अवर्ण्य कही गई है।

'नाम-प्रताप पतित पावन किये····'—नाम के शुद्ध रीति के जप द्वारा जो कार्य होता है, वह नाम-प्रभाव से होना कहा जाता है और जो कार्य नाम के अविधि रूप से भी हो जाता है, उसमें नाम-प्रताप कहा जाता है। कहा भी है—"जाकी कीरति सुजस सुनि, होत सत्रु उर ताप। जग डेरात सब आप ही, कहिये ताहि प्रताप ॥" वैसे ही नाम की कीर्ति और सुयश से जैसे-तैसे जापकों का कल्याण नाम-प्रताप से होता है; यथा—"ऐसेऊ कराल कलिकाल में कृपालु तेरे नाम के प्रताप न त्रिताप तन दाहिये ॥" (क० उ० ७९); तथा—"आँधरो, अधम, जड़, जाजरो जरा जवन, सूकर के सावक ढका ढकेल्यो मग मैं। गिरो हिये हहरि 'हराम हो हराम हन्यो' हाय-हाय करत परीगो काल फँग मैं ॥ तुलसी बिसोक ह्वै तिलोकपति लोक गयो नाम के प्रताप बात बिदित है जग मैं। सोई राम नाम जो सनेह सों जपत जन ताकी महिमा क्यों कही है जाति अगमैं ॥" (क० उ० ७६)। तथा—"जान आदिकवि नाम-प्रतापू। भयो सुद्ध करि उलटा जापू ॥" (मा० बा० १८); इन प्रसंगों में यवन ने 'हराम' कहा और वाल्मीकि जी ने 'मरा' कहा है, इससे इनमें 'नाम-प्रताप' कहा गया है।

'पतित पावन किये'; यथा—"पाई न गति केहि पतित-पावन राम-भजि सुनु सठ मना। गनिका अजामिल व्याध गीध गजादि खल तारे घना॥ आभीर जवन किरात खस स्वपचादि अति अघ रूप जे। कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते॥" (मा० उ० १२६)। तथा—"स्वपच सबर खस जमन जड़ पाँवर कोल किरात। राम कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात॥" (मा० अ० १६५) इत्यादि।

आगे इन सबके पावन होने की प्रक्रियाएँ कहते हैं—

'कोउ उलटो, कोउ सूधो जपि भये···'—उल्टा नाम जप कर श्रीवाल्मीकि जी कौए के-से विषयी शरीर से परम विवेकी एवं सुचाली राजहंस हो गये; यथा—"जहाँ वाल्मीकि भए व्याध ते मुनीन्द्र साधु 'मरा मरा' जपे सुनि सिख रिषि सात की॥" (क० उ० १३८)। सूधो (सीधा) जपने वाले भी यहाँ कौए के समान लिये गये हैं। कौआ निम्ब फल खाता है, वैसे ही जो विषयी हैं, उन्हें विषय-निम्ब कटु नहीं लगती; यथा—"काम भुअंग डसत जब जाही। बिषय निंब कटु लगति न ताही॥" (वि० १२७); इसी से वे 'छली मलीन कतहुँ न प्रतीती' स्वभाव वाले होते हैं। वे नाम तो सीधा ही जपते हैं, पर उनका लक्ष्य विषयों पर रहता है, नामार्थ पर नहीं; यथा—"मोह-मद मात्यो, रात्यो कुमति कुनारि सों,···तुलसी अधिक अधमाई हू अजामिल तें, ताहू में सहाय कलि कपट-निकेतु है। जैबे की अनेक टेक, एक टेक ह्वैबे की, जो पेट-प्रिय-पूत-हित राम नाम लेतु है॥" (क० उ० ८२); अजामिल ने नाम तो सीधा ही 'नारायण' कहा था, पर लक्ष्य उसका भगवान् पर नहीं था, अपने बेटे पर ही था। वैसे विषयी, सीधा नाम जपते हुए लक्ष्य विषय पर रखते हैं, इससे इनके प्रसंग में 'नाम-प्रताप' ही है। वाल्मीकि के साथ अजामिल भी गिने गये हैं; यथा—"बालमीकि-अजामिल के कछु हतो न साधन सामो। उलटे-पलटे नाम-महातम गुंजनि जितो ललामो॥" (वि० २२८)। अजामिल-प्रसंग में भी नाम-प्रताप ही स्पष्ट कहा गया है; यथा—"नाम-प्रताप दिवाकर कर खर गरत तुहिन ज्यों कलिमलो। सुत-हित नाम लेत भव-निधि तरि गयो अजामिल सो खलो॥" (पद ४२)।

कौए के समान विषयी जापक भी सीधे नाम-जप से राजहंस के समान

विवेकी और सुचाली हो जाते हैं। इसके उदाहरण में श्रीगोस्वामीजी स्वयं हैं; क्योंकि प्रथम अवस्था में आप भी विषयी थे। उपर्युक्त क० उ० ८२ में आपने अपना अजामिल के समान पेट भरने के लक्ष्य पर नाम जपना कहा भी है। श्रीगोस्वामीजी सीधा राम नाम जप कर राजहंस के समान विवेकी और सुचाली हो भी गये हैं; यथा—"राम नाम को प्रभाउ, पाउ महिमा प्रताप, तुलसी सो जग मानियत महामुनी सो।" (क० उ० ७२)।

हंस में विवेक की विभूति प्रधान है; यथा—"चातक हंस सराहियत, टेक बिबेक बिभूति ॥" (मा० अ० ३२४); और राजहंस की चाल भी सराही जाती है; यथा—"सखी संग लै कुँअरि तब, चलि जनु राजमराल।" (मा० बा० १३४); यहाँ श्रीवाल्मीकिजी और श्रीगोस्वामी इन दोनों को राजहंस कह कर विवेकी और सुचाली दोनों कहा है। दोनों ने विवेक-विभूति से रामायण रची हैं और दोनों ही उत्तम साधु-आचरणवाले भी हैं। दोनों ही प्रथमावस्था में अघ-अनय के भी पूर्ण अभ्यासी कहे गये हैं।

यहाँ प्रपत्ति के प्रसंग में नाम-प्रताप क्यों लाया गया ? इसका उत्तर यह है कि प्रपत्ति के छः अंगों में मुख्य प्रथम अंग 'आनुकूल्यस्यसङ्कल्पः' है; इसकी सिद्धि रामनामाराधन से होती है; यथा—"रामेति-रामेति सदैव बुद्धया विचिन्त्य वाचा ब्रुवती तमेव। तस्यानुरूपं च कथां तदर्थामेवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि॥ ···विचिन्तयन्ती सततं तमेव तथैव पश्यामि तथा शृणोमि ॥ मनोरथः स्यादिति चिन्तयामि···" (वाल्मी० ५।३२।११-१२); इस प्रसंग में नाम जप एवं उसके अर्थ में रूप और कथा का चिन्तन कहा गया है, इस सविधि जप से मनोरथों का रामचरितमय हो जाना स्पष्ट कहा गया है, यही 'आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः' इस अंग की सिद्धि है।

तात्पर्य यह कि शरणागत होकर पापी और अन्यायी भी नामाराधन कर विवेकी और सुचाली हो जाता है। वह प्रपत्ति के मुख्य अंग के साथ सभी अङ्गों से सम्पन्न हो जाता है।

'हुतो ललात कृसगात···'—इसमें अपनी पूर्व की दयनीय दशा कही है। 'सो तुलसी चातक···'—चातक के दृष्टान्त से अनन्य भक्ति के लक्षण

दोहावली २७७ से ३१२ तक कहे गये हैं। नाम-प्रताप से वे सब लक्षण आ जाते हैं; यह नाम की कृतज्ञता-वर्णन के रूप में कहा है।

ऊपर तृतीय चरण में विवेक और सुचाल आना और इस चौथे चरण में अनन्य भक्ति के लक्षणों का आना नाम-प्रताप से कहा गया है। साथ ही अपने पतित एवं कुसगात आदि पदों से कार्पण्य भी कहा है। अतः, उपर्युक्त भावों में आत्मश्लाघा की भ्रान्ति नहीं करनी चाहिये।

[४१]

अति भाग बिभीषन के भले।
एक प्रनाम प्रसन्न राम भए, दुरित-दोष-दारिद दले ॥१॥
रावन-कुंभकरन बर-माँगत सिव-बिरंचि बाचा छले।
राम-दरस पायो अविचल पद, सुदिन सगुन नीके चले ॥२॥
मिलनि बिलोकि स्वामि-सेवक की उकठे तरु फूले-फले।
तुलसी सुनि सनमान बंधु को दसकंधर हँसि हिये जले ॥३॥

अर्थ—श्रीविभीषणजी के भाग्य बहुत ही अच्छे हैं, क्योंकि उनके एक बार प्रणाम करने मात्र से श्रीरामजी प्रसन्न हो गये, इससे उनके पाप, दोष और दरिद्र नष्ट हो गये ॥१॥ रावण और कुम्भकर्ण के वर माँगते समय श्रीशिवजी और श्रीब्रह्माजी ने सरस्वती के द्वारा उनसे छल किया है (जिससे वे माँगना कुछ चाहते थे, पर कुछ और ही माँग लिये) किन्तु यहाँ श्रीरामजी के दर्शन मात्र से श्रीविभीषणजी ने अविचल पद प्राप्त कर लिया (इनको माँगने की भी आवश्यकता नहीं पड़ी), सम्भवतः ये अच्छे दिन और शुभ शकुनों के साथ चले थे ॥२॥ स्वामी श्रीरामजी और सेवक श्रीविभीषणजी के मिलने की रीति देख कर उकठे हुए वृक्ष भी फूल-फल गये। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि अपने भाई विभीषण का सम्मान सुनकर रावण ऊपर से तो हँसा (निरादर किया), परन्तु उसके हृदय में जलन हुई ॥३॥

विशेष—'एक प्रनाम…'—एक प्रणाम में शरणागति का तात्पर्य है, इस पर ऊपर पद ३९-४० में लिखा जा चुका है।

'दुरित दोष दारिद दले'—पाप नष्ट होने से हृदय शुद्ध हो गया, दोष नष्ट होने से इन्द्रियों की कुटेंव दूर हुई और मोह रूप दरिद्र नष्ट होने से

देहाभिमान भी शुद्ध हो गया; यथा—"मोह दरिद्र निकट नहिं आवा।" (मा० उ० ११९); तथा--"दीन-दुख-दोष दारिद-दरन।" (पद ४३)। लौकिक दरिद्रता भी दूर हो गई, लंकेश पद प्राप्त हो गया। यह सब एक बार हाथ जोड़ने मात्र का फल है। आगे और स्वामियों से तारतम्य दिखाते हैं—

'रावन कुंभकरन बर माँगत...'—रावण ने सरस्वती की प्रेरणा से 'बानर मनुज जाति दुइ बारे।' कह दिया और इन्हीं दो जातियों से उसका नाश हुआ। कुंभकर्ण चाहता था कि मैं छः महीना जागूँ तो एक दिन सोऊँ, माँगते समय सरस्वती ने उल्टा ही कहला दिया—'माँगेसि नींद मास षट केरी।' "रीझि-रीझि दीन्हें बर, खीझि-खीझि घाले घर, आपने निवाजे की न काहू के सरम॥" (वि० २४९); तथा—"संभु-सेवक जान जग बहु बार दियो दससीस। करत राम-बिरोध सो सपनेहु न हटक्यो ईस॥" (वि०२१६); यह इनकी करतूतें हैं।

'राम दरस पायो...'—इधर माँगना भी नहीं पड़ा, अपेक्षित हित की बातें स्वामी ने स्वतः सम्पन्न कर दी हैं; क्योंकि इस शरणागति में शरणागत तो 'तवास्मि' अर्थात् मैं आपका हूँ, ऐसा कर अपना आपा देह एवं आत्मा तथा तत्सम्बन्धी सभी पदार्थ स्वामी को सौंप कर उनका हो जाता है। इस आत्मा से शेषत्व तथा देह से भोग्यत्व प्राप्त रहता है और इन्द्रियों का उपायत्व त्याग कर यह स्वामी पर ही निर्भर रहता है। अपने शेष एवं भोग्य का सार-सँभार स्वामी स्वयं करते हैं। इससे स्वामी ने विभीषणजी को लंकेश बना लोक का ऐश्वर्य दिया, कल्प भर अविचल रहेंगे और अंत में अपना धाम दे परलोक का अविचल पद दिया है, इसके प्रमाण पूर्व लिखे जा चुके हैं। आश्रित के सार-सँभार की रीति पर आगे लं० १५ भी देखिये।

'सुदिन सगुन नीके चले'—यात्रा पर तो कहा गया है—"राम की सरन जाहि, सुदिन न हेरै'...'मेरो कह्यो मानि, तात! बाँधै जनि बेरै" (पद २७); परन्तु वहीं पर कहा गया है—"तुलसी मुदित चले पाए हैं सगुन भले" (पद २७); तात्पर्य यह कि श्रीराम-शरण चलने पर सुदिन और शुभ-शकुन स्वतः अनुकूल हो जाते हैं। कहा भी है; यथा—"तदेव लग्नं सुदिनं तदेव ताराबलं चन्द्रबलं तदेव। विद्या बलं दैव बलं तदेव सीतापतेर्नाम यदा

स्मरामि ॥" इस भाव से यहाँ यों भी अर्थ होता है—'सुदिन सगुन भी विभीषणजी के साथ-साथ चले।'

'मिलनि बिलोकि…'—पद ३६ के 'भये बिदेह बिभीषन उत…भली भाँति भावते भरत ज्यों भेंट्यो…' इसका विशेष देखिये। 'उकठे तरु फूले फले'—भाव यह कि जो जड़ जीव श्रीराम-स्नेह रहित थे, वे भी स्नेह-सहित हो गये। तथा—"देखि दसा सुनि सिद्ध सिहाहीं॥ जबहि राम कहि लेहिं उसासा। उमँगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा॥ द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना।" (मा० अ० २१९)।

यहाँ तात्पर्य यह कि विभीषणजी के आने पर रावण के गुप्तचर भी आये थे, उन्होंने यह मिलना देखा तो सरस हृदय के प्रेमी बन गये, उनका कपट छूट गया, यही उन राक्षस रूप उकठे वृक्षों का फूलना-फलना है। उन्होंने ही रावण के सामने जाकर इस मिलन की प्रशंसा की है, वह सुन कर ऊपर से हँस कर निरादर किया, पर हृदय से जल गया—यह प्रसंग श्रीरामचरितमानस में है। उन राक्षसों का राम-सेना में कपट छूटना एवं राम-स्वभाव का बखान करना, फूलना और फिर रावण के यहाँ भी जाकर कहना फलना है। उनमें शुद्ध प्रेम की दशा इस मिलन-दर्शन से आ गई। रावण ने कहा था—"करत राज लंका सठ त्यागी। होइहि जव कर कीट अभागी॥" (मा० सुं० ५२)-किन्तु हुआ उसके विपरीत, इससे हृदय में जला। इस जलन के प्रति आगे 'ब्रह्मदत्त प्रचंड शक्ति' चलावेगा कि विभीषण लङ्केश पद का भोक्ता न हो पावे।

अलङ्कार—ललित ('उकठे तरु'…' में)।

[४२]

गये राम सरन सबको भलो।
गनी-गरीब, बड़ो-छोटो, बुध-मूढ़, हीनबल अतिबलो ॥१॥
पंगु - अंध, निरगुनी - निसंबल, जो न लहै जाचे जलो।
सो निबह्यो नीके, जो जनमि जग राम-राजमारग चलो ॥२॥
नाम-प्रताप-दिवाकर-कर खर गरत तुहिन ज्यों कलिमलो।
सुत हित नाम लेत भव-निधि तरि गयो अजामिल-सो खलो ॥३॥

प्रभु - पद प्रेम प्रनाम - कामतरु सद्य बिभीषन को फलो।
तुलसी सुमिरत नाम सबनि को मंगलमय नभ-जल-थलो ॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी के शरण जाने पर सबका भला होता है, चाहे वह धनी हो या दरिद्र, बड़ा हो या छोटा, पंडित हो या मूर्ख और बलहीन या अत्यन्त बलवान ॥१॥ जो पंगु, अन्धा, गुणहीन और मार्गव्ययहीन था, यहाँ तक कि जो माँगने पर जल भी नहीं पाता था, वह भी संसार में जन्म लेकर यदि श्रीरामजी के राजमार्ग (इस प्रपत्ति मार्ग) पर चला है तो (श्रीरामजी की कृपा से) भलो भाँति निबह गया है ॥ २ ॥ श्रीरामजी के नाम का प्रताप रूप सूर्य की प्रखर किरणों से पाप पाला की भाँति गल जाता है, जैसे पुत्र के लिये नाम लेने पर अजामिल सरीखा दुष्ट भी भव-सागर से पार हो गया है ॥ ३ ॥ प्रभु श्रीरामजी के चरणों में प्रेम पूर्वक प्रणाम कल्पवृक्ष के समान है, यह श्रीविभीषणजी के प्रति तत्काल ही फलित हो गया है । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (इस चरित के लक्ष्य पर) श्रीरामजी का नाम-स्मरण करने पर सब के लिये आकाश, जल और स्थल सभी मङ्गलमय हो जाते हैं ॥४॥

विशेष—'गनी-गरीब…'—यहाँ शरणागति में अधिकारि बन्धन का निराकरण किया गया है कि इसमें किसी के वैयक्तिक अधिकार का नियत-बन्धन नहीं है, सभी कर सकते हैं। यथा—"मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैयास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥" (गीता ९।३२); अर्थात् हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य और शूद्र तथा पापयोनि वाले भी, चाहे कोई हों, वे मेरे शरणागत होकर परमगति ही पाते हैं।

'पंगु, अंध, निगुनी, निसंबल…'—जो शरीर से भी अंग-हीन हो, किसी काम के योग्य न हो तथा गुणहीनता आदि से अत्यन्त अभागा हो, वह भी इस मार्ग में निबह जाता है; यथा—"सब बिधि हीन दीन अति जड़मति जा कहँ कतहुँ न ठाउँ। आये सरन भजौं न तजौं तेहि यह जानत रिषिराउ ॥" (पद ४५); 'राम राजमारग'—यह प्रपत्ति मार्ग श्रीरामजी का राज-मार्ग है। अतः, इसमें काल, कर्म, गुण, स्वभाव एवं काम आदि विकारों की बाधाएँ दुःखद नहीं हो सकतीं, राजा रामजी रक्षा करते हैं। जैसे राजाओं के राजमार्ग में पुलिस आदि से रक्षा का प्रबन्ध रहता है।

इस कथन पर सन्देह हो सकता है कि इन पंगु आदि का कैसे निर्वाह इस मार्ग में होता है, इसका समाधान आगे के चरणों में करते हैं—

'नाम-प्रताप दिवाकर कर खर...'—ऊपर पद ४० में नाम-प्रताप की व्यवस्था समझाई जा चुकी है। वहाँ भी इस अजामिल का लक्ष्य दिखाया गया है। उस भाव को लेकर यहाँ समझना चाहिये कि शरण होकर यदि नाम जपते हुए लक्ष्य नामार्थ पर न रह कर पेट-पालन पर रहेगा तो भी वह व्यर्थ न जायगा। इसके अनेक जन्म के संचित पाप तो शरण होते ही नष्ट हो जायँगे, जो प्रारब्धानुसार पापमय दोष स्वभाव में आ गये रहते हैं, वे कलि मल भी जैसे सूर्य की प्रखर किरणों से जमा हुआ पाला पिघल कर बह जाता है। वैसे ये दोष भी नष्ट हो जाते हैं। अजामिल का लक्ष्य देख कर धैर्य रख कर प्रेम पूर्वक नामाराधन करना चाहिये। "नाम-प्रताप प्रगट कलिमाहीं" (मा० उ० १०२) इस वाक्य पर विश्वास् रखना चाहिये। तथा—"तीरथ अमित कोटि सम पायन। नाम अखिल अघपूग नसावन॥" (मा०उ० ९१)। नाम-प्रताप सूर्य; यथा—"जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा।" (मा०बा० ११५)।

'प्रभु पद प्रेम प्रनाम कामतरु...'—विभीषणजी को फलित हुआ, इसी लक्ष्य पर प्रेमपूर्वक शरण होकर नाम-स्मरण करने से वह कल्पवृक्ष सब को वैसा ही फल तुरत देगा। रूप का गुण नाम द्वारा आकर काम करता है; यथा—"राम भगत-हित नर तनु धारी। सहि संकट किये साधु सुखारी॥ नाम सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद-मंगल बासा॥" से "राम सकुल रन रावन मारा।...नाम प्रसाद सोच नहि सपने॥" (मा० बा० २३-२४) तक। इस प्रसंग में रामायण के सभी चरितों के लक्ष्य पर नाम जप से उन चरितों के अनुसार ही जापक के हृदय में कार्य होने कहे गये हैं।

रूप का गुण उसके नाम द्वारा कार्य करता है, जैसे कोई ज्योतिषी चोरी खोलने में निपुण होता है और उसका नाम प्रसिद्ध हो जाता है, तो चोरी के समय यदि घर वाला उस ज्योतिषी का नाम लेकर उससे अपना सम्बन्ध होना कहे तो चोर डर कर भाग जाते हैं। ज्योतिषी तो अपने घर में ही रहता है, पर नाम द्वारा उसका गुण चोर को भगा देता है। वैसे ही श्रीरामजी के उदारता आदि गुण उनके चरित से हृदयंगम होते हैं तब उनका नाम जपने पर वे

गुण जापक के हृदय में रूप के-से कार्य करते हैं। यहाँ विभीषण-शरणागति के गुण के लक्ष्य से सर्वत्र मङ्गलमय होना कहा गया है; क्योंकि विभीषणजी का सब ओर से एवं सब प्रकार से मंगल हुआ है। तथा—"भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥" (मा० बा० २७)।

[४३]

सुजस सुनि श्रवन हौं नाथ! आयों सरन।
उपल - केवट - गीध - सबरि - संसृति-समन,
सोक - श्रम - सींव सुग्रीव आरति-हरन ॥१॥
राम राजीव - लोचन बिमोचन बिपति,
स्याम नव-तामरस - दाम बारिद - बरन।
लसत जट जूट सिर, चारु मुनि चीर कटि,
धीर रघुबीर, तूनीर - सर - धनु - धरन ॥२॥
जातुधानेस - भ्राता बिभीषन नाम
बंधु-अपमान गुरु ग्लानि चाहत गरन।
पतित-पावन! प्रनतपाल! करुनासिंधु!
राखिए मोहिं सौमित्रि - सेवित - चरन ॥३॥
दीनता - प्रीति - संकलित मृदुबचन सुनि
पुलकि तन प्रेम जल नयन लागे भरन।
बोलि, 'लंकेस' कहि, अंक भरि भेंटि प्रभु,
तिलक दियो दीन-दुख-दोष-दारिद-दरन ॥४॥
रातिचर-जाति, आराति, सब भाँति गत,
कियो सो कल्यान-भाजन सुमंगल करन।
दास तुलसी सदय - हृदय रघुबंस - मनि
'पाहि' कहे काहि कीन्हों न तारन-तरन? ॥५॥

अर्थ—(श्रीविभीषणजी कहते हैं—) हे नाथ! मैं अपने कानों से आपके सुयश सुनकर शरण में आया हूँ। आप पाषाण-रूपिणी अहल्या, केवट जाति का गुह, गृध्र जटायु और शबरी आदि के जन्म-मरण रूप संसृति का शमन करनेवाले हैं। शोक और परिश्रम की सीमा में व्यस्त श्रीसुग्रीवजी की विपत्ति

का हरण करनेवाले हैं ॥१॥ हे श्रीरामजी ! आप लालकमल के समान नेत्रवाले, सब प्रकार की विपत्तियों का नाश करनेवाले, नवीन श्याम-कमल समूह के समान और मेघ के समान श्याम वर्णवाले हैं। आपके शिर पर जटा समूह और कटि में सुन्दर मुनिवस्त्र सुशोभित हैं तथा आप तर्कश, धनुष और बाण धारण करनेवाले, धैर्यवान् रघुवंशी वीर हैं ॥२॥ मैं राक्षसेश्वर रावण का भाई हूँ, मेरा विभीषण नाम है, मैं अपने बड़े भाई के अपमान से होनेवाली बड़ी भारी ग्लानि से गला जा रहा हूँ। हे पतित पावन! हे शरणागतपाल! और हे करुणासिंधो! आप श्रीलक्ष्मण द्वारा सेवित अपने चरणों में मुझे भी आश्रय दीजिये ॥३॥ श्रीविभीषणजी के दीनता और प्रीति से संमिलित कोमल वचन सुनकर श्रीरामजी का शरीर प्रेम से पुलकित हो गया और उनके नेत्र प्रेमाश्रु भरने लग गये। दीनों के दुःख, दोष और दरिद्रता का नाश करनेवाले उन प्रभु श्रीरामजी ने उन्हें 'लङ्केश' कह कर बुलाया और अङ्क भर कर उनसे भेंट की तथा उनका राज-तिलक कर दिया ॥४॥ देखिये, राक्षस जाति, शत्रु और सब प्रकार से जो गया-बीता था, उसे भी सुमङ्गलकर्त्ता श्रीरामजी ने कल्याण का पात्र कर दिया। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि रघुवंश-शिरोमणि श्रीरामजी बड़े दयालु हृदय के हैं। 'रक्षा कीजिये' ऐसा कहने पर उन्होंने किसे 'तारण-तरण' नहीं कर दिया? ॥५॥

विशेष—'सुजस सुनि श्रवन····'—यहाँ प्रथम सुयश सुनकर शरण में आना कहा और फिर साथ ही 'उपल, केवट ··' इस चरण से सुयश का कुछ वर्णन भी कर दिया। अहल्या के प्रसंग में उदारता, केवट, गृध्र और शवरी के प्रसंगों में सौलभ्य एवं पतित-पावनता आदि गुणों के सुयश हैं। अन्त में 'सोक श्रम सींव ··'—यह कहा है, क्योंकि यहाँ आने में यह कथा मुख्यहेतु है; यथा—"बिषम बिषाद बारिनिधि बूड़त थाह कपीस कथा लही।" (पद ३१) तथा—"सोक समन कपिराज के" (पद २९)—इनके विशेष देखिये। श्रीसुग्रीवजी को सर्वस्व हरे जाने का शोक था और चौदहो भुवनों में फिरने का श्रम था; यथा—"रिपु सम मोहिं मारेसि अति भारी। हरि लीन्हेसि सर्वस अरु नारी ॥ ताके भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला ॥ इहाँ

साप बस आवत नाहीं । तदपि सभीत रहउँ मन माहीं ॥" (मा० कि० ५); शरण होने पर इनके शोक-श्रम का हरण हुआ है ।

'राम राजीव लोचन…'—'राजीव-लोचन' कह कर साथ ही 'विमोचन बिपति' भी कहा है; क्योंकि राजीव नेत्र से देखकर विपत्ति हरण करते हैं; यथा—"राजिव नयन धरे धनु-सायक । भगत बिपति-भंजन सुखदायक ॥" (मा० बा० १७); तथा—"सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना । भरि आये जल राजिव नयना ॥ बचन काय मन मम गति जाही । सपनेहु बूझिअ बिपति कि ताही ॥" (मा० सुं० ३१) ।

'धीर रघुबीर…'—पहले मुनि बेष कहा, इससे सात्त्विक स्वभाव सूचित किया, साथ ही वीरता और धीरता देखी, क्योंकि यहाँ रक्षार्थ इनकी आवश्यकता है । 'रघुबीर' पद में पाचों प्रकार की वीरताएँ सन्निहित हैं; यथा—"त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः । पराक्रम महावीरो धर्मवीरश्च शाश्वतः ॥ पञ्चवीराः समाख्याता राम एव स पञ्चधा । रघुवीर इतिख्यातः सर्ववीरोपलक्षणः ॥" (श्रीभगवद्गुण दर्पण) । इन पाँचो वीरताओं में आप धीर हैं । ध्यान कह कर आगे इसका प्रयोजन कहते हैं—

'जातुधानेस भ्राता बिभीषन नाम…'—यद्यपि पिता का नाम कह कर परिचय देने की रीति है तथापि इन्होंने भाई के नाम से कहा है; क्योंकि यहाँ शरणागति का प्रसंग है, इसमें कार्पण्य चाहिये । पिता तो ऋषि हैं, उनके नाम से परिचय में बड़प्पन आता है। राक्षस-नाश की प्रभु की प्रतिज्ञा है और मैं राक्षसराज का ही भाई हूँ, आपके मुख्य शत्रु का ही भाई हूँ । राक्षस पापी होते हैं; यथा—"भए निसाचर घोर घनेरे ॥……कृपारहित हिंसक सब पापी । बरनि न जाहि बिस्व परितापी ॥" (मा० बा० १७५); उन पापियों के राजा का मैं भाई हूँ; अर्थात् बड़ा भारी पापी हूँ । मेरा नाम भी वैसा ही 'वि–भीषण' अर्थात् पापों के कारण विशेष (भयंकर) है। तथा—"तुम्हरे रिपु को अनुज बिभीषन बंस निसाचर जायो । सुनि गुन सील सुभाउ नाथ को मैं चरननि चित लायो ॥" (पद ४४); "नाथ दसानन कर मैं भ्राता । निसिचर बंस जनम सुरत्राता ॥ सहज पाप-प्रिय तामस देहा । जथा उलूकहि तम पर नेहा ॥" (मा० बा० ४४) ।

'बंधु अपमान···'—हित कहते हुए मेरे भाई रावण ने भरी सभा में लात से मार कर मेरा भारी अपमान किया है, उसकी भारी ग्लानि है, उससे मैं गला जाता हूँ।

'पतित-पावन, प्रनत पाल···'—आप पतित-पावन हैं और मैं पतित हूँ। आप प्रणत पाल हैं और मैं पापों से डर कर शरणागत आया हूँ और आप करुणासिंधु हैं और मैं उसी करुणा का भिखारी हूँ। पहले अपने को पतित मान कर पतित-पावन से नाता जोड़ा, फिर अपने को प्रणत (शरणागत) कह कर प्रणत पाल विशेषण से अपने पालन की प्रार्थना की। साथ ही करुणा गुण की अपेक्षा सूचित करते हुए करुणासिंधु कहा है। करुणा; यथा—"आश्रितार्त्यग्निना हेम्नो रक्षितुर्हृदयद्रवः। अत्यन्तमृदुचितत्त्वमश्रुपातादिकृद्द्रवत्॥ कथं कुर्यां कदा कुर्यामाश्रितार्तिनिवारणम्। इतीच्छादुःखदुःखित्वमार्तानां रक्षणत्वरा॥ परदुःखानुसंधानाद्विह्वलीभवनं विभोः। कारुण्याख्यगुणो ह्येष आर्त्तानां भीतिवारकः॥" (भगवद्गुण दर्पण); आश्रित के दुःख पर स्वामी का विह्वल हो जाना और नाना उपायों से उसके दुःख का दूर करना करुणा का कार्य है।

'राखिये मोहिं···'—यहाँ 'गोप्तृत्व-वरण' प्रपत्ति है, साथ ही श्रीलक्ष्मणजी से सेवित चरण कहकर अपनी भावना भी तद्वत् चरण-सेवन की सूचित करते हैं और श्रीलक्ष्मणजी को अपने पुरुषकार (पैरवीकार) रूप में वरण करते हैं। यथा—"यत्र रामः सलक्ष्मणः" (वाल्मी० ६।१७।१)—इस पर भी लक्ष्मणजी की सहायता चाहना कहा जाता है।

'दीनता प्रीति संकलित···'—कार्पण्य कथन में दीनता है और चरण-सेवन की लालसा में प्रीति है। सुयश-गान में भी प्रीति के भाव हैं। तन से पुलक, मन से प्रेम और साथ ही 'बोलि 'लंकेस' कहि···' इसमें वचन से स्वामी का प्रेम भाव है।

'बोलि, 'लंकेस' कहि···'—पहले ही लंकेश कहकर बुलाया; अर्थात् भेंटने के पहले ही उन्हें लंका का ऐश्वर्य दे डाला। इसमें प्रभु का औदार्य (उदारता गुण) है। अंक भर कर भेंटने में सौलभ्य गुण और प्यार से बुलाने में वात्सल्य गुण है। लंकेश कहने के भाव को राज्य-तिलक देकर पुष्ट किया है।

'दीन-दुख-दोष-दारिद-दरन'— पद ४१ के 'दुरित-दोष-दारिद दले' इसका विशेष देखिए। रावण के भय का दुःख था, वह न रह गया।

'रातिचर जाति, आराति···'—विभीषण राक्षस जाति के थे और प्रभु की प्रतिज्ञा राक्षसवंश नाश की है। रावण के भाई होने से शत्रु कोटि में भी थे। 'सब भाँति गत'; यथा—"रिपु को अनुज बिभीषन निसिचर कौन भजन अधिकारी।" (वि० १६६); नीच निसाचर बैरी को बंधु बिभीषण कीन्ह पुरंदर जैसो।" (क० उ० ४); "भ्रात-घात-पातकी निसाचर सरन आए, कियो अंगीकार नाथ एते बड़े बास को।" (क० उ० १४)।

वह विभीषण स्वयं कल्याण का पात्र हुआ, उसके लोक-परलोक के सभी कल्याण हुए। 'सुमंगल करन' यह विभीषणजी का भी विशेषण हो सकता है, उसका भाव यह होगा कि श्रीविभीषणजी द्वादश महाभागवतों में माने गये हैं, इनके नाम का प्रातः स्मरण से सभी के सारे सुमङ्गल सम्पन्न होते हैं; यथा—"प्रह्लाद-नारद-पराशर-पुण्डरीक-व्यासाम्बरीष-शुक-सौनक - भीष्म - दाल्भयान्। रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठ - विभीषणादीन् पुण्यानिमान्परमभागवतान्स्मरामि ॥" (पाण्डव गीता)। 'तारन तरन'—स्वयं तरनेवाले और अपने आदर्श से दूसरों को भी तारनेवाले। जिसने 'पाहि' कह कर अपनी रक्षा चाही उसे अपना प्रपन्न बना उसकी रक्षा की, फिर उस भक्तको इतना महिमा दे दी है कि उसका स्मरण कर और लोग भी पापों से शुद्ध होकर तर जाते हैं।

[४४]

दीन-हित बिरुद पुराननि गायो।
आरत बंधु, कृपालु, मृदुल-चित जानि सरन हौं आयो ॥१॥
तुम्हरे रिपु को अनुज बिभीषन, बंस निसाचर जायो।
सुनि गुन-सील-सुभाउ नाथ को मैं चरनन्हि चित लायो ॥२॥
जानत प्रभु दुख-सुख दासनि को, ताते कहि न सुनायो।
करि करुना भरि नयन बिलोकहु, तब जानौं अपनायो ॥३॥
बचन बिनीत सुनत रघुनायक हँसि करि निकट बुलायो।
भेंट्यो हरि भरि अंक भरत-ज्यों, लंकापति मन भायो ॥४॥

कर पंकज सिर परसि अभय कियो, जन पर हेतु दिखायो ।
तुलसिदास रघुबीर भजन करि को न परम-पद पायो ? ।।५।।

अर्थ—'हे प्रभो ! 'दीन-हितकारी' ऐसा बाना आपका पुराणों ने गाया है । मैं भी आपको दीन का सहायक, कृपालु और कोमलचित्त जानकर ही आपकी शरण में आया हूँ ।।१।। मैं आपके शत्रु रावण का छोटा भाई हूँ, विभीषण मेरा नाम है और मैं राक्षसवंश में उत्पन्न हुआ हूँ । हे नाथ ! मैंने आपके गुण, शील और स्वभाव को सुनकर आपके चरणों में चित्त लगाया हूँ ।।२।। हे प्रभो ! आप अपने दासों के दुःख और सुख जानते हैं, इससे मैंने कहकर नहीं सुनाये । जब आप करुणा करके नेत्र भर मेरी ओर देखेंगे तब मैं समझूँगा कि आपने मुझे अपना मान लिया है' ।।३।। श्रीविभीषणजी के अत्यन्त नम्र वचन सुनकर श्रीरघुनाथजी ने हँसकर उसे अपने पास बुला लिया और उसे श्रीभरतजी के समान मानकर भगवान् ने अङ्क भर कर उसका आलिङ्गन किया । वह लङ्कापति विभीषण आपके मन को प्रिय लगा (भाव यह कि आपने अपने मन के प्रियत्व से उसे लङ्कापति बना दिया) ।।४।। प्रभु ने अपने कर कमल से उसका शिर-स्पर्श कर उसे अभय कर दिया, इस पर आपने अपने भक्त पर अपनी प्रीति प्रकट की । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरघुनाथजी का भजन करके भला किसने परमपद की प्राप्ति नहीं की ? ।।५।।

विशेष—'दीन-हित बिरुद...'; यथा—"जौं प्रभु दीन दयालु कहावा । आरति हरन बेद जस गावा ।।" (मा० बा० ५८); "जेहि दीन पियारे बेद पुकारे..." (मा० बा० १८५) ।

'आरत बंधु, कृपालु...'—आरत-बन्धु हैं अतः, मुझ दीन के सहायक होंगे, कृपालु हैं, इससे मुझ पर कृपा दृष्टि करेंगे; इससे मेरे दोष आपकी दृष्टि में न रह जायँगे और फिर आप अपने मृदुल चित्त से शीघ्र ही मेरे दुःख पर द्रवीभूत हो जायँगे; यथा—"करुनामय रघुनाथ गोंसाईं । बेगि पाइअहि पीर पराईं ।।" (मा० अ० ८४); "करुनामय मृदु राम सुभाऊ ।।" (मा०अ०२६) ।

'तुम्हरे रिपु को अनुज...'—उपर्युक्त पद के 'जातुधानेस भ्राता...' इसका विशेष देखिये । यहाँ भी कार्पण्य-कथन है ।

'सुनि गुन सील सुभाउ नाथ को...'—इन्होंने यह सब श्रीहनुमान्जी

से सुना है; यथा—"सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती। करहिं सदा सेवक पर प्रीती ॥ कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सब ही बिधि हीना॥ प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिलइ अहारा॥ अस मैं अधम सखा सुनु, मोहूँ पर रघुबीर। कीन्हीं कृपा सुमिरि गुन, भरे बिलोचन नीर॥ जानत हूँ अस स्वामि बिसारी। फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी॥ एहि बिधि कहत राम गुन ग्रामा। पावा अनिर्वाच्य बिश्रामा॥" (मा० सुं० ७)। वि० १०० में गुण-शील-स्वभाव का वर्णन देखने योग्य है।

'जानत प्रभु दुख सुख···'—भक्तों को हरि-भजन न हो पाने में ही दुःख होता है; यथा—"कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥" (मा० सुं० ३१); और हरि-भजन में ही सुख है; यथा—"मम गुन-ग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥" (मा० उ० ४६)। श्रीविभीषणजी भी खलमंडली में रहने से भजन नियम नहीं कर पाते, इसी का इन्हें दुःख है। अब समीप रह भजन का सुख चाहते हैं, यह प्रभु जानते हैं; यथा—"खलमंडली बसहु दिन राती। सखा धरम निबहइ केहि भाँती॥ मैं जानउँ तुम्हारि सब रीती। अति नय निपुन न भाव अनीती॥ बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥" (मा० सुं० ४५)। तथा—"तुम बिनु दुखी सुखी तुम्हते ही। तुम्ह जानहु जिय जो जेहि केही॥" (मा० अ० २९०)।

श्रीविभीषणजी का भाव है कि मैं आपके बिना वहाँ खलों में रहकर दुःखी था आपके समीप भजन कर सुखी होने आया हूँ। अतः, मुझ पर करुणा कीजिये। मेरी 'तवास्मि' इस याञ्चा को सफल कीजिये, अपना कर मुझे कृतार्थ कीजिये। करुणा का लक्षण ऊपर पद में लिखा गया। करुणा दृष्टि से दुःख दूर कर आश्रित को सुख सम्पन्न करना होता ही है। अतः, मुझे उस खलमण्डली से निकाल कर अपनी शरण में रखिये, मैं आपके भजन का सुख पाऊँ।

शरणागति की सफलता प्रभु के अपनाने में है—वि० २६८ में इसके लक्षण देखिये।

'वचन बिनीत···'—यहाँ विनम्र वचन से वाचकी शरणागति है, इस पर हँस कर अपनी प्रसन्नता प्रकट की; यथा—"हृदय अनुग्रह इंदु-प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥" (मा० बा० १९७)। निकट बुलाने में विभी-

षणजी का अति आदर है; यथा—"अति आदर समीप बैठारी।" (मा० लं० ३७)। 'भेंट्यो हरि…'; यथा—"भली भाँति भावते भरत ज्यों भेट्यो भुजा पसारि कै।" (पद ३६)--इसका विशेष देखिये।

'कर पंकज सिर परसि…'; यथा—"तेहि रघुनाथ हाथ माथे दियो…" (पद ४०)—इसका विशेष देखिये।

'को न परम पद पायो ?'—श्रीविभीषणजी को लोक में लङ्केश पद दे कल्प भर का अमरत्व दे दिया और अन्त में अपना परमपद (धाम) देने का वचन दिया है। पद ३७ के 'मिटी मीचु…'–इसका विशेष देखिये। अतः, सबको इस श्रीविभीषण-शरणागति के लक्ष्य से शरण हो हरि-भजन करना चाहिये।

राग धनाश्री

[४५]

सत्य कहौं मेरो सहज सुभाउ।
सुनहु सखा कपिपति, लंकापति, तुम्ह सन कौन दुराउ ॥१॥
सब बिधि हीन, दीन, जड़मति, जाको कतहुँ न ठाँउ।
आये सरन भजौं, न तजौं तेहि, यह जानत रिषिराउ ॥२॥
जिन्ह के हौं हित सब प्रकार चित, नाहिंन और उपाउ।
तिनहिं लागि धरि देह करौं सब, डरौं न सुजस नसाउ ॥३॥
पुनि-पुनि भुजा उठाइ कहत हौं, सकल सभा पतिआउ।
नहिं कोऊ प्रिय मोहिं दास सम, कपट-प्रीति बहि जाउ ॥४॥
सुनि रघुपति के बचन बिभीषन प्रेम-मगन, मन चाउ।
तुलसिदास तजि आस-त्रास सब ऐसे प्रभु कहँ गाउ ॥५॥

अर्थ—(श्रीरामजी ने कहा —) हे सखा श्रीसुग्रीवजी और श्रीविभीषणजी ! सुनिये, मैं अपना 'सहज-स्वभाव' कहता हूँ, आप लोगों से क्या छिपाना है ? ॥१॥ जो सब प्रकार गया बीता हो, अत्यन्त जड़बुद्धि हो, यहाँ तक कि जिसको कहीं भी ठिकाना न हो; शरण आने पर मैं उसे भी (उसके भावानुसार) अङ्गीकार करता हूँ, उसका त्याग नहीं करता, इसे ऋषिराज श्रीनारदजी एवं श्रीवाल्मीकिजी आदि जानते हैं ॥ २ ॥ जिनके चित्त में मैं ही सब प्रकार से हितकारी हूँ और दूसरा उपाय कुछ नहीं है; उनके लिये देह धारण कर मैं सब

कुछ करता हूँ, 'मेरा सुयश नष्ट हो जायगा' इस बात को नहीं डरता ॥ ३ ॥ मैं बार-बार भुजा उठा कर (प्रतिज्ञापूर्वक) कहता हूँ, सारी सभा इसका विश्वास करे। मुझे अपने दास के समान और कोई प्यारा नहीं है; परन्तु जिस दास की मुझ में कपट-प्रीति है, वह (भव-सागर में) बह जाय (तो इसकी मुझे चिन्ता नहीं रहती) ॥ ४ ॥ इस प्रकार के श्रीरघुनाथजी के वचन सुनकर श्रीविभीषणजी प्रेम में निमग्न हो गये, उनके मन में बड़ा चाव बढ़ा। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि सब प्रकार की आशा और भय छोड़ कर ऐसे प्रभु का गुणगान कीजिये ॥ ५ ॥

विशेष—'सत्य कहउँ '—सहज स्वभाव वह है जो स्वतः जन्म से ही रहता है—प्राकृतिक स्वभाव। श्रीरामजी का स्वरूप नित्य है। अतः यह स्वभाव भी आपका नित्य है। श्रीरामचरितमानस सुन्दरकाण्ड दो० ४७-४८ में भी ऐसी ही रीति से इसी प्रसंग पर प्रभु ने अपना स्वभाव कहा है—"सुनहुँ सखा निज कहउँ सुभाऊ।" से "ते नर प्रान समान मम···" तक।

परमार्थ पक्ष में श्रीविभीषणजी जीव रूप हैं; यथा—"जीव भवदंघ्रिसेवक विभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता ॥" (वि० ५८); वह बहुत काल का बिछुड़ा हुआ जब स्वामी को प्राप्त हुआ तो इस प्रकार के और जीवों के प्रति भी स्वामी में वात्सल्य का उल्लास होता है, तब प्रभु अपना स्वभाव-सौलभ्य कहते हैं कि सभी जीव मेरा ऐसा स्वभाव जानकर मेरी शरण में आ जायँ और कल्याण-भाजन हो जायँ। कहा भी है—"उमा राम सुभाउ जेहि जाना। ताहि भजन बिनु भाव न आना॥" (मा० सुं० ३३); तथा—"यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥" (गीता १५।१९); अर्थात् हे भारत ! जो असंमूढ़ पुरुष इस प्रकार मुझको पुरुषोत्तम जानता है। वह सब कुछ जानता है और मुझको सर्वभाव से भजता है।

'सुनहु सखा····'—अन्तरंग सखा होने से ये दोनों इस रहस्य के अधिकारी हैं, इससे इनसे छिपाव नहीं किया जा सकता; यथा—"राम कृपा भाजन तुम्ह ताता। हरि गुन प्रीति मोहिं सुख दाता ॥ ताते नहिं कछु तुम्हहिं दुरावउँ। परम रहस्य मनोहर गावउँ ॥ सुनहुँ रामकर सहज सुभाऊ।" (मा० उ० ७३);

"सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः। इष्टोऽसि मे दृढ़मिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥" (गीता १८।६४)।

'सब बिधि हीन दीन...'—इसमें 'अति' पद दीप देहली है। जिसने अन्य विधियों को अपने प्राप्ति के योग्य न समझकर त्याग दिया है और स्वामी की प्राप्ति में अपने को उनके समक्ष अत्यन्त अल्प जान दीनता धारण कर रक्खी है। जो अपने को जड़मति मानता है; क्योंकि बुद्धि में 'सदसद्विवेक तो परमात्मा के प्रकाश से होता है; यथा—"ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।" (गीता १०। ३८); जिसने प्राकृत सभी लोकों को अपने अनुपयुक्त जानकर त्याग दिया है। इससे जिसे कहीं भी ठाउँ नहीं है। वह उत्तम अधिकारी यदि मेरी शरण में आता है तो मैं उसको तदनुसार ही मिलता हूँ।

इस प्रकार यहाँ उत्तम अधिकारी का लक्षण भी आ जाता है; यथा— "अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्। तदेकोपायता याच्ञा प्रपत्तिः शरणागति॥" (भरताचार्य); अर्थात् संसार से डरे हुए जीव की—अन्य साधनों से अपना अभीष्ट सिद्ध होता न देखकर 'एक श्रीरामजी (आप) ही मेरे उपाय हैं', इस प्रकार महाविश्वासपूर्वक उनसे याचना करनी—शरणागति एवं प्रपत्ति है। तथा इसका यथाश्रुत अर्थ उपर्युक्त पद ७२ के प्रथम और द्वितीय चरणों के अनुसार समझना चाहिये। मूल में तो यही है।

'यह जानत रिषिराउ'—'श्रीमद्रामायणे दीर्घ शरणागति' इस प्रकार की ख्याति है। रामायण से आदिकाव्य श्रीमद्वाल्मीकीय का तात्पर्य है। उसके मूल रूप के उपदेष्टा श्रीनारदजी हैं और महर्षि वाल्मीकिजी ने दिव्य दृष्टि से उसका निर्माण किया है। अतः, ये ही इस शरणागति के मर्म के भी ज्ञाता हैं।

'जिन्हके हौं हित....'—उपर्युक्त 'अनन्यसाध्ये...' इस श्लोक के अनुसार जिसने अन्य उपायों से विश्वास हटा लिया है, एक प्रभु को ही उपाय रूप में वरण कर रक्खा है; यथा—"उपायत्वमुपेयत्वमीश्वरस्यैव यद्भवेत्। शरणागतिरित्युक्ता शास्त्रमानाद्विवेकिभिः॥" (रहस्यत्रय-श्रीहरिदासकृत); अर्थात् ईश्वर को ही उपाय और उपेय (फल) समझने को शास्त्र के प्रमाण से विवेकियों ने शरणागति कही है। तथा—"यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥" (मा० बा० मं० श्लोक ६);

अर्थात् श्रीरामजी के चरणकमल की भक्ति ही संसार सागर से पार कर सकती है। भक्ति ही यहाँ उपाय है। तत्क्रतुन्याय से परधाम में भी यह परिकर एवं परिच्छिद रूप से भक्ति ही करता हुआ मोक्ष सुख का अनुभव करता है; यथा-"सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता॥" (तैत्त० २।१); अर्थात् वह मुक्तात्मा ब्रह्म के साथ-साथ ही (परिकर एवं परिच्छद रूप से) सब कामनाओं का भोग करता है। अतः, फल भी यही (हरि कैंकर्य ही) है।

इस प्रकार उपाय और उपेय निष्ठावाला ही उत्तम शरणागत है।

'तिनहिं लागि धरि देह···'—ऊपर द्वितीय चरण में 'सब विधि-हीन' कहे गये। यहाँ उत्तम अधिकारी हैं, इनके लिये आप देह धारण करके भी सब कुछ करते हैं। किसी के पुत्र, किसी के शिष्य, किसी के दामाद और किसी के कोचवान् आदि भी बनते हैं।

'डरौं न सुजस नसाऊ'—गीता ४।६ तथा ६।११ के अनुसार अजत्व, अव्ययत्व और सर्वेश्वरत्व रूप सुयश के नष्ट होने की सम्भावना रहती है, फिर भी मैं नहीं डरता; प्रत्युत् सुयश-रक्षा के साथ प्रपन्न के साथ वर्त्त लेता हूँ।

'पुनि-पुनि भुजा उठाइ···'—भुजा उठाने के भाव पद ३९ के अंतिम चरण में लिखे गये। यहाँ तो समुद्र तट पर ४० कोसों में वानर-समाज बैठा है, इससे भुजा उठा कर प्रतिज्ञा करते हैं और बार-बार कहते हैं कि सब देख और सुन ले, जिससे सबको विश्वास हो जाय।

'नहिं कोउ प्रिय मोहि दास सम'; यथा—"पुनि पुनि सत्य कहौं तोहिं पाहीं। मोहिं सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥" "सत्य कहउँ खग तोहिं, सुचि सेवक मम प्रान प्रिय। अस बिचारि भजु मोहिं, परिहरि आस भरोस सब॥" (मा० उ० ८५,८७); "अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥ सबके प्रिय सेवक यह रीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती॥" (मा० उ० १५)। गीता १२।१३-२० में भी भक्तों में ही भगवान् ने अपना अत्यन्त प्रियत्व कहा है।

'कपट प्रीति बहि जाउ'; यथा—"निर्मल मन जन सो मोहिं पावा। मोहिं कपट छल छिद्र न भावा॥" (मा० सुं० ४३)। पद ४० के 'गयो छाँड़ि छल सरन···' इसका विशेष भी देखिये। जिसमें विश्वास-हीनता है, वही छल

भी करता है। अतः, वह शरणागत ही नहीं है। फिर उसका सार-सँभार प्रभु क्यों करें ?

'सुनि रघुपति के बचन…'—श्रीरघुनाथजी ने सुग्रीव आदि सभी से कहा है, पर श्रीविभीषणजी की प्रपत्ति पर मुग्ध होकर प्रभु ने अपना सहज स्वभाव कहा है, इससे इनको अधिक प्रेम-मग्नता एवं चाव है। 'आस त्रास तजि'—शरणागत को सब से अभय देते हैं, इससे त्रास छोड़ना कहा है और इसका पूर्णतया भरण-पोषण का भार भी ले लेते हैं, इससे सब की आशा का भी त्याग करना कहा है। वास्तव में दूसरों की आशा और भय जब तक है, तब तक प्रभु में विश्वास हीनता है। अतः, शरणागति होती ही नहीं। इससे इनका त्याग करना कहा है। 'ऐसे प्रभु कहँ गाउ'—इस प्रसंग के गुण गाने से प्रभु में विश्वास होगा और फिर शरणागति दृढ़ होगी, इससे गाना कहा है।

यहाँ प्रथम प्रभु का कहना कहा और फिर अंतिम चरण में विभीषणजी का सुनना कहा आगे पद में अनुमोदन करना भी कहते हैं, यही रीति है; यथा—"कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भव-निधि तरहीं॥" (मा० उ० १२८)।

[४६]

नाहिंन भजिबे जोग बियो।
श्रीरघुबीर समान आन को पूरन कृपा हियो॥१॥
कहहु कौन सुर सिला तारि पुनि केवट मीत कियो ?
कौने गीध अधम को पितु ज्यों निजकर पिंड दियो ?॥२॥
कौन देव सबरी के फल करि भोजन सलिल पियो ?
बालि त्रास बारिधि बूड़त कपि केहि गहि बाँह लियो ?॥३॥
भजन प्रभाउ बिभीषन भाख्यो सुनि कपि कटक जियो।
तुलसिदास को प्रभु कोसलपति सब प्रकार बरियो॥४॥

शब्दार्थ—बियो (विय, सं० द्वि)=दो, दूसरा। बरियो=बली।

अर्थ—श्रीरघुनाथजी के अतिरिक्त दूसरा कोई भजन करने के योग्य नहीं है, क्योंकि उनके समान और कौन है, जिसके हृदय में कृपा पूर्ण हो ?॥ १॥ कहो तो भला, किस देवता ने पाषाण शिला रूपिणी अहल्या का उद्धार कर

फिर केवट को मित्र बनाया है ? और किसने गृध्र जटायु सरीखे अधम को अपने पिता के समान मान कर अपने हाथों से पिण्ड दिया है ? ॥२॥ किस देवता ने शबरी के फल भोजन करके उसका जलपान किया है ? और वालि के भय-सागर में बूड़ते हुए वानर सुग्रीव को किसने बाँह पकड़ कर निकाला है ? ॥ ३ ॥ इस प्रकार श्रीविभीषणजी ने श्रीरामजी के भजन का प्रभाव कहा, सुनकर वानर सेना जी उठी (अत्यन्त प्रसन्न हो उठी, प्रफुल्लित हो उठी)। श्रीतुलसीदास के प्रभु श्रीरामजी सब प्रकार से अत्यन्त बलवान् हैं ॥४॥

विशेष—'नाहिंन भजिबे जोग बियो'—इष्ट में स्वामित्व एवं ऐश्वर्य तथा सौलभ्य दोनो चाहिये, तभी वह भजन करने के योग्य (आराधनीय) होता है । सौलभ्य से वह प्राप्त होता है और स्वामित्व से आश्रित की दूसरों की बाधाओं से रक्षा करता है तथा ऐश्वर्य से आश्रित के मनोरथों की पूर्ति करता है, इसे दूसरा द्वार नहीं झाँकना पड़ता ।

यह सब गुण श्रीरघुनाथजी में ही सब से अधिक है, इससे इनके समान दूसरा आराधनीय नहीं है । आगे इन्हीं बातों की पुष्टि करते हैं—

'श्रीरघुबीर समान…'—'रघुबीर' पद में स्वामित्व एवं ऐश्वर्य है और 'पूरन कृपा हियो' में सौलभ्य स्पष्ट है ।

'कहहु कौन सुर सिला…'—अहल्योद्धार में उदारता, अमित प्रभाव और पाप-हरण आदि के गुण हैं; यथा-"सखि इन्ह कहँ कोउ-कोउ अस कहहीं । बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं ॥ परसि जासु पद पंकज धूरी । तरी अहल्या कृत अघ भूरी ॥" (मा० बा० २२२); "मुनि तिय तरी लगत पग धूरी । कीरति रही भुवन भरि पूरी ॥" (मा० बा० ३५६) । साथ ही केवट जाति के गुह निषाद को मित्र बनाने में अत्यन्त सौलभ्य है; यथा—"गुह गरीब गत ज्ञातिहु जेहि जिउ न भखा को । पायो पावन प्रेम ते सनमान सखा को ॥" (वि० १५२); तथा—"हिंसा रत निषाद तामस बपु, पसु-समान बनचारी । भेंट्यो हृदय लगाइ प्रेम बस नहिं कुल जाति बिचारी ॥" (वि० १६६) ।

'कौने गीध अधम को…'—इसमें 'निर्हेतुकी कृपालुता' और 'अधमोद्धारणता' आदि के रूप में सौलभ्य है; यथा-"कोमल चित अति दीन दयाला । कारन बिनु रघुनाथ कृपाला ॥ गीध अधम खग आमिष भोगी । गति दीन्ही

जो जाँचत जोगी ॥" (मा० अर० ३२); तथा—"बिहँग जोनि आमिष अहार पर, गीध कौन व्रत धारी। जनक समान क्रिया ताकी निज कर सब भाँति सँवारी ॥" (वि० १६६)।

'कौन देव सबरी के फल…' शबर जाति अस्पृश्य है, उसके हाथ का जल तो नहीं ही चलता। आतिथ्य रूप में उसके फलों का भोजन करना एवं उसका जल पीना मनुष्यों में उच्च वर्ण के लोग नहीं करते, देवता तो और भी पवित्र हवि ग्रहण करनेवाले हैं। भगवान् श्रीरामजी माधुर्य दृष्टि में क्षत्रिय राजकुल के हैं और ऐश्वर्य में त्रिदेव के भी आराध्य हैं। नीच जाति शबरी के उक्त आतिथ्य-ग्रहण में आपका अत्यन्त सौलभ्य है; यथा—"जाति हीन अघ जन्म महि मुकुत कीन्हि असि नारि। महामंद मन सुख चहसि ऐसे प्रभुहि बिसारि ॥" (मा० अर० ३६); "अधम जाति सबरी जोषित जड़, लोक बेद ते न्यारी। जानि प्रीति, दै दरस कृपानिधि, सोउ रघुनाथ उधारी ॥" (वि० १६६)।

'बालित्रास बारिधि बूड़त कपि…'—इसमें स्वामित्व, बल और ऐश्वर्य हैं। आश्रित-सुग्रीव के रक्षण और उसके विरोधी को दण्ड देने में स्वामित्व है; यथा—"बालि त्रास ब्याकुल दिन राती। तन बहु ब्रन चिंता जर छाती ॥ सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ। अति कृपाल रघुबीर सुभाऊ ॥" (मा० कि० ११); रावण को भी काँख में रखने वाले वाली को एक ही बाण में मारने में अपरिमित बल एवं ईश्वरत्व है; यथा—"सो नर क्यों दसकंध, बालि बध्यो जेहि एक सर।" (मा० लं० ३३)। "एकहि बान बालि मारयो जेहि जो बल-उदधि अगाधु ॥" (लं० १)। स्वामित्व; यथा—"सींव न चाँपि सको कोऊ तब जब हुते राम कन्हाई। अब तुलसी गिरिधर बिनु गोकुल कौन करिहि ठकुराई ॥" (कृष्ण गीतावली ३२)।

'भजन-प्रभाउ बिभीषन भाष्यो…'—अहल्या, केवट, गृध्र और शबरी आदि जो भी भजन करने से प्रभु सुलभ हो गये, यह श्रीराम-भजन का प्रभाव है। तथा—"बाल्मीकि-केवट-कथा, कपि-भील-भालु-सनमान। सुनि सनमुख जो न राम सों, तेहि को उपदेसिहि ज्ञान ॥" (वि० १९३); "खग-सबरी पितु-मातु ज्यों माने, कपि को कियो मीत। केवट भेट्यो भरत ज्यों, ऐसो को

कहु पतित-पुनीत ॥" (वि० १६१)। भजन करने से ही इन पतितों को पवित्र किया गया है। निषाद ने स्वयं कहा है; यथा—"समुझि मोरि करतूति कुल प्रभु-महिमा जिय जोइ। जो न भजइ रघुबीर-पद जग बिधि बंचित सोइ ॥" (मा० अ० १९५); तथा—"राम सखा रिषि बरबस भेंटा।···रघुपति भगति सुमंगलमूला। नभ सराहि सुर बारिषहिं फूला ॥ एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं ॥ जेहि लखि लखनहुँ ते अधिक मिले मुदित मुनिराउ। सो सीतापति-भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ ॥" (मा० अ० २४२-२४३)। यह सुनकर वानर-दल प्रफुल्लित हो उठा; क्योंकि ये सब यथा मति प्रभु-सेवा में लगे हैं, पर सन्देह था कि इतनी अल्प सेवा मात्र से और हम सब की अत्यन्त हीनता पर प्रभु कैसे मिलेंगे, कैसे अपनायेंगे ? अब इन्हें पूर्ण आशा हो गई।

'तुलसिदास को प्रभु···'—'प्रभु' पद से ऐश्वर्य और 'कोसलपति' पद से माधुर्य कहा गया है। दोनों प्रकारों में आप सब प्रकार से उत्कृष्ट बलवान् हैं। ऐश्वर्य में आपके समान कोई नहीं है और माधुर्य से सौलभ्य में भी आप सभी देवों से अधिक सुलभ हैं, यही सब ऊपर पद में कहा गया है। अन्त में सारांश कथन कर पद का उपसंहार किया गया है। उपक्रम के 'श्रीरघुबीर···' इस चरण में भी ऐसा ही कथन है।

'तुलसिदास को प्रभु'—इसमें 'भाविक अलङ्कार' है।

श्रीसीता-त्रिजटा-संवाद

विरह और आश्वासन

राग जैतश्री

[४७]

कब देखौंगी नयन वह मधुर मूरति ?
राजिव-दल-नयन, कोमल, कृपा-अयन, मयननि बहु छबि अंगनि दूरति ।१।
सिरसि जटा-कलाप पानि सायक-चाप उरसि रुचिर बनमाल लूरति ।
तुलसिदास रघुबीर की सोभा सुमिरि, भई है मगन नहिं तन की सूरति ।२।

अर्थ—(श्रीजानकीजी कहती हैं—) 'मैं अपने नेत्रों से वह मधुर मूर्ति

कब देखूँगी ? उस मधुर मूर्ति (स्वामी श्रीरघुनाथजी) के लाल कमल-दल के समान नेत्र हैं, स्वभाव कोमल है, वह कृपा का स्थान है तथा वह मूर्त्ति अपने अङ्गों से बहुत कामदेवों की छबि को दूर (निरादर) करती है ॥१॥ शिर में जटाओं का समूह है, हाथों में बाण और धनुष हैं और वक्षःस्थल पर वनमाला लटकती रहती है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरघुनाथजी की शोभा का स्मरण कर श्रीजानकीजी उसमें निमग्न हो गईं, उन्हें अपने शरीर की सुधि नहीं रह गई ॥२॥

विशेष—'मधुर मूरति'—मधुरता यह कि उस मूर्त्ति का दर्शन करते रहने पर भी तृप्ति नहीं होती; यथा—"देखे तृप्ति न मानिये, सो माधुरी बखानि" यह प्रसिद्ध है। यथा—"चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृपिति न मानहिं मनु-सतरूपा॥ हरष बिबस तन दसा भुलानी। (मा० बा० १४७)। "दरसन तृपित न आजु लगि प्रेम पियासे नैन॥" (मा० अ० २६०)। 'कब देखौंगी'— यहाँ उत्कण्ठा है।

'राजिव दल नयन…'—शृङ्गार रस की रीति से शोभा-दर्शन का प्रसंग है, इसीसे नायक के नेत्र से शोभाकथन का प्रारम्भ किया गया है, यह अत्यन्त उपयुक्त है। जो नेत्रादि की शोभा पर मुग्ध हो समीपता चाहता है, उस पर प्रभु करुणा करके अत्यन्त कोमल चित्त से कृपा करते हैं, इससे साथ ही 'कोमल कृपा-अयन' भी कहा है; यथा—"अतिकोमल रघुबीर सुभाउ। जद्यपि अखिल लोक कर राऊ॥ मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिही। उर अपराध न एकौ धरिही॥" (मा० सुं० ५६); 'मयननि बहु छबि…'; यथा—"अंग-अंग पर वारिअहि, कोटि-कोटि सत काम॥" (मा० बा० २२०)।

'सिरसि जटा कलाप'—इससे सात्त्विक-चित्त सूचित किया। 'पानि-सायक-चाप'—इससे रक्षण—सामर्थ्य का अनुभव किया; यथा—"राम बान रबि उये जानकी। तम बरूथ कहँ जातुधान की॥" (मा० सुं० १५)।

'उरसि रुचिर बनमाल लूरति'; यथा—"जटा मुकुट सिर उर बनमाला॥" (मा० अर० ३२); "भूषन बनमाला" (मा० बा० १९१)। वनमाला; यथा—"तुलसीकुंदमंदार पारिजात सरोरुहैः। पञ्चभिर्गंथिता माला वनमाला प्रकीर्तिता॥" यह प्रसिद्ध है।

'रघुबीर की शोभा सुमिरि···'; यथा—"सखिहि सुसिख दई, प्रेम मगन भई, सुरति बिसरि गई आपनी ओही। तुलसी रही है ठाढ़ी पाहन गढ़ी-सी काढ़ी, कौन जाने, कहाँ ते आई, कौन की, को ही॥" (अ० १९)।

राग केदारा

[४८]

कहु, कबहुँ देखिहौं आली हौं आरज-सुवन।
सानुज सुभग-तनु, जब ते बिछुरे बन, तब ते दव-सी लागी तीनिहु भुवन॥
मूरति सूरति किये प्रगट प्रीतम हिये, मन के करन चहैं चरन छुवन।
चित्त चढ़िगो बियोग, दसा न कहिबे जोग, पुलकगात, लागे लोचन चुवन॥
तुलसी त्रिजटा जानी, सिय अति अकुलानी मृदुबानी कह्यो ऐहैं दवन-दुवन
तमीचर-तमहारी सुरकंज-सुखकारी रविकुल-रबि अब चहत उवन॥

अर्थ—आली त्रिजटे! कहो तो भला, अपने छोटे भाई के साथ सुन्दर शरीरवाले आर्य पुत्र (स्वामी) को मैं कभी देखूँगी? वे वन में जब से बिछुड़े हैं, तब से मुझे तो तीनों लोकों में दावानल-सा लगा हुआ है॥१॥ उस मूर्ति का स्मरण करने पर प्रियतम (स्वामी) मेरे हृदय में प्रकट हो जाते हैं और मेरे मन के हाथ उनका चरण छूना चाहते हैं, उसी समय प्रियतम का वियोग चित्त में चढ़ गया, उसकी दशा कहने योग्य नहीं है, शरीर पुलकित हो गया और नेत्र जल (आँसू) चुवाने लग गये॥२॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यह सुनकर त्रिजटा ने जाना कि श्रीसीताजी अत्यन्त व्याकुल हो गई हैं, तब उसने कोमल वाणी से कहा कि शत्रु का दमन करनेवाले प्रभु आवेंगे। निशाचर रूप तम का नाश करनेवाले और देवता रूप कमल के लिये सुखकर सूर्यकुल के सूर्य अब शीघ्र ही उगना चाहते हैं॥३॥

विशेष—'तब ते दव-सी लागी तीनिहु भुवन'; यथा—"डहकु न है उँजियरिया निसि नहिं घाम। जगत जरत अस लाग मोहिं बिनु राम॥" (बरवै रा० २७); "सरद चाँदनी सँचरत चहुँ दिसि आनि। बिधुहि जोरि कर बिनवति कुलगुरु जानि॥" (बरवै रा० ४१)।

'मूरति सूरति किये···'—ध्यान में आ जाने पर प्रियतम का साक्षात्कार हो जाता है और मानसिक हाथों से मैं उनका चरण छूना चाहती हूँ तो तत्काल

ही वियोग चित्त में आकर उस आनन्द को नष्ट कर देता है और फिर विरह की दशा आ जाती है; यथा—"कबहुँ प्रथम ज्यों जाइ जगावति'''कबहुँ समुझि बन गवन राम को रहि चकि चित्र लिखी-सी। तुलसिदास वह समय कहे तें लागति प्रीति सिखी-सी॥" (अ० ५२)।

'ऐहैं दवन-दुवन'—'शत्रु का दमन करनेवाले आयेंगे'। ऐसा कहकर व्याकुलता को प्रथम शान्त किया; क्योंकि श्रीजानकीजी यही चाहती हैं; यथा-"यदि रामो दशग्रीवमिह हत्वा सराक्षसम्। मामितो गृह्य गच्छेत तत्तस्य सदृशं भवेत्॥" (वाल्मी० ५।३७।६४); अर्थात् राक्षसों के साथ रावण को मारकर और मुझे लेकर यदि श्रीरामजी यहाँ से जायँ तो यह उनके योग्य होगा। फिर साथ ही रूपक के द्वारा शीघ्र शोक-निवारण की प्रक्रिया कहती है—

'तमीचर तम हारी'''; यथा—"लोकपतिसोककोक, मूँदे कपि कोकनद, दंड द्वै रहे हैं रघु आदित उवन के॥" (क० लं० ३)। जैसे सूर्य के उदय पर विना श्रम ही तम का नाश और कमल वन की प्रफुल्लता हो जाती है, वैसे ही प्रभु के यहाँ आते ही शत्रु राक्षसों का नाश और देवताओं की प्रफुल्लता हो जायगी, उन्हें कुछ भी श्रम न पड़ेगा और न कुछ विलम्ब ही होगा; यथा—"निसिचर निकर पतंग सम, रघुपति बान कृसानु। जननी हृदय धीर धरु, जरे निसाचर जानु॥'''राम बान रवि उये जानकी। तम बरूथ कहँ जातुधान की॥" (मा० सुं० १५); "न तु कहु कहँ रघुपति सायक रबि तम बरूथ कहँ जातुधान की॥" (पद ११); इत्यादि।

[४९]

अब लौं मैं तोसों न कहे री।
सुनु त्रिजटा! प्रिय प्राननाथ बिनु बासर-निसि दुख दुसह सहे री॥१॥
बिरह बिषम बिष बेलि बढ़ी उर, तें सुख सकल सुभाय दहे री।
सोइ सींचिबे लागि मनसिज के रहँट नयन नित रहत नहे री॥२॥
सर-सरीर सूखे प्रान बारि-चर जीवन आस तजि चलन चहे री।
तैं प्रभु सुजस सुधा सीतल करि राखे, तदपि न तृप्ति लहे री॥३॥
रिपु रिस घोर नदी बिबेक बल धीर सहित हुते जात बहे री।
दै मुद्रिका-टेक तेहि औसर, सुचि समीर-सुत पैरि गहे री॥४॥

'तुलसिदास' सब सोच पोच मृग मन कानन भरि पूरि रहे री।
अब सखि सिय सँदेह परिहरु हिय, आइ गये दोउ बीर अहे री ॥५॥

अर्थ—हे सखि त्रिजटे ! सुनो, मैंने तुझसे अभी तक नहीं कहा था, (अब कहती हूँ) । प्यारे प्राणनाथ के बिना मैंने दिन-रात दुस्सह दुःख सहे हैं ॥१॥ मेरे हृदय में विषम विरह रूप विष की बेलि बढ़ी हुई है, उसने स्वभाव से ही समस्त सुखों को जला दिया है । उसी बेलि को सींचने के लिये ही मेरे नेत्र रूप कामदेव के रहट नित्य नधे (जोते) रहते हैं ॥२॥ मेरा शरीर रूप सरोवर अब सूख गया है, इससे मेरे प्राण रूप जलचर जीवन की आशा छोड़कर अब इसमें से चले जाना चाहते हैं । इस पर तुमने प्रभु के सुयश रूप अमृत से सींचकर शीतल करके यद्यपि इन्हें रक्खे हैं तथापि इन्हें तृप्ति नहीं प्राप्त हुई है ॥३॥ शत्रु का क्रोध घोर नदी के समान है, उसमें विवेक के बल (सैनिक) धैर्य के साथ बहे जाते थे, परन्तु उसी अवसर पर मुद्रिका का सहारा देकर पवित्र चित्त पवनकुमार ने तैर कर ग्रहण कर रक्खा है ॥४॥ मेरे मन रूप वन में सब प्रकार के शोच रूप तुच्छ मृग भर कर पूर्ण हो रहे हैं । (इस पर त्रिजटा ने कहा—) 'हे सखि सीते ! अब अपने हृदय से सन्देह का त्याग करो, (इन मृगों का आखेट करनेवाले) दोनों अहेरी वीर आ गये (इन मृगों को वे ढूँढ़-ढूँढ़ कर मारेंगे)' ॥५॥

विशेष—'प्रिय प्राननाथ बिनु···'—दुसह दुःख का कारण प्राणपति का विरह है । उस विरह का वर्णन कई रूपकों से करती हैं ।

'बिरह बिषम बिष बेलि···'—विषम-विष की बेलि जहाँ फैली रहती है, वहाँ के आस-पास के वृक्ष आदि जल जाते हैं, वैसे हृदय में विरह रूप विषम विष वेलि फैली, इससे सारे सुख जल गये हैं । इस बेलि ने अपने स्वभाव से जला दिये हैं । विषम-विरह का स्वभाव ही सारे सुखों को जलाने का होता है । उस विषम-विरह रूप वेलि को कामदेव (मानसिक अभिलाषाओं) के रहट रूप नेत्र सींच-सींच कर बढ़ाते रहते हैं । भाव यह कि स्वामी से मिलने एवं दर्शनों की विविध अभिलाषाओं से प्रेरित नेत्र निरंतर आँसू बहाया करते हैं, इससे यह विषम-विरह वेलि हरी-भरी रहती है । तथा—"ज्ञान परसु दै

मधुप पठायो बिरह बेलि कैसेहुँ कठिनाई। सो थाक्यो बरह्यों एकहिं तक देखत इनकी सहज सिंचाई॥" (कृष्ण गी० ५६)।

'सर-सरीर सूखे···'—प्रभु के विरह रूप वृष के सूर्य ने शरीर रूप सर को सुखा दिया है, इससे अब प्राण रूप मत्स्य आदि जलचर जीवन आश-छोड़ बैठे हैं; यथा—"जब ते ब्रज तजि गये कन्हाई। तब ते बिरह-रवि उदित एक रस सखि बिछुरन-वृष पाई। घटत न तेज, चलत नाहिंन रथ, रह्यो उर नभ पर छाई। इंद्रिय रूप रासि सोचहिं सुठि, सुधि सब की बिसराई॥ भयो सोक-भय-कोक-कोकनद भ्रम भ्रमरनि सुखदाई। चित चकोर, मन मोर, कुमुद-मुद सकल बिकल अधिकाई॥ तनु-तड़ाग बल बारि सूखन लाग्यो परी कुरूपता-काई। प्रान मीन दिन दीन दूबरे, दसा दुसह अब आई॥ तुलसीदास मनोरथ-मन-मृग मरत जहाँ-तहँ धाई। राम स्याम सावन-भादौं बिनु जिय की जरनि न जाई॥" (कृष्ण गी० २६)।

'तैं प्रभु सुजस सुधा···'—प्रभु-सुयश अमृत है; यथा—"राम-सीय-जस सलिल सुधा सम।" (मा० बा० ३६); तथा—"रघुकुल तिलक बियोग तिहारे।······दरसन-आस-लालसा मन महँ राखे प्रभु ध्यान प्रान-रखवारे। तुलसिदास पूजति त्रिजटा नीके रावरे गुन-गन-सुमन सँवारे॥" (पद १८)—इसका विशेष देखिये। 'राखे, तदपि···'—भाव यह कि प्रभु-सुयश से जीवन रुका हुआ है, पर विना साक्षात् संयोग के तृप्ति कहाँ?

'रिपु रिस घोर नदी···'—शत्रु रावण ने आकर क्रोध से बहुत धमकाया है। मारने में एक मास की अवधि दी है। इस पर विरह-व्यथा से विवेक की सेना ने धैर्य छोड़ दिया था; यथा—"त्रिजटा सन बोलीं कर जोरी। मातु बिपति-संगिनि तैं मोरी। तजौं देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई॥" से "नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि जनि करहि निदाना॥" (मा० सुं० ११) तक। आत्मघात पर तुल जाना विवेक आदि का धैर्य छोड़ कर शत्रु की क्रोध नदी में बहना है।

'दै मुद्रिका-टेक···'—जैसे नदी में बहते हुए को कोई तैराक जाकर लकड़ी आदि का सहारा पकड़ा दे, वैसे ही हनुमान्‌जी ने प्रभु की मुद्रिका देकर भरोसा देकर बचाया है। आशा हो गई कि प्रभु मुझे जान गये, अब मेरी रक्षा

अवश्य होगी। श्रीहनुमान्‌जी ने लङ्का दाह कर प्रभु के तेज का भी परिचय करा भरोसा दिया है, इस सहारे पर जीवन-आशा हो गई, पर अभी उस सरि में ही हूँ, उस सहारे पर इस सरि से पार जाना चाहती हूँ। प्रभु आवें और मुझे इस सरि से निकालें, तभी दुःख दूर होगा।

'सब सोच पोच मृग...'—श्रीहनुमान्‌जी के आने पर विरह-व्यथा के शोकों को यहाँ मन-वन का मृग कहा है; यथा—"बिरह अगिनि तनु तूल समीरा।" से "निमिष-निमिष करुनानिधि, जाहिं कलप सम बीति। बेगि चलिअ प्रभु आनिअ भुजबल खल दल जीति॥" (मा० सुं० ३०-३१) तक।

'अब सखि सिय सँदेह...'—अहेरी (शिकारी) मृगों को स्वतः उत्साह से ढूँढ़-ढूँढ़ कर मारते हैं, वैसे वे दोनों भाई शीघ्र ही आ रहे हैं, आ गये ही समझो। वीर अहेरी फिर मृगों को कब छोड़ सकते हैं? इस वचन पर आप प्रभु के आने एवं शोक-निवारण के विषय के संदेह का त्याग करो।

इस पद के २,३,४,५ इन सब चरणों में 'रूपक अलङ्कार' है।

राग बिलावल

[५०]

सो दिन सोने को, कहु, कब ऐहै ?
जा दिन बँध्यो सिंधु त्रिजटा! सुनु, तू संभ्रम आनि मोहिं सुनैहै ॥१॥
बिस्व दवन सुर-साधु-सतावन रावन कियो आपनो पैहै।
कनकपुरी भयो भूप बिभीषन, बिबुध-समाज बिलोकन धैहै ॥२॥
दिव्य दुंदुभी, प्रसंसिहैं मुनि गन, नभ तल बिमल बिमाननि छैहै।
बरषिहैं कुसुम भानुकुलमनि पर, तब मोको पवनपूत लै जैहै ॥३॥
अनुज सहित सोभिहैं कपिन महँ, तनु छबि कोटि मनोजहि तैहै।
इन्ह नयनन्हि यहि भाँति प्रानपति निरखि हृदय आनँद न समैहै ॥४॥
बहुरो सदल सनाथ सलछिमन कुसल कुसल बिधि अवध देखैहै।
गुरु, पुर लोग, सास, दोउ देवर, मिलत दुसह उर तपनि बुतैहै ॥५॥
मंगल-कलस, बधावने घर-घर, पैहैं माँगने जो जेहि भैहै।
बिजय राम राजाधिराज को, तुलसिदास पावन जस गैहै ॥६॥

अर्थ—(श्रीजानकीजी कहती हैं—) हे त्रिजटे! कहो तो भला, वह सोने

का दिन (स्वर्ण-दिवस, अमूल्य दिवस) कब आवेगा ? जिस दिन तू शीघ्रता से आकर मुझे सुनावेगी कि (हे सखि सीते !) सुनो, 'सागर बँध गया' ॥१॥ संसार का दमन करनेवाला तथा देवताओं और साधुओं को दुःख देनेवाला रावण अपने किये का फल पावेगा। स्वर्णपुरी लङ्का के राजा श्रीविभीषणजी हुए—यह देखने के लिये देवताओं का समाज दौड़ेगा ॥२॥ आकाश में दिव्य नगाड़ों की गूँज होगी, मुनिगण प्रशंसा करेंगे और आकाश की सतह विमानों से आच्छादित हो जायगी। (उन विमानों पर से देवगण) सूर्यकुलशिरोमणि श्रीरामजी पर फूलों की वर्षा करेंगे, तब पवन कुमार श्रीहनुमान्‌जी मुझे (प्रभु के पास) लिवा ले जायँगे ॥३॥ जिस समय स्वामी श्रीरामजी अपने छोटे भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ वानरों में सुशोभित होंगे और अपने शरीर की छवि से वे करोड़ों कामदेवों को लज्जित कर संतप्त करेंगे, उस समय अपने इन नेत्रों से इस भाँति प्राणनाथ को देख कर मेरा हृदय आनंद से फूला नहीं समायेगा ॥४॥ क्या फिर कुशलपूर्वक सेना, स्वामि और श्रीलक्ष्मणजी के साथ सकुशल श्रीअयोध्या विधाता दिखायेगा ? उस समय गुरु, पुरजन, सास और दोनों देवरों से मिलते ही हृदय की दुस्सह तपनि बुझा जायगी ॥५॥ उस समय घर-घर पर मङ्गल-कलश सजाये जायँगे और बधाइयाँ बजेंगी। याचकों में जिसे जो पदार्थ अच्छा लगेगा, वह वही पायेगा और राजाधिराज श्रीरामजी महाराज के विजय का पवित्र यश का तुलसीदास गान करेगा ॥६॥

विशेष—'सो दिन सोने को…'—वियोग—शृङ्गार की ११ दशाएँ होती है; यथा—"इक वियोग शृंगार की, ग्यारह दशा बखान। अभिलाषा चिंता बहुरि, सुमिरण अरु गुणगान ॥ त्यों उद्वेग प्रलाप पुनि, उन्मादहु अरु व्याधि। जड़ता मूर्छा मरण कह, कवि ग्रन्थन मत साधि ॥" (काव्य-प्रभाकर-भानु कवि)। इनमें पहली 'अभिलाषा' का इस पद में वर्णन है।

श्रीजानकीजी अपने स्वामी से मिलने में हेतभूत अभिलाषाएँ करती हैं—श्रीजानकीजी लङ्का में प्रभु विरह में श्रीरामनाम का जप करती हैं—पद २ के 'रटति निसिवासर निरंतर राम राजिव नयन।' इसका विशेष देखिये। इसीसे इनकी ये अभिलाषाएँ ज्यों की त्यों पूरी होंगी; क्योंकि श्रीरामनाम कल्पवृक्ष के समान कामपूरक है; यथा—"नाम राम को कलपतरु, कलि कल्यान-निवास।"

(मा० बा० २६); तथा—"राम नाम कामतरु जोई जोई माँगिहै । तुलसिदास स्वारथ परमारथ न खाँगिहै ।।" (वि० ७०)। 'संभ्रम'—क्योंकि समुद्र पर सेतु बँधना आश्चर्य कर्म है। रावण भी सुन कर घबरा गया है; यथा—"सुनत श्रवन बारिधि बंधाना। दसमुख बोलि उठा अकुलाना ॥" से "निज बिकलता बिचारि बहोरी।" (मा० लं० ४-५) तक। तथा—"सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी। संभ्रम चलि आई सब रानी ।।" (मा० बा० १९२)। आश्चर्य कृत्य पर शीघ्रता से दौड़ने के अर्थ में यह संभ्रम शब्द आता है। त्रिजटा ने कहा भी है; यथा—"बिनय सनेह सों कहति सीय त्रिजटा सों पाये कछु समाचार आरज सुवन के ?"। "पाये जू ! बँधायो सेतु, उतरे कटक कुलि आये देखि-देखि दूत दारुन दुवन के ॥" (क० लं० ३)।

'बिस्व दवन···'; यथा—"बिस्वद्रोहरत यह खल कामी। निज अघ गयो कुमारग गामी ॥" (मा० लं० १०८); "लंकेस अति बल गर्व। किये बस्य सुर गंधर्व ।। मुनि सिद्ध नर खग नाग। हठि पंथ सब के लाग ॥ पर द्रोहरत अति दुष्ट पायो सो फल पापिष्ट ।।" (मा० लं० १११)। ऐसे कुमार्गी सन्तान पर भी माता 'अपना किया पावेगा' यही कहती हैं। अपनी ओर से अपकार के प्रति कुछ नहीं कहतीं।

'कनकपुरी भयो भूप···'—इस अभिलाषा का समर्थन त्रिजटा ने किया है; यथा—"त्रिजटा कहत···राज दै निवाजिहैं बजाइ कै बिभीषनै, बजैंगे व्योम बाजने बिबुध प्रेम पोषिहैं।" (क० लं० २)। विभीषणजी दीन थे, उन्हें त्रिलोक-विजयी रावण की अर्जित स्वर्ण पुरी श्रीरामकृपा से मिली; यह देखने के लिये देव-समाज दौड़ेगा। तथा—"पवि को पहार कियो ख्याल ही कृपालु राम, बापुरो बिभीषन घरौंधा हुतो बालको।" (क० उ० १७); विभीषणजी की राजगद्दी होने पर देवगण आए हैं और श्रीरामजी की स्तुति किये हैं, यह रामचरितमानस में स्पष्ट है।

'दिव्य दुंदुभी···'; यथा—"बरषहिं सुमन देव-मुनि बृंदा। जय कृपालु जय-जयति मुकुंदा ॥ जय कृपाकंद मुकुंद द्वन्द हरन सरन सुखप्रद प्रभो। खल दल बिदारन परस कारन कारुनीक सदा बिभो ॥ सुर सुमन बरषहिं हरष संकुल बाज दुंदुभी गहगही।" (मा० लं० १०२); यह रावण-मरण पर कहा

गया है। वहीं पर 'सुर-मुनि-सिद्ध' आदि का मन्दोदरी रुदन सुनना और "अज महेस नारद सनकादी। जे मुनिवर परमारथबादी॥" का रघुपति-दर्शनार्थ रहना आकाश तल में विमानों की स्थिति प्रकट करता है।

'पुनि मोको पवनपूत लै जैहहिं'; यथा—"सुनि संदेस भानुकुलभूषन। बोलि लिये जुवराज बिभीषन॥ मारुतसुत के संग सिधावहु। सादर जनकसुतहि लै आवहु॥" (मा० लं० १०७)।

'अनुज सहित सोभिहैं···'—श्रीसीताजी ने लङ्का से आकर इस प्रकार प्रथम प्रभु को देखा है, पीछे अग्नि-परीक्षा का प्रसंग चला है। वाल्मी० ६। ११४।३४-३५ में श्रीजानकीजी का पति-मुख देखकर आनन्दित होना है। पीछे अग्नि-परीक्षा की बात हुई है।

'बहुरो सदल···गुरु, पुर लोग···मंगल कलस···'—ये सब बातें चरित में स्पष्ट कही ही गई हैं।

'बिजय राम राजाधिराज को···'—राजा रूप में कपटी राक्षसों से भी युद्ध करने में श्रीरामजी ने छल-कपट न कर सरल युद्ध से विजय प्राप्त किया है। इससे आपका यह यश परम पावन है; यथा—"यह रावनारि चरित्र पावन रामपद-रतिप्रद सदा।···समर बिजय रघुबीर के चरित जे सुनहिं सुजान। बिजय बिबेक बिभूति नित, तिन्हहि देहिं भगवान॥" (मा० लं० १२०)।

[५१]

सिय ! धीरज धरिये राघव अब ऐहैं।
पवनपूत पहिँ पाइ तिहारी सुधि, सहज कृपालु, बिलंब न लैहैं॥१॥
सेन साजि कपि-भालु कालसम कौतुक ही पाथोधि बँधैहैं।
घेरोइ पै देखिबो लंकगढ़ बिकल जातुधानी पछितैहैं॥२॥
निसिचर सलभ कृसानु राम सर उड़ि-उड़ि पात जरत जड़ जैहैं।
रावन करि परिवार अगमनो जमपुर जरत बहुत सकुचैहैं॥३॥
तिलक सारि अपनाइ बिभीषन अभय-बाँह दै अमर बसैहैं।
जय धुनि मुनि बरषिहैं सुमन सुर, ब्योम बिमान निसान बजैहैं॥४॥
बंधु समेत प्रानबल्लभ पद परसि सकल परिताप नसैहैं।
राम बाम दिसि देखि तुम्हहिं सब नयनवंत लोचन फल पैहैं॥५॥

तुम अति हित चितइ हौ नाथ-तनु, बार-बार प्रभु तुम्हहिं चितैहैं।
यह सोभा, सुख समउ बिलोकत काहू तो पलकैं नहिं लैहैं ॥६॥
कपिकुल-लखन-सुजस-जय-जानकि सहित कुसल निज नगर सिधैहैं।
प्रेम पुलकि आनंद मुदित मन तुलसिदास कल कीरति गैहैं ॥७॥

अर्थ—(त्रिजटा ने कहा—) हे श्रीसीताजी ! धैर्य धारण कीजिये, श्रीरघुनाथजी अब आवेंगे। वे परम कृपालु हैं। अतः, श्रीपवनकुमार से आपके समाचार पाकर बिलम्ब न लगावेंगे ॥१॥ काल के समान भयङ्कर वानर-भालुओं की सेना सजाकर वे खेल में ही (क्रीड़ापूर्वक) समुद्र बँधा देंगे (पुलमार्ग बना लेंगे)। निश्चय करके आप लङ्का के किले को घेरा हुआ ही देखेंगी। राक्षसियाँ व्याकुल होकर पछिताएँगी ॥२॥ मूर्ख राक्षस रूप जड़ पतंगे श्रीरामजी के बाण रूप अग्नि में उड़-उड़ कर पड़ते और जलते जायँगे। अपने परिवार को आगे करके यमपुर जाते हुए रावण बहुत सकुचावेगा ॥३॥ श्रीरामजी श्रीविभीषणजी को लङ्का का राज्यतिलक सम्पन्न कर इसे अपनाएँगे और देवताओं को अपने बाहुबल पर निर्भय रहने का भरोसा दे उन्हें उनके लोकों में बसायेंगे। मुनिगण जय ध्वनि करेंगे और देवगण आकाश में विमानों पर आरूढ़ हो फूल बरसावेंगे तथा नगाड़े बजायेंगे ॥४॥ भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ बैठे हुए अपने प्राण-प्यारे पति के चरण स्पर्श करने से आपके सारे सन्ताप नष्ट हो जायँगे और श्रीरामजी के वाम भाग में विराजमान आपको देखकर सब आँख वाले अपनी-अपनी आँखों के फल पावेंगे ॥५॥ आप अत्यन्त प्रीतिपूर्वक अपने स्वामी की ओर देखोगी और प्रभु बार-बार आपको देखेंगे। यह शोभा और सुखमय समय देखते हुए कोई भी पलकें नहीं लगायेंगे ॥६॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वानर परिवार, श्रीलक्ष्मणजी, सुयश और श्रीजानकीजी के साथ प्रभु कुशलपूर्वक अपने नगर श्रीअवध पधारेंगे। प्रेम और आनन्द से पुलकित हो और आनन्दित मन से दास लोग प्रभु की सुंदर कीर्ति का गान करेंगे ॥ ७ ॥

विशेष—'सिय धीरज ''पवनपूत पहिँ...'—श्रीहनुमान्‌जी ने कहा था; यथा—"जौं रघुबीर होत सुधि पाई। करते नहिं बिलंब रघुराई ॥" (मा० सुं० १५); वैसा ही हुआ भी है; यथा—"कपि के सुनि कल कोमल बैन।

...'धरि-धरि धीर बीर कोसलपति किये जतन सके उत्तर दैन। तुलसिदास प्रभु सखा अनुज सों सैनहिं कह्यो चलहु सजि सैन॥" (पद २१); वे सहज कृपालु हैं। अतः, कृपा करके शीघ्र आवेंगे। प्रभु ने कहा भी है—"अब बिलंब केहि कारन कीजै।" (मा० सुं० ३३)।

'सेन साजि कपि भालु काल सम...'; यथा—"इत कपि भालु काल सम बीरा।" (मा० लं० ७१); कौतुक ही पाथोधि बँधैहैं'; यथा—"कौतुक एक भालु कपि करहू॥ ...अति उतंग गिरि पादप, लीलहिं लेहिं उठाइ।... कंदुक इव नल नील ते लेहीं॥" (मा० लं० १); इस प्रकार कौतुक में ही सेतु बँधा है। तथा—"मंदोदरी सुन्यो प्रभु आयो। कौतुक ही पाथोधि बँधायो॥" (मा० लं० ५)।

'घेरोइ पै देखिबो लंक गढ़'; यथा—"घटाटोप करि चहुँ दिसि घेरी।" (मा० लं० ३७); तथा—"कृत्स्नं हि कपिभिर्व्याप्तं प्राकारपरिवान्तरम्। ददृशू राक्षसा: दीनाः प्राकारं वानरीकृतम्। हाहाकारमकुर्वन्त राक्षसा भयमागताः॥" (वाल्मी० ६।४१।९८); अर्थात् समस्त लंका की चारदीवारी और खाईं वानरों से भर गईं। लंका की चारदीवारी को वानर रूप में दीनतापूर्वक राक्षस देखने लगे और डरकर हाहाकार करने लगे। 'बिकल जातुधानी पछितैहैं'; यथा—"हाहाकार भयो पुर भारी। रोवहिं बालक आतुर नारी॥ सब मिलि देहिं रावनहिं गारी। राज करत एहि मृत्यु हँकारी॥"(मा०लं०४१)।

'निसिचर सलभ...'; यथा--"निसिचर निकर पतंग सम, रघुपति बान कृसानु॥ जननी हृदय धीर धरु, जरे निसाचर जानु॥" (मा० सुं० १५); 'राम रोष पावक अति घोरा। होइहि सकल सलभ कुल तोरा॥" (मा० अर० २८); "चली तमीचर अनी अपारा। बहु गज रथ पदाति असवारा॥ प्रभु सन्मुख धाए खल कैसे। सलभ समूह अनल कहँ जैसे॥" (मा० लं० ८५)।

यहाँ 'रूपकालङ्कार' है।

'रावन करि परिवार अगमनो...'—रावण ने पहले अपने परिवार के लोगों को युद्ध में लगा मरवा कर तब स्वयं जूझा है, इससे यमपुर यात्रा में परिवार के लोग उससे पहले (आगे) गये हैं। 'बहुत सकुचैहै'; यथा—"जो मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन जाइ।" (मा० अर० २१)—यह श्री

रामजी की प्रतिज्ञा है; तथा—"तात ! त्वं निजतेजसैव गमितः स्वर्गं व्रज स्वस्ति ते, ब्रूमस्त्वेकमिमां वधू हृतिकथां तातान्तिके मा कृथाः । रामोऽहं यदि तद्दिनैः कतिपयैर्व्रीड़ानमत्कंधरः, सार्धं बंधुजनेन सेन्द्रविजयी वक्ता स्वयं रावणः ॥" (हनुमन्नाटक ५।१६)।

'तिलक सारि अपनाइ···'; यथा—"तुरत चले कपि सुनि प्रभु बचना। कीन्हीं जाइ तिलक की रचना ॥ सादर सिंहासन बैठारी। तिलक सारि अस्तुति अनुसारी ॥" (मा० लं० १०४); तथा—"देखि कोष मंदिर संपदा। देहु कृपालु कपिन्ह कहँ मुदा ॥ सब बिधि नाथ ! मोहिं अपनाइय।" विभीषणजी की इस प्रार्थना पर प्रभु ने उन्हें अपनाते हुए कहा है—"तोर कोष गृह मोर सब, सत्य बचन मम आत।" (मा० लं० ११४–११५)।

'अभय बाँह दै अमर बसैहैं'; यथा—"दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्ह के जस अमर नाग नर सुमुखि सनाहैं ॥" (उ० १३); "अमर नाग नर राम बाहुबल। सुख बसिहहिं अपने-अपने थल ॥ यह सब जागबलिक कहि राखा।" (मा० अ० २८४), "आयसु भो लोकनि सिधारे लोकपाल सबै तुलसी निहाल कै कै दियो सरपतु हैं।" (क० लं० ५८)। 'जयधुनि···'—ऊपर पद ५० के 'दिव्य दुंदुभी···' इसका विशेष देखिये।

'राम बाम दिसि देखि···'; यथा—"सो राम बाम बिभाग राजति··· जनकसुता समेत प्रभु सोभा अमित अपार। देखि भालु कपि हरषे, जय रघुपति सुखसार ॥" (मा० लं० १०४)। 'लोचन फल'; यथा—"निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं।" (मा० अर० २५)।

'तुम अति हित चितइहौ'—बहुत काल वियोग के पश्चात् संयोग पर इस प्रकार अवलोकन होना स्वाभाविक है। अतः, हुआ ही है। तथा—"सियराम अवलोकनि परस्पर प्रेम काहु न लखि परै। मन बुद्धि बर बानी अगोचर प्रगट कबि कैसे करै ?" (मा० बा० ३२२)—वहाँ संकेत कर दिया है, इससे यहाँ नहीं लिखा।

'कपिकुल-लखन-सुजस'; यथा—"रिपु रन जीति सुजस सुर गावत। सीता सहित अनुज प्रभु आवत ॥" (मा० उ० १)। "कपि पति नील रीछ

पति' 'अतिसय प्रीति देखि रघुराई। लान्हें सकल बिमान चढ़ाई॥" (मा० लं० ११७); 'प्रेम-पुलकि आनंद' में तन, 'मुदित मन' में मन और 'कीरति गैहैं' में वचन से भक्त कृतार्थ होंगे, ऐसा कहा गया है।

लङ्काकांड

मन्दोदरी का समझाना

राग मारू

मानु अजहुँ सिख परिहरि क्रोध।
पिय पूरो आयो अब काहि, कहु, करि रघुबीर बिरोध ॥१॥
जेहि ताड़का-सुबाहु मारि, मख राखि जनायो आप।
कौतुक ही मारीच-नीच मिस प्रगट्यो बिसिष-प्रताप ॥२॥
सकल भूप बल गर्व सहित तोर्‌यो कठोर शिवचाप।
ब्याही जेहि जानकी जीति जग, हर्‌यो परसुधर दाप ॥३॥
कपट-काक साँसति-प्रसाद करि बिनु श्रम बध्यो बिराधु।
खर-दूषन त्रिसिरा-कवंध हति कियो सुखी सुर साधु ॥४॥
एकहि बान बालि मार्‌यो जेहिं, जो बल उदधि अगाध।
कहु, धौं कंत! कुसल बीती केहि किये राम अपराध ॥५॥
लाँघि न सके लोक-बिजयी तुम्ह जासु अनुज-कृत रेष।
उतरि सिंधु जार्‌यो प्रचारि पुर जाको दूत बिसेष ॥६॥
कृपासिंधु खल-बन-कृसानु सम, जस गावत श्रुति-सेखु।
सोइ बिरुदैत वीर कोसलपति, नाथ! समुझि जिय देखु ॥७॥
मुनि पुलस्ति के जस-मयंक महुँ कत कलंक हठि होहि।
और प्रकार उबार नहीं कहुँ, मैं देख्यो जग टोहि ॥८॥
चलु मिलु बेगि कुसल सादर सिय सहित अग्र करि मोहिं।
तुलसिदास प्रभु सरन-सबद सुनि अभय करै गो तोहिं ॥९॥

शब्दार्थ—टोहि (टोह = टटोल, खोज, देखभाल) = पता लगाकर, खोजकर।

अर्थ—(मन्दोदरी रावण से कहती है—) हे प्रिय! अब भी आप क्रोध

छोड़कर शिक्षा मानें। कहिये तो भला, श्रीरघुनाथजी से विरोध करके इस स किसका पूरा पड़ा है ? ॥१॥ जिन्होंने (बाल्यावस्था में ही) ताटका और सुब को मारकर तथा श्रीविश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा कर अपने (प्रभाव) को प्र किया है, तथा खेल में ही नीच मारीच के व्याज से अपने बाण का प्रताप प्र किया है ॥२॥ समस्त राजाओं के बल के अभिमान के साथ जिन्होंने कठोर शि धनुष तोड़ा है और सारे जगत् को जीत कर श्रीजानकीजी को व्याहा है त श्रीपरशुरामजी का दर्प दूर किया है ॥३॥ जिन्होंने कपट से कौआ बने हु जयंत की दुर्दशा कर फिर (शरण होने पर) उस पर कृपा करके बिना श्र ही विराध राक्षस का वध किया है और फिर खर, दूषण, त्रिशिरा और कबं को मार कर देवताओं और साधुओं को सुखी किया है ॥४॥ जिन्होंने एक ही बाण से उस वाली का वध किया है, जो बल में समुद्र के समान अथाह था हे स्वामिन् ! कहो तो, उन श्रीरामचन्द्रजी का अपराध करने पर किसकी कुशल पूर्वक (आयु) बीती है ? ॥५॥ जिनके छोटे भाई की (खींची) हुई रेखा के आप त्रिलोक विजयी होकर भी नहीं लाँघ सके थे और जिनके एक दूत विशे हनुमान् ने समुद्र उतर कर ललकार कर आपका नगर जला दिया है (आ उसका कुछ नहीं कर सके) ॥६॥ वेद और शेष आदि जिनका यश 'कृपा साग और दुष्ट रूप वन को भस्म करने को अग्नि के समान' कहकर गान करते हैं वही यशस्वी वीर अयोध्या के स्वामी श्रीरामजी हैं, हे नाथ ! अपने हृदय में विचार कर देखिये ॥७॥ आप हठ करके श्रीपुलस्त्य मुनि के यश रूप चन्द्रमा में कलङ्क रूप क्यों हो रहे हैं? मैंने सारे संसार में खोजकर देखा है कि और प्रका से आपका उबार कहीं नहीं हो सकता।॥८॥ अब आदरपूर्वक श्रीसीताजीको साथ ले और मुझे आगे कर शीघ्र ही चलकर श्रीरामजी से मिलिये (इसी में उबा है)। आपके मुख से शरण शब्द सुनते ही वे प्रभु आपको निर्भय कर देंगे ॥९॥

विशेष—'मानु अजहुँ सिय···'—श्रीरामचरितमानस में मन्दोदरी ने रावण को चार बार समझाया है। वहाँ के चौथी बार के समझाने के अनुसार यहाँ का समझाना है। 'मानु अजहुँ··' इसका भाव यह कि तीन बार की शिक्षा नहीं मानी तो नहीं मानी, अब भी तो मानो, न मानने में क्रोध ही कारण है, उसका त्याग करके मानो। न मानने पर भावी अनर्थ के भय दिखाने

के लिए कुछ उदाहरण कहती है कि उनका विरोध करने पर किसी की पूरी नहीं पड़ी, देखिये—

'जेहि ताड़का सुबाहु मारि···'; यथा—"जौं नर तात! तदपि अति सूरा तिन्हहिं बिरोधि कि आइहि पूरा ॥ जेहि ताडका-सुबाहु हति, खंडेउ हर कोदंड। खर-दूषन-त्रिसिरा बध्यो, मनुज कि अस बरिबंड॥" (मा०अर० २४-२५); अर्थात् इन कर्मों से उन्होंने अपने में ईश्वरत्व प्रकट कर अपने को जना दिया है। 'कौतुक ही मारीच नीच मिस···'—बाल-क्रीड़ा के समान मारीच ऐसे वीर को विना गाँसी के बाण से सौ योजन सागर के पार फेंक दिया है; यथा—"सुनि मारीच···बिनु फर बान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा॥" (मा० बा० २०९); नीच; यथा—"सुकृत न सुकृती परिहरइ, कपट न कपटी नीच। मरत सिखावन देइ चले, गीधराज मारीच॥" (दोहा-वली ३४१); मारीच की नीचता यह कि श्रीरामजी ने इसे एक बार छोड़ दिया और अपने बाण का प्रताप भी जना दिया था, फिर भी इसने उन स्वामी से अन्त में छल ही किया है और लौकिक स्वामी रावण के प्रति भी इसने उसका समूल नाश कर अपने मरने का बदला सधाने की दृष्टि से छल ही किया है कि मैं तो यों बदला नहीं ले सकता, यह मार ही डालेगा। हाँ, सीता-हरण इससे करवा दूँ तो श्रीरामजी इसका समूल संहार कर डालेंगे। यह अभिप्राय इसका वाल्मीकीय रामायण ३।४१।१७ में स्पष्ट कहा गया है। विना फर के बाण से उड़ा कर उसे उतना दूर फेंकने में बाण-प्रताप है।

'सकल भूप बल गर्व सहित···'; यथा—"मंद महीपन्ह कर अभि-मानू॥···संकर चाप जहाज, सागर रघुबर बाहु बल। बूड़ सो सकल समाज, चढ़ा जो प्रथमहि मोह बस॥" (मा० बा० २५९-२६१); इसमें धनुष टूटने के साथ मंद महीपों के अभिमान का भी टूटना कहा गया है। वह धनुष तीनों लोकों के आये राजा रूप सुभटों से नहीं टूटा था, उस पर उन सबका गर्व था कि हमसे नहीं टूटा तो किसी से भी तो नहीं टूटा, जब श्रीरामजी ने तोड़ दिया तब साथ ही उन भूपों का गर्व भी टूट गया।

'ब्याही जेहि जानकी···'—विश्व के वीर धनुर्भंग में हार चुके थे, धनुष तोड़ कर रामजी विश्व-विजयी हो गये। यही विश्व जीत कर श्रीजानकी-को ब्याहना है। तथा—"बिस्व बिजय जस जानकि पाई।" (मा०बा० ३५६);

विश्व में-से पृथक्-से रहनेवाले परशुरामजी का भी पराजित होना साथ ही कहते हैं। उनका केवल गर्व-हरण किया है; यथा—"सहसभुज-मत्त-गजराज-रन केसरी परसुधर गर्व जेहि देखि बीता ॥" (क० लं० १७)। तथा—"उग्र भार्गवागर्व-गरिमापहर्त्ता।" (वि० ५०)।

'कपट काक साँसति···'—मा० अर० १-२ में इसकी दुर्दशा और फिर इस पर श्रीराम-कृपा, यह दोनों चरित में स्पष्ट है। वह पहले भय से तीनों लोकों में फिरा, किसी ने बैठने भी नहीं दिया, यह दुर्दशा है फिर शरण होने पर रक्षा हुई, यह कृपा है।

'बिनु श्रम बध्यो बिराध'; यथा—"मिला असुर बिराध मग जाता। आवत हीं रघुबीर निपाता ॥" (मा० अर० ६)।

'खर-दूषन-त्रिसिरा कबंध हति···'; यथा—"जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर नर मुनि सबके भय बीते ॥" (मा० अर० २०); "जिन्ह कर भुज बल पाइ दसानन। अभय भये बिचरत मुनि कानन ॥" (मा० अर० २१); यह खर-दूषण और त्रिसिरा के वध पर कहा गया है। कबन्ध-वध के साथ विप्र-निष्ठा का महत्त्व बहुत कहा गया है—मा० अर० ३३ देखिये।

'एकहि बान बालि मार्यो जेहि···'—वाली ने रावण को भी काँख में दाब रक्खा था। अतः, उसके बल की अगाधता का क्या कहना है? "सो नर क्यों दसकंध, बालि बध्यो जेहि एक सर। बीसहु लोचन अंध, धिग तव जन्म कुजाति जड़ ॥" (मा० लं० ३२); अर्थात् श्रीरामजी नर नहीं हैं, ईश्वर हैं। 'किये राम अपराध'—उपर्युक्त सभी राम अपराध करनेवाले हैं, यह तो स्पष्ट है, वाली ने क्या अपराध किया था? इसका उत्तर; यथा—"मम भुजबल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी ॥" (मा० कि० ८); यह श्रीरामजी ने ही कहा है। तथा—"कहा बिभीषन लै मिल्यो, कहा बिगारी बालि। तुलसी प्रभु सरनागतहि, सब दिन आए पालि ॥" (दोहावली १५६)।

'लाँघि न सके··उतरि सिंधु···'; यथा—"रामानुज लघु रेख खचाई। सोउ नहिं नाँघेहु असि मनुसाई ॥" (मा० लं० ३४); केशव कवि ने भी कहा है; यथा—"तव सिंधु तर्यो उनको बनरा, तुम्ह पै लघु रेख न नाँघी गई ॥" भाव यह कि उनके छोटे भाई में ऐसा प्रभाव है कि उनकी खींची हुई छोटी·

सीरेखा भी तुम नहीं लाँघ सके और तुम्हारे नगर के चारों ओर १०० योजन का अगाध समुद्र रूप प्राकृत जल दुर्ग है, इसे उनका एक दूत ही लाँघ आया और फिर उस दूत ने तुम्हें ललकार-ललकार कर तुम्हारा नगर जला डाला और तुम उसका कुछ न कर सके। तथा—"कौतुक सिंधु नाँघि तव लंका। आएउ कपि केहरी असंका॥ रखवारे हति बिपिन उजारा। देखत तोहिं अच्छ तेहि मारा॥ जारि सकल पुर कीन्हेसि छारा। कहाँ रहा बल गर्व तुम्हारा?॥" (मा० लं० ३५)।

'कृपासिंधु खल-बन-कृसानु…'—भक्तों के लिये वे कृपा के सागर हैं और दुष्टों को भस्म करनेवाले हैं; यथा—"कृपासिंधु भगवान। काल रूप खल बन दहन…" (मा० लं० ४७)।

'सोइ बिरुदैत वीर कोसलपति…'; यथा—"मुनिवर जतन करहिं जेहि लागी। भूप राज तजि होहिं बिरागी॥ सोइ कोसलाधीस रघुराया। आयउ करन तोहिं पर दाया॥" (मा० लं० ६)।

'मुनि पुलस्ति के जस…'; यथा—"रिषि पुलस्ति जस बिमल मयंका। तेहि ससि महँ जनि होहु कलंका॥" (मा० सुं० २२)। 'हठि' क्योंकि इस रानी ने चार बार समझाया है। विभीषणजी एवं माल्यवान आदि ने बहुत बार समझाया है, पर यह अपना हठ नहीं छोड़ता।

'चलु मिलु बेगि…'—पहले और उपायों का खंडन कर निश्चित उपाय यहाँ कहती है। श्रीजानकीजी को निरादर से लाया था, अब आदर पूर्वक लेकर चलो। आगे मुझे करो और मेरे पीछे तुम चलो। राघव धर्मात्मा हैं, स्त्री के पीछे छिपे हुए तुम पर क्रोध न करेंगे। तथा—"अब सुभ कहा सुनहु तुम्ह मोरा। सब अपराध छमिहि प्रभु तोरा॥ दसन गहहु तृन कंठ कुठारी। परिजन सहित संग निज नारी॥ सादर जनकसुता करि आगे। एहि बिधि चलहु सकल भय त्यागे॥ प्रनतपाल रघुवंस मनि त्राहि-त्राहि अब मोहिं। आरत गिरा सुनत प्रभु, अभय करैगो तोहिं॥" (मा० ल० १९-२०) यही अंगदजी ने भी कहा है, पर कठोर शब्दों में कहा है। शरणागत को अभय देना प्रभु की स्वभाव-सिद्ध बानि है; यथा—"कियो कृपाल अभय कालहु ते…" (पद ३९)—इसका विशेष देखिये।

अङ्गद-दौत्य

राग कान्हरा

[२]

तू दसकंठ भले कुल जायो।
तामहँ सिव-सेवा, बिरंचि-बर, भुजबल बिपुल जगत जस पायो ॥१॥
खर, दूषन, त्रिसिरा, कबंध रिपु, जेहि बाली जमलोक पठायो।
ताको दूत पुनीत चरित हरि सुभ संदेस कहन हौं आयो ॥२॥
श्रीमद, नृप-अभिमान, मोहबस, जानत अनजानत हरि लायो।
तजि ब्यलीक भजु कारुनीक प्रभु, दै जानकिहि सुनहि समुझायो ॥३॥
याते तव हित होइ, कुसल कुल अचल राज चलिहै न चलायो।
नाहि त राम-प्रताप-अनल महँ ह्वै पतंग परिहै सठ धायो ॥४॥
जद्यपि अंगद नीति परम हित कह्यो, तथापि न कछु मन भायो।
तुलसिदास सुनि बचन क्रोध अति पावक जरत मनहुँ घृत नायो ॥५॥

अर्थ—[श्रीअङ्गदजी ने कहा—] 'हे रावण ! तुम अच्छे कुल में उत्पन्न हुए हो, उसमें भी श्रीशिवजी की सेवा, श्रीब्रह्माजी के बरदान और अपने विपुल बाहु-बल से तुमने संसार में यश प्राप्त किया है ॥१॥ जो खर, दूषण, त्रिशिरा और कबन्ध के शत्रु हैं और जिन्होंने वाली को यमलोक भेज दिया है, उनका मैं दूत हूँ। उन पवित्र आचरणवाले क्लेश-हर्त्ता भगवान् का शुभ संदेश कहने के लिये मैं आया हूँ ॥२॥ तुम धन मद, राज्याभिमान और मोहवश होकर जानकर अथवा विना जाने (किसी भी प्रकार से) श्रीजानकीजी को हर लाये हो, अब उन्हें लौटा दो और कपट छोड़ कर उन करुणासागर प्रभु श्रीरघुनाथजी का भजन करो, यह मेरा समझाना मान लो ॥३॥ इससे तुम्हारा हित होगा, तुम्हारे कुल की कुशल होगी और तुम्हारा राज्य अचल हो जायगा, किसी भी विघ्नकर्त्ता से टाले न टलेगा। नहीं तो, हे मूर्ख ! तुम श्रीरामजी के प्रताप रूप अग्नि में पतंग हो, दौड़-दौड़कर पड़ोगे (नष्ट हो जाओगे) ॥४॥ यद्यपि श्रीअङ्गदजी ने यह परम हितकारिणी नीति कही तथापि रावण के मन को यह कुछ भी अच्छी नहीं लगी। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इन वचनों को सुनकर उसे अत्यन्त क्रोध हुआ, मानों जलती हुई अग्नि में घृत डाल दिया गया हो ॥५॥

विशेष—'तू दसकंठ''''ता महँ '; यथा—"उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती। सिव-बिरंचि पूजेहु बहु भाँती॥ बर पायेहु कीन्हेहु सब काजा। जीतेहु लोकपाल सब राजा॥" (मा० लं० १९); तथा—"बरुन कुबेर पवन जम काला। भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला॥ देव दनुज नर सब बस मोरे।" (मा० लं० ७); "रावन नाम जगत जस जाना। लोकप जाके बंदीखाना॥" (मा० लं० ८८)।

'खर दूषन''''ताको दूत'''—खर-दूषण आदि रावण के समान बलवान् थे; यथा—"खर-दूषन मो सम बलवंता। तिन्हहिं को मारइ बिनु भगवंता॥" (मा० अर० २२); और वाली रावण से अधिक बलवान् था, क्योंकि यह इसे काँख में दाब कर रखनेवाला था। अतः, इन्हें मारनेवाले भगवान् ही हैं। किन्तु वे 'पुनीत-चरित-हरि' हैं। अतः, अपने पवित्र आचरण से तुम्हारा भी वे क्लेश हरण करना चाहते हैं, इसीलिये मुझे दूत बना अपना शुभ संदेश कहने को भेजा है। शत्रु का भी हित करना आचरण की पवित्रता है। तथा—"काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥" (मा०लं० १६)

'श्रीमद, नृप-अभिमान'''; यथा—"नृप अभिमान मोहबस किंबा। हरि आनेहु सीता जगदंबा॥ अब सुभ कहा सुनहु तुम्ह मोरा।" (मा० लं० १९)। 'जानत-अनजानत'—रावण ने खर-दूषण वध पर श्रीरामजी को भगवान् जाना था किन्तु फिर जब उसने उनके समक्ष कपट-मृग भेजकर ईश्वरत्व की परीक्षा ली, तब इन्हें नर ही समझा, फिर बहुत बार लोगों ने इसे समझाया, पर इसने कुछ नहीं सुनी।

'तजि ब्यलीक भजु''''—वे प्रभु करुणासागर हैं, पर उन्हें कपट नहीं अच्छा लगता; यथा—"निर्मल मन जन सो मोहिं पावा। मोहिं कपट छल छिद्र न भावा॥" (मा० सुं० ४३)। तुम प्रथम ही कपट मृग भेज कर कपट के साथ उनके सम्मुख हुए और फिर छल करके उनकी प्राण प्रिया का हरण किया, इससे अभी तो नगर जला और चौथाई योद्धा मारे जा चुके। आगे और भी विपत्ति-माला आवेगी। अतः, अब उनकी पत्नी देकर कपट छोड़ कर शुद्ध भाव से उनका भजन करो, यह मेरा समझाना सुनो।

'याते तव हित होइ'''; यथा—"तव हित कारन आयउँ भाई॥"

(मा० लं० १६); "राम चरन पंकज उर धरहू। लंका अचल राज तुम्ह करहू ॥" (मा० सुं० २२)–यह श्रीहनुमान्‌जी ने भी कहा है। 'कुसल कुल'; यथा—"तब कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई ॥ सुनहुँ नाथ सीता बिनु दीन्हें। हित न तुम्हार संभु अज कीन्हे ॥" (मा० सुं० ३५)—यह मंदोदरी ने कहा है। वैसे ही यहाँ भी जानकीजी को देकर भजन करने से कुल कुशल होना कहा गया है। श्रीरामाश्रित का कोई विघ्न नहीं कर सकता; यथा—"जो पै कृपा रघुपति कृपालु की बैर और के कहा सरै। होइ न बाको बार भगत को, जो कोउ कोटि उपाइ करै ॥" (वि० १३७)—इससे 'अचल राज चलिहै न चलायो' यह कहा है।

'नाहित राम-प्रताप-अनल महँ···'; यथा—"की तजि मान अनुज इव प्रभु-पद-पंकज भृंग। होहि कि राम सरानल खल कुल सहित पतंग ॥" (मा० सुं० ५६); "तजि जानकिहि कुसल गृह जाहू। नाहिंत अस होइहि बहु बाहू ॥ राम रोष पावक अति घोरा। होइहि सकल सलभ कुल तोरा ॥" (मा० अर० २८)। यहाँ 'रूपकालंकार' है।

'जद्यपि अंगद नीति···'—श्रीअंगदजी ने नीति की दृष्टि से ही उसका परम हित होने का मार्ग कहा है कि श्रीजानकीजी को दे दो और कपट छोड़ कर करुणासागर प्रभु का भजन करो। इससे लोक में राज्य अचल रहेगा और परलोक में राम धाम पाने से परम हित होगा। तथापि उसे नहीं सुहाया। इसके पुत्र प्रहस्त ने ठीक ही कहा है—"हित मत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहँ भेषज जैसे ॥" (मा० लं० ६)।

'सुनि बचन क्रोध अति···'; यथा—"अस बिचारि भजु राम उदारा ॥ सुनत बचन रावन पर जरा। बरत अनल महँ जनु घृत परा ॥" (मा० लं० २६); अर्थात् शत्रु का भजन करने की बात सुनकर वह अत्यन्त क्रुद्ध होता है। यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षालंकार' है।

[३]

तैं मेरो मरम कछू नहिं पायो।
रे कपि कुटिल ठीठ पसु पाँवर! मोहिं दास-ज्यों डाटन आयो ॥१॥

भ्राता कुंभकरन रिपु घातक, सुत सुरपतिहि बंदि करि ल्यायो।
निज भुजबल अति अतुल कहौं क्यों, कंदुक लौं कैलास उठायो ॥२॥
सुर, नर, असुर, नाग, खग, किन्नर, सकल करत मेरो मन भायो।
निसिचर रुचिर अहार मनुज-तनु, ताको जस खल मोहिं सुनायो ॥३॥
कहा भयो बानर सहाय मिलि, करि उपाय जौं सिंधु बँधायो।
जो तरिहै भुजबीस घोर निधि, ऐसो को त्रिभुवन में जायो? ॥४॥
सुनि दससीस-बचन कपि कुंजर बिहँसि ईसमायहि सिर नायो।
तुलसिदास लंकेस कालबस गनत न कोटि जतन समझायो ॥५॥

अर्थ—[रावण ने कहा—] अरे कुटिल, धृष्ट और पशु वानर! अरे पामर! तूने मेरे प्रभाव का भेद कुछ नहीं पाया, इसीसे तू मुझे दास के समान मान कर डाटने आया है ॥१॥ अरे! मेरा भाई शत्रुओं का नाश करनेवाला कुम्भकर्ण है और मेरा पुत्र मेघनाद इन्द्र को बन्दी बना कर लाया था तथा मैं अपने अत्यन्त अतुलनीय बाहुबल का वर्णन कैसे करूँ? अरे! मैंने गेंद के समान कैलास पर्वत को उठा लिया है ॥२॥ देवता, मनुष्य, दानव एवं राक्षस, नाग, पक्षी और किन्नर, ये सब मेरा मनभाया करते हैं। मनुष्य-शरीर तो राक्षसों का प्रिय भोजन है। अरे दुष्ट! उसका यश तू मुझे सुनाने आया है ॥३॥ क्या हुआ? जो वानरों को सहाय रूप में मिला कर और उपाय करके समुद्र बँधा लिया। अरे! जो भयङ्कर समुद्र रूप मेरी बीस भुजाओं को तरेगा, ऐसा कौन तीनों लोकों में पैदा हुआ है? ॥४॥ इस प्रकार दशानन रावण के वचन सुनकर वानर श्रेष्ठ अङ्गदजी ने ईश्वर की माया को शिर नवाया। श्री-तुलसीदासजी कहते हैं कि लङ्कापति रावण इस समय काल के वश है, इससे वह करोड़ों प्रकार से समझाया जाने पर भी किसी को कुछ नहीं गनता ॥५॥

विशेष—"तैं मेरो मरम..."—प्रसंगवश मर्म पद में यहाँ प्रभाव के भेद का तात्पर्य है; क्योंकि आगे वह अपना प्रभाव ही कहता है; यथा—"जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥ तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा।" (मा० अ० १२६)।

'रे कपि कुटिल...'—अभिमानी लोग इसी प्रकार दूसरों का अपमान करते हैं; यथा—"रे कपि पोत बोलु संभारी।" (मा० लं० २०)। कटु

कहने का कारण कहता है कि मैं तेरे स्वामी का प्रतिभट (शत्रु) हूँ और तू मुझे अपने दास के समान मान कर डाँटने आया है; यह कुटिलता, ढिठाई, पशुपना और निचाई है। यह रावण अपनी दृष्टि से कहता है।

'भ्राता कुंभकरन···'; यथा—"कुंभकरन अस बंधु मम, सुत प्रसिद्ध सक्रारि। मोर पराक्रम नहिं सुनेहि, जितेउँ चराचर झारि॥" (मा० लं० २७); "अतिबल कुंभकरन अस भ्राता। जेहि कहँ नहिं प्रतिभट जग जाता॥··· समरधीर नहिं जाइ बखाना।···बारिदनाद जेठ सुत तासू। भट महँ प्रथम लीक जग जासू॥ जेहि न होइ रन सनमुख कोई। सुरपुर नितहि परावन होई॥ (मा०बा० १७९);" "कौतुक ही कैलास पुनि लीन्हेसि जाइ उठाइ। मनहुँ तौलि निज बाहु बल, चला बहुत सुख पाइ॥" (मा० बा० १७९)— इसमें 'कौतुक ही' मात्र लिखा था, यहाँ 'कंदुक लौं' कह कर स्पष्ट किया कि गेंद-क्रीड़ा के समान इसने कैलास उठाने की क्रीड़ा की थी।

'सुर, नर, असुर····'—रावण ने ही कहा है; यथा—"सुर नर असुर नाग खग माहीं। मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं॥" (मा० अर० २२); अर्थात् मेरे अनुचर के लिये (उससे सामना करने के लिये) भी कोई नहीं है। श्री हरिहर प्रसाद की टीका में 'मेरे गन को भायो' ऐसा भी पाठ मान कर अर्थ किया गया है कि ये सब मेरे अनुचर (गण) के मन का भाया करते हैं।

'सकल करत मेरो मन भायो'; यथा—"दसमुख सभा दीख कपि जाई। ····कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥ (मा० सुं० १९)।

'निसिचर रुचिर अहार मनुज···'; यथा—"कहहु कवन भय करिअ बिचारा। नर कपि भालु अहार हमारा॥" (मा० लं० ७); "भूप भुजस खल मोहिं सुनावा॥" (मा० लं २७)।

'कहा भयो बानर सहाय मिलि···'—वानरों को सहायक रूप में लेना भी हीनता ही है और फिर उपाय करके सेतु बनाया है। समुद्र से सहायता, ली गई। बरदानी नल-नील तथा अन्य वानरों ने उपाय करके सेतु बाँधा है, इसमें क्या हुआ? अर्थात् कुछ नहीं। तथा—"यदि तावत्समुद्रे तु सेतुर्बद्धो यदृच्छया। रामेण विस्मयः कोऽत्र येन ते भयमागतम्॥" (वाल्मी० ६।३६।१२);

अर्थात् यदि पहले (एवं अकस्मात्) श्रीरामजी ने पुल बना लिया तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? जो इससे आप लोग डर गये। एवं—"सठ साखामृत जोरि सहाई। बाँधा सिंधु इहइ प्रभुताई ॥" (मा० लं० २७)।

'जो तरिहै भुज बीस घोर निधि…'; यथा—"मम भुज सागर बल जल पूरा। जहँ बूड़े बहु सुर नर सूरा ॥ बीस पयोधि अगाध अपारा। को अस बीर जो पाइहि पारा ॥" (मा० लं० २७)।

'सुनि…ईससायहि सिरनायो।'; यथा—"बहुरि राम मायहि सिर नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा ॥" (मा० बा० ५५); अर्थात् श्रीराम-माया जगत की रचना एवं संहार आदि किया करती है; यथा—"तव प्रेरित माया उपजाये। सृष्टि हेतु…" (मा० सुं० ५८); वही माया रावण का संहार करना चाहती है जिसकी प्रेरणा से यह मरणोन्मुख है इससे इसकी मति असित हो गई है। उत्तम शिक्षा समझता ही नहीं; यथा—"मंदोदरि मन महँ अस ठयऊ। पियहि कालबस मति भ्रम भयऊ ॥" (मा० लं० १५); यहाँ माया का कार्य प्रत्यक्ष देख अंगदजी ने उसे प्रणाम किया है।

'लंकेस कालबस गनत…'; यथा—"अहह कंत कृत राम बिरोधा। काल-बिबस मन उपज न बोधा ॥ काल दंड गहि काहु न मारा। हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा ॥ निकट काल जेहि आवत साँई। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाई ॥" (मा० लं० ३५)।

[४]

सुनु खल ! मैं तोहि बुझायो।
एते मान सठ ! भयो मोहबस, जानतहूँ चाहत बिष खायो ॥१॥
जगत-बिदित अति बीर बालि-बल जानत हौ, किधौं अब बिसरायो।
बिनु प्रयास सोउ हत्यो एक सर, सरनागत पर प्रेम देखायो ॥२॥
पावहुगे निज कर्म-जनित फल, भले ठौर हठि बैर बढायो।
बानर-भालु चपेट लपेटनि मारत, तब ह्वै है पछितायो ॥३॥
हौं ही दसन तोरिबे लायक, कहा करौं, जो न आयसु पायो।
अब रघुबीर-बान बिदलित-उर सोवहिगो रन भूमि सुहायो ॥४॥

अबिचल राज बिभीषन को सब, जेहि रघुनाथ-चरन चित लायो।
तुलसिदास येहि भाँति वचन कहि गरजत चल्यो बालि-नृप जायो ॥५॥

अर्थ—[श्रीअङ्गदजी ने कहा—] अरे खल ! सुन, मैंने तुझे बहुत समझाया, परन्तु, अरे शठ ! मोहवश होने से तू इतने अभिमान में भर गया है कि जानते हुए भी विष खाना चाहता है ॥१॥ जगत् भर में प्रख्यात अत्यन्त वीर वाली के बल को जानते हो, अथवा अब भुला दिये हो ? देखो, श्रीरामजी ने उसे भी अनायास ही एक बाण से मार डाला है और अपने शरणागत सुग्रीव पर अपना प्रेम दिखाया है ॥२॥ अच्छे स्थल पर तुमने हठ करके वैर बढ़ाया है। अतः अपने कर्म से उत्पन्न फल पावोगे, जब वानरों और भालुओं के द्वारा चपेटों (थप्पड़ों) और लपेटों (मुष्टिकाओं) से मारे जाओगे, तब पछतावा होगा ॥३॥ तेरे दाँत तोड़ने के योग्य (समर्थ) तो मैं ही था, पर क्या करूँ ? मैंने जो इसके लिए आज्ञा नहीं पाई है (इसी से कुछ नहीं करता)। अब तुम श्रीरघुनाथजी के बाणों से विशेष दलित (छिन्न-भिन्न) हृदय होकर सुहावनी रणभूमि में सोवोगे ॥४॥ तुम्हारा यह सारा राज्य अविचल रूप से श्रीविभीषणजी को प्राप्त होगा, जिन्होंने श्रीरघुनाथजी के चरणों में चित्त लगाया है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इस प्रकार के वचन कह कर वाली राजा के पुत्र श्रीअङ्गदजी गर्जते हुए चल दिये ॥५॥

विशेष—'सुनु खल···एते मान···'—अत्यन्त अभिमानी किसी की शिक्षा नहीं सुनता; यथा—"मूढ़ तोहिं अतिसय अभिमाना। नारि-सिखावन करसि न काना ॥" (मा० कि० ८); वही यहाँ अंगदजी भी कहते हैं कि मोह वश होने से तुम अत्यन्त अभिमानी हो गये हो, शिक्षा न मानकर जानते हुए विष खाकर मरने के समान श्रीराम-प्रभाव जानकर उनसे वैर कर मरना चाहते हो।

'जगत बिदित··'—वाली जगत्प्रसिद्ध अति वीर था, रावण तो उसकी काँख में भी रह चुका है, इसे अंगदजी कहते हैं कि अब भूल गये हो क्या ? जब उसे एक ही बाण में अनायास मारा है तब तुम किस गिनती में हो ? तथा— "एक ही बिसिख बस भयो बीर बाँकुरो जो, तोहूँ है बिदित बल महाबली बालि की ॥" (कि० लं० ११); "ख्याल ही बालि बलसालि जीता।" (क० लं० १७)।

'सरनागत पर प्रेम दिखायो'; यथा—"मम भुजबल आश्रित तेहि जानी। मारा चहेसि अधम अभिमानी॥" (मा० कि० ८); "कहा बिभीषन लै मिल्यो, कहा बिगारी बालि। तुलसी प्रभु सरनागतहि सब दिन आये पालि। (दोहावली १५९)।

'पावहु गे निज करम जनित फल…'; यथा—"भले भवन अब बायन दीन्हा। पावहु गे फल आपन कीन्हा॥" (मा० बा० १३६); तथा—"याको फल पावहि गो आगे।" (मा० लं० ३१)।

'बानर-भालु चपेट लपेटनि मारत…'; यथा—"याको फल पावहि गो आगे। बानर भालु चपेटनि लागे।" (मा० लं० ३१)।

'हौं ही दसन तोरिबे लायक…'; यथा—"मैं तव दसन तोरिबे लायक। आयसु मोहिं न दीन्ह रघुनायक॥ असि रिस होति दसहु मुख तोरौं।" (मा० लं० ३२)।

'अबिचल राज बिभीषन को…'; यथा—"अबिचल राज बिभीषन पायो।" (मा० लं० १०६); यह रावण के मरने पर कहा गया है।

श्रीलक्ष्मणजी की मूर्च्छा

राग केदारा

[५]

राम लखन उर लाय लये हैं।
भरे नीर राजीव-नयन, सब अँग परिताप तये हैं॥१॥
कहत ससोक बिलोकि बंधु-मुख बचन प्रीति-गथये हैं।
सेवक सखा भगति भायप गुन चाहत अब अथये हैं॥२॥
निज कीरति-करतूति, तात! तुम्ह सुकृती सकल जये हैं।
मैं तुम्ह बिनु तन राखि लोक अपने अपलोक लये हैं॥३॥
मेरे पन की लाज इहाँ लौं हठि प्रिय प्रान दये हैं।
लागति साँग बिभीषन ही पर सीपर आपु भये हैं॥४॥
सुनि प्रभु बचन भालु कपि सुर गन सोच सुखाइ गये हैं।
तुलसी आइ पवनसुत बिधि मानो फिरि निरमये नये हैं॥५॥

शब्दार्थ—सीपर (फा० सीपर) = ढाल ।

अर्थ—[शक्ति लगने की मूर्च्छा से व्याकुल] श्रीलक्ष्मणजी को श्रीरामजी ने हृदय से लगा लिया है । लाल कमल के समान उनके नेत्र अश्रु-जल से भर गये हैं और सभी अंग परिताप (दुःख) से सन्तप्त हो रहे हैं ॥१॥ वे भाई श्रीलक्ष्मणजी को देखकर शोक युक्त हो गये और प्रीति से गूँथे (बँधे) हुए वचन कहने लगे—'अब सेवक, मित्र, भक्ति और भाईपने के गुण अस्त होना चाहते हैं ॥२॥ हे तात ! अपनी कीर्ति और करतूत से तुमने सभी पुण्यात्माओं को जीत लिया है । तुम्हारे विना शरीर रखकर लोक में हम अपयश ही कमा रहे हैं ॥३॥ अहो ! मेरी प्रतिज्ञा रक्षा की लज्जा यहाँ तक है कि तुमने हठात् अपने प्यारे प्राण ही दे दिये हैं; क्योंकि वह शक्ति श्रीविभीषण ही पर लगती, परन्तु आप उनके ढाल हो गये हैं ॥४॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि प्रभु श्रीरामजी के वचन सुनकर भालू, वानर और देवगण शोक से सूख गये हैं, उसी अवसर पर आकर पवनपुत्र श्रीहनुमान् रूप विधाता ने मानों नया (श्रीलक्ष्मणजी का) निर्माण कर दिया है ॥५॥

विशेष—'राम लखन उर···भरे नीर···'; यथा—"राम उठाइ अनुज उर लायेउ ।·······बहु बिधि सोचत सोच बिमोचन । स्रवत सलिल राजिव दल लोचन ॥" (मा० लं० ५६) ।

'कहत ससोक बिलोकि बंधु मुख···'; यथा"उहाँ राम लछिमनहि निहारी । बोले बचन मनुज अनुहारी ।।" (मा० लं० ५९) ।

'सेवक सखा भगति···'—श्रीलक्ष्मणजी में ये गुण लोकोत्तर थे, इससे देहावसान पर इन गुणों का अस्त होना कह रहे हैं; यथा—"गुरु पितु मातु न जानउँ काहू । कहउँ सुभाउ नाथ पतियाहू ।। जहँ लगि जगत सनेह सगाई । प्रीति प्रतीति निगम निज गाई ।। मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी ।" (मा० अ० ७१); तथा—"अहं तावन्महाराजे पितृत्वं नोपलक्षये । भ्राता भर्त्ता च बन्धुश्च पिता च मम राघवः ।।" (वाल्मी० २।५८।३१); अर्थात् श्रीलक्ष्मणजी भाई, स्वामी, सहायक और पिता भी श्रीरामजी को ही मानते हैं । सेवक आदि के गुण श्रीवैजनाथजी के तिलक में विस्तारपूर्वक कहे गये हैं, वहीं से देखना चाहिये ।

'निज कीरति करतूति तात···' कीर्ति; यथा—"रघुपति कीरति बिमल

पताका। दंड समान भयो जस जाका॥" (मा० बा० १६); "भूरि भाग-भाजन भयो, मोहिं समेत बलि जाउँ। जौं तुम्हरे मन छाँड़ि छल, कीन्ह रामपद ठाउँ॥ पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगत जासु सुत होई॥···सकल सुकृत कर बड़ फल एहू। राम सीय पद सहज सनेहू॥" (मा० अ० ७४)। 'करतूत'; यथा—"मम हित लागि तजेहु पितु माता। सहेहु बिपिन हिम आतप बाता॥" (मा० लं० ५९)। तथा—"अहो लक्ष्मण सिद्धार्थः सततं प्रियवादिनम्। भ्रातरं देवसंकाशं यस्त्वं परिचरिष्यसि॥ महत्येषा हि ते बुद्धिरेष चाभ्युदयो महान्। एष स्वर्गस्य मार्गश्च यदेनमनुगच्छसि॥" (वाल्मी० २।४०। २५-२६); अर्थात् लक्ष्मण! तुम्हारे मनोरथ सिद्ध हो गये; क्योंकि तुम प्रियवादी देवतुल्य भाई की सेवा कर सकोगे। श्रीरामजी के साथ जाने का तुम्हारा यह विचार प्रशंसनीय है। जो तुम श्रीरामजी के साथ जा रहे हो, वह तुम्हारे सर्वाधिक सुख का मार्ग है और बड़ा भारी अभ्युदय है।

इन्होंने अपनी इन कीर्ति और करतूतों से ही सभी सुकृतियों को जीत लिया है। जिन श्रीभरतजी के प्रति श्रीरामजी ने कहा है; यथा—"तीनि काल तिभुवन मत मोरे। पुन्यसिलोक तात तर तोरे॥" (मा० अ० २६२); उन्होंने भी श्रीलक्ष्मणजी की प्रशंसा की है; यथा—"अहह धन्य लछिमन बड़ भागी। राम पदारबिंद अनुरागी॥" (मा० उ० १); यही इनका पुण्यात्माओं का जीतना है।

'मैं तुम्ह बिनु तन राखि···'—श्रीलक्ष्मणजी श्रीराम बिना जल बिना मत्स्य के समान नहीं जा सकते; यथा—"मीन दीन जनु जल ते काढ़े।" (मा० अ० ६९), ऐसा कहा गया है तथा वाल्मी० २।५३।३१ में भी ऐसा ही कहा गया है। तदनुसार "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११)—इस प्रतिज्ञा के अनुसार श्रीरामजी भी इनके बिना अब जीना नहीं चाहते। जितने क्षण जीते हैं, इसमें अपकीर्ति मान रहे हैं।

'मेरे पन की लाज इहाँ लौं···'—इसका प्रसंग वाल्मी० ६।१००।१९-३६ के अनुसार है। वहाँ रावण ने श्रीविभीषणजी पर ही प्रथम प्रचण्डशक्ति चलाई थी, श्रीलक्ष्मणजी ने उसे काट कर व्यर्थ कर दिया, तब उसने श्रीलक्ष्मण-

पर ही दूसरी अमोघशक्ति छोड़ी थी, जिससे इन्हें मूर्च्छा हुई और श्रीरामजी ने विलाप आदि किये हैं और फिर श्रीहनुमान्‌जी के ओषधि लाने पर अच्छे हुए हैं। इसमें ढाल की भाँति रक्षण कार्य स्पष्ट है, शक्ति लगने की बड़ी मूर्च्छा और श्रीहनुमान्‌जी के द्वारा अच्छा होना आदि श्रीरामचरितमानस में भी वैसा ही है, परन्तु यहाँ शक्ति मेघनाद ने मारी है। यह कथा में कल्प-भेद है। कल्पभेद न मान कर यों भी समाधान हो सकता है कि मेघनाद ने उस युद्ध में चलते समय सेना में आकर प्रतिज्ञा की थी; यथा—"कहाँ बिभीषन भ्राता द्रोही। आजु सबहिं हठि मारउँ ओही॥" (मा० लं० ४९); आगे चलकर हनुमान्‌जी से हार कर वह श्रीरामजी के पास गया, वहाँ दुर्वाद कह उपद्रव करने लगा, श्रीरामजी ने उसका निवारण कर दिया। तब श्रीलक्ष्मणजी उससे युद्ध करने लगे थे। जब उसे प्राणों पर आ बनी, तब उसने वह 'वीर-घातिनी साँगी' छोड़ी है। उसके लगने पर श्रीलक्ष्मणजी मूर्च्छित हुए हैं।

मेघनाद की पूर्व की हुई प्रतिज्ञा के अनुरोध से यहाँ यह अध्याहार से लेना होगा कि वह वीरघातिनी साँगी उसने श्रीविभीषणजी पर ही छोड़ी थी, पर उसका तेजः पुंज देखकर उसे प्राणघातक जानकर श्रीलक्ष्मणजी ने विभीषणजी को बचाने एवं श्रीराम-प्रण-रक्षण के लिए स्वयं आगे बढ़कर उसे अपने ऊपर ले ली है। इसी पर श्रीलक्ष्मणजी पर छोड़ना न लिखकर लगना केवल मात्र लिखा है। यदि विभीषणजी उस साँगी से मर जाते तो श्रीरामजी ने जो उन्हें लंकेश बनाने की प्रतिज्ञा की थी, वह अधूरी ही रह जाती। श्रीरामचरितमानस लं० ९२ में रावण ने श्रीविभीषण पर तीव्र शक्ति छोड़ी है, तब श्रीरामजी ने ही अपने ऊपर लेकर स्वयं कुछ मूर्च्छित होकर विभीषणजी को बचाया है।

'सुनि प्रभु बचन····'; यथा—"प्रभु प्रलाप सुनि कान, बिकल भये बानर निकर। आइ गये हनुमान जिमि करुना महँ बीर रस॥···तुरत बैद तब कीन्हि उपाई। उठि बैठे लछिमन हरषाई॥" (मा० लं० ६०); जीवन से निराशा होने पर श्रीहनुमान्‌जी ने ओषधि लाकर उससे जिलाया है, यही इनका विधाता का-सा नया निर्माण करना है। श्रीलक्ष्मणजी ने स्वयं कहा है—"दुसह साँसति सहन को हनुमान ज्यायो जाय।

राग सोरठ

[६]

मो पै तौ न कछू ह्वै आई।
ओर निबाहि भली बिधि भायप चल्यो लखन-सो भाई ॥१॥
पुर, पितु-मातु, सकल सुख परिहरि जेहि बन बिपति बँटाई।
ता सँग हौं सुर लोक सोक तजि सक्यो न प्रान पठाई ॥२॥
जानत हौं या उर कठोर ते कुलिस कठिनता पाई।
सुमिरि सनेह सुमित्रा-सुत को दरकि दरार न जाई ॥३॥
तात मरन, तिय-हरन, गीध-बंध भुज दाहिनी गँवाई।
'तुलसी' मैं सब भाँति आपने कुलहि कालिमा लाई ॥४॥

शब्दार्थ—भुज दाहिनी = दाहिना हाथ भाई को कहा जाता है। इसी पर 'दाहिना हाथ होना' यह लोकोक्ति है, इसका अर्थ भाई के समान बड़ा सहायक होना है। तथा—"होहिं कुठायँ सुबंधु सुहाए। ओड़ियहि हाथ असनिहु के घाए ॥" (मा० अ० ३०५)। ओर = अन्त तक।

अर्थ—[श्रीरामजी कहते हैं—] हा! मुझसे तो कुछ भी नहीं हो सका। अपनी ओर से अन्त तक भली-भाँति भाईपने का निर्वाह करके श्रीलक्ष्मण-सरीखा भाई भी अब चल दिये ॥१॥ जिस भाई ने नगर, पिता, माता और सारे सुखों को छोड़ कर (मेरे साथ आकर) वन में सारी विपत्ति में भाग लिया है। उसके साथ शोक छोड़ कर मैं अपने प्राणों को स्वर्ग नहीं भेज सका! ॥२॥ मैं जानता हूँ कि मेरे इस कठोर हृदय से ही वज्र ने कठिनता पाई है, इसीसे तो श्रीसुमित्राजीके पुत्रके स्नेहका स्मरणकर इसमें 'फट कर कोई दरार (दराज) भी नहीं पड़ी ॥३॥ हा! (मेरे ही कारण) पिताजी का मरण हुआ, स्त्री का हरण हुआ, गृध्रराज का भी मरण हुआ और आज तो मैंने अपनी दाहिनी भुजा भी गँवा दी (भाई का मरण भी देख रहा हूँ)। (अपने इन कर्मों से तो) मैंने सब प्रकार से अपने कुल में कलंक ही लाकर एकत्र किया है ॥४॥

विशेष—'मो पै तो न··· ओर निबाहि···'—उन्होंने तो जीवन के आदि से लेकर अन्त तक अपने भायप का निर्वाह कर दिया है; यथा—"बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम-चरन-रति मानी ॥" (मा० बा० १९७);

और अन्त में यहाँ उन्होंने मेरे लिए प्राण ही दे दिया है, पर उनके बर्ताव के प्रति मुझसे कुछ भी नहीं बन पड़ा, मेरे लिए यह बड़ी लज्जा की बात है।

'चल्यो…'—श्रीरामजी नर नाट्य कर रहे हैं, इसमें श्रीलक्ष्मणजी की गाढ़ मूर्च्छा को उनकी मृत्यु मान लिया है। इसी से ऐसा कह रहे हैं, वाल्मी० ६।१०१।२३-२७ में वैद्य सुषेण ने श्रीरामजी से इनके जीवित होने के लक्षण कहकर समझाया है।

'पुर, पितु-मातु…'; यथा—"मम हित लागि तजेहु पितु माता। सहेहु बिपिन हिम आतप बाता॥" (मा० लं० ५९)। "तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही॥ अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहइँ दिवस जहँ भानु प्रकासू॥" (मा० अ० ७३)—माता सुमित्राजी से इस प्रकार दृढ़ कर दिया था। आगे भी कहा है—'बिपति बँटावन बंधु बाहु बिनु…'।

'ता सँग हौं सुरलोक…'—यहाँ श्रीलक्ष्मण के प्रति स्नेह प्रकट करते हुए इतने क्षणों के लिये पश्चात्ताप कर रहे हैं कि अभी तक मैंने इनके वियोग में प्राण क्यों नहीं छोड़ा? तथा—"यथैव मां वनं यान्तमनुयाति महाद्युतिः। अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम्॥" (वाल्मी० ६।१०१।१२); अर्थात् जिस प्रकार वन में आते समय श्रीलक्ष्मणजी ने मेरा अनुगमन किया है, परलोक जाते समय मैं भी श्रीलक्ष्मण का अनुगमन करूँगा। आगे पद में भी कहा है—"हौं पुनि अनुज सँघाती।"

'जानत हौं या उर कठोर ते…'; तथा—"अब अपलोक सोक सुत तोरा। सहिहि निठुर कठोर उर मोरा॥" (मा० लं० ५९); "जियै मरै भल भूपति जाना। मोर हृदय सत कुलिस समाना॥" (मा० अ० १६५)।

'सुमिरि सनेह सुमित्रा-सुत को…'—वन यात्रा के समय श्रीसुमित्राजी ने श्रीलक्ष्मणजी से श्रीरामजी को 'सब बिधि सुखद परम हित' कह कर इन्हें श्रीरामजी को सौंपा है; तथा—"सौंपेसि मोहिं तुम्हहि गहि पानी। सब बिधि सुखद परम हित जानी॥ उतर काह दैहउँ तेहि जाई।" (मा० लं० ५९)—यह प्रसंग मा० अ० ७३-७४ में देखने योग्य है। अतः, सुमित्रा-सुत कह कर शोक करते हैं कि माता के वचनानुसार मैं इन्हें न सुख ही दे सका और न इनका हित ही किया। कहा भी है; यथा—"कथं वक्ष्याम्यहं त्वम्बां सुमित्रां

पुत्रवत्सलाम् ॥ उपालम्भं न शक्ष्यामि सोढुं दत्तं सुमित्रया ॥" (वाल्मी० ६।१०१।१५-१६); अर्थात् पुत्र-वत्सला माता सुमित्रा से मैं कैसे बातें करूँगा ? पुत्रनाश के कारण सुमित्रा माता मेरी निन्दा करेंगी, मैं उसे कैसे सह सकूँगा ?

'तात-मरन, तिय-हरन…'—रघुकुल के सभी राजा आश्रित-वत्सल होते आये हैं, मैंने अपने इन भक्तों की रक्षा न कर पाई, तथा इनके प्रति योग्य प्रतिकार न कर सका, यह मेरे लिये कलङ्क की बात है। पिता का मरण सुन कर कहा है; यथा—"किं नु तस्या मया कार्यं दुर्जातेन महात्मनः। यो मृतो मम शोकेन स मया न च संस्कृतः ॥" (वाल्मी० २।१०३।९); अर्थात् व्यर्थ जन्मा हुआ मैं, उन महात्मा राजा का क्या कर सकता हूँ ? राजा ने तो मेरे शोक में प्राण छोड़ दिया और मैं उस समय उनका संस्कार भी नहीं कर सका, श्रीसीता-हरण, गृध्र-मरण एवं लक्ष्मण प्रति अपकर्त्ता रावण का नाश भी अभी तक मैंने नहीं कर पाया, यह मेरे लिये कलङ्क की बात है।

[७]

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
बिपति बँटावन बंधु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको ? ॥१॥
सुनु, सुग्रीव ! साँचे हूँ मोपर फेरयो बदन बिधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यो लखन सो भ्राता ॥२॥
गिरि, कानन जैहैं साखामृग, हौं पुनि अनुज सँघाती।
ह्वै है कहा बिभीषन की गति, रही सोच भरि छाती ॥३॥
तुलसी सुनि प्रभु-बचन भालु-कपि सकल बिकल हिय हारे।
जामवंत हनुमंत बोलि तब, औसर जानि प्रचारे ॥४॥

अर्थ—'मेरा तो सारा पुरुषार्थ अब थक गया, विपत्ति में भाग लेने वाले भाई रूप बाहु के बिना मैं अब किसका भरोसा करूँ ? ॥१॥ हे सुग्रीवजी ! सुनो, सचमुच मेरी ओर से विधाता ने मुँह फेर लिया है, जो ऐसे युद्ध-संकट के समय पर मुझे श्रीलक्ष्मण-सरीखे भाई ने त्याग दिया ॥२॥ वृक्ष की शाखाओं पर विचरने वाले ये वानर-भालू तो पहाड़ों और वनों की राह लेंगे और मैं अपने भाई का साथ दूँगा (; अर्थात् उनके साथ यमलोक जाऊँगा) श्रीविभीषणजी की क्या गति होगी (क्रुद्ध रावण इन्हें किस दशा को पहुँचावेगा ?)

बस, इसी शोच से भरी हुई मेरी छाती (जल रही) है ॥३॥ श्रीतुलसीदास-जी कहते हैं कि प्रभु श्रीरामजी के वचन सुनकर समस्त भालू और वानर व्याकुल होकर हृदय से हार गये। तब अवसर देखकर श्रीजाम्बवान्जी ने श्रीहनुमान्जी को बुला कर कार्य करने के लिये उत्तेजित किया ॥४॥

विशेष—'मेरो सब···बिपति बँटावन···'—किसी का भरोसा रहता है तो पुरुषार्थ बढ़ता है। अब तो मेरा पुरुषार्थ थक कर हासित हो गया। विपत्ति बँटाने का प्रसंग ऊपर पद में लिखा गया। 'बंधु बाहु'; यथा—"होहिं कुठायँ सुबंधु सहाए। ओड़िअहि हाथ असनिहुँ के घाए ॥" (मा० अ० ३०५); अर्थात् विपत्ति में बन्धु आगे रहता है।

'सुनु, सुग्रीव! साँचेहू···'—अपने ऊपर सहसा विपत्तियों के आक्रमण पर ऐसा ही कहा जाता है। श्रीरामजी भी नर नाट्य में वैसा ही कह रहे हैं।

'गिरि कानन···ह्वै है कहा बिभीषन की गति···'; यथा—"जानत प्रीति रीति रघुराई। नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई ॥···रन परयो बंधु बिभीषन ही को सोच हृदय अधिकाई ॥" (वि० १६४); इस समय श्रीलक्ष्मणजी का शोक दब गया, श्रीविभीषणजी की चिन्ता ऊपर हो आई। शरीर के नातों से कहीं अधिक स्नेह सम्बन्ध वालों में श्रीरामजी रखते हैं, यह आपकी निराली रीति है। तथा—"तत्तु मिथ्या प्रलप्तं मां प्रधक्ष्यति न संशयः। यन्मया न कृतो राजा राक्षसानां विभीषणः ॥" (वाल्मी० ६।४६। २२); अर्थात् रण शय्या में मूर्च्छित श्रीलक्ष्मणजी को देख विलाप करते हुए श्रीरामजी कहते हैं कि श्रीविभीषणजी को राक्षसों का राजा बनाऊँगा, ऐसी प्रतिज्ञा मैंने की थी, पर वैसा कर न सका, वह मिथ्या प्रतिज्ञा अवश्य ही मुझे जलावेगी।

'सुनि प्रभु बचन···'; यथा—"प्रभु प्रलाप सुनि कान, बिकल भये बानर निकर।" (मा० लं० ६०)।

'जामवंत हनुमंत बोलि तब···'—मा० लं० ५३-५४ में लिखा है कि जाम्बवानजी ने ही पहले श्रीहनुमान्जी के द्वारा सुषेण वैद्य को बुलवाया है और जब वैद्य ने ओषधि की अपेक्षा कही, तब उन्हींने फिर श्रीहनुमान्जी को प्रेरित कर ओषधि वाले पर्वत को ही मँगा दिया।

वाल्मी० ६।७४।१८-३४में श्रीजाम्बवानूजी ने बहुत से सहेतु वचनों से श्री-हनुमानूजी को प्रोत्साहित करके ओषधि के लिये भेजा है, वह प्रसंग यहाँ विशेष संगत है। 'अवसर'-करुणारस है, वीर रस से इसे दबाने का अवसर जानकर।

राग मारू

[८]

जो हौं अब अनुसासन पावौं।
तौ चंद्रमहि निचोरि चैल ज्यों, आनि सुधा सिर नावौं ॥१॥
कै पाताल दलौं व्यालावलि अमृतकुंड महि लावौं।
भेदि भुवन, करि भानु बाहिरो तुरत राहु दै तावौं ॥२॥
बिबुध-बैद बरबस आनौं धरि, तौ प्रभु-अनुग कहावौं।
पटकौं मीच नीच मूषक-ज्यों, सबहि को पाप बहावौं ॥३॥
तुम्हरिहि कृपा प्रताप तिहारेहि नेकु बिलंब न लावौं।
दीजै सोइ आयसु तुलसी-प्रभु, जेहि तुम्हरे मन भावौं ॥४॥

अर्थ—[श्रीहनुमानूजी ने कहा—] 'स्वामिन् ! यदि मैं आपकी आज्ञा पाऊँ तो चन्द्रमा को वस्त्र की भाँति गार कर और अमृत लाकर ही आपको शिर नवा प्रणाम करूँ ॥१॥ अथवा, पाताल जाकर वहाँ के नागों की पंक्तियों का नाश कर उनके यहाँ स्थित अमृत का कुंड ही मैं पृथिवी पर लाकर रख दूँ। और नहीं तो इस ब्रह्माण्ड भुवन का भेदन कर और सूर्य को इससे निकाल बाहर कर दूँ और राहु देकर उस मार्ग को मूँद दूँ ॥२॥ यदि देवों के वैद्य को बलात् पकड़ कर ला दूँ तो, हे प्रभो ! मैं आपका दास कहाऊँ (; अन्यथा दास कहाना ही छोड़ दूँ)। अथवा, नीच मृत्यु को ही मूसे की भाँति पटक कर मार डालूँ, जिससे सभी के दुःख दूर कर दूँ (किसी को मरने का भय न रह जाय) ॥३॥ यह सब मैं आपकी ही कृपा एवं आपके ही प्रताप से करूँगा, इसमें थोड़ा भी विलम्ब न लगाऊँगा। अतः, हे तुलसीदास के प्रभो ! वही आज्ञा दीजिये, जिससे मैं आपके मन को अच्छा लगूँ ॥४॥

विशेष—'जो हौं अब···तौ चंद्रमहिं···'—प्रभु ब्रह्माण्डों के स्वामी हैं; यथा—"सोइ राम ब्यापक ब्रह्म भुवन निकायपति माया धनी॥" (मा० बा० ५०)। अतः, ब्रह्माण्ड के अंगभूत चन्द्रमा आदि पर शासन करना एवं उनका

गारना आदि कर्म विना प्रभु की आज्ञा के कैसे करेंगे ? इसलिये-'जौं हौं...' ऐसा कहते हैं। ऐसी आज्ञाएँ होंगी नहीं, इस अनुमान पर 'जौं' यह दुविधा सूचक पद है। चन्द्रमा सुधांशु कहाता है, इससे उसे गारने पर अमृत अवश्य निकलेगा। 'ऐसा करके प्रणाम करूँ', यह उत्तम सेवा है।

'कै पाताल दलौं...'—यदि चन्द्र में गारने पर पर्याप्त अमृत न मिले तो पाताल में भी नागलोक में अमृत कुंड है। नागगण उसके रक्षक हैं, उन्हें मारकर अमृत लाऊँगा।

यदि अमृत से काम न चले और "काज नसाइहि होत प्रभाता।" (मा० लं० ५९); इसका ही भय हो तो उसका उपाय भी मैं करूँगा—

'भेदि भुवन करि भानु...'—सूर्योदय से ही प्रभात होता है, मैं सूर्य को ही ब्रह्माण्ड से बाहर कर दूँगा। सूर्य को इसके भीतर न आने दूँगा। राहु देकर वह छिद्र मूँद दूँगा। राहु के डर से सूर्य उस मार्ग से आने का प्रयास नहीं कर सकेंगे।

'बिबुध बैद...'—यदि देव वैद्य भूलोक में न आना चाहेंगे तो उन्हें बलात् पकड़ लाऊँगा। और यदि उनसे भी ये न अच्छे हों तो—

'पटकौं मीच नीच मूषक ज्यों...'—मृत्यु में नीचता यह है कि वह सभी को दुःख देता है। अतः, उसे मूसा की भाँति पटक मारूँगा, इसी व्याज से सभी के दुःख निवृत्त हो जायँगे।

'तुम्हरिहि कृपा...'— स्वामी को करुणारस में निमग्न देखकर आपने अपने में वीर रस का आवेश कह कर स्वामी को साहस देने का प्रयत्न किया है अब उसका सँभाल करते हैं कि यह सब मैं आपकी ही कृपा से करूँगा एवं आपके प्रताप से ही सब होगा; यथा—"सुनु माता साखामृग नहिं बल-बुद्धि बिसाल। प्रभु प्रताप ते गरुड़हि, खाइ परम लघु ब्याल॥" (मा० सुं० १६); "प्रभु की कृपा भयेउ सब काजू।" (मा० सुं० २९); तथा—"नाँघि सिंधु हाटकपुर जारा। निसिचर गन बधि बिपिन उजारा॥ सो सब तव प्रताप रघुराई।" (मा० सुं० ३२)। 'दीजै सोइ आयसु...'—उपर्युक्त सभी बातें भुमको नहीं रुचीं इस पर वैसी ही आज्ञा चाहते हैं जिससे प्रभु प्रसन्न रहें।

'तुलसी-प्रभु'—इसमें 'भाविक अलङ्कार' है; क्योंकि पूर्व के भक्त श्रीहनुमानूजी के मुख से अपने सम्बन्ध की पुष्टि की है।

प्रभु को अभिमान नहीं भाता, इसीलिये ऊपर 'तुम्हरिहि कृपा···' कहा है और फिर यह भी कहा कि जिस प्रकार मैं आपको भाऊँ, वही आज्ञा हो।

[६]

सुनि हनुमंत-बचन रघुबीर।
सत्य, समीर-सुवन! सब लायक, कह्यो राम धरि धीर ॥१॥
चाहिय बैद, ईस-आयसु धरि सीस कीस बल ऐन।
आन्यो सदन-सहित सोवत ही, जौ लौं पलक परै न ॥२॥
जियै कुँवर, निसि मिलै मूलिका, कीन्हीं बिनय सुषेन।
उठ्यो कपीस सुमिरि सीतापति चल्यो सजीवनि लेन ॥३॥
कालनेमि दलि बेगि बिलोक्यो द्रोनाचल जिय जानि।
देखी दिव्यौषधी जहाँ-तहँ, जरी न परी पहिचानि ॥४॥
लियो उठाइ कुधर कंदुक ज्यों, बेग न जाइ बखानि।
ज्यों धाये गजराज उधारन सपदि सुदरसन पानि ॥५॥
आनि पहार जोहारे प्रभु, कियो बैदराज उपचार।
करुनासिंधु बंधु भेंट्यो, मिटि गयो सकल दुख भार ॥६॥
मुदित भालु-कपि-कटक, लह्यो जनु समर-पयोनिधि पार।
बहुरि ठौरही राखि महीधर आयो पवनकुमार ॥७॥
सेन सहित सेवकहि सराहत पुनि-पुनि राम सुजान।
बरषि सुमन, हिय हरषि प्रसंसत बिबुध बजाइ निसान ॥८॥
तुलसिदास सुधि पाइ निसाचर भये मनहुँ बिनु प्रान।
परी भोरही रोरि लंक गढ़, दई हाँक हनुमान ॥९॥

अर्थ—श्रीहनुमानूजी के वचन सुनकर रघुकुल के वीर श्रीरामजी ने धैर्य धारण करके कहा—'हे वायुपुत्र! तुम जो कुछ कहते हो, यह सब सत्य है, तुम वह सभी कार्य करने के योग्य हो ॥१॥ इस अवसर पर तो एक वैद्य की आवश्यकता है' स्वामी की इस आज्ञा को शिरोधार्य कर बल के स्थान श्रीहनुमानूजी जब तक पलक न पड़े, इतनी शीघ्रता में एक वैद्य को सोते हुए ही

उसके घर के साथ उठा लाये ॥२॥ उस सुषेण नामक वैद्य ने प्रार्थनापूर्वक कहा—'यदि रात में ही सञ्जीवनी बूटी मिल जाय तो कुमार श्रीलक्ष्मणजी जीवित हो सकते हैं।' यह सुनकर वानरेश्वर श्रीहनुमानूजी श्रीसीतापति का स्मरण कर उठे और सञ्जीवनी बूटी लेने को चल दिये ॥३॥ उन्होंने मार्ग में कालनेमि को मारकर शीघ्र ही द्रोणाचल को देखा और फिर हृदय से भी निश्चित कर लिया (कि यही द्रोणगिरि है)। वहाँ पर उन्होंने जहाँ तहाँ बहुत-सी दिव्य ओषधियाँ देखीं, परन्तु उनमें उन्हें वह जड़ी पहचान में नहीं आई ॥४॥ तब उन्होंने उस पहाड़ को ही गेंद के समान उठा लिया, उस समय का उनका वेग कहा नहीं जाता, जैसे शीघ्रता से गजेन्द्र का उद्धार करने के लिये सुदर्शन चक्रधारी श्रीविष्णु भगवान् दौड़े थे ॥५॥ श्रीहनुमानूजी ने उस द्रोण पर्वत को लाकर प्रभु श्रीरामजी को जोहार (प्रणाम) किया, वैद्यराज सुषेण ने श्रीलक्ष्मण जी की चिकित्सा की (वे तुरत स्वस्थ हो गये)। करुणासागर श्रीरामजी ने अपने भाई से भेंट की, इससे उनके समस्त दुःखों का भार मिट गया ॥६॥ वानरों और भालुओं का दल आनन्दित हो गया मानों उन सबने युद्ध रूप समुद्र का पार पा लिया हो। फिर पवन पुत्र श्रीहनुमानूजी उसी स्थल पर वह पहाड़ रख आये (जहाँ से पहले उखाड़ कर आये थे) ॥७॥ सुजान श्रीरामजी अपनी सेना के साथ अपने परमसेवक श्रीहनुमानूजी की सराहना करते हैं; तथा देवगण फूलों की वर्षा कर और नगाड़े बजा-बजाकर हृदय से हर्षित होकर श्रीहनुमानूजी की प्रशंसा करते हैं ॥८॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इसका समाचार पाकर राक्षसगण तो मानों प्राणहीन (मृतक) हो गये। प्रातःकाल होते ही श्रीहनुमानूजी ने गर्जना की, इस पर लङ्क गढ़ में कोलाहल एवं हाहाकार मच गया ॥९॥

विशेष—'सुनि···सत्य, समीर-सुमन···'—श्रीहनुमानूजी ने स्वामी के करुणरस को दबाने के लिये वीर रस के वचन कहे थे। श्रीरामजी को धैर्य हुआ और फिर उन्होंने इनके कथन का समर्थन भी किया 'समीर-सुवन'; यथा—"पवन तनय बल पवन समाना। बुधि-बिबेक-बिज्ञान-निधाना॥ कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं तात होइ तुम्ह पाहीं॥" (मा० कि० २९)।

'चाहिये बैद···'; यथा—"जामवंत कह बैद सुषेना। लंका रहइ को

पठइअ लेना ॥ धरि लघु रूप गयो हनुमंता। आनेउ भवन समेत तुरंता ॥" (मा० लं० ५३); यहाँ जाम्बवान् के कथन पर श्रीरामजी ने हनुमान्‌जी से कहा है, यह तात्पर्य है।

'जियै कुँवर निसि···'—वह जड़ी द्रोणगिरि पर है और वह भी रात ही भर में आ जाय, तब कुमार जी सकेंगे, यह बड़ा कठिन काम है।

'उठ्यो कपीस सुमिरि सीतापति···' किसी वानर का साहस नहीं पड़ा, तब श्रीहनुमान्‌जी उठे, इससे इन्हें 'कपीस' कहा गया है। रात में और फिर बड़े भारी विघ्नों की संभावना वाले स्थलों को जा रहे हैं, यहाँ सुदिन एवं लग्न आदि शोधने का अवसर नहीं है, इससे इन्होंने सीतापति का स्मरण करके यात्रा की, इसमें विघ्नों को पार कर सफल होंगे, अतः, यह स्मरण मंगल-विधायक है; तथा—"तदेव सुदिनं लग्नं तदेव ताराबलं चन्द्रबलं तदेव। विद्याबलं दैवबलं तदेव सीतापतेर्नाम यदास्मरामि ॥" यह प्रसिद्ध है।

'कालनेमि दलि···'—कालनेमि को रावण ने इस लिये भेजा है कि वह हनुमान्‌जी को रामकथा सुनाने के ब्याज से रात भर रोक ले, परन्तु उसका कपट हनुमान्‌जी ने जान लिया और फिर उसे मार डाला है—मा० लं० ५४-५६ में इसकी कथा है। तथा—"चल्यो हनुमान सुनि जातुधान कालनेमि पठयो, सो मुनि भयो, पायो फल छलि कै।" (क० लं० ५५)।

'बिलोक्यो द्रोनाचल···'—वाल्मी० ६।७४।५८-६४ में लिखा है—'वायुपुत्र उस पर्वत को अग्नि समूह से प्रकाशित देख कर विस्मित हुए। उस श्रेष्ठ पर्वत पर कूद कर वे औषधियों को ढूँढ़ने लगे। हनुमान्‌जी एक सहस्र योजन मार्ग चल कर दिव्यौषधियों के स्थान उस पर्वत पर विचरण करने लगे। उस पर्वत की सर्व ओषधियाँ इन्हें अर्थी जान अदृश्य हो गईं, तब इन्होंने क्रोध किया और बोले कि यदि तुम श्रीरामजी पर कृपा न करोगे तो मेरे द्वारा पराजित होओ। ऐसा कह इन्होंने उसे उखाड़ लिया और लेकर आकाश मार्ग हो सूर्य के समान प्रकाशित पर्वत लिये हुए चले।'

'लियो उठाइ कुधर कंदुक ज्यों···ज्यों धाए···'; यथा—"स तेन शैलेन भृशं रराज शैलोपमो गन्धवहात्मजस्तु। सहस्रधारेण सपावकेन चक्रेण खे विष्णुरिवार्पितेन ॥" (वाल्मी० ६।७४।६६), अर्थात् श्रीहनुमान्‌जी उस पर्वत

के कारण पहाड़ के समान जान पड़ते थे, अग्नि के समान प्रकाशमान सहस्र धारा वाले चक्र को हाथ में लिये हुए विष्णु के समान वे उस समय आकाश में शोभित हुए।

गेंद के समान उठाने में बल की अपरिमेयता है और एक सहस्र योजन मार्ग आधी रात तक में आना-जाना कैसे हुआ, इसके लिये वेग का बखान करना आवश्यक हुआ, उस पर कहा गया कि जैसे गजेन्द्रोद्धार में विष्णु भगवान् वेग से आये थे, वैसे आये। तथा—"लीन्हों उखारि पहार बिसाल, चल्यो तेहि काल, बिलंब न लायो। मारुतनंदन मारुत को, मन को, खगराज को बेग लजायो॥ तीखी तुरा तुलसी कहतो, पै हिये उपमा को समाउ न आयो। मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो॥"(क॰लं॰५४)

'आनि पहार जोहारे…'— कृतकार्य हो कृतज्ञता में प्रणाम किया।

'करुनासिंधु बंधु भेंट्यो…'—करुणा करके भाई को असाध्य ओषधि मँगा कर अच्छा किया है और उनके सुखी होने के अपने दुःख भार की निवृत्ति मानी है, यह भक्त पर अत्यन्त करुणा से ही है, इससे यहाँ करुणासिंधु कहा गया है।

'मुदित भालु कपि…'—श्रीराम-विलाप पर सब निराश हो गये थे, समर-सागर में डूबा हुआ मान रहे थे, अब मानों उससे पार हो गये, क्योंकि वाल्मी॰ ६।७४।६९-७२ में लिखा है कि उस समय तक के युद्ध में मरे हुए सभी भालू-वानर इन्हीं ओषधियों की गन्ध से जी उठे, राक्षस नहीं, क्योंकि रावण युद्ध में मरे हुए राक्षसों को तुरत सागर में फेंकवा देता था कि अन्य सैनिक देख कर ह्रास ग्रस्त न हों एवं मेरे राक्षसों का सम्मान रहे। अब इन सैनिकों को आगे के लिये भी भरोसा हो गया कि मरने पर इसी ओषधि से जिला लिये जायँगे; तथा श्रीराम-लक्ष्मण के तेज से अब जीते हुए ही हैं।

'बहुरि ठौर ही राखि महीधर आयो…'; यथा-"ततो हरिर्गन्धवहात्मजस्तु तमोषधी शैलमुग्रवेगः। निनाय वेगाद्धिमवंतमेव पुनश्च रामेण समाजगाम॥" (वाल्मी॰ ६।७४।७३); अर्थात् अनन्तर प्रचंड वेग वाले वायुपुत्र उस ओषधि पर्वत को शीघ्रतापूर्वक हिमवान् पर्वत पर ले गये और पुनः वहाँ से लौट कर श्रीरामजी से मिले। यहाँ यदि वह पर्वत रहता तो राक्षस भी जी जाते। वहाँ

से तो श्रीहनुमान् के अतिरिक्त और कोई उसे यहाँ ला नहीं सकता। अपनी आवश्यकता पर श्रीहनुमान्जी फिर ला ही सकते हैं। जैसे कि वाल्मी० ६। १०१ में फिर श्रीहनुमान्जी ने लाकर श्रीलक्ष्मणजी को अच्छा किया है। 'पवनकुमार' इस पद से पवन वेग से जाकर रख आना सूचित किया गया है, जैसा ऊपर प्रमाण में लिखा जा चुका है।

'सेन सहित सेवकहिं सराहत···'; यथा—"सहसा उखारो है पहार बहु योजन को, रखवारे मारे भारे भूरि भट दलि कै। बेग बल साहस सराहत कृपानिधान, भरत की कुसल अचल ल्यायो चलि कै। हाथ हरिनाथ के बिकाने रघुनाथ जनु; सील सिंधु तुलसीस भलो मान्यो भलि कै॥" (क० लं० ५५)। 'सुजान'; यथा—"स्वामि सुजान जान सब ही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥" (मा० अ० ३१३)

'बरषि सुमन···'—फूल बरसाने और नगाड़े बजाने में कर्म, हिय हर्ष में मन और प्रशंसने में वचन की भक्ति है।

'सुधि पाइ···'; यथा—"यह वृत्तान्त दसानन सुनेऊ। अति बिषाद पुनि-पुनि सिर नेऊ धुनेऊ॥" (मा० लं० ६०); तथा—"तच्छ्रुत्वा वचनं तेषां राक्षसेन्द्रो महाबलः। चिन्तारोषसमाक्रान्तो विवर्णवदनोऽभवत्॥" (बाल्मी० ६।५१।१४); अर्थात् श्रीराम-लक्ष्मण को नागपाश से मुक्त दूतों से सुनकर रावण चिन्ता और क्रोध से भर गया, उसका मुँह उतर गया।

'दई हाँक···'; यथा—"नीरुजौ राघवौ दृष्ट्वा ततो वानर यूथपाः। सिंहनादं तदा नेदुर्लाङ्गूलं दुधुवुश्च ते॥" (वाल्मी० ६।५०।६१); अर्थात् श्रीराम-लक्ष्मण को नीरोग देखकर वानर यूथप सिंहनाद करने और पूँछे पटकने लगे। 'रोर' पद के अर्थ में सामूहिक हल्ला एवं रोने का हाहाकार दोनों ही यहाँ संगत हैं।

राग केदारा

[१०]

कौतुक ही कपि कुधर लियो है।
चल्यो नभ नाइ माथ रघुनाथहि, सरिस न बेग बियो है॥१॥

देख्यो जात जानि निसिचर बिनु फर सर हयौ हियो है।
परयो कहि राम, पवन राख्यो गिरि, पुर तेहि तेज पियो है॥२॥
जाइ भरत भरि अंक भेंटि निज जीवन-दान दियो है।
दुख लघु लखन मरम-घायल सुनि, सुख बड़ो कीस जियो है॥३॥
आयसु इतहि, स्वामि-संकट उत,परत न कछु कियो है।
तुलसिदास बिहरयो अकास सो कैसे कै जात सियो है॥४॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जी ने क्रीड़ापूर्वक (गेंद की भाँति) पहाड़ उठा लिया और श्रीरघुनाथजी को प्रणाम कर आकाश मार्ग से चले, उस प्रकार का वेग और दूसरे का नहीं हो सकता था॥१॥ [श्रीअयोध्याजी के ऊपर होकर] जाते देखकर उन्हें रात में चलने वाला राक्षस जानकर श्रीभरतजी ने उनके हृदय में बिना गाँसी का बाण मारा, वे 'राम' ऐसा कहकर गिर पड़े, पवन देवने (श्री अयोध्यापुरी के रक्षार्थ) उस पहाड़ को ऊपर ही रोक रक्खा, उस थोथे बाण ने ही श्रीहनुमान्‌जी के पूर्ण तेज को पी लिया॥२॥ श्रीभरतजी ने जाकर अङ्क भर कर भेंट की और अपने जीवन से उन्हें जीवनदान दिया। श्रीलक्ष्मणजी मर्माहत हुए हैं, यह सुनकर दुःख थोड़ा हुआ और वानर श्रीहनुमान्‌जी के जीने का सुख बड़ा हुआ॥३॥ इधर तो अवधि (१४ वर्ष) भर श्रीअवध-सेवन की प्रभु-आज्ञा है और उधर स्वयं स्वामी ही संकट में हैं; कुछ करते नहीं बनता। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि फटे हुए आकाश को कैसे सिया जाय ? (इसी प्रकार श्रीभरतजी से कुछ करते ही नहीं बनता)॥४॥

विशेष—'कौतुक ही···'; यथा—"लियो उठाइ कुधर कंदुक ज्यों" (पद २६); 'चल्यो नभ नाइ माथ···' यह आकाशमार्ग की यात्रा का मङ्गलाचारण है, श्रीराम-प्रणाम से आने के विघ्नों से भी रक्षा होगी, जैसे पहले 'सुमिरि सीता पति' चले थे तो कालनेमि आदि की बाधाओं को पार कर सके थे। कहा भी है—"मंगलमूल प्रनाम जासु जग मूल अमंगल को खनै।" (सुं० ४० ।

'सरिस न बेग बियो है'—ऊपर पद में सुदर्शनपाणि की उपमा वेग में दी गई है, यहाँ दूसरे की तुल्यता का निराकरण किया गया है। भाव यह कि वे तो भगवान् हैं, मनुष्य आदि अन्य जीव का ऐसा नहीं हो सकता।

'देख्यो जात जानि निसिचर···'–श्रीहरिहरप्रसादजी तथा श्रीवैजनाथजी

ने अपने-अपने तिलकों में इस घटना पर लिखा है कि जिस समय लङ्का में श्रीलचमणजी को शक्ति लगी, उसी समय यहाँ श्रीसुमित्राजी को स्वप्न हुआ कि मानों उनकी दाहिनी भुजा साँप ने निगल ली है। श्रीवसिष्ठजी से पूछा गया, उन्होंने कहा कि श्रीलचमणजी पर कुछ संकट है। अतः, शान्ति के लिये एक यज्ञ करना चाहिये। उस यज्ञ में रात में राचसों के विघ्न करने का भय है, इससे श्रीभरतजी के पास चलकर यज्ञ करना चाहिये, जिससे वे इसकी रक्षा करें। यज्ञ वहाँ होने लगा, उसी समय श्रीहनुमान्‌जी पहाड़ लिये हुए जाते देख पड़े, प्रायः रात में निशाचर ही चलते हैं और इस भारी पहाड़ को भी असाधारण सामर्थ्यवाले राक्षस ही लेकर आकाश मार्ग से चल सकते हैं, इन अनुमानों से श्रीभरतजी ने अपने यज्ञ में विघ्न की आशङ्का से बाण मारा, परन्तु वह यज्ञ सम्भवतः अहिंसात्मक ही हो सकता था, इससे इन्होंने विना गाँसी के ही बाण से मारा है।

हृदय में ही मारा कि यह व्याकुल होकर यहीं नन्दिग्राम में (नगर से बाहर ही) गिरे तो ठीक अन्यथा नगर में हानि होगी। 'परयो कहि राम' इस पद को 'पुर तेहि तेज पियो है' इस वाक्य खण्ड के साथ लेना चाहिये। 'पुर' = वि० [अ०] पूर्ण, भरा हुआ—हिं० श० सा०। जब उस बाण ने श्रीहनुमान्‌जी के पूर्ण तेज को पी लिया, तब वे 'राम' ऐसा कहकर गिर पड़े। मूर्च्छा में स्वाभाविक शब्द स्वतः निकल पड़ते हैं। ये सदा 'राम' यह जप करते रहते थे, इससे मूर्च्छित होते समय संकट में भी वही शब्द निकला। इससे श्रीभरतजी ने इन्हें श्रीरामजी का शुद्ध भक्त समझा, जैसे सोकर उठने पर श्रीविभीषणजी के मुख से 'राम-राम' यह स्मरण हुआ है, तब हनुमान्‌जी ने उन्हें सज्जन समझा था; यथा—"राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा। हरषि हृदय कपि सज्जन चीन्हा॥" (मा० सुं० ५); श्रीभरतजी ने रामभक्त जानकर अङ्क भर कर उनसे भेंट की। 'निज जीवन दान दियो है'; यथा—"बिकल बिलोकि कीस उर लावा। जागत नहिं बहु भाँति जगावा॥ मुख मलीन मन भये दुखारी। कहत बचन भरि लोचन बारी॥ जेहि बिधि राम-बिमुख मोहिं कीन्हा। तेहिं पुनि यह दारुन दुख दीन्हा॥ जौं मोरे मन बच अरु काया। प्रीति रामपद कमल अमाया॥ तौ कपि होउ बिगत श्रम सूला। जौं मोपर रघुपति अनुकूला॥

सुनत बचन उठि बैठ कपीसा । कहि जय जयति कोसलाधीसा ॥" (मा० लं० ५७); यहाँ अपनी निश्छल भक्ति को प्रण पर रखकर इन्हें जिलाया है, इससे अपने जीवन से इन्हें जीवन दान दिया है ।

'दुख लघु लखन मरन घायल····'–श्रीरामजी के समान ही श्रीभरतजी का स्वभाव है, इससे शरीर-सम्बन्धी नाते से स्नेह-सम्बन्ध को ये भी अधिक मानते हैं; यथा—"जानत प्रीति रीति रघुराई । नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई ॥" (वि० १६४)—इस पूरे पद में इस प्रकार बर्त्ताव के कई उदाहरण हैं । तथा—"भरतहि जानि राम परिछाँहीं ॥" (मा० अ० २६५); तथा—"भरत मोहिं कछु अंतर काऊ ॥" (मा० उ० ३५) ।

श्रीलक्ष्मण मूर्च्छा पर कम दुःख होने और कपि-जीवन पर अधिक सुख होने का यह भी हेतु है कि कपि-जीवन से इस ओषधि द्वारा लक्ष्मणजी तुरत अच्छे हो जायँगे । यदि हनुमानूजी न जीते तो श्रीलक्ष्मणजी न बचते और उनके विरह में श्रीरामजी भी देह त्याग देते, तत्पश्चात् सुग्रीवादि एवं श्री अवध-समाज में कोई न जीता । अतः कपि जीवन में बहुत बड़े गुण हैं, इससे इसमें अधिक हर्ष होना युक्त ही है ।

श्रीलक्ष्मणजी क्षात्रधर्म के अनुसार युद्ध में एवं श्रीराम-सेवा में घायल हैं । इनके जीने-मरने दोनों में महान् गुण हैं । अतः उनके विषय में विशेष दुःख नहीं हुआ, यह भी युक्त ही है ।

'आयसु इतहि···'—आकाश यदि फट जाय तो उसका सीना असंभव ही है, वैसे भरतजी के इत-उत की व्यवस्था का समाधान होना असंभव है। अन्त में आज्ञा-पालन ही रह गया; तथा—"अग्या सम न सुसाहिब सेवा।" (मा० अ० ३००) आगे पद १४ में भी इस पर ग्लानि की गई है ।

'बिहरयो अकास सो···' इसमें 'ललित अलङ्कार' है ।

[११]

भरत-सत्रुसूदन बिलोकि कपि चकित भयो है ।
राम-लखन रन जीति अवध आए, कैधौं मोहिं भ्रम,
कैधौं काहू कपट ठयो है ॥ १ ॥

प्रेम पुलकि, पहिचानि कै पद-पदुम नयो है ।
कह्यो न परत जेहि भाँति दुहुँ भाइन,
सनेह सों सो उर लाय लयो है ॥ २ ॥
समाचार कहि गहरु भो, तेहि ताप तयो है ।
कुधर सहित चढ़ौ बिसिष, बेगि पठवौं, सुनि,
हरि हिय गरब गूढ़ उपयो है ॥ ३ ॥
तीर तें उतरि जस कह्यो चहै, गुन गननि जयो है ।
धन्य, भरत ! धन्य भरत ! करत भयो,
मगन मौन रह्यो मन अनुराग रयो है ॥ ४ ॥
यह जलनिधि खन्यो, मथ्यो, लँघ्यो, बाँध्यो, अचयो है ।
तुलसिदास रघुबीर-बंधु-महिमा को सिंधु-
तरि को कवि पार गयो है ? ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—उपयो है = उत्पन्न हुआ है । ठयो = ठान्यो । रयो = रँग्यो ।

अर्थ—श्रीभरतजी और श्रीशत्रुघ्नजी को देखकर वानर श्रीहनुमान्जी चकित हो गये हैं, वे विचारते हैं कि श्रीराम-लक्ष्मण क्या युद्ध में जीत कर श्रीअवधपुर आ गये या मुझे भ्रम हो रहा है अथवा किसी ने छल किया है ? ॥ १ ॥ फिर पहचान कर उन्होंने प्रेम से पुलकित हो, इन दोनों भाइयों के चरण कमलों में प्रणाम किया है। जिस प्रकार से इन दोनों भाइयों ने उन्हें स्नेह से हृदय लगा लिया है, वह कहने में (यथार्थ) नहीं बन पड़ता ॥ २ ॥ श्रीहनुमान्जी ने लङ्का का समाचार (सूक्ष्म में) कहा और यह भी कहा कि मुझे इस कार्य में विलम्ब हो गया (शीघ्र लौटने की मैंने प्रतिज्ञा की थी), इस संताप से (श्रीहनुमान्जी एवं) श्रीभरतजी सन्तप्त हुए। श्रीभरतजी ने कहा—'पहाड़ के साथ मेरे बाण पर चढ़ो, शीघ्र मैं (आप को श्रीरामजी के पास) भेज दूँ; यह सुन कर वानर श्रीहनुमान्जी के हृदय में गुप्त रूप में अभिमान उत्पन्न हुआ (कि मेरे इतने भार को लेकर भला बाण कैसे चलेगा) ? ॥ ३ ॥ (श्रीहनुमान्जी श्रीभरतजी के बाण पर चढ़ गये, जब श्रीभरतजी ने अनुसन्धान कर चलाना चाहा, तब) श्रीहनुमान्जी ने उस तीर से उतर कर श्रीभरतजी का यश कहना चाहा; परन्तु श्रीभरतजी के गुण गणों ने उनको

जीत लिया (; अर्थात् वे गुण गणों का वर्णन नहीं कर सके)। श्रीहनुमान्‌जी 'धन्य भरत !' 'धन्य भरत !' ऐसा बखान करते हुए निमग्न हो मौन रह गये उनका मन अनुराग में रँग गया ॥ ४ ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इस प्राकृत समुद्र को तो (राजा प्रियव्रत ने एवं सगर के पुत्रों ने) खोदा है, (दैत्य और देवताओं ने) मथा है, (श्रीहनुमान्‌जी ने) लाँघा है, (श्रीराम कृपा से नल-नील आदि ने) बाँधा है और (श्रीअगस्त्य जी ने) पी लिया है। परन्तु श्रीरघुकुल वीर श्रीरामजी के भाई श्रीभरतजी की महिमा के समुद्र को तर कर कौन कवि पार गया है ? (; अर्थात् कोई नहीं) ॥ ५ ॥

विशेष—'भरत-सत्रुसूदन बिलोकि...'—सहसा पहचान नहीं सके; यथा-"भरत राम ही की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नर नारी ॥ लखन सत्रुसूदन एक रूपा। नख-सिख ते सब अंग अनूपा ॥" (मा० बा० ३१०)।

'राम-लखन रन जीति...'—श्रीराम-लक्ष्मण ही तो हैं, वे तो लङ्का में युद्ध में थे, क्या रण जीतकर यहाँ आ गये ? नहीं-नहीं, वहाँ का काम इतनी शीघ्रता का नहीं था। अथवा मुझे ही भ्रम हो गया है कि मैं यहाँ इन्हें देख रहा हूँ। भ्रम कैसा ? मैं तो स्वस्थ एवं सावधान हूँ, हो सकता है, जैसे कालनेमि ने मार्ग में कपट रूप से बाधा की थी, वैसे यह रूप भी किसी ने कपट से बनाया हो। कुछ निश्चित न कर सके।

'प्रेम पुलकि पहिचानि कै...'—कुछ काल में निश्चित हो गया कि मैं तो श्रीअयोध्याजी में हूँ। यहाँ पर श्रीराम-लक्ष्मण के अनुरूप ही तो दो भाई भरत-शत्रुघ्न भी हैं, मैंने सुना है। ये ठीक वे ही हैं; क्योंकि इनमें श्रीवत्स आदि विशेष चिह्न भी तो नहीं हैं। इन रीतियों से पहचान कर प्रेम से पुलकित हो गये और फिर प्रणाम किया है।

'कह्यो न परत...'; यथा—"लीन्ह कपिहि उर लाइ पुलकित तनु लोचन सजल। प्रीति न हृदय समाइ सुमिरि राम रघुकुल तिलक ॥" (मा० लं० ५६)। दोनों भाइयों का उस समय का वह स्नेह अवर्ण्य है; यथा—"बरनउँ किमि तिन्ह की दसहि, निगम-अगम प्रेमरसहि, तुलसी-मन-बसन रँगे रुचिर रूप रंग ॥" (अ० १७); तथा—"मिलत प्रेम नहिं हृदय समाता। नयन स्रवत जल पुलकित गाता ॥" (मा० उ० १)।

'समाचार कहि ...'; यथा—"कपि सब चरित समास बखाने। भए दुखी मन महँ पछिताने ॥ अहह दैव मैं कत जग जायेउँ। प्रभु के एकौ काज न आयेउँ ॥" (मा० लं० ५९)। यहाँ दुःख से सन्तप्त होना प्रधान रूप में तो श्रीभरतजी का है; क्योंकि साथ ही उन्होंने ही शीघ्र भेजने का उपाय किया है। परन्तु 'गहरु भो' इस कथन के साथ श्रीहनुमान्जी का भी संतप्त होना ध्वनित है, इसीसे इन्होंने भी साथ ही तुरत जाने की प्रतिज्ञा की है; यथा—"तात गहरु होइहि तोहि जाता। काज नसाइहि होत प्रभाता ॥ चढ़ु मम सायक सैल समेता। पठवउँ तोहिं जहँ कृपानिकेता ॥ सुनि कपि मन उपजा अभिमाना। मोरे भार चलिहि किमि बाना ॥" (मा०लं०५८); 'हरि हिय ...'—गर्व होने के सम्बन्ध से हरि = वानर संज्ञा दी है, वानर में गर्व होना स्वाभाविक है। पहाड़ के साथ मेरा भार बहुत है, बाण कैसे धारण कर सकता है ? इसे प्रकार का अभिमान उत्पन्न हुआ।

'तीर ते उतरि जस कह्यो चहै ...'—यश के स्थान पर आगे गुणगण कहे गये हैं, अतः, गुण-गण ही यश के व्यष्टि भेद हैं, यह सिद्ध हुआ। गुण-गणों का जीतना यह कि ये कह कर उन्हें समाप्त नहीं कर सके; प्रत्युत हार कर मौन रह गये, यही आगे चरण के उत्तरार्द्ध में स्पष्ट है।

'धन्य भरत !'—; यथा—"सुकृती पुण्यवान्धन्यः" (अमरकोष); अर्थात् श्रीभरतजी बड़े भारी सुकृती हैं, इसीसे इनकी श्रीरामजी में ऐसी प्रीति है और उनके प्रसाद से इनमें ऐसा अपरिमेय बल है; यथा—"सकल सुकृत कर बड़ फल एहू। सीयराम पद सहज सनेहू ॥" (मा० अ० ७४); तथा—"राम कृपा अतुलित बल तिन्हहीं। तृन समान त्रैलोकहि गिनहीं ॥" (मा० सुं० ५४)। श्रीभरतजी को धन्य कहते-कहते निमग्न हो गये। फिर मौन रह गये; क्योंकि मन श्रीभरतजी के अनुराग में रँग गया है।

यहाँ तो मन का गूढ़ गर्व कार्य रूप में भी परिणत हो गया; अर्थात् बाण पर चढ़ कर इन्होंने परीक्षा ली, श्रीभरतजी को कुछ भी भार नहीं जान पड़ा। तब उतर कर इन्होंने भरतजी के यश गान में चित्त दिया है। श्रीरामचरितमानस लं० ५९ में इस प्रकार है; यथा—"राम प्रभाउ बिचारि बहोरी। बंदि चरन कह कपि कर जोरी ॥ तव प्रताप उर राखि प्रभु, जैहौं नाथ ! तुरंत।

अस कहि आयसु पाइ पद बंदि चलेउ हनुमंत ॥ भरत बाहु बल सील गुन, प्रभु पद प्रीति अपार । मन महँ जात सराहत, पुनि-पुनि पवनकुमार ॥" (मा० लं० ५६); अर्थात् श्रीराम-प्रभाव विचार कर ही इनके मन का अभिमान निवृत्त हो गया । मा० बा० १७ में लिखा है—"जासु हृदय आगार, बसहिं राम सर चाप धर ।" और मा० सुं० ४६ में लिखा है—"तब लगि हृदय बसत खल नाना । लोभ मोह मच्छर मद नाना ॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा । धरे चाप-सायक कटि भाथा ॥" अर्थात् इनके हृदय-स्थित श्रीरामजी ने अपने प्रभाव विचार रूप प्रहार से अभिमान को दूर कर दिया ।

'यह जलनिधि खन्यो···'—राजा प्रियव्रत ने अपने ज्योतिर्मय रथ पर चढ़ कर सूर्य के साथ पृथिवी की सात परिक्रमा की है । रथ की पहियों से खोद कर जो सात लीकें बन गईं, वे ही सातो समुद्र हुए हैं; यथा—"ये वा उ ह तद्रथचरणनेमिकृतपरिखातास्ते सप्त सिन्धव आसन् यत एव कृताः सप्त भुवो द्वीपाः ॥" (भाग० ५।१।३१); अर्थात् प्रियव्रत का रथ सात बार पृथिवी पर घूमा है, उससे पहिये की सात लीकें बन गईं । वे ही सातो सागर बन गये। इन्हीं के बीच-बीच की भूमि सात द्वीपों के रूप में परिणत हुई ।

सगर के पुत्रों ने तो एक सागर को खोद कर बढ़ाया है । परिमित रथ की पहियों की लीकों का बना हुआ समुद्र परिमित ही है ।

'मथ्यो'—दैत्यों और देवों ने मिल कर भगवान् की सहायता से इसका मन्थन कर डाला है, तब इसमें अपरिमित होने का भाव कहाँ है ?

'लँघ्यो'—हनुमान् नाम के एक वानर ने इसे लाँघा है, तब भी इसमें अपरिमित भाव नहीं रह गया ।

'बाँध्यो'; यथा—"बाँधा सेतु नील-नल नागर । राम कृपा जस भयो उजागर ॥" (मा० लं० २); इससे भी इसकी सीमा निर्धारित ही है ।

'अँचयो'; यथा—"कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा । सोखेउ सुजस सकल संसारा ॥" (मा० बा० २५५); तथा—"कलस जोनि जिय जान्यो नाम-प्रताप । कौतुक सागर सोखेउ करि जिय जाप ॥" (बरवै रा० ५५) । जब एक परिमित शरीर धारी ने पी लिया, तब इस समुद्र में अपरिमित होने का भाव कहाँ रहा ?

इन पाँच प्रकारों से जिस समुद्र की दुर्दशा हो चुकी है, इसका परिमित भाव सुस्पष्ट हो गया है, उसके समान (श्रीरघुवीर-बन्धु की महिमा के समान) समुद्र कैसे हो सकता है? आज तक इस सागर का किसी कवि ने पार नहीं पाया; यथा—"अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि, हरिहर को॥" (मा० अ० २४०); "महिमा तासु कहइ किमि तुलसी।" से "भरत सुभाउ न सुगम निगम हूँ।" (मा० अ० ३०२-३०३) तक। "भरत महा महिमा जल रासी। मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी॥ गा चह पार जतन हिय हेरा। पावति नाव न बोहित बेरा॥" (मा० अ० २५६); "भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं राम न सकहिं बखानी॥" (मा० अ० २८८); इत्यादि।

'यह जलनिधि···' इस चरण में 'पञ्चम प्रतीप अलङ्कार' है।

[१२]

होतो नहि जौं जग जनम भरत को।
तौ, कपि कहत, कृपानधार मग चलि आचरत बरत को? ॥१॥
धीरज-धरम धरनिधर-धुरहुँ ते गुरु धुर धरनि धरत को?
सब सदगुन सनमानि आनि उर, अघ-औगुन निदरत को? ॥२॥
सिवहु न सुगम सनेह रामपद सुजननि सुलभ करत को?
सृजि निज जस सुरतरु तुलसी कहँ अभिमत फरनि फरत को? ॥३॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जी कहने लगे कि यदि इस जगत् में श्रीभरतजी का जन्म न हुआ होता तो कृपाण (द्विधारा खड्ग) की धार के समान इस दुर्गम मार्ग पर चल कर प्रेमव्रत का आचरण कौन करता? ॥१॥ पृथिवी में पहाड़ों के बोझ से भी भारी बोझा वाले धैर्य और धर्म का धारण कौन करता? सब सद्‌गुणों को सम्मान के साथ हृदय में लाकर पापों और अवगुणों का निरादर कौन करता? ॥२॥ जो श्रीरामजी के चरणों का स्नेह श्रीशिवजी को भी सुगम नहीं है, उसे सज्जनों के लिये कौन सुलभ करता? और अपना यश रूप कल्प-वृक्ष रच कर इस तुलसीदास के लिये वाञ्छित फल कौन फलता? ॥३॥

विशेष—'होतो नहि जो···तौ, कपि कहत···'; यथा—"जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को॥" (मा० अ० २३२); 'कृपान धार मग···'; यथा—"खड्‌गधाराव्रती प्रथम रेखा प्रगट, सुद्ध-मति,

जुवतिवत-प्रेम पागी ॥" (वि० ३६)। द्विधारा खड्ग की धार पर चलने चलने के समान उत्तम प्रेम के मार्ग पर चलना है। इस व्रत को आचरण में लाकर प्रकट करना श्रीभरतजी के अतिरिक्त और से नहीं हो सकता था।

'धीरज धरम···'—धैर्य और धर्म का बोझा पहाड़ों के बोझ से कहीं अधिक है। तथा—"तात ! भरत तुम्ह धरम धुरीना।" "मातु-पिता गुरु स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू ॥ सो तुम्ह करहु···" (मा० अ० ३०३, ३०५)।

'सब सद्गुन सनमानि आनि उर···'; यथा—"सम दाम संजम नियम उपासा। नखत भरत हिय बिमल अकासा ॥ ध्रुव बिस्वास अवधि राकासी। स्वामि सुरति सुर बीथि बिकासी ॥ राम प्रेम बिधु अचल अदोषा। सहित समाज सोह नित चोखा ॥" (मा० अ० ३२४); "सुगुन खीर अवगुन जल ताता। मिलइ रचइ परपंच बिधाता ॥ भरत हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा ॥ गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्हि उजियारी ॥" (मा० अ० २३१)।

'सिवहु न सुगम सनेह रामपद···'; यथा—"ध्यान अगम सिवहू भेंट्यो केवट उठि।" (वि० १३५); "सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई ॥" (मा० लं० २१); "सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनम न भरत को।" से "कलिकाल तुलसी से सठनि हठि राम-सनमुख करत को ॥ भरत चरित करि नेम, तुलसी जो सादर सुनहिं। सीयराम पद प्रेम, अवसि होइ भव रस बिरति ॥" (मा० अ० ३२५-३२६) तक।

'सृजि निज जस सुरतरु···'; यथा—"कहत-सुनत सतिभाउ भरत को। सीयराम पद होइ न रत को ॥ सुमिरत भरतहिं प्रेम राम को। जेहि न सुलभ तेहि सरिस बाम को ॥" (मा० अ० ३०३); "मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार। लोक सुजस परलोक सुख सुमिरत नाम तुम्हार ॥" (मा० अ० २६३)—यह श्रीभरतजी के प्रति कहा गया है।

[१३]

सुनि रन घायल लखन परे हैं।
स्वामि-काज संग्राम सुभट सों लोहे ललकारि लरे हैं ॥१॥

सुवन-सोक, संतोष सुमित्रहिं, रघुपति-भगति बरे हैं।
छिन-छिन गात सुखात, छिनहिं छिन हुलसत होत हरे हैं ॥२॥
कपि सों कहति सुभाय, अंब के अंबक अंबु भरे हैं।
रघुनंदन बिनु बंधु कुअवसर, जद्यपि धन दुसरे हैं ॥३॥
'तात ! जाहु कपि संग', रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधिबस सुढर ढरे हैं ॥४॥
अंब-अनुज-गति लखि पवनज-भरतादि गलानि गरे हैं।
तुलसी सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं ॥५॥

अर्थ—श्रीसुमित्राजी ने जब सुना कि लक्ष्मणजी युद्ध में घायल होकर पड़े हुए हैं, उन्होने अपने स्वामी श्रीरामजी के कार्य में सुभट मेघनाद से युद्ध में ललकार कर लोह (के बाण एवं शक्ति आदि) से लड़ाई की है ॥ १ ॥ तब उन्हें पुत्र के घायल होने का शोक तो हुआ; परन्तु इस बात से सन्तोष भी हुआ कि मेरे पुत्र श्रीलक्ष्मणजी श्रीरघुनाथजी की भक्ति अङ्गीकार किये हुए हैं। उनका शरीर उक्त पुत्रशोक से क्षण-क्षण में सूखता है और फिर वह घात्र श्रीरघुनाथजी की भक्ति में हुआ है, यह समझ कर उन्हें क्षण-क्षण में उल्लास होता है तथा उनके शरीर के सभी अंग हरे-भरे हो जाते हैं ॥ २ ॥ माता सुमित्राजी के नेत्र अश्रु जल से भरे हुए हैं, वे स्वभाव से ही श्रीहनुमान्जी से कहती हैं कि रघुकुल के आनन्दवर्धन श्रीरामजी इस कुअवसर में बिना भाई के हो गये हैं। यद्यपि हमारे पास एक धन (सम्पति) रूप पुत्र दूसरे श्रीशत्रुघ्न भी तो हैं (तो रघुनन्दन भाई बिना क्यों रहें ? यह विचार कर पास में बैठे हुए श्री शत्रुघ्नजी से कहा—] 'हे तात ! तुम वानर श्रीहनुमान्जी के साथ जाओ, यह सुनकर श्रीशत्रुघ्नजी हाथ जोड़कर खड़े हैं (; अर्थात् माता की आज्ञा पर सन्नद्ध हैं)। वे शरीर से पुलकित होकर ऐसे प्रसन्न हैं मानों विधाता के किये हुए संयोग से पासे पूरे दाँव पर सुन्दर ढार से ढरे हैं (; अर्थात् पूरे-पूरे दाँव पड़ गये हैं) ॥ ४ ॥ माता श्रीसुमित्राजी और छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी की यह दशा देखकर श्रीपवनकुमारजी और श्रीभरत आदि ग्लानि में गले जाते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उस समय माता श्रीसुमित्राजी को (करुणा में विह्वल देखकर) सभी ने समझाकर सचेत किया है ॥ ५ ॥

विशेष—'स्वामि काज···'—यों भी क्षत्रिय की युद्ध में सम्मुख लड़कर घायल होने में शोभा ही है। यहाँ तो यह युद्ध अपने स्वामी श्रीरामजी के कार्य में हैं; यथा—"समर मरन पुनि सुरसरि तीरा। राम काज छन भंग सरीरा।···बड़े भाग अस पाइअ मीचू॥ स्वामिकाज करिहउँ रन रारी। जस धवलिहउँ भुवन दस चारी॥ तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरे। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरे॥" (मा० अ० १८९)।

'सुवन सोक, संतोष···'—पुत्र पर अत्यन्त वात्सल्य होता ही है, इससे उसके घायल हो दुखी होने का शोक सहसा हो आया है, परन्तु उन्हें यह विचार कर सन्तोष है कि मेरे पुत्र ने मेरी शिक्षा से श्रीराम-भक्ति तो ले रखा है। इससे सहसा बढ़े हुए शोक से उनका शरीर सूख जाता है फिर विशेष विचार करने पर पुत्र की श्रीरघुनाथजी की भक्ति-निष्ठा की दृढ़ता पर उनके अङ्ग-अङ्ग हरे भरे हो जाते हैं और हृदय से उल्लास होता है; यथा—"पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुपति भगत जासु सुत होई॥ नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम-बिमुख सुत ते हित जानी॥" (मा० अ० ७४)।

'कपि सों कहति···'—स्वाभाविक वात्सल्य से ही ऐसा कह रही हैं।

'रघुनंदन बिनु बंधु···'—मेरे पास एक धन और हैं तो रघुनन्दन बिना भाई के क्यों रहें और इस समय तो कुअवसर है। अतः अत्यन्त आवश्यकता है। इससे माता शत्रुघ्नजी को आज्ञा देती हैं, धन पर धनी का अधिकार होता है इस नियम से पुत्र शत्रुघ्न पर माता अपने अधिकार से आज्ञा देती हैं।

'तात! जाहु···प्रमुदित पुलकि···'—'रिपुसूदन पद से क्षात्र धर्म के अनुकूल युद्ध करना है, इससे उत्साह है, क्योंकि ये भी शत्रु का नाश करने वाले हैं। फिर स्वामी श्रीरामजी के कार्य में लगना है, यह समझ कर अत्यन्त आनन्द है। इस सौभाग्य की आशा नहीं थी। संयोग से ही घटित हो गया। इससे जुआ के पासे पड़ने की उत्प्रेक्षा है। यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है।

'अंब अनुज गति लखि···'—इन दोनों की श्रीरामजी में उच्च दशा की भक्ति देखकर श्रीहनुमान्‌जी और भरतजी एवं श्रीकौसल्याजी आदि सब ग्लानि में गलते हैं कि ऐसी उत्तम भक्ति-दशा हम सबको नहीं प्राप्त हो पाई। श्रीभरतजी अपनी ग्लानि के कुछ और उद्गार अगले पद में कहते भी हैं।

'सब समुझाइ मातु...'—श्रीहनुमान्‌जी एवं और सभी ने समझाया कि इस ओषधि के जाते ही श्रीलक्ष्मणजी नीरोग हो जायँगे। फिर श्रीरामजी ने रावण-विजयी वाली को तो एक बाण ही में मार डाला है, तब रावण का मारना उनके लिये कोई कठिन नहीं है। सेवा में वहाँ बहुत से सुयोग्य सेवक हैं और श्रीलक्ष्मणजी को भी अच्छे हुए ही समझिये, इस प्रकार समझाने पर माता सचेत हो गईं।

[१४]

बिनय सुनाइबी परि पाय।
कहउँ कहा, कपीस! तुम्ह सुचि सुमति सुहृद सुभाय॥ १॥
स्वामि-संकट-हेतु हौं, जड़ जननि जनम्यो जाय।
समउ पाइ, कहाइ सेवक घट्यो तौ न सहाय॥ २॥
कहत सिथिल सनेह भो, जनु धीर घायल घाय।
भरत-गति लखि मातु सब रहि ज्यों गुड़ी बिनु बाय॥ ३॥
भेंट कहि कहिबो, कह्यो यों कठिन-मानस माय।
'लाल लोने लखन सहित सुललित लागत नाय'॥ ४॥
देखि बंधु-सनेह, अंब सुभाउ, लखन-कुठाय।
तपत तुलसी तरनि-त्रासक येहि नये तिहुँ ताय॥ ५॥

अर्थ—[श्रीभरतजी ने कहा—] 'हे कपीश्वर श्रीहनुमान्‌जी! स्वामी श्रीरामजी से उनके चरणों पर पड़कर मेरी यह प्रार्थना सुनाइयेगा। आपसे मैं अधिक क्या कहूँ? आप तो स्वयं स्वभाव से ही पवित्र चित्त, सुबुद्धि और सुहृद हैं॥१॥ मेरी माता ने मुझ मूर्ख को स्वामी (श्रीरामजी) को सङ्कट उपस्थित करने के लिये ही व्यर्थ पैदा किया है, क्योंकि मैं आपका सेवक कहला कर भी समय प्राप्त होने पर कुछ सहायता में घटित नहीं हो सका'॥२॥ ऐसा कहते हुए श्रीभरतजी स्नेह से शिथिल हो गये, मानों कोई धैर्यवान पुरुष घाव से घायल हो जाने पर हो जाता है। श्रीभरतजी की यह दशा देखकर सब माताएँ इस प्रकार रह गईं, जिस प्रकार बिना वायु का पतंग ॥३॥ [श्रीकौसल्याजी ने कहा—] हे हनुमान्! भैया श्रीरामजी से कहना कि आपकी कठोर हृदय वाली माता ने भी अपनी भेंट कहने को कहकर और भी इस प्रकार कहने को कहा

है—'हे लाल (भैया श्रीरामजी) ! सुन्दर लक्ष्मणजी के साथ ही तुम्हारा नाम सुन्दर मनोहर लगता है' ॥४॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि भाई श्रीभरत तथा श्रीशत्रुघ्न के स्नेह, माता श्रीकौसल्या और श्रीसुमित्रा के स्वभाव तथा श्रीलक्ष्मणजी को कुठाँव में (मर्माहत) देख एवं समझकर इन नवीन तीनों तापों से सूर्य को भी भय देनेवाले श्रीहनुमान्‌जी संतप्त हो रहे हैं ॥५॥

विशेष—'सुचि सुमति सुहृद'—पवित्र चित्त हैं अतः, आप निःस्वार्थ भाव से हम सबकी व्यवस्था देखेंगे और फिर सुन्दर बुद्धि से विचारेंगे, तब हमारे हित की व्यवस्था अपने सुहृद भाव से सम्पन्न करेंगे, तो फिर कहने की क्या आवश्यकता है ?; यथा—"सुहृद सुजान सुसाहिबहि, बहुत कहब बड़ि खोरि" (मा० अ० ३००)।

'स्वामि-संकट हेतु हौं…'—स्वामी को मेरे ही कारण वनवास हुआ, उसीसे ये सब संकट उन्हें पड़ रहे हैं; यथा—"मोर जनम रघुबर बन लागी।… जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भै मोहिं कारन सकल उपाधी॥" (मा० अ० १८२)। 'जाय'; यथा—"राम भगत महँ जासु न देखा॥ जाय जिअत जग सो महि भारू" (मा० अ० १८९)।

'समउ पाइ, कहाइ सेवक…'—सेवक होकर यदि समय पर सेवा नहीं की तो सेवक कैसा ?; यथा—"सेवक सो जो करइ सेवकाई।" (मा०बा०२७०)।

'कहत सिथिल सनेह भो…'धैर्यवान् को घाव की असह्य पीड़ा होती है, पर वह चुपचाप सह लेता है, वैसे ही अपने विषय में उपर्युक्त बातों को आज्ञा-पराधीनता से चुपचाप सहते हैं; यथा—"अवसि हौं आयसु पाइ रहौं गो। जनमि कैकयी कोखि कृपानिधि क्यों कछु चपरि कहौं गो॥" (अ० ७७)। श्रीभरतजी दृप्त-प्रपन्नों में हैं। अतः, ये प्रारब्ध भोग को धैर्य से भोगते हैं। पर असह्य दुख होने पर शिथिलता शरीर में आ गई, जिसे देखकर माताएँ घबड़ा गईं। बिना वायु की गुड़ी डाँवाडोल परिस्थिति में रहती है। वैसे ही भरतजी ही माताओं के आधार हैं; यथा—"परिजन प्रजा सचिव सब अंबा। तुम्हहीं सुत सब कहँ अवलंबा॥" (मा० अ० १७५); जैसे घायल को देख उसके आश्रित घबरा जाते हैं, वैसे ही विरह-व्यथा में घायल भरतजी की दशा पर माताएँ घबरा गई हैं।

'लाल लोने लखन-सहित'''—यहाँ हृदय की कठिनता यह है कि वहाँ श्रीरामजी नाना दुःखों से आक्रान्त हैं, यह जानती हुई भी लक्ष्मणजी के साथ ही आने का अनुरोध करती हैं कि अपनी शोभा चाहो तो लक्ष्मणजी को साथ लेकर ही आओ। नरनाट्य की दृष्टि से क्या यह श्रीरामजी के हाथ की बात थी? नहीं, नहीं, माता को प्रथम जन्म के वरदान से भी अलौकिक विवेक प्राप्त है और बाल लीला में प्रभु के द्वारा उनके विराट् रूप का ऐश्वर्य भी देख चुकी हैं। अतः, इन्हें कुछ-कुछ ऐश्वर्य का भी स्मरण रहता है, इससे भक्त लक्ष्मणजी के लिये अनुरोध कर रही है पर माधुर्य रीति से ऐसा वचन 'कठिन मानस माय' का ही हो सकता है।

'देखि बंधु सनेह'''–जैसे श्रीकृष्ण भगवान् ने अपने प्रिय भक्त उद्धवजी को गोपियों के पास भेजकर उत्तमा प्रेम भक्ति की शिक्षा दिलाई है, वैसे ही श्रीहनुमान्‌जी को यहाँ के सत्संग का संयोग लगा श्रीरामजी ने श्रीहनुमान्‌जी को उत्तम प्रेम का पाठ पढ़ाया है। श्रीहनुमान्‌जी इन सबके प्रेम और स्वभाव के समक्ष अपने को बहुत अल्प मानकर सन्तप्त होते हैं कि हाय! मुझमें तो अभी तक कुछ भी प्रेम नहीं है और न ऐसा स्वभाव ही प्राप्त है। अतः, यह अलभ्य लाभ तो छोड़ा नहीं जाता, परन्तु परिस्थिति विवश कर रही है कि शीघ्र चलो; अन्यथा लक्ष्मणजी की मर्माहत दशा है। दैहिकादि त्रिविध तापें पुरानी हैं और ऐसे स्नेह एवं स्वभाव के अभाव में संतप्त होना तथा लक्ष्मणजी के कुठायँ पर तप्त होने के रूप में ये नये तीन ताप हैं। सूर्य का ग्रहण करने में ये तप्त नहीं हुए प्रत्युत् सूर्य ही डर गये थे। यहाँ इन तापों से ये भी संतप्त हो उठे हैं।

[१५]

हृदय घाउ मेरे, पीर रघुबीरै।
पाइ सजीवन, जागि कहत यों प्रेम पुलकि बिसरे सरीरै ॥१॥
बिसराय

मोहिं कहा बूझत पुनि-पुनि जैसे पाठ-अरथ-चरचा कीरै।
सोभा सुख छति-लाहु भूप कहँ, केवल कान्ति-मोल हीरै ॥२॥

तुलसी गुनि सौमित्र-बचन सब धरि न सकत धीरौ धीरै।
उपमा राम-लखन की प्रीति की क्यों दीजै खीरै-नीरै ? ॥३॥

अर्थ—सञ्जीवनी बूटी खाकर सचेत होने पर (श्रीसुग्रीब आदि के द्वारा पीड़ा के विषय में पूछे जाने पर) श्रीलक्ष्मणजी प्रेम से पुलकित हो और देह-सुधि भूले हुए इस प्रकार कहने लगे—'मेरे वक्षःस्थल में तो घावमात्र हुआ है, परन्तु इसकी पीड़ा श्रीरघुनाथजी को है ॥१॥ आप लोग मुझसे बार-बार क्या पूछते हैं ? (आप लोगों का मुझ से पूछना वैसा ही है) जैसे कोई तोते से उसके द्वारा पढ़े हुए पाठ के अर्थ पूछने की चर्चा करे (तो वह चर्चा व्यर्थ ही है)। हीरे में केवल कान्ति और मोल ही रहता है, फिर तो (उसका धारण करने पर) उससे होनेवाली शोभा का सुख, खो जाने की हानि का दुःख और उसके लाभ का हर्ष तो उसका धारण करनेवाले राजा को ही होता है ॥२॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीसुमित्रानन्दन के ये वचन सुनकर सब धैर्यवान् लोग भी धैर्य धारण नहीं कर सकते। अतः, इन श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी की प्रीति की उपमा दूध और जल की प्रीति से भी कैसे दी जाय ? ॥३॥

विशेष—'हृदय घाव मेरे, पीर रघुबीरै।'—वनयात्रा के समय पर श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीसीतारामजी की शरणागति की है—मा० अ० ७०-७२ तथा वाल्मी० २।३१।२-२८ देखिये। शरणागति में 'तवास्मि' मैं आपका हूँ, ऐसा कहकर मुमुक्षु अपना शरीर एवं तत्सम्बन्धी वस्तुएँ स्वामी को समर्पित कर उनका शेष (भोग्य-सेवक) होकर रहता है। श्रीरामजी इसके इस भावानुसार (गीता ४।११ के अनुसार) इसके प्रति वैसा ही वर्तते हैं। इसके शरीर के स्वामी होकर इसका संरक्षण अपना धन मानकर करते हैं, यह इससे निश्चिन्त रहता है। श्रीलक्ष्मणजी की शरणागति पर उनकी माता श्रीसुमित्राजी ने भी इन्हीं के भाव को सुदृढ़ कर दिया है—मा०अ० ७३-७४ देखिये। इसी से उस भाव की खरी-परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर यहाँ आगे इन्हें 'सौमित्रि' कहा गया है।

यहाँ श्रीलक्ष्मणजी कहते हैं कि घाव तो मेरी छाती में ही हुआ है, परन्तु इसकी पीड़ा मुझसे न पूछिये। मेरा शरीर जिसका धन है, उन धनी श्रीरघुवीरजी से पूछिये। इसकी पीड़ा वस्तुतः उन्हीं को थी। उन्हीं ने उपाय कर इसे नीरोग भी कराया है। मैं तो मूर्च्छित पड़ा था।

'पाइ सजीवन जागि···'—मूर्च्छा निवृत्ति पर स्वामी का अपने धन के समान अपना संरक्षण देख अपनी प्रपत्ति-निष्ठा की सिद्धि समझ स्वामी की कृपा के प्रति कृतज्ञता में प्रेम से पुलकित हो शरीर सुधि भूल गये और फिर सावधान हो कहने लगे।

'मोहिं कहा बूझत पुनि पुनि ···'—जब इन्होंने कह दिया कि पीड़ा की बात श्रीरामजी से ही पूछिये; क्योंकि इस देह का सार-सँभाल तो उन्हीं ने किया है। इस पर लोगों ने फिर-फिर से कहा कि तुम्हारे सेवा कर्म एवं गुणों पर ही मुग्ध होकर तो स्वामी ने तुम्हारा संरक्षण भार लिया है। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि जैसे पाठक तोते को उत्तम पाठ पढ़ाता है और फिर स्वयं उस तोते से सुनकर उसकी प्रशंसा करता है, प्रसन्न होता है और उसका संरक्षण करता है। तोते से यदि पूछा जाय कि तेरे इस पाठ का क्या अर्थ है तो वह कुछ नहीं कह सकता। उसी प्रकार स्वामी श्रीरामजी ने मुझे सद्गुण प्रदान कर मुझसे अपनी सेवा करा स्वयं प्रसन्न हुए हैं। इसमें मेरा कर्तृत्व कुछ नहीं है। मैं यह नहीं समझता कि मेरे द्वारा होनेवाले किस गुण एवं कर्म से स्वामी प्रसन्न होते हैं; तथा—"केहि आचरन भलो मानै प्रभु सो तो न जानि परयो। तुलसिदास रघुनाथ-कृपा को जोवत पंथ खरयो॥" (वि० २३९)। "पसु नाचत सुक पाठ प्रवीना। गुन गति नट पाठक आधीना॥ यों सुधारि सनमानि जन, किये साधु सिरमौर।" (मा० अ० २९९)। यहाँ पर "गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा।" (मा० अ० १३०)—यह भक्ति है।

'सोभा-सुख, छति-लाहु भूप कहँ···'—हीरा में यदि कान्ति और मोल रहता है, तब राजा आदरपूर्वक उसका धारण करता है और फिर उस हीरे के संरक्षण का कुल भार राजा ही रखता है। हीरे की शोभा पर सुखी होता है, उसके टूटने-फूटने एवं खो जाने की हानि पर वह दुखी होता है तथा उस अमूल्य हीरे के लाभ पर वह हर्ष मानता रहता है। इसमें हीरा शेष और राजा शेषी है। शेष को धन, भोग्य एवं सेवक कहते हैं और शेषी को धनी, भोक्ता एवं सेव्य कहा जाता है। इसी प्रकार शरणागत मुमुक्षु शेष और श्रीरामजी शेषी हैं। हीरे में कान्ति और मोल की भाँति इस शरणागत में विवेक (सदसद्विवेक एवं स्वस्वरूप-पर-स्वरूप-विवेक) और निष्ठा (शेषत्व-निष्ठा) रहनी

चाहिये, तभी शेषी श्रीरामजी इसको अपना अंग मानकर धारण करें (अपनायेंगे) गे। फिर इसमें सद्गुण दे शेषत्व करा उसमें शोभा के सुख का अनुभव करेंगे, इसकी चूक पर इसका सँभाल करते रहेंगे और फिर इस अपने परिकर को अपना अमूल्य धन मानकर इस पर हर्षित रहेंगे।

शेषत्व के आचार्य श्रीलक्ष्मणजी की यह शिक्षा है। श्रीसुग्रीवजी और श्रीविभीषणजी आदि नवीन शरणागत हुए हैं। इसी व्याज से उन्हें श्रीलक्ष्मणजी ने शेषत्व की शिक्षा दी है।

आजकल पञ्च संस्कारों का रहस्य समझकर इन्द्रियों को जगत्-व्यवहार से खींचकर हरि भक्ति में लगाना विवेक है और त्रिविध अनन्यताओं (अनन्य शेषत्व, अनन्य भोग्यत्व तथा अनन्योपायत्व) की निष्ठा में दृढ़ता ही इसकी निष्ठा है। यह सब राममंत्रार्थ में समझना चाहिये।

'सुनि सौमित्रि-वचन ···'—श्रीलक्ष्मणजी ने प्रेम से पुलकित हो शरीर भूलकर कथन प्रारम्भ किया है और अपने कथन से अंत में सबको प्रेम में अधीर कर दिया, यही कथन का गौरव है; यथा—"जबहि राम कहि लेहिं उसासा। उमँगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा॥ द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना। पुरजन प्रेम न जाइ बखाना॥" (मा० अ० २१९)।

'उपमा राम-लखन की प्रीति की ····'—दूध और जल की प्रीति खटाई पड़ने पर तथा हंस के पीने में बिलगा जाती है; परन्तु श्रीराम-लक्ष्मण की प्रीति वनवास की विपत्ति रूप खटाई में पृथक् नहीं हुई। यहाँ की मूर्च्छा अवस्था में भी ज्यों की त्यों रही, जागते ही पूर्ववत् विवेक से इन्होंने निष्ठा का वर्णन किया है। यह निष्ठा की कसौटी है। तथा—"जल पय सरिस बिकाइ, देखहु प्रीति कि रीति भलि। बिलग होइ रस जाइ, कपट खटाई परत पुनि॥" (मा० बा० ५७); "कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहे। तिमि प्रियतम-पद नेम निबाहे॥" (मा० अ० २०४); एवं—"कसे कनक मनि पारिखि पाए। पुरुष परिखिअहि समय सुभाए॥" (मा० अ० २८२)। यहाँ 'प्रतीप अलङ्कार' है।

प्रथम चरण के पाठ में प्राचीन प्रतियों में 'बिसरे' है और आधुनिक कई प्रतियों में 'बिसराय' यह पाठ है। इसमें छन्दगति का सौष्ठव है, इससे यह भी रक्खा गया है।

विजयी श्रीराम की शोभा

राग कान्हरा

[१६]

राजत राम काम-सत-सुंदर ।
रिपु रन जीति अनुज संग सोभित, फेरत चाप-बिसिष बनरुह-कर ॥१॥
स्याम सरीर रुचिर श्रम-सीकर, सोनित-कन बिच बीच मनोहर ।
जनु खद्योत-निकर, हरिहित गन; भ्राजत मरकत-सैल-सिखर पर ॥२॥
घायल बीर बिराजत चहुँ दिसि, हरषित सकल रीछ अरु बनचर ।
कुसुमित किंसुक-तरु-समूह महँ, तरुन तमाल बिसाल बिटप बर ॥३॥
राजिव-नयन बिलोकि कृपा करि, किये अभय मुनि-नाग, बिबुध-नर ।
तुलसिदास यह रूप अनूपम हिय सरोज बसि दुसह बिपति हर ॥४॥

अर्थ—अपने शत्रु रावण को युद्ध में जीत कर भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ श्रीरामजी सुशोभित हैं, इस समय सैकड़ों कामदेवों के समान सुंदर रूप से विराजमान हैं और अपने कर कमलों से धनुष-बाण फिरा रहे हैं ॥१॥ उनके श्याम शरीर पर सुन्दर पसीने की बूँदें और उनके बीच-बीच में मनोहर रक्त के कण सुशोभित हैं; मानों किसी मरकत मणि के पहाड़ के शिखर पर जुगुनुओं के समूह और इन्द्र वधूटियों के समूह शोभायमान हो रहे हों ॥२॥ उनकी चारों ओर घायल वीर विराजमान् हैं, वे ऋक्ष और वानर सब प्रसन्न हैं; मानों फूले हुए पलाश के समूह वृक्षों के बीच में बड़ा विशाल नवीन श्रेष्ठ तमाल वृक्ष हो ॥३॥ प्रभु श्रीरामजी ने अपने लाल कमल के समान नेत्रों से देख कृपा करके मुनि, नाग, देवता और मनुष्य को निर्भय कर दिये। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि दुस्सह विपत्ति का हरण करने वाला उपमा रहित प्रभु श्रीरामजी का यह रूप मेरे हृदय कमल में निवास करे ॥४॥

विशेष—'राजत राम कामसत-सुंदर ।'; यथा—"संग्राम अंगन राम अंग अनंग बहु सोभा लही ॥" (मा० लं० १०२)।

'रिपु रन जीति अनुज सँग…'; यथा—"अनुज सहित सोभिहैं कपिन्ह महँ तनु छबि कोटि मनोज हितै है।" (सुं० ५०)।

'फेरत चाप…स्याम सरीर…जन खद्योत…'; यथा—"सिर जटा मुकुट प्रसून बिच-बिच अति मनोहर राजहीं। जनु नील गिरि पर तड़ित पटल समेत उडुगन भ्राजहीं।। भुज दंड सर कोदंड फेरत रुधिर कन तन अति बने। जनु रायमुनि तमाल पर बैठीं बिपुल सुख आपने॥" (मा० लं० १०२)। यहाँ 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।

'घायल बीर बिराजत……कुसुमित किंसुक…'; यथा—"घायल बीर बिराजहिं कैसे। कुसुमित किंसुक के तरु जैसे॥" (मा० लं० ५२); "भालु कोस सब हरषे जय सुख धाम मुकुंद।" (मा० लं० १०२); "तरुन तमाल बरन तनु सोहा। देखत कोटि मदन मन मोहा।। (मा० अ० ११४)।

यहाँ 'गम्योत्प्रेक्षालङ्कार' है; क्योंकि यहाँ विशाल तमाल वृक्ष श्रीरामजी और कुसुमित किंसुक वृक्ष घायल वीर हैं, वाचक जनु-मनु आदि गुप्त हैं।

'राजिव नयन बिलोकि…'—नेत्रों से देख कर कृपा करने के प्रसंग में राजिव-लोचन कहा जाता है; यथा—"राजिव नयन धरे धनु सायक। भगत बिपत्ति-भंजन सुखदायक॥" (मा० बा० १७); "सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आये जल राजिव नयना।।" (मा० सुं० ३१); तथा—"देखी राम सकल कपि सैना। चितइ कृपा करि राजिव नयना।। राम कृपा बल पाइ कपिंदा। भए पच्छ जुत मनहुँ गिरिंदा।।" (मा० सुं० ३४); "कृपा दृष्टि करि वृष्टि प्रभु, अभय किये सुर बृंद।।" (मा० लं० १०२); "अमर नाग नर राम बाहु बल। सुख बसिहहिं अपने अपने थल॥ यह सब जागबलिक कहि राखा।" (मा० अ० २८४)। यह वचन इसी समय से चरितार्थ हो रहा है। मुनि और नर मर्त्यलोक के, नाग पाताल लोक के और देवता स्वर्ग लोक के हैं। अतः, तीनों लोक-निवासियों को अभय किये।

'यह रूप अनूपम…'—इस समय रावण-वध करके समस्त लोकों की दुस्सह विपत्ति का हरण किया है। अतः, इस रूप के ध्यान में ऐसा महत्त्व स्वाभाविक है।

श्रीअवध में श्रीराम-प्रतीक्षा

राग आसावरी

[१७]

अवधि आजु किधौं औरौ दिन द्वै हैं।
चढ़ि धवरहर बिलोकि दखिन दिसि, बूझ धौं पथिक कहाँ ते आये वे हैं ॥१॥
बहुरि बिचारि हारि हिय सोचति, पुलकिगात लागे लोचन च्वै हैं।
निज बासरनि बरष पुरवै गो बिधि, मेरे तहाँ करम कठिन कृत कै हैं ॥२॥
बन रघुबीर, मातु गृह जीवति, निलज प्रान सुनि-सुति सुख स्वै हैं।
'तुलसिदास' मो-सी कठोरचित कुलिस-साल-भंजि कोन द्वै हैं ॥३॥

शब्दार्थ—कुलिस-साल-भंजिका = १–वज्र के साखू को काटने वाली कुल्हाड़ी, २–कुलिस के सार भाग का भी निरादर करने वाली।

अर्थ—[श्रीकौसल्याजी कहने लगीं—] श्रीरघुनन्दन के आने का अन्तिम दिन आज ही है अथवा अभी दो दिन और (शेष) हैं। वे धवरहर पर चढ़ गईं और दक्षिण दिशा की ओर देख कर (सखी से कहने लगीं—) 'ऐ सखी ! पूछ तो वे पथिक (यात्री) कहाँ से आये हैं ?' ॥१॥ फिर विचार करने पर (अवधि में अभी विलम्ब जान कर) वे हृदय से हार कर शोक करने लगीं, उनका शरीर पुलकित हो गया और नेत्र आँसू बहाने लगे। (फिर वे मन में कहने लगीं—) जान पड़ता है कि मेरे किये हुए कोई कठिन कर्म हैं, उनके परिणाम भोग कराने में विधाता इन वर्षों को अपने दिनों के लेखे (गणना) से पूरा करेगा ॥२॥ 'श्रीरघुनन्दन वन में हैं और उनकी माता घर में रह कर जीती-जागती है' यह सुन-सुन कर भी मेरे निर्लज्ज प्राण सुख की नींद सोवेंगे, हा ! मुझ-सरीखी कठोर चित्त को तो वज्र के साखू को काटने वाली कुल्हाड़ी भी नहीं होगा ॥३॥

विशेष—'अवधि आजु····चढ़ि धवरहर···'—श्रीभरतजी ने श्रीचित्रकूट में निश्चित करा लिया था कि ठीक अवधि पर श्रीरामजी आ जायँगे, उसी आश' पर माताएँ एवं पुरजन आदि जीते हैं "जिअत अवधि की आस।" (मा० अ० ३२२)। व्याकुलता में माता कुछ पहले ही घबरा गईं। धवरहर पर चढ़ कर

और दक्षिण दिशा के यात्रियों से पूछने का भाव यह कि यदि श्रीरामजी आते होंगे तो कहीं समीप तक आकर ठहरे होंगे। अवधि बीतने पर आयेंगे। यदि ऐसा होगा और इन यात्रियों ने देखा होगा तो कहेंगे।

'बहुरि बिचारि····'—विचारने पर निश्चित्त हो गया।

'निज बासरनि···'—ब्रह्मा का दिन; यथा—"सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः। रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥" (गीता ८।१७); अर्थात् ब्रह्माजी का जो दिन है, वह सहस्र युग तक रहने वाला और रात्रि को भी सहस्र युग तक रहने वाली (जो जानते हैं) वे लोग दिन-रात्रि के जानने वाले हैं। 'क्या विधाता अपने इन दिनों से यह १४ वर्ष की अवधि पूरी करेगा? ऐसा कह कर उसका कारण भी ढूँढ़ निकालती हैं कि मेरे ही कोई कठिन कर्म पूर्वकृत हैं, उसी से ब्रह्मा ऐसा कह रहा है। तथा—"कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फलदाता॥" (मा० अ० २८१)-यह इन्हीं श्रीकौसल्याजी का वचन है।

'बन रघुबीर, मातु गृह जीवति'—मेरे लिये यह बड़े कलङ्क की बात है; यथा—"मोहिं न लाज निज नेह निहारी। राम सरिस सुत मैं महतारी॥ जिअइ मरइ भल भूपति जाना। मोर हृदय सत कुलिस समाना॥" (मा० अ० १६५); "जिन्हके बिरह बिषाद बँटावन खग मृग जीव दुखारी। मोहिं कहा सजनी समुझावति हौं तिन्हकी महती॥" (अ० ८५)। ऐसे लकङ्कमय जीवन में रहनेवाले प्राण निर्लज्ज हैं।

'मोसी कठोर चित···'—बज्र के सार भाग से भी मेरा हृदय अधिक कठोर है; यथा—"मोर हृदय सत कुलिस समाना।" यह ऊपर लिखा है।

यहाँ भी 'प्रतीय अलङ्कार' है।

[१८]

आली! अब राम-लखन कित ह्वै हैं।
चित्रकूट तज्यौ तब ते न लही सुधि बधू समेत कुसल सुत द्वै हैं॥१॥
बारि बयारि बिषम हिम आतप सहि बिनु बसन भूमितल स्वै हैं।
कंद-मूल, फल-फूल असन बन-भोजन समय मिलन कैसे वै हैं॥२॥

जिन्हहिं बिलोकि सोचिहैं लता-द्रुम, खग-मृग-मुनि लोचन जल च्वै हैं।
तुलसिदास तिन्हकी जननी हौं, मो-सी निठुरचित औरौ कहुँ ह्वै हैं॥३॥

अर्थ—ऐ सखी! इस समय श्रीराम-लक्ष्मण किधर होंगे? उन्होंने जब से श्रीचित्रकूट छोड़ा है, तब से उनका समाचार नहीं मिला। क्या बधू के साथ मेरे दोनों बालक कुशलपूर्वक होंगे?॥१॥ वर्षा, वायु तथा विषम जाड़ा और धूप सहकर बिना वस्त्र के भूमि तल पर सोते होंगे। वन में कन्द-मूल और फल-फूल ही तो उन्हें खाने को मिलते होंगे, वे भोजन भी उन्हें समय पर कैसे मिलते होंगे?॥२॥ जिनको देखकर लताओं और वृक्षों को भी शोक होता होगा तथा पक्षियों, मृगों और मुनियों के नेत्र जल स्रवते होंगे, मैं उनकी माता हूँ! हा, मुझ-सरीखी निष्ठुर चित्तवाली और भी कोई स्त्री क्या कहीं होगी?

विशेष—'चित्रकूट तज्यो···'—अभी थोड़े ही दिन हुए श्रीहनुमान्‌जी से समाचार मिल चुका है—पद १०-१४ में विस्तृत वर्णन है। माता ऐसा क्यों कह रही हैं—इसके उत्तर ये हैं—(क) व्याकुलता में स्मृति नहीं है; यथा—"सोक बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा॥" (मा०अ० २७५)। (ख) हो सकता है कि यह पद श्रीहनुमान्‌जी के आने के पहले की परिस्थिति का बना हुआ हो। संकलनकर्त्ता ने भूल से यहाँ रख दिया हो। यह ग्रन्थ समय-समय पर रचे हुए पदों का संग्रह तो है ही।

'बारि बयारि····'—इसका यों भी भाव है कि वायु चलने पर वर्षा, हिम और आतप में विषमता आ जाती है, इसलिये 'बयारि बिषम' पद मध्य में रक्खे गये हैं; यथा—"घोर घाम हिम बारि बयारी।" (मा० अ० ६१); इसमें भी आदि में 'घोर' और अंत में 'बयारी' लिखकर बयारि से तीनों में घोरता ध्वनित्त की गई है। एक तो भूमितल और दूसरे बिना वस्त्र के वल्कल आदि वस्त्र नग्नता ढँकने मात्र में काम देते हैं, उनसे शीत-निवारण आदि सुभीते वैसे नहीं होते।

'कंद-मूल, फल-फूल असन बन····'; यथा—"भूमि सयन बलकल बसन, असन कंद फल मूल। ते कि सदा सब दिन मिलहिं, सबुइ समय अनुकूल॥" (मा० अ० ६२)।

'जिन्हहिं बिलोकि···'; यथा—"जिन्हके बिरह बिषाद बँटावन खग-मृग

जीव दुखारी।" (अ० ८५)। 'सोचिहैं लता द्रुम'; यथा—"बागन्ह बिटप बेलि कुँभिलाहीं। सरित सरोबर देखि न जाहीं॥ हय गय कोटिन्ह केलि मृग पुर पसु चातक मोर। पिक रथांग सुक सारिका सारस हंस चकोर॥ राम बियोग बिकल सब ठाढ़े।" (मा० अ० ८३)।

'तिन्हकी जनमी हौं...'—ऊपर पद के चरण ३ का विशेष देखिये।

प्रभु-समाचार-श्रवण

राग सोरठ

[१६]

बैठी सगुन मनावति माता।
कब ऐहैं मेरे बाल कुसल घर, कहहु, काग! फुरि बाता॥१॥
दूध-भात की दोनी दैहौं, सोने चोंच मढ़ैहौं।
जब सिय सहित बिलोकि नयन भरि राम-लखन उर लैहौं॥२॥
अवधि समीप जानि जननी जिय अति आतुर अकुलानी।
गनक बोलाइ, पाय परि पूछति प्रेम-मगन मृदुबानी॥३॥
तेहि अवसर कोउ भरत निकट तें समाचार लै आयो।
प्रभु-आगमन सुनत 'तुलसी' मानो मीन मरत जल पायो॥४॥

अर्थ—माता बैठी हुई शुभ शकुन मना रही हैं—'ऐ काक! सत्य बात कहो, मेरे बालक कब कुशलपूर्वक घर आयेंगे?॥१॥ जब मैं अपनी आँखों भर देखकर श्रीसीताजी के साथ आये हुए श्रीराम-लक्ष्मण को हृदय से लगाऊँगी तब मैं तुम्हें दूध-भात से भरी हुई दोनियाँ दूँगी और तुम्हारी चोंच सोने से मढ़ा दूँगी'॥२॥ फिर माता वनवास की अवधि समीप आई हुई जानकर हृदय से अत्यन्त आतुर हो व्याकुल हो उठीं और ज्योतिषी बुलाकर उसके पैरों पड़कर प्रेम में निमग्न हो कोमल वाणी से पूछने लगीं॥३॥ उसी समय पर श्रीभरतजी के समीप से कोई समाचार ले आया। प्रभु श्रीरामजी का आगमन सुनते ही (माता ऐसी प्रसन्न हुईं) मानों मछली ने मरते हुए जल पा लिया हो॥४॥

विशेष—'बैठी सगुन...कब ऐहैं...',—पहले शकुन मनाना कहा फिर साथ ही एक प्रकार के शकुन का वर्णन भी किया है—'कब ऐहैं...'। "दाहिन

काग सुखेत सुहावा।” (मा० बा० ३०२)—यह शकुन-वर्णन में कहा गया है। यहाँ के ‘कहहु, काग ! फुरि बाता’ इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि कौआ दाहिनी ओर (शुभ दिशा) में यदि बोलता हो तो वह शकुन है, इससे विदेशी का आगमन होता है। ‘सत्य कहो’ इसका भाव यह कि फिर से बोलो और यदि इस पर श्रीरामजी आ जायँगे तो—

‘दूध-भात की दोनी···’—हृदय में लगाकर जब हृदय शीतल करूँगी, तब दूध-भात खिलाकर तुम्हारा हृदय भी तृप्त एवं शीतल कर दूँगी और जिस चोंच से बोलकर ‘फुरि बाता’ कहोगे, उसे सोने से मढ़ाकर सुशोभित कर दूँगी।

‘अवधि समीप जानि···’—अवधि समीप आ गई, परन्तु अभी तक कुछ पता नहीं, यदि निषादराज के समीप तक आये होते तो वे तुरत समाचार देते। क्या कारण है, क्या अवधि पर भी नहीं आ सकेंगे ? तब तो कोई भी नहीं जियेगा; यथा—“अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना।” (मा० अ० ५६) यह भारी अनर्थ विचार कर माता व्याकुल हो उठीं। फिर सावधान होकर ज्योतिषी से पूछने लगीं। अपनी बुद्धि में जब कोई बात न आई कि इतने थोड़े अवशिष्ट समय में शृंगवेर पुर के आगे से पैदल कोई आ सकता है, तब ज्योतिषी से पूछती हैं कि कोई दैवयोग के साधन से कहीं आ जायँ। प्रेम में निमग्न हैं, इससे वाणी स्वभावतः कोमल हो गई है। इससे ज्योतिषी भी प्रेमपूर्वक विचार कर कहेंगे। ‘पायँ परि’ कर्म, ‘प्रेम मगन’-मन और ‘मृदु बानी’ में वचन की प्रीति है।

‘तेहि अवसर···’—उसी समय श्रीहनुमान्‌जी श्रीभरतजी के पास आ गये और फिर उन्होंने यह समाचार भेजा।

‘प्रभु-आगमन···’—‘प्रभु’ पद में प्रभुता के साथ आने का भाव है कि शत्रु को जीतकर दल-बल के साथ दिव्य विमान पर आ रहे हैं। अतः, ठीक समय पर आ जायँगे; यथा—“रिपु रन जीति सुजस सुर गावत। सीता सहित अनुज प्रभु आवत॥ सुनत बचन बिसरे सब दूखा। तृषावंत जिमि पाइ पियूषा॥” (मा० उ० १)—वही समाचार ही यहाँ आया है।

‘मानो मीन मरत जल पायो’—जैसे मछली पानी बिना मर रही हो और पानी पाकर अत्यन्त सुखी हो जी उठे, वैसी ही माता सुखी हो गईं।

ऊपर—'अवधि अंबु····' यह चौपाई लिखी गई है, तदनुसार यह दशा युक्त ही है। माता भी प्रभु-विरह में मर रही थीं, प्रभु-आगमन ही इन्हें मीन के जल की भाँति प्राप्त हुआ है। यहाँ 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षालंकार' है।

राग गौरी

[२०]

छेमकरी ! बलि, बोलि सुबानी।
कुसल छेम सिय-राम-लखन कब ऐहैं, अंब ! अवध रजधानी ॥१॥
ससि मुखि, कुंकुम बरनि, सुलोचनि, मोचनि सोच तु बेद बखानी।
देवि ! दया करि देहि दरस फल, जोरि पानि बिनवहिं सब रानी ॥२॥
सुनि सनेह मय बचन, निकट ह्वै, मंजुल मंडल कै मड़रानी।
सुभ मंगल आनंद गगन-धुनि अकनि-अकनि उर जरनि जुड़ानी ॥३॥
फरकन लगे सुअंग बिदिसि-दिसि, मन प्रसन्न, दुख दसा सिरानी।
करहिं प्रनाम सप्रेम पुलकि तनु मानि बिबिध बलि सगुन सयानी ॥४॥
तेहि अवसर हनुमान भरत सों कही सकल कल्यान-कहानी।
तुलसिदास सोइ चाह सजीवनि बिषम दियोग बिथा बड़ि भानी ॥५॥

शब्दार्थ—छेमकरी (छेमकरि)=एक प्रकार की चील, लाल चील, खेम कल्यानी। चाह=खबर, समाचार। बिथा (व्यथा)=पीड़ा, दुःख। भानी= तोड़ी, नाशी।

अर्थ—[क्षेमकरी को सम्मुख बोलती हुई देख कर श्रीकौसल्या आदि रानियाँ कहने लगीं—['क्षेमकरी ! मैं बलिहारी जाती हूँ। ऐ मातः ! तुम सुंदर वाणी बोलो। श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलचमणजी कुशल क्षेमपूर्वक श्रीअयोध्या राजधानी कब आवेंगे ? ॥१॥ हे देवि ! तुम चन्द्रमुखी, कुंकुमवर्णा और सुन्दर नेत्रों वाली हो, तुम शोक छुड़ाने वाली हो, ऐसा वेदों ने बखान किया है। दया करके तुम अपने दर्शनों का फल दो—सब रानियाँ हाथ जोड़ कर इस प्रकार विनती करने लगीं ॥२॥ रानियों के स्नेहमय वचन सुन कर समीप हो वह (क्षेम-करी) सुन्दर मण्डल बाँध कर मड़राने लगी। आकाश में उसकी शुभ, मंगल और आनन्दमयी ध्वनि सुन-सुन कर रानियों के हृदय की विरह जनित ज्वाला शान्त हो गई ॥३॥ रानियों के सुंदर (शुभ) अंग फड़कने लगे। दिशाएँ और

विदिशाएँ तथा सब के मन प्रसन्न हैं। सब की दुःख की दशाएँ समाप्त हो गईं। प्रवीण रानियाँ इस शुभ शकुन पर प्रेमपूर्वक शरीर से पुलकित होकर प्रणाम करने लगीं तथा उन्होंने इस पर भाँति-भाँति की पूजा भाग देने की मनौती भी की ॥४॥ उसी समय पर श्रीहनुमान्‌जी ने (श्रीरामजी के पास से आकर) श्रीभरतजी से समस्त कल्याण-कहानी (कल्याणपूर्वक विजयश्री के साथ श्री-श्रीरामजी के आने की कथा) कही। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उस चाह (समाचार) रूप सञ्जीवनी जड़ी ने विषम वियोग की बड़ी भारी पीड़ा का नाश कर दिया ॥५॥

विशेष—'छेमकरी ! बलि···कुसल छेम···'—शकुन प्रसंग में कहा गया है; यथा—"छेमकरी कह छेम बिसेखी।" (मा० बा० ३०२); अर्थात् छेमकरी का बोलना ही शुभ, मङ्गल एवं आनन्द की प्राप्ति का सूचक है। माताओं ने यहाँ इस शुभ-शकुन को पाकर उससे विशेष बोलने की प्रार्थना की है जिससे श्रीराम-लखन और श्रीजानकीजी क्षेमपूर्वक अवध-राजधानी को आवें; अर्थात् कुशलपूर्वक आकर यहाँ की राज्यश्री को भी सुशोभित करें। अतः, कुशल क्षेम से आगमन और फिर राज्यश्री की प्राप्ति भी इसके बोलने के फल हैं। इसके प्रति माताएँ बलिहारी जाती हैं।

'ससिमुख कुंकम बरनि···'—इसका मुख श्वेत होता है और यह केसर के रंग की एवं कत्थई रंग तथा कुछ ललाई लिये पीत रंग की होती है। इसके दर्शन से शोक निवृत्त होते हैं; यदि यह देख भी दे तथा बोले तो और भी लाभ हैं। रानियाँ दर्शफल में श्रीराम-दर्शन चाहती हैं, इससे इनके विरह-जनित शोक निवृत्त होंगे। यह दक्षिण में कारमंडल के किनारे अधिक पाई जाती हैं। तन्त्र-सार में इसके नमस्कार का श्लोक इस प्रकार है—"कुंकुमारुणसर्वाङ्गि ! कुन्देन्दु-धवलानने। मत्स्यमांसप्रिये देवि ! क्षेमंकरि नमोस्तुते ॥" तथा—"कुंकुम रंग सुअंग जितो, मुखचंद सों चंद सों होड़ परी है। बोलत बोल समृद्धि चुवै, अवलोकत सोच विषाद हरी है ॥ गौरी कि गंग बिहंगिनि बेष, कि मंजुल मूरति मोद भरी है। पेखि सप्रेम पयान समय सब सोच-बिमोचन छेमकरी है ॥" (क० उ० १८०)।

'सुनि सनेहमय बचन····'—निकट में आकर और मंडल बाँध मँड़रा

कर बोलती हुई, इसने सूचित किया है कि शीघ्र ही आकाश मार्ग से सखा मंडल से आवृत्त समृद्ध पूर्ण रघुनन्दन कुशलपूर्वक आ ही गये। वह जैसे-जैसे मँडरा कर बोलती थी। माताएँ शुभ, मंगल और आनन्द प्राप्ति की ही भावना में निमग्न होती थीं। यहाँ 'सुभ' पद में श्रीलक्ष्मणजी की नीरोगता, 'मङ्गल' पद में श्रीजानकीजी का कल्याण और 'आनन्द' पद में श्रीरामजी का सुखपूर्वक आना सूचित किया गया है। इससे बिरह की जलन शान्त हो गई।

'फरकन लगे ···'—शुभ अंग फड़कने लगे, स्त्रियों के वाम अंग शुभ होते हैं। दिशाओं की एवं मन की प्रसन्नता भी शुभसूचक ही हैं; यथा—"अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा।" (मा० उ० २२); "हरषित सुर संतन्ह मन चाऊ।" (मा० बा० १६०); "होइहि काज मोहिं हरष बिसेषी।" (मा०सुं० १)।

दिशा-बिदिशा—पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर और ईशान।

'करहिं प्रनाम सप्रेम···'—ऊपर इसके प्रणाम का श्लोक लिखा गया है। अतः, इसे प्रणाम करने की भी विधि है। यहाँ 'विविध बलि' की मनौती भी इसके प्रति है तथा अन्य देवादि के प्रति भी हो सकती है।

तेहि अवसर···'—यह तुरत शकुन-फल प्राप्त हुआ। कल्याण-कहानी पर ऊपर पद के 'प्रभु-आगमन···' का विशेष भी देखिये।

'साइ चाह सजीवनि ··'—जैसे सञ्जीवनी जड़ी से श्रीलक्ष्मणजी की शक्ति-व्यथा तुरत दूर हुई थी, वैसे ही यहाँ माताएँ इस समाचार से सुखी हो गईं। उनकी विषम, विरह व्यथा दूर हो गई।

'चाह सजीवनि' इसमें 'रूपक-अलङ्कार' है।

श्रीअवध में विजयानन्द और राज्यतिलक

राग धनाश्री

[२१]

सुनियत सागर-सेतु बँधायो।
कोसलपति की कुसल सकल सुधि कोउ एक दूत भरत पहिं ल्यायो ॥१॥
बध्यो बिराध, त्रिसिरा खर दूषन, सूपनखा को रूप नसायो।
हति कबंध, बल अंध बालि दलि, कृपासिंधु सुग्रीव बसायो ॥२॥

सरनागत अपनाइ बिभीषन, रावन सकुल समूल बहायो।
बिबुध-समाज निवाजि, बाँह दै, बंदि छोर वर विरुद कहायो ॥३॥
एक-एक सों समाचर सुनि नगर लोग जहँ-तँह सब धायो।
घन-धुनि अकनि मुदित मयूर-ज्यों, बूड़त जलधि पार-सो पायो ॥४॥
'अवधि आजु', यों कहत परस्पर बेगि बिमान निकट पुर आयो।
उतरि अनुज अनुगनि ससेत प्रभु गुरु द्विज गन चरननि सिर नायो ॥५॥
जो जेहि जोग राम तेहि बिधि मिलि सबके मन अति मोद बढ़ायो।
भेंटी मातु भरत भरतानुज क्यों कहौं प्रेम अमित अनमायो ॥६॥
तेही दिन मुनि बृंद अनंदित तुरत तिलक को साज सजायो।
महाराज रघुबंस नाथ को सादर तुलसिदास गुन गायो ॥७॥

अर्थ—[श्रीरामजी के वनवास के समाचार सुनकर लोग परस्पर कहने लगे—] सुना जाता है कि श्रीरामजी ने सागर में पुल बँधवाया है। कोशल नरेश श्रीरामजी की कुशल एवं उनका सारा समाचार लेकर कोई एक दूत श्री-भरतजी के पास आया है ॥१॥ श्रीरामजी ने विराध एवं खर दूषण तथा त्रिशिरा आदि राक्षसों का वध किया है तथा शूर्पणखा के रूप को नष्ट किया है। कबंध को मार कर और फिर बल के अभिमान में अंधे वाली का संहार कर उन कृपा सागर ने शरणागत श्रीसुग्रीवजी को बसाया है ॥२॥ शरण में आये हुए श्रीविभीषणजी को अपना कर सकुटुम्ब रावण को जड़ के साथ नष्ट किया है। इस प्रकार प्रभु ने देवों के समाज पर कृपा की है, उन्हें अपनी भुजाओं से रक्षा का भरोसा दिया है, इससे आप 'वन्दिछोर' इस श्रेष्ठ विरुद वाले कहे गये हैं ॥३॥ इसी प्रकार एक-एक से समाचार सुनकर सारे नगर के लोग जहाँ-तहाँ दौड़ने लगे। जैसे मेघ की ध्वनि सुनकर मोर आनन्दित होता है अथवा जैसे समुद्र में डूबता हुआ व्यक्ति पार पा जाने से सुखी होता है ॥४॥ 'वनवास पूर्त्ति की अवधि आज ही है' इस प्रकार लोग आपस में कह ही रहे थे कि शीघ्र ही श्रीरामजी का पुष्पक विमान श्रीअवध नगर के समीप आ गया। प्रभु श्रीरामजी ने अपने भाई श्रीलक्ष्मणजी और अनुचर श्रीसुग्रीव-विभीषण आदि के साथ उतर कर गुरु श्रीवसिष्ठजी और ब्राह्मण गणों के चरणों में शिर नवाकर प्रणाम किया ॥५॥ और लोगों में जो जिस योग्य था, श्रीरामजी ने

उससे उस विधि से भेंट की, इससे सबके मन में अत्यन्त आनन्द बढ़ाया। फिर माताओं से और श्रीभरत-शत्रुघ्नजी से भेंट की, उस समय का प्रेम अमित और अपरिमित है। अतः, उसे किस प्रकार कहूँ ? ॥६॥ मुनिवृन्द ने आनन्दित होकर उसी दिन अत्यन्त शीघ्रता से तिलक का साज सजाया। श्रीरामजी रघुवंशियों की गद्दी के स्वामी महाराजा हुए। इस प्रकार श्रीतुलसीदास ने आदरपूर्वक उनके गुणों का गान किया है ॥७॥

विशेष—'सुनियत सागर सेतु बँधायो।'—सागर पर पुलमार्ग बनाने का यह कार्य अद्भुत है; क्योंकि ऐसा कर्म इससे पूर्व एवं अभी तक भी किसी ने नहीं कर पाया है। इससे चरित-क्रम छोड़कर पहले यही कहा गया है; तथा—"सुनत श्रवन बारिधि बंधाना। दसमुख बोलि उठा अकुलाना॥ बाँध्यो बन निधि नीर निधि, जलधि सिंधु बारीस। सत्य तोय निधि कंपति, उदधि पयोधि नदीस॥ निज बिकलता बिचारि बहोरी।" (मा० लं० ५); तथा—"समग्रं सागरं तीर्णं दुस्तरं वानरं बलम्। अभूतपूर्वं रामेण सागरे सेतुबन्धनम्॥" (वाल्मी० ६।२५।२); अर्थात् इस दुस्तर समुद्र को समस्त वानरी सेना ने पार किया है और श्रीरामजी ने समुद्र पर पुल बनाया है, यह अभूतपूर्व है (आज तक किसी ने ऐसा कर्म नहीं किया था); यह रावण का वचन है।

'कोसलपति की कुसल…'—श्रीरामजी ही कोसल देश (अवध) के स्वामी हैं, इनकी कुशल में 'ही' अवध की कुशल है। अतः, कुशल के साथ कोसलपति भी कहा है।

'बधि बिराध…'—पहले सञ्जीवनी के समय श्रीहनुमान्‌जी ने युद्ध के ही सूक्ष्म समाचार कहे थे। इस समय उन्होंने क्रम से सभी चरितों का वर्णन किया है, वही लोग कह रहे हैं—श्रीचित्रकूट से चलने पर मार्ग में विराध राक्षस मिला था, उसका वध कर श्रीरामजी पञ्चवटी पहुँचे, वहाँ उन्होंने शूर्पणखा का रूप नष्ट किया, उसके नाक-कान काट लिये। उस पर खर-दूषण और त्रिशिरा ने आक्रमण किया, श्रीरामजी ने उनका भी वध किया। यहाँ 'बधि' क्रिया के संयोग से खर आदि को शूर्पणखा से पहले लिखा गया है। फिर कबन्ध को मारकर बलान्ध वाली का भी संहार किया है। वाली बल के अभिमान में अन्धा था, इससे उसने तारा के समझाने पर भी श्रीरामजी

को कुछ नहीं समझा, इससे मारा गया; यथा—"मूढ़ तोहिं अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥ मम भुज बल आश्रित तेहि जाना। मारा चहसि अधम अभिमानी॥" (मा० कि० ८)। 'कृपासिंधु सुग्रीव बसायो'—सुग्रीवजी को अपनाने में और वाली के स्थान पर सम्पन्न कर उन्हें बसाने में प्रभु-कृपा ही कारण है, क्योंकि सुग्रीवजी में वैसी कोई योग्यता नहीं थी। वाल्मीकीय में वाली ने कहा भी है कि सुग्रीव से आपका क्या काम होगा, मुझसे कहे होते तो मैं रावण को बाँध कर आपके आगे ला देता। तथा "महाबली बालि दलि, कायर सुकंठ कपि सखा किये, महाराज हो न काहू काम को।" (क० उ० १४); शरण होने पर भी इन्होंने स्वामी के वीर्य में अविश्वास किया। स्वामी की सप्तताल आदि वेध कर परीक्षा देनी पड़ी और फिर राजा होने पर विषयवश हो स्वामी को भूल गये। डाँटने पर प्रतिज्ञा निर्वाह में लगे, इत्यादि। दोहावली १५८-१५६ भी देखिये। "सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ। अति कृपालु रघुबीर सुभाऊ॥" (मा० कि० ११)।

'सरनागत अपनाइ बिभीषन...'—यहाँ भाव यह कि शरणागत का विरोधी जान रावण का सकुल और समूल नाश किया है; यथा "अस कहि चला बिभीषन जबहीं। आयुहीन भए सब तबहीं॥ साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी॥ रावन जबहि बिभीषन त्यागा। भयेउ बिभव बिनु तबहि अभागा॥" (मा० सुं० ४१); तथा "बेद-बिरुद्ध मही-मुनि-साधु ससोक किए, सुरलोक उजारो। और कहा कहौं तीय हरी, तबहूँ करुनाकर कोप न धारो॥ सेवक-छोह ते छाँड़ी छमा, तुलसी लख्यो राम सुभाव तिहारो। तौ लौं न दाप दल्यो दसकंधर जौ लौं बिभीषन लात न मारो॥" (क० उ० ३)।

'समूल बहायो'; यथा "राम बिमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कोउ कुल रोवनि हारा॥" (मा० लं० १०२)।

'बिबुध समाज निवाजि'; यथा "यह दुष्ट मारयो नाथ। भए देव सकल सनाथ॥" (मा० लं० १११); "आयसु भो लोकनि सिधारे लोकपाल सबै, तुलसी निहाल कै कै दिये सरखतु हैं॥" (क० लं० ५८)।

'बाँह दे'—बाँह के भरोसे पर उ० पद १३ देखने योग्य है।

'बंदि छोर बर बिरुद कहायो'; यथा "दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चनाहैं। सुबस बसे गावत जिन्ह के जस अमर नाग-नर-सुमुखि सनाहैं॥" (उ० १३)। रावण ने स्वयं कहा है—"रावन नाम जगत जस जाना। लोकप जाके बंदीखाना॥" (मा० लं० ८८); "कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥" (मा० सुं० १९); इनको छुड़ाया है। अतः, आप बन्दीछोर प्रसिद्ध हुए।

'घन धुनि अकनि···'; यथा "भा सबके मन मोद न थोरा। जनु घन धुनि सुनि चातक मोरा॥" (मा० अ० १८७); "बूड़त जहाज बच्यो पथिक समाज, मानो आजु जाये जनि सब अंकमाल देत हैं॥" (क० सुं० २९); "बूड़त बिरह बारीस कृपानिधान मोहिं कर गहि लियो॥" (मा० उ० ४)।

यहाँ पूर्णोपमाएँ हैं। प्रथम उपमा से प्रभु-समाचार के सुनने का आनंद कहा गया है, द्वितीय से उसके कार्यरूप में विरह-समुद्र से पार पाने के आनंद का वर्णन है, अन्यथा ये सब इस विरह सागर में डूब ही जाते।

'अवधि आजु···'—प्रभु जिस समय श्रीअवध से गये थे, ठीक उसी समय १४ वर्ष की पूर्ति पर आये हैं—अ० ७६ का अन्तिम चरण देखिये।

'उतरि अनुज···'; यथा "नगर निकट प्रभु प्रेरेउ उतरेउ भूमि बिमान। ···बामदेव बसिष्ठ मुनिनायक। देखे प्रभु महि धरि धनु-सायक॥ धाइ धरे गुरु चरन सरोरुह। अनुज सहित अति पुलक तनोरुह॥ भेंटि कुसल बूझी मुनिराया। हमरे कुसल तुम्हारिहि दाया॥ सकल द्विजन मिलि नायउ माथा। धर्म धुरंधर रघुकुल नाथा॥" (मा० उ० ४); तथा "पुनि रघुपति सब सखा बोलाए। मुनि पद लागहु सकल सिखाए॥" (मा० उ० ७)।

'जो जेहि जोग राम तेहि बिधि मिलि···'—सब की रुचि के अनुकूल और एक साथ ही सबसे उनके भावानुसार अमित रूप से मिले, इसलिये 'राम' यह ऐश्वर्य परक नाम कहा गया है; तथा "प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥ अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहि कृपाला॥ कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी। किये सकल नर नारि बिसोकी॥ छन महँ सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहु न जाना॥ एहि बिधि सबहि सुखी करि रामा॥" (मा० उ० ५); तथा "आरत लोग राम सब

जाना। करुनाकर सुजान भगवाना॥ जो जेहि भाव रहा अभिलाखी। तेहि-तेहि कै तसि-तसि रुचि राखी॥ सानुज मिलि पल महँ सब काहू। कीन्ह दूरि दुख दारुन दाहू॥ यह बढ़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रवि छाँहीं॥" (मा० अ० २४३)।

'भेंटी मातु भरत भरतानुज...'—श्रीरामचरितमानस में पहले श्री-भरत-शत्रुघ्न से मिल कर पीछे पुरजनों से मिलना है, पर यहाँ पहले पुरजनों से मिल कर और माताओं से भी मिल कर पीछे श्रीभरत-शत्रुघ्न से मिलना है, यह भी एक रीति है। 'मातु'; यथा "कौसल्यादि मातु सब धाईं॥" से "कैकइ कहँ पुनि-पुनि मिले'..." (मा० उ० ६) तक। 'भरत-भरतानुज'; यथा "गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज।" से "पुनि प्रभु हरषि सत्रुहन, भेंटे हृदय लगाइ।..." (मा० उ० ४-५) तक। इन उद्धृत प्रसंगों में 'प्रेम अमित अनमायो' की व्यवस्था देखिये।

'तेही दिन मुनिबृंद...'; यथा "गुरु बसिष्ठ द्विज लिए बुलाई। आजु सुघरी सुदिन समुदाई॥ सब द्विज देहु हरषि अनुसासन। रामचंद्र बैठहिं सिंहासन॥" से "सिंहासन पर त्रिभुवन साँई। देखि सुरन्ह दुंदुभी बजाई॥" (मा० उ० ६-११) तक।

'महाराज रघुबंस-नाथ...'—राजा के राज्यासीन होने पर सभी गुण गाते हैं और उचित पारितोषिक पाते हैं। ग्रन्थकार भी सादर गुण गान करते हैं और 'महाराज रघुबंस नाथ' पद देते हैं। भाव यह कि रघु महाराज ने सर्वस्व दान में दे दिया था। उसी गद्दी के महाराज आप हैं, उस कुल में श्रेष्ठ हैं। अतः, मुझे भी मनभाया मिले; यथा "बेद-पुरान बिचार लगन सुभ महाराज अभिषेक कियो। तुलसिदास जिय जानि सुअवसर भगति-दान तब माँगि लियो॥" (उ० ३८)।

'गुन गायो'—सेतु-बन्धन में क्रिया-दक्षता एवं चातुर्य गुण है, दुष्टों का बध करने में वीर्य गुण, सुग्रीवजी के प्रसंग में कृपा और विभीषण-प्रसंग में शरणपालकत्व है। लोकपाल आदि को निर्भय करने में प्रताप, वसिष्ठ आदि से मिलने में धर्म-धुरंधरता, पुरजन मिलन में सौशील्य एवं सौहार्द्य तथा श्री-भरतजी से मिलने में अनुराग गुण हैं।

राग जैतश्री

[२२]

रन जीति राम राउ आए ;
सानुज सदल ससीय कुसल आजु, अवध अनंद बधाए ॥१॥
अरिपुर जारि, उजारि, मारि रिपु, बिबुध सुबास बसाए ।
धरनि-धेनु, महिदेव-साधु, सब के सब सोच नसाए ॥२॥
दई लंक, थिर थपे बिभीषन, बचन - पियूष पिआए ।
सुधा सींचि कपि, कृपा नगर-नर-नारि निहारि जिआए ॥३॥
मिले गुरु, बंधु, मातु, जन, परिजन, भए सकल मन भाए ।
दरस - हरष दसचारि बरष के दुख पल में बिसराए ॥४॥
बोलि सचिव सुचि सोधि सुदिन मुनि मंगल-साज सजाए ।
महाराज अभिषेक बरषि सुर सुमन निसान बजाए ॥५॥
लै-लै भट नृप - अहिप - लोकपति अति सनेह सिर नाए ।
पूजि, प्रीति पहिचानि राम आदरे अधिक, अपनाए ॥६॥
दान - मान सनमानि, जानि रुचि, जाचक जन पहिराए ।
गए सोक सर सूखि, मोद - सरिता - समुद्र गहिराए ॥७॥
प्रभु-प्रताप-रबि अहित-अमंगल - अघ - उलूक - तम ताए ।
किये बिसोक हित-कोक-कोकनद, लोक सुजस सुभ छाए ॥८॥
रामराज कुलिकाज सुमंगल, सबनि सबै सुख पाये ।
देहिं असीस भूमिसुर प्रमुदित, प्रजा प्रमोद बढ़ाए ॥९॥
आश्रम - धरम - बिभाग बेदपथ पावन लोग चलाए ।
धरम - निरत, सिय-राम-चरन-रत, मनहुँ राम-सिय जाए ॥१०॥
कामधेनु महि, बिटप कामतरु, कोउ बिधि बाम न लाए ।
ते तब, अब तुलसी तेउ जिन्ह हित सहित राम-गुन गाए ॥११॥

अर्थ—महाराजा श्रीरामजी युद्ध में विजय प्राप्त कर भाई; सेना और श्रीसीताजी के साथ आज कुशल पूर्वक आ गये, इससे आज श्रीअयोध्याजी में आनन्द के बधावे बज रहे हैं ॥१॥ उन्होंने शत्रु के नगर लङ्क को जला और उसके अशोक वन आदि को उजाड़ कर तथा उस शत्रु रावण को भी मार कर

देवताओं को अपने-अपने सुन्दर वासस्थानों में बसाया है। पृथिवी, गऊ, ब्राह्मण और साधु—इन सब के सब प्रकार के शोक नष्ट कर दिये हैं ॥२॥ श्रीविभीषणजी को लङ्का दी और उन्हें स्थिरतापूर्वक राज्य सिंहासन पर स्थापित किया तथा उन्हें वचन रूप अमृत पिलाया है (वचन से उनमें प्रणय स्थापित कर कल्पभर का अमर राज्य दे अंत में स्वधाम दिया है)। अमृत वर्षा से सींचकर वानर-भालुओं को और कृपा दृष्टि की वृष्टि से देखकर अवध नगर के स्त्री-पुरुषों को जिलाया है ॥३॥ गुरु श्रीवसिष्ठजी, भाई श्रीभरत-शत्रुघ्नजी, माता श्रीकौसल्या आदि, सेवक और परिवार के लोग—इन सबसे श्रीरामजी मिले, इससे इन सब की सारी मन भाई बातें सम्पन्न हो गईं। इन सबने श्रीराम आदि के दर्शनानन्द में चौदह वर्ष के विरह के दुःखों को पल भर में भुला दिया ॥४॥ मुनि श्रीवसिष्ठजी ने श्रीसुमन्त्र आदि पवित्र चित्त मन्त्रियों को बुला सुन्दर दिन शोध कर मङ्गल साज सजाया। श्रीरामजी का महाराजा पद पर अभिषेक हुआ, इस समय देवताओं ने फूलों की वर्षा करके नगाड़े बजाये ॥५॥ पृथिवी के नरपति, पाताल के नागपति और स्वर्ग के इन्द्र आदि लोक पति—इन सब ने भेंट ले-ले कर अत्यन्त स्नेहपूर्वक पूजा की और शिर नवा प्रणाम किया। उनकी प्रीति पहचान कर श्रीरामजी ने उनका अधिक आदर किया तथा उन्हें अपना लिया (अपनी शोभा, सुशीलता एवं सौहार्द्य आदि गुणों से उन्हें अपने वश कर लिया) ॥६॥ दान और मान से सभी का यथायोग्य सम्मान किया। याचक गणों की रुचि जानकर उन्हें वस्त्र आदि पहनाये। इससे सबके शोक रूप सर सूख गये और आनन्द रूप नदी तथा समुद्र अधिक गहरे हो गये ॥७॥ प्रभु (राजा) श्रीरामजी के प्रताप रूप सूर्य के समक्ष अनहित, अमङ्गल और पाप रूप उलूक एवं इनका प्रिय अन्धकार रूपिणी अविद्या, ये सब संतप्त हो गये। इस प्रभु-प्रताप रूप सूर्य ने हितैषी रूप चक्रवाक एव कमल को शोकरहित कर दिया। सारे संसार में उनका शुभ सुयश छा गया ॥८॥ श्रीरामजी के राज्य में सभी कार्य सुन्दर मङ्गलमय होते थे और सभी ने सभी प्रकार के सुख पाये थे। ब्राह्मणगण आनन्दित होकर ऐसा आशीर्वाद देते थे, जिससे प्रजा का आनन्द दिनोदिन बढ़ा करे ॥९॥ श्रीरामजी ने अपने राज्य शासन काल में आश्रम-धर्म के विभागानुसार पवित्र वेद मार्ग पर लोगों को चलाया है। सब लोग धर्म-

निरत और श्रीसीतारामजी के चरणों में रत रहते थे, जान पड़ता था कि सब श्रीसीतारामजी के पुत्र हैं ॥१०॥ श्रीरामराज्य में पृथिवी कामधेनु और वृक्ष कल्पवृक्ष के समान सभी के अभीष्टपूरक थे, किसी के प्रति भी विधि-वामता नहीं थी; यह तो उस समय के उन लोगों की बात है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इस समय भी जिन्होंने प्रीतिपूर्वक श्रीरामजी के इन गुणों के गान किये हैं, उन्हें अब भी वही आनन्द प्राप्त हुआ है ॥११॥

विशेष—'रन जीति···सानुज सदल···'—आनन्द बधाये में इन्हीं गुणों के गान हो रहे हैं—रण जीतना, भाई, सेना और श्रीसीताजी आदि का सकुशल आना।

'अरि पुर जारि···'—श्रीहनुमानूजी ने प्रथम ही अशोक वन उजाड़ा और सारे नगर को जलाया है, वह कार्य भी श्रीराम प्रताप से ही हुआ है। तथा वाल्मी० ६।७५ में श्रीसुग्रीवजी ने अपने सैनिकों के द्वारा फिर से लङ्का जलाई है। 'बिबुध सुवास बसाए'; यथा—"दसमुख बिबस···" यह उदाहरण ऊपर पद में दिया गया है। तथा—"लंका थापि बिभीषनहिं, बिबुध बसाइ सुबास।" (रामाज्ञा प्रश्न ५।७।७)।

'धरनि धेनु महिदेव···'—क्योंकि इन्हीं के लिये तो अवतार ही है; यथा—"बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।" (मा० बा० १९२)। तथा—"जय हरन धरनी भार।·····मुनि सिद्ध नर खग नाग। हठि पंथ सबके लाग॥ परद्रोहरत अति दुष्ट। पायो सो फल पापिष्ट॥" (मा०लं०१११)

'दई लंक, थिर थप्यो···'; यथा—"अविचल राज बिभीषन पायो।" (मा० लं० १०५); 'बचन पियूब पिआए'; यथा—"तोर कोस गृह मोर सब, सत्य बचन सुनु भ्रात।·······करेहु कलप भरि राज तुम्ह, मोहिं सुमिरेहु मन माहिं। पुनि मम धाम पाइहहु, जहाँ संत सब जाहिं॥" (मा० लं० ११५)। वाल्मी० ६।१२१ में भी प्रिय वचन विभीषणजी से कहे गये हैं।

'सुधा सींचि···'—भाव यह कि अमृत-वर्षा पर जीने से जैसा आनन्द वहाँ वानरों को हुआ है वैसा ही आनन्द यहाँ इस कृपा दृष्टि की वृष्टि पर भी हुआ है, इसी लिये एक प्रकार एवं एक साथ वर्णन किया गया है। तथा—"कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी। किये सकल नर नारि बिसोकी॥" (मा० उ० ५);

"जो जेहि जोग राम तेहि बिधि मिलि···" (पद २१)—इसका विशेष भी देखिये।

'मिले गुरु बंधु···'—इनके उदाहरण ऊपर पद में आ गये हैं।

'दरस हरष...'; यथा—"मिले भरत, जननी, गुरु, परिजन, चाहत परम अनंद भरे। दुसह बियोग जनित दारुन दुख रामचरन देखत बिसरे॥" (उ० ३८)। वियोग का ही दुःख था, वह मिलते ही मिट गया। अधिक काल पर मिलने पर इतना अधिक सुख हुआ कि पूर्व १४ वर्ष का दुःख भूल गया।

'बोलि सचिव सुचि···'—'सुचि'; यथा—"अस बिचारि सुचि सेवक बोले। जे सपनेहुँ निज धरम न डोले॥" (मा० अ० १८५); "सुचि सेवक सब लिये हँकारी॥" (मा० बा० २३९); अर्थात् जो अपने धर्म से चलायमान न हों तथा स्वार्थ रूपी मलिनता के घूसखोरी आदि दोषों से रहित हों, वे ही शुचि सेवक एवं शुचि सचिव हैं; तथा—"तब मुनि कहेउ सुमंत्र सन सुनत चलेउ हरषाइ। रथ अनेक बहु बाजि गज, तुरत सँवारे जाइ॥ जहँ तहँ धावन पठइ पुनि मंगल द्रव्य मँगाइ। हरष समेत बसिष्ठ पद पुनि सिर नायउ आइ॥" (मा० उ० १०)। 'सुदिन सोधि'—उसी दिन मुहूर्त्त था—"तेहि दिन मुनि-बृंद···" (पद २१)-इसका विशेष देखिये। "बेद पुरान बिचारि लगन सुभ महाराज अभिषेक कियो।" (उ० ३८)।

'मंगल साज सजाए···'; यथा—"विप्राद्यं मणिचौकचारुकलशं दीपान्न-सत्पल्लवं रंभावन्दनवारकेतुचमरं दूर्वांकुरारोपणम्। कन्या तोर्ण-वितानदर्पण-ध्वजा ताम्बूलदध्यक्षतं छत्रं रोचनगानवाद्यव्यजनं पुष्पाज्यधूपांगनाम्॥१॥ चित्रा-सधेनुश्चतुरंगसेना पौराणिकीमागधवंदिगायकाः। पताकयुक्तं तु फलादिमीना खवेद-युक्तं शुभमङ्गलाङ्गाः॥२॥" (मंगल-विधान-श्रीबैजनाथ-तिलक)ः अर्थात् विप्र, चौक, कन्या, ध्वजा, पताका, कलश, दीप, सदान्न, पल्लव, रम्भा, वन्दनवार, चँवर, दूर्वा, अंकुरारोपण, वहिर्द्वार सजावट, चँदोवा, दर्पण, पान, दही, अक्षत, छत्र, रोचन (हल्दी), गान, वाद्य, व्यजन, पुष्प, घृत, धूप, सधवा स्त्री, चित्राम, सवत्सा गऊ, चतुरङ्ग सेना, पौराणिकी, मागध, वंदी, गायक, पताका, फल, मीन और मणि ये ४० मंगलाङ्ग कहे गये हैं।

'महाराज अभिषेक····'; यथा—"महाराज कर सुभ अभिषेका।" (मा०

उ० १४); "सिंघासन पर त्रिभुवन सांई। देखि सुरन्ह दुंदुभी बजाई॥" (मा० उ० ११); "जय धुनि गान निसान सुर, बरषत सुरतरु फूल। भये राम राजा अवध, सगुन सुमंगलमूल ॥" (रामाज्ञा प्रश्न ६।३।१)।

'लै-लै भेंट····'—'नृप, अहिप, लोकपति' क्रमशः मर्त्य, पाताल और स्वर्ग के राजा गण हैं। ये अत्यन्त स्नेहपूर्वक स्वतः आकर भेंट दे पूजा करते हैं क्योंकि प्रभु ने प्रथम ही तीनों लोकों के कंटक रूप रावण का संहार किया है तथा—"भाँति-भाँति उपहार लेइ, मिलत जुहारत भूप। पहिराए सनमानि सब, तुलसी सगुन अनूप ॥" (रामाज्ञा प्रश्न ६।२।७)।

'प्रीति पहिचानि राम आदरे···'; यथा—"लोकहु बेद सुसाहिब रीती। बिनय सुनत पहिचानत प्रीती ॥···साधु सुजान सुसील नृपाला। ईस अंश भव परम कृपाला ॥ सुनि सनमानहिं सबहि सुबानी।" (मा० बा० २७); "सुर लखे राम सुजान पूजे मानसिक आसन दए। अवलोकि सील सुभाउ प्रभु को बिबुध मन प्रमुदित भए ॥" (मा० बा० ३२०); अर्थात् यहाँ प्रभु ने अपने शील स्वभाव से सब को सम्मान द्वारा आकर्षित कर अपने वश कर लिया। प्रभु के अपनाने का परिणाम वि० २२३ में देखिये।

'गए सोक सर सूखि···'; यथा—"राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका ॥" (मा० उ० १९)। 'मोद सरिता समुद्र गहिराए'—जैसे अधिक गहरे होने पर नदी और समुद्र में अधिक जल रहता है, वैसे ही आनंद के आधार क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गये। तथा—"राम राज कर सुख संपदा। बरनि न सकइ फनीस सारदा ॥" (मा० उ० २१)।

पहले शोक के आधार क्षेत्र सरों की भाँति छोटे-छोटे थे, वे भी राम-राज्य में सूख गये और लौकिक-पारलौकिक मोद के आधार क्षेत्र प्रथम भी क्रमशः नदी और समुद्र के समान थे। अब उनमें अधिक गहराई आ गई।

'प्रभु-प्रताप रवि···'; यथा—"जब ते राम-प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा ॥ पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका। बहुतेन्ह सुख बहुतन मन सोका। जिन्हहिं सोक ते कहहुँ बखानी। प्रथम अबिद्या निसा नसानी ॥ अघ उलूक जहँ-तहाँ लुकाने। काम क्रोध कैरव सकुचाने ॥ बिबिध कर्म गुन काल

सुभाऊ। ए चकोर सुख लहहिं न काऊ ॥ मत्सर मान मोह मद चोरा। इन्ह कर हुनर न कवनिहुँ ओरा ॥" (मा० उ० ३०)।

यहाँ अनहित, असंगल और अघ को उलूक के समान और साथ ही इन उलूकों की क्रीड़ा-स्थली तम रूपा अविद्या कही गई है। तम निवृत्ति के साथ ही उलूकों का लुकाना भी होता है। वैसे ही इस प्रसंग में प्रथम अविद्या निवृत्ति और साथ ही अहित आदि का भी सन्तप्त होना कहा गया है।

'किये बिसोक हित कोक कोकनद'; यथा-"धरम तड़ाग ज्ञान बिज्ञाना। ये पंकज बिकसे बिधि नाना ॥ सुख संतोष बिराग बिबेका। बिगत सोक ये कोक अनेका ॥" (मा० उ० ३०); अर्थात् हृदयाकाश में प्रभु-प्रताप के उदित रहने पर मुमुक्षु के अहित-असंगल एवं पाप वर्द्धक अविद्या आदि नष्ट हो जाते हैं और हितकर ज्ञान-विज्ञान एवं सुख-सन्तोष आदि प्रफुल्लित रहते हैं। तथा- "ममता तरुन तमी अँधिआरी। राग द्वेष उलूक सुखकारी ॥ तब लगि बसति जीव उर माहीं। जब लगि प्रभु-प्रताप रबि नाहीं ॥" (मा० सुं० ४६)। 'लोक सुजस सुभ छाए'; यथा—"सर्वभूतमनःकान्तो रामो राज्यमकारयत्। रामो रामो राम इति प्रजानामभवन्कथा ॥ रामाद्रामं जगदभूद्रामे राज्यं प्रशासति।" (महा० द्रोणं० ५९।२२-२३); अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियों के चित्त को प्रसन्न कर श्रीरामजी ने पृथिवी पर राज्य किया है। उस समय सब प्रजाओं के मुख से 'राम, राम, राम' इसी प्रकार के प्रशंसात्मक वचन सुनाई पड़ते थे। राम राज्य शासन से सारा जगत् सुख का स्थान हो गया था।

'राम राज कुलि काज सुमंगल...'; यथा—"राम-राज संतोष सुख घर-बन सकल सुपास। तरु सुरतरु सुरधेनु महि, अभिमत भोग-बिलास ॥ राम-राज सब काज कहँ, नीक एकही आँक। सकल सगुन मंगल कुसल, होइहि बार न बाँक ॥" (रामाज्ञा प्रश्न ६।३।३-४)।

'देहिं असीस भूमिसुर...'—राजा रामजी को प्रजा को सुखी करना अभीष्ट था, ब्राह्मण लोग आनन्दित होकर उन्हें वैसा ही आशीर्वाद देते थे, ब्राह्मणों की श्रीरामजी में अत्यन्त प्रीति थी।

'आश्रम-धरम बिभाग'....; यथा—"बरनाश्रम निज-निज धरम निरत बेद पथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय सोक न रोग ॥" (मा०

उ० २०)। यहाँ आश्रम-धर्म में ही वर्ण धर्म का भी भाव है; क्योंकि गृहस्थ तो चारो वर्ण के ही लोग होते हैं, उसी में चारो वर्णों के धर्म हैं।

'धरम-निरत'—यहाँ चतुष्पादात्मक धर्म में निरत होने का भाव है; यथा—"चारिउ चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं॥" (मा० उ० २०)।

'सिय राम चरन रत'; यथा—"नित नइ प्रीति राम पद पंकज। सबके जिन्हहिं नमत सिव मुनि अज॥" (मा० उ० १४); तथा—"राम-भगति-रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी॥" (मा० उ० २०)।

'मनहुँ राम सिय जाये'; यथा—"प्रजाः स्वधर्मनिरता वर्णाश्रमगुणान्विताः। जुगोप पितृवद्रामो मेनिरे पितरं च तम्॥" (भाग० ९।१०।५१); अर्थात् राम राज्य में प्रजा वर्णाश्रम धर्म एवं चतुष्पादात्मक धर्म से युक्त थी, इससे श्रीरामजी उनका पिता के समान पालन करते थे और प्रजा भी उन्हें पिता के समान मानकर उनकी भक्ति करती थी।

'कामधेनु महि, बिटप कामतरु'—उपर्युक्त 'राम राज कुलिकाज…' इसका विशेष भी देखिये। तथा—"लता बिटप माँगे मधु चवहीं। मन भावतो धेनु पय स्रवहीं॥ ससि संपन्न सदा रह धरनी। त्रेता भइ कृतजुग की करनी॥" (मा० उ० २२); "नित्यमूला नित्यफलास्तरवस्तत्र पुष्पिताः। कामवर्षी च पर्जन्यः सुखस्पर्शश्च मारुतः॥" (वाल्मी० ६।१२८।१०२); अर्थात् राम राज्य में वृक्षों की जड़ें दृढ़ होती थीं, उनमें सदा फूल-फल होते थे और इच्छित वर्षा होती थी तथा वायु सुख-स्पर्श चलती थी। 'कोउ बिधि बाम न लाए'; यथा—"अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥ नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥…राम राज नभगेस सुनु, सचराचर जग माहिं। काल कर्म सुभाउ गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥" (मा० उ० २१)।

'ते तब, अब तुलसी तेउ जिन्ह…'; यथा—"सुफल मनोरथ बिधि किए सब बिधि सबही के। अब ह्वै हैं गाये सुने सबके तुलसी के॥" (बा० ६); तथा—"भरत, राम, रिपुदवन, लखन के चरित सरित अन्हवैया। तुलसी तब के-से अजहुँ जानिबे रघुबर नगर बसैया॥" (बा० ६)—इनके विशेष देखिये।

इस पद के ७, ८ और ११ वें चरण में 'रूपक अलङ्कार' है।

राग टोड़ी

[२३]

आजु अवध आनंद-बधावन, रिपु रन जीति राम आए।
सजि सुबिमान निसान बजावत मुदित देव देखन धाए ॥१॥
घर-घर चारु चौक चंदन मनि, मंगल कलस सबनि साजे।
ध्वज-पताक, तोरन, बितान बर, विविध भाँति बाजन बाजे ॥२॥
राम-तिलक सुनि दीप-दीप के नृप आए उपहार लिए।
सीय सहित आसीन सिंघासन निरखि जोहारत हरष हिए ॥३॥
मंगलगान, बेद धुनि जय धुनि, मुनि-असीस-धुनि भुवन भरे।
बरषि सुमन सुर-सिद्ध प्रसंसत, सबके सब संताप हरे ॥४॥
राम-राज भइ कामधेनु महि सुख संपदा लोक छाए।
जनम-जनम जानकी नाथ के गुन गन तुलसिदास गाए ॥५॥

अर्थ—युद्ध में शत्रु को जीत कर श्रीरामजी आये हैं, इस उपलक्ष में आज श्रीअवध नगर में आनन्द-बधावे बज रहे हैं। अपने-अपने सुन्दर विमानों को सजाकर नगाड़े बजाते हुए आनन्दित मन से देवगण देखने के लिये दौड़े आ रहे हैं ॥१॥ श्रीअवध नगर में सभी ने घर-घर में चन्दन और मणियों के सुन्दर चौक पूरे हैं और मङ्गल कलश, ध्वजा, पताका, वन्दनवार और श्रेष्ठ चंदोवे सजाये हैं। नाना प्रकार के बाजे बज रहे हैं ॥ २ ॥ श्रीरामजी का राज्य-तिलक सुनकर द्वीप-द्वीप के राजा लोग भेंट लेकर आये हैं। श्रीसीताजी के साथ राज्य-सिंहासन पर विराजमान देखकर हर्षित हृदय से सब जोहार (प्रणाम) करते हैं ॥ ३ ॥ मङ्गलगान, वेदध्वनि, जय ध्वनि और मुनियों की आशीर्वाद-ध्वनि से सारे भुवन भर गये हैं। देवगण और सिद्धगण फूलों की वर्षा करके प्रभु की प्रशंसा करते हैं; क्योंकि प्रभु ने इनके सब प्रकार के सन्तापों का हरण कर लिया है ॥४॥ श्रीरामजी के राज्य में पृथिवी कामधेनु हो गई है और सभी लोक सुख एवं सम्पदा से परिपूर्ण हो रहे हैं। इस तुलसीदास ने तो जन्म-जन्म में इन्हीं श्रीजानकीनाथ के गुण-गणों का गान किया है ॥५॥

विशेष—'आजु अवध…'; यथा—"रनजीति…'सानुज सदल…" (पद २२)—इसका विशेष देखिये।

'सजि सुविमान….'—अभी तक रावण के बन्दीखाने में थे। प्रभु ने छोड़ाया है। आज राज्याभिषेक में आ रहे हैं। अब भाँति-भाँति के यज्ञ होंगे, भाग पावेंगे, इस उल्लास में सज-धज से आ रहे हैं।

'घर-घर चारु चौक…ध्वज पताक…'—इन मंगल-विधानों का वर्णन "मंगल साज सजाए" (पद २२); इसके विशेष में देखिये। तथा—"सींचि सुगंध रचैं चौकें गृह आँगन गली बजार। दल फल फूल दूब दधि रोचन घर-घर मंगलचार॥" (बा० २) 'बिबिध भाँति बाजन बाजे'—नगाड़ा, तासा, ढोल, झाँझ, बारहसिंहा, तुरही, मृदंग, वीणा, तबला, सारंगी और मँजीरा-सितार आदि। तथा—"घंटा-घंटि, पखाउज-आउज, बीन-बेनु डफ तार।" (बा० २)।

'राम-तिलक सुनि दीप-दीप के…'; यथा—"लै लै भेंट…." (पद २२) इसका विशेष देखिये। उपहार = भेंट।

'सीय सहित आसीन….'—भेंट आगे रख कर जोहार करते हैं। क्षत्रियों में प्रणाम के स्थल पर जोहार की रीति है। 'हरष हिये'—क्योंकि आपने राज्यपद प्राप्ति के प्रथम ही लोक-कंटक रावण को मार कर सब राजाओं को सुखी किया है। अब तो आप की करच्छाया में अपरिमित सुख मिलेगा।

'मंगल गान बेद धुनि…'—स्त्रियाँ मंगल गान कर रही हैं। पण्डितों की वेदध्वनि, वन्दिगणों की जय ध्वनि और मुनियों के आशीर्वाद की ध्वनि, भुवनों में भर रही हैं। तथा—"जय धुनि बंदी बेद धुनि, मंगल गान निसान। सुनि हरषहिं बरषहिं सुमन, बिबुध बजाइ निसान॥" (मा० बा० ३२४)।

'बरषि सुमन सुर-सिद्ध प्रसंसत…'—इन सबके सभी दुःख दूर हो गये हैं, इस कृतज्ञता से ये फूल बरसाते और प्रशंसा करते हैं; यथा—"मुनि सिद्ध नर खग नाग। हठि पंथ सबके लाग॥ परद्रोहरत अति दुष्ट। पायो सो फल पापिष्ट॥" (मा० लं० ११२)-यह रावण-वध पर इन्द्र द्वारा कहा गया है।

'राम-राज भइ कामधेनु महि…'; यथा—"रामराज कुलि काज…'काम-धेनु महि, बिटप कामतरु" (पद २२)—इनके विशेष देखिये।

'जनम-जनम जानकीनाथ के···'—यहाँ अपने को वाल्मीकिजी का अवतार सूचित किया है कि पूर्व जन्म में भी मैंने जानकीनाथ के माधुर्य के गुण गणों का ही गान किया है। इस गीतावली के गुणगान में विशेष वाल्मीकीय रामायण का अनुसरण किया गया है। वाल्मीकिजी की भाँति इसमें ब्याह कर आने के मार्ग में परशुराम-गर्व-हरण तथा लङ्काकाण्ड में राज्याभिषेक भी कहा गया है। और राम-राज्य का कुछ महत्व भी उसी प्रकार का इसी काण्ड में आया है। श्रीनाभाजी ने भक्तमाल में भी लिखा है—"कलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो।"

उत्तरकाण्ड

राम-राज्य का आनन्द

राग सोरठ

[१]

बन ते आइ कै राजा राम भए भुआल।
मुदित चौदह भुवन, सब सुख सुखी सब सब काल ॥१॥
मिटे कलुष - कलेस - कुलषन, कपट - कुपथ-कुचाल।
गए दारिद, दोष दारुन, दंभ - दुरित - दुकाल ॥२॥
कामधुक महि, कामतरु तरु, उपल मनिगन लाल।
नारि-नर तेहि समय सुकृती, भरे भाग सुभाल ॥३॥
बरन - आश्रम - धरमरत, मन बचन बेष मराल।
राम - सिय - सेवक सनेही, साधु, सुमुख, रसाल ॥४॥
राम - राज - समाज बरनत सिद्ध - सुर - दिगपाल।
सुमिरि सो तुलसी अजहुँ हिय हरष होत बिसाल ॥५॥

अर्थ--वन से आकर महाराजा श्रीरामजी पृथ्वी का पालन करने वाले हुए। उनके राज्यासीन होने पर चौदहो भुवन आनन्दित हो गये। सब कोई सब समयों में सब प्रकार के सुखों से सुखी हो गये ॥१॥ सब पाप, कष्ट, कुलक्षण, कपट, कुमार्ग और कुत्सित आचरण नष्ट हो गये। दारिद्रय, दारुण दोष, दम्भ, पाप और दुकाल निवृत्त हो गये ॥ २ ॥ पृथिवी कामधेनु, वृक्ष

कल्पवृक्ष और पत्थर लालमणि (माणिक) समूह हो गये। उस समय स्त्री-पुरुष पुण्यात्मा तथा भाग्य से भरे हुए सुन्दर ललाट वाले हो गये ॥ ३ ॥ सब वर्ण और आश्रम धर्म एवं चतुष्पादात्मक धर्म में रत रहने वाले मन, वचन और वेष हंस के समान (विवेकी, मृदुभाषी तथा सुन्दर सुलक्षण वेषधारी) हो गये। सभी श्रीसीतारामजी के सेवक और स्नेही हैं तथा साधु-स्वभाव, प्रसन्नमुख और सरस हृदय वाले हो गये। सिद्ध, देवगण और इन्द्र आदि दिक्पाल श्रीरामजी के राज-समाज का वर्णन करते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उसका स्मरण करने पर अब भी हृदय में बड़ा भारी हर्ष होता है ॥५॥

विशेष—'बन ते आइ कै···मुदित चौदह भुवन···'—वन में थे, उसी समय आपने चौदह भुवनों के कण्टक रूप रावणादि का संहार कर दिया है। अब भूपाल हुए हैं, तब तो कहना ही क्या है ? चौदहो भुवनों को सुखी कर दिया है।

'सब सुख'—इसमें वस्तु-विच्छेद का निराकरण, 'सुखी सब'—इसमें व्यक्ति-विच्छेद का निराकरण और 'सब काल'—इसमें काल-विच्छेद का निराकरण किया गया है; अर्थात् सभी सुख, सब के लिये सब काल में सम्पन्न रहते थे; यथा—"फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन।" से "बिधु महि पूरि मयूखन्हि, रबि तप जेतनेहि काज। माँगे बारिद देहिं जल, रामचंद्र के राज॥" (मा० उ० २२-२३) तक।

'मिटे कलुष कलेस···गए दारिद···'; यथा—"दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥······अल्प मृत्यु नहिं कवनिउँ पीरा। सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा॥ नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥ सब निर्दंभ धरम रत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥ सब गुनज्ञ पंडित सब ज्ञानी। सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी॥ राम राज नगेस सुनु, सचराचर जग माहिं। काल करम सुभाउ गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥" (मा० उ० २०-२१)।

'काम धुक महि···'; यथा—"कामधेनु महि बिटप कामतरु···" (लं० २२); यथा—"राम राज भइ कामधेनु महि···" (लं० २३)—इनके विशेष देखिये। 'उपल मनिगन लाल'; यथा—"प्रगटीं गिरिन्ह बिबिध मनि खानी। जगदातमा भूप जग जानी॥" (मा० उ० २२)।

'नारि-नर तेहि समय सुकृती···'; यथा--"आश्रम-धरम बिभाग···धरम निरत···" (लं० २२)—इनके विशेष देखिये। तथा वर्णाश्रम-धर्म की व्याख्या श्रीबैजनाथजी के तिलक में विस्तृत रूप में है, वहीं देखिये। तथा—"सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म-निरत श्रुति रीती॥" (मा० उ० २०)।

'तेहि समय'—राजा राम के प्रभाव से सब उस समय सुकृती हो गये—'यथा राजा तथा प्रजा' यह लोकोक्ति चरितार्थ हुई। इसी से सब 'भरे भाग सुभाल' हैं। तथा—"राम राज कुलि काज सुमंगल···" (लं० २२) देखिये।

'मन बचन वेष मराल'—हंस मन से विवेकी, वचन से कल भाषी और वेष से स्वच्छ होता है; यथा—"खीर नीर बिबरन गति हंसी।" (मा० अ० ३१३)। "बोलत जल कुक्कुट कल हंसा।" (मा० अर० ३९); तथा—"करि हंस को बेष बड़ो सब सों, तजि दे बक बायस की करनी॥" (क० उ० ३२)। वैसे ही ये सब विवेकी, मृदुभाषी और भीतर-बाहर स्वच्छ वेष वाले हैं।

'राम सिय सेवक सनेही···'—विवेकी हैं, इससे स्नेहपूर्वक श्रीसीताराम के सेवक हैं। असत-रूप जगद्व्यवहार छोड़ कर सत्-रूप श्रीरामजी का भजन करना ही विवेक है; यथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना॥" (मा० अर० ३८)। साधु हैं, इससे मृदु-भाषण कर यथार्थ तत्त्वोपदेश दे परोकार करते हैं। जैसे संत श्रीविभीषण ने रावण के हितार्थ यथार्थ कहते हुए अपमान भी सहन किया है; तथा—"उमा संत कै इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥" (मा० सुं० ४०)। वेष से मराल-वत् स्वच्छ हैं, इसीसे बाहर से प्रसन्न मुख और भीतर से सरस हृदय रहते हैं।

'राम राज समाज बरनत···'; यथा—"बार-बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत राम के गावहिं॥" (मा० उ० ४१); "राम राज कर सुख संपदा। बरनि न सकइ फनीस सारदा॥" (मा० उ० २१); "देखत अवध को आनंद। हरषि बरषत सुमन दिन-दिन देवतनि को बृंद॥······मुदित पुर-लोगनि सराहत निरखि सुखमा कंद।" (पद २३)। "दसमुख-बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाए नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर नाग नर सुमुखि सनाहैं॥" (पद १३)।

'सुमिरि सो तुलसी···'—उस राज्य के सुख-समाज का स्मरण इस समय

भी वैसा ही सुख देता है; यथा—"ते तब, अब तुलसी तेउ..." (लं० २२)- इसका विशेष देखिये।

आगे १६ पदों में श्रीराम-रूप का वर्णन करते हैं—

श्रीराम-रूप वर्णन

राग ललित

[२]

भोर जानकी-जीवन जागे।
सूत मागध प्रबीन, बेनु बीना धुनि द्वारे, गायक सरस राग रागे ॥१॥
स्यामल सलोने गात, आलस बस जँभात प्रिया प्रेम रस पागे।
उनींदे लोचन चारु, मुख-सुखमा-सिंगारु हेरि हारे मार भूरि भागे ॥२॥
सहज सुहाई छबि, उपमा न लहै कबि, मुदित बिलोकन लागे।
तुलसिदास निसि बासर अनूप रूप रहत प्रेम अनुरागे ॥३॥

अर्थ—प्रातःकाल होते ही श्रीजानकीजी के जीवन श्रीरामजी जागे। उस समय द्वार पर प्रवीण पौराणिक सूत और वंश प्रशंसक मागध विशद कीर्ति का वर्णन करते हैं तथा बाँसुरी और वीणा की मधुर ध्वनि हो रही है, उससे मिला कर गायक गण सरस राग अलाप रहे हैं ॥१॥ लावण्य युक्त श्याम शरीर है, इस समय आलस्य वश कुछ जँभाते हैं और प्रिया श्रीजानकीजी के प्रेम रस में पगे हुए हैं। नींद से भरे हुए सुन्दर नेत्र हैं और मुख की परमाशोभा और श्रृङ्गार को देख कर तो हार कर बहुत-से कामदेव भाग गये ॥२॥ स्वाभाविक शोभायमान छवि है, इसकी उपमा कवि नहीं पाता, इससे यह आनन्दित होकर इस रूप को देखने लगा। यह तुलसीदास रात-दिन इस अनुपम रूप के प्रेम में अनुरक्त रहता है ॥३॥

विशेष—'भोर जानकी-जीवन जागे।'—महल में सोये थे। अतः, श्रीजानकीजी को जीवन रूप एवं श्रीजानकीजी ही जीवन हैं जिनका, वे श्रीरामजी प्रातःकाल ही जगे; यथा—"प्रात पुनीत काल प्रभु जागे। अरुन चूड़ बर बोलन लागे ॥ बंदि मागधन्हि गुन गन गाए। पुरजन द्वार जोहारन आए ॥" (मा० बा० ३५७)। यहाँ श्रृङ्गार रस की दृष्टि से माधुर्य वर्णन है।

'सूत मागध प्रवीन…'—पौराणिक पुराणों के द्वारा और मागध विविध पद्यों के द्वारा इस कुल की कीर्त्ति के साथ सर्वश्रेष्ठ आपकी विशद कीर्त्ति का वर्णन करते हैं, यह इनमें प्रवीणता है। बाँसुरी और वीणा की मधुर ध्वनि अत्यन्त प्रिय होती है, उससे जगाने के उपर्युक्त मृदु सरस राग गायक लोग गाते हैं, तथा—"बीना बेनु संख धुनि द्वारा॥ पढ़हिं भाट गुन गावहिं गायक॥" (मा० अ० ३६)।

'स्यामल सलोने गात'; यथा—स्याम सरीर सुभाय सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन॥" (मा० अ० २२६)। 'प्रिया प्रेम रस पागे'; यथा—"रामश्च सीतया सार्धं विजहार बहूनृतून्॥ मनस्वी तद्गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः।" (वाल्मी० १।७७।२५-२६) अर्थात् श्रीरामजी ने श्रीसीताजी के साथ बहुत ऋतुओं में विहार किया, मनस्वी श्रीरामजी श्रीसीताजी से बहुत प्रेम करते थे; उन्होंने अपना हृदय उनको दे दिया था। तथा—"तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥ सो मन सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं॥" (मा० सुं० १४)।

'उनींदे लोचन चारु…'; यथा—"नींदउ बदन सोह सुठि लोना। मनहुँ साँझ सरसीरुह सोना॥" (मा० बा० ३५७); "मुख छबि कहि न जाइ मोहिं पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥" (मा० बा० २३२)।

'सहज सुहाई छबि…'—भूषण-वस्त्र से सुसज्जित होने पर ही शोभायमान नहीं, प्रत्युत् स्वाभाविक ही शोभायमान हैं; यथा—"सहज मनोहर मूरति दोऊ। कोटि काम उपमा लघु सोऊ॥" (मा० बा० २४२); कवि उपमा नहीं पाता; यथा-"मन भावहिं मुख बरनि न जाहीं। उपमा कहँ त्रिभुवन कोउ नाहीं॥ उपमा न कोउ कह दास तुलसी कतहुँ कबि कोबिद कहैं। बल बिनय बिद्या सील सोभा सिंधु इन्ह-से एइ अहैं॥" (मा० बा० ३१०)। "निसिवासर अनूप रूप रहत प्रेम अनुरागे।'; यथा—"देखि मनोहर चारिउ जोरी। सारद उपमा सकल ढँढोरी॥ देत न बनइ निपट लघु लागी। एक टक रही रूप अनुरागी॥" (मा० बा० ३४८)। इसी प्रकार यहाँ कवि भी उपमा ढूढ़ने से हार कर इस रूप के प्रेम में अनुरक्त हैं।

राग कल्याण

[३]

रघुपति राजीव-नयन, सोभा तनु कोटि मयन,
करुनारस-अयन चयन रूप भूप माई।
देखो सखि अतुलित छबि, संत-कंज-कानन रबि,
गावत कल कीरति कबि-कोबिद-समुदाई ॥१॥
मज्जन करि सरजु तीर ठाढ़े रघुबंस बीर,
सेवत पद कमल धीर निरमल चित लाई।
ब्रह्ममंडली-मुनीन्द्रबृन्द-मध्य इंदु बदन,
राजत सुख सदन लोक लोचन सुखदाई ॥२॥
बिथुरित सिररुह-बरूथ कुंचित, बिच सुमन-जूथ,
मनिजुत सिसु-फनि-अनीक ससि समीप आई।
जनु सभीत दै अँकोर राखे जुग रुचिर मोर,
कुंडल-छबि निरखि चोर सकुचत अधिकाई ॥३॥
ललित भृकुटि, तिलक भाल, चिबुक-अधर-द्विज रसाल,
हास चारु तर, कपोल, नासिका सुहाई।
मधुकर जुग पंकज बिच, सुक बिलोकि नीरज पर,
लरत मधुप-अवली मानो बीच कियो जाई ॥४॥
सुन्दर पट पीत बिसद, भ्राजत बनमाल उरसि,
तुलसिका-प्रसून-रचित, बिबिध बिधि बनाई।
तरु तमाल अधबिच जनु त्रिबिध कीर पाँति रुचिर,
हेम जाल अंतर परि ताते न उड़ाई ॥५॥
संकर-हृदि-पुंडरीक निवसत हरि-चंचरीक,
निर्व्यलीक-मानस-गृह संतत रहे छाई।
अतिसय आनंदमूल तुलसिदास सानुकूल,
हरन सकल सूल, अवध-मंडन रघुराई ॥६॥

अर्थ—[सखी से सखी कहती है—] माई ! राजीव लोचन श्रीरघुनाथजी के शरीर में करोड़ों कामदेवों की शोभा है, ये करुण रस के स्थान और आनन्द-

रूप राजा हैं। सखि! देखो, सन्त रूप कमल वन को प्रफुल्लित करने वाले सूर्य रूप श्रीरघुनाथ की छबि अतुलित है, इनकी सुंदर कीर्ति कवियों और पंडितों के समुदाय गाया करते हैं ॥१॥ ये रघुवंश-वीर श्रीरामजी स्नान करके श्रीसरयूजी के किनारे खड़े हैं। शान्त चित्त वाले भक्त गण उनके चरण कमल की सेवा अपना निर्मल चित्त लगा कर करते हैं। वे समस्त लोकों के नेत्रों को सुख देने वाले आनन्द धाम चन्द्रमुख भगवान् श्रीरामजी ब्राह्मण-मंडली और मुनीश्वरों के समूह में विराजमान् हैं ॥२॥ उनके शिर के केशों की घूँघुरवाली अलकावली बिखरी हुई है और उसके बीच-बीच में फूलों के गुच्छे लगे हुए हैं। वह ऐसी जान पड़ती है कि मानों मणियों के साथ बालसर्पों की सेना चन्द्रमा के समीप आई हो तथा उसे देख भयभीत हो चन्द्रमा ने भेंट (एवं घूस) देकर इस सेना से बचने के लिये दो सुंदर मोरों को रक्खा हो और उन (मोर रूप) कुण्डलों की छबि देख कर वे (बाल सर्प समूह रूप) चोर अत्यन्त अधिक सकुचाते हों ॥३॥ उनकी सुन्दर भौंहें हैं और ललाट पर मनोहर तिलक है तथा ठोढ़ी, ओष्ठ और दाँत रसीले एवं मनोहर हैं एवं हास अत्यन्त मनोहर और कपोल तथा नासिका सुहावने हैं। ऐसा जान पड़ता है मानों (नेत्र रूप) दो कमलों के बीच-बीच में (पुतली रूप) दो भ्रमर बैठे हैं। उन्हें (भौंह रूप) अपनी-अपनी भ्रमर सेना के साथ (मुख-अधर रूप) कमल पर (अधर रस पान के लिये) लड़ते हुए देख कर (नासिका रूप) शुक (तोते) ने जाकर बीच-बचाव किया हो ॥४॥ श्रीरामजी के शरीर पर अत्यन्त सुंदर और स्वच्छ पीताम्बर तथा वक्ष:स्थल में तुलसी एवं फूलों से नाना प्रकार से बना कर रची हुई वनमाला शोभायमान है। वह ऐसी जान पड़ती है मानो (श्याम शरीर रूप) तमाल वृक्ष के मध्य भाग में (वनमाला रूप) तीन प्रकार के (तिरंगे) तोतों की मनोहर पंक्ति हो और वह (पीताम्बर रूप) स्वर्ण जाल के भीतर पड़ जाने से उड़ न सकती हो ॥५॥ श्रीशिवजी के हृदय कमल में जो क्लेशहर्त्ता श्रीराम रूप भ्रमर निवास करते हैं और जो निष्कपट हृदय रूप घर में सदा निवास किये रहते हैं वे सम्पूर्ण पीड़ाओं का हरण करने वाले और अत्यन्त आनंद के कारण श्रीअवध के विभूषण श्रीरघुनाथजी तुलसीदास पर सदा प्रसन्न रहें ॥६॥

विशेष—'रघुपति राजीव नयन' 'देखो, सखि।...'—ऊपर पद में

जागरण कहा गया। इस पद में स्नान और साथ ही शृङ्गार वर्णन करते हैं। इसकी माधुरी कहने में सखियों का अधिकार है, इससे सखि ही वर्णन करती है। 'रघुपति' पद से रघु से भी अधिक उदार दानी सूचित किया। 'राजीव नयन' पद से 'भक्त-बिपति-भंजन-सुखदायक' और तदपेक्षित साथ ही 'करुना रस-अयन' भी कहा है। 'सोभा तनु कोटि मयन' —अपनी शोभा से आश्रितों के चित्त का आकर्षण कर उनको राजीव नेत्र से करुणा करके देखते ही उनकी विपत्तियों का हरण करते हैं और 'चयन रूप भूप' हैं। अतः, अपने आनन्दमय विग्रह की सेवा द्वारा आनन्द दे उनका पालन करते हैं। इस प्रकार के आनन्द दान में आप रघु महाराज से भी श्रेष्ठ हैं।

'अतुलित छबि···'—इस छबि के भोक्ता सन्त हैं, वे सूर्य को देख कर कमल वन की भाँति इन्हें देख खिल उठते हैं; यथा—"उदित उदय गिरि पर रघुबर बाल-पतंग। बिकसे संत सरोज सब हरषे लोचन भृङ्ग॥" मंच (मा० बा० २५४)।

'गावत कल कीरति···'—रूप के साथ गुण-वैभव भी चाहिये, वह भी कहते हैं कि आपकी सुन्दर कीर्ति का गान कवियों और पंडितों का समुदाय करता है; यथा—"जाको जस गावत कवि-कोविद, जिन्ह के लोभ-मोह, मद-मार न।" (वि० २०६); अर्थात् निर्मल चित्त वाले कबि-कोबिद ही आप की सुंदर कीर्त्ति गाते हैं; यथा—"कबि-कोबिद अस हृदय बिचारी। गावहिं हरि जस कलिमल हारी॥" (मा० बा० १०)।

'मज्जन करि सरजु तीर ठाढ़े...'; यथा-"प्रातकाल सरजू करि मज्जन।" (मा० उ० २५); "मज्जहिं प्रात समेत उछाहा।" (मा० बा० ४३)।

'सेवत पदकमल धीर···'; यथा—"सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा॥ मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।" (मा० बा० ५०)।

'ब्रह्ममंडली-मुनींद्रबृंद मध्य···'—यों तो आप का आनन्दमय विग्रह समस्त लोकों के नेत्रों को सुख देने वाला सुख का स्थान है; यथा—"चले लोक-लोचन सुखदाता॥ बालकबृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मन लोभा॥" (मा० बा० २१८); पर विशेष कर आप सात्विक स्वभाव वाले ब्राह्मणों और

मुनियों के मध्य में रहते हैं और अपने मुखचन्द्र से उन्हें आह्लादित किया करते हैं; यथा—"लसत मंजु मुनि मंडली मध्य सीय रघुचंद। ज्ञान सभा जनु तनु धरे, भगति सच्चिदानंद ॥" (मा० अ० २३९)।

'बिथुरित सिररुह-वरूथ···'—यहाँ अलकावली बाल सर्प और फूलों के गुच्छे उनके मणि हैं। चन्द्रमा मुख है और दोनों कुण्डल दो मोर हैं। चोर रात में चोरी करते हैं और चन्द्रमा भी रात में अमृत स्रवता है। यहाँ काली अलकावली बाल सर्प रूप होती हुई रात की तम रूपिणी भी है। रात में ही सर्प भी अपनी मणि प्रकट करता है। मुख चन्द्र में अमृत रस पान के लिये मणि खोल बाल सर्प रूप अलकें चोरी से मानों आईं; इनसे डर कर मुख चन्द्र ने दो मोरों को कुछ भेंट पूजा दे रक्षक रूप में रख दिया है; क्योंकि मोर सर्पों को खा जाते हैं। इन मोरों के डर से सकुच कर मानो बाल सर्प रूप अलकें कान तक ही रह जाती हैं। कुंडल से इधर कपोल पर से होकर मुख पर नहीं आने पातीं।

'ललित भृकुटि··मधुकर जुग···' यहाँ नेत्र उपमेय का वर्णन नहीं किया गया, पर उपमान से स्पष्ट हुआ। दोनों नेत्र कमल हैं, उन कमलों के बीच में पुतलियां भ्रमर हैं। इनके पास-पास ही दोनों भौंहें हैं, वे ही इनकी सेनाएँ हैं। दूसरा नीरज मुख कहा गया है। उसमें अधर लाल कमलवत् है, उस कमल का रस पान करने के लिये दोनों भ्रमर दलों ने चढ़ाई की, तब नासिका रूप शुक ने बीच बचाव कर दिया है। इससे बीच में नासिका है, उसके दोनों ओर भौंहों के साथ नेत्र हैं।

'सुन्दर पटपीत बिसद···तरु तमाल···'—यहाँ शरीर तमाल वृक्ष है, उसका अधबीच वक्षःस्थल है, उस पर वनमाला है, उसमें तुलसी, कुन्द, मंदार पारिजात और कमल—इन पाँच से गूँथी हुई माला बनमाला है। तुलसी हरे रंग की है, शेष चार प्रकार के फूलों में श्वेत और लाल दो रंग हैं। यह त्रिविध रंग की वनमाला ही तीन रंग के तोतों की पंक्ति है। (पक्षी चंचल होते हैं तो उड़ते क्यों नहीं, इस पर कहा है। यह पीताम्बर रूप स्वर्ण जाल के भीतर पड़ गई है, इससे उड़ नहीं पाती।

यहाँ ३, ४, ५ इन चरणों में 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षालङ्कार' है।

'संकर हृदि पुंडरीक···'—भ्रमर कमल के रस के लोभ से उसके पास

निवास करता है, वैसे ही हरि श्रीरामजी भी शिवजी के हृदय कमल के अनुराग में लुभाये हुए रहते हैं। वहाँ रह कर उनके क्लेश-हरण करते हैं, इससे हरि कहे गये हैं; यथा—"तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥" (मा० सुं० ४६); वही हरि निष्कपट हृदय के किसी भी व्यक्ति में निवास करते हैं; यथा—"गत व्यलीक भगतन उर चंदन" (बा० ३६)। जिसके हृदय में रहते हैं, उसके सभी प्रकार के कष्टों का हरण कर अतिसय आनंद देते हैं। इसलिये ग्रन्थकार अपने पर सदा प्रसन्नता चाहते हैं।

[४]

राजत रघुबीर धीर, भंजन भव-भीर पीर-
हरन सकल सरजुतीर निरखहु, सखि! सोहैं।
संग अनुज-मनुज निकर, दनुज-बल-बिभंग-करन,
अंग-अंग छबि अनंग अगनित मन मोहैं॥१॥
सुखमा-सुख-सील-अयन नयन निरखि-निरखि नील
कुंचित कच, कुंडल कल नासिक चित पोहैं।
मनहुँ इंदु बिंब मध्य कंज-मीन-खंजन लखि
मधुप-मकर-कीर आये तकि-तकि निज गोहैं॥२॥
ललित गंड मंडल, सुबिसाल भाल तिलक झलक,
मंजु तर मयंक - अंक, रुचिर बंक भौहैं।
अरुन अधर, मधुर बोल, दसन-दमक दामिनि दुति,
हुलसति हिय हँसनि चारु, चितवनि तिरछौहैं॥३॥
कंबु कंठ, भुज बिसाल, उरसि तरुन तुलसिमाल,
मंजुल मुकुतावलि जुत जागति जिय जोहैं।
जनु कलिंद-नंदिनि मनि-इंद्रनील-सिखर परसि,
धँसति लसति हंससेनि संकुल अधिकौहैं॥४॥
दिव्यतर दुकूल भव्य, नव्य रुचिर चंपक चय,
चंचला-कलाप, कनक-निकर अलि! किधौंहैं।

सज्जन-चष-झष-निकेत, भूषन-मनिगन समेत,
रूप-जलधि-बपुष लेत मन-गयंद बोहैं ॥५॥
अकनि बचन-चातुरी, तुरीय पेखि प्रेम-मगन,
पग न परत इत उत, सब चकित तेहि समोहैं।
तुलसिदास यह सुधि नहिं कौन की, कहाँ ते आई,
कौन काज, काके ढिग, कौन ठाउँ को हैं ॥६॥

अर्थ—ऐ सखि! देखो, जन्म-मरण का भय हरण करनेवाले और सारी पीड़ाओं का नाश करनेवाले धैर्यवान् रघुवंशियों में वीर श्रीरामजी शोभायमान् हैं तथा श्रीसरयूजी के तट पर विराजमान् हैं। उनके साथ में छोटे भाई और बहुत से मनुष्य हैं तथा वे स्वयं भी दानवों की सेना का संहार करनेवाले हैं। उनके अंग-अंग में असंख्य कामदेवों की छबि है, उससे वे मन को मोहित कर लेते हैं ॥१॥ उनके परमशोभा, सुख और शील के स्थान नेत्र देखो तथा नीले और घुघुराले शिर के केश देखो। इनके सुन्दर कुण्डल और नासिका तो चित्त को अपने में लगा ही लेते हैं; मानों चन्द्रमंडल के मध्य में कमल, मछली और खञ्जन पक्षी को देख कर उन्हें अपने पक्ष के (सम्बन्धी) जान-जान कर भ्रमर, मकर और शुक पक्षी आये हैं ॥२॥ मनोहर कपोल हैं, सुंदर चौड़े ललाट पर तिलक प्रकाशित हो रहा है और अत्यन्त मनोहर चन्द्रमा के चिह्न के समान (मुख चन्द्र पर) अत्यन्त मनोहर टेढ़ी भौंहें हैं। ओष्ठ लाल है, मधुर बोली है और दाँतों की चमक बिजली की छटा के समान है। उनका मनोहर हँसना और तिरछे नेत्रों से देखना हृदय को उल्लसित करता है ॥३॥ उनका कण्ठ शंख के समान (सुडौल एवं चढ़ाउतार) है, भुजाएँ विशाल हैं, और वक्षःस्थल में मनोहर मुक्तमाल के साथ नवीन तुलसी की माला शोभायमान् है। उसे जाग्रत-अवस्था में प्राप्त योगिजन अपने हृदय में इस प्रकार देखते हैं मानो हंस श्रेणी के साथ कलिन्दनंदिनी श्रीयमुनाजी इन्द्रनीलमणि के शिखर का स्पर्श करके नीचे गिरती हुई अत्यन्त अधिक शोभा पा रही हों ॥४॥ ऐ सखि! अत्यन्त दिव्य और देखने में बड़ा सुन्दर उपरना है, वह नवीन और मनोहर चम्पक पुष्पों का समूह है, या बिजली का समूह है किम्वा सोने का समूह है? श्रीरामजी का सौन्दर्य-सागर शरीर, जो सज्जनों के नेत्र रूप मकरों का वास-

स्थान और भूषण रूप मणिगणों से संयुक्त है, उसमें मेरा मन रूप हाथी डुब्बी लेता है (अवगाहन करता है) ॥५॥ उसकी वचन चातुरी सुन कर और तुरीय रूप श्रीरामजी को देख कर वह प्रेम में निमग्न हो गई। उसके पैर न तो इधर घर की ओर पड़ते हैं और न उधर श्रीसरयूजी की ओर ही पड़ते हैं, उस समय सब चकित हो गईं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उसे तो यह भी सुधि नहीं रह गई कि वह किस की है, कहाँ से आई है, उसका कार्य क्या है, वह किस के पास जा रही है, वह किस स्थान पर है और उसके पास कौन-कौन हैं ? ॥६॥

विशेष—'राजत रघुबीर धीर···संग अनुज···'—'रघुबीर' पद में पाँचो वीरताओं से युक्तता और 'धीर' पद में उन वीरताओं के साथ धीरता की पूर्णता भी प्रकट की गई है। 'भंजन भव भीर'; यथा—"तब कह गीध बचन धरि धीरा। सुनहुँ राम भंजन भव भीरा॥" (मा० अर० ३०); 'पीर हरन सकल'—आपके दर्शन मात्र से सारी पीड़ाएँ दूर हो जाती हैं; यथा—"निरखि राम छबिधाममुख बिगत भई सब पीर।" (मा० अर० ३०); तथा—"दुख न रहइ रघुपतिहि बिलोकत" (अ० ५३)।

'संग अनुज मनुज निकर···'—साथ में भाई और बहुत मनुष्य रक्षार्थ नहीं हैं क्योंकि रघुवीर तो दैत्यों की सेना का नाश करनेवाले हैं; यथा—"आजानु भुज सर चाप धर संग्रामजित खरदूषनम्।" (वि० ४५); प्रत्युत ये सब आपकी शोभा पर मोहित हो साथ लगे हुए हैं; क्योंकि—'अंग अंग छबि-अनंग···'। तथा—"कंदर्प अगनित अमित छबि नव नील नीरज सुंदरम्।" (वि०४५); "अंग-अंग पर वारिअहि कोटि-कोटि सतकाम॥" (मा०बा०२२०)।

'सुखमा सुख सील अयन नयन निरखि'—नेत्रों की परमशोभा पर जो मुग्ध होता है, उसे आप सुख देते हैं और फिर उसके दोषों को शील गुण से न देखकर उसका आदर करते हैं इन विशेषणों के ये भाव हैं।

'निरखि नील कुंचित कच···'—नेत्रों को देख उनकी समीपता के लिये लालायित नीले घुघुराले केश, कलकुंडल और सुन्दर नासिका ये तीनों हैं, इस पर आगे उत्प्रेक्षा करते हैं—

'मनहुँ इंदुबिंब मध्य···'—यह चन्द्र बिम्ब मुख मंडल है, उसके मध्य में नेत्र हैं, वे ही कमल मीन और खंजन पक्षी से उपमित हैं; यथा—"सोहत

सहज सुहाए नैन। खंजन मीन कमल सकुचत तब जब उपमा चाहत कवि दैन॥" (बा० ३२)। मानो नेत्रों को कमल मानकर अपने सजातीय के समीप नीले घुँघुराले केस रूप भ्रमर आये हैं, मीन मानकर उसके सजातीय कुण्डल रूप मकर आये हैं; क्योंकि मकराकृत कुण्डल हैं और खंजन पक्षी मान कर उसका सजातीय नासिका रूप शुक आया है, ऐसा जान पड़ता है।

यहाँ यथासंख्यालङ्कार से पुष्ट उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षालङ्कार है।

'ललित गंडमंडल···'—दर्पणवत् मनोहर कपोल और चौड़े एवं उन्नत ललाट पर तिलक झलक रही है। अत्यन्त सुन्दर चन्द्रमा में लाञ्छन की भाँति मनोहर टेढ़ी भौंहे हैं; यथा—"कुंकुम तिलक भाल, स्रुति कुंडल लोल। काक-पच्छमिलि, सखि! कस लसत कपोल॥८॥ भालतिलक सर, सोहत भौंह कमान। मुख अनुहरिया केवल चंद समान॥९॥" (बरवै रा०)। यहाँ 'रुचिर बंक भौंहैं' ही 'मंजुतर मयंक अंक' कही गई हैं। अतः 'रूपक' है।

'अरुन अधर, मधुर बोल···'; यथा—"अधर अरुन रद सुंदर नासा। बिधुकर निकर बिनिंदक हासा॥ नव अंबुज अंबक छबि नीकी। चितवनि ललित भावती जी की॥" (मा० बा० १४६); "कंबु कंठ, चिबुकाधर सुंदर, क्यों कहौं दसनन की रुचिराई?। पदुमकोस महँ बसे बज्र मनो निज सँग तडित-अरुन-रुचि लाई॥" (बा० १०६)।

'हुलसति हिय हँसनि चारु···'; यथा—"हास-बिलास लेत मन मोला।" (मा० बा० २३२); "हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचति किरन मनोहर हासा॥" (मा० बा० १९७); "जिय की जरनि हरत हँसि हेरत।" (मा० अ० २३८)। "हेरत हृदय हरत, नहिं फेरत चारु बिलोचन कोने।" (अ० २३)।

'कंबु कंठ, भुज बिसाल···जनु कलिंद-नंदिनि···'—'हंस सेनि संकुल अधिकौहैं'—हंस एक में एक मिलकर चलते हैं और बहुत होते हैं, इसी से इनकी श्रेणियाँ 'संकुल' और 'अधिकौहैं' भी कही गई हैं। यहाँ तुलसी की माला यमुना की धारा है, मोतियों की माला हंसों की पंक्ति है और इन्द्रनील मणि के शिखर श्रीरामजी के कंधे हैं। उन कंधों का स्पर्श कर माला धारा के समान नीचे आई है; तथा—"कंबु कंठ, उर बिसाल तुलसिका नवीन माल,

मधुकर बर-बास-बिबस, उपमा सुनु सो, री ! । जनु कलिंदजा सुनील सैल ते धसी समीप, कंद-बृंद बरषत छबि मधुर घोरि घोरी ॥" (पद ७)।

यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षालंकार' है ।

'दिव्यतर दुकूल भव्य...'—यहाँ पीताम्बर दिव्य तर उपरना को कई उपमाओं से उपमित करते हैं कि यह चंपा समूह है, या बिजली समूह और या सोने का समूह है। अतः यहाँ 'संदेहालङ्कार' है। तथा—"बिमल पीत दुकूल दामिनि दुति-बिनिंदनिहारु।" (पद ८); चंपा, विद्युत और सोना पीत ही होते हैं। अतः, दुकूल पीत रंग का है।

'सज्जन-चष-झष निकेत...'—समुद्र में मीन और रत्न रहते हैं और हाथी गण डुब्बी लगा-लगा आनंदित होते हैं। वैसे ही इस रूप समुद्र में सज्जनों के नेत्र रूप मछलियाँ और भूषण रूप मणि गण रहते हैं और कवि का मन रूप हाथी डुब्बी लगा-लगा आनन्दित हो रहा है। यहाँ 'रूपकालंकार' है। मछलियों को जल का समुद्र प्रिय होता है, वही जीवन होता है, वैसे ही सज्जनों के नेत्रों को यह रूप प्रिय एवं जीवन है; तथा—"सरजु मज्जन किये संग सज्जन लिये" (पद ५)।

'तुरीय पेखि....'—तुरीय रूप श्रीरामजी हैं; यथा—"तुरीया जानकी प्रोक्ता तुरीयो रघुनन्दनः।" (महा रामायण); तथा—"तुरीयमेव केवलं" (मा० अर० ३); श्रीरामजी तुरीयावस्था के विषय हैं तथा वे नित्य तुरीयावस्था में रहते भी हैं, इससे तुरीय कहे भी जाते हैं।

'प्रेम मगन...यह सुधि नहिं...'; यथा—"सखिहि सुसिख दई, प्रेम मगन भई, सुरति बिसरि गई आपनी ओही। तुलसी रही है ठाढ़ी पाहन गढ़ी-सी काढ़ी, कौन जाने कहाँ ते आई, कौन की को ही॥" (अ० १९)।

[५]

देखु सखि ! आजु रघुनाथ-सोभा बनी।
नील - नीरद - बरन - बपुष, भुवनाभरन,
पीत - अंबर - धरन हरन दुति - दामिनी ॥१॥
सरजु मज्जन किये, संग सज्जन लिये,
हेतु जन पर हिये, कृपा कोमल घनी।

सजनि ! आवत भवन, मत्त-गजवर-गवन,
लंक मृगपति ठवनि, कुँवर कोसल धनी ॥२॥
सघन चिक्कन कुटिल चिकुर बिलुलित मृदुल,
करनि बिबरत चतुर सरस सुखमा जनी।
ललित अहि-सिसु-निकर मनहुँ ससि सन समर,
लरत, धरहरि करत रुचिर जनु जुग फनी ॥३॥
भाल भ्राजत तिलक, जलज लोचन, पलक,
चारु भ्रू, नासिका सुभग सुक-आननी।
चिबुक सुंदर, अधर अरुन, द्विज-दुति सुचर,
बचन गंभीर, मृदु हास भव-भाननी ॥४॥
स्रवन कुंडल बिमल गंड मंडित चपल,
कलित कल कांति अति भाँति कछु तिन्ह तनी।
जुगल कंचन-मकर मनहुँ बिधुकर मधुर,
पियत पहिचानि करि सिंधु कीरति भनी ॥५॥
उरसि राजत पदिक, ज्योति रचना अधिक,
माल सुबिसाल चहुँ पास बनि गजमनी।
स्याम नव जलद पर निरखि दिनकर कला,
कौतुकी मनहुँ रही घेरि उडुगन-अनी ॥६॥
मंदिरनि पर खरी नारि आनँद-भरी,
निरखि बरषहिं बिपुल कुसुम कुंकुम कनी।
दास तुलसी राम परम करुना धाम,
काम सत कोटि मद हरत छबि आपनी ॥७॥

अर्थ—हे सखी ! देखो, आज श्रीरघुनाथजी की शोभा कैसी बनी हुई है ? नीले मेघ के समान वर्ण का उनका सुन्दर शरीर है, वह समस्त लोक का भूषण रूप है। वे बिजली की कान्ति का हरण करनेवाला पीताम्बर धारण किये हुए हैं ॥१॥ वे कोसल राजकुमार श्रीसरयूजी का स्नान किये हुए और साथ में सज्जनों को लिये हैं। हे सखि ! वे मत्त गजेन्द्र की-सी चाल से अपने राजमहल को आ रहे हैं। उनकी कटि और ठवनि (अकड़) सिंह के समान

है। उनके हृदय में अपने भक्तों पर प्रीति, कृपा और अत्यन्त कोमलता का भाव है ॥२॥ उनके मुख मण्डल पर चिकने, टेढ़े और सघन तथा कोमल केश बिखरे हुए हैं, परम चतुर श्रीरामजी उन्हें अपने हाथों से उलझे हुए केशों को सुलझा रहे हैं। उससे बड़ी सरस शोभा उत्पन्न हो गई है मानो मनोहर बाल सर्पों के समूह चन्द्रमा से (अमृत लेने के लिये) लड़ाई लड़ रहे हों और मनोहर दो बड़े फणधारी सर्प बीच कर रहे हों (समझा रहे हों कि जो अपनी वस्तु नहीं देता तो लड़ना नहीं चाहिये, लौट चलो) ॥३॥ उनके ललाट पर तिलक शोभायमान है, नेत्र कमल के समान हैं, पलकें और भौहें सुन्दर हैं और नासिका तोते की चोंच के समान सुन्दर है। ठोढ़ी सुन्दर है, ओष्ठ लाल हैं, दाँतों की कान्ति बड़ी सुहावनी है, वचन गम्भीर हैं और उनकी कोमल हँसी जन्म मरण के भय का नाश करनेवाली है ॥४॥ उनके कानों में कुंडल हैं, उन्होंने निर्मल कपोलों को भूषित कर अपनी चपलता से अत्यन्त मनोहर कुछ और ही भाँति की कान्ति फैला दी है; मानों दो सोने के मीन समुद्र की कही हुई कीर्त्ति के अनुसार पहचान करके चन्द्रमा की मधुर (अमृतमय) किरणों का पान कर रहे हों। (क्योंकि समुद्र चन्द्रमा का उत्पत्ति-स्थान और मीनों का भी निवासस्थान है, समुद्र की कही कीर्त्ति से पहचान होने पर दोनों में यह सम्बन्ध निकल आया है, इससे प्रीति है) ॥५॥ उनके वक्षःस्थल में पदिक विराजमान् है, उसकी ज्योति अधिकता से फैली हुई है, उसकी चारों ओर गजमुक्ताओं की सुन्दर विशाल माला सुशोभित है मानो नवीन श्याम मेघ पर सूर्य की कला देखकर उसे कौतुकी नक्षत्रों की पंक्ति ने घेर लिया हो ॥६॥ इस समय मार्ग के मन्दिरों पर आनन्द से भरी हुई स्त्रियाँ खड़ी हैं, श्रीरामजी को देखकर बहुत फूल और केसर-पराग की वर्षा करती हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि परम करुणा के स्थान श्रीरामजी अपनी छवि से सैकड़ों करोड़ों कामदेवों के मद का हरण करते हैं ॥७॥

विशेष—'देखु सखि···नील नीरद बरन···'—शरीर को मेघ वर्ण कहा तो साथ ही पीताम्बर को दामिनी रूप भी कहा है। बिजली चमकने पर मेघ की छटा से लोक सुशोभित होता है, वैसे ही श्रीरामजी की इस बनी हुई अद्भुत शोभा से लोक सुशोभित हो रहा है, सर्वत्र के लोग देख देख प्रशंसा करते हैं।

'सरजु मज्जन किये···आवत भवन···'—यह तो नित्य का नियम है; यथा—"प्रातकाल सरजू करि मज्जन। बैठहिं सभा संग द्विज सज्जन॥" (मा० उ० २५)। सज्जनों को साथ लेने में सात्त्विकता और मत्त गजेन्द्र गमन में निर्भीकता तथा सिंह की-सी कटि एवं ठवनि में पराक्रम और उत्साह प्रकट होता है।

'हेतु जन पर···'—इसमें आश्रित-वत्सलता कही गई है। आश्रित पर प्रीति है, इससे उसे कृपा दृष्टि से देखते हैं, फिर अपने कोमल स्वभाव से उसके दुःख नहीं सह सकते। अतः, तुरत दुःख दूर कर देते हैं, यथा—"करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहि पीर पराई॥" (मा० अ० ८४)।

'सघन चिक्कन··ललित अहि सिसु···'—यहाँ केश सर्पों के बालक समूह हैं। मुख चन्द्रमा है, दोनों हाथ दो फणिधर बड़े सर्प हैं, मुख पर सिर के केशों का पड़ना बाल सर्पों का लड़ना है और हाथों का केश सँभालना ही उन बाल सर्पों को धरहरि करके रोकना है। सर्प अमृत चाहते हैं; उसी के लिये लड़ते हैं, यहाँ मुख चन्द्र में छबि रूप अमृत है। उसके समीप केशों का आना लड़ना है।

'भाल भ्राजत तिलक···'—'नासिका सुभग सुक आननी' इसमें 'रूपकालंकार' है। तथा—"भाल तिलक रुचिरता निवासा।" (मा० बा० ३२६)। 'बचन गंभीर'; यथा—"भाई सों कहत बात कौसिकहि सकुचात बोल घनघोर-से बोलत थोर-थोर हैं॥" (बा० ७२); "बोले घन इव गिरा गँभीरा।" (मा० लं० ७२)।

'मृदुहास भव-भाजिनी'; यथा—"जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥" (मा० अ० २३८); मृदु हास प्रसन्नता से होता है और प्रभु-प्रसन्नता से भव-निवृत्ति होती है; यथा—"तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।" (गीता १८।६२); तथा—"तुम्ह कृपालु जापर अनुकूला। ताहि न ब्याप त्रिविध भव सूला॥" (मा० सु० ४६)।

'स्रवन कुंडल···जुगल कंचन-मकर···'—यहाँ दोनों कुंडल दो सोने के मकर हैं, मुख चन्द्र है, रूप अमृत है और समुद्र की जो कीर्ति भनी (कही) हुई है कि चन्द्रमा और अमृत आदि उसी से प्रकट हुए हैं और वह मकरालय

भी है। इस सम्बन्ध का पहचान कर भाई की वस्तु एवं पिता की वस्तु पीने का अपना अधिकार दिखा कर मकर अमृत पीते हैं।

'उरसि राजत पदिक···स्याम नव जलद···'—यहाँ श्रीरामजी का वक्षःस्थल 'श्याम नव जलद' है, 'पदिक ज्योति रचना अधिक' दिनकर की कला है और पदिक के चारों ओर की गजमुक्ता की माला 'उडुगन अनी' है। 'कौतुकी' इस पद का भाव यह कि एक तो श्याम नव मेघ सूर्य की कला का आच्छादक है, पर यहाँ श्याम मेघ पर सूर्यकला विराजमान् है। तारागणों की सेना ने एक आश्चर्य का कृत्य देख कर दिनकर कला को चारों ओर से घेर कर दूसरा और भी आश्चर्य कृत्य कर दिया है, क्योंकि ये कौतुकी हैं, कौतुक (आश्चर्य कृत्य) प्रिय हैं। मेघ पर सूर्य कला और उसकी चारों ओर तारागण की अनी का होना कौतुक ही है।

इस पद के ३, ५ और ६ इन चरणों में अनूठे-अनूठे 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' हैं।

मंदरनि पर खरी···'—नित्य नियम से श्रीरामजी स्नान करके इन्हीं मार्गों से आते हैं, इसलिये ये स्त्रियाँ दर्शन करने एवं पुष्प तथा कुंकुमकनी की करने में प्रस्तुत रहती हैं, यह स्त्रियों का कृत्य कहा है। आगे श्रीरामजी वर्षा का कहते हैं—

'राम परम करुना धाम, काम सत कोटि····'—श्रीरामजी इनकी श्रद्धा पर इन पर करुणा करके अपनी अपरिमित लावण्यमयी छबि का आनन्द देते हैं; यथा—"मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥" (मा० अर० ३५)। यहाँ 'चतुर्थ प्रतीप अलङ्कार' है।

[६]

आजु रघुबीर-छबि जाति नहिं कछु कही।
सुभग सिंहासनासीन सीता रमन
भुवन-अभिराम, बहु काम सोभा सही॥१॥
चारु चामर-व्यजन छत्र-मनिगन बिपुल,
दाम-मुकुतावली-जोति जगमगि रही।

मनहुँ राकेस सँग हंस - उडुगन-बरहि
मिलन आये हृदय जानि निग नाथ ही ॥२॥
मुकुट सुंदर सिरसि, भाल बर तिलक-भ्रू,
कुटिल कच, कुंडलनि परम आभा लही।
मनहुँ हर डर जुगल मारध्वज के मकर
लागि स्रवननि करत मेर की बतकही ॥३॥
अरुन - राजीवदल - नयन करुना-अयन,
बदन सुखमा - सदन, हास त्रय ताप ही।
बिबिध कंकन, हार, उरसि गजमनि-माल,
मनहुँ बगपाँति जुग मिलि चली जलदही ॥४॥
पीत निरमल चैल मनहुँ मरकत सैल
पृथुल दामिनि रही छाइ तजि सहज ही।
ललित सायक-चाप, पीन भुजबल अतुल
मनुज-तनु दनुज-बन-दहन, मंडन मही ॥५॥
जासु गुन-रूप नहिं कलित निर्गुन-सगुन,
संभु सनकादि सुक भक्ति दृढ़ करि गही।
दास तुलसी रामचरन - पंकज सदा
बचन मन कर्म चहै प्रीति नित निर्बही ॥६॥

शब्दार्थ—बरहि = मोर, मयूर। मेर = मेल, मिलाप, सुलह, एकता, मैत्री। त्रय ताप ही = तीनों तापों का हनन करनेवाला। पृथुल [पृथु] =१ चौड़ा, २ बड़ा महान्, ३ अगणित, ४ प्रवीण—हिं० श० सा०। तजि सहज = अपना (चंचल) स्वभाव छोड़ कर। कलित = विदित, उक्त, प्राप्त, गृहीत, सुसज्जित, सुंदर, मधुर।

अर्थ—आज श्रीरघुनाथजी की छबि कुछ कही नहीं जा सकती। चौदहो भुवनों में सुन्दर सीता-रमण श्रीरामजी सुन्दर राज-सिंहासन पर विराजमान् हैं, ये सत्य ही बहुत-से कामदेवों की शोभा से सम्पन्न हैं ॥ १ ॥ सुन्दर चँवर, व्यजन, छत्र और बहुत-से मणिगण तथा मुक्ता की मालाओं की लड़ियों की ज्योति जगमगा रही है; मानो अपने स्वामी को हृदय से पहचान कर चन्द्रमा

के साथ हंस, तारे और मोर मिलने आये हैं ॥२॥ श्रीरामजी के शिर पर सुंदर मुकुट है, श्रेष्ठ ललाट पर तिलक और भौंहें शोभायमान हैं तथा घुँघराले केशों के पास कुण्डलों में परम शोभा प्राप्त है; मानो कामदेव की ध्वजा के मकर (मीन) श्रीशिवजी के डर से (श्रीरामजी को स्वामी जान कर) प्रभु के कानों से लग कर (श्रीशिवजी के साथ) अपने मेल-मिलाप (करा देने) की बात-चीत कर रहे हैं ॥३॥ लाल कमल दल के समान श्रीरामजी के नेत्र करुणा के स्थान ही हैं, उनका मुख परमशोभा का स्थान और उनका हास तो तीनों तापों का हनन करनेवाला है। वे हाथों में भाँति-भाँति के कङ्कन, हृदय में हार और गजमुक्ताओं की माला धारण किये हुए हैं; मानों दो बगुलों की पंक्तियाँ मिल कर मेघ के पास को जा रही हों ॥४॥ वे निर्मल पीताम्बर धारण किये हुए हैं; मानो मरकत मणि के पहाड़ पर अगणित बिजलियाँ अपना चंचल स्वभाव छोड़ कर छा रही हों। उनके धनुष और बाण मनोहर हैं तथा मोटी भुजाओं में अतुलित बल है। मनुष्य का-सा शरीर है, उससे वे दैत्य रूप वन को भस्म करनेवाले तथा पृथिवी के भूषण हैं ॥५॥ जिनके गुण और रूप निर्गुण अथवा सगुण में नहीं कहे गये। श्रीशिवजी, सनकादि और शुकदेवजी आदि ने उनकी भक्ति ही को दृढ़ करके ग्रहण किया है। उन श्रीरामजी के चरण कमलों में यह तुलसीदास सदा मन, वचन और कर्म से नित्य प्रीति ही का निर्वाह करना चाहता है ॥६॥

विशेष—'आजु रघुबीर छबि सुभग '—यहाँ राज्य-सिंहासन पर बैठने की शोभा कहते हैं, परन्तु वह कही नहीं जा सकती; यथा—"सिंघासन पर त्रिभुवन साँई। देखि सुरन्ह दुंदुभी बजाई ॥····वह सोभा समाज सुख कहत न बनइ खगेस। बरनहिं सारद सेष श्रुति सो रस जान महेस ॥" (मा० उ० ११-१२)। 'भुवन-अभिराम'; यथा—"सर्वाभिरामं।··· नौमि रामं" (वि० ५३); "करतल बान धनुष अति सोहा। देखत रूप चराचर मोहा ॥" (मा० बा० २०३)।

'चारु चामर मनहुँ राकेस '—उत्प्रेक्षा करते हैं—यहाँ छत्र शरद पूर्णिमा के समान प्रकाशमान् एवं लोगों को आह्लादकर है। चँवर हंस रूप हैं, हंस श्वेत होता है, वैसा ही रंग एवं आकृति का चँवर भी है। विपुल मणिगण

तारागण के समान कान्ति से जगमगा रहे हैं और व्यजन (मयूर पक्ष का है, इससे वह) मयूर है, वह मयूर के नाचने के समान चलाया भी जाता है।

यहाँ कोई परिकर छत्र लिये हुए हैं, उसकी झालरि के रूप में चारो ओर मणिगण लगे हुए हैं और मुक्तामाल की लड़ें भी लगी हुई हैं, ये ही प्रकाशित चन्द्रमा के साथ चारो ओर से घेरे हुए तारागणों के समान दीखते हैं। कोई परिकर हंसवत् चँवर और कोई मयूरवत् व्यजन चला रहे हैं; तथा—"भरतादि अनुज बिभीषनांगद हनुमदादि समेत ते। गहे छत्र चामर व्यजन धनु असि चर्म सक्ति बिराजते॥" (मा० उ० ११); अर्थात् श्रीभरतजी छत्र, श्रीलक्ष्मणजी चँवर और श्रीशत्रुघ्नजी व्यजन लिये हुए हैं। चन्द्रमा, तारागण एवं हंसों तथा मयूरों के स्वामी श्रीरामजी ही हैं, ऐसा जान कर मानों ये सब स्वामी की सेवा में आ-आकर लगे हैं, ऐसा जान पड़ता है।

'मुकुट सुंदर सिरसि''मनहुँ हर डर'''—यहाँ कुटिल कच के पास वाले कुण्डलों की परम आभा पर उत्प्रेक्षा करते हैं—

कामदेव की ध्वजा पर मकर का निवास है, वही यहाँ दो मकराकृत कुण्डल के रूप में हैं। कामदेव के ध्वजा पर रहता है, इससे अवश्य ही परम आभा युक्त है। कुंडल श्रीरामजी के कान में हैं, यही उनका कान में लग कर बात करना सूचित करता है। शिवजी ने कामदेव को जला दिया है, इसीसे वे कामारि कहे जाते हैं। शिवजी के स्वामी श्रीरामजी हैं; यथा--"रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायउ माथ।" (मा०बा०११६)। अतः, श्रीरामजी चाहेंगे तो शिवजी से कामदेव का मेल करा देंगे, ऐसा विचार कर मानों कामदेव के मकर श्रीरामजी से कान में लग कर मेल की बात चीत कर रहे हैं।

'अरुन-राजीव-दल-नयन''' बिबिध कंकन'''; यथा—"रघुपति राजीव नयन'''करुनारस अयन''''" (पद ३); "बदन सुखमासदन'; यथा—"मुख छबि कहि न जाइ मोहिं पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥" (मा० बा० २३२)। 'हास त्रयत्रापहीं'; यथा—"मृदु हास भव-भानिनी" (पद ५)—इसका विशेष देखिये।

'उरसि गजमनि माल'—इसकी उत्प्रेक्षा करते हैं—गले से लटकी हुई गजमुक्ता की माला बगुलों की दो पंक्तियों के समान हैं और प्रभु का श्याम

शरीर श्याम मेघ है। नाभी से गले तक हृदय में माला की दोनों पंक्तियाँ हैं, यही उनका मेघ के पास मिलकर जाना है।

'पीत निरमल चैल···'—निर्मल पीताम्बर कान्तियुक्त है, वही पृथुल दामिनी है, वह मरकत शैल रूप शरीर पर स्थिर रूप से है, यही बिजली का अपना सहज स्वभाव (चांचल्य) छोड़कर रह जाना है।

'ललित सायक चाप···'–आपके धनुष-बाण श्रृंगार रूप भी हैं, भुजाओं में अतुल बल है, इसीसे इन्हीं धनुर्बाणों से मनुष्य-शरीर से भी दैत्यों का नाश करते हैं, इन्हीं कर्मों से आप पृथिवी के भूषण हुए। दुष्टों का नाश कर धर्म-संस्थापन से पृथिवी की शोभा बढ़ी, यही आपका इसका भूषण होना है; तथा—"आजानु भुज सरचाप धर संग्रामजित खरदूषनम्॥" (वि० ४५)।

'जासु गुन रूप···'—जिनके गुण एवं रूप देखकर कोई उन्हें निर्गुण नहीं कह सकता और गुण एवं रूप देखते हुए भी कोई उन्हें सगुण नहीं कह सकता; यथा-"सो नयन गोचर जासु गुन नित नेति कहि श्रुति गावहीं।" (मा० कि० ९); "राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धि पर। अविगत अकथ अपार नेति-नेति नित निगम कह॥" (मा० अ० १२६)।

आप सगुण और निर्गुण दोनों ही हैं, पर कहने में नहीं बनता; यथा—"जय सगुन-निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने।" (मा० उ० १२)। "मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥" (गीता ९।४); अर्थात् मुझ अव्यक्तमूर्ति से यह सारा जगत् व्याप्त है। सारे भूत मुझमें स्थित हैं और मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। इस वाक्य में 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' इसमें सगुणत्व है और 'न चाहं तेष्ववस्थितः' इसमें निर्गुणत्व है। सर्वजगत् का आधार होना सगुणत्व और उससे निर्लिप्त रहना निर्गुणत्व है।

सारे जगत् को शरीर रूप में रखकर गुण प्रेरकता से सबके आधार हैं, तब सगुण कहे जा सकते थे, पर आप निर्लिप्त हैं, इससे गुणाधार नहीं हैं। तथा निर्लिप्त हैं, इससे निर्गुण कहे जा सकते हैं, परन्तु प्रत्यक्ष सबके आधार हैं, गुण से प्रेरक हैं, इससे निर्गुण भी कैसे कहा जाय?

शंभु सनकादि शुक ने निश्चित कर लिया कि प्रभु चराचर जगत् में व्यापक होकर अन्योन्य संयोग से उनके कर्मों को हेतु बना सबका सब रूपों से पालन-

पोषण करते हैं, फिर उन्हें इन प्राणियों से कोई स्वार्थ नहीं है, निर्लिप्त हैं। निर्हेतुकी कृपा से ही सारे जगत् के आधार हैं। अतः नाना रूपों से निस्स्वार्थ उपकारी प्रभु का भजन करें; यथा—"जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा ॥ सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँधि बर डोरी ॥ समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं ॥ अस सज्जन मम उर बस···" (मा० सुं० ४७); "आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥" (भाग० १।७।१०); अर्थात् आत्माराम और जीवन्मुक्त मुनि जन होते हैं, वे भी श्रीहरि की भक्ति अहैतुकी किया करते हैं; क्योंकि श्रीहरि में गुण ही ऐसे हैं। तथा—"सुक सनकादि मुक्त बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ ॥" (वि० ८६); "सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई ॥" (मा० लं० २१)। हरि भक्ति से यहाँ सुखी रहकर अंत में हरि प्राप्ति होने से जीव भव से सदा के लिये छूट जाता है; यथा—"मद्भक्ता यान्ति मामपि" (गीता ७।२३); "मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥" (गीता ८।१६); इसलिये—

'दास तुलसी राम चरन '—मन, वचन और कर्म से यदि प्रीति सदा निबह जाय तो उपर्युक्त प्रमाणों से श्रीरामजी को पाकर हम सदा के लिये भव से छूट जायँ और आनन्दमय प्रभु के अंग हो जायँ।

इस पद के २,३,४,५ इन चरणों में 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षालङ्कार' हैं और 'अरुन-राजीव दल नयन' इसमें 'रूपकालङ्कार' है।

[७]

राम राज-राजमौलि मुनिवर-मन-हरन, सरन-
लायक, सुखदायक रघुनायक देखो, री।
लोक-लोचनाभिराम, नीलमनि - तमाल-स्याम,
रूप-सील-धाम, अंग छबि अनंग को री ॥१॥
भ्राजत सिर मुकुट पुरट-निरमित मनि-रचित चारु,
कुंचित कच रुचिर परम, सोभा नहिं थोरी।
मनहुँ चंचरीक-पुंज कंज-बृंद प्रीति लागि,
गुंजत कल गान तान दिनमनि रिझयो, री ॥२॥

अरुन कंज-दल बिसाल लोचन, भ्रू-तिलक भाल,
मंडित श्रुति कुंडल बर सुंदर तर जोरी।
मनहुँ संबरारि मारि, ललित मकर-जुग बिचारि,
दीन्हें ससि कहँ पुरारि, भ्राजत दुहुँ ओरी ॥३॥
सुंदर नासा-कपोल, चिबुक, अधर अरुन, बोल
मधुर, दसन राजत जब चितवत मुखमोरी।
कंज-कोस भीतर जनु कंजराग-सिखर-निकर,
रुचिर रचित बिधि बिचित्र तड़ित-रंग बोरी ॥४॥
कंबु कंठ, उर बिसाल तुलसिका नवीन माल,
मधुकर बर-बास-बिबस, उपमा सुनु सो, री !।
जनु कलिंदजात नील सैल तें धँसी समीप,
कंद-बृंद बरषत छबि मधुर घोरि घोरी ॥५॥
निरमल अति पीत चैल, दामिनि जनु जलद नील
राखी निज सोभा-हित बिपुल बिधि निहोरी।
नयनन्हि को फल बिसेष ब्रह्म अगुन सगुन बेष,
निरखहु तजि पलक, सुफल जीवन लेखो, री ॥६॥
सुंदर सीता समेत सोभित करुनानिकेत,
सेवक सुख देत, लेत चितवत चित चोरी।
बरनत यह अमित रूप थकित निगम-नागभूप,
तुलसिदास छबि बिलोकि सारद भइ भोरी ॥७॥

अर्थ—अरी सखियो ! मुनीश्वरों के मनों का हरण करनेवाले, शरण्य होने के योग्य, सुख देने वाले राजाओं के राज-शिरोमणि रघुकुल श्रेष्ठ श्रीरामजी को देखो। ये सम्पूर्ण लोकों के नेत्रों को सुख देने वाले, नीलमणि और तमाल वृक्ष के समान श्यामवर्ण एवं रूप तथा शील के स्थान हैं। इनके अंगों में करोड़ों कामदेवों की छबि है ॥१॥ इनके शरीर पर सोने का बनाया हुआ मणि जटित सुन्दर मुकुट सुशोभित है, घुघुराले केश परम मनोहर हैं, उनकी शोभा कुछ कम नहीं है; मानो (मुख और नेत्र रूप) कमल समूह की प्रसन्नता के लिये गूँजते हुए भ्रमर समूह ने अपने सुन्दर गान-तान से (मुकुट रूप) सूर्य को रिझा लिया

हो ॥२॥ लाल कमल दल के समान इनके विशाल नेत्र और ललाट पर तिलक तथा भौंहें शोभायमान् हैं एवं अत्यन्त सुन्दर श्रेष्ठ कुण्डलों की जोड़ी से श्रवण भूषित हैं; मानो त्रिपुरारि श्रीशिवजी ने शम्बरासुर के शत्रु कामदेव को मार कर और उसकी ध्वजा के दोनों मकरों को मनोहर विचार कर चन्द्रमा को दिया हो और वे ही दोनों ओर शोभायमान् हो रहे हों ॥३॥ इनकी नासिका, कपोल और लाल ओठ तथा ठोढ़ी सुन्दर हैं, बोल मधुर है। जब मुख मोड़ कर देखते हैं तब उनके दाँत ऐसे सुशोभित होते हैं; मानों कमल कोश के भीतर विधाता के द्वारा बिजली के रंग में डुबा कर विचित्र एवं मनोहर रचे हुए पद्मराग मणि के शिखर समूह हों ॥४॥ इनका शंख के समान (सुडौल चढ़ा-उतार) कंठ है तथा विशाल वक्षःस्थल पर जो नवीन तुलसी की माला है, उस पर श्रेष्ठ सुगन्ध के विशेष वश होकर जो भ्रमर गुंजार कर रहें हैं। अरी ! उनकी उपमा तो सुन; मानो किसी नीले पहाड़ से गिरी हुई यमुनाजी के समीप मेघ समूह मधुर गर्ज-गर्ज कर छवि की वर्षा कर रहे हों ॥५॥ इनके श्याम शरीर पर निर्मल अत्यन्त पीला वस्त्र (पीताम्बर) सुशोभित है; मानो नीले मेघ ने अपनी शोभा बढ़ने के लिये बहुत भाँति से निहोरा करके बिजली को रख लिया हो। अरी ! यह निर्गुण ब्रह्म सगुण वेष में प्रकट हुआ नेत्रों का विशेष लाभ है। अतः तुम पलक मारना छोड़ कर इसे देखो और इसी में अपने जीवन को सफल समझो ॥६॥ सुंदरी श्रीसीताजी के साथ करुणा के स्थान श्रीरामजी सुशोभित हैं। अपने सेवकों को सुख देते हुए उनकी ओर देखते ही उनके चित्तों को चुरा लेते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इस अपरिमित रूप का वर्णन करते हुए वेद और शेष भी थकित हो गये तथा इस छबि को देख कर शारदा भी भोरी हो गई (तब वह वर्णन क्या करेगी ?) ॥७॥

विशेष—'राम राज-राजमौलि'; यथा—"जयति राज राजेन्द्र राजीव लोचन राम···" (वि० ४४); 'मुनिवर मन हरन'; यथा—"जावक जुत पद कमल सुहाए। मुनि मन मधुप रहत जिन्ह छाए॥" (मा० बा० ३२६)। श्रीरामचरितमानस बा० २०६ तथा २६८ में श्रीविश्वामित्र तथा श्रीपरशुराम के मन का हरण करना चरितार्थ भी है। 'सरन लायक···'; यथा—"नाहिन और कोउ सरन लायक दूजो श्रीरघुपति सम बिपति-निवारन।" तथा—"भजिबे

लायक, सुखदायक रघुनायक सरिस सरन प्रद दूजो नाहिन।" (वि० २०६-२०७)।

'लोक-लोचनाभिराम...'; यथा—"भुवन-अभिराम" (पद ६); तथा—"लोक-लोचन सुखदाई" (पद ३)—इनके विशेष देखिये।

'नीलमनि तमाल स्याम...'; यथा—"नील सरोरुह नीलमनि नील नीरधर स्याम।" (मा० बा० १४६); "तरुन तमाल बरन तन सोहा। देखत कोटि मदन मन मोहा॥" (मा० अ० ११४); नीलमणि के समान स्याम, चिक्कन एवं कान्तियुक्त तथा तमाल सम पुष्ट हैं। यहाँ 'वाचक लुप्तोपमालंकार' है।

'रूप-सील-धाम...'; यथा—"राम लखन दोउ बंधु बर रूप सील बल धाम।" (मा० बा० २१६); "अंग-अंग पर बारिअहिं कोटि-कोटि सत काम" (मा० बा० २२०)। यहाँ 'चतुर्थ प्रतीप अलंकार' है।

'भ्राजत सिर मुकुट...मनहुँ चंचरीक...'—उत्प्रेक्षा में यहाँ कुंचित कच भ्रमर समूह, मुख और दोनों नेत्र कमलों के समूह, मुकुट सूर्य तथा भ्रमरों का गुञ्जार करना कल गान-तान से रिझाना है। मुकुट में सोने और मणियों की कान्ति है, इसमे सूर्यवत् प्रकाशित है: यथा—"भानुकोटिप्रतीकाशं किरीटेन विराजितम्।" (रामस्तवराज १४); "कच बिलोकि अलि अवलि लजाहीं।" (मा० बा० २४२)। सूर्य चल हैं, इसलिये इन्हें भ्रमरों ने गान-तान से रिझा कर स्थिर कर रक्खा है। भ्रमर कमलों के स्नेही होते हैं, इसलिये उनके हित सूर्य को रिझा रक्खा है।

'अरुन कंज-दल-बिसाल लोचन'—इसमें 'रूपकालङ्कार' है।

'मंडित श्रुति कुंडल...मनहुँ सँबरारि मारि...'—उत्प्रेक्षा में यहाँ कामदेव की ध्वजा के दोनों मकर दोनों कुण्डल हैं, चन्द्रमा श्रीरामजी का मुख है। शिवजी ने विचार कर इन मीनों को चन्द्रमा को दे उसकी दोनों ओर को भूषित किया है; क्योंकि चन्द्रमा शिवजी के आश्रित है। अतः, उसकी शोभा बढ़ाना उन्हें योग्य ही है।

'सुंदर नासा कपोल...'—इन सब को सुन्दर तथा बोल को मधुर कहा है। और 'दसन राजत ' इसकी ही उत्प्रेक्षा की है कि जब मुख मोड़ कर देखते और मधुर वचन बोलते हैं, तब दाँतों की शोभा ऐसी दिखती है मानो यहाँ मुख कमल-कोश है, उसके भीतर मसकुरों के साथ दाँत ही बिजली के

रंग में डुबो कर विधाता के रचे हुए पद्मराग मणि के शिखर-समूह हैं। दाँतों की झलक बिजली के रंग के समान है।

'कंबु कंठ…जनु कलिंदजात…'—यहाँ श्याम तुलसी की माला यमुनाजी हैं, श्रीरामजी का शरीर नील पर्वत है, 'कंबु कंठ' और 'उर बिसाल' होकर माला नीचे को लटकती है, यही यमुनाजी का नीचे का धँसना है। उस माला के समीप जो भ्रमरों की भीड़ है, वही मेघ है, भ्रमर माला से पुष्प रस लेकर उड़ते हैं, तब मुख से रस टपकता है, यही वर्षा का होना है, भ्रमरों का गुञ्जार करना मेघों का गरजना है। पुष्प रस बरसने को छबि वर्षा कहा है, क्योंकि इस उत्प्रेक्षा में छवि की वर्षा हो रही है।

'निरमल अति पीत चैल…'—श्याम शरीर पर पीताम्बर ओढ़े हुए हैं, उसकी उत्प्रेक्षा करते हैं कि श्याम शरीर नीला मेघ है और निर्मल पीताम्बर बिजली है। बिजली स्थिर नहीं रहती और पीताम्बर स्थिर है, इस पर कहा गया है कि बहुत भाँति से निहोरा करके नील मेघ ने बिजली को अपनी शोभा स्थिर रखने के लिये मानों रक्खा है। इसमें 'रूपकालंकार से पुष्ट उत्प्रेक्षा' है तथा 'नील जलद' में 'रूपकातिशयोक्ति' भी है इससे तीन अलङ्कारों का संकर है। इस पद के २, ३, ४, ५ और ६ वें चरणों में 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षालङ्कार' हैं।

'नयनन्हि को फल बिसेष…'—ब्रह्म की स्वाभाविक स्थिति निर्लिप्त है, वही उसमें निर्गुणत्व है। जब भक्त उससे उपासना करके सगुणत्व का अनुरोध करते हैं, तब वह वैसे ही रूप से प्रकट हो भक्त भावानुसार वर्त्तता है, इसमें उसकी शोभा होती है। जैसे मनु-शतरूपा की आराधना से आप इनके पुत्र हुए और शोभा पा रहे हैं; यथा—"अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमबस सगुन सो होई॥" (मा० बा० ११५); "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥" (गीता ४।११); "फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भए जैसा॥" (मा० कि० १६)। इनका दर्शन ही जीवन-सफलता है; यथा—"राम चरन बारिज जब देखउँ। तब निज जन्म सफल करि लेखउँ॥" (मा० उ० १०९)।

'सुंदर सीता समेत…'—प्रभु करुणा के स्थान हैं, पर श्रीसीताजी के—

साथ उनकी अधिक कृपामयी प्रकृति से प्रभावित हो आप अधिक करुण-स्वभाव रहते हैं, इससे उनके साथ सोहते हैं, ऐसा कहा गया है। सेवकों के चित्त को चुरा कर उन्हें अपनी सेवा में लगा अधिक सुख देते हैं, इससे भी अधिक सोहते हैं।

'अमित रूप···'; यथा—"रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा। सो जानइ सपनेहु जेहि देखा॥" (मा० बा० १९८); "राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धि पर। अविगत अकथ अपार, नेति-नेति नित निगम कह॥" (मा०अ० १२६); इसी से वेद नेति-नेति कहता है और शेषजी भी थकित हो जाते हैं। शारदा सभी की वाणी की अधिष्ठात्रि है, जब वही भोरी हो जाती है, तब और कोई कैसे कहेगा ? तथा—"देखि मनोहर चारिउ जोरी। सारद उपमा सकल ढँढोरी॥ देत न बनइ निपट लघु लागी। यक टक रही रूप अनुरागी॥" (मा० बा० ३४८)।

राग केदारा

[८]

सखि ! रघुनाथ-रूप निहारु।
सरद - बिधु रबि - सुवन मनसिज-मान-भंजनिहारु॥१॥
स्याम सुभग सरीर जन - मन - काम - पूरनिहारु।
चारु चंदन मनहुँ मरकत - सिखर लसत निहारु॥२॥
रुचिर उर उपवीत राजत, पदिक गजमनि - हारु।
मनहुँ सुरधनु नखत गन बिच तिमिर - गंजनिहारु॥३॥
बिमल पीत दुकूल दामिनि - दुति - बिनिंदनिहारु।
बदन सुखमा - सदन सोभित मदन - मोहनिहारु॥४॥
सकल अंग अनूप, नहिं कोउ सुकबि बरननिहारु।
दासतुलसी निरखतहि सुख लहत निरखनिहारु॥५॥

शब्दार्थ—रबि सुवन = अश्विनी कुमार। निहारु (निहार) == कुहरा, हिम, बर्फ।

अर्थ—हे सखि ! शरद् ऋतु के चन्द्रमा, अश्विनी कुमार और कामदेव का रूपाभिमान नष्ट करनेवाला श्रीरघुनाथजी का रूप देखो॥१॥ आपका सुन्दर

श्याम शरीर भक्तों के मन की कामनाओं का पूर्ण करनेवाला है, उस पर जो चन्दन का लेप है, वह मानो मरकतमणि के शिखर पर पाला (बर्फ) सुशोभित हो ॥२॥ मनोहर वक्षःस्थल पर यज्ञोपवीत, पदिक और गजमुक्ताओं का हार सुशोभित है वह मानो इन्द्रधनुष और तारागण के बीच में सूर्य विराजमान हो ॥३॥ उनका निर्मल पीले रंग का उपरना बिजली की द्युति का विशेष तिरस्कार करनेवाला है और परमाशोभा का स्थान कामदेव को भी मोहित करनेवाला मुख सुशोभित है ॥४॥ आपके सभी अंग अनुपम हैं, उनका वर्णन कर सकने वाला कोई भी सुकवि नहीं है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उसे देखने वाले देखते ही सुख पाते हैं ॥५॥

विशेष—'सरद बिधु रबिसुवन···'; यथा—"ए कौन··किधौ रविसुवन" (बा० ६५); "अंग-अंग पर वारिअहि कोटि कोटि सत काम ॥" (मा० बा० २२०); "निकसे जनु जुग बिमल बिधु, जलद पटल बिलगाइ ॥" (मा० बा० २३२); "इमौ कुमारौ···अश्विनाविव रूपेण··" (वाल्मी० १।४८।२); "राम रूप राकेस निहारी।" (मा० बा० २६१)। यहाँ उपमेय से उपमानों का तिरस्कार होने से 'प्रतीप-अलङ्कार का द्वितीय भेद' है। आगे चतुर्थ चरण में भी यही अलङ्कार है।

'स्याम सुभग सरीर'···; यथा—"देव देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ ॥ जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समनि सब सोच। माँगत अभिमत पाव जग, राउ रंक भल पोच ॥" (मा० अ० २६७); "सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू।" (मा० बा० १४५)।

'चारु चंदन'; यथा-"तनु अनुहरत सुचंदन खोरी ॥" (मा०बा०२१८)।

'मनहुँ मरकत-सिखर '—यहाँ 'मरकत-सिखर' 'स्याम सुभग सरीर' है और 'चारु चंदन' 'निहारु' है। 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षालंकार' है आगे तीसरे चरण में भी यही अलंकार है।

'रुचिर उर मनहुँ सुरधनु···'—यहाँ श्याम वर्ण वक्षःस्थल पर पीत रंग का यज्ञोपवीत है; यथा—"पीत जनेउ महाछबि देई।" (मा०बा० ३२६); श्याम और पीत रंग के संयोग में हरा हो जाता है। अतः यज्ञोपवीत को कुछ पीत एवं हरित दीप्तियुक्त देखते हुए इन्द्र धनुष कहा है। वह इन्द्रधनुष की

भाँति कुछ टेढ़ी रीति से श्याम शरीर रूप श्याम वर्ण आकाश में है भी। गज मुक्ता का हार तारा गण और जड़ाऊ पदिक मध्य में सूर्यवत् प्रदीप्त है।

'बिमल पीत दुकूल…'; यथा—"पीत पुनीत मनोहर धोती। हरति बालरबि दामिनि जोती॥" (मा० बा० ३२६)।

'बदन सुखमा सदन…'; यथा—"मुख छबि कहि न जाइ मोहिं पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥" (मा० बा० २३२); "देखो राघव-बदन बिराजत चारु।…भयो मोहित मारु॥" (पद १०)।

'सकल अंग अनूप…'; यथा—"नख सिख ते सब अंग अनूपा॥ मन भावहिं मुख बरनि न जाहीं। उपमा कहँ त्रिभुवन कोउ नाहीं॥" (मा० बा० ३१०); तथा—"रूप बरनि न सकत नारद-संभु, सारद-सेषु।" (पद ९); "निगम, सेष, सारद, सुक, संकर बरनत रूष न पावत पारु।" (पद १०); एवं—"बरनत बह अमित रूप…" (पद ७)—देखिये।

'निरखतहि सुख…'; यथा—"श्रीरघुनाथ रूप उर आवा। परमानंद अमित सुख पावा॥" (मा० बा० ११०)।

[९]

सखि ! रघुबीर-मुख छबि देखु।
चित्त-भीति सुप्रीति-रंग सुरूपता अवरेखु ॥१॥
नयन-सुखमा निरखि नागरि ! सुफल जीवन लेखु।
मनहुँ बिधि जुग जलज बिरचे ससि सुपूरन मेखु ॥२॥
भृकुटि भाल बिसाल राजत रुचिर कुंकुम-रेखु।
भ्रमर द्वै रबि-किरनि ल्याये करन जनु उनमेखु ॥३॥
सुमुखि ! केस सुदेस सुंदर सुमन-संजुत पेखु।
मनहुँ उडुगन बाहु आए मिलन तम तजि द्वेषु ॥४॥
स्रवन कुंडल मनहुँ गुरु-कबि करत बाद बिसेषु।
नासिका, द्विज, अधर जनु रह्यो मदन करि बहु बेषु ॥५॥
रूप बरनि न सकत नारद-संभु, सारद-सेषु।
कहै तुलसी दास क्यों मतिमंद सकल नरेषु ॥६॥

शब्दार्थ—अवरेखु=लिख ले, चित्रित कर ले। ससि सुपूरन मेखु=शरद

पूर्णिमा का चन्द्रमा जो मेष राशि में होता है। उनमेख (उन्मेष)=फूल खिलाने के लिये। नरेषु—मनुष्यों में।

अर्थ—अरी सखि ! तू श्रीरघुनाथजी के मुख की छबि देख और इनकी सुन्दरता को अपने चित्त रूप भित्ति पर सुन्दर प्रीति रूप रंग से चित्रित कर ले ॥१॥ अरी नागरि ! इनके नेत्रों की परमशोभा देख कर अपने जीवन को सुफल बिचार, ये ऐसे जान पड़ते हैं मानो विधाता ने मेष राशि वाले शरत्-पूर्णिमा के चन्द्रमा में दो कमल बना दिये हों ॥२॥ इनके विशाल ललाट पर भौहें और मनोहर कुंकुम की रेखाएँ (तिलक) बिराजती हैं; मानो (उन नेत्र रूप कमलों को) प्रफुल्लित करने के लिये भ्रमर गण दो सूर्य-किरण लाये हों ॥३॥ अरी सुमुखि ! इनके सुन्दर शिर प्रदेश पर सुन्दर फूलों के साथ इनका केश देख; मानो केश रूप अन्धकार (मुख रूप चन्द्रमा से) मिलने के लिये द्वेष छोड़ कर पुष्प रूप तारागण के बाहु (बाहु-बल का आश्रय) बना कर आये हों ॥४॥ इनके कानों के दोनों कुण्डल (कुछ हिलते हुए) हैं, वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो बृहस्पति और शुक्राचार्य किसी विशेष पर वाद-विवाद कर रहे हों। इनकी नासिका, दाँत और ओष्ठ तो ऐसे जान पड़ते हैं मानो कामदेव ही बहुत वेष बना कर रह गया हो ॥५॥ श्रीनारदजी, श्रीशिवजी, श्रीशारदाजी और श्री-शेषजी भी इस रूप का वर्णन नहीं कर सकते; फिर समस्त मनुष्यों में अत्यन्त मन्दबुद्धि तुलसीदास इसे किस प्रकार कह सकता है ॥६॥

विशेष—'सखि ! रघुवीर मुख छबि देखु' श्रीरघुनाथजी के सभी अंगों में मुख छबि सर्वश्रेष्ठ है; यथा—"सोभा सींव सुभग दोउ बीरा।······मुख छबि कहि न जाइ मोहिं पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥" (मा०बा०२३२)।

'चित्त भीति···'; यथा—"परम प्रेममय मृदु मसि कीन्हीं। चारु चित्त भीती लिखि लीन्हीं॥" (मा० बा० २३४); यहाँ चित्त को भीति (भित्ति) कहा है। प्रायः नील वर्ण की भित्ति पर स्वर्ण वर्ण रूप (सुन्दर प्रीति रूप) रंग की चित्रकारी उत्तम होती है। चित्त की निष्पत्ति वायु और आकाश के साहाय्य में कही गई है; यथा—"वायोः सकाशाच्चित्तं च नभोऽशाच्चापि प्रवर्तते।" (जिज्ञासा पञ्चक, रसिकअलीकृत); इससे यहाँ भित्ति और रंग उपयुक्त हैं। 'सुरूपता' अर्थात् सुंदर रूप के भाव को, विना भूषण ही जो सर्वाङ्ग

सुडौल होने से भूषित के समान दीखे, वही सुरूपता है; यथा—"यथार्हसन्निविष्टानामङ्गानां रुचिरत्विषाम्। शोभोत्कर्षैकसन्दर्भः सौन्दर्यं सुरसत्तम॥" अर्थात् अङ्गों के सभी अवयव यथायोग्य हों; उनमें रुचिरता हो और शोभा के उत्कर्ष का संदर्भ हो, वह सौन्दर्य (सुंदरता एवं सुरूपता) गुण है। तथा—"रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम्। ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः॥ वैदेहीं लक्ष्मणं रामं नेत्रैरनिमिषैरिव। आश्चर्यभूतान्ददृशुः सर्वे ते वनवासिनः॥" (वाल्मी० ३।१।१३-१४); अर्थात् वनवासी मुनि आदि श्रीरामजी का सुडौल शरीर एवं उनकी सुन्दरता, सुकुमारता और सुबेषता देखकर विस्मित हो गये। वे सब वनवासी यकटक नेत्र से श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीजी की शोभा देख कर नितान्त विस्मित हुए (कि ये ऐसे सुकुमार हैं और वन में एवं ग्रीष्म ऋतु में फिर रहे हैं, फिर भी विवर्णता नहीं आई। अतः अवश्य कोई दिव्य शरीर हैं!)। इसी शोभा पर शत्रु होते हुए खरादि भी मुग्ध हो गये हैं, यही सुन्दरता का उत्कर्ष है।

'नयन सुखमा…'—यह सखी शृंगार रस की दृष्टि से छबि वर्णन करती है, इससे इसने मुख की व्यष्टि-छबि के वर्णन करने में नेत्र से वर्णन प्रारम्भ किया है।

'सुफल जीवन लेखु'; यथा—"नयननि को फल लेत निरखि खग मृग सुरभी ब्रजवधू अहीर।" (बा० ५४); तथा—"लोचननि को लेत फल…" (बा० ४१)—इनके विशेष देखिये।

'मनहुँ बिधि जुग…'—यहाँ मेष राशि का पूर्ण चन्द्रमा श्रीरामजी का मुख है। मेष राशि का पूर्ण चन्द्रमा अधिक निर्मल होता है और शरत्-पूर्णिमा को यह योग रहता है। राकाशशि न कह कर मेष राशि का कहने का भाव यह कि मेष ही की संक्रान्ति में श्रीरामजी का जन्म भी है। चन्द्रमा के साथ कमल कैसे विकसित रह सकता है? इस शंका पर आगे और उत्प्रेक्षा करते हैं।

'भृकुटि…भ्रमर द्वै…'—यहाँ दोनों भौंहें भ्रमर हैं और तिलक की दोनों कुंकुम-रेखाएँ दो रवि-किरण हैं। विशाल भाल पर स्थित भौंह रूप भ्रमरों ने मानों 'जुग-जलज' रूप नेत्र मुखचन्द्र देख कर सम्पुटित न हो जायँ इसलिये इन भ्रमरों ने रवि-किरण लाकर इन नेत्र कमलों को प्रफुल्लित रखने का सयोग

बना रक्खा है जिससे उन्हें नेत्र कमल की छबि रूप मकरंद पान करने को मिलता रहे। सूर्य-किरणों से कमल-प्रफुल्लित रहते ही हैं।

'केस सुदेस···मनहुँ उड़गन···'—यहाँ 'सुदेस' पद में मुखचन्द्र के उर्ध्व भाग का भाव है। ललाट के ऊपर से मुखचन्द्र की ओर झुके हुए चिकने काले एवं घुघुराले केश तम हैं, उनमें फूल गूँथे हुए हैं, वे ही नक्षत्रगण हैं। तम का चन्द्रमा से द्वेष था, इससे चन्द्रमा अपने उदय पर तम को दूर कर देता था, पर आज इन तम रूप केश समूह ने द्वेष छोड़कर मानो चन्द्रमा के सजातीय नक्षत्रों का आश्रय लेकर चन्द्रमा की शरणागति की है, मिलने आये हैं, जैसे विभीषणजी श्रीरामजी से मिलने आये थे।

'स्रवन कुंडल मनहुँ गुरु कवि···'—यहाँ दोनों कुंडल बृहस्पति और शुक्राचार्य के समान हैं; इनका हिलना वाद-विवाद करना है।

'नासिका, द्विज···'—कामदेव ही मानों नासिका आदि बहुत वेष में है। यहाँ प्रथम चरण में 'रूपक' और द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम चरण में 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' अलङ्कार हैं।

'रूप बरनि न सकत···'—उपर्युक्त पद ८ के 'सकल अंग अनूप····'—इसका विशेष देखिये।

'मतिमंद सकल नरेषु'—नारदजी देवर्षि हैं तथा शारदा, ये ऊपर विधि लोक के निवासी हैं। श्रीनारदजी अव्याहत गति से सर्वत्र विचरते हैं और शारदा भी सभी प्राणियों की वाणी की अधिष्ठात्रि है; यथा—"त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ तुम्ह, गति सर्वत्र तुम्हारि।" (मा० बा० ६)—यह हिमवान् ने नारदजी से कहा है; तथा—"चारिदस भुवन निहारि नर नारि सब, नारद को परदा न नारद सो पारिखो॥" (क० बा० १६); "बहु बेष बहु मुख सारदा कहति।" (वि० २४६)। शिवजी मर्त्यलोक-स्थित कैलास के निवासी त्रिभुवन गुरु हैं; यथा—"भवन कैलास, आसीन कासी।" (वि० १०); "तुम्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना।" (मा० बा० ११०); और शेषजी पातालवासी तथा सहस्र जीभवाले कवि एवं अद्वितीय वक्ता हैं। जब ये सब दिव्य वाणीवाले नहीं कह पाते तो मैं तो मनुष्यों में भी अधिक मतिमंद हूँ, फिर कैसे कह सकता हूँ?

राग जैतश्री

[१०]

देखो, राघव-बदन बिराजत चारु।
जात न बरनि, बिलोकत ही सुख, मुख किधौं छबि बर नारि सिंगारु ॥१॥
रुचिर चिबुक, रद-जोति अनूपम, अधर अरुन सित हास निहारु।
मनो ससिकर बस्यो चहत कमल महँ, प्रगटत, दुरत, न बनत बिचारु ॥२॥
नासिक सुभग मनहुँ सुक सुंदर, चितवत चकित अचरज अपारु।
कल कपोल, मृदुबोल मनोहर रीझि, चित चतुर, अपनपौ वारु ॥३॥
नयन सरोज, कुटिल कच, कुंडल, भृकुटि, सुभाल तिलक सोभा सारु।
मनहुँ केतु के मकर, चाप-सर गयो बिसारि भयो मोहित मारु ॥४॥
निगम, सेष, सारद, सुक, संकर बरनत रूप न पावत पारु।
तुलसिदास कहै, कहौ, धौं कौन बिधि अति लघुमति जड़ कूर गँवारु ॥५॥

अर्थ—देखो, श्रीरघुनाथजी का सुन्दर मुखमण्डल विशेष शोभायमान हो रहा है। इसका वर्णन नहीं किया जा सकता, देखने से ही आनन्द प्राप्त होता है। यह सुन्दर मुख है अथवा छवि रूप श्रेष्ठ स्त्री का शृङ्गार है? ॥१॥ ठोढ़ी सुन्दर है, दाँतों की ज्योति अनुपम है, इनके लाल-लाल ओठों में श्वेत हास की शोभा तो देखो, मानो चन्द्रमा की किरणें कमल में निवास करना चाहती हों; परन्तु इसका विचार निश्चित न होने के कारण वे बार-बार प्रकट होती एवं छिप जाती हों ॥२॥ इनकी सुन्दर नासिका मानो तोते की मनोहर चोंच है, यह अपार एवं आश्चर्य शोभा देखते ही चित्त चकित हो जाता है। इनके सुन्दर कपोल एवं मनोहर बोल पर रीझ कर, ऐ चतुर चित्त ! तू अपना आपा निछावर कर दे (इसी में तेरा चातुर्य है) ॥३॥ इनके नेत्र कमल के समान हैं, टेढ़े (घुघुराले) केश हैं, कानों में कुण्डल हैं, सुन्दर भौंहें हैं और सुन्दर ललाट पर शोभा की सार रूपा तिलक है; मानों इन्हें देखकर कामदेव मोहित हो गया हो और उसने अपनी ध्वजा के मकर एवं अपने पुष्प के धनुष और बाण भूल कर यहीं छोड़ गया हो ॥४॥ वेद, शेष, शारदा, शुकदेवजी और शङ्करजी इस रूप का वर्णन करते हुए पार नहीं पाते; फिर कहो तो भला यह अत्यन्त तुच्छ-बुद्धि, मूर्ख, क्रूर और गँवार तुलसीदास इसे किस प्रकार कह सकता है? ॥५॥

विशेष—'देखो'''जात न बरनि'''—देखते ही इतना सुख मिलता है कि मन मुग्ध हो जाता है, इससे इसका वर्णन नहीं किया जाता। फिर कुछ उत्प्रेक्षा द्वारा दिग्दर्शन कराते हैं कि यह मुख है कि'''। यहाँ 'उत्प्रेक्षा से पुष्ट सन्देहालङ्कार' है।

'रुचिर चिबुक'''मनो ससिकर'''—यहाँ 'सित हास' 'ससिकर' है और 'अरुन अधर' अरुण 'कमल' हैं। हँसी रूप चन्द्र किरणें लाल ओष्ठ रूप लाल कमलों में निवास करना चाहती हैं, पर विचार निश्चित नहीं होता; क्योंकि इनमें परस्पर विरोध है। शशि कर से कमल सम्पुटित हो जाते हैं। इससे शशिकर स्वयं सकुच कर निवास करने का विचार छोड़ छोड़ देते हैं। प्रभु का मुसुकाना ही शशिकर का प्रकट होना और मुसुकाना छोड़ देना उसका छिप जाना है। तथा—"हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥" (मा० बा० १९७); "बिधु कर निकर बिनिंदक हासा।" (मा० बा० १४६)।

'नासिक सुभग'''; यथा—"नासिका सुभग सुक आननी।" (पद ५)।

'मृदु बोल मनोहर'—बोलने के समय कपोल की भी छटा देखने में आती है, इससे साथ कहा है। तथा—"सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ कल आपुस में कछु पै कहिहैं।" (क० अ० २३); तथा—"भाई सों कहत बात कौसिकहि सकुचात, बोल घनघोर से बोलत थोर-थोर हैं।" (बा० ७१)।

'नयन सरोज'''मनहुँ केतु के'''—यहाँ कुण्डल कामदेव की ध्वजा के मकर, भौंहें धनुष और तिलक रेखाएँ उसके बाण हैं। इस पद के २, ३, ४ चरणों में 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षालङ्कार' हैं। उदाहरण; यथा—"नव अंबुज अंबक छबि नीकी।'''भृकुटि मनोज चाप छबि हारी।'''कुंडल मकर'''कुटिल केस जनु मधुप समाजा॥" (मा० बा० १४६); 'सुभाल-तिलक सोभासारु'; यथा—"तिलक रेख सोभा जनु चाकी।" (मा० बा० २१८); "तिलक रेख रुचि राजै। मनहुँ मदन तम तकि मरकत-धनु जुगल कनक सर साजै॥" (पद१२)

'निगम सेष'''—उपर्युक्त पद ७, ८ और ९ के अन्तिम चरण देखिये।

'अति लघुमति'''—अपना कार्पण्य है।

राग ललित

[११]

आजु रघुपति-मुख देखत लागत सुख,
सेवक सुरुख, सोभा सरद-ससि सिहाई।
दसन-बसन लाल, बिसद हास रसाल
मानो हिमकर-कर राखे राजीव मनाई ॥१॥
अरुन नयन बिसाल, ललित भृकुटि, भाल-
तिलक, चारु कपोल, चिबुक-नासा सुहाई।
बिथुरे कुटिल कच, मानहुँ मधु-लालच अलि,
नलिन - जुगल उपर रहे लोभाई ॥२॥
स्रवन सुंदर सम कुंडल कल जुगम,
तुलसिदास अनूप, उपमा कही न जाई।
मानो मरकत सीप सुन्दर ससि समीप,
कनक-मकरजुत बिधि बिरची बनाई ॥३॥

अर्थ—सेवकों पर अनुकूल रहनेवाले श्रीरघुनाथजी का मुख देखने से आज बड़े आनन्द का अनुभव होता है; इस मुख की शोभा देख कर शरदृऋतु का चन्द्रमा भी सिहाता है। इनके ओष्ठ लाल-लाल हैं और इनकी विशद हँसी बड़ी ही रसीली है; मानो हास रूप चन्द्रकिरणों को ओष्ठ रूप लाल कमलों ने मना कर रख लिया हो ॥१॥ इनके अरुण वर्ण के बड़े-बड़े नेत्र हैं, मनोहर भौंहें हैं, ललाट पर तिलक है, मनोहर कपोल और सुहावनी नासिका है तथा इनकी टेढ़ी अलकावली बिखरी हुई है; मानो मधु के लालच से दो कमलों के ऊपर भ्रमर लुभा कर रह गये हों ॥२॥ इनके एक समान और सुंदर कानों में मनोहर कुंडलों की जोड़ी है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यह शोभा अनुपम है, इससे कही नहीं जाती; मानो विधाता ने (मुख रूप) सुंदर चन्द्रमा के पास कुण्डल रूप सोने की मछलियों के साथ (कान रूप) मरकत मणि की सीपियों को विशेष रच कर बनाया हो ॥३॥

विशेष—'आजु···सेवक-सुरुख···'; यथा—"सब के प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती ॥" (मा० उ० १५); "अवतरेउ अपने

भगत हित निजतंत्र नित रघुकुल मनी।" (मा० बा० ५०)। 'सोभा सरद ससि सिहाई'; यथा—"सरदचंद-निंदक मुख नीके।" (मा० बा० २७२)।

यहाँ 'तृतीय प्रतीप-अलङ्कार' है।

'दसन-बसन लाल...मानो हिमकर-कर...'—यहाँ लाल-लाल ओष्ठ राजीव (लाल कमल) हैं और विशद रसीली हँसी चन्द्रमा की किरणें हैं। इन दोनों में विरोध है। चन्द्रकिरणों से लाल कमल सम्पुटित हो जाता है, इससे अपने विरोधी के यहाँ चन्द्र किरणें क्यों आने लगीं? इस विरोध को मिटाने के लिये लाल कमलों का चन्द्रकिरणों को मना कर (विरोध मिटा कर) रखना कहा गया है।

'अरुन नयन बिसाल...बिथुरे कुटिल कच...'—यहाँ 'बिथुरे कुटिल कच' भ्रमर हैं, ये छबि रूप 'मधु' के लालच से 'अरुन नयन बिसाल, रूप, 'नलिन-जुगल' पर लुभा रहे हैं, इतने ही अंगों पर उत्प्रेक्षा है।

'अरुन नयन बिसाल...नलिन-जुगल...'; यथा—"सुभग सोन सरसी-रुह लोचन।" (मा० बा० २१८); "तरुन अरुन राजीव-बिलोचन।" (पद १६); 'बिथुरे कुटिल कच...अलि...'; यथा—"कुटिल केस जनु मधुप समाजा।" (मा० बा० १४६); "कच बिलोकि अलि अवलि लजाहीं।" (मा०बा०२४२)।

इस पद के प्रथम चरण के उत्तरार्द्ध और द्वितीय चरण में 'उक्तविषयावस्तू-त्प्रेक्षालङ्कार' है।

'स्रवन सुंदर सम...मानो मरकत सीप...'—दोनों कान समान हैं, इससे सुहावने हैं; यथा—"बिकट भृकुटि सम स्रवन सुहाए।" (मा०उ०७६)। वैसे ही समान इनके कुण्डलों की जोड़ी है; यथा—"मंडित स्रुति कुंडल वर सुंदर तर जोरी।..." (पद ७); इनकी सुन्दरता उत्प्रेक्षा द्वारा कहते हैं—

यहाँ दोनों कान मरकतमणि की सीप हैं, मुख सुन्दर चन्द्रमा है और दोनों कुण्डल सोने की मछलियाँ हैं। इन्हें स्वाभाविक सृष्टि से भिन्न मानों ब्रह्मा ने नये रचकर बनाये हैं।

पहले कहा था—'अनूप, उपमा कही न जाई' परन्तु तुरत ही कहा है, इसका समाधान यह है कि जब प्राकृतिक उपमा नहीं मिली, तब न होनेवाली उपमानों की रचना करके कहा है। मरकत मणि की सीपें और सोने की मछ-

लियाँ नहीं होतीं तथा इनका निवास सुन्दर चन्द्रमा के पास तो होता ही नहीं अतएव यहाँ 'असिद्धास्पदहेतूत्प्रेक्षालंकार' है।

राग भैरव

[१२]

प्रातकाल रघुबीर-बदन-छबि चितै चतुर चित मेरे।
होहिं बिबेक-बिलोचन निरमल सुफल सुसीतल तेरे ॥१॥
भाल बिसाल बिकट भृकुटी बिच तिलक-रेख रुचि राजै।
मनहुँ मदन तम तकि मरकत-धनु जुगल कनक-सर साजै ॥२॥
रुचिर पलक लोचन जुग तारक स्याम अरुन सित कोए।
जनु अलि नलिन-कोस महँ बंधुक-सुमन सेज सजि सोए ॥३॥
बिलुलित ललित कपोलनि पर कच मेचक कुटिल सुहाए।
मनो बिधु महँ बनरुह बिलोकि अलि बिपुल सकौतुक आए ॥४॥
सोभित स्रवन कनक-कुंडल कल लंबित बिबि भुजमूले।
मनहुँ केकि तकि गहन चहत उरग इंदु प्रतिकूले ॥५॥
अधर अरुन तर, दसन-पाँति बर, मधुर मनोहर हासा।
मनहुँ सोन सरसिज महँ कुलिसनि तड़ित सहित कृत बासा ॥६॥
चारु चिबुक, सुक-तुंड-बिनिंदक सुभग सुउन्नत नासा।
तुलसिदास छबिधाम राम-मुख सुखद, समन भवत्रासा ॥७॥

अर्थ—ऐ मेरे प्रवीण चित्त ! तू प्रातःकाल होते ही श्रीरघुनाथजी के मुख की छबि देखा कर (ध्यान किया कर)। इससे तेरे विवेक रूप नेत्र निर्मल, सुफल और सुष्ठु शीतल हो जायँगे ॥१॥ इनके विशाल भाल और टेढ़ी भौंहों के बीच तिलक की रेखों की शोभा विराजमान है; मानो (मुख रूप) कामदेव ने (शिर के केश रूप) अन्धकार को देखकर (दोनों विकट भृकुटी रूप) मरकत मणि के धनुष पर (दोनों तिलक रेख रूप) दो सोने के बाण संधान किये हुए हों ॥२॥ (दोनों) सुन्दर पलक युक्त नेत्रों में दो श्याम रंग की पुतलियाँ और श्वेत तथा लाल रंग के कोये (कोने, आँख के कोने) हैं; मानों कमलकोशों में मुँदे दो भौंरे दुपहरिया के फूल की शय्या बनाकर उस पर शयन किये हों ॥३॥ मनोहर कपोलों पर काली और घुँघराली अलकें विलुलित

(विलोल=चञ्चल=लटकती हुई कुछ चलायमान) हैं, वे ऐसी शोभायमान हैं; मानो (मुख रूप) चन्द्रमा में (नेत्र रूप) कमल देखकर कौतुक सहित (आश्चर्य के साथ) बहुत-से भ्रमर आकर एकत्र हो गये हों ।।४।। इसके कानों में दोनों भुजाओं के मूल भाग (कन्धों) तक लटकते हुए सोने के कुण्डल सुशोभित हैं; मानो (मुख रूप) चन्द्रमा के विरुद्ध हुए (भुज रूप) दो सर्पों को देखकर (दो कुण्डल रूप) दो मोर पकड़ना चाहते हों ।।५।। ओष्ठ अत्यन्त लाल-लाल हैं तथा दाँतों की पंक्ति श्रेष्ठ हैं और उनकी हँसी मधुर एवं मनोहर है; मानो किसी सोने के कमल कोष में बिजली के साथ वज्रों ने निवास किया हो ।।६।। उनकी ठोढ़ी बड़ी सुन्दर है और तोते की चोंच की भी निन्दा करने वाली सुन्दर एवं उठी हुई नासिका है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इस प्रकार का शोभा धाम, सुखदाता एवं जन्म-मरण के भय का नाश करनेवाला श्रीरामजी का मुख है ।।७।।

विशेष—'प्रातकाल रघुबीर-बदन, छबि···होहिं बिबेक-बिलोचन···'— यहाँ अपने चित्त को चतुर कह कर बड़ाई दे प्रभु-सम्मुख कर रहे हैं, फिर इसे कर्त्तव्य की शिक्षा देते हैं कि जैसे श्लोक पञ्चक से प्रातः स्तुति की जाती है— उसमें श्रीरघुनाथजी के मुखारविंद, पदारविंद, करारविन्द और रघुनाथ मूर्त्ति एवं रघुनाथ नाम के गुण कहे गये हैं; वे श्लोक श्रीराम पटल आदि ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। वैसे ही यद्यपि इससे पहले के तीन पदों में भी मुख-दर्शन का ही वर्णन है तथापि यहाँ के इस पद से पद १६ वें तक क्रमशः मुख, बाहु, हस्त, चरण और रूप के गुण वर्णन के साथ प्रातः स्तवन हैं।

पहले चित्त को मुख छवि अवलोकन में लगाकर साथ ही लाभ भी कहते हैं—'होहिं···'। विवेक रूप नेत्र के पाप रूप मल दूर होंगे, निर्मलता आवेगी; यथा—"तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना।। जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा।।" (मा० सुं० ४६); विवेक नेत्र सुफल होंगे, सुन्दर फल प्राप्तिवाले होंगे; यथा—"निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी।।" (मा० उ० ७४); "होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भव-मोचन।।" (मा० अर० ६)। प्रभु के दर्शन से वाह्य नेत्र के साथ ही विवेक नेत्र भी वैसा ही

कृतार्थ होते हैं; यथा—"मम दरसन-फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा ॥" (मा० अर० ३५)।

तीनों तापों की शान्ति से विवेक रूप नेत्र में शीतलता भी आती है; यथा-"पाथोदगात सरोज मुख राजीव-आयत लोचनं। नित नौमि राम कृपाल बाहु बिसाल भव-भय-मोचनं ॥" (मा० अर० ३१)। इसमें शरीर, मुख, नेत्र और बाहु, सभी भव-भय-मोचन कहे गये हैं।

'भाल बिसाल…मनहुँ मदन तम तकि…'—यहाँ 'मदन' पद का उपमेय 'मुख' है किन्तु कहा नहीं गया ऊपर प्रसंग से लिया गया है। तथा-"मुख छबि कहि न जाइ मोहि पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं ॥" (मा० बा० २३२); "बदन सुखमा सदन सोभित मदन-मोहनिहारु।" (पद ८)। शिर के केश अन्धकार रूप हैं, भौंहें धनुष तथा तिलक रेखें सोने के बाण रूप हैं। उपर्युक्त पद १० में भी तिलक रेखें बाण रूप कही गई हैं।

'रुचिर पलक…जनु अलि…'—यहाँ 'रुचिर पलक लोचन' कमल कोष हैं पलकों से अच्छादित पुतलियों का रहना मुँदे हुए रहना है। नेत्र कोनों का श्वेतांश शय्या की पृष्ठभूमि है और उसका रक्तांश दुपहरिया के फूल की बिछी हुई शय्या है, उस पर दोनों पुतली रूप भ्रमर सोये हैं।

'बिलुलित…मनो बिधु महँ…'–यहाँ ललित कपोल युक्त मुख चन्द्रमा, नेत्र कमल पुष्प और 'कच मेचक कुटिल' भौरे हैं। 'सकौतुक'–चन्द्रमा के साथ कमल नहीं रह सकता; किन्तु यहाँ यह आश्चर्य घटना देखकर आश्चर्य से चकित भ्रमर समूह देखने आ गये हैं, ऐसा जान पड़ता है।

'सोभित स्रवन…मनहुँ केकि तकि…'—यहाँ दोनों कुण्डल मयूर हैं, ये मुख मंडल पर ही झूम रहे हैं, यही इनकी मुख रूप चन्द्रमा में अनुकूलता है। भुजाएँ दोनों मुख चन्द्र के सम्मुख नहीं हैं किन्तु पार्श्व भाग की ओर हैं और हथेलियाँ नीचे की ओर हैं, यही भुजा रूप दोनों सर्पों का मुखचन्द्र से प्रतिकूल रहना है; क्योंकि फण रूप हथेलियाँ नीचे की ओर हैं। मोर सांपों के शत्रु हैं, इन्हें खा जानेवाले हैं, फिर अपने अनुकूल मुखचन्द्र के प्रतिकूल सर्पों को क्यों न ग्रहण करें? अतः, उत्प्रेक्षा बहुत ही उपयुक्त है।

'अधर अरुनतर…मनहुँ सोन सरसिज…'—यहाँ 'अधर अरुनतर'

'सोन सरसिज' हैं, 'दसन-पाँति बर' कुलिश पंक्ति हैं और इनके द्वारा 'मधुर मनोहर हास' की चमक इनके साथ 'तड़ित सहित कृत बास' की भ्रान्ति है।

इस पद के उपर्युक्त चरण २,३,४,५,६ में 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षालङ्कार' हैं।

'सुक तुंड बिनिंदक...'; यथा-"नासिका सुभग सुक आननी" (पद ५); तथा—"नासिक सुभग मनहुँ सुक सुंदर" (पद १०)। यहाँ उपमेय नासिका उपमान शुकतुंड की विशेष निन्दा करनेवाली कही गई है, इससे 'चतुर्थ प्रतिपालङ्कार' है।

'छबिधाम राम मुख...'—ऊपर पद ६ से ही मुख छवि का वर्णन चला आता है, उसका तथा इस पद में भी उपक्रम में 'रघुबीर-बदन-छबि' कह कर जो वर्णन प्रारम्भ हुआ था, उसका उपसंहार यहाँ है कि इस प्रकार छबि धाम श्रीरामजी का मुख है। 'सुखद'; यथा-"आज रघुपति-मुख देखत लागत सुख" (पद ११); "बिलोकत ही सुख" (पद १०); तथा—"निरखतहि सुख..." (पद ८); इत्यादि। 'समन भव त्रासा'—इस मुख की छबि का दर्शन एवं ध्यान जन्म-मरण का छुड़ानेवाला है—'सरोज मुख...भव-भय-मोचनं' यह प्रमाण ऊपर प्रथम चरण में देखिये। मुख-छबि-वर्णन के उपसंहार पर यह कहा गया है। अतः, उपर्युक्त मुख-वर्णनवाले सभी पदों के साथ यह महत्त्व है।

राग केदारा

[१३]

सुमिरत श्रीरघुबीर की बाहैं।
होत सुगम भव-उदधि अगम अति, कोउ लाँघत, कोउ उतरत थाहैं ॥१॥
सुंदर-स्याम-सरीर-सैल तें धँसि जनु जुग जमुना अवगाहैं।
अमित अमल जब-बल परिपूरन, जनु जनमी सिंगार-सविता हैं ॥२॥
धारैं बान, कूल धनु, भूषन जलचर, भँवर सुभग सब घाहैं।
बिलसति बीचि बिजय-बिरुदावलि, कर-सरोज सोहत सुषमा हैं ॥३॥
सकल-भुवन-मंगल-मंदिर के द्वार बिसाल सुहाई साहैं।
जे पूजी कौसिक-मख रिषयनि, जनक, गनप, संकर, गिरिजा हैं ॥४॥
भव धनु दलि जानकी बिबाही, भये बिहाल नृपाल त्रपा हैं।
परसुपानि जिन्ह किये महामुनि, जे चितये कबहूँ न कृपा हैं ॥५॥

जातुधान-तिय जानि बियोगिनि दुखई सीय सुनाइ कुचाहैं।
जिन्ह रिपु मारि सुरारि-नारि तेइ सीस उघारि दिवाई धाहैं ॥६॥
दससुख-बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चनाहैं।
सुबस बसे गावत जिन्ह के जस अमर-नाग-नर-सुमुखि सनाहैं ॥७॥
जे भुज बेद-पुरान, सेष-सुक-सारद सहित सनेह सराहैं।
कलपलताहु कि कलपलताबर, कामदुहाहु कि कामदुहा हैं ॥८॥
सरनागत-आरत-प्रनतनि को दै-दै अभयपद ओर निबाहैं।
करि आईं, करि हैं, करतीं हैं तुलसिदास दासनि पर छाहैं ॥९॥

शब्दार्थ—घाहैं=दो अँगुलियों के बीच की घाई (संधि-स्थान); अंटी। साहैं=द्वार (चौखट) के ढाँचे की दोनों खड़ी लकड़ियाँ। त्रपा = लज्जा से। धाहैं दिवाई=धाड़ मार कर (जोर-जोर से चिल्ला कर) रूलाया। नाकों चने चबवाना या बिनवाना=खूब तंग करना, हैरान करना—ऐसा मुहावरा है।

अर्थ—श्रीरघुनाथजी की भुजाओं का स्मरण करते ही अत्यन्त दुर्गम भी संसार सागर सुगम हो जाता है, कोई तो उसे लाँघ जाते हैं और कोई थाह पाकर (पैदल चल कर) पार उतर जाते हैं ॥१॥ (ये दोनों बाहें) मानो सुन्दर श्याम शरीर रूप पहाड़ से दो अथाह यमुनाजी की धाराएँ नीचे को गिरी हुई हों और जो अपरिमित बल रूप निर्मल जल से परिपूर्ण हों एवं शृङ्गार रूप सूर्य से उत्पन्न हुई हों ॥२॥ (इस बाहु रूप यमुना में) बाण धाराएँ हैं, धनुष किनारा है, आभूषण (बाहु-भूषण) जलचर हैं और अँगुलियों के बीच के सब सन्धि-स्थान भँवर हैं। विजय की विरुदावली ही इसमें तरंग रूप से सुशोभित हो रही है और अपनी परम शोभा से शोभायमान करकमल ही कमल की परमा शोभा हैं ॥३॥ (ये भुजाएँ मानो) समस्त लोकों के मंगल रूप मन्दिर के द्वार की शोभायमान विशाल दो खड़ी हुई लकड़ियाँ (बाजू) हैं; जिनकी श्रीविश्वामित्र के यज्ञ में ऋषियों ने पूजा की है तथा श्रीजनकजी, श्रीगणेशजी, श्रीशिवजी और श्रीगिरिजाजी ने (अपनी-अपनी मंगल-कामना पूर्त्ति पर जिनकी पूजा की है, कृतज्ञता मानी है) ॥४॥ जिन भुजाओं ने शिवजी का धनुष तोड़ कर श्रीजानकीजी को व्याहा है और जिनसे वहाँ के (धनुर्भंग में प्रवृत्त) राजा लोग लज्जा से व्याकुल हुए हैं; तथा जिन भुजाओं ने श्रीपरशुरामजी को महामुनि

(मुनीश्वरों के समान दमशील एवं क्षमाशील) बना दिया है, जिन परशुराम-जी ने पहले कभी किसी पर कृपा दृष्टि से नहीं देखा था ॥५॥ राक्षसों की स्त्रियों ने लङ्का में स्थित पति-वियोगिनी श्रीसीताजी को जान कर भी जब अप्रिय बातें सुना कर व्यथित किया था, तब जिन भुजाओं ने शत्रुओं को मारा है और उन्हीं देवशत्रुओं की स्त्रियों के शिर खोलवा (विधवा) कर उन्हें धाड़ मार कर रुलाया है ॥६॥ तीनों लोकों के सभी लोकपाल दशानन रावण के विवश थे, उसने इन्हें व्याकुल कर नाकों चने बिनवाये थे। (फिर इन्हीं भुजाओं के द्वारा रावण वध होने पर) अपने-अपने लोकों में सुखपूर्वक बसी हुई देवताओं, नागों और मनुष्यों की स्त्रियाँ अपने-अपने स्वामियों के साथ जिन भुजाओं के यश गाती हैं ॥७॥ जिन श्रीरघुनाथजीकी भुजाओं की वेद, पुराण, शेषजी, शुकदेवजी और शारदाजी आदि स्नेहपूर्वक सराहना करते हैं। वे भुजाएँ कल्पलता की भी श्रेष्ठ कल्पलता और कामधेनु की भी कामधेनु हैं ॥८॥ जो अपने शरणागतों, दुखियों और दीनों को अभय पद दे-देकर अन्त तक उनका निर्वाह करती हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वे भुजाएँ अपने दासों पर सदा से छाया करती आई हैं, इस समय करती हैं और आगे भी करती रहेंगीं ॥९॥

विशेष—अभी तक माधुर्य प्रसंग था, इससे सखियों के संवाद रूप में कहा गया था आगे कुछ ऐश्वर्य प्रसंग कहते हैं। श्रीरामजी के बाहु-बल का स्मरण और उससे लाभ का वर्णन करते है—

'सुमिरत श्री…'; रघुवंशी सभी आश्रितवत्सल होते आये हैं; श्रीरामजी तो उनमें विशेष श्रीयुक्त हैं। अतः, ये श्रीरघुवीर हैं, विशेष आश्रितवत्सल हैं। इनकी बाहुओं का स्मरण तो भव पार कर देता है—

'होत सुगम भव-उदधि…'—भव-सागर श्रीराम-शरणागति बिना अत्यन्त अगम है, श्रीरामजी के शरण हो इनकी बाहुओं का आश्रयण कर लेने पर वह सुगम हो जाता है। आर्त्त-प्रपन्न तो तुरत भवसागर लाँघ ही जाते हैं पराभक्ति निष्ठा में उन्हें भव-दुःख रह ही नहीं जाता और दृप्त-प्रपन्न प्रारब्ध भोग करते हुए प्रपत्ति निष्ठा से आयु पर्यन्त भवसागर की मर्यादा का उल्लंघन कर भव पार हो जाते हैं। जैसे श्रीलक्ष्मणजी अत्यन्त आर्त्त होकर तुरत श्रीराम-संग की प्राप्ति के लिये शरण हुए तो श्रीरामजी ने उन्हें वैसा ही ग्रहण किया है

और श्रीभरतजी ने इस प्रपन्न की भाँति चौदह वर्ष निष्ठा करके संग (शेषत्व) की प्रत्यक्षनिष्ठा पाई है। अभियुक्तों ने कहा भी है—

"आर्तानामाशुफलदा सकृदेव कृता ह्यसौ। दृप्तानामपि जन्तूनां देहान्तर-निवारिणी ॥" यह शरणागति-प्रसंग में कहा गया है। तथा—"तुलसिदास रघुबीर बाहु-बल सदा अभय काहू न डरै।" (वि० १३७)।

आगे ध्यान करने के लिये उत्प्रेक्षा द्वारा भुजाओं की शोभा एवं महिमा का वर्णन करते हैं—

'सुंदर श्याम सरीर सैल···अमित···'—यहाँ सुन्दर श्याम शरीर पहाड़ है और दोनों कंधे उसकी चोटियाँ हैं, वहाँ से दोनों भुजाएँ नीचे की ओर मानो यमुना नदी की भाँति आई हैं। यमुनाजी में जल अथाह है, वैसे इनमें अपरिमित निर्मल बल है। जल की निर्मलता शरीर के मलों को शुद्ध करती है, वैसे श्रीरामजी की बाहु के अपरिमित बल से आश्रितों का रक्षण हुआ है। छलरहित सरल युद्ध से बल द्वारा ही आश्रित-विरोधियों का नाश हुआ है, यही बाहु बल के यश रूप जल में निर्मलता है। इसका स्मरण करने से आश्रितों का भय दूर होता है और उनके पाप भी शुद्ध होते हैं।

श्रीयमुनाजी सूर्यपुत्री हैं, वैसे ये भुजाएँ मानों शृंगार रूप सूर्य से उत्पन्न हुई हैं, इससे श्यामवर्ण एवं अत्यन्त सुन्दर हैं। शृंगार भी श्यामवर्ण का एवं अत्यन्त सुन्दर है; यथा—"जनु सोहत सृंगार धरि मूरति परम अनूप ॥" (मा० बा० २४१)। सूर्यपुत्री यमुना में यम द्वितीया स्नान करने पर यमपुरी से उद्धार होता है। वैसे ही इन भुजाओं की शोभा का ध्यान रूप स्नान करने पर भव-भय दूर हो जाता है; यथा—"बाहु बिसाल भव-भय मोचनम्।" (मा० अर० ३१)।

'धारैं बान, कूल धनु···'—धारें वेग से चलती हैं, वैसे बाण भी वेग से जाते हैं। बाण धनुष से छूटकर चलते हैं, वैसे धारें भी किनारे लगकर आगे को चलती हैं। यमुना की धारा में सर्वत्र विविध जलचर हैं, वैसे ही बाहुओं में सर्वत्र विविध आभूषण सुशोभित हैं। यमुना की धारा में जहाँ-तहाँ गहरे स्थलों में भँवर रहते हैं, वैसे ही घाहों में भी गहरापन है। श्रीयमुनाजी के तरंगों का विलास मनोरम होता है, वैसे ही इन भुजाओं के द्वारा विजय

की विरुदावलियाँ भी मन को रमानेवाली हैं। श्रीयमुनाजी में कमलों की परमशोभा है। वैसे ही इन भुजाओं के कराग्र की हथेलियाँ कमलवत सुषमा-मयी हैं यही वल जलपूर्ण इस बाहु-यमुना की धारा पर कमलों का होना है।

यहाँ इन द्वितीय और तृतीय चरणों में मिलकर 'सांग रूपक से पुष्ट उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षालङ्कार' है।

'सकल-भुवन-मंगल…'—समस्त लोकों में अमङ्गलकारी राक्षस थे, उन्हें मार कर श्रीरामजी ने सर्वत्र मङ्गल किया, इससे इनकी भुजाएँ समस्त भुवनों के मङ्गल-मन्दिर के द्वार (हेतु) की आधारभूता सुहावनी साहें कही गईं हैं। पुनः जैसे साहों के आधार पर द्वार का ऊपरी भाग रुका रहता है, इससे द्वार खुला रहता है, वैसे ही इन भुजाओं के संरक्षण में ही सर्वत्र मङ्गल-व्यवस्था स्थिर भी रहती है। यहाँ 'रूपक-अलङ्कार' है।

आगे मङ्गल कर्त्तृत्व के कुछ उदाहरण कहते हैं—

'जे पूजी कौसिक मख…'—राजकुमार श्रीरामजी ने इस यज्ञ रक्षण कार्य में पहले-पहल भारी विजय प्राप्त किया है, इससे इस कार्य पर इनकी भुजाएँ ऋषियों द्वारा पूजी गई हैं; यथा—"स हत्वा राक्षसान्सर्वान्यज्ञघ्नान्रघु-नन्दनः। ऋषिभिः पूजितस्तत्र यथेन्द्रो विजये पुरा॥" (वाल्मी० १।३०।२४); अर्थात् यज्ञ नष्ट करनेवाले समस्त राक्षसों को श्रीरामजी ने मारा है, इससे ऋषियों ने उनकी पूजा की है, जिस प्रकार पहले असुर विजय होने पर इन्द्र की पूजा की गई थी।

यहाँ मुनि की मङ्गल-सम्पन्नता पर ये भुजाएँ पूजी गईं हैं ऐसे ही राजा जनक के यहाँ कन्या के व्याह-मङ्गल में बाधक धनुष था, उसका खंडन श्रीरामजी ने इन्हीं भुजाओं से किया है, तब उन्होंने अपनी वीर्य-शुल्का कन्या दे श्रीरामजी को प्रसन्न किया है। अतः, यह विवाह कृत्य इन्हीं भुजाओं की पूजा है।

इसी प्रकार प्रथम पूज्यपद प्राप्ति में श्रीरामजी के नाम द्वारा श्रीगणेशजी ने सिद्धि पाई है, काशी के जीवों को मुक्ति देने में शङ्करजी ने सफलता पाई है और शिवजी के अर्द्धाङ्ग में स्थिति पाने में गिरिजाजी ने सिद्धि पाई है। मा० बा० १८ में इन कार्यों के प्रमाण देखिये। नाम के द्वारा होनेवाले कार्य रूप के ही पुरुषार्थ से सिद्ध होते हैं। अतः, इनमें भुजाओं की ही पूजा है।

'भव-धनु-दलि···'; यथा--"रहा बिबाह चाप आधीना ॥ टूटत ही धनु भयउ बिबाहू । सुर नर नाग बिदित सब काहू ॥" (मा० बा० २८५); "श्रीहत भये भूप धनु टूटे । जैसे दिवस दीप छबि छूटे ॥" (मा० बा० २६२); "तुलसी महीस देखे दिन रजनीस जैसे, सूने परे सून-से मनो मिटाये आँक के ॥" (बा० ६४); "अपभय कुटिल महीप डेराने ।" (मा० बा० २८४); "कुँवर चढ़ाई भौहैं, अब को बिलोकै सौहैं, जहाँ-तहाँ भे अचेत खेत के-से खोखे हैं ।" (बा० ९५)।

'परसुपानि जिन्ह किये महामुनि···'—परशुरामजी को फरसे का गर्व था, इससे उन्होंने पहले कभी किसी पर कृपादृष्टि से नहीं देखा था; यथा—"सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते ।" (मा० बा० २६७); तथा—"भयउ बाम बिधि फिरेउ सुभाऊ । मोरे हृदय कृपा कसि काऊ ॥" (मा० बा० २७९)। वह गर्व श्रीरामजी ने हर लिया; यथा—"उग्र-भार्गवागर्व-गरिमापहर्त्ता ।" (मा० वा० ५०); "नाक में पिनाक मिस बामता बिलोकि राम रोक्यो परलोक लोक भारी भ्रम भानि कै ॥" (क० लं० २६): तथा वाल्मी० १।७६।१६, २१-२२ में श्रीरामजी के द्वारा परशुरामजी के पुण्यार्जित लोकों का हरण करना बाहुओं द्वारा बाण से लिखा गया है। इससे वे निष्काम होकर क्षमाशील हो तपस्या करने चले गये; यथा—"जाना राम-प्रभाउ तब···भृगुपति गये बनहिं तप हेतू ।" (मा०बा०२८४); यही उन्हें बाहुओं के द्वारा महामुनि बनाना है।

'जातुधान तिय···जिन्ह रिपु मारि····'—अशोक वन में विरहिनी श्रीसीताजी को रावण की आज्ञा से राक्षसियों ने भाँति-भाँति के कुवाक्य कहे थे, श्रीहनुमान्जी ने सूक्ष्म रूप से देखे और सुने थे। उस पर उन्होंने उसी समय कह दिया था; यथा—"प्रबल दनुज-दल दलि पल आध में, जीवत दुरित दसानन गहिबो ॥ बैरिबृंद-विधवा-बनितनि को देखिबो बारि बिलोचन बहिबो ॥" (सुं० १४); 'सीस उघारि दिवाई धाहैं'; यथा—"पति गति देखि ते करहिं पुकारा । छूटे कच नहिं बपुष सँभारा ॥" (मा० लं० १०२); तथा—"दृष्ट्वा श्रुत्वा च सम्भ्रान्ता हतशेषा निशाचराः । राक्षस्यश्च समागम्य दीनाश्चिन्ता-परिप्लुताः ॥४॥ विधवा हत पुत्राश्च क्रोशन्त्यो हतबान्धवाः । राक्षस्यः सह संगम्य दुःखार्ताः पर्यदेवयन् ॥५॥'····'मम पुत्रो मम भ्राता मम भर्त्ता रणे हतः ।

इत्येष श्रूयते शब्दो राक्षसीनां कुले-कुले ॥२२॥” (वाल्मी० ६।९४); इस प्रसंग में अकेले श्रीरामजी ने अपने ही धनुष-बाण से इन्हीं बाहुओं के द्वारा रावण की महती सेना का संहार किया था, जिस पर उपर्युक्त राक्षसियों के रोने का वर्णन है। अतः, यह सब इन्हीं भुजाओं का प्रभाव है।

'दसमुख-बिबस तिलोक···'; यथा—“दसमुख-सभा···कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥” (मा० सुं० १९); “रबि ससि पवन···हठि सबही के पंथहिं लागा॥ ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख बस बर्त्ती नर नारी॥ आयसु करहिं सकल भयभीता।” (मा० बा० १८१); “दिगपालन्ह मैं नीर भरावा।” (मा० लं० २७)।

'भुवस बसे गावत जिन्हके जस···'; यथा—“रावन सकुल समूल बहायो। बिबुध समाज निवाजि, बाँह दै, बंदिछोर बर बिरुद कहायो॥” (लं० २१); तथा—“आयसु भो लोकनि सिधारे लोकपाल सबै, तुलसी निहाल कै-कै दियो सरखतु हैं॥” (क० लं० ५८); “रिपु रन जीति राम आए।···बरषि सुमन सुर सिद्ध प्रसंसत, सब के सब संताप हरे।” (लं० २३); “रिपु रन जीति, सुजस सुर गावत।” (मा० उ० १); “सकुल सदल प्रभु रावन मारयो। पावन जस त्रिभुवन बिस्तारयो॥” (मा० लं० ११४)।

'जे भुज वेद-पुरान···'—वेदों ने ही कहा है; यथा-“दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुज बल हने।” (मा० उ० १२); महापुराण श्रीमद्भागवत ९।१० में श्रीशुकदेवजी ने इन भुजाओं का पराक्रम कहकर शत्रु की स्त्रियों का भारी प्रलाप कहा है तथा भाग० ९।११।२०-२१ में श्रीरामजी के सुयश का स्नेहपूर्वक विशद वर्णन कर उन्होंने स्वयं शरणागति की है। शिवजी ने कहा है; यथा—'बैनतेय सुनु संभु तब आए जहँ रघुबीर। बिनय करत गदगद गिरा, पूरित पुलक सरीर॥” से “बरनि उमापति राम गुन···” (मा०उ०१४) इसमें शिवजी ने भुजाओं के पराक्रम की स्नेहपूर्वक विशेष सराहना की है। शारदा सुर-सिद्ध-मुनि आदि की वाणी से गाती है; यथा-' यह रावनारि चरित्र पावन······सुर सिद्ध मुनि गावहिं मुदा॥” (मा० लं० १२०)।

'कल्पलताहु कि··'; यथा—“रन जीति राम राउ आए।··· कामधेनु महि बिटप कामतरु··” (लं० २२); तथा—“रामराज भइ कामधेनु महि···”

(लं० २३)—इनके विशेष देखिये। ये भुजाएँ कल्पलता एवं कामधेनु के भी मनोरथ देनेवाली एवं उनमें प्रभावदात्री हैं तथा उनसे भी अधिक अभीष्ट पूरक हैं।

यहाँ 'तृतीय प्रतीपअलङ्कार' है।

'सरनागत-आरत-प्रनतनि को…'—श्रीविभीषणजी शरणागत हुए उन्हें अभय पद देकर अंत तक निवाहा है—सुं० २६-४४ देखिये। युद्ध में इनकी रक्षा की है आगे के लिये कल्प भर की आयु दी है और अन्त में अपना धाम देने की प्रतिज्ञा की है। आर्त्त सुग्रीव के शरण होने पर वाली से उसकी रक्षा की है, निर्भय किया है और फिर उससे दोष होने पर भी अन्त तक उसकी प्रीति निबाही है तथा श्रीनिषादराज विनम्र भाव से सन्मुख हुए हैं, उनकी प्रीति का भी अन्त तक निर्वाह किया है। ये चरित श्रीरामचरितमानस आदि सभी रामायणों में विख्यात हैं।

'करि आईं, करिहैं, करती हैं…'; यथा—"सीतल सुखद छाँह जेहि कर की, मेटति पाप, ताप, माया। निसि-बासर तेहि कर सरोज की, चाहत तुलसिदास छाया॥" (वि० १३८)। 'करि आईं'; यथा—"दास तुलसी सदय हृदय रघुबंसमनि पाहि कहे काहि कीन्हों न तारन-तरन।" (सुं० ४३); 'करिहैं'; यथा—"होय भलो ऐसे ही अजहुँ गये राम सरन परिहरि मनी। भुजा उठाइ साखि संकर करि कसम खाइ तुलसी भनी॥" (सुं० ३९); 'करती हैं'; यथा—"अजहुँ अधिक आदर येहि द्वारे, पतित पुनीत होत नहिं केते।" (वि० २४१)।

राग भैरव

[१४]

रामचंद्र - करकंज कामतरु, बामदेव - हितकारी।
सिय - सनेह - बर - बेलि - बलित बर-बंधु-प्रेम बर बारी॥१॥
मंजुल मंगलमूल मूलतरु, करज मनोहर साखा।
रोम परन, नख सुमन, सुफल सब काल सुजन-अभिलाखा॥२॥
अबिचल,अमल,अनामय,अबिरल,ललित,रहित-छल-छाया।
समनि सकल संताप - पाप - रुज-मोह-मान-मद-माया॥३॥

सेवहिं सुचि मुनि-भृंग-बिहँग मन-मुदित-मनोरथ पाये।
सुमिरत हिय हुलसति तुलसी अनुराग उमँगि गुन गाये ॥४॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी का कर कमल कल्पवृक्ष के समान है और श्रीशिवजी का हित करनेवाला है। यह (कर-कल्पवृक्ष) श्रीसीताजी के स्नेह रूप श्रेष्ठ लता से वेष्टित (आच्छादित) और श्रेष्ठ भाई श्रीलक्ष्मणजी के प्रेम रूप श्रेष्ठ बारी (बाढ़, घेरा) से सुरक्षित रहता है ॥१॥ इसका मनोहर मङ्गलमूलक मूल भाग (बाहु) ही कल्पवृक्ष का जड़ एवं तना है और हाथ की अँगुलियाँ इस वृक्ष की मनोहर शाखाएँ हैं, रोएँ पत्ते, नख फूल और इन हाथों से सब काल में सज्जनों की अभिलाषाओं का सुन्दर रूप में फलना इसमें सुन्दर फलों का लगना है ॥२॥ इसकी छाया स्थिर, निर्मल (दोष-रहित), दुःख एवं रोग रहित, सघन, मनोहर और छल से रहित है। यह छाया समस्त सन्ताप, पाप, रोग, मोह, अभिमान, मद और माया से रहित (अर्थात् इन संताप आदि का नाशक है) ॥३॥ पवित्र चित्तवाले मुनि रूप भौंरे और पक्षी इसका सेवन किया करते हैं और मनोरथ प्राप्त किये हुए मन में वे प्रसन्न रहा करते हैं। इसके माहात्म्य का स्मरण करने से हृदय उल्लसित होता है, इसी से अनुराग में उमँग कर तुलसीदास ने इसका गुणगान किया हैं ॥४॥

विशेष—'रामचंद्र-करकंज कामतरु…'—चन्द्रवत् सबको आह्लादकारक सूचित करते हुए श्रीरामजी को यहाँ चन्द्र विशेषण दिया गया है; यथा—"बिधु महि पूर मयूखन्हि रबि तप जेतनेहि काज। माँगे बारिद देहिं जल रामचंद्र के राज ॥" (मा० उ० २३); उनका कर कमलवत सुंदर, कोमल एवं सुयश रूप सुगंध से युक्त है, यश का भेद 'कामतरु' इस विशेषण द्वारा उदारदातृत्व के रूप में सूचित किया गया है; यथा—"कनककुधर-केदार, बीज सुंदर सुरमनि-बर। सींचि काम धुकधेनु सुधा सम पय बिसुद्धतर ॥ तीरथपति अंकुर-सरूप यच्छेस रच्छ तेहि। मरकतमय साखा-सुपत्र, मंजरिअ लच्छ जेहि ॥ कैवल्य सकल फल कल्पतरु सुभ सुभाव सब सुख बरिस। कह तुलसिदास रघुबंसमनि तौ कि होहि तुव कर सरिस ?॥" (क० उ० ११५); तथा—"एकइ दानि-सिरोमनि साँचो।…" (वि० १६३)—यह पद देखिये।

'बामदेव हितकारी…'—उक्त उदारदातृत्व का महत्त्व उसके बड़े अधि-

कारी की मर्यादा से प्रकट करते हैं कि बड़े औढरदानी जो शिवजी हैं; यथा—"दानी जो चारि पदारथ को त्रिपुरारि तिहूँ पुर में सिर टीको।" (क० उ० १५६); यह कर कमल उनका भी हितकारी है, दातृत्व महत्त्व देनेवाला है; यथा—"जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहि सम गति अविनासी॥" (मा० कि० १); "अर्थ, धर्म, काम, मोच्छ बसत बिलोकनि में, कासी करामाति जोगी जागत मरद की॥" (क० उ० १५८)।

'सिय सनेह बर बेलि बलित'—पूर्वार्द्ध में उदार दातृत्व एवं महान् ऐश्वर्य कहा गया कि यह कर कामतरु शिवजी का भी कामपूरक है। इस पर शङ्का होती कि तब सर्वसाधारण को इस कल्पतरु की छाया दुर्लभ ही होगी, इसका समाधान करते हुए उत्तरार्द्ध में कहते हैं कि यह श्रीसीताजी के स्नेह रूप श्रेष्ठ लता से आच्छादित रहता है। श्रीसीताजी अपने मातृत्व स्वभाव से जीवों का पुरुषकारत्व (घटकत्व) करती हैं। इनमें कृपा गुण प्रधान है, इससे अपने स्नेह से वशीभूत स्वामी में कृपा गुण उद्दीप्त करा इसके दोष उनकी दृष्टि में नहीं रहने देती। इस प्रकार इसे अधिकारी बना श्रीरामजी से इसका कल्याण करा देती हैं। कर-कल्पद्रुम से अमित दान पाने का इसे अधिकारी बना देती हैं। जैसे जयन्त ने घोर अपराध किया था, परन्तु आपने उसके दोषों को देखा ही नहीं, प्रत्युत् उसकी बिगड़ी हुई प्रपत्ति-विधि को सुधार कर स्वामी के सम्मुख कर उसका कल्याण कराया है, यह कथा पद्मपुराण एवं रामायणों में देखने योग्य है। श्रीजी का पुरुषकारत्व मेरे 'प्रपत्ति-रहस्य' ग्रन्थ में देखिये।

'बर बंधु प्रेम बर बारी'—श्रेष्ठ भाई मात्र पद से यहाँ श्रीलक्ष्मणजी का ही भाव है; यथा—"अनुज समेत देहु रघुनाथा।" (मा० बा० २०६); इस प्रसंग में श्रीभरत-शत्रुघ्न भी वहाँ थे, पर श्रीलक्ष्मणजी का ही अर्थ लिया गया है। इनका प्रेम बाढ़ रूप है। इस कल्पवृक्ष को चारो ओर से घेरे हुए है। अतः, इनके मार्ग से ही प्रवेश करना होगा। इनके आदर्श से वैसा ही आचरण कर इस छाया से मनोरथ प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त करना होगा। श्रीलक्ष्मण जी विशेष धर्म (शरणागति धर्म) के आचार्य हैं। अतः, इनके दिखलाये हुए शेषत्व की निष्ठा से कालक्षेप करना चाहिये।

यदि 'बर बंधु प्रेम' पद में तीनों भाइयों का अर्थ लें तो भाव यह होगा कि

श्रीभरतजी विशेषतर धर्म एवं दृढ़-प्रपत्ति-निष्ठा के आचार्य एवं श्रीशत्रुघ्नजी विशेषतम धर्म (भागवत-निष्ठा) के आचार्य हैं इन निष्ठाओं के अधिकारियों को भी इनकी-सी निष्ठाओं से इस कर-कल्पवृक्ष की छाया प्राप्त हो सकती है।

संवत १६६६ की लिखित राम गीतावली में भी यह पद है और उसमें ही 'बर बंधु प्रेम' ऐसा पाठ है। आधुनिक प्रतियों में 'बर प्रेम बंधु' पाठ है, अर्थ एक ही है, पर प्राचीन पाठ सुसंगत है। उसी प्रति में द्वितीय चरण का यह 'मूल तरु' पाठ भी है जो बहुत ही सुसंगत है। आधुनिक सभी प्रतियों में तो 'मूल तनु' पाठ है, वह असंगत है। मैंने प्राचीन एवं उपयुक्त पाठ ही रक्खा है।

'मंजुल मंगलमूल मूल तरु···'—कर कंज का मूल बाहु है, वहीं 'मंजुल मंगल मूल' भी है। ऊपर पद में 'सकल-भुवन-मंगल-मंदिर के···जे पूजी···' इनके विशेष देखिये। जैसे वृक्ष में जड़ एवं तना समस्त वृक्ष का आधार रहता है, वैसे तना रूप बाहु ही अपने मूल स्थान जड़ रूप कंधे से लेकर करकंज का सम्यक आधार रहता है। 'करज मनोहर साखा'—वृक्ष के तने से शाखाएँ फूटती एवं चारों ओर फैलती हैं, वैसे ही कराग्र भाग की हथेली से ही अँगुलियाँ निकली और फैली हुई हैं। ये मनोहर हैं; यथा—"सुजव सुरेख सुनख अंगुलिजुत, सुंदर पानि मुद्रिका राजति। अंगुलित्रान कमान बान छबि सुरनि सुखद असुरनि उर सालति॥" (पद १७)।

'रोम परन, नख सुमन, सुफल···'—पत्तों से वृक्ष वायु ग्रहण करते हैं और उन्हीं पत्तों से वृक्ष की जड़ से आये हुए जल की भाफ ले मेघ भी सम्पन्न होते हैं। वैसे ही रोम-छिद्रों से शरीर के पसीने निकलते हैं और वायु-ग्रहण भी होता है, यह मिलान है। फूल के समान नख श्वेत होते हैं, और अंगुलियों के शिरो भागों पर होते भी हैं, जैसे फूल शाखाओं के शिरो भागों पर होते हैं। इस कर-कंज रूप कल्पवृक्ष से सब काल में सज्जनों की अभिलाषायें सुन्दर फल फला करती हैं, अभिलाषानुसार फल मिला करते हैं। इसके प्रमाण उपयुक्त 'कामतरु' की व्याख्या में लिखे जा चुके हैं। यही इनमें फल लगना है। सदा इसमें फल लगे ही रहते हैं; यथा—"माँगहु बर जो भाव मन महादानि अनुमानि।···दानि सिरोमनि कृपानिधि" (मा० बा० १४८-१४९)।

'अविचल, अमल, अनामय···सरनि सकल···'—छाया अविचल है,

सदा एकरस रहनेवाली शीतल है, इससे यह तीनों तापों का नाश करती रहती है। अमल है, इससे पाप रूप मल का नाश करती है। अनामय है, इससे रोग नाश करती है, उन रोगों में यहाँ मानस रोगों का तात्पर्य है, मोह, मान, मद एवं काम, क्रोध आदि का नाश करती है, क्योंकि सन्ताप नाश में दैहिक तापों में शारीरिक रोग आ ही गये हैं। अविरल है। अतः, देश, काल आदि में सर्वत्र परिपूर्ण रहती है, व्यवधान नहीं पड़ता। देखने में ललित है और छल-रहित है, इससे माया का शमन करती है। उपमान पक्ष में 'अमल' का भाव यह कि इसकी छाया से कूड़े आदि नहीं गिरते, और 'अनामय' का भाव यह कि जैसे इमली-भिलामा आदि वृक्षों की छाया में रहने से रोग होता है, वैसे इसमें नहीं है। उपमेय पक्ष में भाव यह कि अन्य देव प्रसन्न होने पर विविध फल देते हैं, वैसे अप्रसन्नता में दुःख भी देते हैं, वह दोष श्रीरामजी में नहीं हैं, ये अपने कर-कल्पतरु से कल्याण के ही पदार्थ देते हैं और फिर अन-हित कभी करते ही नहीं।

'सेवहिं सुचि मुनि भृङ्ग-विहँग···'—वृक्षों के फल-फूल के लोभ से भ्रमर और पक्षी उनकी सेवा किया करते हैं। वैसे ही इस कर-कल्पवृक्ष की सेवा पवित्र मनवाले मुनि किया करते हैं। मुनि कर कंज के मकरंद रूप अनु-राग के लिये भ्रमर बने रहते हैं और सुफल रूप प्रभु की प्राप्ति के लिये पक्षी बने रहते हैं। शुचि मन हैं। अतः इस कल्पवृक्ष से ये वैषयिक फल नहीं चाहते हैं, प्रत्युत् उक्त मकरंद और सुफल में ही मन से मुदित रहते हैं और प्रभु ही इनके मनोरथ हैं, उन्हें पाये हुए (कैंकर्य-निष्ठ) रहते हैं। इनसे पृथक् नहीं रहते।

'सुमिरत हिय हुलसत···'—उक्त प्रभाव का स्मरण करने पर हृदय उल्लसित होता है और इसी अनुराग में उमँग कर मैंने गुणगान किया है। इस पूरे पद में 'सांग रूपक' हैं। कर और कल्पतरु के सभी अंगों का मिलान है।

ऊपर पद में भुजाओं को 'कल्पलताहु कि···' कहा गया था। यहाँ कर कमल को भी कल्पवृक्ष ही कहा है और आगे चरण को चार फलदाता प्रयाग कहते हैं; अर्थात् प्रभु के सभी अंग भक्त-काम-पूरक हैं।

[१५]

रामचरन अभिराम कामप्रद तीरथराज बिराजै।
संकर - हृदय - भक्ति - भूतल पर प्रेम-अक्षयबट भ्राजै ॥१॥
स्याम बरन पद-पीठ, अरुन तल, लसति बिसद नख श्रेनी।
जनु रबिसुता-सारदा-सुरसरि मिलि चलीं ललित त्रिबेनी ॥२॥
अंकुस-कुलिस-कमल-ध्वज सुंदर भवर तरंग बिलासा।
मज्जहि सुर-सज्जन मुनिजन, मन मुदित मनोहर बासा ॥३॥
बिनु बिराग-जप-जाग-जोग-ब्रत, बिनु तप, बिनु तनु त्यागे।
सब सुख सुलभ सद्य तुलसी प्रभुपद - प्रयाग अनुरागे ॥४॥

अर्थ—मनोहर और सभी कामनाओं को देनेवाले श्रीरामजी के चरण तीर्थराज प्रयाग के समान विराजमान हैं। यहाँ श्रीशिवजी के हृदय में उनकी राम-चरण-भक्ति रूप भूतल पर प्रेम रूप अक्षयबट (नित्य हरा-भरा) शोभायमान है ॥१॥ श्रीचरण का ऊपरी भाग श्याम वर्ण और तल भाग अरुण वर्ण तथा उसके अग्र भाग में विशद (श्वेत वर्ण की) नख-श्रेणी सुशोभित है मानो श्रीयमुनाजी, श्रीसरस्वतीजी और श्रीगंगाजी—ये तीनों मिलकर मनोहर त्रिवेणी रूप में चल रही हों ॥२॥ श्रीचरण तल में अंकुश, बज्र, कमल और ध्वजा के चिह्न हैं, वे ही इस त्रिवेणी के सुन्दर भँवर और तरङ्गों के विलास (प्रसन्न या प्रफुल्लित करयेवाली क्रिया) हैं। देवता, सज्जन और मुनिजन प्रसन्न मन होकर इस त्रिवेणी में स्नान करते हैं और यही उनका मनोहर निवास-स्थान (ध्यान का विषय) है ॥३॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि प्रभुके इस चरण रूप प्रयाग में अनुराग करने से वैराग्य, जप, यज्ञ, योग, व्रत, तपस्या एवं तन त्याग के विना हो सारे सुख तत्काल ही सुलभ हो जाते हैं ॥४॥

विशेष—'राम चरन अभिराम कामप्रद...'—प्रयाग तीर्थों में राजा और सभी कामनाओं का देनेवाला है; यथा—"तीरथराज दीख प्रभु जाई ॥... चारि पदारथ भरा भँडारू।...सेवहिं सुकृती साधु सुचि, पावहिं सब मन काम।" (मा० अ० १०४-१०५); "सकल कामप्रद तीरथराऊ। बेद बिदित जग प्रगट प्रभाऊ ॥" (मा० अ० २०२)। "सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग। लहहिं चारि फल अछत तनु, साधु-समाज प्रयाग ॥"

(मा० बा० २)। वैसा ही श्रीरामजी का चरण भी है किन्तु यह अत्यन्त मनोहर है, स्वयं अपने महत्त्व से आश्रितों के मन हर कर स्वतः उनकी कामनाओं को पूरी करता है। इसके प्रत्येक अङ्ग की मनोहरता आगे कहते हैं—

'संकर-हृदय-भक्ति-भूतल पर…'—श्रीशिवजी के हृदय में श्रीरामभक्ति का भूतल है, उसमें श्रीरामप्रेम रूप अक्षयवट शोभायमान है; यथा—"जो सरूप बस सिव मन माहीं।" (मा० बा० १४५); "हर हृदि मानस बाल मरालं।" (मा० अर० १०); "संकर-हृदि-पुंडरीक निसि बस हरि-चंचरीक" (पद ३) देखिए। तथा—"राम रावरो सुभाउ, गुन सील महिमा प्रभाउ, जान्यो हर हनूमान लखन भरत। जिन्हके हिये-सुथल राम-प्रेम-सुरतरु लसत सरस सुख फूलत फरत ॥" (वि० २५१)।

अक्षयवट का कभी नाश नहीं होता, वैसे ही कामारि श्रीशिवजी के हृदय की भक्ति भूमि पर यह प्रेम वट सदा एकरस हरा-भरा रहता है; यथा—"तुम पुनि राम-राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती ॥" (मा० बा० १०७)। "श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुसुन्दरवरे संशोभितं सर्वदा।…श्रीरामनामामृतम् ॥" (मा० कि० श्लो० २)। प्रेम से ही अहर्निशि एकरस जप होता है। तथा—"नाम प्रसाद संभु अविनासी।" (मा० बा० २५)—इससे यह प्रेम अक्षय है।

'स्याम बरन पद-पीठ…जनु रबिसुता…'—सरस्वती गुप्त हैं, वैसे ही पदतल की ललाई गुप्त है। तीनों मिल जाने पर आगे श्रीगङ्गाजी ही रह गईं, वैसे ही आगे की नख श्रेणी ही प्रधान रूप में है। तथा—"राम भगति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा ॥ बिधि-निषेधमय कलिमल हरनी। करम कथा रबिनंदनि बरनी ॥ बट बिस्वास अचल निज धरमा। तीरथराज समाज सुकरमा ॥" (मा० बा० १)।

नखश्रेणी श्रीगंगाजी हैं। यहाँ वर्ण साम्य के अतिरिक्त श्रीगंगाजी इन्हीं नखों से उत्पन्न भी हैं; यथा—"नख निर्गता मुनिबंदिता त्रैलोक-पावनि सुरसरी।" (मा० उ० १२)। पद तल के चौबीस चिह्न ही चौबीस तत्त्व की प्रकृति में व्यापक ब्रह्मसत्ता के परिचायक हैं। यों तो चरण के देवता विष्णु (व्यापक) कहे जाते हैं, यह भी ब्रह्मसत्ता द्योतक ही है। अतएव 'सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा' के भाव पद तल में स्पष्ट हैं। पद पृष्ठ की श्यामता में श्री-

यमुनाजी; यथा—"रघुबर बरन बिलोकि बर बारि समेत समाज। होत मगन बारिधि बिरह। चढ़े बिबेक जहाज॥" (मा० अ० २२०)।

पहले यमुनाजी तब सरस्वती और फिर श्रीगंगाजी कही गई हैं, वैसे ही पहले कर्म का फल वैराग्य होता है, तब अन्तःकरण शुद्धि से विवेक होता है। विवेक से स्वस्वरूप और परस्वरूप का ज्ञान होने पर जीव अपने शेषी की भक्ति में रत होता है। यह क्रम भी सुसंगत है।

'ललित त्रिवेनी'; यथा—"श्रुति संमत हरि भक्तिपथ, संजुत बिरति बिबेक।" (मा० उ० १००); "कहहिं भगति भगवंत कै, संजुत ज्ञान-बिराग।" (मा० बा० ४४); "ज्ञान बिराग नयन उरगारी॥ भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥" (मा० उ० ११९)।

'लसति बिसद नखश्रेनी'—आगे श्रीगंगाजी की ही धारा विशेष सुहावनी रहती है, वैसे ही भक्ति के अंग रूप में निष्काम कर्म एवं विवेक भी भक्ति रूप ही रहते हुए सुहावने रहते हैं।

इस चरण में 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षालङ्कार' है।

'अंकुस-कुलिस-कमल-ध्वज...'; यथा—"ध्वज कुलिस अंकुस कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे॥" (मा० उ० १२); त्रिवेणी की धारा में कहीं-कहीं भँवर घूमते रहते हैं और कभी-कभी बायु वेग पर तरङ्गों का विलास भी मनोरम होता है। वैसे ही इन चिह्नों का दर्शन भँवर के समान और इन चिह्नों के माहात्म्य के विविध भाव तरङ्गों के विलास की भाँति मन को रमाने वाले हैं।

'मज्जहिं सुर-सज्जन...'; यथा—"तीरथपतिहि आव सब कोई॥ देव दनुज किन्नर नर श्रेनी। सादर मज्जहिं सकल त्रिबेनी॥" (मा० बा० ४३); पद प्रयाग का मज्जन; यथा—"कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥" (मा० बा० ४०), तथा—"सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग। लहहिं चारि फल अछत तनु, साधु समाज प्रयाग॥" (मा० बा० २)। 'मनोहर वासा'; यथा—"पद राजीव बरनि नहिं जाहीं। मुनि मन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं॥" (मा० बा० १४७); "जावक जुत पद कमल सुहाए। मुनि मन मधुप रहत जिन्ह छाए॥" (मा० बा० ३२६);

"करि मधुप मुनि मन जोगिजन जे सेइ अभिमत गति लहैं। ते पद " (मा० बा० ३२३)।

इस पद के पहले और तीसरे चरणों में "सांग रूपकालंकार' हैं।

'बिनु बिराग···सब सुख सुलभ सद्य···'; यथा—"जो बिनु जोग, जज्ञ ब्रत-संजम गयो चहै भव पारहि। तौ जनि तुलसिदास निसि-बासर हरि-पद-कमल बिसारहि ॥" (वि० ८५)। लौकिक प्रयाग में वैराग्य-जप आदि करने, तप करने एवं वहाँ निवास कर शरीर त्याग करने पर भी शरीर छूटने पर उसके फलस्वरूप के सुख मिलते हैं, परन्तु इस प्रभु-पद-प्रयाग के अनुराग में बिना वैराग्य आदि कृत्यों के तत्काल ही उन सब कृत्यों के फल मिल जाते हैं; यथा—"अकथ अलौकिक तीरथ राऊ। देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ ॥" (मा० बा० १); तथा—"भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा ॥" (मा० उ० ११८); "कबहिं देखाइहौ हरि चरन।···सिद्ध-सुर-मुनि-बृंद-बंदित सुखद सब कह सरन। सकृत उर आनत जिनहिं जन होत तारन-तरन ॥" (वि० २१८)।

राग बिलावल

[१६]

रघुबर रूप बिलोकु नेकु मन।
सकल-लोक-लोचन-सुखदायक, नख-सिख सुभग स्याम सुंदर तन ॥१॥
चारु चरनतल-चिह्न चारि फल चारि देत परिचारि जानि जन।
राजत नख जनु कमल-दलनि पर अरुन-प्रभा-रंजित तुषार-कन ॥२॥
जंघा जानु आनु उर उरु अरु कटि किंकिनि पट पीत सुहावन।
रुचिर निषंग, नाभि रोमावलि त्रिबलि-बलित उपमा कछु आवन ॥३॥
भृगुपद-चिह्न पदिक उर सोभित मुकुतमाल कुंकुम अनुलेपन।
मनहुँ परस्पर मिलि पंकज-रबि प्रगट्यो निज अनुराग, सुजस घन ॥४॥
बाहु बिसाल ललित सायक-धनु, कर कंकन केयूर महाधन।
बिमल दुकूल दलन दामिनि-दुति जज्ञोपवीत लसत अतिपावन ॥५॥
कंबु ग्रीव, छबि सींव चिबुक, द्विज, अधर, कपोल, बोल भय-मोचन।
नासिक सुभग, कृपा परिपूरन तरुन अरुन राजीव बिलोचन ॥६॥

कुटिल भृकुटि बर, भाल तिलक रुचि, सुचि सुदंरतर स्रवन-बिभूषन।
मनहुँ मारि मनसिज पुरारि दिय ससिहि चाप-सर मकर अदूषन ॥७॥
कुंचित कच, कंचन किरीट सिर, जटित जोतिमय बहु बिधि मनिगन।
तुलसिदास रविकुल-रबि-छबि कबि कहि न सकत सुक संभु सहसफन॥८

अर्थ—अरे मन ! तू थोड़ा श्रीरघुनाथजी का रूप तो अवलोकन कर। प्रभु का श्यामसुन्दर शरीर नख से शिखा तक मनोहर है, यह समस्त लोकों के नेत्रों को सुख देने वाला है ॥ १ ॥ इनके श्रीचरण के तलवों में मनोहर (अंकुश, कुलिश, कमल और ध्वजा ये) चार मुख्य चिन्ह हैं। अपने भक्तों को जानकर उन्हें आग्रहपूर्वक (क्रमशः अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये) चारों फल देते हैं। प्रभु के श्रीचरणों के नख ऐसे शोभायमान हैं मानों कमल के दलों पर प्रातःकाल के सूर्य की अरुण-प्रभा से अनुरंजित पाला के कण हों ॥ २ ॥ चरण के ऊपर जंघा, उसके ऊपर घुटना (जानु) और उसके ऊपर भाग की उरु को हृदय में ला तथा कमर में किंकिणी, सुहावना पीताम्बर और मनोहर तर्कश है, रोमावली तथा त्रिबली रेखा से आवेष्टित नाभी की उपमा में कुछ आता ही नहीं ॥ ३ ॥ हृदय में भृगु प्रद चिह्न और पदिक, मुक्तमाल और केशरि का लेप शोभायमान है। मानो कमल और सूर्य ने आपस में मिलकर अपने-अपने अनुराग और समूह सुयश को प्रकट किया हो ॥४॥ बाहुएँ विशाल हैं उनमें मनोहर धनुष और बाण धारण किये हुए हैं। हाथों में महामूल्यवान कण्कण और विजायठ धारण किये हुए हैं। बिजली की कान्ति का निरादर करनेवाला निर्मल उपरना तथा अत्यन्त पवित्र यज्ञोपवीत शोभायमान है ॥ ५ ॥ शंख के समान सुडौल गर्दन तथा छबि की सीमा ठोढ़ी, दाँत, ओष्ठ और कपोल हैं एवं मुख के मधुर गम्भीर वचन आश्रितों के भय का मोचन करनेवाले हैं। नासिका मनोहर है और नवीन खिले हुए लालकमल के समान कृपा से परिपूर्ण नेत्र हैं ॥ ६ ॥ टेढ़ी श्रेष्ठ भौंहें हैं, ललाट पर मनोहर तिलक की छटा है तथा पवित्र एवं अत्यन्त सुन्दर कानों के आभूषण (कुण्डल) हैं। मानों शिवजी ने कामदेव को मारकर उसके निर्दोष धनुष, बाण और मकर चन्द्रमा को दे दिये हों ॥ ७ ॥ टेढ़े घुंघराले शिर के केश हैं, शिर पर सोने का मुकुट है वह बहुत प्रकार से कान्तिमय मणिगणों से जटित है।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि सूर्यकुल के सूर्य श्रीरामजी की छबि श्रीशुकदेव जी, श्रीशिवजी और सहस्त्र फणवाले शेषजी आदि कवि भी नहीं कह सकते (तो मेरी कौन गिनती है कि मैं कुछ कह सकूँ) ॥ ८ ॥

विशेष—इस पद में श्रीरामजी की नख-शिख-शोभा का वर्णन है। 'रघुबर रूप…सकल-लोक-लोचन सुखदायक…'—मन को रूप देखने को कहकर नख-शिख-सुन्दरता कही और साथ ही उसका माहात्म्य भी कहा है कि यह रूप समस्त लोकों के नेत्रों को सुखदाता है; यथा—"लोक लोचनाभिराम नीलमनि तमाल स्याम…" (पद ७); एवं—"लोक लोचन सुखदाई" (पद३) –इनके विशेष देखिये। 'स्याम सुंदरतन'; यथा–"स्याम सरीर सुभाय सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन ॥" (मा० बा० ३२६)। "सुन्दरता नख-सिख निबही री।" (बा० १०६)।

'चारु चरन तल…'—चारो चिह्न; यथा—"अंकुस कुलिस कमल ध्वज सुंदर भंवर तरंग बिलासा।" (पद १५); इन चिह्नों के लक्ष्य से भक्तों को चारों फल प्राप्त होते हैं। अंकुश अर्थ फल देकर साथ ही मन रूपी गजेन्द्र की उससे रक्षा भी करता है, यह मन-गज-वश-कारी कहा गया है। कुलिश चिह्न पाप-पहाड़ को विदीर्ण करनेवाला है, यही धर्म फल का फल है, धर्मों से पाप-शोधन होता है। कमल चिह्न काम फल देकर उससे मन को पद्म पत्रमियाम्भसा निर्लिप्त रखता है और ध्वजा चिन्ह मोहादि अज्ञान सेना पर विजय देकर मोक्ष फल देता है। 'जानि जन'—फल देकर अपने जन की रखवाली भी करते हैं कि उनसे वे जन विकार ग्रस्त न हो जाय; यथा—"जनहिं मोर बल…करउँ सदा तिन्हकी रखवारी। तिमि बालक राखइ महतारी ॥" (मा० अर० ४२)।

'राजत नख जनु…'—नख यद्यपि श्वेत होते हैं; यथा—"पदज रुचिर नख ससि दुति हरना ॥" (मा० उ० ७५); परन्तु चरण की ललाई लेकर लाल दीखते हैं; यथा—"अरुन चरन पंकज नख जोती। कमल दलन्हि बैठे जनु मोती ॥" (मा० बा० १९८)।

यहाँ 'तद्गुण अलङ्कार' से पुष्ट 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा-अलङ्कार' है।

'जंघा जानु…रुचिर निषंग…'—कटि के पीताम्बर के साथ निषंग भी कह दिया है; यथा—"पीत बसन परिकर कटि भाथा।" (मा० बा० २१९);

किसी-किसी प्रति में 'निषंग' के स्थान पर 'नितंब' पाठ भी है; परन्तु पुरुष के नख-शिख वर्णन में नितंब का वर्णन प्रायः नहीं पाया जाता। इससे मैंने उक्त पाठ ही रक्खा है। इस पाठ में इतनी ही थोड़ी सी अड़चन है कि निषंग के साथ धनुर्वाण नहीं है, किन्तु आगे है। "नाभि रोमावलि त्रिवलि बलित'; यथा—"नाभि सरसि त्रिवली निसेनिका रोमराजि सेवाल-छबि पावति।" (पद १७)। अन्यत्र यह उपमा दी गई है, परन्तु यहाँ के वर्णन से सिद्ध है कि यह उपमा दिग्दर्शनमात्र है।

'भृगु पद चिन्ह''मनहुँ परस्पर''—यहाँ 'भृगुपद चिन्ह' कमल, क्योंकि चरण कमलवत् होता है। 'पदिक' सूर्य क्योंकि वह सूर्यवत् प्रकाशित है। 'मुकुटमाल' सुयश समूह है; यथा-"होहिं कवित मुक्तामनि चारू॥ जुगुति बेधि पुनि पोहिअहि, रामचरितवर ताग। पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग॥" (मा० बा० ११)। और 'कुंकुम-अनुलेपन' अनुराग है इसका रंग लाल होता है। यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षालंकार' है। परस्पर मिलना यह है कि कमल की प्रीति सूर्य में होती है, इसे देखकर सूर्य ने भी प्रीति करके अपने पुरुषार्थ एवं बाहुबल से किरण द्वारा तम का नाशकर कमल को प्रफुल्लित किया है, इस पर कमल की प्रीति बढ़कर अनुराग रूप में परिणत हो गई। तब कमल ने अनुराग से सूर्य के उक्त कार्य के प्रति उसके सुयश का गान किया, सुयश के एक-एक भेद एक-एक मुक्ता हैं। ऐसे समूह मुक्ताओं की यह माला है।

'बिमल दुकूल''—इसमें 'दलन दामिनि दुति' यह वाक्य खंड दीप-देहली रूप से पूर्वोत्तर वाक्यों के साथ है और उपमेयों के द्वारा उपमान 'दामिनि दुति' का अपमान होने से यहाँ 'देहली-दीपक' से पुष्ट 'द्वितीय प्रतीप अलङ्कार' है।

'बोल भय मोचन'; यथा—"अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।" (वाल्मी० ६।१८।३३)। "तुलसी प्रभु आरत-आरति हर अभयबाहँ केहि-केहि न दई है" (वि० १३९)। 'कृपा परिपूरन तरुन अरुन'' यथा—"चितइ कृपा करि राजिवनयना।" (मा० सुं० ३४)। "सुनि सीता दुख प्रभु

सुख अयना। भरि आये जल राजिवनयना॥" (मा० सुं० ३१), "राम कृपा चितवनि चितई है।···करुनावारि भूमि भिजई है॥" (वि० १३९)।

'कुटिल भृकुटि···मनहुँ मारि मनसिज···'—यहाँ टेढ़ी भौंहें धनुष, तिलक रेखें बाण और कुंडल मकर हैं। अत्यन्त सुन्दर होने से ये तीनों मानों कामदेव के फूल के धनुष-बाण एवं उसकी ध्वजा के मकर हैं। ये तीनों मुख रूप चन्द्रमा को कैसे प्राप्त हुए? इसकी पूर्त्ति में कहा है कि मानो कामारि शिवजी ने काम को मारकर अपने आश्रित चन्द्रमा को दे दिये हों।

यहाँ 'सिद्धास्पदहेतूत्प्रेक्षालङ्कार' है।

'कंचन किरीट सिर···' यथा—"मुकुटांगदादिविचित्र भूषन···" (मा० उ० ११), रंग-विरंग की कान्तिमयी मणियाँ जटित हैं, इससे विचित्र है। तथा—"भानुकोटिप्रतीकाशं किरीटेन विराजितम्।" (सनत्कुमार सं०—राम-स्तवराज १४)। यहाँ तक नख से शिखा तक रूप एवं भूषणों का वर्णन हो गया।

'रबि कुल रबि छबि कबि···'—सूर्य कुल के सभी राजा परम तेजस्वी एवं प्रतापी होते आये हैं। आप तो इन सबसे श्रेष्ठ प्रतापी हैं, इससे इस कुल के भी प्रकाशक सूर्य हैं, क्योंकि इस कुल के पूर्वज अनरण्य को रावण ने पराजित किया था, पर उन्होंने ही कहा था कि मेरे कुल के राम तेरा वध करेंगे, वह काम करने से आप इस कुल में सर्वश्रेष्ठ हैं। पद ८, ९ के अंतिम चरण भी देखिये।

राग कान्हरा

[१७]

देखो रघुपति-छबि अतुलित अति।
जनु तिलोक-सुषमा सकेलि बिधि राखी रुचिर अंग अंगनि प्रति॥ १॥
पदुमरागरुचि मृदुपदतल ध्वज-अंकुश-कुलिस-कमल यहि सूरति।
रही आनि चहुँ बिधि भगतनि की जनु अनुराग भरी अंतरगति॥ २॥
सकल सुचिन्ह सुजन सुखदायक ऊरधरेख बिसेष बिराजति।
मनहुँ भानुमंडलहि सँवारत धरयो सूत बिधि सुत बिचित्र मति॥ ३॥
सुभग अँगुष्ठ अंगुली अबिरल कछुक अरुन नख जोति जगमगति।
चरन पीठ उन्नत नत पालक गूढ़ गुलफ जंघा कदली जति॥ ४॥

काम तून-तल सरिस जानु जुग उरु करिकर-करभहि बिलखावति ।
रसना रचित रतन चामीकर पीत बसन कटि कसे सरबसति ॥ ५ ॥
नाभि-सरसि त्रिबली निसेनिका, रोम-राजि सैवल-छबि पावति ।
उर मुकुता-मनि-माल मनोहर मनहुँ हंस-अवली उड़ि आवति ॥ ६ ॥
हृदय पदिक भृगुचरन-चिन्ह बर बाहु बिसाल जानु लगि पहुँचति ।
कल केयूर पूर कंचन-मनि, पहुँची मंजु कंज कर सोहति ॥ ७ ॥
सुजव सुरेख सुनख अंगुलि जुत सुंदर पानि मुद्रिका राजति ।
अंगुलित्रान-कमान-बान-छबि सुरनि सुखद, असुरनि उर सालति ॥ ८ ॥
स्याम सरीर सुचंदन-चरचित, पीत दुकूल अधिक छबि छाजति ।
नील जलद पर निरखि चंद्रिका दुरनि त्यागि दामिनि जनु दमकति ॥ ९ ॥
जग्योपवीत पुनीत बिराजत गूढ़ जत्रु बनी पीन अंस तति ।
सुगढ़ पृष्ठ उन्नत कृकाटिका, कंबु-कंठ-सोभा मन मानति ॥ १० ॥
सरद-समय-सरसीरुह-निदंक मुख-सुषमा कछु कहत न बानति ॥
निरखत ही नयननि निरुपम सुख, रविसुत-मदन-सोम-दुति निदरति ११
अरुन अधर, द्विजपाँति अनूपम, ललित हँसनि जन मन आकरषति ।
बिद्रुम-रचित बिमान मध्य मानो सुर-मंडली सुमन-चप बरषति ॥ १२ ॥
मंजुल चिबुक मनोरम हनुथल, कल कपोल नासा मन मोहति ।
पंकज-मान-बिमोचन लोचन, चितवनि चारु अमृतजल सींचति ॥ १३ ॥
केस सुदेस गँभीर बचन बर, श्रुति कुंडल-डोलनि जिय जागति ।
लखि नव नील पयोद, रसित सुनि रुचिर मोर जोरी जनु नाचति ॥ १४ ॥
भौहें बंक मयंक-अंक-रुचि कुंकुम-रेख भाल भलि भ्राजति ।
सिरसि हेम-हीरक-मानिकमय मुकुट-प्रभा सब भुवन प्रकासति ॥ १५ ॥
बरनत रूप पार नहिं पावत निगम-सेष-सुक-संकर भारति ।
तुलसिदास केहि बिधि बखानि कहै यह-मन-बचन- अगोचरमूरति ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—सूरति (फा० सूरत) = रूप, आकृति । बिधिसुत = विश्वकर्मा । कदलीजति=कदलीजित । गुल्फ=एँड़ी के ऊपर की गाँठ । रसना=किंकिणी, करधनी । सरबसति=तर्कश । सैवल (सं० शैवाल)=सिवार, सेंवार । जत्रु= गले के नीचे की धन्वाकार हड्डी, जिसे हँसली कहते हैं । अंस=कंध । तति=

विस्तीर्ण । कृकाटिका = कंधे और गले का जोड़, घाँटी । रसित = ध्वनि, शब्द ।

अर्थ—श्री रघुनाथजी की अत्यन्त अतुलनीय छबि तो देखो; मानो ब्रह्माजी ने तीनों लोकों की परमाशोभा एकत्र करके इनके एक-एक मनोहर अंग में रख दी हो ॥१॥ भगवान् श्रीराम के पद्मराग मणि की कान्ति के समान कान्तिवाले कोमल चरण के तलवों में, ध्वजा, अंकुश, वज्र और कमल के चिह्न इस आकृति के हैं; मानो चारों प्रकार के (आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी) इन भक्तों की अनुरागमयी हृदय की दशाएँ आकर रह गई हों ॥२॥ यों तो (भगवान् के चरणों के) सभी चिह्न सज्जनों को सुख देनेवाले हैं; परन्तु उनमें ऊर्ध्वरेखा विशेष शोभायमान है; मानों विलक्षण बुद्धि विश्वकर्मा ने सूर्य मंडल को सँवारने में सूत रक्खा हो ॥३॥ मनोहर पदांगुष्ठ हैं, सघन अँगुलियाँ हैं; उनमें कुछ लाल रंग की नखज्योति जगमगा रही है । श्रीचरण का ऊपरी भाग कुछ उठा हुआ है, वह शरणागतों का पालन करनेवाला है, उनके टखने छिपे हुए हैं और जंघाएँ केले के स्तम्भ की शोभा को जीतने वाली हैं ॥४॥ कामदेव के तर्कश के निचले भाग के समान दोनों घुटने (टिहुनी) हैं और जाँघें हाथी के बच्चे की सूँड़ का मानमर्दन करती हैं । कमर में सोने और रत्न से रचित किंकणी है और पीताम्बर से तर्कश कसे हुए हैं ॥५॥ श्रीरामजी की नाभी रूप सरोवर में उदर की त्रिबली (तीन रेखाएँ) सीढ़ियाँ हैं और उस पर रोमावली सेंवार की छबि पा रही है । उसके ऊपर वक्षस्थल पर मुक्तामणि की मनोहर माला है, वह मानों हंसों की पंक्ति उड़ी चली आ रही हो ॥६॥ हृदय पर पदिक और श्रेष्ठ भृगुचरण चिह्न है और विशाल बाहु घुटनों तक पहुँचती है । सुन्दर बिजायठ सोना और मणियों से पूर्ण हैं और मनोहर पहुँची करकमल में शोभायमान है ॥७॥ सुन्दर यवाकार शुभरेखा, सुन्दरनख और अँगुलियों से युक्त सुन्दर हाथ में मुद्रिका विराजमान है तथा अँगुलित्राण, धनुष और बाण की छबि देवताओं को सुख देने वाली और असुरों के हृदयों में पीड़ा उत्पन्न करनेवाली है ॥८॥ श्याम शरीर सुन्दर चन्दन से लेपित है, उस पर ओढ़ा हुआ पीले रंग का उपरना अधिक छबिमय दीखता है; मानो नीले मेघ पर चन्द्रिका को देखकर बिजली भी अपनी छिप जाने की प्रकृति छोड़कर (स्थिर होकर) दमक रही हो ॥९॥ पवित्र यज्ञोपवीत शोभायमान

है, जत्रु छिपी हुई सुशोभित है और कन्धे मोटे एवं विस्तृत हैं। सुगढ़ (सुघड़) पीठ है और कृकाटिक कुछ उठी हुई है तथा सुडौल शंख के समान कंठ की शोभा मन को प्रिय लगती है ॥१०॥ शरद्‌ऋतु के प्रफुल्लित कमल की शोभा की निन्दा करनेवाली मुख की परमाशोभा तो कुछ कहते ही नहीं बनती। उसे देखते ही आँखों को उपमा रहित सुख मिलता है; वह सुषमा तो अश्विनी कुमार, कामदेव और चन्द्रमा की कान्ति का भी निरादर करती है ॥११॥ लाल-लाल ओठों के भीतर अनुपम दन्तावली सुशोभित है, उनकी मनोहर हँसी तो भक्तों के मनों को खींच लेती है; मानों विद्रुम के बने हुए विमान के मध्य में देवताओं की मंडली पुष्प समूह की वर्षा कर रही हो ॥१२॥ सुन्दर ठोढ़ी और मनोहर हनुस्थल (ठोढ़ी के नीचे का भाग), सुन्दर कपोल और नासिका मन को मोहित किये लेती है। कमल का मान-मर्दन करनेवाले नेत्रों की सुन्दर चितवन अमृतमय जल से सींचती है (इससे हृदय लहलहा उठता है) ॥१३॥ शिर के उचित स्थल पर केश सुशोभित हैं और श्रेष्ठ गम्भीर वचन हैं तथा कानों में कुण्डलों का हिलना हृदय में जगमगा रहा है; मानों नवीन नीले मेघ को देखकर और उसकी ध्वनि (मधुर गर्जना) सुनकर मनोहर मयूरों की जोड़ी नाच रही हो ॥१४॥ चन्द्रमा के लाञ्छन के समान (श्रीरामजी के मुखचन्द्र पर) टेढ़ी भौंहें मनोहर हैं और ललाट पर केशर की रेखा (वाली तिलक) अच्छी सुशोभित हो रही है तथा शिर पर सोना, हीरा और माणिकमय मुकुट की प्रभा तो समस्त भुवन को प्रकाशित कर देती है ॥१५॥ वेद, शेषजी, शुकदेवजी, शङ्करजी और सरस्वतीजी भी इस रूप का वर्णन करते पार नहीं पाते तो तुलसीदास किस प्रकार से इसका वर्णन कर सकता है, यह मूर्ति तो मन और वचन से अगोचर (अविषय एवं परे) है ॥१६॥

विशेष — 'देखो रघुपति-छबि···जनुत्रिलोक-सुषमा···'; यथा—"सुषमा सुरभि सिंगार-छीर दुहि मयन अमिअमय कियो है दही री। मथि माखन सियराम सँवारे, सकल भुवन छबि मनहु मही, री ॥" (बा० १०६)। यहाँ एवं आगे के चरण २, ३, ६, ६, १२, १४ में भी 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा-लङ्कार हैं'।

'पदुमराग रुचि··· रही आनि···'-पद्मराग मणि के समान लालकान्ति

और चिक्कनता है, मणि में कठोरता होती है, उस दोष का निवारण 'मृदु' कह कर किया है। 'ध्वज अंकुस…'; यथा–"अंकुस कुलिस कमल ध्वज सुंदर भँवर तरंग-बिलासा ॥" (पद १५)। 'चहुँ बिधि भगतनि'; यथा–"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।" (गीता ७।१६); अर्थात् हे अर्जुन! आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी- ये चार प्रकार के पुण्यकर्मा मनुष्य मुझको भजते हैं। गजेन्द्र, द्रौपदी आदि आर्त्तभक्त थे, इन्हें प्रारब्ध वश कुसंकट पड़े। वे संकट पाप के परिणाम से थे। अतः, पाप-नाश की वासना से उनके हृदय की दशा कुलिश चिह्न के आधार पर प्रभु में रत हुई, इससे पाप नाश होने से उनके संकट दूर हुए। "योयच्छ्रद्धः स एव सः।" (गीता १७।३); इस नियम से आर्त्त भक्तों की अन्तर्गति कुलिश रूपा है। श्रीगरुड़जी एवं श्रीपार्वतीजी आदि जिज्ञासुभक्त थे। जिज्ञासु में मोहवश अज्ञान होता है। अतः, ये मोह-नाशक कमल चिह्न युक्त श्रीरामजी के चरण का ध्यान कर इस संकट से निवृत्त होते हैं। 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' हो जगत् से निर्लिप्त हो भवार्णव में नहीं पड़ते। अतः, उक्त रीति से इनकी अन्तर्गति कमल रूपा है। ध्रुव-पाण्डव आदि अर्थार्थी भक्त थे, इन्होंने अर्थ प्राप्ति की सिद्धि पाई है। ध्वजा चिह्न प्रतिपक्षी पर विजय प्राप्त करा अर्थ सिद्ध करता है। अतः, अर्थार्थी भक्तों की अन्तर्गति ध्वजा रूपा है। शुक, सनकादि एवं शिव आदि ज्ञानी भक्त थे, इनकी ज्ञान-सिद्धि अंकुश से होती है; यथा- "अङ्कुशाद् ज्ञान संजातं सर्वलोकमलापहम्। प्रापयत्येव सन्मार्गे मत्तमातंगजं मनः।" (महारामायण); अतः, ज्ञानी भक्तों की अन्तर्गति अङ्कुश रूपा है।

अभीष्ट सिद्धि से इनके हृदयों में अनुराग रहता है, यही हृदय पटल पर ललाई है। अनुराग का रंग लाल होता है, उस पर उक्त भावनाएँ चिह्न रूप में अङ्कित रहती हैं। इन चिह्नों से भावानुसार अभीष्ट सिद्धि होती है। अतः, पूर्वोक्त पद १६ के 'चारु चरनतल चिह्न…' पर कथित भाव से यदि किसी अंश में भेद भी हो तो संशय नहीं है।

'सकल सुचिन्ह… मनहुँ भानु मंडलहि…'–भगवान् श्रीरामजी के चरणों में २४ + २४ चिह्न हैं, महारामायण में इनका विस्तृत वर्णन है। ये सभी सज्जनों को सुखदाता हैं; इनमें चरण तल के मध्य की ऊर्ध्वरेखा विशेष

सुशोभित है। उसे उत्प्रेक्षा से कहते हैं मानो विश्वकर्मा ने भानु मंडल सँवारते समय सूत रक्खा हो। चरणतल सूर्यवत् प्रकाशित हैं, उसमें मध्य की वह रेख स्पष्ट देख पड़ती है जैसे बढ़ई लोग काष्ट आदि चीरने में सूत रखते हैं, वह चिह्न दूर से देख पड़ता हो। कहा जाता है कि विश्वकर्मा ने सूर्य को खराद कर सुडौल बनाया था, उसी समय के कार्य पर सूत रखने की उत्प्रेक्षा है। सूर्यमंडल का सँवारना विचित्र मति का ही कार्य है।

'कछुक अरुन···'–अंगुलियों की ललाई लेकर नखों की अरुण ज्योति है। "राजत नख जनु···" (पद १६)–इसका विशेष भी देखिये।

'जंघा कदली जति'—यहाँ 'द्वितीय प्रतीपालङ्कार' है।

'कामतून-तल सरिस जानु जुग'—यहाँ 'धर्मलुप्तोपमालङ्कार' है।

'उरु करिकर करभहि बिलखावति'—यहाँ भी 'द्वितीय प्रतीप अलङ्कार' है।

'नाभिसरसि त्रिबली निसेनिका··· उर मुकुतामनिमाल···'—हंसावली का उड़कर आना कहा गया है। अतः, यहाँ मानस-सरोवर का रूपक समझना चाहिये; यथा–"मानस सकृत मराल" (मा०अ० २८१)। यहाँ 'रूपक से पुष्ट उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है। तथा—"नाभि रोमावलि-त्रिबली-बलित···" (पद १६) ऊपर से पड़ी हुई मुक्ता की माला मानों ऊपर उड़ती हुई हंसावली है।

'बाहुबिसाल जानु लगि पहुँचति'; यथा—"आजानु भुज सरचाप धर···" (वि० ४५)।

'स्याम सरीर··नील जलद पर···'—मेघ पर चन्द्रिका नहीं दीखती, पर जब उसने मर्यादा छोड़ दी, तब बिजली ने भी छिपने की प्रकृति मानों छोड़ दी हो। यहाँ श्याम शरीर नील मेघ है और उसका सुचन्दन-चर्चित होना मेघ पर चन्द्रिका का होना है तथा उस पर पीला उपरना दमकती हुई स्थिर बिजली के समान है। यहाँ 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षालङ्कार' है।

'कंबु कंठ'—इसमें 'रूपकालंकार' है। 'गूढ़ जत्रु'; यथा—"गूढ़जत्रुररिन्दमः। आजानुबाहु···" "बिपुलांसो महाबाहुः कंबुग्रीवो महाहनुः ॥" (वाल्मी० १।१।९-१०)।

'सरद-समय-सरसीरुह-निंदक मुख सुषमा···रबिसुत मदन···'—यहाँ 'प्रतीप-अलङ्कार का द्वितीय भेद' है। कमल की कोमलता, अरुणता और

सौगंध गुण को गौणकर यहाँ सुषमा के कान्ति अंश के वर्णन की प्रधानता है अश्विनी कुमार में सुन्दरता, काम में लावण्य और चन्द्रमा में आह्लादकता गुण प्रधान हैं, श्री राम-मुख-सुषमा में इन तीनों की भी उपमानों से विशेषता है।

'निरखत ही नयननि निरुपम सुख'; यथा—"देखो राघव-बदन बिराजत चारु। जात न बरनि बिलोकत ही सुख···" (पद १०)। "आजु रघुपति मुख देखत लागत सुख···" (पद ११); तथा—"देखत तब बदन कमल मन अनंद होई। कहै कौन रसन मौन जानै कोई कोई।" (कृष्ण गीतावली १)।

'अरुन अधर···बिद्रुम-रचित बिमान···'—यहाँ अरुन अधर ही विद्रुम-रचित विमान हैं, अनुपम दाँतों की पंक्तियाँ सुर मण्डली हैं और मनोहर हँसी उस सुरमण्डली का फूल बरसाना है। लाल ओठ हैं, वैसे ही विद्रुम भी लाल होता है। सत्त्व प्रधान होने से देव मण्डली श्वेत दाँतों के समान है और हँसी श्वेत फूलों का बरसाना है। क्योंकि श्वेत दाँतों की चमक हँसने में फूल झड़ने के समान है। यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षालङ्कार' है।

'पंकज-मान बिमोचन-लोचन'—यहाँ 'द्वितीय प्रतीपालङ्कार' है। और 'चितवनि चारु···' इसमें 'ललीत अलङ्कार' है।

'केस सुदेस, गँभीर बचन बर···लखि नव···'—'गँभीर बचन बर'; यथा—"बोले घन इव गिरा गँभीरा।" (मा० लं० ७३); "भाई सों कहत बात कौसिकहि सकुचात, बोल घनघोर से बोलत थोर-थोर हैं।" (बा० ७१)। उत्प्रेक्षा में यहाँ केश नवनील पयोद है; गँभीर वचन शब्द (गर्जन) और कुंडलों की जोड़ी मोरों की जोड़ी है, उनका हिलना नाचना है।

यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षालंकार' है।

'भौंहैं बंक मयंक अंक रुचि' इसमें 'रूपक-अलंकार' है।

'मुकुट-प्रभा···'; यथा—"कंचन किरीट सिर जटित जोतिमय···" (पद १६)—इसका विशेष देखिये।

'बरतन रूप पार नहिं पावत···'; यथा—"सकल अंग अनूप नहिं कोउ सुकवि बरननि हारु।" (पद ८); "रूप बरनि न सकत नारद संभु सारद सेषु···मतिमंद सकल नरेषु।" (पद ९)—इनके विशेष देखिये। 'यह मन बचन अगोचर मूरति'; यथा—"राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धि पर।"

(मा० अ० १२६); "मम समेत जेहि जान न बानी।" (मा० बा० ३४०); तथा—"यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।" (तैत्त० २।४); इत्यादि।

हिंडोल-क्रीड़ा और पावस ऋतु

राग मलार

[१८]

आली री! राघौ के रुचिर हिंडोलना झूलन जैए॥
फटिक-भीति सुचारु चहुँ दिसि, मंजु मनिमय पौरि।
गच काँच लखि मन नाच सिखि जनु, पाँच सर सुफँसौरि॥
तोरन-बितान-पताक-चामर-ध्वज-सुमन-फलघौरि।
प्रतिछाँह-छबि कबि-साखि दै प्रति सों कहैं गुरु हौं, रि!॥ १॥
मदन-जय के खंभ-से रचे खंभ सरल बिसाल।
पाटीर-पाटि बिचित्र भौंरा बलित बेलना लाल॥
डाँड़ी कनक कुंकुम-तिलक-रेखैं-सि मनसिज-भाल।
पटुली पदिक रति-हृदय जनु कलधौत कोमल माल॥ २॥
उनए सघन घन घोर, मृदु झरि सुखद सावन लाग।
बगपाँति, सुरधनु, दमक दामिनि, हरित भूमि-बिभाग॥
दादुर मुदित, भरे सरित-सर, महि उमँग जनु अनुराग।
पिक-मोर-मधुप-चकोर-चातक-सोर उपवन बाग॥ ३॥
सो समौ देखि सोहावनो नव सत सँवारि-सँवारि।
गुन-रूप-योवन-सींव सुन्दरि चलीं झुंडनि झारि॥
हिंडोलसाल बिलोकि सब अंचल पसारि-पसारि।
लागीं असीसन राम-सीतहिं सुख-समाज निहारि॥ ४॥
झूलहिं, झुलावहिं, ओसरिन्ह गावैं सुहव, गौंड़ मलार।
मंजीर-नूपुर-बलय-धुनि जनु काम-करतल-तार॥
अति मचत श्रमकन मुखनि, बिथुरे चिकुर, बिलुलित हार।
तम तड़ित उड़ुगन अरुन बिधु जनु करत व्योम बिहार॥ ५॥

हिय हरषि, बरषि प्रसून निरखति बिबुध-तिय तृन तूरि।
आनंद-जल लोचन, मुदित मन, पुलक तनु भरि पूरि॥
सब कहहिं, अबिचल राज नित, कल्यान-मंगल भूरि।
चिरजियौ जानकिनाथ जग तुलसी-सजीवनि-मूरि॥ ६॥

शब्दार्थ—पाँच सर सु फँसौरि = कामदेव का सुन्दर फंदा है। फँसौरि = फंदा, पाश। नव-सत = (९ + ७ = १६) सोलह श्रृंगार। समाज = सामग्री; यथा—"बेगि बिलंब न करिअ नृप, साजिअ सबइ समाज।" (मा० अ० ४)।

अर्थ—अरी आली! श्रीरघुनाथजी के मनोहर हिंडोले में झूलने के लिये चलना चाहिये। उस (हिंडोल शाल) के चारों ओर स्फटिकमणि की अत्यन्त मनोहर भित्तियाँ हैं और मणिमय सुन्दर द्वार हैं। वहाँ की काँच की गचों को देखकर मन मोर के समान नाच उठता है, वह मानो कामदेव का सुन्दर फन्दा ही हो। उस हिंडोल शाल में जो बन्दनवारें, चँदोवे, पताके, चँवर, ध्वजाएँ तथा फूलों एवं फलों के गुच्छे हैं, उनकी प्रतिछायाओं (गचकाँच पर पड़े हुए उनके प्रतिबिंबों) की छबियाँ (मानो) कवि को साक्षी देकर अपने प्रतियों (बिम्बों) से कहती हैं कि हम तुम से बड़ी हैं (यदि विश्वास न हो तो कवियों से पूछ लो, ये इसके साक्षी हैं)॥ १॥ उस हिंडोल में कामदेव के विजय-स्तम्भ-सरीखे सीधे और विशाल स्तम्भ (खम्भे) बनाये गये हैं। पाटीर (हिंडोल में लगी हुई नीचे की पाटियाँ) और पाटी (ऊपर की चारो पाटियाँ) विचित्र हैं और भौरों (वह घूमने वाली अँकड़ी जिसमें झूले की डोरी बँधी रहती है) से वेष्ठित लाल-लाल-बेलना (जिसमें हिंडोल की डाँड़ी लगाई जाती है, उसी के आधार पर झूलन रहता है) है। उसमें जो सोने की डाँड़ियाँ लगी हैं वे कामदेव के ललाट में लगी हुई केशर की तिलक की रेखाओं के समान हैं तथा पटरा मानों कामदेव की स्त्री रति के वक्षःस्थल पर पदिक (हीरे) एवं सोने की कोमल माला हो॥ २॥ सुख देने वाला श्रावण महीना लग गया, आकाश में घनघोर घटाएँ उमड़ आई हैं, छोटी-छोटी बूँदों की झड़ी लग रही है। बगुलों की पङ्क्तियों, की एवं इन्द्र धनुष तथा बिजली चमकने की शोभा निराली है। भूमि के सभी विभाग हरे-भरे हो रहे हैं। मेढक बड़े प्रसन्न हैं, नदियाँ और सरोवर जल से भरे हैं, मानों पृथिवी अनुराग से उमँग रही है।

कोयल, मोर, भ्रमर, चकोर और पपीहा, उपवनों एवं बागों में शोर कर रहे हैं ॥ ३ ॥ वह सुहावना समय देखकर सोलहो श्रृंगार सज-सज कर रूप, गुण और यौवन की सीमा रूप सुन्दरी स्त्रियों के झुण्ड के झुण्ड सब की सब चलीं तथा हिंडोलशाल की शोभा-सम्पन्नता देख-देखकर एवं वहाँ की सुख-सामग्री निहार-निहार कर सब अंचल पसार-पसार कर श्रीरामजी और श्रीसीताजीको आशीर्वाद देने लगीं ॥ ४ ॥ फिर वे बारी-बारी से झूलने और झुलाने लगीं तथा झूलती हुई सूहो, गौंड़ और मलार आदि रागे गाने लगीं। किंकिणियों नूपुरों और चूड़ियों एवं कङ्कणों की ध्वनि होती हैं, वह मानों कामदेव की हथेलियों द्वारा बजने वाले मंजीरों की ध्वनि हो रही हों। झूला अत्यन्त बेग से चल रहा है, इससे उन सुकुमारी सुन्दरियों के मुखों पर पसीनों की बूँदे आ गई हैं, शिर के केश बिखरे हुए हैं और हार डोल रहे हैं, वे ऐसे जान पड़ते हैं मानों अन्धकार, बिजली, तारागण, बालसूर्य और चन्द्रमा आकाश में बिहार कर रहे हों ॥ ५ ॥ देवताओं की स्त्रियाँ तृण तोड़-तोड़कर देखती हैं और हृदय से हर्षित होकर फूल बरसाती हैं, उनके नेत्रों में आनन्द के आँसू भरे हैं, मन में मोद हैं और शरीर में पुलकावली पूर्ण है। वे सब कहती हैं कि अत्यन्त कल्याण और मंगल से परिपूर्ण यह रामराज्य सदा अविचल रहे और तुलसीदास के सञ्जीवनी जड़ी रूप श्रीजानकीजी के स्वामी श्रीरामजी जगत् में चिरजीवी रहें ॥ ६ ॥

विशेष—'आली री !···'—यहाँ दो पदों में पावस ऋतु की शोभा एवं उस ऋतु की हिंडोल-क्रीड़ा का वर्णन किया गया है। राजा रामजी ने प्रजा-रंजन के लिये मनोहर हिंडोल शाल की रचना की है। सखियों का झूलना प्रधान है। इसके अन्तर्गत अपनी क्रीड़ा भी गर्भित है, क्योंकि आगे पद २१-२२ में महाराज की बसन्त-क्रीड़ा स्पष्ट कही गई है।

'गच काँच लखि····' स्फटिक मणि की भित्ति एवं काँच की गच्ची की जिस विशेषता पर मन मोर की भाँति नाच उठता है, उसे आगे कहते हैं—'तोरन बितान···'। 'पाँचसर सुफँसौरि'—कामदेव के पाँच पुष्प ही पांच बाण हैं, उन्हीं से वह सबको फँसाता एवं वश में रखता है। वैसे ही यहां स्फटिक

मणि की कान्तिमय भित्तियों के चारों ओर के द्वारों एवं पांचवीं गच कांचों में विशेषता है।

यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षालंकार' है।

'तोरन बितान...प्रतिछाँह...'—इन वन्दनवार आदि से इनके प्रतिबिंबों में शोभा अधिक है। स्फटिक-भित्तियों तथा काँच की गचों पर इनके प्रतिबिम्ब अत्यन्त शोभा दे रहे हैं। बन्दनवारें आदि में कही गई हैं, ये फन्दे की भाँति हैं, इसी प्रकार शेष सभी काम के फन्दों के समान मन को फँसाने वाले हैं, ऐसा कहा गया है। वन्दनवारों में भाँति-भाँति की मणियाँ लगी हैं, जरी आदि के चँदोबे भी रंग-बिरंग की मुक्ताओं की झालरों से विचित्र हैं। ध्वजाओं में भी रेशमी वस्त्रों पर स्वर्णतारों के द्वारा कुछ चिन्ह बने होते हैं। इनके प्रतिबिंबो में और भी विशेषताएँ हैं। कवि शोभा के ज्ञाता हैं। अतः इनकी साक्षी कही गई है।

'मदन जय के खंभ-से...'—कामदेव विश्वविजयी है, यथा—"मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्हीं॥" (मा० बा० २२९), "काम कौतुकी यहि बिधि प्रभुदित कौतुक कीन्ह। रीझि राम रतिनाथहि जगबिजयी बर दीन्ह॥" (अ० ४७)। विजयी लोग अपनी कीर्ति के स्मारक रूप में खम्भ गाड़ते हैं, ये उसकी विजय-कीर्ति के स्मारक रूप में उसके मनोहर खम्भ हैं, इससे उनमें वैसी सुन्दरता है। यहाँ 'पूर्णोपमालङ्कार' है।

'डाँड़ी कनक...'—काम देव बड़ा सुन्दर है, उसने अपनी शोभा बढ़ाने के लिये जो कुंकुम-रेखाओं की तिलक रची होगी तो वह अवश्य ही बड़ी मनोहर होगी, इस हिंडोल की डाँड़ियाँ वैसी ही मनोहर हैं। यहाँ 'धर्मलुप्तोपमालङ्कार' है।

'पटली पदिक...'—पटरी स्वर्ण की है, उसमें हीरा आदि रत्न भी लगे हैं, इससे रति के हृदय के स्वर्ण एवं हीरे की हार की उत्प्रेक्षा है, रति का भूषण परम मनोहर होगा ही। हीरा कठोर होता है, वह दोष 'कोमल' कहकर दूर किया गया है।

'उनए सघन...'—सुखद श्रावण का साज इस चरण में कहा गया है।

'भरे सरित सर...'—पृथिवी के नदियों और तालाबों का उमड़ कर

बहना ही पृथिवी का अनुराग से उमड़ना है। अनुराग प्रवाह भी धारा प्रवाह के समान ही होता है।

यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षालङ्कार' है।

'सो समौ देखि.....'—पावस की उक्त शोभा को देखकर ही इन सुन्दरियों को झूलन-क्रीड़ा का उद्दीपन हुआ, इससे षोड़शोश्रृंगार सजकर चलीं। गुण स्त्रियों के उपयुक्त उत्तम-उत्तम गुण-शील, मृदुभाषण, प्रसन्न चित्त रहना, पति-अनुकूलता, सरल स्वभाव, चातुर्य और मन्दचाल आदि। रूप की विशेषता यह कि सब अंग सुडौल हों और बिना भूषण ही सुशोभित हों। यौवन चौदह वर्ष की अवस्था। 'सुख-समाज'—अपने सुख की सामग्री देख देखकर इसके विधायक श्रीसीतारामजी को आशीर्वाद देने लगीं।

'सुहो गौंड मलार...' मलार राग में यही पद है, सूहोराग में अगला पद है और गौड़ राग अर्थात् सम्पूर्ण जाति का एक राग जिसमें सातो स्वर लगते हैं।

'मंजीर नूपुर बलय धुनि...'—मंजीर कहीं-कहीं नूपुर को ही कहा गया है, पर यहाँ साथ ही नूपुर कहा गया है। अतः, यहाँ किंकिणी के अर्थ में है। अन्यत्र स्पष्ट भी हैं, यथा—"हाटक-घटित जटित मनि कटितट रट मंजीर।" (पद २१), कटि में 'किंकिणी' चरण में 'नूपुर' और हाथ में 'चूड़ियाँ एवं कङ्कण' बजनेवाले भूषण होते हैं। यहाँ 'बलय' पद भी कंकण के अर्थ में है, कोषों में चूड़ियों के अतिरिक्त बलय पद कंकण एवं कड़े के अर्थ में भी कहा गया है। तथा—"कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं। चाल बिलोकि कामगज लाजहिं॥" (मा० बा० ३१७); तथा—"कंकन किंकिनि नुपुर धुनि सुनि," (मा० बा० २२९), इन प्रसंगों में किंकिणि एवं नूपुर के साथ कंकण ही कहा गया है। 'जनु काम-करतल तार'—करताली की ध्वनि मंजीर आदि की ध्वनि-सी नहीं होती। अतः, यहाँ 'तार' पद 'रलयोरभेदः' इस नियम से ताल अर्थात् मंजीरा के अर्थ में है। कामदेव यदि अपनी मनोहर हथेलियों से ही मँजीरा बजावे तो वह ध्वनि जैसे मन हरनेवाली हो, वैसी ही ध्वनि इनके मंजीर आदि की झूलने में हो रही है।

यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षालंकार' है।

'अति मचत···तम तड़ित उड़ुगन···'—झूलने के समय श्रम की अधिकता से मुखों पर पसीनों की बूँदें आ गई हैं। यहाँ बिखरे हुए केश अन्धकार, अंगों की गौर कान्ति बिजली, पसीने की बूँदें तारागण, हिलते हुए हार बालसूर्य तथा मुख चन्द्रमा हैं। केशों का बिखरना, अंगों की गौर कान्ति का फैलना, पसीनों की बूँदों का चमकना, हारों का डोलना और मुखों की प्रसन्नता एवं उनसे गाना आदि इनके बिहार हैं।

यहां भी 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षालंकार' है।

'हिय हरषि···सब कहहिं···'—फूल बरसाना, तृण तोड़ना और शरीर से पुलकित होने में तन की प्रेम दशा, हृदय से हर्ष करने, मन में मोद होने एवं आनन्दाश्रुओं से मन की प्रेम दशा तथा आशीर्वाद देने में इनकी वचन की प्रेम दशा स्पष्ट है। नजर एवं टोना न लगने के लिये स्त्रियाँ तृण तोड़ती हैं। झूलने वाली सखियों ने हिंडोलशाल की सुख सामग्री पर निमग्न हो आशीर्वाद दिया था। इन देवाङ्गनाओं ने यह हिंडोल-क्रीड़ा देखकर इसके रचयिता राजा श्रीरामजी को आशीर्वाद दिया है।

उस समय की देवाङ्गनाओं के मुखों से 'तुलसी सजीवनि मूरि' यह कहला कर अपने भविष्य के सम्बन्ध को पुष्ट कराने में यहाँ 'भाविक अलङ्कार' है।

राग सूहो

[१६]

कोसलपुरी सुहावनि सरि सरजू के तीर।
भूपावली-मुकुटमनि नृपति जहाँ रघुबीर॥
पुर-नर-नारि चतुर अति, धरम-निपुन, रत-नीति।
सहज सुभाय सकल उर श्रीरघुबर-पद-प्रीति॥
श्रीराम-पद-जलजात सबके प्रीति अबिरल पावनी।
जो चहत सुक-सनकादि, संभु-बिरंचि मुनि-मन-भावनी॥
सबही के सुंदर मंदिराजिर, राउ रंक न लखि परै।
नाकेस दुरलभ भोग लोग करहिं न मन बिषयनि हरै॥ १॥

सब रितु सुखप्रद सो पुरी, पावस अति कमनीय।
निरखत मनहिं हरत हठि हरित अवनि रमनीय॥

बीरबहूटि बिराजहिं, दादुर धुनि चहुँ ओर।
मधुर गरजि घन बरषहिं, सुनि सुनि बोलत मोर॥
बोलत जो चातक मोर कोकिल कीर पारावत घने।
खग बिपुल पाले बालकनि कूजत, उड़ात सुहावने॥

बकराजि राजति गगन, हरि धनु, तड़ित दसदिसि सोहहीं।
नभ नगर की सोभा अतुल अवलोकि मुनि मन मोहहीं॥ २॥

अर्थ—श्रीसरयू नदी के किनारे अत्यन्त सोहावनी श्रीअयोध्यापुरी है, जहाँ के राजा राजाओं की श्रेणियों में मुकुटमणि (सर्वश्रेष्ठ) रघुवंशी वीर श्रीरामजी हैं। उस नगर के स्त्री-पुरुष बड़े चतुर, धर्म निपुण और नीति परायण हैं। श्रीरघुनाथजी के चरणों में उन सभी के हृदयों में सहज स्वभाव से प्रीति है। श्रीरामजी के चरण कमलों में उन सबके हृदयों में सदा एक रस रहनेवाली और पवित्र (निष्काम भाव की) प्रीति है, जिसकी श्रीशुकदेवजी, श्रीसनकादिक जी, श्रीशिवजी और श्रीब्रह्माजी भी कांक्षा किया करते हैं और जो मुनियों के मन को भी प्रिय लगने वाली है। उन सभी के घर और आँगन बड़े सुन्दर हैं। राजा और रङ्क के तारतम्य को उनमें पहचान ही नहीं होती। वहाँ के लोग इन्द्र को भी दुर्लभ भोग करते हैं, परन्तु उनके मन उन विषयों के वशीभूत नहीं होते॥१॥ यों तो वह पुरी सभी ऋतुओं में सुख देनेवाली है, परन्तु वर्षा ऋतु में तो वह अत्यन्त मनोहर लगती है। वहाँ की हरी-भरी रमणीय भूमि उस समय देखते ही दर्शकों के मनों का हठात् हरण कर लेती है। चारों ओर बीरबहूटियाँ शोभायमान हो रही हैं और मेढ़कों की ध्वनि सुहावनी हो रही है। मधुर-मधुर गर्जना करके मेघ बरस रहे हैं, उनकी गर्जना सुन-सुनकर मयूर बोलते हैं। वहाँ जो पपीहा, मयूर, कोयल, तोता और बहुत से कबूतर बोलते हैं तथा बहुत से पक्षियों को बालकों ने पाल रक्खे हैं, वे कूदते एव उड़ते हैं। ये सब सुहावने लगते हैं। आकाश में बगुलों की पंक्तियाँ, इन्द्र धनुष और बिजली दशों दिशाओं में शोभायमान हो रही है। इस प्रकार आकाश और

नगर की उस अतुलित शोभा को देखकर मुनियों के मन भी मोहित हो जाते हैं ॥ २ ॥

विशेष—'कोशलपुरी सुहावनी···'—कोसला श्रीअयोध्या का ही नाम है; यथा—"उत्तरे कोसलाभागे···" (महा० शल्य० ३८।२३); तथा—"कोशलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान्। निविष्टा सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान् ॥ अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता।" (वाल्मी० १।५।५-६); अर्थात् श्रीसरयूतट के प्रान्त का नाम कोशल है, उसमें प्रसिद्ध नगर श्रीअयोध्या है। आगे पद २१ का प्रथम चरण भी देखिये।

'भूपावली मुकुट मनि नृपति···'; श्रीअयोध्या श्रीरामजी से पहले ही चक्रवर्ती महाराजाओं की राजधानी थी; यथा—"सामन्तराज संघैश्च वलिकर्मभिरावृताम्।" (वाल्मी० १।५।१४), तथा—"नृप सब रहहिं कृपा अभिलाखे। लोकप करहिं प्रीति रुख राखे॥" (मा० अ० १); श्रीरामजी के राजा होने पर तो तीनों लोकों की राजधानी अयोध्या हो गई; यथा—"रामराज बैठे त्रयलोका। हर्षित भये गये सब सोका॥" (मा० उ० १९)।

'पुर-नर-नारि चतुर अति····'; यथा—"सब निर्दंभ धरमरत घृनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥" (मा० उ० २०); तथा—"आसन्प्रजा धर्मपरा रामेशासति नानृताः॥ सर्वे लक्षणसम्पन्नाः सर्वे धर्म परायणाः।" (वाल्मी० ६।१२८।१०३-१०४); इत्यादि।

'सहज सुभाय सकल उर···'—ये सब श्रीरामजी के नित्य परिकर थे, इसी से लीला भूमि में साथ आये थे। अतः इनकी श्रीरामजी में सहज स्वभाव से ही प्रीति थी;—यथा "तात राम कहँ नर जनि मानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु॥ हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥ निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि। सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥" (मा० कि० २५-२६)। "राम-भगति-रत नर अरु नारी।" (मा० उ० २०)।

'श्रीरामपदजलजात सबके प्रीति···जो चहत सुक-सनकादि····'; यथा—"नित नइ प्रीति राम-पद-पंकज। सब के जिन्हहिं नमत सिव मुनि अज॥" (मा० उ० १४); "जेहि सुख लागि पुरारि, असुभ वेष कृत सिव

सुखद। अवधपुरी नर नारि, तेहि सुख महँ संतत मगन॥ सोई सुख लवलेस, जिन्ह बारक सपनेहुँ लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस, ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति॥" (मा० उ० ८८); "सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥" (मा० लं० २१); "ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं....." (मा० सुं० श्लोक १); "जाके चरन बिरंचि सेइ सिधि पाई संकरहूँ। सुक-सनकादि मुकुत बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ॥" (वि० ८६)।

'सब ही के सुंदर...' ; यथा—"सूर सचिव सेनप बहुतेरे। नृप गृह सरिस सदन सब केरे॥" (मा० बा० २१३); "अवधपुरी बासिन्ह कर सुख संपदा समाज। सहस सेष नहिं कहि सकहिं, जहँ नृप राम बिराज॥" से "सुंदर मनोहर मंदिरायत, अजिर रुचिर फटिक रचे। प्रति द्वार-द्वार कपाट पुरट बनाइ बहु बज्रन्हि खचे॥" (मा० उ० २६-२७) तक।

'नाकेस दुर्लभ भोग...'—ये सब राम-भक्त हैं। अतः, इनके भोग राम-प्रसाद रूप में भक्तिमय होते हैं, इससे हृदय में विषय-स्पृहा का विकार नहीं होता; यथा—"कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः॥" (भाग० ९।४।२०); अर्थात् राजा अम्बरीष जो कुछ भोग करते थे, उसे हरि का प्रसाद जानकर ग्रहण करते थे, विषयी लोगों की भाँति विषय कामना से नहीं तथा हरि के भक्तों में भक्ति हो, इसलिए सब प्रकार के विषयों को प्रथम हरिभक्तों को अर्पण कर पीछे स्वयं ग्रहण करते थे। तथा—"आपूर्य-माणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥" (गीता २।७०); अर्थात् जैसे सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में (नद-नदियों के) जल (उसमें कुछ भी क्षोभ पैदा न करके) समा जाते हैं, वैसे ही जिस पुरुष में सारे भोग (बिना बिकार उत्पन्न किये ही) समा जाते हैं, वही शान्ति को प्राप्त होता है, भोगों की कामनावाला नहीं ! एवं—"ऊसर बरषइ तृन नहिं जामा। जिमि हरिजन हिय उपज न कामा॥" (मा० कि० १४); अर्थात् ऊसर की भूमि ठोस रहती है, इससे वर्षा का पानी ऊपर से ही बह जाता है, भूमि में सरसता नहीं आने पाती। इससे उसमें तृण नहीं जमते। वैसे ही हरिजनों के हृदय में हरि ही की कामना रहती है, उनकी इन्द्रियों के विषय हरि ही रहते हैं। उनकी वृत्तियाँ

हरि में ही रहती हैं। इससे उनके चित्त में काम विकार प्रवेश नहीं करता। 'हरिजन' इस पद में भी ध्वनि है कि हरि अपने जनों की रक्षा भी करते हैं; यथा—"करउँ सदा तिन्ह की रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥ गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥...जनहिं मोर बल ...." (मा०अर० ४२) 'कंदर्पनाग मृगपति मुरारि।'(वि० ६४); "काम कौतुकी यहि बिधि प्रभु-हित कौतुक कीन्ह। रीझि राम रतिनाथहि जग विजयी वर दीन्ह॥ दुखबहु मोरे दास जनि, मानेहु मोरि रजाइ। 'भलेहि नाथ' माथे धरि आयसु चलेउ बजाइ॥" (अ० ४७); "कह तुलसिदास तेहि छाड़ मैन। जेहि राख राम राजिवनयन॥" "तिन की न काम सकै चापि छाँह। तुलसी जे बसे रघुबरि-बाँह॥" (अ० ४८, ४९)। 'नाकेस दुर्लभ भोग' प्राकृत भोगों में इन्द्र का भोग सबसे अधिक है; यथा—"सुनासीर सत सरिस सो संतत करइ बिलास।" (मा० लं० १०); "सक्र कोटिसत सरिस बिलासा।" (मा० उ० ९०)। उस इन्द्र से अधिक श्रेष्ठ भोग भी राम-भक्त को बाधा नहीं कर सकते, यहाँ यह सूचित किया गया है।

'सब रितु सुखप्रद...' यथा—"सब दिन चित्रकुट नीको लागत। बरषा रितु प्रबेस बिसेष गिरि देखन मन अनुरागत॥" (अ० ५०)। पावस की अति मनोहरता आगे कहते हैं—हरी भूमि अपनी रमणीयता से हठात् मन हर लेती है, उस पर लाल-लाल बीरबहूटियाँ लाल रंग के माणिक की भाँति चमकती हुई शोभा देती हैं तथा चारों ओर से मेढ़कों की ध्वनि हो रही है, मधुर-मधुर मेघ गर्जना और उसके साथ मयूर की बोली परम सुहावनी लगती है। चातक-मोर आदि पावस ऋतु की शोभा बढ़ानेवाले हैं। बकराजि, हरि धनु और तड़ित ये आकाश की शोभा बढ़ाते हैं और उपर्युक्त 'हरित-अवनि' से 'बोलत मोर' तक नगर की शोभा बढ़ानेवाले कहे गये हैं। इन्हें देखकर दान्त मुनियों के मन भी मोहित हो जाते हैं।

यहाँ तक पावस की शोभा हिंडोल-क्रीड़ा को उद्दीप्त करनेवाली कही गई। आगे हिंडोल-रचना आदि कहते हैं—

गृह-गृह रचे हिंडोलना, महि गच काँच सुढार।
चित्र-बिचित्र चहूँ दिसि परदा फटिक पगार॥

सरल बिसाल बिराजहिं बिद्रुम खंभ सुजोर।
चारु पाटि पटि पुरट की झरकत मरकत भौंर ॥
मरकत भँवर डाँड़ी कनक मनि-जटित दुति जगि मगि रही।
पटुली मनहुँ बिधि निपुनता निज प्रगटि करि राखी सही ॥
बहुरंग लसत बितान मुकुतादाम-सहित मनोहरा।
नव सुमन माल सुगंध लोभे मंजु गुंजत मधुकरा ॥ ३ ॥

अर्थ—(श्रीअवध-नगर के) घर-घर में हिंडोल शाल की रचना की गई है। (उन हिंडोल शालों में) पृथिवी पर सुन्दर और सुढाल काँच की गच रची गई है। उसमें चारों ओर स्फटिकमणि की भित्तियाँ हैं, उनमें चित्र-विचित्र परदे लटक रहे हैं। सीधे, विशाल और बलिष्ट (सुदृढ़) मूँगे के खम्भे शोभायमान हैं। सोने की सुन्दर ऊपर नीचे की पाटियाँ हैं, उनमें (ऊपर की पाटी में) मरकत मणि के भौंर झलक (प्रकाशित हो) रहे हैं। उन मरकत मणि के भौंरों और मणिजटित सोने की डाँड़ियों की द्युति जगमगा रही है और पटली (पटरा) तो ऐसी शोभायमान है मानो सत्य ही विधाता ने अपनी रचना-प्रवीणता प्रकट कर इसी में रख दी हो। उन हिंडोलों में मोतियों की झालरों के साथ मनोहर बहुत रंगों के चँदोवे सुशोभित हो रहे हैं, उनमें नवीन फूलों की मालाएँ लटकाई गई हैं, उनकी सुगन्धों पर मुग्ध होकर भौंरे मनोहर गुञ्जार कर रहे हैं ॥ ३ ॥

विशेष—'गृह-गृह रचे हिंडोलना'—ऊपर पद में श्रीरघुनाथजी के हिंडोल का वर्णन किया गया है। इस पद में पुरवासियों के घर-घर के हिंडोलों का वर्णन कर रहे हैं।

'महि गच काँच सुढार।...फटिक पगार।'—हिंडोल शालों के चारों कोने में भित्तियाँ स्फटिक मणि की हैं। भूमि काँच की गच्ची की ढाली हुई है। शेष चारों दिशाओं में मूँगे के सीधे और बड़े ऊँचे खम्भे हैं। बीच में भी भित्ति की भाँति पंक्ति से खम्भे ही हैं। इतने ऊँचे हैं कि चारों ओर के जलाशय एवं उनमें फूले हुए कमल, वाटिकाएँ तथा मेघों की घटाएँ और बिजली का दमकना आदि भली-भाँति देखने में आते हैं। इन खम्भों के बीच-बीच में

रंग-बिरंग के परदे टँगे हुए हैं । काँच की गचों एवं स्फटिक मणि की दीवारों में उन परदों के प्रतिबिंब चित्र-विचित्र शोभा-सम्पन्न दीखते हैं ।

'चारु पाटि पटि पुरट की....'—ऊपर के पद में जो "पाटीर पाटि बिचित्र भवरा बलित बेलना लाल ।" कहा गया है, उसी की भाँति दोनों पाटियों का वर्णन यहाँ भी है ।

'झरकत' का अर्थ 'झलकत' है ।

'डाँड़ी कनकमनि...'; यथा—"डाँडी कनक कुंकुम तिलक-रेखें-सुमन सिज़ भाल ।" (पद १८) ।

'पटुली मनहुँ बिधि...'; यथा—"जनु बिरंचि सब निज निपुनाई । बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई ॥" (मा० बा० २२१); तथा—"पटुली पदिक रति हृदय..." (पद १८) ।

यहाँ 'उक्त-विषया-वस्तूत्प्रेक्षा' है ।

'बहु रंग लसत बितान...' सबके घरों में अनेक हिंडोल-शालें हैं, उन में बहुत रंग के चँदोवे हैं—श्वेत, पीत, हरित, लाल एवं द्विरंगे, त्रिरंगे, चौरंगे आदि । 'नय सुमन माल...'—नवीन फूलों में सुगंध अधिक हैं, इससे गन्ध लोभी भ्रमर आनन्दित हो गूँज रहे हैं । आगे झूलन-क्रीड़ा का वर्णन करते हैं—

झुंड-झुंड झूलन चलीं गजगामिनि बर नारि ।
कुसुँभि चीर तनु सोहहिं, भूषन बिबिध सँवारि ॥
पिक बयनी मृग लोचनी सारद ससि सम तुंड ।
राम सुजस सब गावहिं सुस्वर सुसारंग गुंड ॥
सारंग गुंड मलार सोरठ सुहव सुघरनि बाजहीं ।
बहु भाँति तान तरंग सुनि गंधर्व किन्नर लाजहीं ॥
अति मचत छूटत कुटिल कच छबि अधिक सुंदरि पावहीं ।
पट उड़त भूषन खसत हँसि-हँसि अपर सखी झुलावहीं ॥ ४ ॥
फिरि-फिरि झूलहिं भामिनि अपनी-अपनी बार ।
बिबुध-बिमान थकित भये देखत चरित अपार ॥

बरषि सुमन हरषहिं उर, बरनहिं हरि-गुन-गाथ।
पुनि-पुनि प्रभुहि प्रसंसहिं 'जय-जय जानकिनाथ'॥
जय जानकीपति, बिसद कीरति सकल-लोक-मलापहा।
सुर-बधू देहिं असीस, चिरजिवहु राम, सुख-संपति महा॥
पावस समय कछु अवध बरनत सुनि अघौघ नसावहीं।
रघुबीर के गुनगन नवल नित दास तुलसी गावहीं॥ ५॥

शब्दार्थ—सारद (शारद) = शरद् ऋतु के। तुंड = मुख। गुंड (सं० गौड़) = सम्पूर्ण जाति का एक राग। अघौघ = पाप समूह। सुघरनि = सुघड़ों के।

अर्थ—(उन हिंडोलों में) गज-गामिनी श्रेष्ठ स्त्रियाँ झुंड की झुंड झूलने के लिये चली जा रही हैं। उनके शरीरों पर कुसुम रंग की (लाल) साड़ी और भाँति-भाँति के सजाये हुए भूषण शोभायमान हैं। वे सब कोयल के समान स्वर में बोलने वाली और मृग के-से नेत्रों वाली हैं। उनके मुख शरद ऋतु के चन्द्रमा के समान हैं, उन मुखों से वे स्त्रियाँ सुंदर स्वर में सारंग और गौड़ रागों में श्रीरामजी के सुयश गाती हैं। उन सारंग, गौड़, मलार, सोरठ आदि रागों के अनुकूल ही प्रवीणों के बाजे भी बज रहे हैं। उनके बहुत प्रकार के तानों एवं तरंगों को सुनकर गंधर्व और किन्नर लज्जित होते हैं। झूला जब अत्यन्त वेग से मचता (चलता) है, तब उन झूलने वाली स्त्रियों की घुघुराली अलकें छूटकर बिखर जाती हैं, इससे उन सुन्दरियों की शोभा अधिक बढ़ जाती है। उनके वस्त्र उड़ते हैं और भूषण खिसकते हैं, इस पर अन्य सखियाँ हँस-हँसकर और भी झुलाती हैं॥ ४॥ वे सब स्त्रियाँ अपनी-अपनी बारी पर पुनः-पुनः झूलती हैं। इन अपार चरितों को देखते हुए देवताओं के विमान मोहित हो रहे हैं। देवगण फूल बरसाकर हृदय से हर्षित होते हैं और श्रीहरि की गुण गाथाओं का वर्णन करते हैं। वे बार-बार प्रभु की प्रशंसा करते हैं तथा—'श्रीजानकीनाथ की जय हो, जय हो, एवं समस्त लोकों के पापों का अपहरण करनेवाली उज्ज्वल कीर्ति वाले श्रीजानकीनाथ की जय हो'—ऐसा कहते हैं। और 'महान सुख-सम्पत्ति वाले श्रीरामजी बहुत काल तक जीवें' ऐसा आशीर्वाद देवताओं की स्त्रियाँ देती हैं। श्रीतुलसीदासजी

कहते हैं कि श्रीरघुनाथजी के नित्य नवीन गुण गणों को इस प्रकार वे गान करती हैं। मैंने तो पावस-समय के श्रीअवध का और उनके गाये हुए गुणों का कुछ वर्णन किया है, इसका वर्णन एवं श्रवण करने से पाप-समूह का नाश होता है ॥ ५ ॥

विशेष—'झुंड झुंड···कुसुँभि चीर···'—'गजगामिनि' आदि विशेषणों से उन श्रेष्ठ नारियों के सुलक्षणों, 'कुसुंभि चीर' आदि से वस्त्रों और भूषन-विविध से द्वादशों अंगों के सभी आभूषणों का वर्णन कर दिया है।

'पिक बयनी···राम सुजस···'—मधुर स्वरों से श्रीरामसुयश गाती हैं, इससे पिक बचनी कहकर उनकी वाणी की प्रशंसा की है, इसी प्रकार सुयश गाने से शरद् ऋतु के आह्लादवर्द्धक चन्द्रमा के समान कहकर उनके मुखों की प्रशंसा की है और राम-दर्शन सम्बन्ध से मृग-लोचनी कहने में नेत्र-प्रशंसा है।

'सारंग गुंड मलार···'—सारंग और गौड़ सम्पूर्ण जाति के (जिसमें सातों स्वर लगते हों) रागों के भेद हैं। मलार और सुहो तो पावस के प्रधान गाने हैं। सोरठ एक ओड़व राग है। तान = आलाप और तरंग = संगीत में स्वरों का चढ़ाव-उतार, स्वर लहरी। गंधर्व और किन्नर तान-तरंग में बड़े प्रवीण होते हैं, वे भी इनके समक्ष लजा जाते हैं।

'छबि अधिक सुंदरि पावहीं' अतएव 'हँसि-हँसि अपर सखी झुलावहीं' इसकी व्यवस्था है।

'फिरि-फिरि झूलहिं···'—झूलन-क्रीड़ा से तृप्ति नहीं होती, इसी से फिर बारी-बारी से झूलती हैं। 'बिबुध-बिमान···'—अपार चरितों को देखते हुए देवता अपने-अपने विमानों के साथ मुग्ध एवं शिथिल हो गये हैं। देव मुग्ध हो बहुत काल से देखते हैं, इससे उनके विमान शिथिल पड़ गये हैं।

'बरषि सुमन···'—फूल वर्षा करने में कर्म, हृदय से हर्ष करने में मन और हरि-गुन-गाथ वर्णन में उनके वचन की प्रीति है।

'बिसद कीरति सकल लोक मलापहा'; यथा—"समन पाप संताप सोक के।···'काम कोह कलिमल करिगन के। केहरि सावक जन मन बन के ॥''' पावन गंग तरंगमाल से ॥" (मा० बा० ३१)—यह राम गुण महत्त्व है। तथा—"जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ-गाइ भव-निधि नर तरिहहिं।"

(मा० लं० ६४); "निज गिरा पावनि करन कारन रामजस तुलसी कह्यो ।" (मा० बा० ३६०); "तुलसिदास कल कीरति गावहिं, जो कलिमल-समनी ।" (पद २०) ।

'पावस समय कछु...'—श्रीअवध के दर्शन का फल आगे पद २३ में कहा गया है, यहाँ श्रीअवध की पावस-शोभा श्रवण एवं वर्णन का महत्त्व कहते हैं। साथ ही गुण-गण-श्रवण का भी महत्त्व है ही। 'नवल नित'—श्रीरामजी के गुण सदा नवीन ही रहते हैं। उपासकों को सुनने में नवीन का-सा ही आनन्द प्राप्त होता रहता है। इसी प्रकार नाम, रूप और धाम भी नित्य हैं; तथा—"रामस्य नाम रूपं च लीलाधाम परात्परम् । एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दमव्ययम् ॥" (वसिष्ठ-संहिता) ।

शरद् ऋतु की दीपमालिका

राग आसावरी

[२०]

साँझ समय रघुबीर-पुरी की शोभा आजु बनी ।
ललित दीपमालिका बिलोकहिं हित करि अवध धनी ॥ १ ॥
फटिक-भीति-सिखरन पर राजति कंचन-दीप-अनी ।
जनु अहिनाथ मिलन आयो मनि-सोभित सहस फनी ॥ २ ॥
प्रति मंदिर कलसनि पर भ्राजहिं मनि-गन दुति अपनी ।
मानहुँ प्रगटि बिपुल लोहित पुर पठइ दिये अवनी ॥ ३ ॥
घर घर मंगलचार एकरस हरषित रंक गनी ।
तुलसिदास कल कीरति गावहिं, जो कलिमल समनी ॥ ४ ॥

अर्थ—आज सन्ध्याकाल में श्रीरघुनाथजी की पुरी श्रीअयोध्याजी की शोभा अधिक बनी हुई है। श्रीअवध के स्वामी श्रीरामजी स्वयं प्रीतिपूर्वक यहाँ की मनोहर दीपमालिका देख रहे हैं ॥ १ ॥ स्फटिक मणि की भित्तियों के शिखरों (मकानों के ऊपर के निकले हुए नुकीले शिरों एवं कँगूरों) पर सोने की दीपकों की श्रेणी शोभित हो रही है, मानों शेषजी मिलने आये हों और उनके सहस्रों फणों पर मणियाँ सुशोभित हों ॥ २ ॥ प्रत्येक महल के कलशों पर मणिगण

अपनी कान्ति से ऐसी शोभा पा रहे हैं; मानो पृथिवी ने बहुत से मङ्गलग्रह प्रकट करके श्रीअवधपुर (की शोभा बढ़ाने के लिये) भेज दिये हों ॥ ३ ॥ श्रीअवधपुर में घर-घर एकरस मङ्गलाचार हो रहा है, सभी ऐसे हर्षित हैं जैसे रङ्क धनी हो जाने पर हर्षित हो। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वे सभी (श्रीरामजी की) पाप-नाश करनेवाली कीर्ति गाते हैं ॥ ४ ॥

विशेष—'साँझ समय···ललित दीपमालिका···'—कार्तिक की अमावस्या को होनेवाले दीपावली (दीवाली) उत्सव का इस पद में वर्णन है। इसमें सन्ध्या समय घर में भीतर-बाहर दीपक जलाकर पंक्तियों में रक्खे जाते हैं। यहाँ श्रीरामजी के समय की किसी एक दीवाली की शोभा का वर्णन करते हैं—

'ललित दीपमालिका···'—श्रीअवध के धनी अपने धन रूप अवध की सम्पन्नता एवं उसके दीपावली के लालित्य को प्रीतिपूर्वक देखते हैं। श्रीअवध धाम पर आपकी अत्यधिक प्रीति है, इसी से अवतार काल में आपने यहाँ ११००० वर्ष रहकर इस पर अधिक ममत्व प्रकट किया है। अन्त में यहाँ के चराचर को मुक्ति देकर इसकी अधिक महिमा प्रगट की है।

'फटिक-भीति सिखरन···'—स्फटिक मणि स्वतः कान्ति विस्तार करने वाली होती है, इस पर दीवाली के सम्बन्ध से अत्यधिक शोभा है। उत्प्रेक्षा में यहाँ स्फटिक-भित्ति शेष, भित्तियों के शिखर उनके फण और कञ्चन-दीप की पंक्ति उन फणों पर सुशोभित मणि पंक्ति है। मणियों से ज्योति फैलती है, वैसे ही कञ्चन दीपों की टेम से ज्योति निकलती है।

'प्रति मंदिर···मानहुँ प्रगटि···'—मङ्गल लाल रंग हैं, वैसे ही इन कलशों पर माणिक रक्खे हुए हैं, वे अरुण प्रभा फैलाते हैं। 'दुति-अपनी'— इनमें दीपकों की भाँति तेल-अग्नि आदि के संयोग से द्युति नहीं है, किन्तु अपनी ही द्युति है। ऐसा जान पड़ता है मानों पृथ्वी ने अपने जामातृ श्रीरामजी को दीप-मालिका की शोभा का सुख देने के लिये बहुत से मंगल ग्रहों को प्रकट करके इस अवधपुर को भेज दिया हो। मङ्गल ग्रह पृथिवी का पुत्र माना जाता है, ऊपर शब्दार्थ में प्रमाण है। जैसे पूर्व में पृथिवी ने एक मङ्गलग्रह को प्रकट किया था, वैसे ही इस समय मानों उसने बहुत-से पुत्र रूप

मङ्गलग्रह को प्रकट कर भेज दिये हों। तथा—'कामद भे गिरि राम प्रसादा।" से "जाइ न बरनि मनोहरताई। जनु महि करति जनक पहुनाई॥" (मा० अ० २७८) तक।

यहाँ कलशों पर रक्खे हुए 'मनिगन' ही 'बिपुल लोहित' हैं। मङ्गल पथिवी से कुछ ऊपर रहते हैं। वैसे ही ये मणिगण भी मंदिरों के ऊपरी शिखरों पर हैं। इस पद के द्वितीय और तृतीय चरणों में 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षालंकार' हैं। 'एकरस हरषित रंक गनी'—इसका सरलार्थ तो यों हो सकता था—दरिद्र और धनी सभी एकरस हर्षित हैं। परन्तु श्रीरामराज्य में कोई दरिद्र था ही नहीं; यथा—"राम-प्रताप बिषमता खोई॥ नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥" (मा० उ० २०)। इसलिये मैंने उपर्युक्त रीति से अर्थ किया है। रङ्क सहसा धनी हो जाने पर बहुत हर्षित होता है; यथा—"हरषहिं निरखि राम-पद अंका। मानहुँ पारस पायो रंका॥" (मा० अ० २३७); "हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई।" (मा० उ० ३८)। वैसे ही इस मङ्गलाचार पर सभी एकरस मङ्गलाचार करने में हर्षित हैं। श्रीरामजी भी इस शोभा को प्रीतिपूर्वक देख रहे हैं। अतएव इस शोभा की सम्पन्नता में रत होने में सबको अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

'कल कीरति गावहिं, जो कलिमल समनी'; यथा—"बिसद कीरति सकललोक मलापहा।" (पद १९)—इसका विशेष देखिये। ऊपर सबका अत्यन्त हर्षित होना कहा गया है। वे सब हर्षित होकर प्रभु की कल-कीर्त्ति गाते हैं जिसे गाने-सुनने से पाप नष्ट होते हैं यह उस कीर्ति का महत्त्व ग्रन्थकार कह रहे हैं।

बसन्त ऋतु और फाग क्रीड़ा

राग गौरी

[२१]

अवध नगर अति सुंदर बर सरिता के तीर।
नीति-निपुन नर निवसहिं, धरम-धुरंधर, धीर॥ १॥

सकल रितुन्ह सुखदायक, तामहँ अधिक बसंत।
भूप-मौलि-मनि जहँ बस नृपति जानकीकंत ॥ २ ॥
बन उपवन नव किसलय, कुसुमित नाना रंग।
बोलत मधुर मुखर खग, पिकबर, गुंजत भृंग ॥ ३ ॥
समय बिचारि कृपानिधि, देखि द्वार अतिभीर।
खेलहु मुदित नारि - नर, बिहँसि कह्यो रघुबीर ॥ ४ ॥
नगर-नारि-नर हरषित सब चले खेलन फागु।
देखि राम - छबि अतुलित उमँगत उर अनुराग ॥ ५ ॥
स्याम तमाल जलद तनु निर्मल पीत दुकूल।
अरुन कंज दल लोचन सदा दास अनुकूल ॥ ६ ॥
सिर किरीट, श्रुति कुंडल, तिलक मनोहर भाल।
कुंचित केस, कुटिल भुअँ, चितवनि भगत-कृपाल ॥ ७ ॥
कल कपोल, सुक नासिक, ललित अधर द्विज-जोति।
अरुन कंज महँ जनु जुग पाँति रुचिर गजमोति ॥ ८ ॥
बर दर-ग्रींव, अमितबल बाहु सुपीन, बिसाल।
कंकन - हार मनोहर, उरसि लसति बनमाल ॥ ९ ॥
उर भृगुचरन बिराजत, द्विज-प्रिय चरित पुनीत।
भगत हेतु नर - बिग्रह सुरवर गुन - गोतीत ॥ १० ॥
उदर त्रिरेख मनोहर, सुंदर नाभि गँभीर।
हाटक-घटित, जटित मनि कटि तट रट मंजीर ॥ ११ ॥
उरु अरु जानु पीन, मृदु, मरकत खंभ समान।
नूपुर मुनि मन मोहत, करत सुकोमल गान ॥ १२ ॥
अरुन बरन पद पंकज, नख-दुति इंदु - प्रकास।
जनकसुता - कर - पल्लव - लालित बिपुल बिलास ॥ १३ ॥
कंज - कुलिस - ध्वज - अंकुस रेख चरन सुभचारि।
जन-मन - मीन हरन कहँ बनसी रची सँवारि ॥ १४ ॥
अंग - अंग प्रति अतुलित सुषमा बरनि न जाइ।
एहि सुख मगन होइ मन फिरि नहिं अनत लोभाइ ॥ १५ ॥

अर्थ—श्रेष्ठ नदी श्रीसरयूजी के तट पर बसा हुआ श्रीअवध नगर अत्यन्त सुन्दर है। वहाँ पर सभी मनुष्य नीति-निपुण, धर्म धुरंधर और धैर्यवान् निवास करते हैं ॥१॥ वह नगर जहाँ पर राजाओं में शिरोमणि श्री जानकीनाथ श्रीरामजी राजा हैं, सभी ऋतुओं में सुख देनेवाला है, उनमें भी बसन्त ऋतु में उसकी शोभा अधिक बढ़ जाती है ॥२॥ बसन्त में वहाँ के वनों और उपवनों में जब नये-नये पल्लव और नाना रंग के फूल फूले हुए थे और श्रेष्ठ पक्षी कोकिल आदि मधुर शब्द बोल रहे थे तथा भौंरे गुंजार कर रहे थे ॥३॥ (फाग खेलने के उपयुक्त) उस समय को विचार कर कृपानिधान रघुबीर श्रीरामजी ने द्वार पर उपस्थित भीड़ देखकर उनसे बिहँस कर कहा कि हे स्त्री-पुरुषों! आनन्दित होकर आपलोग होली खेलें ॥४॥ तब श्रीअवध नगर के सब स्त्री-पुरुष हर्षित होकर होली खेलने लगे। श्रीरामजी की अतुलित छबि देखकर उन सबके हृदयों में अनुराग उमँग रहा था ॥५॥ श्रीरामजी का शरीर श्याम तमाल और श्याममेघ के समान सुशोभित था, उसपर वे निर्मल पीला उपरना ओढ़े हुए थे। सदा भक्तों पर प्रसन्न रहनेवाले लाल कमल-दल के समान उनके नेत्र थे ॥६॥ उनके शिर पर किरीट, कानों में कुंडल और ललाट पर मनोहर तिलक सुशोभित था। उनकी अलकावली घूँघुरवाली (छल्लेदार) और भौंहें टेढ़ी थीं तथा चितवन भक्तों पर कृपा करनेवाली थी ॥७॥ उनके कपोल बड़े सुन्दर थे, नासिका तोते की चोंच के समान सुन्दर थी और मनोहर ओठों के बीच में दाँतों की ज्योति ऐसी जान पड़ती थी; मानो लाल कमल के बीच में गजमुक्ताओं की मनोहर दो पँक्तियाँ हों ॥८॥ उनकी श्रेष्ठ गर्दन शङ्ख के समान सुडौल थी तथा सुंदर पुष्ट और बड़ी-बड़ी बाहुओं में अपरिमित बल था। उनके कङ्कण और हार मनोहर थे तथा वक्षस्थल में बनमाला शोभायमान थी ॥९॥ उनके हृदय पर भृगुचरणचिह्न सुशोभित था; क्योंकि वे ब्राह्मण-प्रिय और पवित्र आचरण वाले थे। यों तो वे देवों में श्रेष्ठ तथा सत्त्वादि गुणों और इन्द्रियों से परे हैं, परन्तु भक्तों के लिये उन्होंने नर-शरीर धारण किया था ॥१०॥ उनके उदर पर मनोहर तीन रेखाएँ थीं और उनकी सुंदर नाभी बड़ी गंभीर थी। उनके कटि प्रदेश में सोने की बनी हुई और मणि जटित किंकणी मनोहर शब्द कर रही थी ॥११॥ उनकी जंघाएँ और घुटने पुष्ट और

कोमल मरकतमणि के खम्भों के समान तथा चरणों के नूपुर सुन्दर कोमल ध्वनि करते हुए मुनियों के मनों को मोह लेते थे ॥१२॥ उनके चरण कमल अरुण वर्ण थे और चरण-नखों की द्युति चन्द्रमा के प्रकाश के समान (आह्लाद-कर) थी। वे चरण-कमल श्रीजनकनन्दिनीजी के पाणिपल्लवों के द्वारा मनोहर चेष्टा से दुलराये जानेवाले थे॥१३॥ उन चरणों में कमल, वज्र ध्वजा और अंकुश की चार शुभ रेखाएँ थीं; वे मानों भक्तों के मन रूप मीन का हरण करने (फँसाने) के लिए सँवार कर रची हुई बंशी (मछली पकड़ने का बाँस का एक यन्त्र) थीं ॥१४॥ इस प्रकार श्रीरामजी के एक-एक अङ्ग की परमाशोभा अतुलित है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इस सुख में निमग्न होकर मन फिर अन्यत्र लुब्ध नहीं होता ॥१५॥

विशेष—'अवध नगर अति सुंदर…'—नगर स्वतः बड़ा सुंदर है, इसकी सुन्दरता आगे पद २३ में कुछ कही गई है। यह चक्रवर्ती महाराज की राजधानी है, इससे अत्यन्त सुन्दर होना इसका युक्त ही है। फिर भगवान् के नेत्र से उत्पन्न और ब्रह्मर्षिजी के द्वारा आई हुई श्रेष्ठ नदी श्रीसरयूजी के तट सम्बन्ध से भी इसकी महिमा अधिक है। उस समय तो इसमें त्रिपाद-विभूति का वैभव परिपूर्ण था, इससे इसके विभव एवं सौन्दर्य का पारावार ही नहीं था। तथा—"कौसलपुरी सुहावनि सरि सरजू के तीर।" (पद १९)—इसे भी देखिये।

'नीति-निपुन नर…'; यथा—"पुर-नर-नारि चतुर अति…" (पद १९)—इसका विशेष देखिये। नीति-निपुणता से लोक सुख और धर्म-धुरंधरता एवं धीरता से उनमें परलोक-सुख की सम्पन्नता कही गई है।

'सकल रितुन्ह सुखदायक…'—उपर्युक्त पद १९ में लिखा गया—"सब रितु सुखप्रद सो पुरी, पावस अति कमनीय।" उसी प्रकार यहाँ बसन्त ऋतु के लिये भी कहते हैं, इन दोनों स्थलों के वर्णनों का तात्पर्य यह कि जिस समय जो ऋतु आती है, वह पूर्व की ऋतुओं से अधिक रमणीय ही दिखती है, ऐसी दिव्यता है। ऐसी ही श्रीरामजी के रूप में भी देखने पर पूर्व देखे हुए की अपेक्षा नवीनता ही अनुभूत होती है। इसी से कहा गया है—"संकर

सोइ मूरति उर राखी ।।" (मा० बा० ७६); अर्थात् प्रथम की देखी से इसमें विशेषता थी ।

'भूपमौलिमनि जहँ बस…'; यथा—"भूपावली मुकुटमनि नृपति जहाँ रघुबीर ।" (पद १९)—इसका विशेष देखिये । 'जानकी कंत'—इस विशेषण का भाव यह कि श्रीजानकीजी अपने स्वामी के राज्यत्व को अधिक रम्य बनाने के लिए सिद्धियों के द्वारा यहाँ स्वर्ग से भी अधिक भोग विभूति रखती हैं; यथा—"जानी सिय बरात पुर आई । कछु निज महिमा प्रगटि जनाई ।।" से "बिभव भेद कछु कोउ न जाना । सकल जनक कर करहिं बखाना ।।" (मा० बा० ३०५-३०६) तक । आगे बसन्त ऋतु की शोभा कहते हैं ।

'बन उपबन…बोलत मधुर मुखर खग…'; यथा—"प्रगटेसि तुरत रुचिर रितुराजा । कुसुमित नव तरु राजि बिराजा ।। बन उपवन वापिका तड़ागा । परम सुभग सब दिसा बिभागा ।।" (मा० बा० ८५); तथा—"सुंदर खग गन गिरा सुहाई । जात पथिक जनु लेत बोलाई ।।…नव पल्लव कुसुमित तरु नाना । चंचरीक पटली कर गाना ।।" (मा० अर० ३९) ।

'समय बिचारि कृपानिधि….'—बसन्त ऋतु का समय है, इससे प्रेरित हो होली खेलने की लालसा से लोगों की भीड़ एकत्र हुई है । इन्हें इस क्रीड़ा का सुख प्राप्त हो, इस दृष्टि से कृपानिधान ने कृपा करके क्रीड़ात्मक भाव से बिहँस कर लोगों से आनन्दपूर्वक होली खेलने को कहा । यों तो ये लोग अपने-अपने यहाँ होली खेलते ही थे, पर आज महाराजा के द्वार पर और महाराजा के साथ भी होली खेलने की लालसा है । कृपानिधान इसे भी पूरी करेंगे । होली के धृष्टतापूर्ण खेलों से लोग डरते थे इससे उन्हें भय-रहित मुदित होकर खेलने की आज्ञा हुई, बिहँस कर उनका भय छुड़ाया ।

'नगर नारि-नर हरषित…देखि राम-छबि….'—आज्ञा पाकर नगर के (नागर = व्यवहार प्रवीण) स्त्री-पुरुष फाग खेलने चले, किन्तु आज श्रीरामजी के साथ फाग खेलना है । अतः श्रीरामजी की छबि देखने लगे । आपकी अतुलित छबि देख हृदय से अनुराग उमँगने लगा, यथा—"रामहिं देखि एक अनुरागे । चितवत चले जाहिं सँग लागे ॥" (मा० अ० ११२) । उन्होंने छबि जिस प्रकार देखा था, उसका ग्रन्थकार वर्णन कर रहे हैं ।

'अरुन कंज दल लोचन...' ; यथा—"नहिं कोऊ प्रिय मोहिं दास सम...।" (सुं० ४५)—इसका विशेष देखिये। अरुण कंज दल ही राजीव कहाता है ; तथा—"राजिव नयन धरे धनु-सायक। भगत-बिपति-भंजन सुख दायक ।।" (मा० बा० १७)। आगे भी कहते हैं—"चितवनि भगत कृपाल।" 'अरुन कंज...' इसमें सदा की स्वाभाविक प्रसन्नता और 'चितवनि...' इसमें कुछ विशेष कृपा करने के लिए देखने के प्रति कथन है। अतः पुनरुक्ति नहीं है।

'कल कपोल, सुक नासिक...अरुन कंज महँ....'—'सुक-नासिक' इसमें 'रूपक अलङ्कार' है। 'ललित अधर द्विज जोति' इस पर उत्प्रेक्षा है। अरुण अधर ही अरुण कंज हैं और इनके बीच की नीचे-ऊपर की दाँतों की दोनों पंक्तियाँ ही गजमुक्ताओं की दो पंक्तियाँ हैं।

यहाँ 'रूपक से पुष्ट उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा-अलङ्कार' है।

'बर दर ग्रीव' इसमें 'रूपक-अलङ्कार' है। 'उरसि लसति बनमाल'; यथा—"भ्राजत बनमाल उरसि, तुलसिका प्रसून-रचित बिबिध बिधि बनाई।" (पद २)-इसका विशेष देखिये।

'उर भृगु-चरन बिराजत...'—यह चिह्न ब्राह्मण के प्रति श्रीरामजी का प्रियत्व सूचक है। ब्राह्मणों को अपना देव मानना आचरण में पवित्रता है; यथा—"प्रभु ब्रह्मन्य देव मैं जाना। मोहिं निति पिता तजे भगवाना॥" (मा० बा० २०८); कमलवत् चरण का भी चिह्न बन गया, इससे हृदय स्थल की अत्यन्त कोमलता सिद्ध होती है; तथा—"उर बिसाल भृगु चरन चारु अति सूचत कोमलताई ।।" (वि० ६२)।

'भगत हेतु नर-बिग्रह...'—भक्त मनु-शतरूपा हुए, उनके लिए आपने नर-विग्रह धारण किया। अपने नित्य विग्रह में मनुष्यों के-से बाल-किशोर आदि अवस्थाओं के अभिनय किये, यही नर देह धारण करना है; यथा—"तुम्हहिं लागि धरिहौं नर बेषा ।।" (मा० बा० १८६); "इच्छामय नर बेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे ।।" (मा० बा० १५१)। "नरतनु धरेहु संत-सुर काजा ॥" (मा० अ० १२६); "अवतरेउ अपने भगत-हित निज तंत्र नित रघुकुलमनी ।।" (मा० बा० ५०)। 'सुरवर'; यथा—"केकीकंठाभनीलं

सुरवरविलसद्विप्रपादाब्जचिह्नम् ।" (मा० उ० श्लोक १)। 'गुन गोतीत' ; यथा—"ज्ञान गिरा गोतित अज, माया मन गुन पार । सोइ सच्चिदानंदघन कर नर चरित उदार ॥" (मा० उ० २५)।

'उदर त्रिरेख...' ; यथा—"नाभी सर त्रिबली निसेनिका...." (पद १७) ; 'हाटक घटित...कटि तट रट मंजीर ।'—अन्यत्र मंजीर नूपुर के अर्थ में भी रहता है, पर यहाँ स्पष्ट किंकिणी के अर्थ में है; तथा—"मंजीर नूपुर बलय धुनि...." (पद १८) ; इसका विशेष भी देखिये ।

'मृदु मरकत खंभ समान'—मरकत में कठोरता होती है, उसे मृदु कह कर दूर किया है ।

'जनकसुता कर पल्लव लालित...'; यथा—"कोसलेन्द्रपदकंजमञ्जुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ। जानकीकरसरोजलालितौ चिन्तकस्य मनभृङ्गसङ्गिनौ ।।" (मा० उ० श्लोक २)।

'कंज कुलिस ध्वज अंकुस...' ; यथा—"पदुमराग रुचि मृदु पदतल ध्वज अंकुस कुलिस कमल यहि सूरति । रही आनि..." (पद १७) ; तथा—"चारु चरन तल चिह्न चारि..." (पद १६) देखिये ।

'जन-मन-मीन हरन कहँ....'—भक्तों का मन विषय-वारि में मीनवत् निमग्न रहता है ; यथा—"बिषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक ।" (बि० १०२) ; इसे वंशी से फँसाने की विधि ; यथा—"कृपा डोरि, बंसी पद-अंकुस, परम प्रेम मृदु चारो । एहि बिधि बेधि हरो मेरो दुख कौतुक राम तिहारो ॥" (वि० १०२) । यहाँ पर चारो चिह्नों को वंशी के रूप में कहा गया है। अतः इन्हें वंशी के चार अङ्गों (चारा, काँटा, डोरी और बाँस इन) में लगाना चाहिये । मनोरथ दाता ध्वजा, चारा, अंकुश मनको खींच कर वश करता है । अतः, यह काँटा है। कमल जल से निर्लिप्त रहता है, वैसे कमल चिह्न बाँस की भाँति इसे विषय वारि से पृथक रखता है और वज्र पाप-पहाड़ का नाश कर मन को डोरी की भाँति बाँध कर बिषय-बारि से भिन्न करता है । पाप नाश से शुद्ध मन में वैराग्य होता है अथवा उपर्युक्त "चारु चरन तल चिह्न चारि फल देत ..." (पद १६) ; इसकी रीति से चारो मनोरथ रूप

चारा देकर मनको अपने में लगा लेते हैं, यही वंशी से खींच लेना है। इसमें 'रूपक अलङ्कार' है।

'अंग-अंग प्रति अतुलित सुषमा...'; यथा—"बय किशोर सुषमा-सदन स्याम गौर सुख धाम। अंग-अंग पर बारिअहि कोटि-कोटि सतकाम॥" (मा० बा० २२०); "जनु तिलोक सुषमा सकेलि बिधि...." (पद १७) एवं "बरनत रूप पार नहिं पावत...." (पद १७) देखिये।

'एहि सुख मगन होइ मन...'; यथा—"देव देखि तब बालक दोऊ। अब न आँखि तर आवत कोऊ॥" (मा० बा० २९२); "जेहि सुख लागि पुरारि, असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नरनारि तेहि सुख महँ संतत मगन सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहुँ लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति॥" (मा० उ० ८८)।

यहाँ तक फाग खेलने पर उद्यत होना और श्रीरघुनाथजी की रूपछटा कही गई। आगे फाग खेलना कहते हैं:—

खेलत फाग अवधपति अनुज-सखा सब संग।
बरषि सुमन सुर निरखहिं सोभा अमित अनंग॥ १६॥
ताल, मृदंग, झाँझि, डफ बाजहिं पनव-निसान।
सुघर सरस सहनाइन्ह गावहिं समय समान॥ १७॥
बीना-बेनु-मधुर-धुनि सुनि किन्नर-गंधर्व।
निज गुन गरुअ हरुअ अति मानहिं मन तजि गर्व॥ १८॥
निज-निज अटनि मनोहर गान करहिं पिक बैनि।
मनहुँ हिमालय सिखरनि लसहिं अमर-मृगनैनि॥ १९॥
धवल धाम ते निकसहिं जहँ-तहँ नारि-बरूथ।
मानहु मथत पयोनिधि बिपुल अपसरा-जूथ॥ २०॥
किंसुक-बरन सुअंसुक सुषमा मुखनि समेत।
जनु बिधु-निबह रहे करि दामिनि-निकर निकेत॥ २१॥
कुंकुम सुरस अबीरनि भरहिं चतुर बर नारि।
रितु सुभाय सुठि सोभित देहिं बिबिध बिधि गारि॥ २२॥
जो सुख जोग, जाग, जप, तप तीरथ ते दूरि।

रामकृपा ते सोइ सुख अवध-गलिन्ह रह्यौ पूरि ॥ २३ ॥
खेलि बसंत कियो प्रभु मज्जन सरजू - नीर ।
बिबिध भाँति जाचक जन पाए भूषन - चीर ॥ २४ ॥
तुलसिदास तेहि अवसर माँगी भगति अनूप ।
मृदु मुसुकाइ दीन्हि तब कृपा दृष्टि रघुभूप ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—अंसुक=वस्त्र। निबह=समूह। कुंकुम (कुंकुमा, सं० कुंकुम)= झिल्ली की कुप्पी या ऐसा बना हुआ लाख का पोला गोला जिसके भीतर गुलाल भरकर होली के दिनों में दूसरों पर मारते हैं—हिं० श० सा०। अनूप—रसमयी, रसरूपा।

अर्थ—श्रीअयोध्याजी के स्वामी श्रीरामजी सब भाइयों और सखाओं को साथ लेकर फाग (होली) खेलने लगे। देवगण फूल बरसा कर आपकी अगणित कामदेव की शोभा देखने लगे ॥१६॥ उस समय ताल, मृदंग, झाँझ, डफ, ढोल और नगाड़े बजने लगे। प्रवीण (पुरवासी गण) सरस राग में बजने वाली सहनाइयों में एवं उसके साथ मिलकर समय के अनुसार रागें गाने लगे ॥१७॥ वीणा और बाँसुरी की मधुर ध्वनि सुनकर किन्नर और गंधर्व गण अपने गरुअ (बड़े) गुण को भी (इनके समक्ष) गर्व छोड़ कर अपने मन में अत्यन्त हलके (तुच्छ) मानने लगे ॥१८॥ अपनी-अपनी अटारियों पर कोयल के समान स्वर वाली स्त्रियाँ मनोहर गान करने लगीं; मानो हिमालय पहाड़ के शिखरों पर देवताओं की सुन्दर स्त्रियाँ सुशोभित हो रही हों ॥१९॥ जहाँ तहाँ अपने-अपने उज्ज्वल महलों से स्त्रियों के झुण्ड निकलते हैं, मानो बहुत-से अप्सराओं के झुण्ड क्षीरसागर मथ रहे हों ॥२०॥ टेसू के फूल के रंग वाले (लाल लाल) उनके सुन्दर वस्त्र हैं, उनके मुखों के साथ ऐसी परमा-शोभा जान पड़ती है, मानो चन्द्रमाओं के समूह बिजली समूह के घर बना कर रह रहे हों ॥२१॥ वे श्रेष्ठ चतुर स्त्रियाँ घोरा हुआ अबीर कुंकुमाओं में भरती हैं और ऋतु के स्वभावानुसार जो विविध-विध की गालियाँ देती हैं, वे अत्यन्त सुहा-वनी लगती हैं ॥२२॥ जो सुख योग, यज्ञ, जप, तपस्या और तीर्थाटन आदि पुण्यों से भी दूर है (नहीं मिल सकता है,) श्रीरामजी की कृपा से वही सुख श्रीअवध की गलियों में पूर्ण हो रहा है ॥२३॥ प्रभु श्रीरामजी ने बसन्त

(होली) खेलकर श्रीसरयूजी के जल में स्नान किया। नाना प्रकार के आभूषण और वस्त्र याचक लोगों को प्राप्त हुए ॥२४॥ उस अवसर पर तुलसीदास ने भी रस रूपा भक्ति माँगी है, तब रघुकुल-भूप श्रीरामजी ने कृपा दृष्टि से मन्द मुसकरा कर दी है ॥२५॥

विशेष—'खेलत फाग अवधपति…बरषि सुमन सुर…'—यह फाग पुरवासियों के साथ खेला जा रहा है। देवगण फूल बरसाकर अपना हर्ष एवं मङ्गलभाव प्रकट करते हैं, उन्हें करोड़ों कामदेवों की शोभा देखने का आनन्द मिलता है। 'अवध पति' पद का भाव यह कि नित्य अवध की विभूति उस समय इस अयोध्या में आविर्भूत थी और ये पुरजन भी वहीं के नित्य परिकर हैं। "सहज सुभाय सकल उर…" (पद १६)—इसके विशेष में प्रमाण लिखे गये। 'निज गुन गरुअ…'—किन्नर और गंधर्व की जाति ही गाने-बजाने की है। यों भी स्वाभाविक ही गुणियों में अपने गुण का गर्व रहता है; यथा—"गरब ते गुनी। नासहिं बेगि नीति अस सुनी॥" (मा० अर० २०)। परन्तु इन लोगों ने हृदय से हार मान ली है, नगर निवासियों के गान-वाद्य में अपने से अत्यन्त अधिकता मान ली है; यथा—"उघटहिं छंद-प्रबंध, गीत-पद, राग-तान-बंधान। सुनि किंन्नर गंधर्व सराहत बिथके हैं बिबुध-बिमान॥" (बा० २)।

'निज-निज अटनि…मनहुँ हिमालय…'—यहाँ अटारियाँ हिमालय के शिखर हैं और पिक वचनी स्त्रियाँ हो देव-पत्नियाँ हैं। सभी के महल श्वेत वर्ण के ऊँचे हिमालय शिखर के समान हैं। इनके गान और स्वर भूमि पर स्थित लोगों के मन हरने वाले हैं।

यहाँ एवं आगे के २०-२१ वें चरणों में 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षालङ्कार' हैं।

'धवल धाम ते…मानहु मथत…'—यहाँ श्वेत धाम क्षीरसागर और नारि-बरूथ ही अप्सरा यूथ हैं। धामों से निकलना मथना है।

'किंसुक बरन…जनु बिधु-निबह…'—यहाँ लाल रंग के सुंदर वस्त्र ही बिजली के समूह और सब के मुख चन्द्रमाओं के समूह हैं। अबीर-गुलाल आदि से सबके वस्त्र लाल टेसू के फूल-सरीखे हो गये हैं। यहाँ घूँघुट के साथ स्त्रियों के मुखों की परमाशोभा पर उत्प्रेक्षा है।

'कुकुम सुरस'''रितु सुभाय'''—स्त्रियाँ कुंकुमा में घोरे हुए रंग लिये हुई रहती है। गाली देने पर जब उधर कोई देखता है। तब चतुराई से कुंकुमा मारकर उसे रंग देती हैं। ऋतु के अनुसार गाली अत्यन्त शोभा देती है; यथा—"नर नारि परस्पर गारि देत। सुनि हँसत राम भाइन्ह समेत ॥" (पद २२)।

यहाँ 'सहज स्वभावोक्ति अलंकार' है।

'जो सुख जोग'''राम कृपा ते'''—यहाँ श्रीरामजी ने कृपाकर अपने रूप एवं क्रीड़ा के माधुर्य से इन सब के मनों को अपने में आकर्षित कर प्रेम-लक्षणा एवं पराभक्ति की दशा प्राप्त करा दी है। यह सुख इन योग आदि से दुर्लभ है; यथा—"मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ, परानंद संदोह ॥" (मा० उ० ४६); तथा—उपर्युक्त "एहि सुख मगन होइ मन...." इसका विशेष देखिये।

'बिबिध भाँति....'—होली खेलने पर पीछे दान एवं निछावर आदि देने की रीति है।

'तेहि अवसर माँगी भगति'''—याचकों पर प्रभु को अनुकूल जान ग्रन्थकार ने भी अवसर जानकर वैसी ही अनूप (सरस-रस रूपा) भक्ति माँगी है; यथा—"जलप्रायमनूपं स्यात्" (अमरकोष); भगवान् का अपने परिकरों के साथ होली आदि खेलने की सरस क्रीड़ा करना रस रूपा भक्ति है। ग्रन्थकार ने ध्यानात्मिका रस रूपा पराभक्ति में निमग्न हो इस क्रीड़ात्मक पद्य की रचना की है। ध्यान में ही प्रभु से इस भक्ति की याचना की है और प्रभु ने मन्द मुस्कान के साथ कृपा दृष्टि से इनकी कांक्षापूर्त्ति की है। 'रघुभूप' पद का भाव यह है कि माधुर्य में आपके पुरुषा रघुमहाराज महादानी थे। आप उसी गद्दी के भूप हैं। अतः, प्रभु ने ऐसा दुर्लभ दान भी दिया है; यथा—"मुनि दुर्लभ हरि भगति'''" (मा० उ० ३२६); "अबिरल भगति बिशुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत जोगीस मुनि, प्रभु प्रसाद कोउ पाव ॥ भगत कल्पतरु प्रनतहित कृपासिंधु सुख धाम। सोइ निज भगति मोहिं प्रभु देहु दया करि राम ॥" (मा० उ० ८१); यहाँ भी वही भक्ति कृपादृष्टि से दी है।

राग बसंत

[२२]

खेलत बसंत राजाधिराज। देखत नभ कौतुक सुर-समाज ॥१॥
सोहैं सखा-अनुज रघुनाथ साथ। झोलिन्ह अबीर, पिचकारी हाथ ॥२॥
बाजहिं मृदंग, डफ, ताल, बेनु। छिरकैं सुगंध भरे मलय-रेनु ॥३॥
उत जुवति-जूथ जानकी संग। पहिरे पट-भूषन सरस रंग ॥४॥
लिए छरी बेंत सोधैं बिभाग। चाँचरि झूमक गावहिं सरस राग ॥५॥
नूपुर-किंकिनि-धुनि अति सोहाइ। ललना-गन जब जेहि धरइँ धाइ ॥६॥
लोचन आँजहिं फगुआ मनाइ। छाँड़हिं नचाइ, हाहा कराइ ॥७॥
चढ़े खरन्हि बिदूषक-स्वांग साजि। करैं कूटि-निपट गइ लाज भाजि ॥८॥
नर-नारि परस्पर गारि देत। सुनि हँसत राम भाइन्ह समेत ॥९॥
बरषत प्रसून बर बिबुध बृंद। जय-जय दिनकर-कुल-कुमुद-चंद ॥१०॥
ब्रह्मादि प्रसंसत अवध बास। गावत कल कीरति तुलसिदास ॥११॥

अर्थ—राजाधिराज महाराज श्रीरामजी बसन्त खेल रहे हैं और आकाश में स्थित देवों का समाज कौतुक देख रहा है ॥ १ ॥ श्रीरघुनाथजी के साथ में उनके सखा और छोटे भाई झोलियों में अबीर और हाथों में पिचकारी लिये हुए शोभायमान हैं ॥ २ ॥ मृदंग; डफ, मँजीरा और बाँसुरी बज रहे हैं और चन्दन की धूलि से मिला हुआ सुगंधित जल छिड़का जा रहा है ॥ ३ ॥ उधर श्रीजानकीजी के साथ सुन्दर रंग के भूषण और रंग-बिरंग के बसन्ती वस्त्र पहने हुई युवतियों का झुण्ड है। वे युवति बृंद हाथों में फूलों की मढ़ी छड़ी लिये हुई कार्यक्षेत्रों का संशोधन कर रही हैं (कि कौन बृन्द किस ओर किस प्रकार से आक्रमण करेगा ?) और चाँचरि एवं झूमक आदि रागें गा रही हैं ॥ ५ ॥ वे ललना गण जब किसी को दौड़ कर पकड़ती हैं तब उनके नूपुरों और किङ्किणियों की ध्वनि अत्यन्त सुहावनी लगती है ॥ ६ ॥ वे स्त्रियाँ जिन पुरुषों को पकड़ती हैं, उनके नेत्रों में अञ्जन लगा देती हैं और उससे फगुआ मनाकर तथा नाच नचाकर एवं उसके बहुत विनती करने पर छोड़ती हैं ॥७॥ (पुरुषों में) बहुत से लोग मसखरों का स्वांग सजकर गधों पर चढ़े हुए भाँति-भाँति की कूटैं (गूढ़ोक्ति में व्यंग्य हास्य) करते हैं, उनकी नितान्त

लज्जा चली गई है ॥ ८ ॥ स्त्री-पुरुष परस्पर गालियाँ देते हैं, सुनकर भाइयों के साथ श्रीरामजी हँसते हैं ॥ ९ ॥ श्रेष्ठ देवताओं का समूह फूल बरसाता है और 'सूर्यकुल रूप कुई' के प्रफुल्ल करनेवाले चन्द्रमा रूप श्रीरामजी की जय हो, जय हो' ऐसा कहता है ।। १० ।। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि ब्रह्मा आदि श्रीअवधवास की प्रशंसा करते हैं और श्रीरामजी की सुन्दर कीर्ति का गान करते हैं ।। ११ ।।

विशेष—'खेलत बसंत…'—यह बसंत खेल राजाधिराज के राज महल में उनके सखाओं और भाइयों एवं श्रीजानकीजी एवं उनकी सखियों के साथ हो रहा है । इसमें राजाधिराज के नित्य परिकरों एवं दिव्य विभूतियों का विलास विशेष देखने योग्य है, इससे देव-समाज आकाश से कौतुक देखता है ।

'सोहैं सखा अनुज…'—श्रीभरत आदि तीनों छोटे भाई और विजय, मधुमत्त, काश्यप, मङ्गल, कुल, सुराजि, कालिय, भद्र, दन्तवक्त्र और सुमागध आदि सखा गण हैं, यथा—"विजयो मधुमत्तश्च काश्यपो, मङ्गलः कुलः । सुराजिः कालियो भद्रो दन्तवक्त्रः सुमागधः ।।" (बाल्मी० ७।४३।२)। ये सब किरीट-कुण्डल आदि भूषण और विविध प्रकार बसन्त खेलने योग्य वस्त्र धारण किये हुए झोलियों में अबीर और करकमलों में स्वर्णमणि जटित पिचकारियाँ लिए हुए सुशोभित हो रहे हैं ।

'बाजहिं मृदंग…' ये बाजे बसन्त-क्रीड़ा उद्दीप करने की ध्वनि से बज रहे हैं । पुरुषों की ओर से प्रथम केवड़ा-गुलाब आदि सुगन्धित जलों में चन्दन की धूलि घोल कर छिड़काव होने लगा, पिचकारियों से सखियों पर छिड़काव होने लगा ।

'उत जुवति-जूथ…'—उधर के श्रीजानकीजी के समाज का इसमें वर्णन हैं ।

'चाँचरि झूमक…'—चाँचरि (सं० चर्चरी)=बसन्त ऋतु में गाया जाने वाला एक प्रकार का राग, चर्चरी राग । झूमक (हिं० झूमना)=एक प्रकार का गीत जो होली के दिनों में स्त्रियाँ झूम-झूमकर एक घेरे में नाचती हुई गाती हैं । झूमर नामक पूरबी गीत—हिं० श० सागर । इन रसीले रागों को मधुर स्वरों में गाती हैं ।

'लोचन आँजहिं···'--जिन राजकुमारों को सखियाँ पकड़ लेती हैं, उन का स्त्रियों का-सा शृंगार कर देती हैं, नेत्र-आँजना षोड़श शृंगार में अंतिम है, इसका कथन होने से सभी आ गये। इन्हें स्त्री बना श्रीजानकीजी के समक्ष नचाकर विनती करवा छोड़ती हैं। फगुआ मनाना = फगुआ खेलने के उपलक्ष में दिया जाने वाला उपहार--इसकी रीति कर के।

'चढ़े खरनि विदूषक···'—ये पुरुषों की ओर के कृत्य हैं।

'नर-नारि परस्पर···'—यह भी रीति है; यथा—"निर्लज्जपुंसस्त्रीचैव मासमानं तु लीलया। कामगीतं तु नर्तक्या भगवानसहस्रकम् ॥" (होलिका माहात्म्य-श्रीबैजनाथ टीका)।

'बरसत प्रसून···'—यह इनकी सेवा है; यथा—"बरषहिं सुमन सुअंजुलि साजी। गहगहि गगन दुदुभी बाजी॥ अस्तुति करहिं नाग मुनि देवा। बहु बिधि लखहिं निज-निज सेवा॥" (मा० बा १६०)। कर्म से फूल बरसाते हैं और वचन से 'जय-जय···' ऐसा कहते हैं। कुईं को चन्द्रमा प्रफुल्लित करता है, वैसे ही अपने आचरणों से आपने इस सूर्यकुल की मर्यादा बढ़ाई है-ऐसा कहते हैं। देवों के वचन सत्य एवं प्रामाणिक होते हैं; यथा—"देव गिरा सुनि सुंदर साँची॥" (मा० बा० ३१६)।

'ब्रह्मादि प्रसंसत···'—श्रीअवधवासियों के साथ श्रीरामजी इस प्रकार की सरस क्रीड़ा करते हैं, यह सौभाग्य अवध वास करने पर प्राप्त होता है। अतः, इसकी ब्रह्मा आदि प्रशंसा करते हैं, माधुर्य के अनुरागियों को श्रीरामजी ऐसे क्रीड़ात्मक आनन्द दान देते हैं, इस कीर्ति का ब्रह्मादि गान करते हैं। अथवा, ब्रह्मादि अवध वास की प्रशंसा करते हैं। अवधवासियों के प्रति श्रीरामजी के इस आनन्द-प्रदान की कीर्ति का श्रीतुलसीदास गान करते हैं, यह भाव है।

श्री अवध-माहात्म्य

राग केदारा

[२३]

देखत अवध को आनंद।
हरषि बरषत सुमन दिन-दिन देवतनि को बृंद॥ १॥

नगर-रचना सिखन को बिधि तकत बहु बिधि बंद।
निपट लागत अगम, ज्यों जलचरहिं गमन सुछंद ॥ २ ॥
मुदित पुरलोगनि सराहत निरखि सुखमाकंद।
जिन्हके सुअलि-चख पिअत राम-मुखारबिंद-मरंद ॥ ३ ॥
मध्य ब्योम बिलंबि चलत दिनेस-उड़ुगन-चंद।
रामपुरी बिलोकि तुलसी मिटत सब दुख-द्वंद ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—बिधिबंद = रचना के भेद (बंध = निबन्ध रचना)। मरंद (सं० मकरंद) = फूलों के रस, जिसे मधुमक्खियाँ और भौंरे आदि चूसते हैं, फूल का केसर। सुछंद (स्वच्छन्द) = स्वतंत्र, स्वाधीन।

अर्थ—श्रीअयोध्याजी के आनन्द को देखकर देवताओं के समूह दिनोदिन (नित्यप्रति) हर्षित होकर फूल बरसाते हैं ॥ १ ॥ श्रीअवधनगर की रचना सिखने के लिये श्रीब्रह्माजी बहुत से रचना के भेद ताका करते हैं, परन्तु उन्हें यह इस प्रकार नितान्त दुर्गम लगती है जैसे जलचर का पृथिवी पर स्वच्छन्द चलना ॥ २ ॥ जिनके नेत्र रूप भौंरे सुषमाकन्द श्रीरामजी को देखकर उनके मुखकमल का मकरन्द पान करते रहते हैं, उन श्रीअवधपुरवासियों की वे प्रसन्नतापूर्वक प्रशंसा किया करते हैं ॥ ३ ॥ (इस पुरी की रमणीयता देखने के लिये) मध्य आकाश में आने पर सूर्य, तारा गण और चन्द्रमा भी कुछ ठहर कर चलते हैं (शोभा पर मुग्ध हो कुछ रुक जाते हैं)। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामपुरी अयोध्याजी को देखकर समस्त सुख-दुःख एवं राग-द्वेष आदि द्वन्दों से होने वाले दुःख दूर हो जाते है ॥ ४ ॥

विशेष—'देखत अवध''हरषि बरषत सुमन'''—ऊपर पद के अंत में ब्रह्मादि द्वारा अवधवास की प्रशंसा करना लिखा गया, यहाँ उसी प्रशंसा के कुछ अंशों का वर्णन करते हैं। अवध का आनन्द वहाँ के निवासी जानते हैं और उसका अनुभव करते हैं—"एहि सुख मगन होइ मन…" (पद २१)—इसका विशेष देखिये।

'हरषि बरषत सुमन…'—उपर्युक्त पद के "बरषत प्रसून…"—इसका विशेष देखिये।

'नगर-रचना सिखन को…'—ब्रह्माजी ऐसी आनन्दमयी पुरी की

भाँति अपनी सृष्टि में भी पुरी रचना चाहते हैं, इसलिये इसकी रचना के भेद ताका करते हैं। परन्तु यहाँ तो परस्पर प्रभु की चिन्मय नित्य अयोध्या की विभूति हैं, यथा—"बिधिहि भयो आचरण बिसेषी। निज करनी कछु कतहुँ न देखी ॥" (मा० बा० ३१३); ब्रम्हाजी तो प्राकृत सृष्टि के ही रचइता हैं। इस दिव्यपुरी की रचना के भेद कैसे समझ सकते हैं ? इसी बात को दृष्टान्त से समझाते हैं कि जैसे जलचर को पृथिवी पर चलना दुर्गम है, वैसे ही बिषयबारिमयी सृष्टि के रचइता की अप्राकृत विभूति में गति नहीं है। तथा—"बिषय बारि मन मीन·· " (वि० १०२)। जलचर की गति जल के आधार पर रहती है, सूखी भूमि पर वह कैसे चले ? वैसे ही निर्विषय हृदय वालों के ध्यान का विषय श्रीअवध है। अतः, यह ब्रम्हादि के ध्यान से भी दूर है; यथा—"योगिवर्याग्रगण्यैः। विधि शिवसनकाद्यैर्ध्यातुमत्यन्तदूरं तव परिजन भावं कामये कामवृत्तः ॥" (आत्मबन्दार स्तोत्र ५०); अर्थात् बड़े-बड़े योगि वर्यों में श्रेष्ठ ब्रम्हा, शिव और सनकादि के ध्यान करने में भी अत्यन्त दुर्लभ आपके परिजन भाव (सेवक भाव से श्रीअवध धाम में आपकी नित्य धाम की सेवा में रहने) को मैं कामवृत्त होता हुआ भी चाहता हूँ। ऐसे मुझको धिक्कार है।

यहाँ 'पूर्णोपमालङ्कार' है।

'मुदित पुरलोगनि सराहत····जिन्ह के···', यथा—"सुभग सेज सोभित कौसल्या रुचिर राम सिसु गोद लिये। बार-बार बिधु बदन बिलोकति लोचन चारु चकोर किये ॥···तुलसिदास ऐसो सुख रघुपति पै काहू तौ पायो न बियो ॥" "सोभा निरखि निछावरि करि, उर लाइ बारने जैहौं ॥···जा सुख की लालसा लटू सिव, सुकसनकादि उदासी। तुलसी तेहि सुख सिंधु कौसिला मगन पै प्रेम पियासी ॥" (बा० ७-८)—इन प्रसंगों में प्रभु मुखावलोकन के सुख की प्रशंसा की गई है। श्रीअवधपुरवासी उसी सुख में निरन्तर निमग्न रहते हैं—उपर्युक्त 'देखत अवध···' इसके विशेष में उद्धृत प्रसंग भी देखिये।

'मध्य व्योम बिलंबि चलत···'—जैसे श्रीराम जन्म पर सूर्य एक महीना रुक गये थे, वैसे ही यहाँ श्रीअवध की शोभा पर मुग्ध होकर सूर्य आदि का ठहर कर चलना कहा गया है—मा० बा० १९५ देखिये। महा० अनु·

शा० अ० ६५-६६ में लिखा भी है कि मध्याह्न काल में सूर्य अर्द्धनिमेष भर ठहरते हैं। सूर्य श्रीरामजी के कुल के पुरुषा हैं, इनके रुकने पर उडुगण एवं चन्द्रमा भी निर्भय हो रुक जाते हैं। क्योंकि 'दिनेस' पद प्रथम है।

'रामपुरी बिलोकि…'—द्वन्द्व से मुक्त होना सिद्धावस्था एवं ज्ञान की परिपाकावस्था है; यथा—"निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः। द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥" (गीता १५।५-६); श्रीअवध के दर्शनों से यह अवस्था कैसे आती है ? इसके प्रमाण; यथा—"बंदउँ अवध पुरी अति पावनि। सरजू सरि कलि कलुष नसावनि ॥ प्रनवउँ पुर नर नारि बहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी ॥ सिय निदंक अघ ओघ नसाए। लोक बिसोक बनाइ बसाए ॥" (मा० बा० १५); अर्थात् श्रीअवध-सरयू पाप शुद्ध कर हृदय पवित्र कर देती हैं, फिर इस पर श्रीरामजी का महत्त्व हो जाता है। तब यह फिर चौरासी को नहीं जाने पाता; यथा—"कवनेहुँ जनम अवध बस जोई। राम परायन सो परि होई ॥ अवध-प्रभाव जान तब प्रानी। जब उर बसहिं राम धनु पानी ॥" (मा० उ० ६६); "राम धामदा पुरी सुहावनि। लोक समस्त बिदित अति पावनि ॥ चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तनु नहिं संसारा ॥" (मा० बा० ३४); तथा—"जनम भूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरजू पावनि ॥ जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा ॥ अति प्रिय मोहि यहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी ॥" (मा० उ० ३)।

श्रीअयोध्याजी का वेद में विस्तृत वर्णन है—

"पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥" से "प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा सम्परीवृताम्। पुरं हिरण्ययीं ब्रह्माविवेशापराजिताम् ॥" (अथर्ववेद संहिता, दशम काण्ड, प्रथम अनुवाक, द्वितीय सूक्त, मंत्र २८-३३) तक, इन साढ़े पाँच मन्त्रों में अत्यन्त स्पष्ट रूप में श्रीअयोध्याजी का वर्णन है।

शङ्का—"ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः" यह श्रुति ज्ञान-हीन की मुक्ति का निषेध करती है। यहाँ अवध वास एवं अवध में शरीर त्याग से मुक्ति कही गई है, इस विरोध का क्या समाधान है ?

समाधान—धाम में शरीर त्याग से मुक्ति सम्पादन की भी श्रुतियाँ हैं; यथा—"काश्यां मरणान्मुक्तिः" यह प्रसिद्ध है। 'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः" यह श्रुति सामान्य रीति से सब जीवों के लिये है। अतः सर्वदेशीय एवं सामान्य है और "काश्यां मरणान्मुक्तिः" यह श्रुति एक काशी के लिए है। अतः, विशेष है। विशेष (अपवाद) सामान्य (उत्सर्ग) की अपेक्षा बलवान होता है यथा—"अपवादरिवोत्सर्गं" (रघुवंश १५।७); अर्थात् 'अपवादो विशेषशास्त्रमुत्सर्गं सामान्यशास्त्रमिव' यह इसके भाष्य में लिखा है। जैसे कोई विज्ञापन निकाले कि मैं अमुक गाँव के लोगों से व्यवहार नहीं करूँगा; यह सामान्य वाक्य है और फिर वह उसी गाँव के किसी एक (विशेष) व्यक्ति को लिखे कि आप कृपा करके आवें, मेरा अमुक प्रयोजन है, यह विशेष वाक्य है। आशय यह होगा कि इसे छोड़कर शेष के लिये वह सामान्य वाक्य है। वैसे धाम-निवासी को छोड़कर शेष के लिये वह सामान्य श्रुति है।

पुनः शङ्का—(क) ऐसा महात्म्य सुन सभी धामवासी साधन छोड़ बैठेंगे।

समाधान—साधन से क्रमशः मुक्ति लक्षण यहीं प्राप्त होते जायँगे और अन्त के लिये भी निश्चित रहेगा। 'तत्क्रतुन्याय' से यह मुक्त होगा ही। पर धामवास मात्र में विकारों का दौरा रहेगा और मरने का भी निश्चय नहीं। यदि किसी कारण वश अन्यत्र शरीर छूटा तो फिर पुनर्जन्म की शंका है।

(ख) धामवासी निर्भीक हो पाप-परायण भी होंगे।

समाधान-शरणागति एक प्रकार का बृहद् प्रायश्चित है। धामवास भी शरणागति ही है। शरण = घर, आगत = आया, भगवान् के घर पर आया हुआ, धाम में आया हुआ = धामवासी। यह धामवासी (शरणागत) यदि भगवान् को आत्म-समर्पण कर उनसे शुभ मार्ग की कांक्षा रखते हुए उनके नाम रूप लीला और धाम की निष्ठा से उनकी भक्ति द्वारा उनके सम्मुख रहे और फिर जान बूझकर पाप में प्रवृत्त न हो तो भगवान् इसके पापों का धाम आदि के द्वारा नाशकर इसे वैसी शक्ति देते हैं, जिससे यह कृतार्थ हो जाता है।

प्रायश्चित का यह विधान है कि फिर पापाचार में प्रवृत्त न हो तभी वह सफल होता है; यथा—"तपसा कर्मणा चैव प्रदानेन च भारत। पुनाति पापं पुरुषः पुनश्चेन्न प्रवर्तते ॥" (महा० शान्ति० ३५।१); यह व्यासजी का मत है;

तथा—"अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम्। तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन्द्वितीयं न समाचरेत्॥" (मनु० ११।२३२); अर्थात् भूल से या जान बूझकर यदि निषिद्ध कर्म करके जो उस प्रत्यवाय से छूटना चाहे, वह फिर उस दुष्कर्म को न करे।

(ग) धाम वास करके जो नराधम जान बूझ कर पाप प्रवृत्त होता है, वह धाम का भी अपमान करता है, यदि वह धाम ही में मरता है तो उसकी क्या व्यवस्था होती है ?

समाधान—धाम-मर्याद-रक्षार्थ वह भी मुक्त होगा ही। जैसे राक्षस आदि पापी रामबाण से आहत हो पाप मुक्त हुए हैं; यथा—"तदस्त्रं तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम्। रामबाणासनक्षिप्तमावहत्परमां गतिम्॥" (वाल्मी० ४।१७।८); अर्थात् वह अस्त्र उस वीर बाली के स्वर्ग (परमपद) के मार्ग का देनेवाला हुआ; क्योंकि श्रीरामजी के धनुष से निकला हुआ वाण परमगति (परमधाम) देता ही है। यह बाली के बध प्रसंग में कहा गया है। तथा—"रघुबीर सर तीरथ सरीरन्ह त्यागि गति पैहैं सही॥" (मा० लं० २)। वैसे धाम में मरते समय के कष्ट में ही उनका प्रायश्चित होकर उन्हें मुक्ति मिल जाती है।

श्री राम-राज्य-शासन

राग सोरठ

[२४]

पालत राज यों राजा राम धरम-धुरीन।
सावधान, सुजान, सब दिन रहत नय-लयलीन॥ १॥
स्वान-खग-जति-न्याउ देख्यो आपु बैठि प्रवीन।
नीच हति महिदेव-बालक कियो मीचु-बिहीन॥ २॥
भरत ज्यों अनुकूल जग निरुपाधि नेह नवीन।
सकल चाहत रामही, ज्यों जल अगाधहि मीन॥ ३॥
गाइ राज-समाज जाँचत दास तुलसी दीन।
लेहु निज करि, देहु निज-पद-प्रेम पावन पीन॥ ४॥

अर्थ—इस प्रकार धर्मधुरीण महाराजा श्रीरामजी राज्य का पालन करते

थे। वे परम सुजान बड़ी सावधानी से सब दिन राजनीति में तत्पर रहते थे ॥१॥ उन प्रवीण श्रीरामजी ने श्वान, पक्षी और यति का न्याय स्वयं बैठकर देखा था, तथा नीच शूद्र को मार कर उन्होंने ब्राह्मण के बालक को मृत्यु-रहित (; अर्थात् मरे हुए को जीवित) किया था ॥२॥ श्रीभरतजी के समान ही सारा जगत् श्रीरामजी से निष्कपट और नित्य नवीन स्नेह करता था। जिस प्रकार मछली अगाध जल को ही चाहती है, उसी प्रकार सब लोग श्रीरामजी को ही चाहते थे ॥३॥ भगवान् श्रीरामजी के राज-समाज का गान कर यह दीन तुलसीदास यही माँगता है कि (हे प्रभो !) मुझे अपना कर लीजिये तथा अपने चरणों में पवित्र और पुष्ट प्रेम दीजिये ॥४॥

विशेष—'पालत राज ··· धरम-धुरीन'—श्रीरामजी ने धर्म से राज्य पालन किया है ; यथा—"बरनाश्रम निज-निज धरम निरत बेद पथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग ॥ ···चारिउ चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं ॥" (मा० उ० २०) ; वर्णाश्रम धर्म-पालन से प्रजा में 'बस्तु बिनु गथ पाइये' की व्यवस्था थी। सारी प्रजा सारे जगत को भगवान् का शरीर मानकर अपने वर्ण धर्म के द्वारा निष्काम भाव से परमात्मा की ही आराधना करती थी। निःशुल्क भाव से ब्राह्मण शिक्षा, क्षत्रिय रक्षा और शूद्र परिचर्या करते थे। वैश्य सब की कृषि-गोरक्ष और वाणिज्य द्वारा भोजन-वस्त्र व्यवस्था करते थे। वैश्यों को शिक्षा, रक्षा और परिचर्या निष्शुल्क प्राप्त थी।

धर्म के चार चरण—सत्य, दया, तप और दान पूर्ण थे। इससे सारे जगत में किसी को किसी बात का दुख नहीं था। "सत्यं दया तपो दाममिति पादा विभोर्नृप ॥" (भाग० १२।३।१८)।

श्रीरामजी का शासन केवल धर्म-रक्षा पर था। कोई भी अपने धर्म एवं कर्तव्य से वञ्चित नहीं रहने पाता था। इसी से एक शूद्र ने धर्म में अन्यथा वर्त्ताव किया था, इससे उसने दण्ड पाया है।

'सावधान, सुजान···'—"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी ॥" (मा० अ० ७०) ; इससे श्रीरामजी नीति से प्रजा-पालन में सदा सावधान रहते थे। नीति जनाने में भी निपुण थे, इससे उन्हें 'सुजान'

कहा गया है। वाल्मी० ७।५३ में आपने कहा भी है कि सीता-वियोग-व्यथा में मैंने चार दिन राज्य कार्य नहीं कर पाया, इसकी मुझे बड़ी व्यथा है।

'स्वान-खग-जति-न्याउ देख्यो···'—इनका न्याय आपने बड़ी प्रवीणता से किया है। इनकी कथाएँ लिखी जाती हैं:—

श्वान की कथा

एक समय श्रीरामजी के यहाँ एक कुत्ता कुछ विनती करने आया। श्रीरामजी ने बुलाकर उससे पूछा। उसने राजा की उचित स्तुति करके कहा कि सर्वार्थ-सिद्धि नामक बाह्मण-भिक्षुक ने बिना अपराध एवं बिना कारण मेरे शिर पर दण्डे से प्रहार किया है। (जिससे मेरा मस्तक फूट गया है)।

श्रीरामजी ने बुलाकर उस ब्राह्मण से पूछा। उसने कहा कि मैंने क्रोधवश होकर इसे मारा है। मैं भूखा था और भिक्षार्थ फिर रहा था। यह बीच मार्ग में बैठा था। मैंने इसे बचनों से हटाया, तब यह मार्ग के विषम भाग में भूकने लगा, इस पर क्रोध से मैंने इसे मारा है। अतः, मैं अपराधी हूँ। मुझे दण्ड देकर शुद्ध कर दीजिये, जिससे इसके प्रति फल रूप में मुझे नरक का भय न हो।

इस पर मन्त्रीगण बिचार करने लगे कि ब्राह्मण तो दण्ड से अवध्य है। तब इन्हें कौन दण्ड देकर शुद्ध किया जाय। इस पर उस कुत्ते ने ही श्रीरामजी से कहा कि आप मुझपर प्रसन्न हैं और आपने कहा भी है कि तुम्हारा कौन काम करूँ। अतः, मैं यही चाहता हूँ कि इस ब्राह्मण को मठपति (महान्त) बना दिया जाय। कालिञ्जर के मठ (शिवालय) की इसे महान्ती दी जाय। श्रीरामजी ने उसे महान्ती पद का अभिषेक किया और हाथी पर चढ़ाकर कालिञ्जर मठ पर भेज दिया। वह प्रसन्न होकर गया।

इस दण्डविधान पर मन्त्रियों ने पूछा कि महाराज! यह तो दण्ड नहीं हैं प्रत्युत् वरदान है। श्रीरामजी ने कहा कि कुत्ता ही इसका कारण जानता होगा। कुत्ते ने कहा कि पूर्व में उसी मठ का मठपति था। मैं विधिवत् बर्ताव करता हुआ भी इस घोर गति को प्राप्त हुआ। (क्योंकि शिव-निर्माल्यका भोक्ता कुत्ता होता ही है) और यह ब्राह्मण तो क्रोधी एवं अन्यायी है। अतः, यह अपनी सात-सात पीढ़ियों को भी पतित करेगा, यही इसके लिये भारीदण्ड है।

खग (उलूक और गृध्र) की कथा

एक बन में उलूक और गृध्र बहुत वर्षों से रहते थे। गृध्र पापी था, उसने उलूक के घर (घोसले) को अपना कह कर झगड़ा करने लगा। दोनों कुपित होकर श्रीरामजी के यहाँ गये और दोनों ने उनके चरण-स्पर्श किये। गृध्र ने श्रीरामजी से उनकी उचित प्रशंसा करके कहा कि मैंने पूर्व ही अपने बाहुवीर्य से स्थान (घोसला) बनाया था, यह उलूक उसका हरण करता है, आप मेरी रक्षा करें।

गृध्र के ऐसा कहने पर उलूक भी राजा की उचित स्तुति करके अपनी दशा कहने लगा—'यह गृध्र मेरे स्थल (घोसले) में प्रविष्ट होकर अब मुझ पर ही बाधा करता है। आप मेरा न्याय करें।'

श्रीरामजी ने मन्त्रियों के समक्ष गृध्र से पूछा कि तुम्हारा यह घर कितने वर्षों से है। उसने कहा कि 'जब से यह पृथवी मनुष्यों से पूर्ण हुई है, तभी से मेरा यह घर है।' फिर उलूक से भी वही बात पूछी तो उसने कहा कि 'जब से यह पृथिवी वृक्षों से पूर्ण हुई है, तभी से मेरा यह घर है।'

तब श्रीरामजी ने मंत्रियों से सम्मत पूछा, उन्होंने कहा—राजन्! इस उलूक की चेष्टा सुशोभित है, गृध्र की नहीं, शेष आप ही निश्चित करें। तब श्रीरामजी ने कहा कि पुराणों में लिखा है कि सृष्टि में पहले पृथिवी, वायु, पहाड़ों और वृक्षों की सृष्टि हुई है, पीछे मनुष्यादि चर प्राणियों की सृष्टि हुई है। अतः, गृध्र परालय-हर्त्ता पापी है और दण्डनीय है। उलूक का पक्ष सत्य है।

इस पर आकाशवाणी हुई कि यह गृध्र पूर्वजन्म का शापित है। अतः, आप इसका बध न करें। शापानुग्रह के अनुसार आप इसका स्पर्श कर दें, यह शापमुक्त हो जाय। श्रीरामजी ने उसे छू दिया, वह शापमुक्त हो दिव्यरूप धारी पुरुष हो गया और उसने श्रीरामजी से कहा कि आपने कृपा करके मुझे इस नरक से मुक्त किया, शाप निवृत्त किया।

ये दोनों कथाएँ वाल्मी० ७।५९ के पश्चात् प्रक्षिप्तसर्ग १।२।३ में एक साथ ही हैं। श्रीबैजनाथजी ने इसी प्रसंग पर अपनी टीका में इन कथाओं को

पद्मपुराण, सृष्टि खण्ड अध्याय ३५, ३७ की लिखा है। सम्भवतः वहीं से लेकर वाल्मीकीय में संक्षेप रूप में रख दी गई हैं।

इन कथाओं के पारमार्थिक रूप विनय पत्रिका पद १४६ के मेरे 'सिद्धान्त तिलक' में देखिये।

श्रीगोस्वामीजी ने अन्यत्र भी इन कथाओं की चर्चा की है; यथा—"बग-उलूक झगरत गये, अवध जहाँ रघुराउ। नीक सगुन विवरिहि झगर, होइहिं धरम नियाउ॥ जती-स्वान-संवाद सुनि, सगुन कहब जिय जानि। हंस बंस अवतंस पुर, बिलग होत पय-पानि॥" (रामाज्ञा प्रश्न ६।६।२-३); "स्वान कहे ते कियो पुर बाहेर जती गयंद चढ़ाई॥" (वि० १६५); "साहिब सुजान जिन स्वानहू को पच्छ कियो।" (क० उ० १००); "जेहि कौतुक बक-स्वान को प्रभु न्याव निबेरो। तेहि कौतुक कहिये कृपालु! तुलसी है मेरो॥" (वि० १४६)।

इन उद्धृत प्रसंगों में केवल गृध्र के स्थान पर 'बक' मात्र का भेद है। इस भेद का कारण या तो प्रतिलिपि करने का दोष (भूल) हो; अथवा कपटी एवं धोखेबाज गृध्र को बक विशेषण द्वारा उसके गुण के साथ उसका परिचय दिया गया हो। बक पद से लोकोक्ति में 'बक ध्यानी' 'बगुला-भगत' आदि से धोखेबाज एवं कपटी कहा जाता है। ग्रन्थकार का स्वभाव है कि वे प्रायः कपटी एवं पापी का कहीं-कहीं नाम भी नहीं लेते; यथा—"बालिस बासी अवध को बूझिये न खाको। सो पाँवर पहुँचो तहाँ-जहाँ मुनि-मन थाको।" (वि० १५२); इसमें 'खाको' पद से खाक का अर्थ रज लेकर उससे 'रजक' का बोध कराया गया है। अत्यन्त पापी जान उसका नाम नहीं लिया है। तथा—"जोइ पूछिहि तेहि ऊतरु देवा।" (मा० अ० १४५); इसमें श्रीरामजी को बन देने वाली पापिनि कैकेयी का नाम न लेकर उसे 'जोइ' पद से सूचित किया गया है।

'नीच हति महिदेव-बालक…'—इसकी कथा बाल्मी० ७।७३-७६ में इस प्रकार है :—

एक दिन श्रीरामजी के राज्य का रहने वाला एक वृद्ध ब्राह्मण अपने मरे हुए १५-१६ वर्ष के बालक को लेकर राज द्वार पर आया। वहाँ उसे रख कर वह

बिलाप करने लगा। हा पुत्र! हा पुत्र! कहता था और यह भी कहता था कि मैंने पूर्व में कौन पाप किया था, जो मृत बालक को देख रहा हूँ। मेरे यही एक बालक था। यह भी अकाल में मृत्यु वश हुआ। अब मैं और इसकी माता भी मर जायगी, इसमें संदेह नहीं। मैं न कभी झूठ बोला है और न हिंसा की है फिर किस पाप से बिना पितृ कर्म किये मेरा बालक मरा है? रामराज्य में ऐसी भयंकर अकाल मृत्यु कभी देखी एवं सुनी भी नहीं गई थी। श्रीरामजी का ही कोई पाप होगा, इसमें संदेह नहीं है। अन्य राजा के राज्य में ऐसे बालकों की मृत्यु नहीं होती, अतएव, राजन्! आप मेरे इस बालक को जीवित करें; अन्यथा हम दोनों (दंपत्ति) यहीं पर रहकर बिना अन्न जल के प्राण त्याग देंगे। तब ब्रह्महत्या लेकर आप सुखी होना।

महात्मा इक्ष्वाकुओं का राज्य इस समय अनाथ हो रहा है; क्योंकि इसमें आप (श्रीरामजी) राजा हैं। जिनके राज्य में बालक की मृत्यु हो रही है। जहाँ राजा पापी होता है, वहाँ ही अकाल मृत्यु होती है। राजा रक्षा नहीं कर पाता। तभी लोग अनुचित काम करते हैं, उसी से अकालमृत्यु होती है। अवश्य, नगर में राज्य में कहीं राज-दोष हुआ है। उसी से यह अकालमृत्यु हुई है। इसी प्रकार बहुत कुछ कहता हुआ वह विलाप करता था।

उसका विलाप श्रीरामजी ने सुना, वे बड़े दुखी हुए। उन्होंने वसिष्ठ आदि मंत्रियों को बुलाकर सम्मति पूछी। श्रीनारदजी ने उत्तर दिया। पहले इन्होंने चारो युगों की व्यवस्था कही कि सत्ययुग में केवल ब्राह्मण ही तपस्या करते थे। त्रेता में क्षत्रिय तप करने लगे। द्वापर में वैश्य भी तपस्या के अधिकारी हुए। कलियुग में शूद्र भी इसके अधिकारी होंगे। पर आपके राज्य में कहीं पर शूद्र घोर तपस्या कर रहा है। उसी से यह ब्राह्मण का बालक मरा है, उसे ढुढ़वाइये। दोष दूर कीजिये। तब यह बालक जी उठेगा।

यह सुनकर श्रीरामजी प्रसन्न हुए और लक्ष्मणजी से बोले। सौम्य! उस ब्राह्मण को समझाओ और उस बालक का शरीर तेल में रखवाओ तथा उसके अंगों की रक्षा करना। श्रीरामजी के स्मरण करते ही पुष्पक विमान आ गया। श्रीरामजी ने श्रीभरतजी और श्रीलक्ष्मणजी को राज्य भार सौंपा तथा आप ऋषियों को प्रणाम कर पुष्पक विमान पर आरूढ़ हुए। पश्चिम, उत्तर

और पूर्व आपने सर्वत्र ढूँढ़ा, पर कहीं पाप की मलिनता नहीं देख पड़ी, सभी दिशाएँ निर्मल थीं। दक्षिण गये, वहाँ शैवल पर्वत की उत्तर दिशा में एक बड़ा सरोवर देखा। वहीं पर एक शूद्र को घोर तपस्या करते देखा, वह नीचे की ओर शिर करके लटक रहा था।

श्रीरामजी ने उसका परिचय एवं तपस्या का उद्देश्य पूछा। उसने कहा। मैं शूद्र हूँ और शम्बूक मेरा नाम है। मैं इसी शरीर से देवलोक जाना चाहता हूँ। श्रीरामजी ने तलवार निकालकर उससे उसका शिर काट लिया [; क्योंकि उसका यह तप शास्त्र विरुद्ध था, वर्णधर्म विरुद्ध था। सदेह स्वर्ग जाना शास्त्र-विरुद्ध था। इसी से तो राजा त्रिशंकु को वसिष्ठजी ने कोरा उत्तर दिया था कि ऐसा नहीं हो सकता। अतः, उस शूद्र को इससे कुछ लाभ नहीं होता। वर्ण धर्म-रक्षण राजा का विधान था। उसने विधान रूप इस राजाज्ञा को भंग किया, उसके प्रतिफल रूप में राजा ने उसका शिर काटा। निश्चय ही श्रीरामजी के हाथ से मरने पर उसको साकेत लोक की प्राप्ति हुई। अतः, इस में उसका महान् उपकार हुआ।] श्रीरामजी के ऐसा करने पर अग्नि आदि देवों ने साधु-साधु कहा और फिर श्रीरामजी से वर माँगने को कहा। श्रीरामजी ने यही माँगा कि वह ब्राह्मण का बालक जी उठे, मुझे यही वर दीजिये। देवों ने कहा, वह बालक जी गया और स्वजनों से मिल चुका। जब आपने इस शूद्र को मारा था, उसी समय वह जी उठा है। तब निश्चिन्त हो श्रीरामजी उन देवों के कहने पर श्रीअगस्त्यजी के पास गये। उनसे बहुत कुछ सत्संग कर श्रीअवध आये।

श्रीगोस्वामीजी ने इस कथा का बहुत अंश रामाज्ञा प्रश्न ६।५।१-५ में लिखा है। यहाँ तो इसका संकेत मात्र है। पद्मपुराण, सृष्टि खंड, अध्याय ३५ में भी सूक्ष्म रूप में यह कथा है।

'भरत ज्यों···'; यथा—"मातु सचिव गुरु पुर नर नारी। सकल सनेह बिकल भये भारी॥ भरतहिं कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही॥" (मा० अ० १८३); तथा – 'तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥" (मा० अ० २०७); इसी प्रकार सभी लोग निष्कपट स्नेह रखते थे। नित्य नवीन स्नेह बढ़ाते रहते थे।

'ज्यों जल अगाधहिं मीन'; यथा—"सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरिसरन न एकौ बाधा ॥" (मा० कि० १६); यहाँ 'पूर्णोपमालङ्कार' है।

'गाइ राज-समाज…'—राजाओं के यहाँ उनकी कीर्ति गानेवाले बहुत कुछ पाते हैं, उस रीति से ग्रन्थकार भी दीन होकर कुछ याचना करते हैं—

'लेहु निज करि…'—शरणागति में 'तवास्मि' इस भाव की याञ्चा होती है, प्रभु यदि अपना लें तो यह उनका ही बना रहे, इसकी चित्तवृत्ति अन्यत्र न जाय। वि० २६८ देखिये। इस भावना का मुख से कहना मात्र सुगम है, पर वैसा रहना अत्यन्त कठिन है। विनय-पत्रिका में अन्त के पद २६७ से २७६ तक इसी भाव की याञ्चा है। अपना लेने पर शुद्ध और दृढ़ प्रेम भी चाहिये, वह भी माँग रहे हैं। रघु महाराज महादानी थे, उसी गद्दी पर विराजमान आप तो परमदानी हैं। अतः, अवश्य देंगे; यह भरोसा है।

सीता-वनवास

[२५]

संकट सुकृत को सोचत जानि जिय रघुराउ।
सहस द्वादस पंचसत में कछुक है अब आउ ॥ १ ॥
भोग पुनि पितु-आयु को, सोउ किये बनै बनाउ।
परिहरे बिनु जानकी नहिं और अनघ उपाउ ॥ २ ॥
पालिबे असिधार-व्रत, प्रिय प्रेम-पाल सुभाउ।
होइ हित केहि भाँति, नित सुविचार, नहिं चितचाउ ॥
निपट असमंजसहुँ बिलसति मुख मनोहरताउ।
परम धीर-धुरीन हृदय कि हरष-बिसमय काउ ? ॥ ४ ॥
अनुज-सेवक-सचिव हैं सब सुमति, साधु सखाउ।
जान कोउ न जानकी बिनु अगम अलख लखाउ ॥ ५ ॥
राम जोगवत सीय-मन, पिय-मनहिं प्रान-प्रियाउ।
परम-पावन प्रेम-परमिति समुझि तुलसी गाउ ॥ ६ ॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी एक समय धर्म-संकट की व्यवस्था हृदय से जानकर इस प्रकार शोच करने लगे—'बारह हजार पाँच सौ वर्ष की मेरी आयु में अब कुछ ही शेष है ॥ १ ॥ फिर अब पिता की आयु का भोग करना है, उसका

प्रबन्ध भी करने से ही बनेगा। किन्तु इस कार्य में श्रीजानकीजी का त्याग किये बिना और कोई निर्दोष उपाय नहीं है' ॥२॥ अब खड्गधार-व्रत (तलवार की तीक्ष्ण धार पर चलने के समान व्रत) का पालन करना है और फिर प्रिया जी (प्राणप्रिया श्रीजानकीजी) के प्रेम का पालन करने का स्वभाव भी है। इस परिस्थिति में किस प्रकार करने में हित होगा, इस पर नित्य सुन्दर विचार होता रहता है, इससे उनके चित्त में उत्साह नहीं है। ॥ ३ ॥ इस नितान्त असामञ्जस्य में भी मुखारविन्द पर मनोहरता विलास कर रही है; क्योंकि श्रीरामजी परम धीर-धुरीण हैं, इससे उनके हृदय में क्या कभी भी हर्ष-विषाद की प्रवृत्ति हो सकती है ? ॥ ४ ॥ छोटे भाई, सेवक, मन्त्री और सखागण—ये सभी बड़े बुद्धिमान् और साधु-स्वभाव हैं; परन्तु श्रीरामजी के दुर्गम और अलक्ष्य लक्षण को श्रीजानकीजी के बिना और कोई नहीं जानता था ॥ ५ ॥ क्योंकि श्रीरामजी श्रीसीता के मन को सुरक्षित रखते (देखते रहते) थे और प्राण-प्रिया श्रीजानकीजी भी (वैसे ही) अपने प्यारे पति के मन को देखती रहती थीं। दोनों में परम पवित्र प्रीति की पराकाष्ठा थी, इसे समझकर यह तुलसीदास गान करता है ॥ ६ ॥

विशेष—'संकट सुकृत को…'—धर्म-संकट का सोचना कहकर आगे तीसरे चरण तक उसी धर्म-संकट का विवरण किया गया है।

'सहस द्वादस पंचसत में…'—यद्यपि वाल्मीकिजी के मत में ११००० वर्ष की आयु है; यथा—"दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च। रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति ॥" (बाल्मी० १।२।९७)। तथापि व्यासजी के मत में एवं उनके कल्प के श्रीरामचरित में श्रीरामजी की आयु १३००० वर्ष भी कही गई है; यथा—"त्रयोदशाब्दसाहस्रमग्निहोत्रमखंडितम् ॥……राम आत्मज्योतिरगात्ततः ॥" (भाग० ९।११।१८-१९)। उसी प्रकार श्रीगोस्वामी जी के कल्प में १२५०० वर्ष के लगभग आयु पर श्रीरामजी का ऐसा विचार करना कहा गया है।

'भोग पुनि पितु आयु को…'—पुत्र पिता का प्रतिरूप है; यथा—"आत्माऽऽत्मनैव जनितः पुत्र इत्युच्यते बुधैः।" तथा—"अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादभिजायसे। आत्मा वै पुत्रनामासि स जीवः शरदः शतम् ॥" (महा०

आदि० ७४।४९,६४); अर्थात् पंडित लोग कहा करते हैं कि पुरुष आप ही आप पुत्र के स्वरूप में जन्म लेता है। (जातकर्म में पिता पुत्र से कहता है—) "तुम मेरे अंग-अंग से उत्पन्न हुए हो, तुम मेरे हृदय से उत्पन्न हुए हो। अतएव पुत्र नाम से मेरी आत्मा हो 'तुम्हारी सौ वर्ष की आयु हो'।" इसीसे श्रीरामजी ने पिता की अवशिष्ट आयु का भोग किया है।

चौथेपन में राजा दशरथ ने पुत्र रूप श्रीरामजी को पाया था। उनकी आयु कुछ शेष थी। श्रीराम-वियोग एवं पूर्वोक्त ऋषि-शाप से उन्होंने शरीर त्याग दिया था। प्रारब्ध भोग के लिये पिताजी को फिर जन्म लेना न पड़े। साथ ही साकेत लोक चलें और वहाँ रहें, इस विचार से श्रीरामजी ने उनकी अवशिष्ट आयु का भोग किया है, तथा—"जो बिनु अवसर अथव दिनेसू। जग केहि कहहु न होइ कलेसू॥" (मा० अ० २०४)—श्रीरामजी के इस वचन में भी यह भाव ध्वनित है कि राजा की कुछ आयु शेष थी।

'परिहरे बिनु जानकी···'—जब श्रीरामजी पिता रूप से रहेंगे तो श्रीजानकीजी उनकी पुत्र वधू होंगी। अतः, साथ रखना उचित नहीं।

'पालिबे असि धारव्रत···'—पिता की आयु भोगने में बड़े विचार से कालक्षेप करना होगा। जैसे तलवार की धार पर चलने में अत्यन्त कठिनता होती है, वैसे ही इसमें कठिनता है। उसमें प्रधान विषय श्रीजानकीजी का साथ न रखने का आ गया है। मेरा 'प्रिय-प्रेमपाल सुभाव' है; यथा— "तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥ सो मन सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं॥" (मा० सु० १४); तथा—"रामस्तु सीतया सार्धं विजहार बहूनृतून्॥ मनस्वी तद्‌गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः।" (वाल्मी० १।७७।२५-२६); अर्थात् श्रीरामजी ने श्रीसीताजी के साथ बहुत ऋतुओं में विहार किया। मनस्वी श्रीरामजी श्रीसीताजी से बहुत प्रेम करते थे, उन्होंने उनको अपना हृदय दे दिया था।

'होइ हित केहि भाँति···'—पिता की आयु भोगने में श्रीजानकीजी का साथ रहना उचित नहीं और फिर इनमें मेरा अत्यन्त प्रणय है। अतः, इनके प्रति त्याग की निष्ठुरता कैसे की जाय? नित्य इस पर विचार किया करते हैं, पर कुछ निश्चित नहीं होता; इससे चित्त में उत्साह नहीं रह गया।

'निपट असमंजसहुँ…'—चित्त में असामञ्जस्य रहने पर मुखश्री नहीं रहती, मलिनता एवं उदासीनता लोगों में आ जाती है, श्रीराम में वह विकार नहीं है, प्रत्युत् मनोहरता सुशोभित ही है, इसका कारण आगे उत्तरार्द्ध से कहते हैं—

'परम धीर-धुरीन…' यथा—"ते धीर अछत बिकार हेतु जे रहत मनसिज बस किये।" (पार्वती मंगल १५); धीर-धुरीणता से काम-क्रोध एवं राग-द्वेष आदि की घटनाओं पर आपके हृदय में हर्ष-विषाद से विकार नहीं होते, इससे आपकी मुखश्री सदा एकरस रहती है; यथा—"बिसमय हरष रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु सब राम प्रभाऊ॥" (मा० अ० ११); "प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः। मुखाम्बुजश्रीरघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा॥" (मा० अ० श्लोक २)।

'अनुज सेवक सचिव…'—श्रीभरत आदि अनुज, श्रीहनूमान आदि सेवक श्रीसुमंत्र आदि मन्त्री और सखा गण सभी योग्य हैं, परन्तु—

'जान कोउ न जानकी बिनु…'-श्रीरामजी की मुखाकृति आदि लक्षणों से उनके भावों का निश्चय कर लेना अन्य श्रीभरत आदि के लिये भी दुर्गम और अलक्ष्य है, केवल श्रीजानकीजी ही जानती हैं, यथा—"त्वं हि लोकगतिर्देव! न त्वां केचित्प्रजानते॥ ऋते मायां विशालाक्षीं तव पूर्वपरिग्रहाम्॥" (वाल्मी० ७।११०।१०-११); अर्थात् (ब्रह्माजी ने श्रीरामजी से कहा है—) आप ही लोकमात्र की गति हैं। आपकी पूर्वपरिग्रहीता माया श्रीजानकीजी के बिना आपको यथार्थ कोई नहीं जानता। श्रीजानकीजी ने स्वयं भी कहा है—"अहं तस्यानुभावज्ञा शक्रस्येव पुलोमजा॥" (वाल्मी० ५ ३७।१७); अर्थात् मैं उन (अपने स्वामी) के अनुभाव को जानती हूँ, जैसे शची इन्द्र के अनुभाव (प्रभाव एवं चित्त के भाव को प्रकाश करनेवाली कटाक्ष) को जानती हैं।

भाव यह कि श्रीजानकी जी ही स्वामी के भाव को लखकर तदनुसार संयोग रचनाकर इसकी व्यवस्था करेंगी।

'राम जोगवत सीय मन…'—दोनों में अन्योन्य एक-सी प्रीति है, एक दूसरे के मन को जोगाया करते हैं। यहाँ स्वामी के मन के असामञ्जस्य को श्री जानकीजी ही दूर करेंगी।

'परम-पावन प्रेम-परमिति···'—दोनों स्वसुख छोड़कर दूसरे को सुखी करने के स्वभाव वाले हैं, इससे इनकी प्रीति परम पवित्र है। स्वार्थ ही प्रीति में मल है, वह इनमें नहीं है।

इस आनेवाले चरित में परम-पावन प्रेम की पराकाष्ठा किस प्रकार है, इस पर स्वतंत्र विचार करने के लिये मैंने 'सीता-बनवास-मीमांसा' शीर्षक एक निबन्ध लिखा था, वह पूर्व ही 'वैष्णव भास्कर, मयूख ३, प्रभा २' तथा 'श्रीरामचरितमानस-सिद्धान्त-तिलक पृष्ठ २४८३—२४८५' में लिखा गया है। यहाँ भी लिखता हूँ—

सीता-बनवास-मीमांसा

आज कल के समालोचक श्रीसीताजी के बनवास। (वाल्मीकि आश्रम-यात्रा) पर श्रीरामजी को दोष देते हैं कि उन्होंने महारानी को शुद्ध जानते हुए भी निर्दयता से वन भेजकर एवं उनमें अपवाद लगाकर बड़ी निर्दयता की है। उन्हें सफाई देने का अवसर तक न दे निकाल दिया है। अतः, इस पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। विष्णु पुराण अंश ६।५।७९,८३—८७ में श्रीरामजी को समस्त हेय गुण रहित दिव्य गुणगणार्णव कहा गया है, फिर उनमें दोष कैसे संभव है?

विचार करने पर जिस प्रकार श्रीसीताजी की लङ्का यात्रा स्वेच्छा से हुई है, पर देखने में रावण का बलात् हरण करना है। उसी प्रकार एवं उसी अभिप्राय से यह दूसरी यात्रा भी हुई है। जैसे कि वाल्मी० ३।९—१० में श्रीजानकीजी ने श्रीरामजी से राक्षस-वध-प्रतिज्ञा पर कहा है कि मिथ्या-भाषण, पर स्त्री की अभिलाषा और निर्वैर पर रौद्रता, ये तीन भारी दोष हैं। (मनुष्य के यश को कलङ्कित करनेवाले हैं,)। इनमें प्रथम के दो तो आपमें नहीं हैं, तीसरे का संयोग हो रहा है। राक्षसों ने आपका कोई अपराध नहीं किया है। अतः, उन्हें मारने पर आपको उक्त दोष लगेगा। फिर इसे मना करते हुए एक इतिहास भी कहा है कि आपका शस्त्र धारण करना ठीक नहीं है।

इस पर जब श्रीरामजी ने अपना दृढ़व्रत कहा और उसका त्याग करने में अपनी असमर्थता कही। तब श्रीजानकीजी ने अपने स्वामी के धवल-यश-रक्षणार्थ लङ्कायात्रा की लीला की है; क्योंकि मृग मोहित होने पर श्रीलक्ष्मण

जी ने बार-बार मायामृग के मारीच राक्षस होने का स्मरण कराया है। पर श्रीजानकीजी ने नहीं माना। वह इसलिये कि इसी व्याज से मेरा हरणकर रावण दोषी हो वैर करके परिवार के साथ लड़ने पर मारा जाय तो स्वामी को उक्त दोष न लगे और उनकी कीर्त्ति उज्ज्वल हो।

उसी प्रकार श्रीसीताजी की यह दूसरी यात्रा भी अपने स्वामी के चरित को प्रकाशित करा के भविष्य में जीवों के उद्धार के लिये है। क्योंकि इस यात्रा में प्रथम तो आपने श्रीरामजी से स्वेच्छा से ही बन जाने का वरदान माँगा है और फिर उसी समय वह निन्दा की बात भी श्रीरामजी को सुनाई दी है। यह हेतु पुरवासियों को प्रेरणा करके इसलिये रचा गया है कि जिससे इसी के शमनार्थ महर्षि वाल्मीकिजी के द्वारा पूरी रामायण रची जाय। वाल्मी० ७।४८। १३-१४ में श्रीगंगा तट पर श्रीलक्ष्मणजी से त्याग की बात सुनने पर कहा भी है—"वीर! अपयश से डरकर आपने मेरा त्याग किया है। आपका जो अपवाद हो रहा है, उसको मैं दूर करूँगी; क्योंकि आप मेरे आश्रय हैं।" इस वचन से भी सिद्ध है कि श्रीजी का अपवाद हरण करने का सङ्कल्प हो चुका है। अतः, यहाँ वाल्मीकिजी के द्वारा चरित रचना कर तथा स्वयं सप्तद्वीपों के राजाओं की भारी सभा में शपथ कर स अपवाद का हरण करूँगी। और फिर १२५०० (साढ़े बारह हजार) वर्ष पीछे पुरवासियों का वैसा कहना स्वाभाविक नहीं हो सकता। लङ्का से आने पर उसी समय उन्हें कहना था। लोक में देखा जाता है कि किसी पर कोई दूषण लगने पर लोग तुरत उसका प्रायश्चित्त कराकर उसके साथ बर्त्ताव करते हैं।

श्रीसीताजी ने ही पुरवासियों से प्रेरणा र वैसा कहलाकर और उसी व्याज से बाल्मीकि आश्रम जाकर अपने आर्त्तरुदन द्वारा वात्सल्य-निष्ठ महर्षिजी के हृदय में अत्यन्त करुणा प्रकट कर दी और उनके हृदय में निन्दा-शमन करने के लिये आवेश कराया। तब क्रौंच-प्रसंग आदि हेतुओं के द्वारा रामायण रची गई।

यदि महर्षिजी लङ्का का श्रीसीताचरित मात्र ही ध्यानात्मक बनाते तो उसमें लोगों की प्रतीति होने में सन्देह था। अतः, जो-जो चरित्र पुरवासियों के समक्ष हुए थे, उन्हे भी ध्यानात्मक ही जानकर ज्यो के त्यों लिखा है जिससे

उनकी सत्यता से परोक्ष के लङ्का के सीताचरित भी सत्य जाने जायँ। इसी भाव पर कहा गया है-"काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।" (वाल्मी० १।४।७); अर्थात् समस्त रामायण काव्य में परम महत्त्व गुणवाला श्रीसीता-चरित है; क्योंकि वह सब श्रीसीताचरित के प्राधान्य में रचा गया है। महर्षि श्रीवाल्मीकिजी का मुख्य उद्देश्य श्रीसीताजी के लङ्का में शुद्ध रहने की सफाई देने का था यह कार्य बिना सब चरित रचे हो नहीं सकता था।

यदि शंका हो—"प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः। चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमर्थवत् ॥" (वाल्मी० १।४।१); अर्थात् श्रीरामजी के राज्यासीन होने पर समस्त रामायण बनी। तो इसका समाधान यह है कि इस प्रसंग में राज्यासीन होने पर कितने वर्षों के पश्चात् रामायण बनी, यह नहीं लिखा गया। परन्तु सम्पूर्ण चरित रचना की पूर्त्ति पर तो स्पष्ट कहा गया है कि महर्षिजी के चित्त में चिंता हुई कि इतने बड़े काव्य का धारण करने को कौन समर्थ होगा? त्यों ही कुश-लव, इन दोनों ने आकर चरण-ग्रहण कर प्रणाम किया, तब महर्षिजी ने इन्हें ही धारण करने को समर्थ विचार कर पढ़ाना प्रारम्भ किया है। जब श्रीशत्रुघ्नजी मथुराजी से लौटे थे (जो कि इन बालकों के जन्म दिन मथुरा जाते समय वहाँ थे और श्रीजानकीजी को प्रणाम करके मथुरा गये थे। फिर १२ वर्ष पर लौटे थे)। तब उन्होंने समाज के साथ श्रीवाल्मीकीजी के आश्रम में निवास किया था। वहाँ उन्होंने लव-कुश को करुणामय चरित (अयोध्याकाण्ड) गाते हुए सुना तो रात भर सैनिकों के साथ आश्चर्य में रहे। वे सोचते थे कि जो जो चरित हमने देखे हैं, उन्हें ही यहाँ सुन रहे हैं। वे भय से महर्षिजी से पूछ नहीं सके। प्रातःकाल महर्षि से आज्ञा लेकर श्रीअयोध्या चले आये।

यह मथुरा सम्बन्धी चरित वाल्मी० ७।६६-७१ के अनुसार है। इससे स्पष्ट हुआ कि श्रीमहारानीजी के आश्रम में आने पर महर्षिजी ने चरित रचने का प्रारम्भ किया है। दस-ग्यारह वर्षों में बना है। यज्ञोपवीत-संस्कार-सम्पन्न होने पर लवकुश को पढ़ाने लगे। एक वर्ष में अयोध्याकाण्ड तक पढ़ा चुके थे। उसी का अभ्यास कर रहे थे, तब बारह वर्ष पर लौटते समय श्रीशत्रुघ्नजी ने सुना था। चरित करुणामय थे, इसीसे श्रीशत्रुघ्नजी आदि रोते हुए सुनते

थे। इससे अयोध्याकाण्ड तक का अनुमान है। फिर शेष चरित भी पढ़ाये होंगे।

तत्पश्चात् जब श्रीरामजी अश्वमेध यज्ञ करने लगे थे और वहाँ द्वीप द्वीप के सब राजा लोग भी एकत्रित हुए थे। तब महर्षिजी श्रीअयोध्या आये और पृथक् रहते हुए कन्द-मूल-फल (अपना, राजा से न लेकर) खाते हुए, उन्होंने लव-कुश के द्वारा सारा चरित प्रथम नगर में सर्वत्र गान कराया है कि जिससे वे लोग अपने देखे हुए चरितों की सत्यता पर परोक्ष के श्रीसीताचरित को भी सत्य मानें तथा प्रजाओं के चित्त में ऋषि के राजा से मिले होने का भी सन्देह न हो कि राजा ने कुछ देकर अपना चरित सुन्दर बनवा लिया होगा।

जब पुरवासियों ने ही प्रशंसा की तब श्रीरामजी ने सब राजाओं, ऋषियों एवं यज्ञ मंडल के लोगों को एकत्र कर इनका गाना प्रारम्भ कराया कि जिससे सब लोग सीता-चरित के साथ सब चरित सत्य जाने और फिर सभी के सामने ही ब्रह्माजी की भी साक्षी हुई कि ये सब चरित अक्षरशः सत्य हैं। इस प्रकार महर्षिजीका सीता-निन्दा-शमन का अभीष्ट पूरा हुआ एवं श्रीसीताजी का अभिप्राय—स्वामी की कीर्ति ऋषि के द्वारा बने और वह जगद्विख्यात एवं चिरस्थायी हो, इसे गा-सुनकर भविष्य के लोग श्रीरामजी के वर्तमान का लाभ उठावें और भव पार हों—यह पूरा हुआ।

यह यज्ञ सम्बन्धी चरित वाल्मी० ७।९३-९८ के अनुसार है।

उपर्युक्त विवेचन से निश्चित हुआ कि जैसे रावण-वध के लिये श्रीजानकीजी की लङ्कायात्रा एवं श्रीरामजी के विलाप आदि लीला की मर्यादा से ही हुए; अन्यथा रावण-वध तो संकल्पमात्र से हो सकता था। वैसे ही श्रीसीताजी की यह लीला भी दुःखद एवं हृदय द्रावक घटना से की गई कि महर्षिजी का हृदय इस ओर ढरे और चरित बनें।

सारांश यह कि जैसे श्रीसीताजी की लङ्का-यात्रा स्वामी के चरित की उज्ज्वलता के उद्देश्य से जानबूझ कर स्वेच्छा से लीला रूप में हुई है, वैसे ही यह दूसरी यात्रा भी स्वामी का यश निर्माण कराने और उसे चिरस्थायी बनाने के लिये हुई है। अतः, यह पति के प्रति पवित्र प्रीति की पराकाष्ठा है।

इस गीतावली में पिता की आयु भोगने की व्यवस्था में यह लीला कही

गई है; क्योंकि भगवान् के चरित कई हेतुओं को लेकर हुआ करते हैं; यथा—"हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई॥" (मा० बा० १२०)।

अब पतिदेव श्रीरामजी की प्राण-प्रिया के प्रति प्रीति की पराकाष्ठा भी देखिये। आपने अपनी प्रिया श्रीसीताजी का यश निर्मल एवं जगद्विख्यात करने के लिये ही लङ्का में यद्यपि प्रथम प्राप्ति के लिये व्याकुल थे और हनुमान्‌जी के द्वारा उन्हें शुद्धा जानते भी थे, तथापि कठोर बन, दुर्वाद कहकर अग्नि-परीक्षा की लीला की है, किंतु वह परीक्षा ऐसे स्थल में हुई थी कि वहाँ पर वानर-भालू एवं देवता तथा कुछ राक्षसों के अतिरिक्त मनुष्य नहीं थे। सजातीय में यश होने में ही अधिक महत्त्व है, इसलिये स्वामी ने इस लीला द्वारा सातो द्वीपों की जनता की भारी सभा में शपथ करा श्रीसीताजी के निर्मल यश की स्थापना की है और ब्रह्माजी से उस पर साक्षी दिलाई है। साथ ही पूर्व की निष्ठुरता दूर करने के लिये इस प्रसंग में प्रियाजी के प्रति अपना भारी प्रणय दिखाते हुए उनकी प्राप्ति के लिये पृथिवी आदि का विदीर्ण करना कहा है, जिस पर ब्रह्माजी ने आकर कहा है कि आपकी श्रीसीताजी आपको तत्काल ही फिर प्राप्त होंगी।

इस प्रकार इन दोनों में परस्पर मन जोगाना तथा 'परम पावनि प्रीति पर मिति' हैं, किन्तु इसका रहस्य गुप्त एवं गम्भीर है, इससे 'समुझि तुलसी गाउ' कहा है। यह विवेचना हमारे ऋषियों की है जिन्होंने ऋषिव्रत से ब्रह्मविद्या प्राप्त की है। आजकल के समालोचक पाश्चात्यों के आक्षेपात्मक अविचार की बातों में विश्वास कर श्रीरामजी को इस चरित में दोष देते हैं, उन्हें अपने पूर्वजों की इन सूक्तियों पर विश्वास एवं ध्यान देना चाहिये।

[२६]

राम बिचारि कै राखी ठीक दै मन माहिं।
लोक-बेद-सनेह पालत पल कृपालहिं जाहिं॥ १॥
प्रियतमा, पतिदेवता, जिहि उमा-रमा सिहाहिं।
गुरुविनी सुकुमारि सिय तियमनि समुझि सकुचाहिं॥ २॥

मेरे ही सुख सुखी, सुख अपनो सपनेहूँ नाहिं।
गेहिनी गुन-गेहनी गुन सुमिरि सोच समाहिं ॥ ३ ॥
राम-सीय-सनेह बरनत अगम सुकवि सकाहिं।
राम-सीय-रहस्य तुलसी कहत राम कृपाहि ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—गुरुविनो (सं० गुर्विणी)=गर्भवती। गेहनी=गृहिणी, घर वाली।

अर्थ—श्रीरामजी ने विचार कर हृदय में पक्काकर उसे मन में ही रक्खा (कि अब श्रीजानकीजी को मेरे समीप से पृथक् रहना चाहिये)। कृपालु श्रीरामजी को लोक और वेद की रीतियों का स्नेहपूर्वक पालन करते हुए ही सभी क्षण व्यतीत होते हैं ॥ १ ॥ श्रीजानकीजी मुझे अत्यन्त प्यारी हैं और फिर ये पतिव्रता ऐसी हैं कि जिन्हें उमा-रमा आदि भी सिहाती (वैसी वृत्ति पाने के लिये ललचती) रहती हैं तथा गर्भवती, सुकुमारी एवं स्त्री शिरोमणि श्रीसीताजी को समझकर (अपने यहाँ से पृथक करने में) सकुचाते हैं (कि इनके प्रति वैसी निष्ठुरता कैसे की जाय?) ॥ २ ॥ श्रीजानकीजी नित्य मेरे ही सुख में सुखी रहती हैं, इन्हें अपने सुख की वासना स्वप्न में भी नहीं रहती, फिर ये हमारी गृहणी गुणों की भी गृहणी (भाण्डार) हैं; ऐसे इनके गुणों का स्मरण कर शोच में डूबे जाते हैं ॥ ३ ॥ श्रीरामजी और श्रीसीताजी के स्नेह का वर्णन करना दुर्गम है, अच्छे-अच्छे कवि भी डरते हैं। श्रीसीताजी और श्रीरामजी के स्नेहमय रहस्य को श्रीराम-कृपा से ही तुलसीदास कुछ कहता है ॥ ४ ॥

विशेष—'ठीक दै'; यथा—"करि बिचार मन दीन्ही ठीका। राम रजायसु आपन नीका ॥" (मा० अ० २६५)।

'प्रियतमा, पतिदेवता…'; यथा—"सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिव्रत करहिं। तोहिं प्रानप्रिय राम कहिउँ कथा संसार-हित ॥" (मा० अर० ५); "कृतकृत्या हि वैदेही छायेवानुगता पतिम् ॥" (वाल्मी० २।४०।२४); "अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा।" (वाल्मी० ५।२१।१५); "अनन्या हि मया सीता भास्करस्य प्रभा यथा ॥" (वाल्मी० ६।११८।१८); "धर्माद्विचलितुं नाहमलं चन्द्रादिव प्रभा।" (वाल्मी० २।३९।२८); अर्थात् श्रीजानकीजी शरीर के साथ उसकी छाया के समान, सूर्य के साथ उसकी

प्रभा के समान और चन्द्रमा के साथ उसकी चन्द्रिका के समान अनन्य एवं अपृथक् रहनेवाली पतिव्रता हैं।

'उमा-रमा-सिहाहिं'; यथा—"अरुन्धत्या विशिष्टां तां रोहिण्याश्चापि… सीतां… श्रियाः श्रीं भर्तृवत्सलाम्" (वाल्मी० ६।१११।२०-२१); अर्थात् श्रीअरुन्धतीजी, श्रीरोहिणीजी एवं श्रीलक्ष्मीजी आदि से श्रीसीताजी पातिव्रत्य में श्रेष्ठ हैं, इनकी भी शोभा बढ़ाने वाली हैं।

'गुरुविनी, सुकुमारि सिय…'—पद्मपुराण, पाताल खण्ड, अ० ५५ में लिखा है—"सीता दधार तद्वीर्यं मासाः पञ्चाभवंस्तदा। अत्यन्तं शुशुभे देवी त्रयीव पुरुषं धरा॥" अर्थात् पाँच महीने का गर्भ हो जाने पर श्रीसीताजी ने पतिदेव से वन जाने की स्वतः आज्ञा माँगी है। 'सुकुमारि'; यथा—"तात सुनहु सिय अति सिय सुकुमारी… पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा॥" (मा० अ० ५७-५८)।

'मेरे ही सुख सुख…'—यही शुद्ध स्नेह है, ऐसे ही स्नेह इनके प्रति स्वामी का भी है; यथा—"तब दुख दुखी सुकृपा-निकेता॥ जनि जननी मानहु जिय ऊना। तुम्ह ते प्रेम राम के दूना॥" (मा० सुं० १३)। तथा वाल्मी० ५।३६।४१-४५ भी देखने योग्य है।

'गेहिनी गुन गेहनी गुन…'; यथा—"हा गुन खानि जानकी सीता। रूप सील ब्रत नेम पुनीता॥" (मा० अर० २९); "प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख सनेह सोभा गुन खानी॥" (मा० बा० २३४)।

'राम-सीय-सनेह बरनत…'—इनके हृदय के भावों की यथार्थता का जानना कठिन है। उपर्युक्त पद के 'जान कोउ न जानकी बिनु…' इसका विशेष देखिये। इससे कुछ अन्यथा न हो जाय, इस डर से सुकवि डरते हैं, तथा अगाध स्नेह का अल्पांश भी नहीं कह सकेंगे, किंचित् कहने में भी उस महान् स्नेह की लघुता होगी, इन कारणों से भी कवि डरते हैं। यहाँ जो कुछ कहा जाता है, इसका रहस्य भी श्रीराम कृपा से ही ज्ञात हुआ है; अन्यथा इस प्रसंग में प्रायः लोग भ्रम में ही पड़ जाते हैं।

[२७]

चरचा चरनि सों चरची जानमनि रघुराइ ।
दूत-मुख सुनि लोक-धुनि घर घरनि बूझी आइ ॥ १ ॥
प्रिया निज अभिलाष-रुचि कहि, कहति सिय सकुचाइ ।
तीय तनय समेत तापस पूजिहौं बन जाइ ॥ २ ॥
जानि करुनासिंधु भावी-बिबस सकल सहाइ ।
धीर धरि रघुबीर भोरहिं लिए लखन बोलाइ ॥ ३ ॥
"तात ! तुरतहि साजि स्यंदन सीय लेहु चढ़ाइ ।
बालमीकि मुनीस आश्रम आइअहु पहुँचाइ" ॥ ४ ॥
'भलेहि नाथ' सुहाथ माथे राखि राम-रजाइ ।
चले तुलसी पालि सेवक धरम-अवधि अघाइ ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—चरची [चरचना = भाँपना, अनुमान करना] = अनुमान की, भाँप ली, जान ली । चर्चा = वर्णन, बातचीत, अफवाह, किंवदन्ती । लोक धुनि = लोक ध्वनि, अफवाह । जान मनि = ज्ञानि-शिरोमणि ।

अर्थ—चतुरों में शिरोमणि श्रीरघुनाथजी ने गुप्त दूतों (जासूसों) से चर्चा भाँप ली । दूतों के मुख से लोकध्वनि सुनकर घर में आकर अपनी गृहणी (स्त्री) श्रीजानकीजी से पूछा ॥ १ ॥ 'हे प्रिये ! अपनी अभिलषित (वांछित) रुचि कहिये ।' तब श्रीजानकीजी ने सकुचाकर कहा —'मैं वन जाकर स्त्री और बालकों के साथ तपस्वियों का पूजन करूँगी' ॥ २ ॥ तब करुणानिधान श्री रामजी के भावी-वश सारी अनुकूल सहायताओं का होना जान धैर्य धारणकर प्रातःकाल ही श्रीलक्ष्मणजी को बुला लिया (और कहा —) ॥ ३ ॥ 'हे तात ! शीघ्र ही रथ सजाकर उस पर श्रीसीताजी को बैठा लो और मुनीश्वर श्री बाल्मीकिजी के आश्रम पर पहुँचा आओ ॥ ४ ॥ तब 'हे प्रभो ! बहुत अच्छा' शिर पर हाथ रख स्वामी श्रीरामजी की आज्ञा शिरोधार्य की और सेवक धर्म की पराकाष्ठा का परिपूर्णता से पालन करते हुए वे वहाँ से चल दिये ॥ ५ ॥

विशेष—'चरचा चरनि सों चरची···'—गुप्तचरों से प्रजा की ध्वनि परखना सुजानता है, इस कार्य पर यहाँ आपको 'जानमनि' कहा गया है, क्योंकि आपने बड़े कौशल से अपने प्रिय सखा से वह ध्वनि कहलवा ली है—

"भद्र सखा ने प्रशंसात्मक ही बातें कही, तब आपने उससे पूछा कि पुरवासियों की शुभ-अशुभ सारी बातें कहो, तदनुसार हम लोग शुभ का ग्रहण और अशुभ का त्याग करें। निर्भय होकर कहो। तब उसने हाथ जोड़कर कहा—"...श्रीरामजी के हृदय में श्रीसीताजी के सम्भोग का सुख कैसा बद्धमूल हुआ है कि जिसे गोद में उठाकर रावण बलपूर्वक ले गया, जो लङ्का में गई और वहाँ अशोक-वाटिका में राक्षसों के अधीन होकर रहीं, उनको श्रीरामजी ने निंदित नहीं समझा, उनका त्याग नहीं किया। अब हम लोगों की स्त्रियों के सम्बन्ध की ऐसी बातें सह्य होंगी। वे बुरी नहीं समझी जायँगी; क्योंकि राजा जो करता है, प्रजा उसका अनुकरण करती ही है"—बाल्मी० ७।४३।९-१९।

पद्मपुराण पातालखण्ड अ० ५५।६८-७३ में एक रजक ने भी वैसा ही कहा है, परन्तु वहाँ पर आगे श्रीभरतजी आदि तीनों भाइयों ने सीताजी की शुद्धता पर अग्नि-परीक्षा एवं ब्रह्माजी तथा पिता दशरथ की दिव्य देह की साक्षी कहकर बहुत कुछ वाद किया है, परन्तु रामजी ने लोकापवाद को असह्य कह हठात् यह सीता-त्याग कार्य लक्ष्मणजी से कराया है; वहाँ के अ० ५५-५८ देखने योग्य हैं।

वहाँ पर इस सीता-बनवास पर एक पक्षिणी के शाप का हेतु भी कहा गया है।

'प्रिया निज अभिलाष रुचि कहि...'—बाल्मी० ७।४२।३०-३५ में लिखा है कि रामजी ने सीताजा को कल्याणमय गर्भ चिह्नों से युक्त देखकर प्रशंसा करके पूछा कि तुम्हारा कौन मनोरथ पूरा करूँ। इन्होंने प्रसन्नतापूर्वक यही कहा कि गङ्गा तट पर रहनेवाले उग्र तपस्वियों के तपोवन को मैं देखना चाहती हूँ और वस्त्राभूषणों से उनकी पूजा करना चाहती हूँ—बाल्मी० ७।४६। २९), उनके चरणों के समीप कम-से-कम एक रात भी रहना चाहती हूँ। श्रीरामजी ने 'तथास्तु' कहा है। तत्पश्चात् उन्होंने सखाओं से पूछकर उक्त लोकध्वनि सुनी है।

यहाँ लोक ध्वनि सुनकर प्रियाजी से पूछना लिखा गया है, यह कल्पभेद है। यहाँ ऋषियों की पूजा करने का हेतु भी बहुत युक्त है; तथा—"तत्र गत्वा तपः कोशान्वस्त्राद्यैः परिपूजये। रत्नानि चैव भास्वन्तिभूषा अपि स

यथा मे तोषिताः सत्यो ददत्याशीर्मनोहराः ।" (पद्मपुराण, पाताल० ५५।१४-१५); अर्थात् श्रीसीताजी ने कहा है कि मैं वहाँ वन में जाकर तपोनिष्ठों को वस्त्र, रत्न एवं भूषणों से उनकी पूजा करूँगी, जिससे वे प्रसन्न हो आशीर्वाद दें ।

'जानि करुनासिंधु भावी-बिबस···'—ऊपर पद २५ में 'जान कोउ न जानकी बिनु··राम जोगवत सीय मन···' कहा गया था । वहाँ के विचार में श्रीसीताजी का शोभन विचार भी कहा गया कि वे कलङ्क के व्याज से जाकर वाल्मीकिजी से चरित रचवाना चाहती हैं । विष्णुपुराण, १।८।१७ तथा १।९।१२६ के अनुसार श्रीजानकीजी भी सर्वजगत् में व्यापिका हैं । अतः, इन्होंने पुरवासियों एवं रजक से वैसा कहलवा लिया है तथा प्रिया की वैसी रुचि जानकर ही इस कार्य में बाधक उपर्युक्त श्रीभरत आदि का सीता-शुद्धि कहकर मना करना प्रभु ने नहीं माना है । माधुर्य-दृष्टि से प्रभु यहाँ भावी संयोग की सहायता कह रहे हैं । 'धीर धरि'—माधुर्य अभिनय के अनुसार प्राण-प्रिया के वियोग का स्मरण कर अधीरता पर धीर धरना कहा गया है ।

'बाल्मीकि मुनीस आश्रम····'—श्रीसीताजी ने गङ्गा तट पर ही जाने को कहा था, तदनुसार यहाँ आज्ञा दे रहे हैं । स्पष्ट वाल्मीकि आश्रम का भी निर्देश कर रहे हैं; क्योंकि उन्हीं के द्वारा प्रियाजी के उद्देश्य की पूर्ति होना है । वाल्मी० ७।४५।१६-१८ में ऐसा ही कहा है—"लक्ष्मण ! कल प्रातःकाल सुमंत्रजी को सारथी बना रथ पर सवार हो श्रीसीताजीको उस पर बैठाकर, अपने राज्य से बाहर जाकर छोड़ आओ । गङ्गाजीके उस पार तमसा तीर पर महात्मा वाल्मीकि का आश्रम है, वहीं निर्जन स्थानमें इसे छोड़ आओ ।"

'सुहाथ माथे राखि···'—शिर पर हाथ रख आज्ञा सुनना, उस आज्ञा को शिरोधार्य करने का सूचक है 'भलेहि नाथ' यह वचन से भी कहा है ।

'चले तुलसी पालि सेवक-धरम···'—वाल्मी० ७।४५।२१ में स्वामी ने इस आज्ञा-पालन पर अपने चरणों की शपथ दे दी थी कि इस पर कुछ नहीं बोलो ।

पद्मपुराण, पाताल० अ० ५५।६३ में तो तलवार देकर कहा है कि या तो जानकीजी को त्याग करो; अन्यथा मेरा शिर ही काट दो, ऐसा श्रीभरतजी से

कहा, वे मूर्च्छित हो गये, शत्रुघ्नजीकी भी यह सुनकर वैसी ही दशा हुई, पीछे बड़ी कठिनाई से श्रीलक्ष्मणजी ने स्वीकार किया है। उन्हीं भावों को ग्रन्थकार ने यहाँ इन शब्दों से ध्वनित किया है कि ऐसा कठिन कार्य करने में उन्होंने सेवक धर्म की परिपूर्ण अवधि निबाही है; क्या करें, आज्ञा वश ऐसा किया है।

इन लोगों को महान् कष्ट हुआ; क्योंकि इन्होंने श्रीजानकीजी के हार्दिक रहस्य को नहीं जान पाया था कि वे स्वतः स्वामी की कीर्ति रचवाने जा रही हैं। इन चरितों में कई हेतुओं को सार्थक बनाना था, इससे इन्हें नहीं जनाया गया।

[२८]

आये लखन लै सौंपी सिय मुनीसहि आनि।
नाइ सिर रहे पाइ आसिष जोरि पंकज पानि ॥ १ ॥
बालमीकि बिलोकि ब्याकुल लखन गरत गलानि।
सर्वबिद बूझत न, बिधि की बामता पहिचानि ॥ २ ॥
जानि जिय अनुमान ही सिय सहस बिधि सनमानि।
राम सदगुन-धाम-परमिति भई कछुक मलानि ॥ ३ ॥
दीनबंधु दयालु देवर देखि अति अकुलानि।
कहति बचन उदास तुलसीदास त्रिभुवन-रानि ॥ ४ ॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी श्रीसीताजी को लेकर आये और उन्होंने मुनीश्वर श्रीवाल्मीकिजी के आश्रम में आकर मुनीश्वर को श्रीसीताजी का समर्पण किया तथा उन्हें शिर नवाकर प्रणाम कर और उनसे आशीर्वाद पाकर हाथ जोड़ शिर नीचा किये हुए खड़े रह गये ॥ १ ॥ श्रीलक्ष्मणजी को ग्लानि से गलते हुए तथा व्याकुल देखकर और इस प्रसंग में विधाता की प्रतिकूलता पहचान कर सर्वज्ञ श्रीवाल्मीकिजी ने उनसे कुछ नहीं पूछा ॥२॥ उन्होंने अपने हृदय के अनुमान से ही श्रीसीताजी के आने का कारण जानकर सहस्रों प्रकार से श्रीसीताजी का सम्मान किया; परन्तु (यह विचार कर कि) श्रीरामजी तो समस्त सद्गुणों के स्थान की सीमा हैं (फिर उन्होंने ऐसा निष्ठुर कार्य क्यों किया ?) उनके हृदय में कुछ खेद भी हुआ ॥ ३ ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि तीनों लोकों की महारानी श्रीसीताजी अपने दीनबन्धु और दयालु देवर

श्रीलक्ष्मणजी को देखकर अत्यन्त व्याकुल हो गईं और उनसे ये वचन कहने लगीं ॥ ४ ॥

विशेष—'आए लखन लै सिय…'—ग्रन्थकार ने अपनी स्थिति श्री जानकीजी के एवं श्रीवाल्मीकिजी के समीप रक्खी है, इससे वहाँ के प्रति 'आये' कहा है। गये नहीं कहा। प्रभुकी आज्ञा पर श्रीलक्ष्मणजी स्वामी के आदेशानुसार श्रीजानकीजी से उनके अभीष्ट वन को चलने की प्रार्थना की। वे वस्त्राभूषण एवं कुछ रत्न आदि वहाँ बाँटने के लिये साथ लेकर रथ पर चढ़ीं श्री सुमन्त्रजी रथ लेकर चले। मार्ग में श्रीलक्ष्मणजी परिस्थिति समझ कुछ रोने लगे, इस पर श्रीजानकीजी ने कहा कि तुम थोड़े से बियोग में रोने लगे। मुझे भी तो स्वामी प्रिय हैं (मेरे अभीष्ट में बाधक क्यों होते हो ? लक्ष्मणजी ने धैर्य कर नौका पर चढ़ा श्रीजानकीजी को श्रीगंगा पर श्रीवाल्मीकि आश्रम के पास घाट पर उतारा और वहाँ वे बड़े जोरों से रोने लगे और मृत्यु की कांक्षा करने लगे। इस पर श्रीजी ने कारण पूछा, तब इन्होंने कहा कि माता ! इस प्रकार के मिथ्या-अपवाद पर स्वामी ने आपका त्याग किया है और पिताजी के मित्र महर्षि वाल्मीकि के इस आश्रम के पास पहुँचा आने को कहा है। यह सुनकर श्रीजी रोने लगीं।…फिर श्रीलक्ष्मणजी प्रदक्षिणा कर और प्रणाम कर स्वामी की आज्ञा के अनुसार नौका से लौट पड़े। इस पार से खड़े देखते रहे। वाल्मीकिजी बालकों से सुन आकर श्रीजी को समझाकर लिवा ले गये। तब इन्होंने बहुत दुःख प्रकट किया, इस पर सुमंत्रजी ने भावी कल्याण की बातों से समझाया है—ऐसा वाल्मीकीय ७।५०-५१ में लिखा है।

परन्तु श्रीगोस्वामी के कल्प के इस चरित में श्रीलक्ष्मणजी का वाल्मीकिजी को सौंपना लिखा गया है। यह बड़ा सौष्ठव है।

'नाइ सिर…'—'नाइ सिर' यह पद प्रथम प्रणाम करने एवं पीछे लज्जा के कारण शिर झुका खड़ा होने में भी है, क्योंकि इसके साथ ही आशीर्वाद पाना और हाथ जोड़कर खड़ा रह जाना भी लिखा गया है। तथा—"आसन दीन्ह नाइ सिर बैठे। चहत सकुच गृह जनु भजि पैठे ॥ मुनि पूँछब कछु एह बड़ सोचू।" (मा० अ० २०५); यह कैकेयीजी के कर्त्तव्य पर लज्जित भरतजी की मुद्रा है।

'बालमीकि बिलोकि'''—श्रीलक्ष्मणजी की ग्लानि जानकर वे कुछ नहीं पूछते कि कहने में इन्हें और भी महान् दुःख होगा। परन्तु अपनी सर्वज्ञता से उन्होंने इस प्रसंग की विधि-वामता को पहचान लिया; जो पूर्व से ही ब्रह्माजी ने इस वियोग के लिये भृगु-शाप आदि की व्यवस्था कर रक्खी हैं—वाल्मी० ७।५१ में इसकी कथा है। तथा ऊपर पद २७ के विशेष में एक पक्षिणी का शाप भी लिखा गया है।

'जानि जिय अनुमानही'''—वाल्मी० ७।४९।५-१३ में लिखा है—"शोक पीड़ित श्रीसीताजी के पास जाकर मुनिश्रेष्ठ श्रीवाल्मीकिजी मधुर स्वर में बोले, मानों वे अपने तेज से इन्हें आह्लादित कर रहे हों। तुम श्रीदशरथजी की पुत्रवधू हो और महाराजा श्रीरामजी की प्रिय महाराणी हो तथा राजा जनक की कन्या हो, पतिव्रते! तुम्हारा स्वागत है। जिस समय तुम यहाँ आ रही थीं, उसी समय मैंने धर्म-समाधि से जान लिया था और इसका कारण भी मैंने स्वतः जान लिया है। महाभागे! तुम्हारे सम्बन्ध की सभी बातें मुझे ठीक-ठीक ज्ञात हैं। त्रिलोक में भी जो कुछ होता है, वह सब मुझे विदित है। सीते! तुम निष्पाप हो, यह मैं तपस्या के द्वारा प्राप्त ज्ञान से जानता हूँ। वैदेहि! तुम निश्चिन्त हो जाओ। क्योंकि अब तुम मेरे पास रहती हो (अर्थात् यहाँ तुम्हें कोई कष्ट न होगा,)। यहाँ मेरे आश्रम के पास ही तपस्विनियाँ तपस्या करती हैं, वे बच्चे के समान तुम्हारा पालन करेंगी। यह अर्घ्य ग्रहण करो। तुम निर्भय और निश्चिन्त हो जाओ, अपने घर आई हो, दुःख न करो। मुनि के अद्भुत वचन सुनकर श्रीसीताजी ने शिर झुकाकर उनको प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उनकी आज्ञा स्वीकार की।"

इस सामान्य धर्म-समाधि से जानी हुई बातों को महर्षिजी का अनुमान करके कहना कहा है; क्योंकि आगे विशेष समाधि से जानकर तो सारा चरित्र ही लिखेंगे (आश्वासन करने एवं अर्घ्य आदि देने को एवं और भी सम्मान करने को यहाँ सहस्रों प्रकार से सम्मान कर उन्हें आदर देना कहा गया है।

विधि-वामता एवं श्रीजी की व्यवस्था जानने पर मुनि 'सर्वविद्' कहा गया है।

'राम सदगुन धाम परमिति'''—अभी मुनि ने सामान्य ध्यान से

चरित का बहिरंग भाव ही जाना है, इससे इस चरित पर श्रीरामजी के विषय में सहसा खेद कर रहे हैं। पीछे विशेष समाधि जब देखेंगे, तब श्रीजानकीजी का उद्देश्य पति-कीर्ति-निर्माण कराने का एवं इस चरित के द्वारा श्रीरामजी का सीता-यश संसार के मनुष्यवर्ग में फैलाने का समझेंगे। इसी से आगे श्रीराम-जी के प्रति अप्रसन्न न हो उन्हें सांत्वना ही देंगे।

'राम सद्गुन धाम परमिति'; यथा—"राम अमित गुन सागर थाह कि पावै कोइ।" (मा० उ० ९२); "नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान्धृतिमान्वशी॥" से "सच सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः।...तमेवं गुणसम्पन्नं रामं सत्यपराक्रमम्॥" (वाल्मी० १।१।८-१९) तक।

'दीनबंधु दयालु देवर...'—तीनों लोकों की रानी श्रीसीताजी की इस दीन दशा पर दया से इनकी सहायता के लिये लक्ष्मणजी व्याकुल हैं अपने इस त्याग-कर्म के अंग होने पर लज्जित हैं, यह देखकर उनसे कुछ वचन कहती हैं कि लक्ष्मणजी मुझे अपने पर रुष्ट न समझें, इससे उनसे कुछ सहायतार्थ कहती हैं—

[२९]

तौ लौं, बलि, आपु ही कीबी बिनय समुझि सुधारि।
जौं लौं हौं सिखि लेउँ बन रिषि-रीति बसि दिन चारि॥ १॥
तापसी कहि कहा पठवति नृपनि को मनुहारि।
बहुरि तिहि बिधि आइ कहिहै साधु कोउ हितकारि॥ २॥
लखन लाल कृपाल! निपटहि डारिबी न बिसारि।
पालिबी सब तापसनि ज्यों राज-धरम बिचारि॥ ३॥
सुनत सीता बचन मोचत सकल लोचन बारि।
बालमीकि न सके तुलसी सो सनेह सँभारि॥ ४॥

शब्दार्थ—मनुहारि = १—वह विनती जो किसी का मान छुड़ाने या प्रसन्न करने के लिये की जाती है। २—विनय, प्रार्थना—हिं० श० सा०। तथा—"क्यों सौंप्यो सारंग हारि हिय, करी है बहुत मनुहारी॥" (बा० १०९)।

अर्थ—[श्रीलक्ष्मणजी को लौटने पर सन्नद्ध देख श्रीसीताजी कुछ नम्र वचन कहने लगीं-] मैं बलिहारी जाती हूँ, हे तात! जब तक मैं वन में चार

दिन रह कर वनवासी ऋषियों की रीति सीख लूँ, तब तक (तुम यहीं रहिये, यदि इस पर स्वामी श्रीरघुनाथजी कुछ अप्रसन्न होंगे तो) आप ही स्वयं समझकर परिस्थिति सुधार कर स्वामी से प्रार्थना कर लीजियेगा ॥ १ ॥ यह सुनकर महर्षि के द्वारा सेवार्थ नियुक्त एक तपस्विनी ने कहा कि आप राजाओं को प्रार्थना क्यों कह कर भेजती हैं ? (भाव यह कि हम सब तो हैं ही, आपकी सब प्रकार की सेवा एवं महर्षि के प्रसाद से सुव्यवस्था करूँगी ही)। फिर उसी (तपस्विनी) की भाँति कोई एक हितकारी साधु ने भी वहाँ आकर (आश्वासन के) वचन कहे हैं (भाव यह कि जो काम पुरुषों के द्वारा करने का होगा, वह सभी हितकर कार्य हम लोग करेंगे, फिर हम साधुओं की ओर से राजाओं से प्रार्थना कह भेजने की कोई आवश्यकता नहीं है) ।। २ ॥ (फिर श्रीसीताजी ने कहा—) हे कृपालु श्रीलखनलाल ! मुझे नितान्त भुला न दीजियेगा; प्रत्युत् समस्त तपस्विनियों की भाँति (प्रजादृष्टि से) अपने राज-धर्म का विचार कर मेरा भी पालन कीजियेगा ॥३॥ श्रीसीताजी के इस प्रकार के वचन सुनकर सभी लोग नेत्रों से जल बरसाने लगे। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (और सामान्य लोगों की तो बात ही क्या) महर्षि श्रीवाल्मीकि-जी भी उस स्नेह में विवश हो गये, अपने को सँभाल नहीं सके (उनके भी रोमाञ्च एवं आँसू आदि प्रकट हो गये)।

विशेष—'तौ लौं···जौ लौं····'—श्रीजानकीजी की इस प्रार्थना पर जो यहाँ के साधु और तपस्विनी का आश्वासन मिलेगा, उससे श्रीलक्ष्मणजी को कुछ प्रसन्नता होगी कि माता यहाँ परिस्थिति के अनुसार सुख से रहेंगी। इसलिये इस प्रकार कह रही हैं। तपस्वियों के साथ रहने में उनकी रीतियों का सीखना भी आवश्यक होता है, यह चौदह वर्ष वन में रहने से श्रीजी जानती ही थीं, इससे कहती हैं।

'तापसी कहि···'—'स्वयं दासास्तपस्विनः' इस नियम से तपस्वी लोग अपनी सेवा एवं रक्षार्थ राजाओं से प्रार्थना नहीं करते, इस अपनी रीति के अनुसार एवं श्रीजी के साथ अपनपौ दिखाते हुए तापसी ने ऐसा कहा है।

'बहुरि तेहि बिधि—'—इस साधु ने हित करने का आश्वासन दिया है, यह भी स्वाभाविक है; यथा—"पर उपकार बचन मन काया। संत सहज

सुभाउ खगराया ॥" (मा० उ० १२०)। महर्षिजी का रुख जानकर सभी श्रीमहारानी को आराध्य मानकर इनकी सेवा एवं रक्षा में सन्नद्ध हैं—आगे पद ३२ में महर्षिजी के भाव को देखिये।

'लखन लाल कृपाल !—'—पहले श्रीमहारानीजी ने श्रीलक्ष्मणजी के कुछ काल रहने को कहा था, वह कथन अपने मातृत्व-स्नेह से भी था, माता पुत्रवत् प्रिय लखनलाल को जाने को कैसे कहे ? जैसे लङ्का में श्रीहनुमान्जी के प्रति भी कहा है कि कुछ काल यहाँ रहो तो मुझे सहारा हो—वाल्मी० ५।५६। ३-६। तथा—"कहु कपि केहि बिधि राखौं प्राना। तुमहूँ तात ! कहत अब जाना॥" "तोहिं देखि सीतल भइ छाती। पुनि मोकहँ सोइ दिन सोइ राती॥" (मा० सुं० २६)। अब जब तपस्विनी एवं साधु ने सम्यक् प्रकार से आश्वासन दिया और उधर श्रीलक्ष्मणजी को स्वामी की आज्ञानुसार शीघ्र जाना भी है; क्योंकि जब तक ये लौट कर यहाँ की ठीक व्यवस्था न कहेंगे, तब तक स्वामी भी चिन्तित ही होंगे, इससे उनके लिये जाने का भी स्वतः रुख देती हैं कि वहाँ से ही सामान्य प्रजा दृष्टि से भी सब तपस्विनियों की भाँति अपने राजधर्म का विचार कर मेरी सार सँभार रखियेगा, नितान्त भुला न दीजियेगा। राजधर्म; यथा—"अधर्मः सुमहान्नाथ भवेत्तस्य तु भूपतेः। यो हरेद्बलिषड्भागं न च रक्षति पुत्रवत्॥ ११॥"'यत्करोति परं धर्मं मुनिर्मूलफलाशनः। तत्र राज्ञश्चतुर्भागः प्रजा धर्मेण रक्षतः॥ १४॥" (वाल्मी० ३।६); अर्थात् उस राजा को बड़ा भारी अधर्म होता है जो प्रजा से छठा भाग कर तो ले ले, पर प्रजा का पालन पुत्र के समान नहीं करे।...मुनि फल मूल खाकर जो धर्माचरण करता है, धर्मपूर्वक रक्षा करनेवाले राजा को उसका चौथा भाग मिलता है।

'सुनत सीता बचन...'—जो अभी तक त्रिभुवन की महारानी थीं, उनकी एकाएक ऐसी दीन दशा ! ऐसे दीन होकर बोल रही हैं !! यह किसी से भी सहा नहीं गया। औरों की तो बात ही क्या ? सर्वज्ञ महर्षि भी न सँभल सके; यद्यपि ये बहुत कुछ भविष्य भी जानते थे। परन्तु यहाँ श्रीसीता के माधुर्य-अभिनय का भी तो कुछ महत्त्व है ; यथा—"मोह मगन मति नहिं बिदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की॥" (मा० अ० २८५)।

[३०]

सुनि ब्याकुल भये, उतरु कछु कह्यो न जाइ।
जानि जिय बिधि बाम दीन्हों मोहिं सरुष सजाइ ॥१॥
कहत हिय मेरी कठिनई लखि गई प्रीति लजाइ।
आजु अवसर ऐसे हू जौं न चले प्रान बजाइ ॥२॥
इतहि सीय-सनेह-संकट उतहि राम-रजाइ।
मौन ही गहि चरन गौने सिख सुआसिष पाइ ॥३॥
प्रेमनिधि पितु को कहे मैं परुष बचन अघाइ।
पाप तेहि परिताप तुलसी उचित सहे सिराइ ॥४॥

अर्थ—श्रीसीताजी के वचन सुनकर श्रीलक्ष्मणजी व्याकुल हो गये, उनसे उत्तर रूप में कुछ कहा ही नहीं जाता था। उन्होंने हृदय में ऐसा जान लिया कि मुझ पर प्रतिकूल विधाता ने क्रुद्ध होकर मुझे सजा दी है ॥१॥ वे अपने हृदय में कहते हैं कि 'आज इस अवसर पर भी जो मेरे प्राणों ने डंका पीटकर (प्रकाश्य रूप से—खुल्लमखुल्ला) इस शरीर से प्रस्थान नहीं किया तो यह निश्चित है कि मेरी इस कठिनता को देखकर मेरे हृदय से लज्जित होकर प्रीति चली गई' ॥ २ ॥ इधर श्रीसीताजी के स्नेह-आकर्षण का संकट था उधर श्रीरामजी की आज्ञा का भी पालन करना ही था। निदान, वे श्रीसीताजी के चरण-ग्रहण कर (प्रणाम कर) और उनकी शिक्षा एवं आशिष पाकर मौन ही चल दिये ॥३॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (वे मन में शोक करते जाते हैं कि) 'मैंने अपने प्रेमनिधि पिता श्रीदशरथजी को जो भर पेट कठोर वचन कहे थे, उसी पाप के फल रूप में मुझे यह परिताप प्राप्त हुआ है, यह उचित ही है। यह तो सहन करने से ही समाप्त होगा' ॥४॥

विशेष—'सुनि ब्याकुल भये—'—जिस दशा पर अन्य सभी लोग आँसू बहाने लगे और महर्षि तक उस स्नेह में विह्वल हो गये तो फिर श्री-लक्ष्मणजी के विषय में क्या कहना ? इनकी तो ये सदा की आराध्य इष्टदेवी ही हैं। ये तो इनके वचन सुनकर व्याकुल ही हो गये।

'जानि जिय बिधि बाम—'—यों तो जीवों के कर्मानुसार ही विधि की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता होती ही रहती है ; यथा—"कठिन करम गति

जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता॥" (मा० अ० २८१)। परन्तु यहाँ वामता के साथ विधि सरुष होना भी कहते हैं। इसका भाव यह कि जैसे पिताजी को पहले श्रीराम-विरोधी मानकर भ्रम से कठोर वचन श्रीराम-वनवास प्रसंग पर वाल्मी० २।२१ में कहा है, उसका पश्चात्ताप यहाँ आगे चौथे चरण में किया है। वैसे ही उसी प्रसंग में वहीं पर दैव के प्रति भी आपने राम-विरुद्धता पर कठोर वचन कहा है—वाल्मी० २।२३ देखिये। उस पर उसके भी सरुष होने और दण्ड देने का अनुमान कर रहे हैं।

'कहत हिय""अवसर ऐसेहूँ…'—प्राणों के न निकलने पर हृदय की अत्यंत कठिनता का अनुमान कर लज्जित हो प्रीति चली ही गई; अर्थात् मेरे हृदय में प्रीति है ही नहीं; यथा—"जुग सम निमिष जाहिं रघुनंदन-बदन कमल बिनु देखे॥ जौ तनु रहै बरष बीते, बलि, कहा प्रीति इहि लेखे?॥" (अ० ४)॥ तथा—"ऐसे सुत के बिरह अवधि लौं जौं राखउँ यह प्रान। तौ मिटि जाइ प्रीति की परमिति अजस सुनौं निज कान॥" (अ० ५९)।

'मौन ही गवने…'—पहले कहा था—'उतरु कछु कह्यो न जाइ' यहाँ तक विचार करना कहा गया, उत्तर देने का कोई मार्ग नहीं मिला, तब मौन ही चल दिये।

'सिख सुआसिष पाइ""'—वाल्मी० ७।४८।६-१८ में शिक्षा की बात भी आई है कि तुम स्वामी की आज्ञा का ही पालन करो, मुझ दुःखिनो को छोड़ दो तथा वहीं पर प्रणाम करके चलना भी लिखा है। प्रणाम प्रति आशीर्वाद भी दिया ही गया है।

'प्रेमनिधि पितु को""पाप तेहि…'—पिता श्री दशरथजी ने श्रीरामजी की शपथ करके कैकयी को वर देने की प्रतिज्ञा भावीवश कर ली थी। उन्होंने इसके विश्वास में आकर यह नहीं समझा था कि यह ऐसा वर माँगेगी, इससे उन्होंने धर्म एवं स्नेह के फंदे में फँसकर श्रीरामजी को वनवास दिया था। श्री-राम-शपथ करके पीछे न देने पर श्रीरामजी का ही अकल्याण होता, इस विचार से उन्होंने राम-स्नेह से ही श्रीरामजी को बनवास दिया है, परम गुह्य भेद को श्रीलक्ष्मणजी ने पहले नहीं समझा था, इसीसे पिता को स्त्री के स्नेह में फँस-कर श्रीराम ऐसे पुत्र को वन देना समझकर वैसे कठोर वचन कहे थे। अब उसी

का भारी पश्चाताप कर रहे हैं। प्रमाण—"तेनाजय्येन मुख्येन राघवेण महात्मना। शपे ते जीवनार्हेण ब्रूहि यन्मनसेप्सितम् ॥" (वाल्मी० २।११।६); अर्थात् (तुझसे अधिक प्रिय श्रीरामजी हैं) उनकी शपथ करके कहता हूँ जो इच्छा हो, माँग ले। तथा—"जो कछु कहौं कपट करि तोहीं। भामिनि राम सपथ सत मोहीं ॥ बिहँसि माँगु मन भावति बाता।...तेहि पर राम सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई ॥" (मा० अ० २३, २७); इसमें 'सपथ करि आई' पद से स्पष्ट है कि राजा से भावीवश ही वह शपथ मुख से कही गई है। तथा—"वञ्चना या तु लब्धा मे तां निस्तर्तुमिच्छसि। अनया वृत्तसादिन्या कैकेय्याभिप्रचोदित: ॥" (वाल्मी० २।३४।३७); अर्थात् कुलोचित आचार को नष्ट करनेवाली इस कैकेयी के कहने में पड़कर मुझे धोखा हुआ और उसका फल तुम्हें भोगना पड़ रहा है, तुम मेरी प्रतिज्ञा पूर्ति के लिये बन जा रहे हो। इस वचन से कैकेयी का विश्वासघात करना कहा गया था; तथा "कवने अवसर का भयो, गयउँ नारि बिस्वास।" (मा० अ० २९); जैसे श्री-लचमणजी ने श्रीभरतजी को शुद्ध भाव न जानकर उन्हें राम-विरोधी जान कठोर वचन ही नहीं कहा, प्रत्युत् उनसे लड़ने को भी प्रस्तुत हो गये थे, पीछे जानने पर उसी समय लज्जित हुए, वैसे ही चक्रवर्तीजी के परम गम्भीर भाव को इन्होंने पहले नहीं लख पाया था। अब उसी का पश्चाताप कर रहें हैं। इस पर कुछ अनभिज्ञ समालोचक इस प्रसंग के कठोर वचन से इन पर आक्षेप करते हैं।

श्रीलक्ष्मणजी के वृत्त को भलीभाँति जानने वाले श्रीवशिष्ठजी एवं श्रीगो-स्वामीजी ने उन्हें शुभ लक्षण धाम कहा है; यथा—"लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार।" (मा० बा० १९७)। फिर इनके चरित में किसी प्रकार के भी दोष कहा से आ सकते हैं? तथा विनयपत्रिका पद १०६ और २३६ में तथा गीता ९।३०-३१ में लिखा है कि जिसे श्रीरामजी अपना लेते हैं उसमें एवं हरिभक्त में शीघ्र ही सर्व सद्गुण एवं सुलक्षण आ जाते हैं। श्री लक्ष्मणजी तो बचपन से श्रीरामजी के परम भक्त थे, श्रीराम-सान्निद्ध बिना जी नहीं सकते थे; यथा—"बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी ॥' (मा० बा० १९७); तथा—"न च सीता त्वया हीना न चाह-

मपि राघव । मुहूर्त्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ ॥" (वाल्मी० २।५३। ३१); अर्थात् श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीरामजी से कहा है कि मैं और श्रीसीताजी आपके बिना एक मुहूर्त्त भी उसी प्रकार नहीं जी सकते, जैसे जल से दूर कर देने पर मछली नहीं जीती । श्रीरामजी ने भी श्रीलक्ष्मणजी में ऐसा अपनपौ रक्खा था कि उनके बिना वे भी नहीं रह सकते थे । वाल्मी० ७।१०७।१-२ में कहा है—"विसृज्य लक्ष्मणं रामो दुःखशोकसमन्वितः ।...अद्यैवाहं गमिष्यामि लक्ष्मणेन गतां गतिम् ॥" अर्थात् श्रीलक्ष्मण के वियोग का हेतु बनाकर ही आपने परधामयात्रा की लीला ही की है ।

ऐसे परम भक्त श्रीलक्ष्मणजी में कोई भी कुलक्षण कैसे हो सकते हैं ? समालोचकों को समझकर विवेचना करनी चाहिये । श्रीलक्ष्मणजी के उत्तम आदर्श पर मेरा लेख 'हिंद मार्तण्ड' अङ्क ४ और 'मानसमणि' ११।९, ११।११ में विवेचनात्म रूप में छप चुका है, देखने की कृपा करें ।

[३१]

गौने मौन ही बारहिं बार परि-परि पाय ।
जात जनु रथ रची कर लछिमन मगन पछिताय ॥ १ ॥
असन बिनु बन, बरम बिनु रन, बच्यो, कठिन कुघाय ।
दुसह साँसति सहन को हनुमान ज्यायौ जाय ॥ २ ॥
हेतु हौं सिय हरन को तब, अबहुँ भयो सहाय ।
होत हठि मोहिं दाहिनो दिन दैव दारुन दाय ॥ ३ ॥
तज्यो तनु संग्राम जेहि लगि गीध जसी जटाय ।
ताहि हौं पहुँचाइ कानन चल्यो अवध सुभाय ॥ ४ ॥
घोर हृदय कठोर-करतब सृज्यो हौं बिधि बायँ ।
दास तुलसी जानि राख्यो कृपानिधि रघुरायँ ॥ ५ ॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी ने बार-बार श्रीजानकीजी के चरणों में पड़-पड़कर प्रणाम कर मौन ही (उत्तर बिना दिये ही) गमन किया । वे पश्चात्ताप में निमग्न हो रथ पर जाते हुए ऐसे दिखते थे, मानों हाथ से रची हुई (प्रतिमा) हों ॥१॥ (वे मन-ही-मन शोच करते थे—) 'हा ! मैं वन में बिना भोजन भी जीवित बचा रहा, कवच के बिना भी युद्धक्षेत्र में बचा रहा और कठिन कुघाव (मेघ-

नाद एवं रावण द्वारा चलाई हुई अमोघ शक्तियों के घाव) पर भी बचा रहा। हा ! ऐसे दुस्सह दुःख सहने के लिये हनुमानूजी ने मुझे व्यर्थ ही जिलाया है ॥ २ ॥ उस समय (पञ्चवटी में) श्रीसीताजी के हरण होने में ही कारण था और इस समय उनके इस वनवास का सहायक (हेतु) भी मैं ही हुआ। हा !! मेरे अनुकूल दिनों (अवसरों) पर भी हठात् दैव दारुण दाँव देने वाला हो जाता है ॥ ३ ॥ हा !!! जिनके लिये यशस्वी जटायु गृध्र ने घोर संग्राम करके शरीर छोड़ दिया, उन्हीं श्रीजानकीजी को मैं वन पहुँचाकर अपनी स्वाभाविक वृत्ति से श्रीअवध चला जा रहा हूँ ! ॥ ४ ॥ मेरे इन कर्मों से तो निश्चित होता है कि वाम विधाता ने मुझे घोर हृदय वाला और कठोर कर्त्तव्य करने वाला ही रचा है और यही जानकर (ऐसे ही कर्म मुझसे करवाने के लिये ही) मुझे कृपा निधान श्रीरघुनाथजी ने यहाँ रक्खा है—हा !!! ॥ ५ ॥

विशेष—'गवने मौन ही…'—उत्तर नहीं बन पड़ा, इससे मौन ही लौट रहे हैं, बार-बार चरण-ग्रहणकर प्रणाम कर अपना स्नेह भाव प्रकट कर रहे हैं; यथा—"अंगद हृदय प्रेम नहिं थोरा। फिरि-फिरि चितव राम की ओरा ॥ बार-बार कर दंड प्रनामा।" (मा० उ० १८); आगे उनकी दशा कहते हैं—

'जात जनु रथ…'—पश्चात्ताप में निमग्न हो जड़ प्रतिमावत् हो गये हैं।

'असन बिनु बन…'—वनवास में श्रीलक्ष्मणजी का फल खाना श्रीरामजी के साथ लिखा है; यथा—"सिय सुमंत्र भ्राता सहित, कंदमूल फल खाइ।" (मा० अ० ८९); यह शृंगवेर पुरकी बात है। तथा—"केहि रुचि केहि छुधा सानुज माँगि-माँगि प्रभु खात। …बालक सुमित्रा कौसिला के पाहुने फल-सागके।" (अर० १७); इत्यादि। अतः यहाँ के ऐसे कथन का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि कभी-कभी फल आदि कहीं न मिलने से बिना भोजन भी रहे होंगे; यथा—"भूमि सयन बलकल बसन, असन कंद फल मूल। ते कि सदा सब दिन मिलहिं, सबुइ समय अनुकूल ॥" (मा० अ० ६२), अथवा, किसी कल्प के चरित्र में वैसा भी हुआ हो कि श्रीलक्ष्मणजी मेघनाद-वध के किसी नियत-विधान से वन में फल आदि भी न खाते रहे हों; जैसा कि कुछ लोग कहा करते हैं—"नींद नारि भोजन परिहरई, चौदह बरिस तासु कर

मरई।" परन्तु इसका प्रमाण अभी तक मुझे नहीं मिला। इसमें श्रीसीतारामजी भला कैसे इन्हें बिना खिलाये खाते रहे होंगे, यह भारी अड़चन है।

'बरम बिनु रन...बच्यो'—मेघनाद-युद्ध में बिना कवच के श्रीलक्ष्मणजी के शरीर में बहुत घाव हुए थे, मेघनाद-वध पर वाल्मी० ६।९१।२०।२५ में सुषेण द्वारा औषधि से अच्छा किया जाना लिखा है।

'कठिन कुघाय।...हनुमान ज्यायो जाय।'—'इसकी तो विस्तृत कथा है।

'हेतु हौं सिय हरन को तब...'—उस समय प्रभु ने रक्षार्थं रहने की ही आज्ञा दी थी, परन्तु पति-बाधा की आशंका पर श्रीजी की आज्ञा से मैं वहाँ से चला गया, उसीसे इनका हरण हुआ था। वैसे ही इस बार स्वामी की आज्ञा-पालन में वैसा ही कार्य मेरे द्वारा हो गया। स्वामिनी और स्वामी की आज्ञाओं का पालन करना तो शुभ ही है, परन्तु ऐसे पुण्य अवसरों पर भी हठात् विधाता ने मेरे प्रति दारुण दाँव खेला है, मुझे घोर अपयश का भागी होना हो रहा है। अतः, जान पड़ता है कि दैव ऐसा ही हठी है; तथा—"सहित बिषाद परस्पर कहहीं। बिधि करतब उलटे सब अहहीं॥ निपट निरंकुस निठुर निसंकू। जेहि ससि कीन्ह सरुज सकलंकू॥ रूख कलपतरु सागर खारा। तेहि पठये बन राजकुमारा॥" (मा० अ० ११८)।

'तज्यो तन संग्राम...'—जिनकी रक्षा में गृध्र जाति के पक्षी ने भी प्राण देकर यश प्राप्त किया है; यथा—"धन्य जटायू सम कोउ नाहीं॥ राम काज कारन तन त्यागी। हरिपुर गयउ परम बड़ भागी॥" (मा० अ० २६); उन्हींको मैं उनका सगा होता हुआ भी वन भेजकर स्वस्थ अपनी राजधानी अवध जा रहा हूँ, कुछ प्रीति एवं लज्जा नहीं है। लोक क्या कहेगा?

'घोर हृदय कठोर करतब...'—वाम विधाताने मुझे ऐसे ही कर्मों के लिये चुनकर रचा ही है और यह जानकर ही श्रीरघुनाथजी ने भी ऐसे ही कर्मों के लिये रक्खा है, तभी तो ऐसे कामों में मुझे ही नियुक्त करते हैं।

श्री लक्ष्मणजीके इस पश्चात्ताप पर श्रीसुमंतजी ने भावी कल्याण कहकर समझाया है—वाल्मी० ७।५०।५१ देखिये।

श्रीलक्ष्मणजी का प्रसंग कहकर ग्रन्थकार आगे श्रीजानकीजी के प्रति महर्षि-जी का आश्वासन करना आदि बर्त्ताव कहते हैं :—

[३२]

पुत्रि ! न सोचिये आइ हौं जनक-गृह जिय जानि।
कालि ही कल्यान कौतुक कुसल तब कल्यानि ॥ १ ॥
राज-रिषि पितु-ससुर, प्रभु पति, तू सुमंगल-खानि।
ऐसेहू थल बामता, बड़ि बाम बिधि की बानि ॥ २ ॥
बोलि मुनि कन्या सिखाई प्रीति-गति पहिचानि।
आलसिन्ह की देवसरि सिय सेइयहु सनमानि ॥ ३ ॥
न्हाइ प्रातहि पूजिबो बट बिटप अभिमत-दानि।
सुवन-लाहु, उछाहु दिन-दिन, देवि ! अनहित-हानि ॥ ४ ॥
पाप-ताप-बिमोचनी कहि कथा सरस पुरानि।
बालमीकि प्रबोधि तुलसी, गई गरुइ गलानि ॥ ५ ॥

अर्थ—(श्रीवाल्मीकिजी ने श्रीसीताजी से कहा—) हे पुत्रि ! कुछ शोच न कीजिये, अपने हृदय में जानिये कि मैं अपने पिता के घर आई हूँ। हे कल्याणि ! कल (शीघ्र) ही तुझे कल्याण और कुशल का कौतुक प्राप्त होने वाला है। उससे फिर नित्य नये उत्साह एवं मंगल होंगे, तुझे यह शोच न रहेगा ॥१॥ तुम्हारे पिता और श्वसुर राजर्षि थे, स्वामी प्रभु हैं और तुम स्वयं समस्त सुमङ्गलों की खानि हो—ऐसे स्थल में प्रतिकूलता देखी जा रही है, इससे तो सिद्ध है कि विधाता की बानि बड़ी टेढ़ी है ॥२॥ (फिर महर्षिजी ने अपने आश्रम के एक भाग में रहनेवाली तपस्विनियों के यहाँ जा) मुनि-कन्याओं को बुलाकर उन्हें शिक्षा दी कि जैसे आलसियों के समीप श्रीगङ्गाजी आ जायँ, वैसे तुम्हारे भाग्य से ये श्रीसीताजी यहाँ आ गई हैं। अतः, इनकी प्रीति एवं दशा को जान-जान कर सम्मानपूर्वक इनका सेवन करना ॥३॥ (उन्होंने श्रीसीताजी से कहा—) देवि ! प्रातःकाल ही स्नान करके मनोरथ देनेवाले वटवृक्ष का पूजन करना, इससे तुम्हें पुत्रों की प्राप्ति होगी और दिनों दिन उत्साह होंगे तथा अनहित की हानि होगी ॥४॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि फिर महर्षि श्रीबाल्मीकिजी ने पापों और सन्तापों को दूर करनेवाली

सरस और पुरानी कथाएँ कहकर श्रीसीताजी को प्रबोध किया, इससे इनकी भारी ग्लानि निवृत्त हुई ।।५।।

विशेष—'पुत्रि न सोचिए...'—पुत्री कहकर अपना वात्सल्य प्रकट किया और फिर अपने आश्रम को इनके पिता का घर कहकर अपने में पिता का भाव भी स्पष्ट कहा। लड़कियाँ पिता के घर बड़ी प्रसन्नता से रहती हैं। उन्हें बहुत स्वतन्त्रता का सुख रहता है, इससे प्रसन्न करने के लिये मुनि ने ऐसा कहा है। महर्षिजी श्रीजनकजी से सख्यत्व भी मानते थे।

'कालि ही कल्यान कौतुक...'—पूर्व पद्मपुराण के प्रमाण से लिखा गया है कि पाँच महीने के गर्भ के पश्चात् यह लीला हुई है। अतः यहाँ 'कालि ही' यह पद अत्यन्त शीघ्र काल का ही बोधक है जिससे शीघ्र पुत्र-प्राप्ति की बात पर इनका शोच निवृत्त हो।

'राजरिषि पितु-ससुर...'—पिता जनकजी परम धार्मिक योगीश्वर थे और श्वसुर श्रीचक्रवर्तीजी भी वैसे ही परम धर्मात्मा एवं सत्यनिष्ठ थे, इससे दोनों को राजर्षि कह श्रीजानकीजी के उभयकुल की बड़ाई की। 'प्रभु पति'—पति परम समर्थ हैं, जो तीनों लोकों पर शासन एवं प्रसाद कर सकते हैं; यथा—"साँसति करि पुनि करहिं पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ॥" (मा० बा० ८८); यहाँ पति श्रेष्ठता है और 'तू सुमंगल खानि' इस वचन से इन्हें भी परम सुलक्षणा कहा। तथा—"पिता जनक देउँ पटतर केही। करतल भोग जोग जग जेही॥ ससुर भानुकुल भानु भुआलू। जेहि सिहात अमरावति पालू॥ प्राननाथ रघुनाथ गोसाईं। जो बड़ होत सो राम बड़ाई॥ पति देवता सुतीयमनि सीय..." (मा० अ० १९८–१९९)।

श्रीजानकीजी को मिथ्यापवाद की ग्लानि है, इसे दूर करने के लिये सर्वज्ञ महर्षि ने इनके सम्बन्धियों के साथ इनकी शुद्धता कहकर सान्त्वना दी है।

'ऐसेहू थल बामता...'—जहाँ प्रतिकूलता के योग्य कोई भी हेतु नहीं है, वहाँ भी यदि विधाता वामता करता है, तो सिद्ध है कि उसकी बानि ही बड़ी वाम है। लोकरीति के अनुसार मुनि समझा रहे हैं; यथा—"पग परि कीन्ह प्रबोध बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥" (मा० अ०

२४३); यहाँ तो यह वामता स्वतः श्रीजी की रची हुई है, यह पूर्व ही पद २५ में लिखा गया है।

'बोलि मुनि कन्या···'—पूर्व पद २८ में 'जानि जिय अनुमान ही··· इसके विशेष में श्रीसीताजी की शुद्धता कहकर मुनि का समझाना लिखा गया है। उसके आगे मुनि की श्रीसीताजी की सेवा के लिये व्यवस्था करनी यहाँ कही गई है—"मुनि आश्रम की ओर चले, श्रीसीताजी उनके पीछे पीछे चलीं। मुनि के साथ श्रीसीताजी को देखकर मुनि स्त्रियाँ उनके पास आईं और वे प्रसन्नतापूर्वक बोलीं। मुनिश्रेष्ठ! आपका स्वागत, बहुत दिनों पर आना हुआ है, हम प्रणाम कर आज्ञा चाहती हैं कि क्या करें? महर्षि ने कहा, यह श्रीरामजी की महारानी सीता आई है। यह महाराजा दशरथजी की पुत्रवधू और महाराजा जनक की कन्या है, यह निष्पाप है, पर पति ने इसका त्याग किया है, मुझे सदा इसका पालन करना है। इसको आप लोग स्नेह से देखो, यह बड़े कुल की है और स्वयं भी बड़ी है। इससे तथा मेरे कहने से यह आप लोगों की विशेष आदरणीया है। इस प्रकार बार-बार कहकर मुनि ने मुनिपत्नियों को सीता सौंपी और फिर वे अपने आश्रम में गये।"—(वाल्मी० ७।४९-१४-१९)।

श्रीगोस्वामीजी ने मुनि कन्याओं के प्रति सेवा की बात कहना लिखा है, क्योंकि बड़ी-बूढ़ी तपस्विनियों से श्रीसीताजी सेवा न लेंगी, उन्हें संकोच होगा। महर्षि के चरित में भी यही भाव है कि वे तपस्विनियाँ लड़कियों से इनकी सेवा करायेंगी। 'आलसिन्ह की देवसरि··'; तथा—"जनु सिंहल बासिन्ह भयो, बिधि बस सुलभ प्रयाग।" (मा० अ० २२३)

यहाँ 'ललित' एवं 'लोकोक्ति' अलङ्कार है।

'न्हाइ प्रातहिं पूजिबो बट···'—यहाँ पूर्वार्द्ध में साधन रूप वटसावित्री व्रत का वट पूजन कहा गया है और साथ ही उत्तरार्द्ध में उसके फल—अनहित हानि, पुत्र लाभ और दिन-दिन उत्साह का होना—कहे गये हैं। तुरत फल कह कर महर्षिजी श्रीसीताजी के पूर्व शोकों को दूर करने का प्रयत्न कर रहे हैं कि इन कृत्यों और अभिलाषाओं में रत होने पर ग्लानि न रह जायगी। इस व्रत में नदी में स्नान और वट पूजन की विधि है।

'पाप-ताप-बिमोचनी कहि कथा...'—प्रायः पूर्व के किसी पाप के फल

रूप में ही किसी को सहसा बिना प्रत्यक्ष कारणों के भी सन्ताप प्राप्त होते हैं और फिर वे इस-इस प्रकार दूर भी हो जाते हैं, ऐसी घटनाओं की सरस कथाएँ कहीं, साथ ही उन्हीं रीतियों में से अमुक-अमुक भाँति तुम्हारे भी शोक दूर होंगे, यह सब कहा, इससे श्रीसीताजीकी भारी ग्लानि दूर हुई।

[३३]

जब ते जानकी रही रुचिर आश्रम आइ।
गगन, जल, थल बिमल तब ते, सकल मंगलदाइ ॥१॥
निरस भूरुह सरस फूलत, फलत अति अधिकाइ।
कंद-मूल, अनेक अंकुर स्वाद सुधा लजाइ ॥२॥
मलय मरुत, मराल-मधुकर-मोर-पिक-समुदाइ।
मुदित मन मृग बिहँग बिहरत बिषम बयर बिहाइ ॥३॥
रहत रबि अनुकूल दिन, ससि रजनि सजनि सुहाइ।
सीय सुनि सादर सराहति सखिन्ह भलो मनाइ ॥४॥
मोद बिपिन बिनोद चितवत लेत चितहिं चोराइ।
राम बिनु सिय सुखद बन तुलसी कहै किमि गाइ ॥५॥

अर्थ—जब से श्रीजानकीजीने उस मनोहर आश्रम में आकर निवास किया है, तब से वहाँ के आकाश, जल और स्थल सभी निर्मल तथा मङ्गल देनेवाले हो गये हैं ॥ १ ॥ नीरस वृक्षों में भी अत्यन्त अधिकता से सरस फूल और फल लगने लगे तथा अनेक प्रकार के कन्द, मूल एवं अंकुर वहाँ सम्पन्न हो गये जो अपने स्वादों से अमृत को भी लज्जित करते हैं ॥ २ ॥ सुगंधित वायु चलती है, और हंस, भ्रमर, मोर तथा कोयल के समूह एवं सभी मृग-पक्षी विषम वैर छोड़कर आनन्दित मन से वहाँ विहार करते हैं ॥ ३ ॥ दिन में सूर्य अनुकूल रहता है और रात में चन्द्रमा स्त्रियों को सुहावना लगता है, ऐसी बातें सखियों से सुनकर श्रीसीताजी उनका कल्याण मनाकर उनकी आदरपूर्वक सराहना करती हैं ॥ ४ ॥ वन में तो ऐसा आनन्द और विनोद है कि वह देखते ही चित्त चुरा लेता है; परन्तु श्रीरामजी के बिना रहती हुई श्रीसीताजी को वह वन सुख देनेवाला है, यह तुलसीदास कैसे गाकर कह सकता है ? ॥ ५ ॥

विशेष—'जब ते जानकी रही…'; यथा—"जब ते राम कीन्ह तहँ

बासा। सुखी भये मुनि बीती त्रासा॥ गिरि बन नदी ताल छबि छाए। दिन-दिन प्रति अति होहिं सुहाए॥ खग मृग बृंद अनंदित रहहीं। मधुप मधुर गुंजत छबि लहहीं॥ सो बन बरनि न सक अहि राजा। जहाँ प्रगट रघुबीर बिराजा॥" (मा० अर० १३); तथा—"जब ते उमा सैल गृह जाईं। सकल सिद्धि संपति तहँ छाईं॥" से "सहज बैर सब जीवन्ह त्यागा। गिरि पर सकल करहिं अनुरागा॥" (मा० बा० ६५); तक।

'गगन, जल, थल....'; यथा—"व्योम पवन पावक जल थल दिसि दसहु सुमंगल मूल।" (बा० २)।

'रहत रबि अनुकूल...'; यथा—"बिधु महि पूर मयूखन्हि रबि तप जेत-नेहि काज।" (मा० उ० २३); अर्थात् किसी को उष्णता एवं शीतत्व का दुःख न रहा।

'सीय सुनि सादर...'—उपर्युक्त बातें सखियों की कही हुई हैं, वे श्री जानकी जी के प्रभाव से ऐसे कल्याणमय भावों का होना कहती हैं। सुनकर श्रीजानकीजी कहती हैं कि यह सब मुनि की कृपा है। उनकी कृपा से ऐसे ही सुलक्षण आप लोगों को भी प्राप्त हों, ऐसा मैं चाहती हूँ, क्योंकि मुनि के रुख पर आप लोग मुझ पर बड़ा स्नेह करती हैं।

'मोद बिपिन...'—श्रीजानकीजी धरणिजा है अतः, धरणी अपनी पुत्री के मनोविनोद के लिये अपने इस विभाग को परम रम्य कर रक्खा है, परन्तु श्रीराम-वियोग के समक्ष यह सब श्रीजी को नहीं रमा सकते। श्रीजी अपने उद्देश्य पूर्त्ति के लिये कष्ट सहकर ही वहाँ रहती हैं। श्रीराम-वियोग उन्हें असह्य ही है। इसी प्रकार भर्त्ता श्री रामजी को भी इनका वियोग असह्य ही था। वाल्मीकि ७।५२। ६–१० तथा ७।९६।४–७ देखिये।

कुश-लव-जन्म

[३४]

सुभ दिन, सुभ घरी, नीको लगन सुहाइ।
पूत जाये जानकी द्वै, मुनिबधू उठीं गाइ॥१॥
हरषि बरषत सुमन सुर गहगहे बधाए बजाइ।
भुवन, कानन, आश्रमनि रहे मोद-मंगल छाइ॥२॥

तेहि निसा तहँ सत्रुसूदन रहे बिधिबस आइ।
माँगि मुनि सों बिदा गवने भोर सो सुख पाइ ॥३॥
मातु - मौसी - बहिनहूँ तें, सासु तें अधिकाइ।
करहिं तापस-तीय-तनया सीय-हित चित लाइ ॥४॥
किये बिधि व्यवहार मुनिवर बिप्र वृंद बोलाइ।
कहत सब, रिषि-कृपा को फल भयो आजु अघाइ ॥५॥
सुरुष रिषि, सुख सुतनि को, सिय-सुखद सकल सहाइ।
सूल राम - सनेह की तुलसी न जिय ते जाइ ॥६॥

अर्थ—शुभ दिन, शुभ घड़ी, अच्छे नक्षत्र और सुहावने लग्न में श्री जानकीजीने दो बालकों को जन्म दिया, उस समय पर मुनियों की स्त्रियाँ मङ्गलगान गाने लगीं ॥ १ ॥ देवगण घमाघम नगाड़ों से बधाए बजाकर और हर्षित होकर फूल बरसाने लगे। समस्त लोकों में, बर्नों में और आश्रमों में आनन्द और मङ्गल छा गये। ॥ २ ॥ विधाता के संयोग से आकर उसी रात में श्रीशत्रुघ्नजी वहाँ रह गये थे। यह सुख प्राप्तकर वे प्रातःकाल मुनि से बिदा माँगकर चले गये ॥ ३ ॥ माता, मौसी और बहन से तथा सासु से भी अधिक चित्त लगाकर तपस्वियों की स्त्रियाँ और लड़कियाँ श्रीजानकीजी का हित करती हैं ॥ ४ ॥ मुनिश्रेष्ठ श्रीवाल्मीकि ने ब्राह्मण समूह को बुलाकर सभी विधि-व्योहार किये। सब लोग कहने लगे कि आज यह ऋषि-कृपा का फल परिपूर्ण रूप में प्राप्त हुआ है (जो ऐसे सुलक्षण दो पुत्र श्रीजानकीजी को प्राप्त हुए हैं) ॥ ५ ॥ महर्षि वाल्मीकिजी प्रसन्न रहते हैं और पुत्रों की क्रीड़ा का महान् सुख भी प्राप्त है तथा श्रीजानकीजी को सुख देने के निमित्त (उपर्युक्त वन की रमणीकता आदि) समस्त सहारे एकत्र हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि फिर भी श्रीराम-स्नेह की पीड़ा श्रीजानकीजी के हृदय से नहीं जाती ॥ ६ ॥

विशेष—'पूत जाये जानकी द्वै···'; यथा—"यामेव रात्रिं शत्रुघ्नः पर्णशालां समाविशत्। तामेव रात्रिं सीतापि प्रसूता दारकद्वयम् ॥ १ ॥ ततोऽर्धरात्रसमये बालका मुनिदारकाः। वाल्मीकेः प्रियमाचख्युः सीतायाः प्रसवं शुभम् ॥ भगवन्रामपत्नी सा प्रसूता दारकद्वयम्। ततो रक्षां महातेजः कुरु भूतविनाशिनीम् ॥" (वाल्मी० ७।६६।१-३); अर्थात् जिस रात में श्रीशत्रुघ्नजी श्री

वाल्मीकिजी पर्णशाला में गये थे, उसी रात में श्रीसीताजी ने दो पुत्र उत्पन्न किये। आधीरात के समय बालमुनि पुत्रों ने श्रीवाल्मीकि मुनिको श्रीसीताजीके दो पुत्र होने का शुभ संवाद सुनाया। कि भगवान्! श्रीरामजी की स्त्री श्रीसीता जी ने दो पुत्र उत्पन्न किये हैं। आप उनकी बालगृह की बाधा दूर करनेवाली रक्षा करें। 'मुनि बधू उठी गाइ'–इसी गान पर पुत्र जन्म जानकर मुनि-बालक-गण मुनि वाल्मीकि के यहाँ दौड़े हुए गये।

'सुभ दि,न सुभ घरी…'; यथा—"नखत जोग ग्रह लगन भले दिन मंगलमोदनिधान॥" (बा० २)—इसका विशेष देखिये। तथा—"मास पाख तिथि बार नखत ग्रह जोग लगन सुभ ठानी।" (बा० ७)।

'हरषि बरषत सुमन…भुवन, कानन…'; यथा—"अति पुनीत मधु मास, लगन गृह बार जोग समुदाई। हरषवंत चर अचर… बरषहिं बिबुध-निकर कुसुमावलि नभ दुंदुभी बजाई॥" (बा० १); तथा—"नखत जोग ग्रह लगन भले दिन मंगल-मोद निधान॥ व्योम पवन पावक जल थल दिसि दसहु सुमंगलमूल। सुर दुंदुभी बजावहिं, गावहिं, हरषहिं, बरषहिं फूल॥…बाजे गहगहे निसान।" (बा० २)।

'तेहि निसा तहं सत्रुसूदन…'—श्रीरामजी की आज्ञा से श्रीशत्रुघ्नजी लवण वध करने मथुरा जा रहे थे, दैव योग से वे उसी रात में वहाँ ही मुनि आश्रम में ठहरे हुए थे। ऊपर 'पूतजाये…' इसके विशेष में प्रमाण लिखा गया है।

'माँगि मुनि सों बिदा…सुख पाइ'; यथा—"तथा तां क्रियमाणां च वृद्धाभिर्गोत्रनाम च। संकीर्तनं च रामस्य सीतायाः प्रसवौ शुभौ॥ अर्द्धरात्रे तु शत्रुघ्नः शुश्राव सुमहत्प्रियम्। पर्णशालां ततो गत्वा मातर्दिष्ट्येति चाब्रवीत्॥ तदा तस्य प्रहृष्टस्य शत्रुघ्नस्य महात्मनः। व्यतीता वार्षिकी रात्रिः श्रावणी लघुविक्रमा॥ प्रभाते सुमहावीर्यः कृत्वा पौर्वाह्णिकीं क्रियाम्। मुनिं प्राञ्जलिरामन्त्र्य ययौ पश्चान्मुखः पुनः॥" (वाल्मी० ७।६६।११–१४); अर्थात् (मुनि की बतलाई हुई विधि से) वृद्धा तपस्विनियों ने श्रीसीताजी के उन दोनों बालकों की रक्षा के लिये उनके गोत्रनाम और श्रीसीताजी तथा श्रीरामजी का नाम लिया। आधीरात में यह महान् प्रिय श्रीशत्रुघ्नजी ने सुना। उससे वे बड़े प्रसन्न

हुए और श्रीसीताजी की पर्णशाला में जाकर मातृ-दृष्टि से प्रणाम कर कहा—बड़े भाग्य की बात है। प्रसन्न शत्रुघ्नजी की वह वर्षाकाल श्रावण की छोटी रात बीत गई। प्रातःकाल नित्य नियम कर मुनि से हाथ जोड़कर आज्ञा ले पश्चिम ओर (मथुरा) गये।

'किये बिधि व्यवहार मुनिवर…'—जातकर्म आदि विधियाँ और विविध प्रकार के दान आदि व्यवहार किये गये; यथा—"सुनि सानंद उठे दसस्यंदन सकल समाज समेत। लिये बोलि गुरु सचिव भूमिसुर प्रमुदित चले निकेत॥ जातकर्म करि पूजि पितर सुर दिये महिदेवन्ह दान।" (बा० २)।

'रिषि कृपा को फल…'—दोनों बालक श्रीरामजी के तुल्य ही परम सुलक्षण वाले और तेजस्वी हैं; यथा—"दुइ सुत सुंदर सीता जाए। लव-कुस बेद पुरानन्हि गाए॥ दोउ बिजयी बिनई अति सुंदर। हरि प्रतिबिंब मनहुँ अति सुंदर॥" (मा० उ० २४) ; तथा—"तेषां तद्वचनं श्रुत्वा महर्षिः समुपागमत्। बालचन्द्रप्रतीकाशौ देवपुत्रौ महौजसौ॥ जगाम तत्र हृष्टात्मा ददर्श च कुमारकौ। भूतघ्नीं चाकरोत्ताभ्यां रक्षां रक्षोविनाशिनीम्॥" (वाल्मी० ७।६६।४-५) अर्थात् संवाद पाकर महर्षि आये और उन्होंने बालचन्द्र तुल्य तथा देवकुमार-तुल्य दो बालक देखे। इससे बहुत प्रसन्न हुए, एवं बाल ग्रह आदि को नष्ट करनेवाली रक्षा विधि की।

ऐसे दिव्य बालकों को देख और उन पर मुनि-कृपा देख लोग कहते हैं कि श्रीसीताजी पर मुनि कृपा है, इससे इन्हें ऐसे पुत्र प्राप्त हुए हैं।

'सुरुष रिषि…'—इन सब सुखों से कहीं अधिक पतिव्रता के लिये पति-स्नेह ही है, यहाँ पर यह रीति चरितार्थ है।

[३५]

मुनिवर करि छठी कीन्हीं बारहें की रीति।
बन-बसन पहिराइ तापस, तोषि पोषे प्रीति॥१॥
नामकरन सुअन्नप्रासन बेद बाँधी नीति।
समय सब रिषिराज करत समाज साज समीति॥२॥
बाल लालहिं, कहहिं 'करिहैं राज सब जग जीति'।
राम-सिय-सुत, गुरु-अनुग्रह, उचित, अचल प्रतीति॥३॥

निरखि बाल-बिनोद तुलसी जात बासर बीति।
पिय-चरित सिय-चित-चितेरो लिखत नित हित-भीति ॥४॥

अर्थ—मुनिश्रेष्ठ श्री वाल्मीकिजी ने बालकों की छठी का उत्सव करके बारहों की रीति भी सम्पन्न की। उन्होंने तपस्वियों को वन के वस्त्र पहनाकर प्रीति पूर्वक पोषण कर सन्तुष्ट किया ॥ १ ॥ नाम करण और अन्नप्राशन आदि वेद की बाँधी हुई नीतियों को समय-समय पर ऋषिराज श्रीवाल्मीकिजी सब सामग्रियों, साजों और सभा आदि के द्वारा सम्पन्न करते हैं। महर्षिजी बालकों का लालन (लाड़-प्यार, दुलार) करते हुए कहते हैं कि ये सारे संसार को जीत-कर राज्य करेंगे। ये बालक श्रीरामजी और श्रीसीताजी के पुत्र हैं और फिर इन पर गुरु श्रीबाल्मीकि मुनि का अनुग्रह है अतः, इनके लिये ऐसा महत्त्व उचित ही है, ऐसी अचल प्रतीति सभी को है ॥ ३ ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि बालकों की क्रीड़ा देखकर श्रीसीताजी के दिन तो निकल जाते हैं तथापि उनका चित्त रूप चित्रकार प्रियतम श्रीरामजी के चरितों को प्रीति रूप भित्ति पर नित्य लिखता रहता है ॥ ४ ॥

विशेष—'करि छठी कीन्हीं बारहें की रीति'; यथा—"छठी बारहौं लोक-वेद बिधि करि सुबिधान बिधानी।" "जागिय राम छठी सजनि रजनी रुचिर निहारि।···तिन्हकी छठी, मंजुल मठी, जग सरस जिन्हकी सरसई। किए नींद भामिनि जागरन, अभिरामिनी जामिनि भई ॥ सेवक सजग भये समय, साधन सचिव सुजान। मुनिवर सिखये लौकिकौ बैदिक बिबिध बिधान ॥ बैदिक विधान अनेक लौकिक आचरत मुनि जानि कै। बलिदान पूजा मूलिकामनि साधि राखी आनिकै ॥ जे देव देवी सेइयत हित लागि चित सनमानि कै। ते जंत्र-मंत्र सिखाइ राखत सबनि सो पहिचानि कै ॥" (बा० ४, ५)—इन दोनों पूरे पदों में विशेष विधियाँ एवं रीतियाँ देखने योग्य हैं।

'बन-बसन पहिराइ···'; यथा—"सकल सुआसिनि गुरुजन पुरजन पाहुन लोग। बिबुध बिलासिनि सुर मुनि जाचक जो जेहि जोग ॥ जेहि जोग जे तेहि भाँति ते पहिराइ परिपूरन किये।" (बा० ५)।

'नाम करन सुअन्नप्रासन···'—नामकरण की रीति बा० ६ तथा मा० बा० १९६-१९७ में और अन्नप्राशन की विधि का होना मा० बा० २००-२०१

में देखना चाहिये। यहाँ विस्तार भय से नहीं लिखा। तथा—"कुशमुष्टिमुपादायलवं चैव तु स द्विजः। बाल्मीकिः प्रददौ ताभ्यो रक्षां भूतविनाशिनीम् ॥६॥ यस्तयोः पूर्वजो जातः स कुशैर्मन्त्रसत्कृतैः। निर्मार्जनीयस्तु तदा कुश इत्यस्य नाम तत् ॥७॥ यश्चावरोऽभवत्ताभ्यां लवेन सुसमाहितः। निर्मार्जनीयो वृद्धाभिर्लवेति च स नामतः ॥८॥ एवं कुशलवौ नाम्ना तावुभौ यमजातकौ। मत्कृताभ्यां च नामभ्यां ख्यातियुक्तौ भविष्यतः ॥९॥" (बाल्मी० ७।६६); अर्थात् श्री वाल्मीकिजी ने कुश लेकर उन दोनों बालकों की भूतबाधा से रक्षा करने वाली विधि की। उन्होंने कुश के दो टुकड़े किये, जड़ की ओर से एक बालक का मार्जन किया और आगे वाले भाग (लव) से दूसरे बालक का मार्जन किया ॥६॥ उन दोनों बालकों में जो बड़ा था, उसका मार्जन समस्त कुशों के द्वारा हुआ। अतएव उसका नाम 'कुश' रक्खा गया ॥७॥ उनमें जो छोटा था, उसका मार्जन लव (कुश के अग्रभाग) से हुआ, इससे उसका नाम 'लव' पड़ा ॥८॥ इस प्रकार वे दोनों यमज कुश-लव नाम से प्रसिद्ध हुए। ऋषि ने कहा कि ये मेरे रक्खे हुए इन नामों से ही प्रसिद्ध होंगे ॥९॥

अन्न प्राशन में बालकों को प्रथम अन्न खिलाने की रीति की गई।

'समय सब···'—ऋषिराज को यह सुख श्रीरामजी ने पुत्रों के रूप से दिया है।

'निरखि बाल-बिनोद···प्रिय-चरित···'—यद्यपि पुत्रों के बाल-बिनोद का आनन्द बहुत बड़ा है तथापि श्रीसीताजी के लिए वह दिन काटने के समान ही है। प्रीति पूर्वक वे चित्तसे स्वामि चरित्र में ही निमग्न रहती हैं। यह पतिव्रताओं के लिये आदर्श है।

[३६]

बालक सीय के बिहरत मुदित-मन दोउ भाइ।
नाम लवकुस राम-सिय-अनुहरत सुंदरताइ ॥१॥
देत मुनि मुनि-सिसु-खेलौना, ते लै धरत दुराइ।
खेल खेलत नृप-सिसुन्ह के बालवृंद बोलाइ ॥२॥
भूप-भूषन-बसन-बाहन, राज-साज सजाइ।
बरम-चरम, कृपान-सर, धनु-तून, लेत बनाइ ॥३॥

दुखी सिय पिय-बिरह तुलसी, सुखी सुत-सुख पाइ।
आँच पय उफनात, सींचत सलिल ज्यों सकुचाइ ॥४॥

अर्थ—श्रीसीताजीके बालक दोनों भाई प्रसन्न मन से खेलते फिरते हैं। उनके नाम कुश और लव हैं; वे सुन्दरता में श्रीरामजी और श्रीसीताजी के समान ही हैं ॥१॥ श्रीवाल्मीकि मुनि जब उन्हें मुनि बालकों के उपयुक्त खेलौने खेलने के लिये देते हैं, तब वे उन्हें ले छिपाकर रख आते हैं। (प्रकृति के अनुरूप) वे बालकों के समूह बुलाकर उनके साथ राजकुमारों के-से खेल खेलते हैं ॥२॥ वे राजाओं के समान आभूषण, वस्त्र और बाहन आदि एवं और भी राज-सामग्री सजाते हैं तथा कवच, ढाल, कृपाण (द्विधारा खड्ग), बाण, धनुष और तरकश स्वयं बना लेते हैं ॥३॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्री सीताजी प्रिय श्रीरामजी के विरह में दुखी और पुत्र-सुख पाकर सुखी होती हैं, जैसे अग्नि की आँच पर चढ़ा हुआ दूध उफनाने पर जल से सींचने पर संकुचित हो बैठ जाता है ॥४॥

बिशेष—'राम-सिय अनुहरत…'—उपर्युक्त पद ३५ के 'रिषि कृपा को फल…' इसका विशेष देखिये।

'देत मुनि…'—सर्वज्ञ मुनि इन खेलौनों को देकर इन बालकों की प्रकृति का परिचय सबको कराते हैं कि ये राजपुत्र हैं। अतः, इनमें ऐसा होना स्वाभाविक है। बाल-वृन्द बुलाकर अनुयायी बनाने में स्वामित्व गुण प्रकट होता है।

'भूप-भूषन-बसन-बाहन…'—भूषण मुकुट आदि, वस्त्र जामा, उपरना आदि और बाहन हाथी, घोड़ा, रथ आदि तथा राज-साज के और भेद चोपदार नकीब, डंका, निशान एवं पैदल सेना आदि हैं। इन्हीं वृत्तियों पर उपर्युक्त पद ३५ में 'करिहैं राज सब जग जीति' कहा गया है।

'दुखी सिय…आँच पय उफनात…'—अर्थात् विरह दुःख अत्यन्त अधिक रहता है, उसके समक्ष यह पुत्र-सुख क्षणिक विस्मृति मात्र करता है, उस पर भी श्रीजी सकुचा जाती हैं।

यहाँ 'पूर्णोपमालङ्कार' है।

कैकेयीजी के प्रति वर्त्ताव

[३७]

कैकई जौ लौं जिअत रही।
तौ लौं बात मातु सों मुँह भरि भरत न भूलि कही ॥१॥
मानी राम अधिक जननी ते, जननिहुँ गँस न गही।
सीय-लखन-रिपुदवन राम - रुख लखि सबकी निबही ॥२॥
लोक-बेद-मरजाद, दोष-गुन-गति चित चख न चही।
तुलसी भरत समुझि सुनि राखी राम - सनेह सही ॥३

अर्थ—श्रीकैकेयीजी जब तक जीती रही हैं, तब तक श्रीभरतजी ने उन माताके प्रति भूलकर भी कभी मुँहभर (प्रसन्न मुख से एवं प्रीति से बात नहीं कही ॥१॥ किन्तु श्रीरामजीने उन्हें अपनी माता श्रीकौसल्याजी से भी अधिक माना है और उनकी माता श्रीकौसल्याजी ने भी उनसे वैर-भाव (गाँस) नहीं रक्खा। श्रीसीताजी श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी इन सब ने श्रीरामजी का रुख देखकर वैसा ही निर्वाह किया है ॥२॥ श्रीतुलसीदासजी; कहते हैं कि श्री भरतजी ने सुन-समझकर ठीक-ठीक श्रीराम-स्नेह की ही रक्षा की है, उसके समक्ष इन्होंने लोक एवं वेद की मर्यादाओं तथा उनके गुण और दोष की गतियों की ओर चित्त रूप नेत्र से नहीं देखा ॥३॥

विशेष—'कैकयी जौ लौं...'—वाल्मी० ७.९९।१४-१८ में श्रीरामजी की तीनों माताओं की परधामयात्रा कही गई है। वहाँ श्रीसीताजी के पाताल-प्रवेश कथन के पीछे यह कथा लिखी गई है। इससे सिद्ध है कि तीनों माताएँ तब तक रही हैं। "अथ दीर्घस्य कालस्य राममाता यशस्विनी। पुत्रपौत्रैः परिवृता कालधर्मसुपागमत्" (वाल्मी० ७।९९।१४) इस वचन से तो अत्यन्त स्पष्ट है कि चारो पुत्रों के आठो पुत्रों (अपने आठो पौत्रों) के साथ कुछ काल रह कर परधाम गई हैं।

इतने दीर्घकाल तक माताएँ क्यों एवं कैसे रहीं ? इस पर यह हेतु हो सकता है कि श्रीविश्वामित्रजी के साथ जब श्रीरामजी गये थे और विवाह करके फिर श्रीअयोध्याजी आये हैं; उस समय माता कौसल्याजी ने कहा है; यथा—"आजु सुफल जग जनम हमारा। देखि तात बिधु बदन तुम्हारा ॥ जे दिन गये

तुम्हहिं बिनु देखे। ते बिरंचि नि पारहिं लेखे।। राम प्रतोषी मातु सब, कहि बिनीत बर बैन।" (मा० बा० ३५६); अर्थात् इस प्रसंग में श्रीकौसल्याजी ने कुछ महीनों के विषय में कहा है कि मेरे सुफल जीवन में इस निष्फल को विधाता न मिलावें। उनकी यह प्रार्थना ईश्वर से है, जो ब्रह्मा का भी नियन्ता है। जीवों के प्रारब्धानुसार आयु का विधान ब्रह्माजी करते हैं; यथा—"कठिन करम गति जान विधाता। जो सुभ-असुभ सकल फल दाता॥" (मा० अ० २८१); परन्तु वह ईश्वर तो श्रीरामजी ही हैं। विवाहित होकर आने पर माता को भी कुछ देना विचार कर यही दिया है कि अपने जन्म के पूर्व की बीती हुई माता की आयु को भी ब्रह्माजी की गणना से हटा दिया, यह आपकी उदारता का एक अंग है और माताओं में समबुद्धि रखने के कारण श्रीरामजी ने सभी माताओं को इस दातृत्व में समान रक्खा है। अतः, कहा है—'राम प्रतोषी मातु सब।' इससे माताएँ इतने दीर्घकाल तक रहीं।

'तौ लौं बात मातु सों मुँह भरि···'—श्रीरामजी से बिरोधी जानकर श्रीभरतजी ने अपनी माता कैकेयी का त्याग किया है; यथा—"अवध्याः सर्वभूतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति॥ हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम्। यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम्॥" (वाल्मी० २।७८।२१-२२); अर्थात् स्त्री को अवध्य जानकर श्रीभरतजी ने राम-विरोधी पापिनी को भी नहीं मारा; प्रत्युत् त्याग किया है, सज्जनों की दृष्टि में त्याग भी वध के समान ही है; यथा—"त्यागो वधो वा विहितः साधूनां ह्युभय समम्॥" (वाल्मी०७।१०६।१३)।

श्रीभरतजी की इस दृढ़ प्रतिज्ञा को जानकर ही श्रीरामजी ने इन पर दबाव नहीं दिया; प्रत्युत् अपने सामान्य धर्मानुसार श्री कैकेयीजी के रक्षार्थ श्रीशत्रुघ्न जी को आज्ञा दी है; यथा—"शत्रुघ्नं च परिष्वज्य वचनं चेदमब्रवीत्। मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति॥ मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन। इत्युक्त्वाश्रुपरीताक्षो भ्रातरं विससर्ज ह॥" (वाल्मी० २।११२।२८); अर्थात् श्रीचित्रकूट में विदा करते समय श्रीशत्रुघ्नजी का आलिङ्गन करके श्रीरामजी ने उनसे कहा है कि माता कैकेयीजी की रक्षा करो, इन पर क्रोध मत करो। हे रघुनन्दन! मेरी और सीताजी की तुम्हें शपथ है। ऐसा कहकर और आँखों में आँसू भरकर भाई को बिदा किया है।

श्रीभरतजी ने अपने विशेषतम धर्म की दृष्टि से वैसी माता का त्याग करने में प्रतिष्ठा ही पाई है; यथा—"जाके प्रिय न राम बैदेही। तेहि छाँड़िये कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥ तज्यो पिता प्रहलाद, विभीषन बंधु भरत महतारी। हरि हित गुरु बलि, पति ब्रजबनितनि, भये मुद-मंगलकारी॥..." (वि० १७४)—इस पूरे पद का 'सिद्धान्त-तिलक' देखिये।

श्रीभरतजी की दृढ़ प्रतिज्ञा विचार कर वन से लौटने पर भी श्रीरामजी ने श्रीभरतजी पर वैसा दबाव नहीं दिया है, इससे इन्होंने कैकेयीजी से स्नेह से कभी बात नहीं की, उसका त्याग ही मान रक्खा है।

'मानी राम अधिक जननी ते...'—माता कैकेयी के प्रति श्रीरामजी का जैसा वनवास के पूर्व भाव था। पीछे भी वैसा ही रहा; यथा—"कौशल्या सम सब महतारी। रामहिं सहज सुभाय पिआरी॥ मोपर करहिं सनेह बिसेषी। मैं करि प्रीति परीछा देखी॥" (मा० अ० १४); यह पहिले था, इस समय भी वैसा ही हैं। 'जननिहुँ गस न गही'—श्रीकौशल्याजी को भी प्रथम जन्म से प्रभु से अलौकिक विवेक प्राप्त है, इससे इन्होंने श्रीकैकेयीजी के द्वारा राम-वनवास में दैव कृत ही दोष माना है; यथा—"काहुहि दोष देहु जनि ताता। भा मोहिं सब बिधि बाम बिधाता॥" (मा० अ० १६४); तथा—"कौसल्या कह दोष न काहू। करम बिबस दुख सुख छति लाहू॥" (मा० अ० २८१); इससे इन्होंने भी पूर्ववत् भाव कैकेयीजी से रक्खा है; यथा—"कहैं मोहिं मैया, कहौं मैं न, मैया भरत की, बलैया लै हौं भैया तेरी मैया कैकेई है। तुलसी सरल भाय रघुराय माय मानी, काय मन बानी हूँ, न जानी कै मतेई है" (क० अ० ३); वही भाव माता का अब भी रहा।

'सीय लखन रिपुदवन...'—इन्होंने भी राम-विरोधी जान स्वभाव से तो कैकेयीजी में प्रीति नहीं ही मानी, पर श्रीरामजी का रुख रखने के लिये पूर्व-वत् वर्ताव रक्खा है। श्रीसीताजी के प्रति उनकी माता का आदेश ही था; यथा—"पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू॥" (मा० बा० ३३३)।

'लोक-बेद-मरजाद दोष गुन-गति...'—लोक दृष्टि से कैकेयीजी में राम-वन देने का दोष था; यथा—"गारी सकल कैकइहि देहीं। नयन बिहीन कीन्ह जग जेही॥" (मा० अ० १५५); तथा—"तात! कैकइहि दोष नहिं, गई

गिरा मति धूति ॥ यहउ कहत भल कहिहि न कोऊ। लोक-बेद बुध संमत दोऊ ॥" (मा० अ० २०६); अर्थात् श्रीभरद्वाजजी ने वेद दृष्टि से कैकेयीजी को निर्दोष कहा, पर लोक-विरुद्ध देख फिर लोक मत को भी रक्खा।

वेद-दृष्टि से कैकेयीजी निर्दोष थीं; यथा—"दोष देहिं जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुरु साधु-सभा नहिं सेई ॥" (मा० अ० २६२); तथा श्रीकौसल्याजी और श्रीभरद्वाजजी की वेद दृष्टि ऊपर लिखी ही गई।

अतः लोक-मर्यादा से कैकेयीजी में दोष की गति थी; अर्थात् उसमें दोष मानना उचित था और वेद-मर्यादा से उसमें गुण की दशाएँ ही माननी चाहिये क्योंकि दोष की बात तो उसमें सरस्वती के द्वारा आई थी, इससे उस कुकृत्य को उसने विवशता में किया है। यह समझकर उसके पूर्व के गुण ही देखना चाहिये, जिससे उसने श्रीराममें वात्सल्य रक्खा था। यह विवेचन श्रीभरतजी ने अपने चित्त से नहीं किया; प्रत्युत् अपने विशेषतम धर्म की मर्यादा से तथा शास्त्रों एवं सज्जनों से सुन-समझकर इन्होंने कैकेयीजी के प्रति त्यागभाव ही रक्खा है, इससे ठीक-ठीक राम-स्नेह की रक्षा की है, इनके विशेषतम धर्म की मर्यादा; यथा—"जाके प्रिय न राम बैदेही। तेहि छाँडिए कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही ॥..." (वि० १७४)—यह पूरा पद देखने योग्य है, ऊपर प्रथम चरण में भी इस पर लिखा गया है।

जैसे श्रीराम-चरित मानस के कर्मघाट एवं सामान्य धर्म के आचार्य श्री याज्ञवल्क्यजी ने सामान्य धर्म की दृष्टि से सीता-वेष-धारण पर सतीजी को निर्दोष माना था; यथा—"सिव सम को रघुपति व्रतधारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी ॥" (मा० बा० १०३); सतीजी के उसी कृत्य को विशेष-धर्म की मर्यादा से श्री नारदजी ने अपराध माना है; यथा—"सिय बेष सती जो कीन्ह तेहि अपराध संकर परिहरी ॥" (मा० बा० ९७); इसी मर्यादा का आश्रयण कर रघुपति व्रतधारी श्रीशिवजी ने सती का त्याग किया था। उस पर उनकी प्रशंसा ही हुई थी; यथा—"चलत गगन भइ गिरा सुहाई। जय महेस भलि भगति दृढ़ाई ॥ अस पन तुम्ह बिनु करै को आना। राम भगत समरथ भगवाना ॥" (मा० बा० ५६)।

ऐसे ही मनु० ८।३५०–३५१ में आततायी कोई भी हो, उसे मारने में

दोष नहीं होता, यह सामान्य धर्म की दृष्टि से लिखा गया है। परन्तु विशेष धर्म की दृष्टि से अर्जुन ने गीता १।३६ में उससे भी पाप ही माना है।

यहाँ लोक-वेद के दोष-गुण क्रम से कहे गये हैं। अतः 'यथाक्रमालङ्कार' है।

संक्षिप्त रामचरित

राग रामकली

[३८]

रघुनाथ तुम्हारे चरित मनोहर गावहिं सकल अवधबासी।
अति उदार अवतार मनुज-बपु धरे ब्रह्म अज अबिनासी ॥१॥
प्रथम ताड़का हति, सुबाहु बधि, मख राख्यो द्विज-हितकारी।
देखि दुखी अति सिला सापबस रघुपति बिप्र नारि तारी ॥२॥
सब भूपन को गरब हर्यो हरि, भंज्यो संभु-चाप भारी।
जनकसुता समेत आवत गृह परसुराम अति मदहारी ॥३॥
तात-बचन तजि राज काज सुर चित्रकूट मुनिबेष धर्यो।
एक नयन कीन्हों सुरपतिसुत, बधि बिराध रिषि-सोक हर्यो ॥४॥
पंचबटी पावन राघव करि सूपनखा कुरूप कीन्हीं।
खर-दूषन संहारि, कपटमृग - गीधराज कहँ गति दीन्हीं ॥५॥
हति कबंध, सुग्रीव सखा करि, बेधे ताल, बालि मार्यो।
बानर-रीछ सहाय, अनुज सँग सिंधु बाँधि जस बिस्तार्यो ॥६॥
सकुल पुत्र दल सहित दसानन मारि अखिल सुर-दुख टार्यो।
परम-साधु जिय जानि बिभीषन लंकापुरी-तिलक सार्यो ॥७॥
सीता अरु लछिमन सँग लीन्हें औरहु जिते दास आए।
नगर निकट बिमान आयो, सब नर-नारी देखन धाए ॥८॥
सिव-बिरंचि, सुक-नारदादि मुनि अस्तुति करत बिमल बानी।
चौदह भुवन चराचर हरषित, आए राम राजधानी ॥९॥
मिले भरत, जननी, गुरु, परिजन, चाहत परम अनंद भरे।
दुसह-बियोग-जनित दारुन दुख राम चरन देखत बिसरे ॥१०॥
बेद - पुरान बिचारि लगन सुभ महाराज अभिषेक कियो।
तुलसिदास जिय जानि सुअवसर भगति-दान तब माँगि लियो ॥११॥

अर्थ—हे श्रीरघुनाथजी ! आपके मनोहर चरितों को समस्त श्रीअवधवासी गान किया करते हैं। आप अत्यन्त उदार हैं, इसीसे अजन्मा और अविनाशी ब्रह्म होते हुए भी आपने मनुष्य शरीर से अवतार धारण किया है ॥१॥ (अवतार लेकर) पहले आपने ताड़का को मार और फिर सुबाहु आदि का वध कर यज्ञ-रक्षा कर ब्राह्मण विश्वामित्र का हित किया है; फिर हे श्रीरघुनाथजी ! शाप के कारण शिला रूप में अहल्या को अत्यन्त दुखी देखकर उसका उद्धार किया है ॥२॥ हे हरि ! आपने शिवजी के भारी धनुष का भंजन कर समस्त राजाओं का गर्व-हरण किया है और फिर श्रीजानकीजी के साथ अपने घर आते हुए (मार्ग में) श्रीपरशुरामजी के अत्यन्त मद का भी हरण किया है ॥३॥ तत्पश्चात् पिता के वचन से राज्य का त्याग कर देवताओं का कार्य सिद्ध करने के लिए आपने मुनि वेष धारण कर श्रीचित्रकूट गिरि पर निवास किया है। वहाँ इन्द्र के पुत्र जयन्त (काकासुर) को एक नेत्र वाला कर दिया है और फिर (वहाँ से चलते हुए मार्ग में) विराध का बध करके ऋषियों का शोक-हरण किया है ॥४॥ फिर, हे राघव ! आपने पञ्चवटी (दण्डक बन के एक विशेष स्थल) को पवित्र करके वहीं पर शूर्पणखा को कुरूप किया है और फिर खर-दूषण आदि का संहार कर कपट से मृग बने हुए मारीच राक्षस और गृध्रराज जटायु को सद्गति दी है ॥५॥ (वहाँ से श्रीसीताजी का हरण होने पर उन्हें खोजते हुए मार्ग में आपने) कबन्ध का वध कर और श्रीसुग्रीवजी को सखाकर (उनकी प्रतीति के लिये) सप्त तालों का एक ही बाण से भेदन किया है और (सुग्रीव के विरोधी) बाली को मारा है तथा सुग्रीव आदि बानर और जाम्बवान् आदि भालुओं को सहायक बनाकर अपने भाई के साथ समुद्र-बंधन कर यश-विस्तार किया है ॥६॥ तत्पश्चात् रावण को उसके परिवार और पुत्र तथा सेना के साथ मार कर निश्शेष देवताओं का दुःख दूर किया है एवं श्रीविभीषणजी को हृदय से परम साधु जानकर लङ्कापुरी में उसका राज्याभिषेक किया है ॥७॥ फिर श्रीसीताजी और श्रीलछमणजी तथा और भी जितने सेवक साथ आने वाले थे, उनको संग में लिये आप विमान पर चढ़े हुए जब श्रीअवध नगर के समीप आये; उस समय वहाँके सब स्त्री-पुरुष आपको देखने के लिये दौड़ पड़े थे ॥८॥ आपके अपनी राजधानी आने पर चौदहो भुवनों के चर-अचर सभी

हर्षित हुए और श्रीशिवजी, श्रीब्रह्माजी एवं श्रीशुकदेवजी तथा श्रीनारदजी आदि मुनि निर्मल वाणी से आपकी स्तुति करते थे ।।९।। श्रीभरतजी, श्रीगुरु वसिष्ठजी, श्रीकौसल्या आदि माताएँ और परिवार के लोग आपसे मिले और देखते हुए परम आनन्द में भर गये । यहाँ तक कि चौदह वर्ष के वियोग से उत्पन्न उनका दारुण दुःख इस समय के इस श्रीराम-चरण दर्शन के आनन्द के समक्ष विस्मृत हो गया ।।१०।। गुरु श्रीवसिष्ठ आदि ने वेद-पुराण के अनुसार शुभलग्न विचार कर श्रीरामजी का महाराजा के पद पर अभिषेक किया । उसी समय श्रीतुलसीदासजी ने हृदय में अच्छा अवसर जानकर (राजा श्रीरामजी से) भक्ति-दान माँग लिया ।।११।।

विशेष—'रघुनाथ तुम्हारे चरित…'—यह ग्रन्थ माधुर्य प्रधान है, इससे 'रघुनाथ' यह माधुर्य का नाम दिया गया है और चरित को भी 'मनोहर' कहा है । तथा—'मनोहर'; यथा—"राम चरित राकेसकर सरिस सुखद सब काहु ।" "बुध बिश्राम सकल जन रंजनि ।" (मा० बा० ३०, ३२) । 'गावहिं सकल अवधवासी'; यथा—"जहँ-तहँ नर रघुपति गुन गावहिं ।" से "एहि बिधि नगर नारि नर, करहिं रामगुन गान ।" (मा० उ० २९-३०); तथा—"सर्वभूतमनः कान्तो रामो राज्यमकारयत् । रामो रामो राम इति प्रजानामभवन्कथा ॥" (महा० द्रोण० ५९।२२); अर्थात् श्रीरामजी ने सभी प्राणियों के चित्त को प्रसन्न करके राज्य किया था । उस समय सभी प्रजा के मुखों से 'राम, राम, राम' इस प्रकार प्रशंसात्मक वचन सुनाई देते थे ।

'अति उदार अवतार…'—मनुष्य रूप का यह अवतार अत्यन्त उदार है । इनकी उदारता वि० १६२, १६३ में देखिये । तथा—"कीन्ह जो अचरज राम । प्रजा सहित रघुबंस मनि, किमि गवने निज धाम ॥" (मा० बा० ११०); इसमें तो उदारता की पराकाष्ठा है कि श्वास लेने वाले सभी प्राणियों को परमधाम दिया है; तथा—"चतुर्विधाः प्रजा रामः स्वर्गं नीत्वा दिवं गतः ।" (महा० द्रोण० ५९।२३); अर्थात् चारो प्रकार की प्रजाओं के साथ परधाम गये । 'ब्रह्म अज अविनासी'; यथा—"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् । प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥" (गीता ४।६); अर्थात्

मैं अजन्मा, अविनाशी स्वरूप और प्राणियों का ईश्वर रहते हुए ही अपने स्वभाव के साथ अपनी माया (अपने संकल्प) से प्रकट होता हूँ।

'प्रथम ताडका हति···'—यहाँ से क्रम से सूक्ष्म रूप में चरितों का वर्णन करते हैं, इससे 'प्रथम' पद दिया है। सुबाहु आदि को मारा है और मारीच को उड़ा दिया है, इससे इसके साथ नहीं लिखा। इसका हेतु यज्ञ-रक्षा एवं ब्राह्मण का हित करना कहा गया है; यथा—"मारि असुर द्विज निरभय कारी।···तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्ह बिप्रन्ह पर दाया॥" (मा० बा० २०९)।

'देखि दुखी अति···'; यथा—"प्रबल पाप पति साप दुसह दव दारुन जरनि जरी। कृपा-सुधा सिंचि बिबुध बेलि ज्यों फिरि सुख फरनि फरी॥" (बा० ५५)—इसका विशेष देखिये। तथा—"साधन हीन दीन निज अघबस सिला भई मुनि नारी। गृह ते गवनि परसि पद पावन घोर साप ते तारी॥" (वि० १६६)।

प्रथम चरण में अति उदार चरित के सम्बन्ध से 'रघुनाथ' कहा था, क्योंकि राजा रघु बड़े उदार दानी थे। इस चरण में प्रजा-रक्षण के भाव पर 'रघुपति' कहा है; क्यों कि रघुवंशी राजा हैं। अतः ब्राह्मण का हित तो अवश्य ही करते हैं; यों तो आप सारी प्रजा के रक्षक हैं; पति शब्द में रक्षकत्व का भाव है। आगे के तीसरे और चौथे चरण में मद-हरण, गर्व हरण एवं शोक हरण के प्रति 'हरि' भी कहा गया है यह सम्बोधनों की उपयुक्तता है।

'सब भूपन को गर्व हर्यो हरि···'; यथा—"बल प्रताप बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहिं संग सिधाई॥···विधि मुँह मसि लाई॥" (मा० बा० २६५), तथा—"जनक मुदित मन टूटत पिनाक के।···तुलसी महीस देखे दिन रजनीस जैसे, सूने परे सून से मनो मिटाए आँक के।" (बा० ९२); "भंजि भव चाप, दलि दाप भूपावली, सहित भृगुनाथ नतमाथ भारी।" (वि० ४३)।

'जनक सुता समेत आवत गृह···'—परशुराम-गर्व-हरण प्रसंग इस ग्रन्थ में वाल्मीकीय रामायण के अनुसार है। बा० १०९ में भी ऐसा ही कहा गया है, कल्पभेद है। 'अतिमद हारी'; यथा—"उग्र-भार्गवागर्व-गरिमापहर्ता।" (वि० ५०)। 'जनकसुता समेत आवत' इस वाक्यखंड में विवाह-लीला आ गई है।

'तात बचन...'—यहाँ से अयोध्याकांड एवं वन लीला कहते हैं; यथा "पिता बचन तजि राज उदासी।" (मा० बा० ४७)।

'एक नयन कीन्हों...'— यहाँ से अरण्यकाण्ड के चरित हैं। जयन्त ने चित्रकूट की माधुर्य लीला देख बल में संदेह किया। अतः, उसे एक आँख देकर प्राण-रक्षा करनी पड़ी; यथा—"सुरपति सुत जानइ बल थोरा। राखा जियत आँखि गहि फोरा॥" (मा० लं० ३४)। 'सुरपति सुत' इस पद में ध्वनि है कि इन्द्र को भी माधुर्य लीला से प्रभु-बल में संदेह हुआ, तब जयंत परीक्षार्थ आया, पर उससे रीति बिगड़ गई, इससे तथा प्रभु-भय से राम-विमुख जान पीछे इन्द्र ने उसका साथ नहीं दिया। तथा—"जद्यपि द्रोह कियो सुरपति सुत कहि न जाइ अति भारी। सकल लोक अवलोकि सोकहत, सरन गये भय टारी॥" (वि० १६६)। 'बधि बिराध'; यथा—"मिला असुर विराध मग जाता आवतही रघुबीर निपाता॥" (मा० अर० ६)। "खनि गर्त गोपित बिराधा।" (वि० ४३)। 'रिषि सोक हरयो'—विराध वध करके प्रभु ने सरभंग मुनि पर कृपा की और फिर वहाँ से चलने पर ऋषिगण साथ लग गये। अस्थिसमूह देखकर श्रीरामजी ने पूछा और मुनियों ने दुःख सुनाया, तब श्रीरामजी ने निशिचर-वध-प्रतिज्ञा कर उनका-शोक-हरण किया है; यथा—"निसिचर निकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुबीर नयन जल छाए॥ निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह। सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥" (मा० अर० ६)।

'पंचबटी पावन करि...'; यथा—"दंडकबन पुनीत प्रभु करहू। उग्र साप मुनिवर कर हरहू॥" (मा० अर० १२); "दंडक पुहुमि पाय परसि पुनीत भई, उकठे बिटप लागे फूलन फरन॥" (वि० २५७)। 'सूपनखा कुरूप कीन्हीं'; यथा—"सूपनखा जिमि कीन्हि कुरूपा।" (मा० उ० ६५)।

'कपट मृग-गीधराज कहँ गति दीन्हीं।'; यथा—"अंतर प्रेम तासु पहचाना। मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना॥" (मा० अर० २६)— यह कपट मृग मारीच का गति देना है; तथा—"गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्हीं जो जाचत जोगी॥" (मा० अर० ३२)—यह गृध्र का गति देना है।

'हति कबंध', यथा—"आवत पंथ कबंध निपाता। ... ताहि देइ गति राम उदारा।" (मा० अर० ३२-३३)।

'सुग्रीव सखा करि···'····यहाँ से किष्किन्धाकाण्ड का चरित चला। दिव्य रूप कबन्ध एवं श्रीशबरीजी के कहने पर श्रीरामजी पंपासर एवं ऋष्यमूक पर्वत पर गये। वहाँ श्रीहनुमानूजी मिले और फिर उनके द्वारा श्रीसुग्रीवजी की प्रतीति के लिये आपने सप्त तालों का भेदन किया और फिर बाली का वध कर श्रीसुग्रीवजी को बानरों का राजा बनाया।

'बानर-रीछ सहाय···'—श्रीनारदजी का वचन था; यथा—"करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी॥" (मा० बा० १३६)—तदनुसार आपने श्रीसुग्रीव द्वारा वानरों और भालुओं को अपना सहायक बनाया; अन्यथा परम समर्थ प्रभु की इसमें न्यूनता थी; यथा—"सुनत बचन बिहँसा दससीसा। जौं असि मति सहाय कृत कीसा॥...रिपु बल बुद्धि थाह मैं पाई॥" (मा० सुं० ५५)। व्यासजी को भी इस पर समाधान करना पड़ा है; यथा—"नेदं यशो रघुपतेः सुरयाच्ञयाऽऽत्त लीलातनोरधिकसाम्य विमुक्तधाम्नः। रक्षोवधो जलधि-बंधनमस्त्रपूगैः किं तस्य शत्रुहनने कपयः सहायाः॥" (भाग० ९।११।२०); अर्थात् श्रीरामजी के सागर बन्धन और विचित्र अस्त्र-शस्त्रों से राक्षस वध आदि में कोई यश (स्तुतिवाद आदि की भाँति प्रशंसा) नहीं है, क्योंकि जिनसे अधिक एवं जिनके बराबर कोई प्रभावशाली नहीं है, उनको शत्रु-वध करने में क्या वानरों की सहायता अपेक्षित हो सकती है? भगवान् ने तो देवों की प्रार्थना से उनका कार्य सिद्ध करने के लिये यह नरावतार लिया था।

श्रीरामजी के युद्धोपरान्त कृतज्ञता प्रकट करने पर वानरों ने स्वयं कहा है; यथा—"दीन जानि कपि किये सनाथा। तुम्ह त्रैलोक्य ईस रघुनाथा॥ सुनि प्रभु बचन लाज हम मरहीं। मसक कहूँ खगपति हित करहीं॥" (मा० लं० ११)।

वानरों और रिक्षों की सहायता से श्रीजानकीजी का समाचार पाकर और फिर उन्हीं की सहायता से वृक्षों एवं पर्वतों के द्वारा सेतु निर्माण कर भाई के साथ आपने यश विस्तार किया; क्योंकि इनसे पूर्व किसी मनुष्य ने ऐसा आश्चर्य कर्म नहीं किया था; इसे सुनकर रावण भी व्याकुल होकर एक साथ ही दसों मुखों से बोल उठा था—मा० लं० ५ देखिये।

'सकुल पुत्र दल सहित...'; यथा—"सकुल सदल प्रभु रावन मार्यो। पावन जस त्रिभुवन विस्तार्यो॥" (मा० लं० ११५)—यह विभीषणजी ने

कहा है। "यह दुष्ट मारयो नाथ। भये देव सकल सनाथ॥" (मा० लं० १११); "दीनबंधु दयाल रघुराया। देव कीन्ह देवन्ह पर दाया॥ विस्व द्रोहरत यह खल कामी। निज अघ गयो कुमारग गामी॥...जब-जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हहिं नसायो॥" (मा० लं० १०८)।

'परम साधु जिय जानि बिभीषन....'; यथा—"हिय बिहँसि कहत हनुमान सों॥ सुमति साधु सुचि सुहृद बिभीषण, बूझि परत अनुमान सों॥" 'हौं बलिजाउँ, और को जानै?' कह कपि कृपानिधान सों॥" (सुं० ३३); भाव यह कि दुष्ट को मारकर वहाँ पर परम साधु को राजा बनाया है, यह युक्त ही है।

'नगर निकट बिमान आयो...'; यथा—"हरषित गुरु परिजन अनुज भूसुर बृंद समेत। चले भरत मन प्रेम अति सनमुख कृपानिकेत॥...निरखहिं गगन बिमान।...राकाससि रघुपति पुर सिंधु देखि हरषान। बढ्यो कोलाहल करत जनु नारि तरंग समान॥" (मा० उ० ३)।

'सिव-बिरंचि, सुक-नारदादि मुनि...'—यह स्तुति विमान पर आते हुए प्रभु की है; यथा—"चलत विमान कोलाहल होई। जय रघुबीर कहै सब कोई॥...कीन्हें सुमन वृष्टि हरषे सुर॥" (मा० लं० ११७); तथा—"पुष्पकस्थोऽन्वितः स्त्रीभिः स्तूयमानश्च वन्दिभिः। विरेजे भगवान् राजन् ग्रहैश्चन्द्र इवोदितः॥" (भाग० ९।१०।४५) अर्थात् नारीगण और वन्दीगण मिलकर श्रीरामजी की स्तुति करने लगे। उस समय पुष्पक विमान पर स्थित श्रीरामजी ग्रहगण युक्त पूर्णचन्द्र के समान शोभायमान हुए।

इसी प्रसंग में इन शिव आदि ने स्तुतियाँ की हैं, ऐसा सम्भव है; यथा—"नौमीड्यं जानकीशं रघुवरमनिशं पुष्पकारूढरामम्॥ कोसलेन्द्रपदकंजमंजुलौ कोमलावब्जमहेशवन्दितौ।" (मा० उ० श्लोक १-२)—इन दोनों श्लोकों में 'ईड्यं' तथा 'अजमहेशवन्दितौ' इन पदों से शिव आदि की स्तुतियाँ सिद्ध हैं। 'बिमल बानी'—निर्मल वाणी से सत्य एवं निर्मल यश गाते हैं।

'चौदह भुवन चराचर हरषित...'—श्रीरामराज्य के सुख की आशा से सब हर्षित हैं।

'मिले भरत जननी गुरु...दुसह-बियोग...'; यथा—"मिलि गुरु बंधु मातु जन परिजन भए सकल मन भाए। दरस-हरष दसचारि बरष के दुख पल में बिसराए॥" (लं० २२); मिलने की रीति—"जो जेहि जोग...भेंटी मातु

……"(लं० २१)—इसके विशेष में देखिये। 'चाहत'=देखत; यथा–"सीय चकित चित रामहिं चाहा।" (मा० बा० २४७); हिं० श० सा० ः चाहना का अर्थ 'देखना' 'ताकना' यह भी दिया गया है।

'बेद पुरान बिचारि…'; यथा—"गुरु बसिष्ठ द्विज लिये बुलाई। आजु सुघरी सुदिन समुदाई "सब द्विज देहु हरषि अनुसासन। रामचन्द्र बैठहिं सिंघासन॥" (मा० उ० ९); तथा—"बोलि सचिव सुचि सोधि सुदि मुनि मंगल साज सजाए। महाराज अभिषेक बरषि सुर सुमन निसान बजा "लै लै भेंट नृप अहिप लोकपति अति सनेह सिर नाए।" (लं० २२)

'तुलसिदास जिय जानि सुअवसर…'—आज श्रीरामजी रघुवंश की ग पर अभिषिक्त हुए हैं। अतः, सब प्रकार के याचकों को बहुत कुछ दे रहे हैं इस समय दुर्लभ वस्तु भी माँगने और पाने का सुन्दर अवसर है। भक्ति ह अत्यन्त दुर्लभ है; यथा—"अबिरल भगति बिसुद्ध तब श्रुति पुरान जो गाव जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥" (मा० उ० ८४); इ अवसर पर बड़ों ने यही माँगा भी है; यथा—"करुनायतन प्रभु सदगुनाक देव यह बर माँगहीं 'मन बचन कर्म बिकार तजि तब चरन हम अनुरागहीं॥ (मा० उ० १२)—यह वेदों के माँगने का प्रमाण है; तथा—"बार बार ब मागउँ। हरषि देहु श्रीरंग। पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥ (मा० उ० १४)—यह परम भागवत श्रीशिवजी के माँगने का प्रमाण है इन सबको माँगते और पाते देखकर सुअवसर जानकर ग्रन्थकार ने भी माँ लिया है। ग्रन्थकार तो इस युग के हैं, उस समय नहीं थे। अतः, ध्यान ही इस पद के भावों की स्फूर्त्ति एवं उसके साथ ही भक्ति का माँगना आ बर्त्ताव हुए हैं। पीछे पद्य में लिखे गये हैं। यह भक्ति-दान प्राप्ति इस वचन सिद्ध है; यथा—"जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदास हूँ। पायो पर विश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥" (मा० उ० १२९)।

दोहा—संवत नभ शशि व्योम चख, अन्नकूट शनिबार।
गीत 'तिलक सिद्धान्त' यह, पूरयो मति अनुसार॥

इति शुभम्

श्रीसीतारामार्पणमस्तु

वि

संयुक्त स

हारिजन
मध्यप्रदेश दे
यहा हरिजन
निवास करते
ऐसे हैं, ।
प्रतिशत से
ने हरिजनों
आत्मनिर्भर
जिससे कि
यता का मो

गीताज